में वर्गीकरण। फिर प्रत्येक वर्ग के अक्षरों का क्रम से एक ही संस्थान में थोड़ा-थोड़ा ऊपर उठते हुए अनुनासिक तक पहुँचना, आदि-आदि ऐसे अनेक गुण हैं जो अभारतीय लिपियों में एकत्र, एकसाथ नहीं मिलते। किन्तु ये गुण समान रूप से सभी भारतीय लिपियों में मौजूद हैं, अतः वे सब नागरी के समान ही विश्व की अन्य लिपियों की अपेक्षा 'सर्वाधिक वैज्ञानिक' हैं। सब ब्राह्मी लिपि से उद्भूत हैं। ताड़पत्र और भोजपत्र की लिखाई तथा देश-काल-पात्र के अन्य प्रभावों के कारण विभिन्न भारतीय लिपियों के अक्षरों के रूप में यत्र-तत्र परिवर्तन, हिन्दी वाली 'नागरी लिपि' को कोई श्रेष्ठता प्रदान नहीं करता। भारत की मौलिक सब लिपियाँ 'नागरी लिपि' के समान ही श्रेष्ठ हैं।

नागरी लिपि को 'भी' अपनाना श्रेयस्कर क्यों ?

"नागरी लिपि" की केवल एक विशेषता है कि वह कमोबेश सारे देश में प्रविष्ट है, जबकि अन्य भारतीय लिपियाँ निजी क्षेत्रों तक सीमित हैं। वहीं यह भी सत्य है कि नागरी लिपि में प्रस्तुत और विशेष रूप से खड़ी बोली का साहित्य, अन्य लिपियों में प्रस्तुत ज्ञानराशि की अपेक्षा कम और नवीनतर है। अतः समस्त भाषाओं की ज्ञानराशि को, सर्वाधिक फैली लिपि "नागरी" में अधिक से अधिक लिप्यन्तरित करके, क्षेत्रीय स्तर से उठाकर सबको सारे राष्ट्र में, यहाँ तक कि विश्व में ले आना परम धर्म है। विश्व की सब भाषाओं में उपलब्ध ज्ञान (सत्साहित्य) तो है आत्मा, और 'नागरी लिपि' होना चाहिए उसका पर्यटक शरीर।

अन्य लिपियों को बनाये रखना भी कर्तव्य है।

वस्तुतः यह परम धर्म है कि समस्त सदाचार साहित्य को नागरी में तत्परता से प्राचुर्य में लिप्यन्तरित करना। किन्तु साथ ही यह भी परम धर्म है कि देशी-विदेशी अन्य सभी लिपियों को उत्तरोत्तर उन्नति के साथ बरक़रार रखना। यह इसलिए कि सबका सब कभी लिप्यन्तरित नहीं हो सकता। अतः अन्य लिपियों के नष्ट होने और नागरी लिपि मात्र के ही रह जाने से विश्व की समस्त अ-लिप्यन्तरित ज्ञानराशि उसी प्रकार लुप्त-सुप्त होकर रह जायगी जैसे पाली, प्राकृत और अपभ्रंश, सुरयानी आदि का वाङ्मय रह गया। जगत् तो दूर, राष्ट्र का ही प्राचीन आप्तज्ञान विलुप्त हो जायगा।

नागरी लिपि वालों पर उत्तरदायित्व विशेष !

इन दोनों परम धर्मों की पूर्ति का सर्वाधिक भार नागरी लिपि वालों पर है, इसलिए कि उनको 'सम्पर्क लिपि' का श्रेष्ठ आसन प्रदत्त है। मैं कह सकता हूँ कि उन्होंने अपने कर्तव्य का, जैसा चाहिए था, वैसा निर्वाह नहीं किया। परन्तु उसकी प्रतिक्रिया में अन्य लिपि वालों को भी "अपराध के जवाब में अपराध" नहीं करना चाहिए। 'कोयला' बिहार का है अथवा बंगाल का है, इसलिए हम उसको नहीं लेंगे, तो वह हमारे ही लिए घातक होगा। कोयले की क्षति नहीं होगी। अपनी लिपियों को समुन्नत रखिए, किन्तु नागरी लिपि को 'भी' अवश्य अपनाइए।

उपर्युक्त परिवेश में नागरी लिपि का पठन और समग्र श्रेष्ठ साहित्य का नागरी में लिप्यन्तरण तो आवश्यक है ही, किन्तु अन्य लिपियाँ भी अपनी लिपि में दूसरी भाषाओं के सत्साहित्य को लिप्यन्तरित तथा अनूदित कर सकती हैं। 'अधिकस्य अधिकं फलम्।' ज्ञान की सीमा नहीं निर्धारित है। 'भुवन वाणी ट्रस्ट' ने भी अवधी के रामचरितमानस को ओड़िआ भाषा में गद्य एवं पद्य अनुवाद-सहित, ओड़िआ लिपि में लिप्यन्तरित किया है। परन्तु सम्पर्क और एकीकरण की दृष्टि से 'नागरी लिपि' अनिवार्य है।

नागरी लिपि की वैज्ञानिकता मानव मात्र की सम्पत्ति है।

अब एक क़दम आगे बढ़िए। भारतीय लिपियों की सर्वाधिक वैज्ञानिकता, युगों की मानव-शृंखला के मस्तिष्क की उपज है। क्या मालूम इस अनादि से चल रहे जगत् में कब, क्या, किसने उत्पन्न किया? भारत संयोग से इस समय इस विज्ञान का कस्टोडियन् है, स्रष्टा नहीं। भारत भी न जाने कब, कहाँ तक और कितना था? अतः हम भारतीयों को नागरी लिपि के स्वामित्व का गर्व नहीं होना चाहिए। वह आज के मानव के पूर्वजों की देन है, सबकी सम्पत्ति है, सकल विश्व उसका समान गौरव से उपयोग कर सकता है। हमारा 'अहम्' उस लिपि की उपयोगिता को रुद्ध कर देगा, जिसके हम सँजोये रखनेवाले मात्र हैं। किन्तु विदेशों में बसने वाले बन्धुओं को भी नागरी लिपि के गुणों को अपने ही पूर्वजों की उपज मान कर परखना चाहिए। ये गुण इस निबन्ध के प्रथम अनुबन्ध में अधिकांशतः वर्णित हैं। न परखने पर, उनकी क्षति है, विश्व की क्षति है। अरब का पेट्रोल हम नहीं लेंगे, तो क्षति किसकी होगी? पेट्रोल की नहीं, अपनी ही।

फिर याद दिला देना ज़रूरी है कि क, प आदि रूपों में वैज्ञानिकता नहीं है। बे, काफ़, पे और के, पी, जैसे ही रूप रख सकते हैं, किन्तु लिपि में 'अनुबन्ध प्रथम' में ऊपर दिये हुए गुणों और क्रम को अवश्य ग्रहण करें। और यदि एक बनी-बनाई चीज को ग्रहण करके सार्वभौम सम्पर्क में समानता और सरलता के समर्थक हों, तो 'नागरी लिपि' के क्रम को अपनी पैतृक सम्पत्ति मानकर, ग़ैर न समझकर, मौजूदा रूप में भी ग्रहण कर सकते हैं। वह भारत की बपौती नहीं है। आज के मानव के पूर्वजों की वह सृष्टि है। इससे विश्व के मानव को परस्पर समझने का मार्ग प्रशस्त होगा।

नागरी लिपि में अनुपलब्ध विशिष्ट स्वर-व्यञ्जनों का समावेश।

हर शुभ काम में कजी निकालनेवाले एक दूर की कौड़ी यह भी लाते हैं कि "नागरी लिपि सर्वाधिक वैज्ञानिक होते हुए भी अपूर्ण है और अनेक स्वर-व्यंजनों को अपने में नहीं रखती। उनको लिपि में कहाँ तक और कैसे समाविष्ट किया जाय?" यह मात्र तिल का ताड़ है। मौजूदा कर्तव्य को टालना है।

अल्बत्ता अन्य भाषाओं में कुछ व्यंजन ऐसे हैं जो नागरी में नहीं हैं— किन्तु अधिक नहीं। भारतीय भाषा उर्दू की क़ ख़ ग़ ज़ फ़, ये पाँच ध्वनियाँ तो बहुत समय से नागरी लिपि में प्रयुक्त हो रही हैं। दुःख

है कि आज़ादी के बाद से राष्ट्रभाषा के पक्षधर ही उनको ग़ायब करने पर लगे हैं। इसी प्रकार मराठी ळ है। इनके अतिरिक्त अरबी, इब्रानी आदि के कुछ व्यञ्जन हैं, किन्तु उनको नागरी की दैनिक लिपि में अनिवार्यतः रखना आवश्यक नहीं। विशिष्ट भाषाई कार्यों में, ज़रूरी मानकर, उन विशिष्ट भाषाई स्वर-व्यंजनों को चिह्न देकर दरसाया जा सकता है।

अंग्रेज़ी—व्यामोह भी ! आदर्श भी !

अंग्रेज़ी की लिपि-जैसी पंगु लिपि शायद ही संसार में कोई हो। 'ह्वूलू'—तीन अक्षर, चार मात्राएँ, किन्तु वास्तविक ध्वनि (व) का लोप ! शब्दावली इतनी निरीह कि उसमें ८०% से अधिक शब्द विदेशी भाषाओं के हैं। अपनी छोटी सी धरती पर यह ग़रीब भाषा, फ़्रेंच शाहंशाही के आ-धमकने पर, अपने फ़्रेंच-भक्त अंग्रेज़ बन्धुओं ही द्वारा लताड़ी गई, जैसे हमारे अंग्रेज़ी-भक्त भारतीय उसी शान में राष्ट्रभाषा का तिरस्कार करते हैं। वे अंग्रेज़ी से नसीहत लें कि दुर्दशाग्रस्त, पंगु लिपि पर आधारित, शब्द-निर्धन होकर भी कैसे हौसला क़ायम रखकर उसने विश्व-साम्राज्य स्थापित किया। उस हौसले को आदर्श मानकर अपनी समृद्ध राष्ट्रलिपि और राष्ट्रभाषा को विश्वसम्मान दिलायें।

तदर्थ अरबी लिपि का आदर्श सम्मुख।

और यह कोई नयी बात नहीं। नितान्त अपरिवर्तनशील कहे जाने वालों की लिपि 'अरबी' में केवल २७-२८ अक्षर होते हैं। भाषा के मामले में वे भी अति उदार रहे। "इल्म चीन (अर्थात् दूर से दूर) से भी लाओ"—यह पैग़म्बर (स०) का कथन है। जब ईरान में, फ़ारसी की नई ध्वनियों च, प, ग, आदि से सामना पड़ा तो उन्होंने उनको अरबी-पोशाक— चे, पे, गाफ़ पहना दी। जब हिन्दोस्तान आये तो ट, ड, ड़ आदि से सामना पड़ने पर अरबी ही जामे में टे, डाल, ड़े आदि तैयार कर लिये। यहाँ तक कि सिन्धी में नागरी के सब महाप्राण और अनुनासिक, तथा सिन्धी के विशिष्ट अन्तःस्फुट चार अक्षरों को भी अरबी का लिबास पहना दिया गया। फिर 'नागरी' वाले तो औदार्य का दावा करते हैं, उनको परेशानी क्या है ? और नागरी में भी तो परिवर्तन होते रहे हैं। ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में प्रयुक्त ळ को छोड़ चुके हैं, और ड़, ढ़ आदि को अवर्गीय दशा में जोड़ चुके हैं। नागरी लिपि में कुछ ही व्यंजनों का अभाव है। उनमें से कुछ को स्थायी तौर पर और कुछ को अस्थायी प्रयोग के लिए गढ़ सकते हैं। 'भुवन वाणी ट्रस्ट' ने यह सेवा बड़ी सरलता, सफलता और सुन्दरता से की है।

स्वर और प्रयत्न (लहजा) का अन्तर।

अब रहे स्वर। जान लीजिए कि प्रमुख स्वर तीन ही हैं— अ, इ, उ— उनसे दीर्घ, संयुक्त (डिफ्थांग) आदि बनते हैं। अतिदीर्घ, प्लुत, लघु, अतिलघु संवृत, विवृत आदि विश्व में अनेक रूपों में बोले जाते हैं। भारतीय वैदिक एवं संस्कृत व्याकरण में अनेक हैं। वे स्वतंत्र स्वर नहीं हैं,

प्रयत्न हैं, लहजा हैं। वे सब न लिखे जा सकते हैं, न सब सर्वत्र बोले जा सकते हैं। डायाक्रिटिकल मार्क्स कोशों में छाप-छापकर चमत्कार भले ही दिखा दिया जाय, प्रयोग में तो, "एक ही रूप में", अपने निजी शब्द निजी देशों में भी नहीं बोले जाते। स्वर क्या, व्यंजन तक। एक शब्द "पहले" को लीजिए। सब जगह घूम आइए, देखिए उसका उच्चारण किन-किन प्रकार से होता है। एक बिहार प्रदेश को छोड़कर कहीं भी "पहले" का शुद्ध उच्चारण सुनने को नहीं मिलेगा। पंजाब, बंगाल, मद्रास के अंग्रेजी के उद्भट विद्वान् अंग्रेजी में भाषण देते हैं—उनके लहजे (प्रयत्न) बिलकुल भिन्न होते हैं। फिर भी न उनका उपहास होता है, न अंग्रेजी भाषा का ह्रास।

शास्त्र पर व्यवहार को वरीयता (तर्जीह)।

शास्त्र और विज्ञान से हमको विरोध नहीं। लिपि की रचना, शोध, परिमार्जन, देश-काल-पात्र के अनुसार करते रहिए, परन्तु व्यवहारिकता को अवरुद्ध मत कीजिए। खाद्य पदार्थ के तत्त्वों का गुण-दोष, परिमाण, संतुलन, न्यूनाधिक्य, और खानेवाले की शक्ति के साथ उनका समन्वय, यह सब स्तुत्य है, कीजिए। किन्तु ऐसा नहीं कि उस शोध-समीक्षा के पूर्ण होने तक कोई भूखा रहकर मर ही जाय। थाली रखी है, उसे भोजन करने दीजिए। आज सबसे जरूरी है राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का एक-दूसरे की ज्ञानराशि को समझने के लिए एक सम्पर्क लिपि की व्यापकता।

'भुवन वाणी ट्रस्ट' ने स्थायी और मुक़ामी तौर पर अनेक स्वर-व्यंजनों की सृष्टि की है। दक्षिणी वर्णमालाओं में एकार तथा ओकार की ह्रस्व,दीर्घ —दोनों मात्राएँ हम बोलते हैं, किन्तु पृथक् लिखते नहीं। पढ़ने दीजिए, बढ़ने दीजिए। समस्त भाषाओं के ज्ञान-भण्डार को निजी क्षेत्रों से उठाकर धरातल पर नागरी लिपि के माध्यम से पहुँचाइए। नागरी लिपि मानव के पूर्वजों की सृष्टि है, मानव मात्र की है। यहाँ से योरोप तक उसकी पहुँच है। यूरोपियों की लिपि-शैली नागरी थी। अक्षरों के रूप कुछ भी रहे हों। किन्हीं कारणों से सामीकुलों में भटककर अलफ़ा-बीटा के क्रम को थोड़े अन्तर के साथ अपना लिया। फिर पुराने संस्कारों से याद आया, तो स्वर-व्यंजन पृथक् कर दिये। किन्तु उनके क्रम-स्थान जैसे के तैसे मिले-जुले रहे। सामीकुल की भाषाओं ने भी प्रमुख स्वर तीन ही माने हैं, जबर-जेर-पेश (अ इ उ)। ै और ौ का उच्चारण अरबी, संस्कृत, ग्रीक, अपभ्रंश आदि का एक-जैसा है—(आइ, आउ)। किन्तु खड़ी बोली हिन्दी-उर्दू के ऐ, और औ, ऐनक, औरत-जैसे। यह स्वरों की भिन्नता नहीं है, वरन् लहजा (प्रयत्न) की भिन्नता है।

पूर्ण वैज्ञानिक कोई वस्तु मनुष्य के पल्ले नहीं पड़ सकती। "पूर्ण विज्ञान" भगवान् का नाम है। सा-रे-ग-म-प-ध-नि, ये सात स्वर; उनमें मध्य, मन्द, तार; कुछ में तीव्र, कोमल—बस इतने में भारतीय संगीत बँधा है। उनमें भी कुछ तो अदा नहीं हो सकते, अनुभूति मात्र हैं। किन्तु क्या इतने ही स्वर हैं? संगीत के स्वरों का उनके ही बीच में अनंत विभाजन

हो सकता है। जैसे अणु से परमाणु का, और उसमें भी आगे। किन्तु शास्त्र एक वस्तु है, व्यवहार दूसरी। व्यवहार में उपर्युक्त षड्ज से निषाद तक को पकड़ में लाकर संगीत क़ायम है, क्या उसको रोककर इनके मध्य के स्वरों को पहले तलाश कर लिया जाय? तब तक संगीत को रोका जाय, क्योंकि वह पूर्ण नहीं है? क्या कभी वह पूर्ण होगा? पूर्ण तो 'ब्रह्म' ही है। "बेस्ट् इज़् द ग्रेटेस्ट् ऍनिमी ऑफ़् गुड्।" इसलिए शगूल और शोब्दों की आड़ न ली जाय। नागरी लिपि पर्याप्त सक्षम है।

विश्व-व्यापकता के संदर्भ में नागरी लिपि के स्वरों का रूप।

लिखने के भेद— यदि नागरी को हिन्दी क्षेत्र की ही लिपि बनाये रखना है तो इ, उ, ए, ऐ लिखने के अपने पुरानेपन के मोह में मुग्ध रहिए। और यदि उसे राष्ट्रलिपि अथवा विश्व तक में, यहाँ तक कि सामीकुल में भी आसानी से ग्राह्य बनाना चाहते हैं तो गुजराती लिपि की भाँति अि, अु, अे, अै लिखिए। किन्तु कोई मजबूर नहीं करता। विनोबा जी ने भी इसका आग्रह नहीं रखा। आकार और रूप का मोह व्यर्थ है। पुराने ब्राह्मी-शिलालेखों को देखिए। आपके मौजूदा रूप वहाँ जैसे के तैसे कहाँ हैं?

संस्कृत के तिरस्कार से भाषा-विघटन।

मेरा स्पष्ट मत है कि "संस्कृत" राष्ट्रभाषा होने पर, भाषा-विवाद ही न उठता। सबको ही (हिन्दी-भाषी को भी) समान श्रम से संस्कृत सीखने पर, स्पर्धा-कटुता का जन्म न होता, संस्कृत का अपार ज्ञान-भण्डार सबको प्रत्यक्ष होता, और हिन्दी की पैठ में भी प्रगति ही होती। उर्दू-हिन्दी की अपेक्षा, अन्य सभी भारतीय भाषाएँ, संस्कृत के अधिक समीप हैं। संस्कृत देश-काल-पात्र के प्रभाव से मुक्त, अव्यय (कभी न बदलनेवाली), सदाबहार भाषा है। अन्य सब भाषाएँ देश-काल-पात्र के प्रभाव से नहीं बचतीं।

आज क्या करना है?

किन्तु अब "हिन्दी" ही राष्ट्रभाषा सबको मान्य होना चाहिए। यह इसलिए कि अन्य भारतीय भाषाओं में हिन्दी ही एक भारतीय भाषा है जो देश के हर स्थल में कमोबेश प्रविष्ट है।

सार यह कि हुज्जत कम, काम होना चाहिए। शास्त्र पर व्यवहार प्रबल है। समय बड़ा बलवान है, वह आवश्यकतानुसार ढलाई कर देता है। हिन्दी-क्षेत्र में ही घूम-घूमकर प्रतिमा-अनावरण, हिन्दी का महिमा-गान, अनुवादों की धूम, अमुक भाषा की हिन्दी को यह देन, अमुक भाषा में हिन्दी की यह छाप— यह सब दिशाविहीनता, क़िलेबन्दी और अभियान त्यागकर, नागरी लिपि में विश्व का साहित्य लाइए। टूटी-फूटी ही सही, हिन्दी बोलना भी— ("ही" नहीं बल्कि "भी") बोलने का अभ्यास कीजिए। लिपि और भाषा की सार्थकता होगी। मानवमात्र का कल्याण होगा। हमारी एकराष्ट्रीयता और विश्वबन्धुत्व चरितार्थ होगा।

—नन्दकुमार अवस्थी (पद्मश्री)
मुख्यन्यासी सभापति, भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ।

प्रकाशकीय प्राक्कथन

भारत एवं विदेशों की लगभग पचीस-तीस भाषाओं के उत्कृष्ट वाङ्मय के मूल-पाठ को नागरी अक्षरों में (उन भाषाओं के विशिष्ट स्वर तथा व्यंजनों को गढ़कर समाविष्ट करते हुए) लगभग ६० ग्रंथ, पचास-साठ सहस्र पृष्ठों में, हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किये जा चुके हैं और आगे भी बीसियों ग्रंथ इसी शैली पर छप रहे अथवा कार्याधीन हैं। विना अतिशयोक्ति, यह समस्त भूतल पर अनोखा, अति जटिल और विशद कार्य है।

इसमें निहित तीन प्रमुख उद्देश्य हैं। १. धरातल के प्रत्येक क्षेत्र का वाङ्मय सार्वभौम रूप से फैल जाय; २. विशेष रूप से भारतीय भाषाओं का श्रेष्ठ वाङ्मय अपने सीमित क्षेत्रीय स्तर से उठकर सारे राष्ट्र में फैल जाय; और ३. समग्र तथा विश्व के बहुभाषाई श्रेष्ठ साहित्य से हमारी राष्ट्रभाषा का भण्डार भरता रहे। नागरी लिपि को ही क्यों माध्यम बनाया गया, इस पर इसी ग्रंथ के पृष्ठ ३ से ८ में 'विश्वनागरी लिपि' शीर्षक लेख में भलीभाँति समझाया गया है। उसी लेख में मैंने अपने विचार व्यक्त किये हैं कि यदि 'संस्कृत' भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकार की गई होती तो भारत ही नहीं जगत् का कल्याण होता। देश की भाषाई समस्या का जन्म ही न होता।

यह क्यों? संस्कृत का वाङ्मय ही भारत का दर्पण है। प्राण है। इसमें मानव मात्र के लिए कल्याण का पथ निर्दिष्ट है। (१) ऐसी विशिष्ट भाषा के कुछ श्लोक, मंदिरों, कर्मकाण्डों में प्रायः सुनते रहने और वह सब प्रायः नागरी अक्षरों में छपे होने के फलस्वरूप प्रमाद में हम उनको राष्ट्रभाषा की संपत्ति समझ लेते हैं, जब कि हज़ारों में एक भी उनका अर्थ नहीं समझता। (२) संस्कृत की पाठशालाएँ तो शतगुणा बढ़ गई हैं, परंतु परीक्षा देने पर संस्कृत का ज्ञान रखनेवाले एक प्रतिशत भी नहीं हैं—सब धोखा है।

इस प्रमाद-निद्रा के भंग होते ही संस्कृत को जन-जन तक, न्यूनाधिक किसी भी रूप में पहुँचाने हेतु, एक नया सकल्प ग्रहण किया। फलस्वरूप प्रमुखतः २४ हज़ार श्लोकी वाल्मीकीय रामायण, एकलक्ष श्लोकी महाभारत और लक्ष-लक्ष श्लोकों-सहित सकल पुराण-उपपुराणों का संस्कृत मूल-पाठ देते हुए हिन्दी गेय पद्य अनुवाद-सहित प्रकाशित करने का यह प्रथम स्तंभ है। ज्ञान-विज्ञान, काव्य-कला, यंत्र-मंत्र-तंत्र आदि संस्कृत का अगाध भण्डार बाद में है। अनुवाद गेय होने से घर-घर आस्था-सहित पढ़ा जायगा, कुछ कंठस्थ भी हो जायगा, राष्ट्रभाषा (हिन्दी) का भण्डार भरेगा और मूल-संस्कृत पाठ की भी स्थायी सुरक्षा हो जायगी।

हिन्दी अनुवाद के सहारे संस्कृत पाठ पर दृष्टि जायगी, कुछ उसमें प्रवेश भी होगा और कम से कम संस्कृत ग्रंथ घर-घर तो पहुँच ही जायँगे।

काम शुरू तो हुआ, किंतु इसमें पचासों व्यक्तियों के लगने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अकिञ्चन के विद्यार्थी जीवनकाल में तो छन्दबद्ध कविता करने की आम रुचि थी। गली-गली रचनाएँ रची जातीं। कवि सम्मेलन होते थे। परंतु आजकल रुचि और स्वाद बदल गये हैं। जो विद्यार्थी कविता के शौकीन होते भी हैं, वे प्रायः अतुकान्त नये ढंग की कविता करते हैं।

जो कवि काव्य-रचना करते भी हैं, वे आजकल सब छायावादी और रहस्यवादी हो रहे हैं। सब "निराला" बनना चाहते हैं। कथन है:—

"सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगण केशवदास।
अब के कवि खद्योत-सम, जहँ-तहँ करें प्रकास॥"

किंतु अब सो भी नहीं :—

ते जुगनू हू अस्त हैं, अस जुग 'विधि' के बीन।
गद्य छुटपुटी पंक्ति पढ़ि, प्रगटे काव्य-प्रवीन॥

विद्वानों से मिले। एक पत्र में विज्ञापन भी दिया। सबसे क्षमायाची होकर प्रार्थना भी की कि स्वसुख को छोड़कर, राष्ट्र-सुख, राष्ट्रभाषा-सुख और देवभाषा-सुख की ओर ध्यान दें। इस 'वाणी-यज्ञ' में हमारी सहायता करें। यथासाध्य धन, यश और पुण्य, आपको सभी अर्पित एवं प्राप्त होंगे। फलस्वरूप कुछ निष्ठावान् विद्वानों का योगदान प्राप्त हुआ। कार्य-सञ्चालन आरम्भ हुआ।

भागीरथी के पुण्यतट पर बसे कानपुर के निवासी आचार्य श्री जयकृष्ण मिश्र 'सर्वेश' ने वालमीकीय रामायण और आचार्य श्री वागीश शास्त्री जी ने महाभारत जैसे विशाल ग्रन्थों के श्लोकानुरूप उतनी ही पंक्तियों में हिन्दी पद्यानुवाद का बीड़ा उठाया। आचार्य वागीश जी ने अपने अन्य सहयोगी भी तलाश किये। उनमें श्री हरिश्चन्द्र मिश्र, राजकीय विद्यालय, हमीरपुर का नाम उल्लेखनीय है। वागीश जी स्वयं तो अनुवाद करते ही हैं, अन्य विद्वानों के अनुवादों के पुनरीक्षण का भार भी अपने ऊपर लेकर ट्रस्ट के इस संस्कृत स्तम्भ में सहायता प्रदान कर रहे हैं।

अनुवाद में एक कठिनाई

(१) पाठकों को विदित हो कि हिन्दी का संस्कृत में यदि अनुवाद हो तो दो पंक्ति का दो पंक्ति में सरलता से सम्भव है। किन्तु संस्कृत की दो पंक्तियों का हिन्दी अनुवाद दो पंक्तियों में प्रायः कठिन है। विभक्ति और समासों से समृद्ध संस्कृत भाषा में भाव थोड़े ही शब्दों में व्यक्त हो जाते हैं। जबकि हिन्दी में उतने ही भाव को व्यक्त करने के लिए अधिक

शब्द चाहिए। एक ओर तो संस्कृत का घर-घर अलख जगाने के लिए संस्कृत मूल पाठ अवश्यमेव देते हुए, साथ में बोधगम्य हिन्दी गेय पद्यानुवाद का देना अनिवार्य; और दूसरी ओर २४००० श्लोकी वाल्मीकीय रामायण और १००००० श्लोकी महाभारत जैसे ग्रन्थों के वृहत्कलेवर के कारण हिन्दी अनुवाद के लिए अधिक पंक्तियों की छूट देना आर्थिक दृष्टि से ट्रस्ट की सामर्थ्य से परे। इस संकट में हिन्दी पद्यानुवाद अनेक स्थल पर वाञ्छनीय ढंग पर सरल नहीं हो सका। विद्वानों ने बड़े यत्न किये। परन्तु समान पंक्तियों में समग्र भाव को समाहित कर देने के कारण विवश होकर क्लिष्ट संस्कृत के शब्द हिन्दी पद्य में लाने पड़े हैं। उदार पाठक इससे ऊबें नहीं। इस स्तम्भ में निहित ट्रस्ट के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होकर, जहाँ कुछ कठिन हो, वहाँ कथानक की सहायता से हिन्दी अनुवाद को समझते हुए, संस्कृत के मूल पाठ को भी समझने का यत्न करें। विश्व के अद्वितीय विशाल वाङ्मय से समृद्ध, कभी न बदलनेवाली सदाबहार और परम वैज्ञानिक देवभाषा-संस्कृतभाषा को घर-घर पहुँचाने के लिए कृत-संकल्प हों।

(२) एक ध्यान देने योग्य बात और। पद्यानुवाद में छन्द मात्रिक हैं। उनमें अर्धाक्षर से आरम्भ होनेवाले शब्द जब अपने से पूर्व किसी उपसर्ग अथवा किसी शब्द से संयुक्त होकर एक-रूप बनते हैं तब उनमें एक मात्रा की वृद्धि हो जाती है। यथा धन-ग्राही, धनग्राही; सत्य-व्रती, सत्यव्रती; वेद-व्यास, वेदव्यास; सु-स्वभाव, सुस्वभाव। इस प्रकार के शब्दों को पद्य में लाते समय जब एक मात्रा कम चाहिए तब उनको पृथक् करके लिखा गया है, जैसे वेद-व्यास (छः मात्रा)। और जब पद्य-रचना में एक मात्रा अधिक चाहिए तब संयुक्त करके लिखा गया है, जैसे वेदव्यास (सात मात्रा)। इस सावधानी को पाठक ध्यान में रखकर उसी विधि से पाठ करें।

(३) न केवल अनुवाद में, वरन् मूल संस्कृत में भी कुछ शब्दों से, उनके सही होते हुए भी, पात्रभ्रम उत्पन्न हो सकता है। यथा, भरत के लिए रघुनन्दन; राम के लिए रिपुदमन आदि। जनसाधारण में रघुनन्दन और रिपुदमन क्रमशः राम और शत्रुघ्न के लिए ही समझा जाता है।

इन कुछ एक अनुवाद में आयी कठिनाइयों को देखते हुए, यह मेरा कथन है कि हमारे विद्वान निस्पृह भाव से संस्कृत भाषा की सुरक्षा में कार्यरत हैं। कार्य में यदि कहीं कोई त्रुटि प्रतीत हो तो वे हमारी ओर से समझी जायँ, उनकी ओर से नहीं।

पाठकों से विनम्र प्रार्थना है कि सावधानी से प्राचीन वाङ्मय का आनन्द लें। जनसाधारण के लिए रामायण, महाभारत साक्षात् वेद-तुल्य हैं। ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो इनमें उपलब्ध न हो। धर्म और नीति के ये ग्रन्थ अचूक पथ-प्रदर्शक हैं।

पाठभेद

वाल्मीकीय रामायण के दाक्षिणात्य, गौडीय, उत्तर और पश्चिमोत्तर कई पाठ मिलते है और उनमें परस्पर पाठभेद हैं। उनमें विद्वानों ने समय-समय पर शोध किये हैं। हाल ही में, प्रख्यात 'बड़ौदा संस्करण' में अपूर्व शोध-सामग्री प्रस्तुत की गई है।

युग-युगान्तर के प्राचीन ग्रन्थों में, वह भी मुद्रण-व्यवस्था के अभाव में जब हस्तलेखन से ही काम लिया जाता था, पाठभेदों का होना आश्चर्य नहीं। किन्तु कठिनाई तब परेशान करती है जब मान्यताओं और भावनाओं को ठेस लगती है। उदाहरणार्थ— 'सर्वे भवन्तु सुखिन:' के आदर्श के सन्मुख जब ऋषि-महर्षियों और महान आत्माओं के सन्दर्भ में सामिष पदार्थों का सेवन इन ग्रन्थों में पढ़ने को मिलता है।

स्पष्ट है कि ग्रन्थों के विविध पाठभेदों में कोई एक पाठ ही प्रामाणिक हो सकता है। यह भी सत्य है कि प्रत्येक समय में मनुष्य की रुचियाँ और मान्यताएँ बदलती रहती हैं। मनुष्य दुर्बल प्राणी है। वह नाना लिप्साओं में फँसकर, उनके व्यवहार को पवित्र ग्रन्थों में किसी प्रकार समाविष्ट करके अपनी मर्यादा की रक्षा करता और कालान्तर में वे ही समाविष्ट अंश प्रामाणिक बनकर भ्रम का आधार बन जाते हैं।

उदाहरण के लिए देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ में पृष्ठ ६८७ (अयोध्याकाण्ड) अध्याय ५२, श्लोक ८९। इसमें भगवती सीता गंगा पार करते समय प्रार्थना करती हैं कि वनवास से सकुशल लौटने पर वे नाना पवित्र द्रव्यों से भागीरथी (गगा) की पूजा करेंगी। उसके बाद ही "सुराघट......" श्लोक में उनको सुरा और मांस से पूजने लगती हैं। उसके बाद पृष्ठ ७०३ पर देखिये श्लोक १९-२०। थोड़ी ही दूर चलकर जब यमुना पार करती है, तब देवी सीता सामिष से नितांत निरामिष हो जाती हैं और वे वनवास से सकुशल लौटने पर अनेक पवित्र द्रव्यों से यमुना का पूजन करने की प्रार्थना करती हैं। पाठक विचार करें, एक ही आर्य महारानी क्षण में सामिष, क्षण में निरामिष कैसे? गंगा के लिए सत्कार-स्वाद एक, यमुना के लिए दूसरा।

निर्विवाद है कि यह पाठभेद, यह सामिष-पूजन का मिश्रण किन्हीं मांस-मद्य-लोलुपों की कला है। किन्तु उसके प्रति अश्रद्धा होते हुए भी वाल्मीकीय रामायण जैसे पूज्य ग्रन्थ से उस अवाञ्छनीय प्रक्षिप्त श्लोक को हटाने का साहस नही। गीताप्रेस जैसे पुनीत सस्करणों मे उन श्लोको को पाठ में रखते हुए, उनके सामिष से निरामिष अर्थ घसीटने की कोशिश की गई है।

अकिञ्चन के मत से वह अवाञ्छनीय श्लोक निर्भय होकर हटा देना चाहिए। निवेदन कर चुके हैं कि ट्रस्ट का प्रतिपाद्य विषय शोध नहीं है। इतनी सामर्थ्य भी नहीं दिखाई दी कि उनको प्रस्तुत पाठ से हटाकर

श्लोक-संख्या आदि में भी संशोधन कर सकें। अतः हमने गीताप्रेस संस्करण के अनुरूप ही पाठ तथा अर्थ दिया है। हम गीताप्रेस के कृतज्ञ हैं कि उनके संस्करण की सहायता के फलस्वरूप हम यह मूलपाठ एवं हिन्दी पद्यानुवाद प्रस्तुत कर सके हैं।

अकिञ्चन की पाठकों से यह प्रार्थना है कि वे उन सद्यमांमयुक्त पाठों को निश्चय ही प्रक्षिप्त समझकर, इस समय के मूल उद्देश्य— "संस्कृत वाङ्मय का प्रचार" को सफल बनाएँ।

आभार-प्रदर्शन

भुवन वाणी ट्रस्ट द्वारा इस वाणीयज्ञ के प्रमुख ऋत्विज, ग्रन्थ के विद्वान अनुवादक एवं लिप्यन्तरणकार हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य श्री वागीश जी एवं श्री सर्वेश जी ही यज्ञ के महायाजक हैं। उनका आभार सर्वोपरि है। भुवन वाणी ट्रस्ट के विशिष्ट विद्वान एवं अद्भुत शिल्पियों का योगदान भी कम सराहनीय नहीं है। साथ ही, सदाशय श्रीमानों का अनवरत योगदान भी स्तुत्य है, जिसके विना संस्था का एक पग चलना ही दुश्वार होता।

सौभाग्य की बात है, उत्तर प्रदेश शासन (राष्ट्रीय एकीकरण विभाग) और भारत की केन्द्रीय सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी-सहित सभी भारतीय भाषाओं की समान समृद्धि और व्यापकता तथा राष्ट्रभाषा के भण्डार को देशी-विदेशी सदाचार-वाङ्मय से पूरित करने के लिए सभी सम-समान वैज्ञानिक भारतीय लिपियों की प्रतिनिधि-स्वरूपा जोड़लिपि 'नागरी' के प्रसार पर उपयुक्त बल दिया गया। उनकी उल्लेखनीय सहायता से हमको अतुलित बल मिला है और उनकी सहायता के फलस्वरूप हिन्दी पद्यानुवाद सहित संस्कृत-स्तम्भ का यह प्रथम ग्रन्थ भूमण्डल के सम्मुख प्रस्तुत हो सका है। हम तदर्थ शासन के नितांत आभारी हैं।

हम शासन के अतिशय कृतज्ञ हैं। प्रतिदान में हम आश्वासन देते हैं कि भगवान की कृपा से भुवन वाणी ट्रस्ट, सानुवाद नागरी लिप्यन्तरण तथा देवभाषा सस्कृत के वाङ्मय द्वारा राष्ट्र एवं धरातल के "भाषाई सेतुबन्ध" का पुष्कल कार्य उत्तरोतर सफलता से भुवन में व्याप्त करता रहेगा।

विश्ववाङ्मय से निःसृत अगणित भाषाई धारा।
पहन नागरी-पट सबने अब भूतल-भ्रमण विचारा॥
धन्य! देववाणी 'सस्कृत' की विश्वव्यापिनी धारा।
ने नागरी-शुभ्र-अम्बर में भूतल-भ्रमण विचारा॥'

नन्दकुमार अवस्थी

मुख्यन्यासी सभापति, भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ–२०

आमुख

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के रचयिता आदिकवि श्री वाल्मीकि के काव्य का स्वाध्याय एवं अनुशीलन करने के पश्चात् ही महर्षि वेदव्यास आदि समस्त महाकवियों एवं मनीषियों ने पुराण, महाभारत तथा अन्यान्य काव्यों-महाकाव्यों आदि का प्रणयन किया है। काव्य-गङ्गा का उद्गम महर्षि वाल्मीकि की कान्तासिमत वाणी से ही माना जाता है, जैसा कि कहा भी गया है—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

अर्थात् क्रौञ्च (पक्षी) दम्पती के मिथुन-काल में ही व्याध ने एक का वध कर डाला, तभी महर्षि के मुख से सहसा यह करुण काव्य निःसृत हुआ— ऐ निषाद ! इससे तुम्हें कभी प्रतिष्ठा न मिलेगी; तथा स्वयं वाल्मीकि जी भी कहते हैं— "निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः, श्लोकत्व मापद्यत यस्य शोकः" आदि से काव्य का समुद्गम महर्षि वाल्मीकि की करुण वाणी से ही प्रमाणित है। यद्यपि महर्षि वाल्मीकि से पहले भी काव्य था, छन्द थे, रस और अलंकार थे। साक्षात् ब्रह्म के मुख से चारों वेद प्रकट हुए थे, जिसमें काव्य के समस्त गुण विद्यमान हैं, अतः श्री वाल्मीकि को ही काव्य का जनक क्यों माना जाता है ? इसके उत्तर में यह कहना ही समीचीन होगा कि वेदों में जो कुछ भी कहा गया है वह काव्य नहीं, मन्त्र हैं। मन्त्र स्वयं वेद भगवान (ब्रह्म) के मुख से निःसृत हैं पर मानव के रूप में काव्य का निःसरण श्री वाल्मीकि के मुख से ही हुआ है। इस प्रकार रामायण' आदिकवि का आदिकाव्य है।

महर्षि वाल्मीकि के जन्मस्थान का वृत्त तो ज्ञात नहीं हो सका किन्तु उनके आश्रमों का उल्लेख अवश्य मिलता है। ये सदा भ्रमण करते रहते थे, अतः इन्होंने अनेक स्थानों में अपने आश्रम बनाये थे। तमसा नदी के तट पर गंगा के उत्तर और अयोध्या के दक्षिण में, प्रयाग-झाँसी और राजापुर-मानिकपुर मार्ग में संगम में, वारिपुर-दिगपुर के मध्य विलसित भूमि में, विदिशा (भेलसा, मध्यभारत) में और उत्पलारण्य-उत्पलावर्त (ब्रह्मावर्त-बिठूर-कानपुर) में महर्षि के आश्रमों का वर्णन यत्र-तत्र मिलता है।

महर्षि ने रामायण की ही रचना क्यों की ? इसका उत्तर सुस्पष्ट है कि सप्तर्षियों ने इन्हें बताया था कि श्रीराम ही साक्षात् ब्रह्म हैं, अतः उसी

ब्रह्म का निरूपण करने के लिए इन्होंने रामायण की रचना की। किसी भी ग्रन्थ के प्रणयन में उसके अनुबन्धों को जानना आवश्यक होता है। अनुबन्ध चार प्रकार के होते हैं—विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी। इस ब्रह्म-प्रतिपादक ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय श्रीरामचरित्र के माध्यम से समग्र संसार को धर्म के प्रति निष्ठित करना है। ग्रन्थ के साथ इसका प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव ही सम्बन्ध है। ग्रन्थ प्रतिपादक है और विषय प्रतिपाद्य है। इसका मुख्य प्रयोजन सायुज्य (मोक्ष)-प्राप्ति है तथा अधिकारी मुमुक्षु है।

आदिकवि वाल्मीकि के इस आदिकाव्य रामायण में काव्य के समस्त रसों और अलंकारों की पूर्ण प्रतिष्ठा है। प्रकृति-चित्रण, सम्वाद-प्रवणता, शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छद-ज्योतिष, तंत्र-मंत्र, यज्ञ, शकुन, आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि का वर्णन, अर्थशास्त्र, न्याय-नीति, धर्म, कर्तव्य-व्यवहार-आचार तथा कुशल मार्ग का प्रदर्शन, दार्शनिक विवेचना, भौगोलिक स्थितियाँ, राजनीति-ज्ञान-विज्ञान और आत्मज्ञान व मनोविज्ञान आदि विविध विषयों का प्रतिपादन इस अपूर्व ग्रंथ में किया गया है। वेदों में जिस परमतत्त्व को व्याख्यायित किया गया है, वही परमतत्त्वमय साक्षात् वेद श्री वाल्मीकि के मुख से श्रीरामायण के रूप में प्रकट है। अतः रामायण की प्रतिष्ठा वेदतुल्य है। महान् तपस्वी श्री वाल्मीकि की वंदना में तभी तो कहा गया है—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां, वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥
यः पिबन् सततं रामचरितामृतसागरं।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे, प्राचेतसमकल्मषम्॥

कहा जाता है कि श्री वाल्मीकि की वाणी को गायत्री मंत्र के जप से ही शुद्धता प्राप्त हुई थी अतः उन्होंने रामायण की रचना का मूलाधार गायत्री मंत्र को ही बनाया। गायत्री मंत्र २४ अक्षरों का है, अतः गायत्री मंत्र के एक-एक अक्षर को प्रति सहस्र श्लोकों में सम्पुट देकर २४ सहस्र श्लोकों में रामायण की रचना की है। यद्यपि वर्तमान की प्राप्त पाठ रामायणों में प्रति सहस्रोपरान्त सम्पुट का क्रम नहीं मिलता, उसका कारण यह है कि सहस्रों वर्ष पूर्वलिखित रामायण के श्लोकों का क्रम धीरे-धीरे बिगड़ता गया है, कुछ श्लोक नष्ट हो गये और कुछ श्लोक नये जोड़ लिये गये। अस्तु, हम इस विवाद में न पड़कर यह मान्यता स्वीकार करते हैं; और इसी के फलस्वरूप वाल्मीकि रामायण को गायत्री रामायण कहा जाना सर्वथा उचित है।

उपर्युक्त सभी सुलक्षणों का अनुवादक महोदय श्री सर्वेश जी ने पूरा

निर्वाह किया है। उनाक अनुवाद सराहनीय है। वे सर्वथा धन्यवाद के पात्र है।

इस कराल कलिकाल में भारतीय संस्कृति के साथ ही साथ देववाणी संस्कृत का जो निरन्तर ह्रास हो रहा है, वह निश्चय ही अत्यन्त चिंता का विषय है अतः हमें अपने धर्मग्रंथों की रक्षा के लिए उनका जन-भाषा में गद्य या पद्य में अनुवाद अत्यत अनिवार्य हो गया है। भुवन वाणी ट्रस्ट के मुख्यन्यासी सभापति महामनीषी पद्मश्री पं० नन्दकुमार जी अवस्थी के सत्प्रयास से न केवल संस्कृत के प्रमुख ग्रन्थों का अपितु विविध भाषाओं के ग्रन्थों का सानुवाद नागरी लिप्यन्तरण विविध भाषाभाषी विद्वान् कर रहे है। इस महायज्ञ के अनुष्ठाता श्री अवस्थी जी निश्चय ही प्रशंसा के पात्र हैं।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण का अनेक प्रान्तीय एवं विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है किंतु मूलपाठ-सहित राष्ट्रभाषा हिन्दी में पद्यानुवादात्मक यह सत्कार्य सर्वप्रथम है। इसका सर्वोपरि लक्ष्य यही है कि आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण, न केवल विद्वानों वरन् जन-साधारण में संस्कृत भाषा की पैठ का भी आदिस्रोत बने। हमें पूर्ण विश्वास है कि समस्त भारतीय धर्मानुरागियों को यह पद्यात्मक अनुवाद बहुत ही पसंद आयेगा। हम अंत में पुनः पद्मश्री पं० नन्दकुमार जी अवस्थी, प्रतिष्ठाता भुवन वाणी ट्रस्ट (प्रकाशक) और पं० जयकृष्ण मिश्र 'सर्वेश' शास्त्री (अनुवादक) को अन्तरात्मा से अनन्त धन्यवाद देते हैं।

शुभम्।

अध्यक्ष—
भारतीय तंत्रशाला
४७४ के०, किदवई नगर
कानपुर–२०८०११
शारदीय नवरात्राष्टमी, सं० २०४३ वि०

विद्वज्जन वशंवद
वागीश शास्त्री

अनुवादकीय

मानव-शरीर-विज्ञान के आधार पर, मानवेतर प्रतिभा-सम्पन्न महर्षियों के अन्वेषणात्मक उग्र तप के प्रभाव से निर्मित अथवा प्राप्त, संस्कृत भाषा के प्रति मानव मात्र के हृदय में होनेवाली आस्था ही वस्तुतः अमृत है। जिसके प्रभाव से मनुष्य अपने व्यक्तित्व को दुर्विचारों की जर्जरता तथा अनैतिकता, अनाचार की मृत्यु से बचाकर, अभ्युदयमय प्रकाश के पथ पर ले आता है। इस देवी के अध्यात्म और विज्ञानमय दोनों अति सशक्त हस्त हैं। वैज्ञानिक महानुभावों को निष्पक्ष होकर यह निर्णय लेना अनिवार्य है कि विज्ञानमय शरीर की आत्मा अध्यात्म ही है। अतः इतना कहना ही पर्याप्त है कि विज्ञान और अध्यात्म से सम्पन्न यह भाषा सभी के लिए सादर ग्राह्य है। अब रही बात इसके काव्य की, उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर इसकी काव्य-प्रक्रिया भी योगियो के सोमरस और धन्वन्तरि के महौषध रसायन के समकक्ष ही रस की उत्पादिका है, जो कि मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में सर्वतोमुखी हित करनेवाला है। यह भी बात सत्य है कि कवि के लिए जो महत्व की बातें कही गई हैं वे मात्र कपोल-कल्पना ही नहीं हैं अपितु कपोल-कल्पना को भी प्रत्यक्ष रूप मे लाने की क्षमतावाली हैं। यह भी कहना दुराग्रह नहीं है कि आदिकवि वाल्मीकि केवल प्रकृति पर ही नहीं परमेश्वर पर भी अपना प्रभाव डालने में सशक्त थे। उनका रामायण महाकाव्य वह दिव्योत्तम कोषागार है, जिससे धन लेकर पूरा संसार सुखी हो सकता है। जबसे मुझमें कुछ ज्ञान-बोध होने लगा तभी से मुझे आदिकवि वाल्मीकि एवं उनके रामायण काव्य के प्रति परम श्रद्धा रही है।

एक दिन मुझे अपने आदरणीय मित्र अम्बिकेश जी मिले और उन्होंने बताया कि भुवन वाणी ट्रस्ट के मुख्यन्यासी सभापति परमादरणीय पद्मश्री नन्दकुमार जी अवस्थी महाभारत और वाल्मीकि रामायण का श्लोकशः अनुवाद कराना चाहते हैं। उस दिन की बात ईश्वर की कृपा से इस रूप में आ गयी कि उस समय मेरे पास लक्ष्मण रोलिंग मिल के मैनेजर श्री अर्जुन त्रिवेदी की वाल्मीकि रामायण देखने को रखी थी, उसी से मैंने यह शुभ कार्य प्रारम्भ कर दिया और इसी कार्य के दूसरे अङ्ग महाभारत के अनुवाद के लिए हमारे परम मित्र आचार्य वागीश शास्त्री तैयार हो गये। कार्यारम्भ हो जाने पर मैंने परमादरणीय अवस्थी जी से निवेदन किया कि इन दोनों अनुवादों के सम्पादन की आज्ञा आप वागीश जी को अवश्य दें, ऐसा करने से मेरी स्वाभाविक स्वतंत्रता सुरक्षित रहेगी तथा महाभारत

के अनुवाद में जो लोग वागीश जी की देखरेख में रहेंगे उनको भी सुगमता प्राप्त होती रहेगी। आदरणीय अवस्थी जी ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

रथ के दो चक्रों की भांति इस कार्य-रथ में प्रिय मित्र श्री विजयकरण द्विवेदी शास्त्री तथा श्री प्रभुदयाल पाण्डेय शास्त्री का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इन दोनों महानुभावों की सतर्कता पर ही हम लोगों की सफलता आधारित है।

भगवच्चरणारविन्दानुरागियों तथा आदरणीय अवस्थी जी के शुभाशीर्वाद से यह कार्य इस स्थल तक आपकी सेवा में प्रस्तुत है।

इसे आप स्वीकारें! और इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिए पहले से अधिक आशीर्वाद दें तथा प्रस्तुत खण्ड के बाद के कार्य-हेतु दुगुना और तिगुना आशीर्वाद देने के लिए तैयार रहें।

अनेक धन्यवाद!

दिनांक २४–९–८६

प्रार्थी
'सर्वेश'

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ



॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

महर्षि वाल्मीकिप्रणीत

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणम्

[मूलपाठ और हिन्दी पद्यानुवाद]

(माहात्म्य, बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड)

पद्यानुवाद

जयकृष्ण मिश्र 'सर्वेश' शास्त्री

साहित्याचार्य

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणमाहात्म्यम्

प्रथमोऽध्यायः

कलियुग की स्थिति, कलिकाल के मनुष्यों के उद्धार का उपाय, रामायण-पाठ, उसकी महिमा, उसके श्रवण के लिए उत्तम काल आदि का वर्णन

श्रीरामः शरणं समस्तजगतां
रामं विना का गती
रामेण प्रतिहन्यते कलिमलं
रामाय कार्यं नमः।
रामात् त्रस्यति कालभीमभुजगो
रामस्य सर्वं वशे
रामे भक्तिरखण्डिता भवतु मे
राम त्वमेवाश्रयः ॥ १ ॥

चित्रकूटालयं राममिन्दिरानन्दमन्दिरम्।
वन्दे च परमानन्दं भक्तानामभयप्रदम् ॥ २ ॥
ब्रह्मविष्णुमहेशाद्या यस्यांशा लोकसाधकाः।
नमामि देवं चिद्रूपं विशुद्धं परमं भजे ॥ ३ ॥

ऋषय ऊचुः

भगवन् सर्वमाख्यातं यत् पृष्टं विदुषा त्वया।
संसारपाशबद्धानां दुःखानि सुबहूनि च ॥ ४ ॥
एतत्संसारपाशस्यच्छेदकः कतमः स्मृतः।
कलौ वेदोक्तमार्गाश्च नश्यन्तीति त्वयोदिताः ॥ ५ ॥
अधर्मनिरतानां च यातनाश्च प्रकीर्तिताः।
घोरे कलियुगे प्राप्ते वेदमार्गबहिष्कृते ॥ ६ ॥
पाखण्डत्वं प्रसिद्धं वै सर्वैश्च परिकीर्तितम्।
कामार्त्ता ह्रस्वदेहाश्च लुब्धा अन्योन्यतत्पराः ॥ ७ ॥
कलौ सर्वे भविष्यन्ति स्वल्पायुर्बहुपुत्रकाः।
स्त्रियः स्वपोषणपरा वेश्याचरणतत्पराः ॥ ८ ॥
पतिवाक्यमनादृत्य सदान्यगृहतत्पराः।
दुःशीलेषु करिष्यन्ति पुरुषेषु सदा स्पृहाम् ॥ ९ ॥

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण-माहात्म्य

पहला अध्याय

कलियुग की स्थिति, कलिकाल के मनुष्यों के उद्धार का उपाय, रामायण-पाठ, उसकी महिमा, उसके श्रवण के लिए उत्तम काल आदि का वर्णन

श्रीमद् राम शरण देते संसार मात्र को
बिना राम के कौन दूसरी गति है न्यारी।
कलियुग के सब दोष राम ही शीघ्र मिटाते
अतः राम हित नमस्कार ही है हितकारी॥
हुआ राम से काल-सर्प भयभीत निरन्तर
और सृष्टि है रामचन्द्र के वश में सारी।
रामचन्द्र में भक्ति हमारी रहे अखण्डित
राम! आप आधार हमारे हैं सुखकारी॥ १ ॥
चित्रकूट में रहनेवाले लक्ष्मी के आनन्द-निकेतन।
परमानन्दस्वरूप भक्त-भय-हरण राम का करता वन्दन॥ २ ॥
जिसके अंश ब्रह्म, हरि, शिव हैं जो सत्-चित्-आनन्द कहाते।
जग-अभीष्टप्रद उन विशुद्ध को नमन सुचिन्तन सहित मनाते॥ ३ ॥

ऋषि बोले—

ऋषि-समूह ने कहा कि भगवन्! आप विज्ञ हैं अतिशय ज्ञानी।
प्रश्नोत्तर सब मिले आपसे, है दुःखद जग-बन्ध-कहानी॥ ४ ॥
इस संसार-बन्ध का कैसे, कौन भला उच्छेद करेगा?।
वेद-मार्ग-नाशक कलियुग के इस प्रभाव को कौन हरेगा?॥ ५ ॥
नित अधर्म-रत मनुज निरन्तर कलि में अधिक कष्ट पाएँगे।
किया आपने स्पष्ट, वेद से मार्ग-विभ्रमित हो जाएँगे॥ ६ ॥
सब कहते, कामी, लघुकायी, पाखण्डी अति लोभ करेंगे।
ईशाश्रय-विहीन अन्याश्रित पापकर्म से नहीं डरेंगे॥ ७ ॥
तब स्वल्पायु हीन मानव की बहुसंख्यक होंगी सन्ततियाँ।
निज पोषण-रत, वेश्या जैसी होंगी धर्म-विहीन नारियाँ॥ ८ ॥
पति-आज्ञा का कर उल्लंघन नित पर-घर में जानेवाली।
दुराचारि पुरुषों से मिलने की वे सदा लालसा वाली॥ ९ ॥

असद्वार्ता भविष्यन्ति पुरुषेषु कुलाङ्गनाः ।
परुषानृतभाषिण्यो देहसंस्कारवर्जिताः ॥ १० ॥
वाचालाश्च भविष्यन्ति कलौ प्रायेण योषितः ।
भिक्षवश्चापि मित्रादिस्नेहसम्बन्धयन्त्रिताः ॥ ११ ॥
अन्नोपाधिनिमित्तेन शिष्यान् बध्नन्ति लोलुपाः ।
उभाभ्यामपि पाणिभ्यां शिरःकण्डूयनं स्त्रियः ॥ १२ ॥
कुर्वन्त्यो गृहभर्तॄणामाज्ञां भेत्स्यन्त्यतन्द्रिताः ।
पाखण्डालापनिरताः पाखण्डजनसङ्गिनः ॥ १३ ॥
यदा द्विजा भविष्यन्ति तदा वृद्धिं गतः कलिः ।
घोरे कलियुगे ब्रह्मन् जनानां पापकर्मिणाम् ॥ १४ ॥
मनःशुद्धिविहीनानां निष्कृतिश्च कथं भवेत् ।
यथा तुष्यति देवेशो देवदेवो जगद्गुरुः ॥ १५ ॥
ततो वदस्व सर्वज्ञ सूत धर्मभृतां वर ।
वद सूत मुनिश्रेष्ठ सर्वमेतदशेषतः ॥ १६ ॥
कस्य नो जायते तुष्टिः सूत त्वद्वचनामृतात् ॥ १७ ॥

सूत उवाच

शृणुध्वमृषयः सर्वे यदिष्टं वो वदाम्यहम् ।
गीतं सनत्कुमाराय नारदेन महात्मना ॥ १८ ॥
रामायणं महाकाव्यं सर्ववेदेषु सम्मतम् ।
सर्वपापप्रशमनं दुष्टग्रहनिवारणम् ॥ १९ ॥
दुःस्वप्ननाशनं धन्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।
रामचन्द्रकथोपेतं सर्वकल्याणसिद्धिदम् ॥ २० ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां हेतुभूतं महाफलम् ।
अपूर्वं पुण्यफलदं शृणुध्वं सुसमाहिताः ॥ २१ ॥
महापातकयुक्तो वा युक्तो वा सर्वपातकैः ।
श्रुत्वैतदार्षं दिव्यं हि काव्यं शुद्धिमवाप्नुयात् ॥ २२ ॥
रामायणेन वर्तन्ते सुतरां ये जगद्धिताः ।
त एव कृतकृत्याश्च सर्वशास्त्रार्थकोविदाः ॥ २३ ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां साधनं च द्विजोत्तमाः ।
श्रोतव्यं च सदा भक्त्या रामायणपरामृतम् ॥ २४ ॥
पुरार्जितानि पापानि नाशमायान्ति यस्य वै ।
रामायणे महाप्रीतिस्तस्य वै भवति ध्रुवम् ॥ २५ ॥

कहीं-कहीं तो कुलवधुएँ भी होंगी मिथ्या परुष-भाषिणी।
तन को शुद्ध सुसंस्कृत रखनेवाले गुण की ही निवारिणी ॥ १० ॥
होंगी तब वाचाल नारियाँ, सब भिक्षा-जीवी संन्यासी।
मित्र आदि के स्नेह-बन्ध में बँधने के होंगे अभिलाषी ॥ ११ ॥
नित भोजन-लोभी के शिष्यों की संख्या बढ़ती जाएगी।
तब नारी दोनों हाथों से अपने सिर को खुजलाएगी ॥ १२ ॥
जान-बूझकर पति-आज्ञा का करें नारियाँ जब उल्लंघन।
हों पाखण्ड बोलने में रत, सहचर भी हों पाखण्डी जन ॥ १३ ॥
ऐसे जब ब्राह्मण हों, समझें! तब कलि से जग हुआ प्रभावित।
तभी घोर कलि में, हे ब्रह्मन्! मानव होंगे पाप-प्रताड़ित ॥ १४ ॥
जिनका अभ्यन्तर अशुद्ध है जिन्हें मुक्ति का द्वार नहीं है।
राम जगद्गुरु हों प्रसन्न उन पर, मुनि! कहें, उपाय कहीं है? ॥ १५ ॥
धर्मात्माओं में विशिष्ट अति हे सर्वज्ञ! सूत! बतलाएँ।
हे मुनिश्रेष्ठ! सभी प्रश्नों के समुचित उत्तर हमें बताएँ ॥ १६ ॥
भला आपके वचन-अमृत से मिटती किसकी नहीं व्यथाएँ ॥ १७ ॥

सूत बोले—

कहा सूत ने सुनें मुनिवरो! पूछा जो, वह मैं बतलाता।
सुनी सनत् ने श्री नारद से जो, वह रामायण मैं गाता ॥ १८ ॥
यह रामायण महाकाव्य है, सब वेदों-श्रुतियों से सम्मत।
सभी पाप-ग्रह-कष्ट-निवारक उद्धारक, शुभकारक, सुव्रत ॥ १९ ॥
हरता दुःस्वप्नों के दोषों को यह भुक्ति-मुक्ति-फलदाता।
राम-कथा का पठन-श्रवण है धन्य! सिद्धि-कल्याण-प्रदाता ॥ २० ॥
है धर्मार्थ-काम-मोक्षादिक चारों पुरुषार्थो का दाता।
इसको अति एकाग्रचित्त हो सुनें! यही है पुण्य-प्रदाता ॥ २१ ॥
पातक सकल, महापातक से युक्त, शुद्धि हैं इससे पाते।
ऋषि-प्रणीत इस दिव्य काव्य को जो है सुनते और सुनाते ॥ २२ ॥
सकल जगत-हित-साधक, जीवन, रामायण अनुकूल बनाते।
शास्त्रों के मर्मज्ञ विज्ञ वे अति कृतार्थ हैं समझे जाते ॥ २३ ॥
धर्म, अर्थ, औ काम, मोक्ष की है रामायण देनेवाली।
विप्रो! सुनिये भक्ति-भाव से सुधा-सरिस यह कथा निराली ॥ २४ ॥
जिनके पूर्व पाप, रघुवर की परम कृपा से हैं मिट जाते।
निश्चय वही व्यक्ति इस जग में रामायण पर श्रद्धा लाते ॥ २५ ॥

रामायणे वर्तमाने पापपाशेन यन्त्रितः ।
अनादृत्य असद्गाथासक्तबुद्धिः प्रवर्तते ॥ २६ ॥
रामायणं नाम परं तु काव्यं
सुपुण्यदं वै शृणुत द्विजेन्द्राः ।
यस्मिञ्छ्रुते जन्मजरादिनाशो
भवत्यदोषः स नरोऽच्युतः स्यात् ॥ २७ ॥
वरं वरेण्यं वरदं तु काव्यं
संतारयत्याशु च सर्वलोकम् ।
संकल्पितार्थप्रदमादिकाव्यं
श्रुत्वा च रामस्य पदं प्रयाति ॥ २८ ॥
ब्रह्मेशविष्ण्वाख्यशरीरभेदै-
र्विश्वं सृजत्यत्ति च पाति यश्च ।
तमादिदेवं परमं वरेण्य-
माधाय चेतस्युपयाति मुक्तिम् ॥ २९ ॥
यो नामजात्यादिविकल्पहीनः
परावराणां परमः परः स्यात् ।
वेदान्तवेद्यः स्वरुचा प्रकाशः
स वीक्ष्यते सर्वपुराणवेदैः ॥ ३० ॥
ऊर्जे माघे सिते पक्षे चैत्रे च द्विजसत्तमाः ।
नवाह्ना खलु श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥ ३१ ॥
इत्येवं शृणुयाद् यस्तु श्रीरामचरितं शुभम् ।
सर्वान् कामानवाप्नोति परत्रामुत्र चोत्तमान् ॥ ३२ ॥
त्रिसप्तकुलसंयुक्तः सर्वपापविवर्जितः ।
प्रयाति रामभवनं यत्र गत्वा न शोचते ॥ ३३ ॥
चैत्रे माघे कार्तिके च सिते पक्षे च वाचयेत् ।
नवाहस्सु महापुण्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥ ३४ ॥
रामायणमादिकाव्यं स्वर्गमोक्षप्रदायकम् ।
तस्माद् घोरे कलियुगे सर्वधर्मबहिष्कृते ॥ ३५ ॥
नवभिर्दिनैः श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ।
रामनामपरा ये तु घोरे कलियुगे द्विजाः ॥ ३६ ॥
त एव कृतकृत्याश्च न कलिर्बाधते हि तान् ।
कथा रामायणस्यापि नित्यं भवति यद्गृहे ॥ ३७ ॥
तद् गृहं तीर्थरूपं हि दुष्टानां पापनाशनम् ।
तावत्पापानि देहेऽस्मिन् निवसन्ति तपोधनाः ॥ ३८ ॥

कथारम्भ में पापी जन ही अन्य निम्न करते वार्ताएँ।
असद् बुद्धि से असद् आचरण और असद् करते चर्चाएँ॥ २६॥

हे द्विजेन्द्रगण! पुण्यप्रद रामायण सुनिए
जिससे जरा, मृत्यु औ जन्म-त्रास मिट जाता।
पाप-दोष से रहित मनुज होता है इससे
तथा परम अच्युत-स्वरूप का फल है पाता॥ २७॥

श्री रामायण काव्य वरद, उत्तम वरेण्य है
पठन, श्रवण से भवसागर के पार लगाता।
आदिकाव्य का श्रोता मानव, रामचन्द्र के
पुण्य परमपद को पाकर अतिशय सुख पाता॥ २८॥

जो विधि, हर, हरि के विभिन्न रूपों में होकर
विश्व-सृष्टि-संहार और पालन हैं करते।
आदिदेव उन रामचन्द्र को मन में लाकर
मनुज मोक्ष पा, भव-सागर से पार उतरते॥ २९॥

नाम, जाति वैकल्य-रहित जो सर्वोत्तम है
जो परमात्मा निज प्रकाश से हुआ प्रकाशित।
मनुज पुराणों, वेदों, शास्त्रों द्वारा ही तो
पाता दरस और होता सब भाँति समर्पित॥ ३०॥

कार्तिक, माघ, चैत्र के सुन्दर शुक्लपक्ष नौ दिन अपनाएँ।
विप्रो! अमृतमयी रामायण-कथा भक्ति से सुनें सुनाएँ॥ ३१॥
इस प्रकार श्रीरामचन्द्र के मंगलमय चरित्र का श्रोता।
लोक और परलोक-कामना-सिद्धि प्राप्तकर उत्तम होता॥ ३२॥
पाप-मुक्त, इक्कीस पीढ़ियों संग, श्रीराम-धाम को पाता।
जहाँ मनुज को किसी भाँति से रोग-शोक है नहीं सताता॥ ३३॥
चैत्र, माघ, कार्तिक मासों के शुक्लपक्ष में परम पुण्यमय।
श्री रामायण-कथा सुनाए नौ दिवसों तक होकर तन्मय॥ ३४॥
श्री रामायण आदिकाव्य यह, स्वर्ग-मोक्ष-फल का दाता है।
इससे इस कलियुग में जिसमे धम वहिष्कृत हो जाता है॥ ३५॥
धर्महीन कलि मे भी नौ दिन सुनकर मनुज अमृत पाता है।
विप्रो! परम भयंकर कलि में राम-नाम आश्रयदाता है॥ ३६॥
वे कृतार्थ हैं, सभी जिन्होने रामनाम-महिमा पहिचानी।
जिस गृह में प्रतिदिन रामायण की होती है कथा सुहानी॥ ३७॥
तीर्थ-सदृश उस गृह में जाकर पाप-मुक्त पापी हो जाते।
तपोधनो! मानव-शरीर में पाप तभी तक हैं रह पाते॥ ३८॥

यावन्न श्रूयते सम्यक् श्रीमद्रामायणं नरैः ।
दुर्लभैव कथा लोके श्रीमद्रामायणोद्भवा ।। ३९ ।।
कोटिजन्मसमुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते ।
ऊर्जे माघे सिते पक्षे चैत्रे च द्विजसत्तमाः ।। ४० ।।
यस्य श्रवणमात्रेण सौदासोऽपि विमोचितः ।
गौतमशापतः प्राप्तः सौदासो राक्षसीं तनुम् ।। ४१ ।।
रामायणप्रभावेण विमुक्तिं प्राप्तवान् पुनः ।
यस्त्वेतच्छृणुयाद् भक्त्या रामभक्तिपरायणः ।। ४२ ।।
स मुच्यते महापापैः पुरुषः पातकादिभिः ।। ४३ ।।

।। इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये कल्पानुकीर्तनं नाम प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

द्वितीयोऽध्यायः

नारद-सनत्कुमार-संवाद, सुदास या सोमदत्त नामक ब्राह्मण को राक्षसत्व की प्राप्ति तथा रामायण-कथा-श्रवण द्वारा उससे उद्धार

ऋषय ऊचुः

कथं सनत्कुमाराय देवर्षिर्नारदो मुनिः ।
प्रोक्तवान् सकलान् धर्मान् कथं तौ मिलितावुभौ ।। १ ।।
कस्मिन् क्षेत्रे स्थितौ तात तावुभौ ब्रह्मवादिनौ ।
यदुक्तं नारदेनास्मै तत् त्वं ब्रूहि महामुने ।। २ ।।

सूत उवाच

सनकाद्या महात्मानो ब्रह्मणस्तनयाः स्मृताः ।
निर्ममा निरहंकाराः सर्वे ते ह्यूर्ध्वरेतसः ।। ३ ।।
तेषां नामानि वक्ष्यामि सनकश्च सनन्दनः ।
सनत्कुमारश्च तथा सनातन इति स्मृतः ।। ४ ।।
विष्णुभक्ता महात्मानो ब्रह्मध्यानपरायणाः ।
सहस्रसूर्यसंकाशाः सत्यवन्तो मुमुक्षवः ।। ५ ।।
एकदा ब्रह्मणः पुत्राः सनकाद्या महौजसः ।
मेरुशृङ्गे समाजग्मुर्वीक्षितुं ब्रह्मणः सभाम् ।। ६ ।।
तत्र गङ्गां महापुण्यां विष्णुपादोद्भवां नदीम् ।
निरीक्ष्य स्नातुमुद्युक्ताः सीताख्यां प्रथितौजसः ।। ७ ।।
एतस्मिन्नन्तरे विप्रा देवर्षिर्नारदो मुनिः ।
आजगामोच्चरन् नाम हरेर्नारायणादिकम् ।। ८ ।।

जब तक रामकथा अति दुर्लभ मनुज न सुनते और सुनाते।
श्री रामायण-कथा सुदुर्लभ मनुज तभी तो हैं सुन पाते॥ ३९॥
कोटि जन्म के पुण्योदय का अति पावन अवसर जब आता।
कार्तिक, माघ, चैत्र-सित में तव कथा श्रवण अवसर है पाता॥ ४०॥
पापयुक्त सौदास श्रवण कर हुआ मुक्त राक्षसी गात्र से।
जो राक्षस-काया में आया गौतम ऋषि के शाप मात्र से॥ ४१॥
श्री रामायण महाकाव्य ने इसे पूर्ववत् पुनः बनाया।
परम भक्ति का आश्रय लेकर राम-कथा है जो सुन पाया॥ ४२॥
पापों, महापातकों से है वह तत्काल मुक्त हो जाता।
(जो श्रद्धामय भक्तिभाव से श्री रामायण को है गाता)॥ ४३॥

॥ श्रीस्कन्दपुराण के उत्तरखण्ड में नारद-सनत्कुमार-सवाद के अन्तर्गत रामायण-माहात्म्य-विषयक कल्प का अनुकीर्तन नामक पहला अध्याय समाप्त॥ १॥

दूसरा अध्याय

नारद-सनत्कुमार-संवाद, सुदास या सोमदत्त नामक ब्राह्मण को राक्षसत्व की प्राप्ति तथा रामायण-कथा-श्रवण द्वारा उससे उद्धार

ऋषि बोले

ऋषि बोले सनत्कुमार कथा, रामायण को कब सुन पाये।
नारद ने धर्माचरण उन्हें, विधिवत् कब कैसे समझाये॥ १॥
दोनों ब्रह्मज्ञ महामानव कब कहाँ मिले, निवसे आकर।
सुन सके कथा रामायण की सब कहें सर्वथा समझाकर॥ २॥

सूत बोले

कहा सूत ने ब्रह्मा जी के सनकादिक सुत माने जाते।
ब्रह्मचर्य-युत सदा अहं-ममता-विहीन हैं ये कहलाते॥ ३॥
उनके नाम बताता, सुनिए! सनक, सनन्दन, सनत्कुमार।
और सनातन हैं, निश्चय ही, ये ही हैं सनकादिक चार॥ ४॥
विष्णु-भक्त ये परम महात्मा, सदा ब्रह्म-चिन्तन-रत रहते।
और सहस्रों सूर्य-तेज-सम, मोक्ष-कामि, नित सच ही कहते॥ ५॥
एक बार तेजस ये विधि-सुत, ब्रह्म-सभा-दर्शन-इच्छा कर।
गये मेरुपर्वत के सुन्दर, उन्नत उत्तम स्वच्छ शिखर पर॥ ६॥
वहाँ विष्णु-चरणों से प्रकटी, सीता गंगा के दर्शन से।
वे तेजस्वी तभी स्नान-हित, उद्यत हुए सर्वथा मन से॥ ७॥
विप्रो! इसी सुअवसर पर ही, नारद मुनि का हुआ आगमन।
नारायण के नाम-कथन से, थे प्रसन्न करते सबका मन॥ ८॥

नारायणाच्युतानन्त वासुदेव जनार्दन।
यज्ञेश यज्ञपुरुष राम विष्णो नमोऽस्तु ते॥ ९॥
इत्युच्चरन् हरेर्नाम पावयन्नखिलं जगत्।
आजगाम स्तुवन् गङ्गां मुनिर्लोकैकपावनीम्॥ १०॥
अथायान्तं समुद्वीक्ष्य सनकाद्या महौजसः।
यथार्हमर्हणं चक्रुर्ववन्दे सोऽपि तान् मुनीन्॥ ११॥
अथ तत्र सभामध्ये नारायणपरायणम्।
सनत्कुमारः प्रोवाच नारदं मुनिपुङ्गवम्॥ १२॥

सनत्कुमार उवाच

सर्वज्ञोऽसि महाप्राज्ञ मुनीशानां च नारद।
हरिभक्तिपरो यस्मात्त्वत्तो नास्त्यपरोऽधिकः॥ १३॥
येनेदमखिलं जातं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
गङ्गा पादोद्भवा यस्य कथं स ज्ञायते हरिः॥ १४॥
अनुग्राह्योऽस्मि यदि ते तत्त्वतो वक्तुमर्हसि।

नारद उवाच

नमः पराय देवाय परात्परतराय च॥ १५॥
परात्परनिवासाय सगुणायागुणाय च।
ज्ञानाज्ञानस्वरूपाय धर्माधर्मस्वरूपिणे॥ १६॥
विद्याविद्यास्वरूपाय स्वस्वरूपाय ते नमः।
यो दैत्यहन्ता नरकान्तकश्च भुजाग्रमात्रेण च धर्मगोप्ता॥ १७॥
भूभारसंघातविनोदकामं नमामि देवं रघुवंशदीपम्।
आविर्भूतश्चतुर्द्धा यः कपिभिः परिवारितः॥ १८॥
हतवान् राक्षसानीकं रामं दाशरथिं भजे।
एवमादीन्यनेकानि चरितानि महात्मनः॥ १९॥
तेषां नामानि संख्यातुं शक्यन्ते नाब्दकोटिभिः।
महिमानं तु यन्नाम्नः पारं गन्तुं न शक्यते॥ २०॥
मनुभिश्च मुनीन्द्रैश्च कथं तं क्षुल्लको भजेत्।
यन्नाम्नः स्मरणेनापि महापातकिनोऽपि ये॥ २१॥
पावनत्वं प्रपद्यन्ते कथं स्तोष्यामि क्षुल्लधीः।
रामायणपरा ये तु घोरे कलियुगे द्विजाः॥ २२॥
त एव कृतकृत्याश्च तेषां नित्यं नमोऽस्तु ते।

नारायण, अच्युत, अनन्त, श्री वासुदेव, यज्ञेश, जनार्दन।
विष्णु, राम, हे यज्ञपुरुष कह, करते हुए सहस्रों वन्दन॥ ९ ॥
ऐसे भगवन्नाम-कीर्तन करते हुए जगत को पावन।
लोकपावनी गंगा-तट पर, आये मुनिवर अति प्रसन्न मन॥ १० ॥
सनक आदि तेजस्वी मुनियों ने उनके श्रीदर्शन पाकर।
उचित रूप से पूजित नारद, सविनय बैठे शीश झुकाकर॥ ११ ॥
इसके बाद सभा में बोले मुनिवर सनत्कुमार भक्ति से।
नारायण में सदापरायण कथा श्रवण की सदनुरक्ति से॥ १२ ॥

सनत्कुमार बोले

बोले सनत्कुमार, मुनीश्वर ! आप योग्य हैं तत्त्वज्ञाता।
नहीं आप-सा अन्य कहीं भी, श्रीहरि-भक्त हमें दिखलाता॥ १३ ॥
बोले, यह चर, अचर आदि जग, जिससे मुने ! प्रकट हो पाया।
जिनके पद से गंगा निकलीं, उनकी कैसे समझें माया॥ १४ ॥
कृपा आपकी है हम पर, तो करें प्रश्न का उचित विवेचन।

नारद बोले

नारद बोले, पर से परतर, प्रथम राम का करता प्रणमन॥ १५ ॥
परम उच्च दिव्यस्थल-वासी, जो कि सगुण निर्गुण कहलाते।
ज्ञानाऽज्ञान, अधर्म, धर्ममय, उन्हीं राम को शीश झुकाते॥ १६ ॥
विद्या और अविद्या, आत्मा के स्वरूप के हम गुण गाते।
दैत्यों का करते विनाश जो नरक-क्लेश हैं शीघ्र मिटाते॥ १७ ॥
भुजबल से रख धर्म, सहज क्रीड़ा से धरती-भार हटाते।
कपिसमूह-सह; चार रूप धारक रघुवर को शीश झुकाते॥ १८ ॥
दशरथ-सुत का मैं करूँ भजन, जो हैं राक्षस-कुल-संहारक।
ऐसे जिनके शुभ चरित्र हैं सभी भाँति से विस्मयकारक॥ १९ ॥
जिनके नामों को न करोड़ों वर्षों में कोई कह सकता।
और नाम-महिमा-सागर के, पार न कोई कभी उतरता॥ २० ॥
मनु, मुनीन्द्र भी पार न पाते, तब मैं क्या हूँ ? अति साधारण।
सभी पातकी पावन होते, जिसके करने से उच्चारण॥ २१ ॥
उनका स्तवन करें हम कैसे ? अतिशय क्षुद्र बुद्धि के प्राणी।
आश्रय लेनेवाले द्विज को, कलि में रामायण कल्याणी॥ २२ ॥
राम-कथाश्रित धन्य ! नमन नित उनका ही समुचित।

ऊर्जे मासि सिते पक्षे चैत्रे माघे तथैव च ॥ २३ ॥
नवाह्ना किल श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ।
गौतमशापतः प्राप्तः सुदासो राक्षसीं तनुम् ॥ २४ ॥
रामायणप्रभावेण विमुक्तिं प्राप्तवानसौ ।

सनत्कुमार उवाच

रामायणं केन प्रोक्तं सर्वधर्मफलप्रदम् ॥ २५ ॥
प्राप्तः कथं गौतमेन सौदासो मुनिसत्तम ।
रामायणप्रभावेण कथं भूयो विमोक्षितः ॥ २६ ॥
अनुग्राह्योऽस्मि यदि ते तत्त्वतो वक्तुमर्हसि ।
सर्वमेतदशेषेण मुने नो वक्तुमर्हसि ॥ २७ ॥
शृण्वतां वदतां चैव कथा पापविनाशिनी ।

नारद उवाच

शृणु रामायणं विप्र यद् वाल्मीकिमुखोद्गतम् ॥ २८ ॥
नवाह्ना खलु श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ।
आस्ते कृतयुगे विप्रो धर्मकर्मविशारदः ॥ २९ ॥
सोमदत्त इति ख्यातो नाम्ना धर्मपरायणः ।
विप्रस्तु गौतमाख्येन मुनिना ब्रह्मवादिना ॥ ३० ॥
श्रावितः सर्वधर्मांश्च गङ्गातीरे मनोरमे ।
पुराणशास्त्रकथनैस्तेनासौ बोधितोऽपि च ॥ ३१ ॥
श्रुतवान् सर्वधर्मान् वै तेनोक्तानखिलानपि ।
कदाचित् परमेशस्य परिचर्यापरोऽभवत् ॥ ३२ ॥
उपस्थितायापि तस्मै प्रणामं न चकार सः ।
स तु शान्तो महाबुद्धिर्गौतमस्तेजसां निधिः ॥ ३३ ॥
शास्त्रोदितानि कर्माणि करोति स मुदं ययौ ।
यस्त्वर्चितो महादेवः शिवः सर्वजगद्गुरुः ॥ ३४ ॥
गुर्ववज्ञाकृतं पापं राक्षसत्वे नियुक्तवान् ।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयेषु च कोविदः ॥ ३५ ॥

विप्र उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वदर्शिन् सुरेश्वर ।
क्षमस्व भगवन् सर्वमपराधः कृतो मया ॥ ३६ ॥

कार्तिक, माघ, चैत्र के सुन्दर शुक्लपक्ष में सुनें सिद्धि-हित ॥ २३ ॥
अमृतमयी इस रामायण का है नवाह्न सुनना हितकारी।
हुआ सुदास ब्राह्मण, राक्षस, गौतम-शाप लगा था भारी ॥ २४ ॥
श्री रामायण के प्रसाद से मिला इसे, इससे छुटकारा।

सनत्कुमार बोले

बोले सनत्कुमार नम्र हो, किसने कहा कथानक सारा ॥ २५ ॥
ऋषि गौतम ने इसे शाप दे, राक्षस कैसे? कहाँ बनाया?।
फिर रामायण के प्रभाव से, शाप-मुक्त कैसे हो पाया? ॥ २६ ॥
अनु-गृहीत अति हुए आपसे, अब सब यथासत्य बतलाएँ।
आप-सदृश वर्णन-पटु से हम, तुष्ट सर्वथा तब हो पाएँ ॥ २७ ॥
वक्ता-श्रोता दोनों की ही, पाप-राशि इससे मिट पाई।

नारद बोले

नारद बोले, ब्रह्मन्! यह है वाल्मीकि के मुख से आई ॥ २८ ॥
नौ दिवसों में अमृतमयी यह, कथा सुनी जाती रामायण।
थे सतयुग में धर्म-कर्म के, एक सर्वथा ज्ञानी ब्राह्मण ॥ २९ ॥
सदा धर्मपालन में तत्पर, सोमदत्त थे वे कहलाते।
सुना ब्रह्मवादी गौतम से, कथा विप्र ने, हैं बतलाते ॥ ३० ॥
परम मनोरम गंगा-तट, पर, ऋषि ने धर्मज्ञान कराया।
शास्त्र-कथा सुनने से, ब्राह्मण में है ज्ञान सर्वथा आया ॥ ३१ ॥
श्री गौतम के कहे हुए, सब शास्त्र इन्होने किये श्रवण।
एक दिवस शिव के आराधन में थे ध्यान-मग्न वे ब्राह्मण ॥ ३२ ॥
आये हुए वहाँ गौतम को, इनने नही प्रणाम किया था।
शान्त, तपस्वी गौतम मुनि नें, इसे अन्यथा नहीं लिया था ॥ ३३ ॥
वे तो हुए प्रसन्न, शिष्य यह, है कुछ अनुष्ठान में तत्पर।
किन्तु हुए अति रुष्ट इस समय, उस पर, सकल-जगद्-गुरु शंकर ॥ ३४ ॥
राक्षस हो जानें का शिव ने, उस ब्राह्मण को जब शाप दिया।
सुदास ने करबद्ध निवेदन तब गौतम से इस भाँति किया ॥ ३५ ॥

ब्राह्मण बोला

हे धर्मज्ञ सुरेश्वर! भगवन्! आप सर्वदर्शी कहलाते।
क्षमा करें अपराध हमारे, गुरुवर! एक दास के नाते ॥ ३६ ॥

प्राप्तो नः पारणेत्युक्त्वा भुजावुद्यम्य तं ययौ।
तेन कीर्तितनामानि श्रुत्वा दूरे व्यवस्थितः ॥ ५१ ॥
अशक्तस्तं द्विजं हन्तुमिदमूचे स राक्षसः।

राक्षस उवाच

अहो भद्र महाभाग नमस्तुभ्यं महात्मने ॥ ५२ ॥
नामस्मरणमात्रेण राक्षसा अपि दूरगाः।
मया प्रभक्षिताः पूर्वं विप्राः कोटिसहस्रशः ॥ ५३ ॥
नामप्रावरणं विप्र रक्षति त्वां महाभयात्।
नामस्मरणमात्रेण राक्षसा अपि भो वयम् ॥ ५४ ॥
परां शान्तिं समापन्ना महिमा कोऽच्युतस्य हि।
सर्वथा त्वं महाभाग रागादिरहितो द्विज ॥ ५५ ॥
रामकथाप्रभावेण पाह्यस्मात् पातकाधमात्।
गुर्ववज्ञा मया पूर्वं कृता च मुनिसत्तम ॥ ५६ ॥
कृतश्चानुग्रहः पश्चाद् गुरुणोक्तमिदं वचः।
वाल्मीकिमुनिना पूर्वं कथा रामायणस्य च ॥ ५७ ॥
ऊर्जे मासे सिते पक्षे श्रोतव्या च प्रयत्नतः।
गुरुणापि पुनः प्रोक्तं रम्यं तु शुभदं वचः ॥ ५८ ॥
नवाह्ना खलु श्रोतव्यं रामायणकथामृतम्।
तस्माद् ब्रह्मन् महाभाग सर्वशास्त्रार्थकोविद ॥ ५९ ॥
कथाश्रवणमात्रेण पाह्यस्मात् पापकर्मणः।

नारद उवाच

ततो रामायणं ख्यातं राममाहात्म्यमुत्तमम् ॥ ६० ॥
निशम्य विस्मयाविष्टो बभूव द्विजसत्तमः।
ततो विप्रः कृपाविष्टो रामनामपरायणः ॥ ६१ ॥
सुदासराक्षसं नाम चेदं वाक्यमथाब्रवीत्।

विप्र उवाच

राक्षसेन्द्र महाभाग मतिस्ते विमलाभवत् ॥ ६२ ॥
अस्मिन्नूर्ज्जे सिते पक्षे रामायणकथां शृणु।
शृणु त्वं राममाहात्म्यं रामभक्तिपरायण ॥ ६३ ॥
रामध्यानपराणां च कः समर्थः प्रबाधितुम्।
रामभक्तिपरो यत्र तत्र ब्रह्मा हरिः शिवः ॥ ६४ ॥

मुदित, अहा ! संयोग ! विप्र यह भक्ष्य-सदृश इस वन में आया।
भोजन मिला, कहा राक्षस ने और विप्र पर हाथ उठाया॥ ५१॥
किन्तु नाम-कीर्तन को सुन, वह जड़वत् अहित न कुछ कर पाया।

राक्षस बोला

सभी भाँति असमर्थ राक्षस ने मुनि को तब शीश झुकाया॥ ५२॥
विप्र ! आपका भगवत-कीर्तन सुनकर राक्षस भी भग जाता।
इसके पहले कोटि-कोटि विप्रों को भी तत्क्षण मैं खाता॥ ५३॥
राम-नाम है कवच, उसी से आप सदा रक्षित रह पाये।
और आपसे नाम श्रवण कर, हम राक्षस भी सुख में आये॥ ५४॥
शान्तिदायिनी राम-नाम की, महिमा कृपया हमें बताएँ।
राग-दोष से रहित दिख रहीं, क्योंकि आपकी मनोदशाएं॥ ५५॥
राम-कथा के सुप्रभाव से, अब पातक से मुझे बचाएं।
गुरु-अवमान किया था पहले, इसीलिए सह रहा व्यथाएँ॥ ५६॥
किन्तु बाद में परम अनुग्रह कर, बोले गुरु सत्य-परायण।
पूर्व समय में वाल्मीकि ने, सुखद कही है श्री रामायण॥ ५७॥
कार्तिक-शुक्लपक्ष में सुनने से रामायण है सुखदायी।
परम मनोहर शुभ वचनों में श्रीगुरु ने यह बात बतायी॥ ५८॥
नौ दिवसों में श्री रामायण सुनने का उत्तम विधान है।
समझ रहा मैं इसका निश्चय विप्र ! आपको दिव्य ज्ञान है॥ ५९॥
कथा सुनाकर इन पापों से, विप्र ! शीघ्र ही मुझे बचाएँ।

नारद बोले

नारद बोले, राक्षस-मुख से, रामायण की सुन वार्ताएँ॥ ६०॥
चकित हुए माहात्म्य-राम सुन उस अवसर पर वे द्विज सत्तम।
रामपरायण द्रवित विप्र में जागा कृपाभाव सर्वोत्तम॥ ६१॥
उस सुदास राक्षस से बोले तब गर्ग विप्र वाणी सलिला।

ब्राह्मण बोला

हे राक्षसेन्द्र ! हे महाभाग ! मति हुई तुम्हारी अब विमला॥ ६२॥
इस कार्तिक के शुक्लपक्ष में सुनो भक्ति से तुम रामायण।
सचमुच हो अब भी तुम निश्चय राम-भक्ति मे परमपरायण॥ ६३॥
राम-भक्त के लिए असम्भव, किसी भाँति से कोई बाधक।
राम-भक्त हैं जहाँ, वहाँ हैं, विधि, हरि, हर, सौभाग्यप्रसाधक॥ ६४॥

तत्र देवाश्च सिद्धाश्च रामायणपरा नराः।
तस्मादूर्जे सिते पक्षे रामायणकथां शृणु ॥ ६५ ॥
नवाह्ना खलु श्रोतव्यं सावधानः सदा भव।
इत्युक्त्वा कथयामास रामायणकथां मुनिः ॥ ६६ ॥
कथाश्रवणमात्रेण राक्षसत्वमपाकृतम्।
विसृज्य राक्षसं भावमभवद् देवतोपमः ॥ ६७ ॥
कोटिसूर्यप्रतीकाशो नारायणसमप्रभः।
शङ्खचक्रगदापाणिर्हरेः सद्म जगाम सः ॥ ६८ ॥
स्तुवन् तं ब्राह्मणं सम्यग् जगाम हरिमन्दिरम् ॥ ६९ ॥

नारद उवाच

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम्।
स तस्य महिमा तत्र ऊर्जे मासि च कीर्त्यते ॥ ७० ॥
यन्नामस्मरणादेव महापातककोटिभिः।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यो नरो याति परां गतिम् ॥ ७१ ॥
रामायणेति यन्नाम सकृदप्युच्यते यदा।
तदैव पापनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ॥ ७२ ॥
ये पठन्ति सदाऽऽख्यानं भक्त्या शृण्वन्ति ये नराः।
गङ्गास्नानाच्छतगुणं तेषां संजायते फलम् ॥ ७३ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये राक्षसमोक्षणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

सनत्कुमार उवाच

अहो विप्र इदं प्रोक्तमितिहासं च नारद।
रामायणस्य माहात्म्यं त्वं पुनर्वद विस्तरात् ॥ १ ॥
अन्यमासस्य माहात्म्यं कथयस्व प्रसादतः।
कस्य नो जायते तुष्टिर्मुने त्वद्वचनामृतात् ॥ २ ॥

नारद उवाच

सर्वे यूयं महाभागाः कृतार्था नात्र संशयः।
यतः प्रभावं रामस्य भक्तितः श्रोतुमुद्यताः ॥ ३ ॥

वहीं देवता, सिद्ध सर्वथा रामायण-आश्रित हैं रहते।
तुम कार्तिक के शुक्लपक्ष में कथा सुनो यह ही हम कहते॥ ६५॥
सावधान हो नौ दिवसों तक, सुनने का इसका विधान है।
तब सुदास ने गर्ग विप्र से सुनी कथा जो दिव्य ज्ञान है॥ ६६॥
श्री रामायण-श्रवण मात्र से, मिटा राक्षसी शाप महत्तम।
अतः राक्षसी-भाव त्यागकर, हुआ पुनः देवों-सा उत्तम॥ ६७॥
कोटि सूर्य-सम सुप्रकाशमय सुन्दर चार भुजाओं वाला।
शंख-चक्र औ गदा-पद्मयुत हुआ, मिला वैकुण्ठ निराला॥ ६८॥
संस्तुति करके गर्गदेव की, गया शीघ्र ही विष्णुधाम को।
(रोम-रोम में रामायण, भजता सुदास बस राम-नाम को)॥ ६९॥

नारद बोले

नारद बोले, सुनें आप सब, इसका सुनना सदा उचित है।
किन्तु कार्तिक शुक्लपक्ष में सुनने से होता अति हित है॥ ७०॥
रामायण के नाम-मात्र से, है पातक-समूह मिट जाता।
श्रोता इसका पाप-मुक्त हो, निश्चय परमोत्तम गति पाता॥ ७१॥
'श्री रामायण' दिव्य नाम यह, एक बार जो भी कहता है।
वह सुखमय जीवन व्यतीत कर विष्णुलोक में फिर रहता है॥ ७२॥
जो इस राम-कथा को पढ़ते, सुनते सदा भक्ति-रत होकर।
वह श्री गंगा-स्नान-पुण्य से फल पाते सौ गुना सौख्यकर॥ ७३॥

॥ श्री स्कन्दपुराण के उत्तरखण्ड में नारद-सनत्कुमार-संवाद में वाल्मीकीय-रामायण-माहात्म्य का राक्षस-उद्धार नामक दूसरा अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

तीसरा अध्याय

माघ मास में रामायण-श्रवण का फल, राजा सुमति और सत्यवती के पूर्व-जन्म का इतिहास

सनत्कुमार बोले

बोले सनत्कुमार, ब्रह्मसुत ! सुखद आपने वृत्त सुनाया।
रामायण-माहात्म्य सुविस्तृत कर फिर कहें, न मन भर पाया॥ १॥
अन्य मास-माहात्म्य कृपा कर, अब हम सबको पुनः सुनाएँ।
कौन न तुष्ट आपसे होगा, अमृतमयी सुन राम-कथाएँ॥ २॥

नारद बोले

महाभाग हैं, धन्य और कृतकृत्य, अहो ! मुनिगण हैं जितने।
क्योंकि भक्ति से रामायण को, सुनने में तत्पर है इतने॥ ३॥

माहात्म्यश्रवणं यस्य राघवस्य कृतात्मनाम् ।
दुर्लभं प्राहुरत्यन्तं मुनयो ब्रह्मवादिनः ॥ ४ ॥
शृणुध्वमृषयश्चित्रमितिहासं पुरातनम् ।
सर्वपापप्रशमनं सर्वरोगविनाशनम् ॥ ५ ॥
आसीत् पुरा द्वापरे च सुमतिर्नाम भूपतिः ।
सोमवंशोद्भवः श्रीमान् सप्तद्वीपैकनायकः ॥ ६ ॥
धर्मात्मा सत्यसम्पन्नः सर्वसम्पद्विभूषितः ।
सदा रामकथासेवी रामपूजापरायणः ॥ ७ ॥
रामपूजापराणां च शुश्रूषुरनहंकृतिः ।
पूज्येषु पूजानिरतः समदर्शी गुणान्वितः ॥ ८ ॥
सर्वभूतहितः शान्तः कृतज्ञः कीर्त्तिमान् नृपः ।
तस्य भार्या महाभागा सर्वलक्षणसंयुता ॥ ९ ॥
पतिव्रता पतिप्राणा नाम्ना सत्यवती श्रुता ।
तावुभौ दम्पती नित्यं रामायणपरायणौ ॥ १० ॥
अन्नदानरतौ नित्यं जलदानपरायणौ ।
तडागारामवाप्यादीनसंख्यातान् वितेनतुः ॥ ११ ॥
सोऽपि राजा महाभागो रामायणपरायणः ।
वाचयेच्छृणुयाद् वापि भक्तिभावेन भावितः ॥ १२ ॥
एवं रामपरं नित्यं राजानं धर्मकोविदम् ।
तस्य प्रियां सत्यवतीं देवा अपि सदास्तुवन् ॥ १३ ॥
विश्रुतौ त्रिषु लोकेषु दम्पती तौ हि धार्मिकौ ।
आययौ बहुभिः शिष्यैर्द्रष्टुकामो विभाण्डकः ॥ १४ ॥
विभाण्डकं मुनिं दृष्ट्वा सुखमाप्तो जनेश्वरः ।
प्रत्युद्ययौ सपत्नीकः पूजाभिर्बहुविस्तरम् ॥ १५ ॥
कृतातिथ्यक्रियं शान्तं कृतासनपरिग्रहम् ।
निजासनगतो भूपः प्राञ्जलिर्मुनिमब्रवीत् ॥ १६ ॥

राजोवाच

भगवन् कृतकृत्योऽद्य त्वदभ्यागमनेन भोः ।
सतामागमनं सन्तः प्रशंसन्ति सुखावहम् ॥ १७ ॥
यत्र स्यान्महतां प्रेम तत्र स्युः सर्वसम्पदः ।
तेजः कीर्तिर्धनं पुत्र इति प्राहुर्विपश्चितः ॥ १८ ॥
तत्र वृद्धिं गमिष्यन्ति श्रेयांस्यनुदिनं मुने ।
यत्र सन्तः प्रकुर्वन्ति महतीं करुणां प्रभो ॥ १९ ॥

राम-कथा का श्रवण सुदुर्लभ ब्रह्मवादियों ने बतलाया।
एक मात्र पुण्यात्म-जनों को ही इसका अधिकारी पाया॥ ४॥
महर्षियो ! अब सुनें सर्वथा, एक अजब इतिहास पुरातन।
सकल पाप मिटते हैं जिससे, होता रोग-हीन सुन्दर तन॥ ५॥
पूर्व समय द्वापर में राजा, सुमति नाम के थे सुखदायक।
चन्द्र-वंश में जन्मे थे वे, थे वे सप्तद्वीप के नायक॥ ६॥
धार्मिक थे वे सत्य-वचन-रत, तथा सर्वसम्पत्ति-समन्वित।
राम-कथा, पूजन-आराधन में ही सदा रहे वे सुनिहित॥ ७॥
राम-भक्त की पूजा, अर्चा, सेवा में रहते थे तत्पर।
पूज्यपुरुष-पूजक समदर्शी, अहंकार से रहित गुणागर॥ ८॥
शान्त, कृतज्ञ, कीर्ति-युत थे वे, सभी प्राणियों के हितकारी।
भाग्यवती थी उनकी भार्या, सकल सुलक्षण-युत सन्नारी॥ ९॥
पतिव्रता, पति-प्राणा थी अति, सत्यवती शुभ सुखद नाम था।
रामायण का पढ़ना, सुनना इस दम्पति का प्रमुख काम था॥ १०॥
अन्न और जलदान-परायण, राजा ने वाटिका लगाई।
स्थान-स्थान पर सुखद सरोवर, वावलियाँ अनेक बनवाई॥ ११॥
राजा सुमति सदा रहते थे, रामायण-अनुशीलन में रत।
रामायण का पठन, श्रवण ही, दैनिक था सर्वोत्तम प्रिय व्रत॥ १२॥
वे धर्मज्ञ नरेश, राम के आराधन में थे तत्पर नित।
सत्यवती भी थीं ऐसी ही, देवगणों से उभय प्रशंसित॥ १३॥
कीर्तिमान् राजा-रानी के सुयश तीन भुवनों में छाये।
शिष्यों-सहित विभाण्डक मुनि, दिन एक देखने इनको आये॥ १४॥
अगवानी को वे रानी सँग, गये अर्चना-साज सजाकर।
दम्पति अति थे हर्ष-प्रफुल्लित, मुनिवर के श्रीदर्शन पाकर॥ १५॥
हुआ अतिथि-सत्कार पूर्ण जब, मुनिवर निज आसन पर आये।
निज आसन विराज नृप ने मुनि से कर जोड़े वचन सुनाये॥ १६॥

राजा बोले

राजा बोले, मैं कृतार्थ हूँ, आज आपके शुभागमन पर।
क्योंकि प्रशंसित, सुखद बताते सन्त-समागम सदा विज्ञवर॥ १७॥
महापुरुष की जिधर कृपा है, स्वतः सम्पदा चलकर आती।
पुत्र, कीर्ति, धन, तेज प्रचुर सब, विज्ञ-मण्डली यों बतलाती॥ १८॥
प्रभो ! जहाँ पर सन्त-महात्मा, की होती शुभ कृपा-दृष्टि है।
प्रतिदिन वहाँ श्रेय, मंगल की, होती तत्क्षण शुभा सृष्टि है॥ १९॥

यो मूर्ध्नि धारयेद् ब्रह्मन् विप्रपादतलोदकम् ।
स स्नातो सर्वतीर्थेषु पुण्यवान् नात्र संशयः ॥ २० ॥
मम पुत्राश्च दाराश्च सम्पदश्च समर्पिताः ।
समाज्ञापय शान्तात्मन् वयं किं करवाणि ते ॥ २१ ॥
इत्थं वदन्तं भूपं तं स निरीक्ष्य मुनीश्वरः ।
स्पृशन् करेण राजानं प्रत्युवाचातिहर्षितः ॥ २२ ॥

ऋषिरुवाच

राजन् यदुक्त भवता तत्सर्वं त्वत्कुलोचितम् ।
विनयावनताः सर्वे परं श्रेयो भजन्ति हि ॥ २३ ॥
प्रीतोऽस्मि तव भूपाल सन्मार्गपरिवर्तिनः ।
स्वस्ति तेऽस्तु महाभाग यत्पृच्छामि तदुच्यताम् ॥ २४ ॥
हरिसंतोषकान्यासन् पुराणानि बहून्यपि ।
माघे मासि चोद्यतोऽसि रामायणपरायणः ॥ २५ ॥
तव भार्यापि साध्वीयं नित्यं रामपरायणा ।
किमर्थमेतद् वृत्तान्तं यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ २६ ॥

राजोवाच

शृणुष्व भगवन् सर्वं यत्पृच्छसि वदामि तत् ।
आश्चर्यं यद्धि लोकानामावयोश्चरितं मुने ॥ २७ ॥
अहमासं पुरा शूद्रो मालतिर्नाम सत्तम ।
कुमार्गनिरतो नित्यं सर्वलोकाहिते रतः ॥ २८ ॥
पिशुनो धर्मविद्वेषी देवद्रव्यापहारकः ।
महापातकिसंसर्गी देवद्रव्योपजीवकः ॥ २९ ॥
गोघ्नश्च ब्रह्महा चौरो नित्यं प्राणिवधे रतः ।
नित्यं निष्ठुरवक्ता च पापो वेश्यापरायणः ॥ ३० ॥
किञ्चित् काले स्थितो ह्येवमनादृत्य महद्वचः ।
सर्वबन्धुपरित्यक्तो दुःखी वनमुपागमम् ॥ ३१ ॥
मृगमांसाशनं नित्यं तथा मार्गविरोधकृत् ।
एकाकी दुःखबहुलो न्यवसं निर्जने वने ॥ ३२ ॥
एकदा क्षुत्परिश्रान्तो निद्राघूर्णः पिपासितः ।
वसिष्ठस्याश्रमं दैवादपश्यं निर्जने वने ॥ ३३ ॥
हंसकारण्डवाकीर्णं तत्समीपे महत्सरः ।
पर्यन्ते वनपुष्पौघैश्छादितं तन्मुनीश्वर ॥ ३४ ॥

सन्त पुरुष के चरणोदक को, श्रद्धान्वित जो माथ चढ़ाता।
वह पुण्यात्मा सब तीर्थों का, सुखद स्नान-फल निश्चय पाता ॥ २० ॥
नारी, सुत, सम्पत्ति हमारी, है मुनिवर! चरणों में अर्पित।
क्या सेवा मैं करूँ आपकी, कृपया करें मुझे सम्बोधित ॥ २१ ॥
ऐसी सुमति नृपति की बातें, सुनकर मुनि ने उन्हें देखकर।
कहा विभाण्डक ने प्रसन्न मन, उन पर अपना रख दक्षिण कर ॥ २२ ॥

ऋषि बोले

ऋषि बोले, नृप! उत्तम कुल के, पुरुष वचन ऐसे ही कहते।
ऐसे विनयावनत सर्वदा, सब श्रेयों से संयुत रहते ॥ २३ ॥
मैं प्रसन्न हूँ सुमति आप पर, आप सुपथ पर बढ़ते जाएँ।
हो कल्याण आपका राजन्! अब जो पूछूँ वह बतलाएँ ॥ २४ ॥
नाना अन्य पुराण उन्हीं से, सुमुदित हैं होते नारायण।
फिर भी माघ शुक्ल में करते रामायण का क्यों पारायण ॥ २५ ॥
पतिपरायणा पत्नी की भी यह रामायण क्यों उपास्य है।
अतः बताएँ इस सुवृत्त में, हे राजन्! जो कुछ रहस्य है ॥ २६ ॥

राजा बोले

राजा बोले, सुनिए ब्रह्मन्! पूछ रहे जो, वह बतलाता।
हम दोनों के इस चरित्र से, आश्चर्यान्वित जग हो जाता ॥ २७ ॥
मुने! शूद्र था पूर्वजन्म में, मैं मालति, कुपथी, कुविचारी।
परम कुकर्मी, हित न किसी का, सबका ही मैं अनहितकारी ॥ २८ ॥
चुगुलखोर, धर्मद्रोही था, देव-द्रव्य-हर, पातकि-सहचर।
सदा जीविका चला रहा था, देव-निमित्तक धन को हरकर ॥ २९ ॥
गो-ब्राह्मण-हत्या, चोरी औ सदा प्राणि-वध-रत रहता था।
पापी, वेश्यासक्त सर्वथा, नित निष्ठुर बातें कहता था ॥ ३० ॥
घर पर रहकर मान्य जनों का, किया सदा आज्ञा-उल्लंघन।
त्यागा मुझको बन्धुजनों ने, तब वासस्थल हुआ घोर वन ॥ ३१ ॥
प्रतिदिन खा पशु-मांस, पथिक के पथ को कण्टकयुक्त बनाता।
वहाँ अकेला रहकर मैं था, निर्जन वन में अति दुख पाता ॥ ३२ ॥
वहाँ एक दिन भूखा-प्यासा, थका तथा निद्रा से आकुल।
दैवयोग से निर्जन वन में देखा मुनि वशिष्ठ का ऋषिकुल ॥ ३३ ॥
आश्रम-निकट विशाल सरोवर, हंस और कारण्डव-पूरित।
जलपक्षी छा रहे, मुनीश्वर! वह था वन-पुष्पों से छादित ॥ ३४ ॥

अपिबं तत्र पानीयं तत्तटे विगतश्रमः ।
उन्मूल्य वृक्षमूलानि मया क्षुच्च निवारिता ॥ ३५ ॥
वसिष्ठस्याश्रमे तत्र निवासं कृतवानहम् ।
शीर्णस्फटिकसंधानं तत्र चाहमकारिषम् ॥ ३६ ॥
पर्णैस्तृणैश्च काष्ठैश्च गृहं सम्यक् प्रकल्पितम् ।
तत्राहं व्याधसत्त्वस्थो हत्वा बहुविधान् मृगान् ॥ ३७ ॥
आजीविकां च कुर्वाणो वत्सराणां च विंशतिम् ।
अथेयमागता साध्वी विन्ध्यदेशसमुद्भवा ॥ ३८ ॥
निषादकुलसम्भूता नाम्ना कालीति विश्रुता ।
बन्धुवर्गैः परित्यक्ता दुःखिता जीर्णविग्रहा ॥ ३९ ॥
ब्रह्मन् क्षुत्तृट्परिश्रान्ता शोचन्ती मौक्तिकीं क्रियाम् ।
दैवयोगात् समायाता भ्रमन्ती विजने वने ॥ ४० ॥
मासे ग्रीष्मे च तापार्ता ह्यन्तस्तापप्रपीडिता ।
इमां दुःखवतीं दृष्ट्वा जाता मे विपुला घृणा ॥ ४१ ॥
मया दत्तं जलं चास्यै मांसं वनफलं तथा ।
गतश्रमा तु सा पृष्टा मया ब्रह्मन् यथातथम् ॥ ४२ ॥
न्यवेदयत् स्वकर्माणि तानि शृणु महामुने ।
इयं काली तु नाम्ना वै निषादकुलसम्भवा ॥ ४३ ॥
दाम्भिकस्य सुता विद्वन् न्यवसद् विन्ध्यपर्वते ।
परस्वहारिणी नित्यं सदा पैशुन्यवादिनी ॥ ४४ ॥
बन्धुवर्गैः परित्यक्ता यतो हतवती पतिम् ।
कान्तारे विजने ब्रह्मन् मत्समीपमुपागता ॥ ४५ ॥
इत्येवं स्वकृतं कर्म सर्वं मह्यं न्यवेदयत् ।
वसिष्ठस्याश्रमे पुण्ये अहं चेयं च वै मुने ॥ ४६ ॥
दम्पतीभावमाश्रित्य स्थितौ मांसाशिनौ तदा ।
उद्यमार्थे गतौ चैव वसिष्ठस्याश्रमं तदा ॥ ४७ ॥
दृष्ट्वा चैव समाजं च देवर्षीणां च सत्तम ।
रामायणपरा विप्रा माघे दृष्ट्वा दिने दिने ॥ ४८ ॥
निराहारौ च विक्रान्तौ क्षुत्पिपासाप्रपीडितौ ।
अनिच्छया गतौ तत्र वसिष्ठस्याश्रमं प्रति ॥ ४९ ॥
रामायणकथां श्रोतुं नवाह्ना चैव भक्तितः ।
तत्काल एव पञ्चत्वमावयोरभवन्मुने ॥ ५० ॥
कर्मणा तेन तुष्टात्मा भगवान् मधुसूदनः ।
स्वदूतान् प्रेषयामास मदाहरणकारणात् ॥ ५१ ॥

उसके तट पर बैठ, और जल पीकर मैंने थकन नसाई।
कुछ वृक्षों की जड़ें उखाड़ीं, और उन्हीं से भूख मिटाई॥ ३५॥
श्री वशिष्ठ-आश्रम समीप ही, रहकर शान्ति तनिक मिल पाई।
तब फिर मैंने स्फटिक शिलाएँ जोड़-जोड़ दीवार बनाई॥ ३६॥
फिर पत्तों, तिनकों, काष्ठों से, मैंने सुन्दर गेह बनाया।
वन-जीवों को मार-मार कर, व्याध-वृत्ति को ही अपनाया॥ ३७॥
वहाँ बीस वर्षो तक मैंने मृग-वध से जीविका चलाई।
तभी विन्ध्यदेशी यह नारी, पास हमारे चलकर आई॥ ३८॥
थी निषाद-कुलजा कन्या वह, थी 'काली' नाम्नी विख्याता।
बान्धव-त्यक्ता दुखिता थी वह, था शरीर जर्जर दिखलाता॥ ३९॥
भूखी-प्यासी सोच रही थी, ब्रह्मन्! कैसे चले कमाई।
दैवयोग से भ्रमती-भ्रमती, वन में मेरे गृह तक आई॥ ४०॥
ग्रीष्म-मास की कड़ी धूप थी, औ मन में पीड़ा अधिकाई।
ऐसी पीड़ित इस नारी पर, हमको बहुत दया तब आई॥ ४१॥
पीने को जल दिया उसे तब, भोजन-हेतु मांस औ वन-फल।
श्रम-निवृत्त होने पर, ब्रह्मन! पूछा उसका हाल, हो विकल॥ ४२॥
प्रश्नोत्तर में जन्म-कर्म जो, कहे, उसे मुनिवर! बतलाता।
सुनें! नाम था काली उसका, थी निषाद-कुल में संजाता॥ ४३॥
थी निवासिनी विन्ध्याचल की, औ पितु का दाम्भिक सुनाम था।
चोरी करना, चुगुली खाना, नित-जीवन का यही काम था॥ ४४॥
बान्धव-त्यक्ता हुई एक दिन, निज पति की हत्या कर डाली।
ब्रह्मन्! तब यह पास हमारे दुर्गम वन में आई 'काली'॥ ४५॥
भली भाँति से इसने हमको, सब कुकृत्य अपने बतलाये।
तब वशिष्ठ के पुण्याश्रम में, चलकर हम दोनों ही आये॥ ४६॥
पति-पत्नी-सम्बन्ध बनाकर, रहने लगे मांस को खाकर।
एक दिवस जीविका हेतु हम पहुँचे मुनि वशिष्ठ आश्रम पर॥ ४७॥
देखा तब देवर्षि-वृन्द को, माघ मास में, हे मुनिसत्तम!।
प्रतिदिन सुनते और सुनाते, श्री रामायण-कथा दिव्यतम॥ ४८॥
निराहार पुरुषार्थ-व्यर्थ हो भूख-प्यास दोनों से पीड़ित।
इच्छा-बिना गये आश्रम तक, स्वभावतः भोजन-पानी-हित॥ ४९॥
फिर नौ दिवसों तक दोनों ने, यह रामायण सुनी रसमयी।
तदनन्तर तत्काल उसी दिन, हम दोनों की मृत्यु हो गयी॥ ५०॥
इस सुकृत्य से हम दोनों पर, मधुसूदन प्रसन्न हो पाये।
हम दोनों को लेने के हित, दिव्य दूत अपने भिजवाये॥ ५१॥

आरोप्य मां विमाने तु जग्मुस्ते च परं पदम् ।
आवां समीपमापन्नौ देवदेवस्य चक्रिणः ॥ ५२ ॥
भुक्तवन्तौ महाभोगान् यावत्कालं शृणुष्व मे ।
युगकोटिसहस्राणि युगकोटिशतानि च ॥ ५३ ॥
उषित्वा रामभवने ब्रह्मलोकमुपागतौ ।
तावत्कालं च तत्रापि स्थित्वेन्द्रपदमागतौ ॥ ५४ ॥
तत्रापि तावत्कालं च भुक्त्वा भोगाननुत्तमान् ।
ततः पृथ्वीं वयं प्राप्ताः क्रमेण मुनिसत्तम ॥ ५५ ॥
अत्रापि सम्पदतुला रामायणप्रसादतः ।
अनिच्छया कृतेनापि प्राप्तमेवंविधं मुने ॥ ५६ ॥
नवाह्ना किल श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ।
भक्तिभावेन धर्मात्मञ्जन्ममृत्युजरापहम् ॥ ५७ ॥
अवशेनापि यत्कर्म कृतं तु सुमहत्फलम् ।
ददाति शृणु विप्रेन्द्र रामायणप्रसादतः ॥ ५८ ॥

नारद उवाच

एतत्सर्वं निशम्यासौ विभाण्डको मुनीश्वरः ।
अभिनन्द्य महीपालं प्रययौ स्वतपोवनम् ॥ ५९ ॥
तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा देवदेवस्य चक्रिणः ।
रामायणकथा चैव कामधेनूपमा स्मृता ॥ ६० ॥
माघे मासे सिते पक्षे रामायणं प्रयत्नतः ।
नवाह्ना किल श्रोतव्यं सर्वधर्मफलप्रदम् ॥ ६१ ॥
य इदं पुण्यमाख्यानं सर्वपापप्रणाशनम् ।
वाचयेच्छृणुयाद् वापि रामभक्तश्च जायते ॥ ६२ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये माघफलानुकीर्तन नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

नारद उवाच

अन्यमासं प्रवक्ष्यामि शृणुध्वं सुसमाहिताः ।
सर्वपापहरं पुण्यं सर्वदुःखनिबर्हणम् ॥ १ ॥

बैठाकर हमको विमान पर, तब वे परम धाम को आये।
हम दोनों ने तभी चक्रधर, विश्वेश्वर के दर्शन पाये॥ ५२॥
पुण्य-भोग भोगे दोनों ने, जितने समय, सुनें ! बतलाता।
मैं सहस्र शत कोटि युगों तक, राघव-धाम रहा सुख पाता॥ ५३॥
राम-धाम में दोनों रहकर, फिर श्री ब्रह्मलोक में आये।
उसी अवधि तक रहे वहाँ, फिर इन्द्रलोक के दर्शन पाये॥ ५४॥
उतने ही दिन इन्द्रलोक में, हम दोनों ने समुद बिताये।
तदनन्तर हम सपत्नीक फिर, मुनिवर! इस पृथ्वी पर आये॥ ५५॥
और यहाँ भी श्री रामायण के प्रसाद से मिला अतुल धन।
श्रवण मात्र का इतना फल था ! यद्यपि श्रवण अचानक, बेमन॥ ५६॥
नौ दिन तक सभक्ति सुनने पर अमृतमयी जो यह रामायण।
जन्म-मृत्यु औ जरा-त्रास-हर, राम-कथा-महिमा है तत्क्षण॥ ५७॥
कहीं विवशता-वश भी, ब्रह्मन ! उत्तम कार्य किया जाता है।
तो वह रामायण-प्रसाद से, अतुलित फल-प्रद हो जाता है॥ ५८॥

नारद बोले

नारद बोले, सुमति-कथित श्रीरामायण की महिमा सुनकर।
गये विभाण्डक निज आश्रम को, नृपति-प्रवर का अभिनन्दन कर॥ ५९॥
अतः सुनें विप्रेन्द्र ! चक्रधर, देवाधिप हरि-कथा सुहानी।
फल-प्रद कामधेनु रामायण, यह त्रिभुवन में परम बखानी॥ ६०॥
माघ-शुक्ल में यदि रामायण, यत्नपूर्वक सुने-सुनाये।
नौ दिवसों तक, तो निश्चय ही, सब धर्मों का फल पा जाये॥ ६१॥
यह आख्यान सभी पापों का नाशक निश्चय कहलाता है।
इसको पढ़कर तथा श्रवण कर, राम-भक्त जन हो जाता है॥ ६२॥

॥ श्री स्कन्दपुराण के उत्तरखण्ड में नारद-सनत्कुमार-संवाद के अन्तर्गत रामायण-माहात्म्य के प्रसङ्ग में माघमास में रामायण-कथा-श्रवण के फल का वर्णन नामक तीसरा अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

चैत्रमास में रामायण के पठन और श्रवण का माहात्म्य, कलिक नामक व्याध और उत्तङ्क मुनि की कथा

नारद बोले

नारद बोले, अन्य मास-फल, सुनें ध्यान से, मैं बतलाता।
सकल पापहर, पुण्यप्रद यह, सभी भाँति के दुःख मिटाता॥ १॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां चैव योषिताम् ।
समस्तकामफलदं सर्वव्रतफलप्रदम् ॥ २ ॥
दुःस्वप्ननाशनं धन्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।
रामायणस्य माहात्म्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥ ३ ॥
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पठतां शृण्वतां चैव सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ४ ॥
आसीत् पुरा कलियुगे कलिको नाम लुब्धकः ।
परदारपरद्रव्यहरणे सततं रतः ॥ ५ ॥
परनिन्दापरो नित्यं जन्तुपीडाकरस्तथा ।
हतवान् ब्राह्मणान् गावः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६ ॥
देवस्वहरणे नित्यं परस्वहरणे तथा ।
तेन पापान्यनेकानि कृतानि सुमहान्ति च ॥ ७ ॥
न तेषां शक्यते वक्तुं संख्या वत्सरकोटिभिः ।
स कदाचिन्महापापो जन्तूनामन्तकोपमः ॥ ८ ॥
सौवीरनगरं प्राप्तः सर्वैश्वर्यसमन्वितम् ।
योषिद्भिर्भूषिताभिश्च सरोभिर्विमलोदकैः ॥ ९ ॥
अलंकृतं विपणिभिर्ययौ देवपुरोपमम् ।
तस्योपवनमध्यस्थं रम्यं केशवमन्दिरम् ॥ १० ॥
छादितं हेमकलशैर्दृष्ट्वा व्याधो मुदं ययौ ।
हराम्यत्र सुवर्णानि बहूनीति विनिश्चितः ॥ ११ ॥
जगाम रामभवनं कीनाशश्चौर्यलोलुपः ।
तत्रापश्यद् द्विजवरं शान्तं तत्त्वार्थकोविदम् ॥ १२ ॥
परिचर्यापरं विष्णोरुत्तङ्कं तपसां निधिम् ।
एकाकिनं दयालुं च निःस्पृहं ध्यानलोलुपम् ॥ १३ ॥
दृष्ट्वासौ लुब्धको मेने तं चौर्यस्यान्तरायिणम् ।
देवस्य द्रव्यजातं तु समादाय महानिशि ॥ १४ ॥
उत्तङ्कं हन्तुमारेभे उद्यतासिर्मदोद्धतः ।
पादेनाक्रम्य तद्वक्षो गले संगृह्य पाणिना ॥ १५ ॥
हन्तुं कृतमतिं व्याधं उत्तङ्को प्रेक्ष्य चाब्रवीत् ।

उत्तङ्क उवाच

भो भोः साधो वृथा मां त्वं हनिष्यसि निरागसम् ॥ १६ ॥
मया किमपराद्धं ते तद् वद त्वं च लुब्धक ।
कृतापराधिनो लोके हिंसां कुर्वन्ति यत्नतः ॥ १७ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री सबका है वाञ्छित फलदाता।
इसके पठन, श्रवण से निश्चय, सभी व्रतों का फल मिल जाता ॥ २ ॥
परम धन्य दुःस्वप्न-विनाशक, भुक्ति, मुक्ति-फल देता अक्षय।
रामायण-माहात्म्य सर्वदा, श्रवण-योग्य है (प्रतिदिन) निश्चय ॥ ३ ॥
इसी विषय में विज्ञों ने है, उदाहरण यह दिया पुरातन।
जिसके पढ़ने-सुननेवालों, का होता है पाप-विनाशन ॥ ४ ॥
पहले, कलि में कलिक नाम का, एक व्याध था अति व्यभिचारी।
सदा पर-स्त्री-रत रहता था, और सर्वथा पर-धन-हारी ॥ ५ ॥
परनिन्दा करता था प्रतिदिन, सभी जन्तुओं को परिपीड़ित।
शत सहस्र विप्रों, गौओं की, हत्या में वह रहा सन्निहित ॥ ६ ॥
देवों और मनुष्यों की वह, हर लेता था सभी सम्पदा।
जीवन में उसने प्रतिदिन ही, किये पाप एकत्र सर्वदा ॥ ७ ॥
नहीं पाप-गणना हो सकती, उसकी कोटि-कोटि वत्सर में।
सब जीवों के लिए वृत्ति थी, यम-समान उसके अन्तर में ॥ ८ ॥
गया कभी सौवीर नगर वह, बहु विधि वैभव जहाँ दिखाते।
वस्त्राभूषित युवति-वृन्द थे, उसमें विमल सरोवर भाते ॥ ९ ॥
सज्जित बाजारों दूकानों, से था देवनगर-सा सुस्थिर।
वहाँ तपोवन में था कोई, केशव का सुमनोरम मन्दिर ॥ १० ॥
सोने के कलशों से छादित, देख उसे अति प्रसन्नता से।
उसने सोचा, चोरी द्वारा सोना लेकर चलें यहाँ से ॥ ११ ॥
तब वह व्याध चौर्य का लोलुप, पहुँचा श्रीमद्राम-भवन में।
वहाँ एक द्विजवर को देखा, शान्त सुविज्ञ तत्त्व-दर्शन में ॥ १२ ॥
मुनि उत्तंक विष्णु-सेवा-रत, सहृदय और तपस्या-निधि थे।
एकाकी निःस्पृह दयालु बस राम-ध्यान करते सब विधि थे ॥ १३ ॥
चोरी में बाधा आई जब, वहाँ देखकर उन्हें उपस्थित।
अर्द्धरात्रि में विपुल स्वर्ण ले, चला व्याध वह निज गृह के हित ॥ १४ ॥
उन्हें मारने को उसने तब, एक पैर से हृदय दबाया।
कर में ले तलवार, दाव ग्रीवा को, उसकी ओर बढ़ाया ॥ १५ ॥
मुनि ने देखा दुष्ट व्याध यह, हमें मारने को है तत्पर।

उत्तङ्क बोले

भले आदमी! निरपराध को, क्या पाओगे भला मारकर? ॥ १६ ॥
क्या अपराध हुआ हमसे जो, लुब्धक! आज बन रहे अन्तक।
हिंसा करते अपराधी की, लौकिक जन हैं यत्नपूर्वक ॥ १७ ॥

न हिंसन्ति वृथा सौम्य सज्जना अप्यपापिनम् ।
विरोधिष्वपि मूर्खेषु निरीक्ष्यावस्थितान् गुणान् ॥ १८ ॥
विरोधं नाधिगच्छन्ति सज्जनाः शान्तचेतसः ।
बहुधा वाच्यमानोऽपि यो नरः क्षमयान्वितः ॥ १९ ॥
तमुत्तमं नरं प्राहुर्विष्णोः प्रियतरं तथा ॥ २० ॥
सुजनो न याति वैरं परहितनिरतो विनाशकालेऽपि ।
छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभी करोति मुखं कुठारस्य ॥ २१ ॥
अहो विधिवै बलवान् बाधते बहुधा जनान् ।
सर्वसङ्गविहीनोऽपि बाध्यते तु दुरात्मना ॥ २२ ॥
अहो निष्कारणं लोके बाधन्ते दुर्जना जनान् ।
धीवराः पिशुना व्याधा लोकेऽकारणवैरिणः ॥ २३ ॥
अहो बलवती माया मोहयत्यखिलं जगत् ।
पुत्रमित्रकलत्राद्यैः सर्वदुःखेन योज्यते ॥ २४ ॥
परद्रव्यापहारेण कलत्रं पोषितं च यत् ।
अन्ते तत् सर्वमुत्सृज्य एक एव प्रयाति वै ॥ २५ ॥
मम माता मम पिता मम भार्या ममात्मजाः ।
ममेदमिति जन्तूनां ममता बाधते वृथा ॥ २६ ॥
यावदर्पयति द्रव्यं तावद् भवति बान्धवः ।
अर्जितं तु धनं सर्वे भुञ्जन्ते बान्धवाः सदा ॥ २७ ॥
दुःखमेकतमा मूढस्तत्पापफलमश्नुते ।
इति ब्रुवाणं तमृषिं विमृश्य भयविह्वलः ॥ २८ ॥
कलिकः प्राञ्जलिः प्राह क्षमस्वेति पुनः पुनः ।
तत्सङ्गस्य प्रभावेण हरिसंनिधिमात्रतः ॥ २९ ॥
गतपापो लुब्धकश्च सानुतापोऽभवद् ध्रुवम् ।
मया कृतानि पापानि महान्ति सुबहूनि च ॥ ३० ॥
तानि सर्वाणि नष्टानि विप्रेन्द्र तव दर्शनात् ।
अहं वै पापधीर्नित्यं महापापं समाचरन् ॥ ३१ ॥
कथं मे निष्कृतिर्भूयात् कं यामि शरणं विभो ।
पूर्वजन्मार्जितैः पापैर्लुब्धकत्वमवाप्तवान् ॥ ३२ ॥
अत्रापि पापजालानि कृत्वा कां गतिमाप्नुयाम् ।
इति वाक्यं समाकर्ण्य कलिकस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥
उत्तङ्को नाम विप्रर्षिरिदं वाक्यमथाब्रवीत् ।

सौम्य पुरुष तो निरपराध के, बनते नहीं व्यर्थ में हिंसक।
मूर्ख विरोधी दुर्वक्ता के भी गुण के वे सदा प्रशंसक ॥ १८ ॥
करते नहीं विरोध शान्त जन, मूर्खों का भी करते प्रिय हैं।
दुर्वाक्यों के कहने पर भी, क्षमा-दान में ही सक्रिय हैं ॥ १९ ॥
वे ही व्यक्ति श्रेष्ठ कहलाते, वे ही प्रभु के अतिशय प्रिय हैं ॥ २० ॥
सज्जन वैर नहीं करते हैं यदपि नाश का अवसर आता।
देखो, चन्दन काटे जाने पर कुठार का मुँह महकाता ॥ २१ ॥
है कितना आश्चर्य सभी को देता कितनें कष्ट विधाता।
हितकर औ निःसंग व्यक्ति भी है दुष्टों से पीड़ा पाता ॥ २२ ॥
विना किसी अपराध जीव हैं दुष्टों से कितने दुख पाते।
धीवर, चुगुलखोर, व्याधों के दल उनका हैं कष्ट वढ़ाते ॥ २३ ॥
वड़ी प्रबल है हरि की माया, जगत भ्रमित मोहित हो जाता।
पत्नी, पुत्र, मित्र का बन्धन हो जाता है दुःख-प्रदाता ॥ २४ ॥
पर-धन हर, परिवार-भरण का मार्ग व्यर्थ, कुछ काम न आता।
क्योंकि अन्त में, यहीं त्याग सव. जीव अकेला ही है जाता ॥ २५ ॥
माता, पिता, पुत्र, भार्या की नित्य निरन्तर बढ़ती ममता।
इस प्रकार से कष्टित होता मनुज न मिटती कभी विषमता ॥ २६ ॥
अर्थोपार्जन होता जब तक, तब तक सव बन्धुत्व निभाते।
उसके अर्जित धन को ये सर्वदा भोगते, मौज मनाते ॥ २७ ॥
मूर्ख व्यक्ति अपने पापों को, एक अकेला किन्तु भोगता।
मुनि उत्तंक-वचन से उपजी कलिक-हृदय में अति व्याकुलता ॥ २८ ॥
कहा कलिक ने हाथ जोड़कर, क्षमा करें अपराध हमारे।
अब उत्तंक-सुखद संगति से तथा विष्णु-सान्निध्य सहारे ॥ २९ ॥
उस लुब्धक के पाप मिट गये, पश्चाताप हुआ अति मन में।
तव वह बोला, मैंने मुनिवर ! अगणित पाप किये जीवन में ॥ ३० ॥
किन्तु आपके दिव्य दर्शनों से मिट गये पाप अब सारे।
पाप-बुद्धि ही मेरी अब तक, पाप भरे आचरण हमारे ॥ ३१ ॥
इनसे हो उद्धार किस तरह किसकी शरण भला मैं जाऊँ ?।
पूर्व पाप से हुआ व्याध मैं, अब किस भाँति त्राण मैं पाऊँ ॥ ३२ ॥
अब भी मैंने पाप बटोरे, कौन कष्ट पाएगी आत्मा।
ऐसे मार्मिक वचन कलिक के तब सुनकर वे दिव्य महात्मा ॥ ३३ ॥
मुनि उत्तंक मधुर वाणी से, वचन सर्वथा बोले निर्मल।

उत्तङ्क उवाच

साधु साधु महाप्राज्ञ मतिस्ते विमलोज्ज्वला ॥ ३४ ॥
यस्मात् संसारदुःखानां नाशोपायमभीप्ससि ।
चैत्रे मासि सिते पक्षे कथा रामायणस्य च ॥ ३५ ॥
नवाह्ना किल श्रोतव्या भक्तिभावेन सादरम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३६ ॥
तस्मिन् क्षणेऽसौ कलिको लुब्धको वीतकल्मषः ।
रामायणकथां श्रुत्वा सद्यः पञ्चत्वमागतः ॥ ३७ ॥
उत्तङ्कः पतितं वीक्ष्य लुब्धकं तं दयापरः ।
एतद् दृष्ट्वा विस्मितश्च अस्तौषीत् कमलापतिम् ॥ ३८ ॥
कथां रामायणस्यापि श्रुत्वा च वीतकल्मषः ।
दिव्यं विमानमारुह्य मुनिमेतदथाब्रवीत् ॥ ३९ ॥
विमुक्तस्त्वत्प्रसादेन महापातकसंकटात् ।
तस्मान्नतोऽस्मि ते विद्वन् यत् कृतं तत् क्षमस्व मे ॥ ४० ॥

सूत उवाच

इत्युक्त्वा देवकुसुमैर्मुनिश्रेष्ठमवाकिरत् ।
प्रदक्षिणात्रयं कृत्वा नमस्कारं चकार ह ॥ ४१ ॥
ततो विमानमारुह्य सर्वकामसमन्वितम् ।
अप्सरोगणसंकीर्णं प्रपेदे हरिमन्दिरम् ॥ ४२ ॥
तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्राः कथां रामायणस्य च ।
चैत्रे मासि सिते पक्षे श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥ ४३ ॥
नवाह्ना किल रामस्य रामायणकथामृतम् ।
तस्मादृतुषु सर्वेषु हितकृद्धरिपूजकः ॥ ४४ ॥
ईप्सितं मनसा यद्यत् तदाप्नोति न संशयः ।
सनत्कुमार यत् पृष्टं तत् सर्वं गदितं मया ॥ ४५ ॥
रामायणस्य माहात्म्यं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ ४६ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये चैत्रमासफलानुकीर्तनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

उत्तंक बोले

कहा विप्र ने, व्याध ! धन्य तुम, बुद्धि तुम्हारी निर्मल उज्ज्वल ।। ३४ ।।
चाह रहे जिससे तुम, "मेरी मिट जायें जग-बन्ध व्यथाएँ" ।
चैत्र मास के शुक्लपक्ष में रामायण की सुनो कथाएँ ।। ३५ ।।
भक्तिभाव से नौ दिवसों में रामायण-पारायण द्वारा ।
जिसके श्रवण मात्र से निश्चय, पापों से मिलता छुटकारा ।। ३६ ।।
तब उस व्याध कलिक का सारा, पिछला पापसमूह मिट गया ।
और तभी रामायण सुन वह शीघ्र मृत्यु को प्राप्त हो गया ।। ३७ ।।
उसे भूमि पर गिरा देखकर ऋषि को बहुत दया तब आई ।
विस्मित होकर तभी उन्होंने कमलापति की संस्तुति गाई ।। ३८ ।।
कथा-श्रवण से पाप-रहित हो, वह सुन्दर विमान पर चढ़कर ।
बोला श्री उत्तंक महात्मा से अतिशय श्रद्धान्वित होकर ।। ३९ ।।
अब मै पातक-मुक्त हो गया, बिद्वन् ! श्रीमन् के प्रसाद से ।
श्री-चरणों में नत की करिये क्षमा सकल अपराध दास के ।। ४० ।।

सूत बोले

सूत कह रहे, तभी कलिक ने मुनि पर देव-सुमन-वर्षा की ।
नमस्कार कर, मुनि की उसने तीन बार फिर परिक्रमा की ।। ४१ ।।
वाञ्छित भोग, अप्सरा-गण से, संपूरित विमान पर चढ़कर ।
हुआ निबासी दिव्यलोक का, हरि के परम धाम में जाकर ।। ४२ ।।
इससे सुनें आप सब मिलकर, श्रीरामायण-कथा विप्रवर ! ।
चैत्र मास के शुक्लपक्ष में इस नवाह्न को सुनें यत्नकर ।। ४३ ।।
रामचन्द्र की नौ दिवसीया रामायण की कथा अमृत है ।
तथा सभी ऋतुओं में इसके पारायण में हित समहित है ।। ४४ ।।
जो-जो मनोकामना, उसकी हरिभक्तों की होती प्राप्ति ।
सनत्कुमार ! आपके प्रश्नों के उत्तर की हुई समाप्ति ।। ४५ ।।
इस रामायण की महिमा यों सभी भाँति हमने समझायी ।
पूछो निस्संकोच, हृदय में जिज्ञासा यदि है कुछ आयी ।। ४६ ।।

।। श्री स्कन्दपुराण के उत्तरखण्ड में नारद-सनत्कुमार-संवाद के अन्तर्गत रामायण-माहात्म्य के प्रसंग में चैत्रमास में रामायण सुनने के फल का वर्णन नामक चौथा अध्याय समाप्त ।। ४ ।।

पञ्चमोऽध्यायः

सूत उवाच

रामायणस्य माहात्म्यं श्रुत्वा प्रीतो मुनीश्वरः ।
सनत्कुमारः पप्रच्छ नारदं मुनिसत्तमम् ॥ १ ॥

सनत्कुमार उवाच

रामायणस्य माहात्म्यं कथितं वै मुनीश्वर ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि विधिं रामायणस्य च ॥ २ ॥
एतच्चापि महाभाग मुने तत्त्वार्थकोविद ।
कृपया परयाविष्टो यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

नारद उवाच

रामायणविधिं चैव शृणुध्वं सुसमाहिताः ।
सर्वलोकेषु विख्यातं स्वर्गमोक्षविवर्धनम् ॥ ४ ॥
विधानं तस्य वक्ष्यामि शृणुध्वं गदतो मम ।
रामायणकथां कुर्वन् भक्तिभावेन भावितः ॥ ५ ॥
येन चीर्णेन पापानां कोटिकोटिः प्रणश्यति ।
चैत्रे माघे कार्तिके च पञ्चम्यामथवाऽऽरभेत् ॥ ६ ॥
संकल्पं तु ततः कुर्यात् स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ।
अहोभिर्नवभिः श्राव्यं रामायणकथामृतम् ॥ ७ ॥
अद्य प्रभृत्यहं राम शृणोमि त्वत्कथामृतम् ।
प्रत्यहं पूर्णतामेतु तव राम प्रसादतः ॥ ८ ॥
प्रत्यहं दन्तशुद्धिं च अपामार्गस्य शाखया ।
कृत्वा स्नायीत विधिवद् रामभक्तिपरायणः ॥ ९ ॥
स्वयं च बन्धुभिः सार्द्धं शृणुयात् प्रयतेन्द्रियः ।
स्नानं कृत्वा यथाचारं दन्तधावनपूर्वकम् ॥ १० ॥
शुक्लाम्बरधरः शुद्धो गृहमागत्य वाग्यतः ।
प्रक्षाल्य पादावाचम्य स्मरेन्नारायणं प्रभुम् ॥ ११ ॥
नित्यं देवार्चनं कृत्वा पश्चात् संकल्पपूर्वकम् ।
रामायणपुस्तकं च अर्चयेद् भक्तिभावतः ॥ १२ ॥
आवाहनासनाद्यैश्च गन्धपुष्पादिभिर्व्रती ।
ॐ नमो नारायणायेति पूजयेद् भक्तितत्परः ॥ १३ ॥

पाँचवाँ अध्याय

रामायण के नवाह्-श्रवण की विधि, महिमा तथा फल का वर्णन

सूत बोले

सूत कह रहे, नारद जी से, रामायण-माहात्म्य श्रवण कर।
हर्षित सनत्कुमार हुए, जिज्ञासा प्रस्तुत की नवीनतर॥ १ ॥

सनत्कुमार बोले

बोले, मुनिवर! कहा आपने रामायण-माहात्म्य मनोहर।
उसकी विधि सुनने की इच्छा है अब तुष्ट करें वह कहकर॥ २ ॥
महाभाग! तत्त्वार्थ ज्ञान में, कुशल आप हैं निश्चय मुनिवर!।
अतः यथार्थ रूप में इसको भी बतलाएँ परम कृपा कर॥ ३ ॥

नारद बोले

नारद बोले, हे महर्षिवर! रामायण-विधि सुनें ध्यान धर।
लोकों में प्रख्यात स्वर्गदा, मोक्ष और सम्पत्ति-वृद्धिकर॥ ४ ॥
श्रीरामायण-कथा-श्रवण की विधि तुमसे अब कहते हैं हम।
श्रोता, वक्ता को श्रद्धा से, इसका प्रतपालन है उत्तम॥ ५ ॥
चैत्र, माघ, कार्तिक-सित पञ्चमि को आरम्भ सुखद बतलाते।
इस व्रत-विधि के प्रतिपालन से, पाप करोड़ों हैं मिट जाते॥ ६ ॥
प्रथम स्वस्ति-वाचन करके फिर करे यही संकल्प समुत्तम।
नौ दिवसों में श्रवण करेंगे अमृता रामायणी कथा हम॥ ७ ॥
करे प्रार्थना रामचन्द्र से, कथा आपकी हैं सुनते हम।
कृपा करें, सम्पन्न हो सके, यह नवाह्न प्रभुवर! सर्वोत्तम॥ ८ ॥
प्रतिदिन अपामार्ग-शाखा से, दन्तों का समुचित मञ्जन कर।
विधिपूर्वक वह स्नान करे फिर, राम-भक्ति में होकर तत्पर॥ ९ ॥
पुनः बन्धुओं-साथ जितेन्द्रिय, नौ दिवसों तक सुने यह कथा।
कुलाचार-अनुसार स्नान कर, दाँतों को संशुद्ध कर तथा॥ १० ॥
पहने श्वेत वस्त्र होकर शुचि, मौन भाव से गृह में आये।
पद-प्रक्षालन करे, आचमन, राम-नाम पर ध्यान लगाये॥ ११ ॥
प्रतिदिन इष्टदेव की पूजा, करके फिर संकल्प करे नित।
तथा नित्य रामायण-पूजा करे, रहे सद्भक्ति-समन्वित॥ १२ ॥
व्रती पुरुष आवाहन, आसन, गन्ध और पुष्पों का अर्पण।
'ॐ नमो नारायण' कहकर, सविधि सभक्ति करे वह पूजन॥ १३ ॥

एकवारं द्विवारं वा त्रिवारं वापि शक्तितः।
होमं कुर्यात् प्रयत्नेन सर्वपापनिवृत्तये ॥ १४ ॥
एवं यः प्रयतः कुर्याद् रामायणविधिं तथा।
स याति विष्णुभवनं पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥ १५ ॥
रामायणव्रतधरो धर्मकारी च सत्तमः।
चाण्डालं पतितं वापि वस्त्रान्नेनापि नार्चयेत् ॥ १६ ॥
नास्तिकान् भिन्नमर्यादान् निन्दकान् पिशुनानपि।
रामायणव्रतपरो वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ १७ ॥
कुण्डाशिनं गायकं च तथा देवलकाशनम्।
भिषजं काव्यकर्तारं देवद्विजविरोधिनम् ॥ १८ ॥
परान्नलोलुपं चैव परस्त्रीनिरतं तथा।
रामायणव्रतपरो वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ १९ ॥
इत्येवमादिभिः शुद्धो वशी सर्वहिते रतः।
रामायणपरो भूत्वा परां सिद्धिं गमिष्यति ॥ २० ॥
नास्ति गङ्गासमं तीर्थं नास्ति मातृसमो गुरुः।
नास्ति विष्णुसमो देवो नास्ति रामायणात् परम् ॥ २१ ॥
नास्ति वेदसमं शास्त्रं नास्ति शान्तिसमं सुखम्।
नास्ति शान्तिपरं ज्योतिर्नास्ति रामायणात् परम् ॥ २२ ॥
नास्ति क्षमासमं सारं नास्ति कीर्तिसमं धनम्।
नास्ति ज्ञानसमो लाभो नास्ति रामायणात् परम् ॥ २३ ॥
तदन्ते वेदविदुषे गां दद्याच्च सदक्षिणाम्।
रामायणं पुस्तकं च वस्त्रालंकारणादिकम् ॥ २४ ॥
रामायणपुस्तकं यो वाचकाय प्रयच्छति।
स याति विष्णुभवनं यत्र गत्वा न शोचति ॥ २५ ॥
नवाहजफलं कर्तुः शृणु धर्मविदां वर।
पञ्चम्यां तु समारभ्य रामायणकथामृतम् ॥ २६ ॥
कथाश्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।
यदि द्वयं कृतं तस्य पुण्डरीकफलं लभेत् ॥ २७ ॥
व्रतधारी तु श्रवणं यः कुर्यात् स जितेन्द्रियः।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य द्विगुणं फलमश्नुते ॥ २८ ॥
चतुःकृत्वः श्रुतं येन कथितं मुनिसत्तमाः।
स लभेत् परमं पुण्यमग्निष्टोमाष्टसम्भवम् ॥ २९ ॥
पञ्चकृत्वो व्रतमिदं कृतं येन महात्मना।
अत्यग्निष्टोमजं पुण्यं द्विगुणं प्राप्नुयान्नरः ॥ ३० ॥

निज सब पापों की निवृत्ति हित, व्रती स्वकीय शक्ति को लखकर।
एक बार, दो बार अथच त्रय बार हवन वह करे सौख्यकर॥ १४॥
मनोजयी इन्द्रियजित विधिवत् रामायणी-कथा का श्रोता।
जन्म-मृत्यु से मुक्त, विष्णु के परमधाम का वासी होता॥ १५॥
रामायण-व्रत-धर धर्मात्मा, कथा-श्रवण-अवसर जब पाये।
तब चाण्डाल, पतित के प्रति सत्कार न अपने मन में लाये॥ १६॥
नास्तिक, धर्मविपथ, परनिन्दक, चुगुलखोर जो पापी हैं नर।
रामायण-व्रतधारी उनका वाणी से भी करें न आदर॥ १७॥
जारज-पोषित या गायक या करते दैवी धन-हर-भोजन।
हैं भिषज, निन्द्य कविता करते, जिनका द्विज-देव-विरोधी मन॥ १८॥
जो परान्न के हैं अति लोभी, पर-नारी में हैं सदासक्त।
उनका वाणी से भी आदर, करें न रामायण के भक्त॥ १९॥
निर्दोष, विशुद्ध, जितेन्द्रिय नर, जो सबके हित में है तत्पर।
वे पाकर रामायण-आश्रय, पाते हैं सिद्धि परम सत्वर॥ २०॥
गंगा-सम तीर्थ, मातृ-सम गुरु, है विष्णु-सदृश देवता नहीं।
रामायण से बढ़कर तथैव है वस्तु न उत्तम और कहीं॥ २१॥
नहीं वेद-सम शास्त्र अन्य है, ज्योति नहीं सुख-शान्ति-समान।
रामायण से बढ़कर कोई, नहीं काव्य है अन्य प्रधान॥ २२॥
क्षमा-सदृश बल, कीर्ति-सदृश धन, ज्ञान-सदृश कुछ लाभ नहीं है।
और न रामायण से बढ़कर उत्तम कोई ग्रन्थ कहीं है॥ २३॥
करे वेद-विद् वाचक को फिर, गौ के साथ दक्षिणा प्रदान।
श्री रामायण पुस्तक, वस्त्रों औ' विभूषणों से सम्मान॥ २४॥
वाचक को रामायण पुस्तक-दाता विष्णु-धाम है जाता।
जिसे प्राप्त कर सब शोकों का, परिसमूह तत्क्षण मिट जाता॥ २५॥
सुनो धर्मविद्वर ! रामायण के नवाह्न का फल बतलाता।
कर आरम्भ पञ्चमी तिथि से, श्रोता पाप-मुक्त हो जाता॥ २६॥
श्री रामायण-श्रवण मात्र से, मिलता पापों से छुटकारा।
पुण्डरीक मख-फल पाता वह, जो सुनता है इसे दुबारा॥ २७॥
जो कि जितेन्द्रिय, व्रती ध्यान से करता इसका सुखद श्रवण है।
वह दो अश्वमेध यज्ञों का फल पाता निश्चय तत्क्षण है॥ २८॥
मुनियो ! जिसने चार बार यह कथा सुनी अतिशय सुखकारी।
वही आठ अग्निष्टोमों के फल का है उत्तम अधिकारी॥ २९॥
पाँच बार जिस सद्भागी ने रामायण विधिवत् सुन पाई।
अत्यग्निष्टोमज पुण्यों की, उसमें राशि दो गुनी आई॥ ३०॥

एवं व्रतं च षड्वारं कुर्याद् यस्तु समाहितः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलमष्टगुणं लभेत् ॥ ३१ ॥
नारी वा पुरुषः कुर्यादष्टकृत्वो मुनीश्वराः ।
नरमेधस्य यज्ञस्य फलं पञ्चगुणं लभेत् ॥ ३२ ॥
नरो वाप्यथ नारी वा नववार समाचरेत् ।
गोमेधसवजं पुण्यं स लभेत् त्रिगुणं नरः ॥ ३३ ॥
रामायणं तु यः कुर्याच्छान्तात्मा प्रयतेन्द्रियः ।
स याति परमानन्दं यत्र गत्वा न शोचति ॥ ३४ ॥
रामायणपरो नित्यं गङ्गास्नानपरायणः ।
धर्ममार्गप्रवक्तारो मुक्ता एवं न संशयः ॥ ३५ ॥
यतीनां ब्रह्मचारीणां प्रवीराणां च सत्तमाः ।
नवाह्ना किल श्रोतव्या कथा रामायणस्य च ॥ ३६ ॥
श्रुत्वा नरो रामकथामतिदीप्तोऽतिभक्तितः ।
ब्रह्मणः पदमासाद्य तत्रैव परिमोदते ॥ ३७ ॥
तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम् ।
श्रोतृणां च परं श्राव्यं पवित्राणामनुत्तमम् ॥ ३८ ॥
दुःस्वप्ननाशनं धन्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ।
नरोऽत्र श्रद्धया युक्तः श्लोकं श्लोकार्द्धमेव च ॥ ३९ ॥
पठते मुच्यते सद्यो ह्युपपातककोटिभिः ।
सतामेव प्रयोक्तव्यं गुह्याद्गुह्यतमं तु यत् ॥ ४० ॥
वाचयेद् रामभवने पुण्यक्षेत्रे च संसदि ।
ब्रह्मद्वेषरतानां च दम्भाचाररतात्मनाम् ॥ ४१ ॥
लोकवञ्चकवृत्तीनां न ब्रूयादिदमुत्तमम् ।
त्यक्तकामादिदोषाणां रामभक्तिरतात्मनाम् ॥ ४२ ॥
गुरुभक्तिरतानां च वक्तव्यं मोक्षसाधनम् ।
सर्वदेवमयो रामः स्मृतश्चार्तिप्रणाशनः ॥ ४३ ॥
सद्भक्तवत्सलो देवो भक्त्या तुष्यति नान्यथा ।
अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते वा स्मृतेऽपि वा ॥ ४४ ॥
विमुक्तपातकः सोऽपि परम पदमश्नुते ।
संसारघोरकान्तारदावाग्निर्मधुसूदनः ॥ ४५ ॥
स्मर्तॄणां सर्वपापानि नाशयत्याशु सत्तमाः ।
तदर्थकमिदं पुण्यं काव्यं श्राव्यमनुत्तमम् ॥ ४६ ॥
श्रवणात् पठनाद् वापि सर्वपापविनाशकृत् ।
यस्य रामरसे प्रीतिर्वर्तते भक्तिसंयुता ॥ ४७ ॥

एकचित्त छह बार कथा का करता जो भी अनुष्ठान है।
अग्निष्टोमज फल पाता वह शीघ्र अठगुने के समान है॥ ३१॥
मुनीश्वरो! नारी या नर जब, आठ बार सुनता है इसको।
तब नरमेध यज्ञ का उससे पाँच गुना फल मिलता उसको॥ ३२॥
जो भी इसकी नवावृत्ति है श्रद्धा से विधिवत कर पाता।
वही तीन गोमेध यज्ञ का, अत्युत्तम फल है पा जाता॥ ३३॥
शान्त जितेन्द्रिय इस रामायण का करता जो अनुष्ठान है।
वह पाता है पुण्य परमपद जहाँ शोक का नहीं स्थान है॥ ३४॥
नित रामायण पढ़ता-सुनता, जो गंगा में नित्य नहाता।
धर्म-मार्ग उपदेशक निश्चय है भव-वारिधि से तर जाता॥ ३५॥
मुनियों, यतियों, ब्रह्मचारियों से रामायण नौ-दिवसीया।
औ सुभटों के द्वारा भी है भली भाँति से यह श्रवणीया॥ ३६॥
रामकथा सुनकर सभक्ति जन होता परम तेज से दीपित।
और दिव्यतम ब्रह्मलोक में पाता है आनन्द असीमित॥ ३७॥
अतः विप्रवर! रामायण की अमृतमयी यह कथा सुनें अब।
इसमें श्रोता हित सर्वोत्तम है पवित्र श्रवणीय वस्तु सब॥ ३८॥
परम धन्य दुःस्वप्न विनाशिनि है श्रोतव्य यत्न से निश्चय।
एक श्लोक या अर्द्ध मात्र ही इसको सुने पुरुष श्रद्धामय॥ ३९॥
पाठक उपपातक कोटिक से पाता है तत्क्षण छुटकारा।
सज्जन को ही इसे सुनाएँ है जो परम गुह्य अति न्यारा॥ ४०॥
बाँचे रामभवन में इसको पुण्यक्षेत्र, सज्जन-संगम में।
किन्तु ब्रह्म-द्वेष में रत जो, जो हैं दम्भ-आचरण-तम में॥ ४१॥
सब लोगों को ठगनेवाले को न सुनाए अति दुर्जन को।
किन्तु सुनाए काम-दोष के त्यागी राम-भक्त सज्जन को॥ ४२॥
हैं गुरु-भक्ति-निरत जो मानव, उनसे कहे मोक्ष का साधन।
सर्वदेवमय रामचन्द्रजी करते है प्रणतार्ति-विनाशन॥ ४३॥
भक्त प्रवत्सल राम, भक्ति से होते हैं सतुष्ट नान्यथा।
विवश व्यक्ति भी स्मरण करे यदि, गाये यह उत्तम नाम-कथा॥ ४४॥
वह है रामचन्द्र-पद-भागी मिटते है उसके सब पातक।
इस संसार घोर जंगल को, हैं मधु-सूदन निश्चय पावक॥ ४५॥
वे अपने श्रोता-वक्ता के करते सब पापों का नाशन।
इस रामायण महाकाव्य में, उनका किया गया है वर्णन॥ ४६॥
इसको पढ़ने सुनने से है होता सब कुछ पाप-विनाशन।
जिसमें प्रीति, भक्ति है उत्तम, लगा राम-रस में जिसका मन॥ ४७॥

स एव कृतकृत्यश्च सर्वशास्त्रार्थकोविदः।
तदर्जितं तपः पुण्यं तत्सत्यं सफलं द्विजाः ॥ ४८ ॥
यदर्थश्रवणे प्रीतिरन्यथा न हि वर्तते।
रामायणपरा ये तु रामनामपरायणाः ॥ ४९ ॥
त एव कृतकृत्याश्च घोरे कलियुगे द्विजाः।
नवाह्ना किल श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥ ५० ॥
ते कृतज्ञा महात्मानस्तेभ्यो नित्यं नमो नमः।
रामनामैव नामैव नामैव मम जीवनम् ॥ ५१ ॥
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।

सूत उवाच

एवं सनत्कुमारस्तु नारदेन महात्मना ॥ ५२ ॥
सम्यक् प्रबोधितः सद्यः परां निर्वृतिमाप ह।
तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम् ॥ ५३ ॥
नवाह्ना किल श्रोतव्यं सर्वपापैः प्रमुच्यते।
श्रुत्वा चैतन्महाकाव्यं वाचकं यस्तु पूजयेत् ॥ ५४ ॥
तस्य विष्णुः प्रसन्नः स्याच्छ्रिया सह द्विजोत्तमाः।
वाचके प्रीतिमापन्ने ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥ ५५ ॥
प्रीता भवन्ति विप्रेन्द्रा नात्र कार्या विचारणा।
रामायणवाचकाय गावो वासांसि काञ्चनम् ॥ ५६ ॥
रामायणपुस्तकं च दद्यात् वित्तानुसारतः।
तस्य पुण्यफलं वक्ष्ये शृणुध्वं सुसमाहिताः ॥ ५७ ॥
न बाधन्ते ग्रहास्तस्य भूतवेतालकादयः।
तस्यैव सर्वश्रेयांसि वर्द्धन्ते चरिते श्रुते ॥ ५८ ॥
न चाग्निर्बाधते तस्य न चौरादिभयं तथा।
एतज्जन्मार्जितैः पापैः सद्य एव विमुच्यते ॥ ५९ ॥
सप्तवंशसमेतस्तु देहान्ते मोक्षमाप्नुयात्।
इत्येतद्वः समाख्यातं नारदेन प्रभाषितम् ॥ ६० ॥
सनत्कुमारमुनये पृच्छते भक्तितः पुरा।
रामायणमादिकाव्यं सर्ववेदार्थसम्मतम् ॥ ६१ ॥
सर्वपापहरं पुण्यं सर्वदुःखनिबर्हणम्।
समस्तपुण्यफलदं सर्वयज्ञफलप्रदम् ॥ ६२ ॥
ये पठन्त्यत्र विबुधाः श्लोकं श्लोकार्द्धमेव च।
न तेषां पापबन्धस्तु कदाचिदपि जायते ॥ ६३ ॥

वह ही है कृतकृत्य, वही है सब वेदों-शास्त्रों का ज्ञाता।
उसने किया पुण्य-धन अर्जित, वही सफलताएँ सब पाता॥ ४८ ॥
जो कि राम रामायणजी का जीवन में लेते सम्बल हैं।
अर्थ-श्रवण, रस-लीन प्रेममय पाते वे आनन्द सकल हैं॥ ४९ ॥
वह कृतकृत्य, गहन कलि में जो लेते राम-नाम का आश्रय।
रामायण का यह नवाह्न है, सुनने योग्य अमृतमय निश्चय॥ ५० ॥
वही महात्मा प्रभु-कृतज्ञ हैं, हैं उनको मेरे नमस्कार।
राम-नाम ही, राम-नाम ही, जिनका है जीवन सुखाधार॥ ५१ ॥
कहीं नहीं है, कहीं नहीं है कलि में कोई सुगति अन्यथा।

सूत बोले

बोले सूत, सनत्कुमार ने, मुनि नारद से सुनी यह कथा॥ ५२ ॥
हुआ उन्हें तत्काल प्राप्त तब अनुपम परमानन्द अपरिमित।
ग्रहण करो विप्रेन्द्र! श्रवण कर रामायण-माहात्म्य यह अमृत॥ ५३ ॥
नौ दिवसों में रामायण का कथा-श्रवण है पाप-विमोचक।
इसी भाँति इस महाकाव्य को सुनकर जो वाचक के पूजक॥ ५४ ॥
उन पर ही अतिशय प्रसन्न हैं श्रीलक्ष्मी के सँग विश्वम्भर।
वाचक ही यदि है प्रसन्न तो हैं प्रसन्न अति विधि, हरि, शंकर॥ ५५ ॥
नहीं चाहिए कभी इस विषय में करनी कुछ अन्य भावना।
वाचक को गो-वस्त्र-स्वर्ण दे श्रोता रखकर भक्तिभावना॥ ५६ ॥
रामायण पुस्तक आदिक दे, है जितना अपना वैभव-बल।
सुनें ध्यान से, बता रहा मैं, इन दानों से जो मिलता फल॥ ५७ ॥
ग्रह, वेताल, भूत, दाता को बाधा कभी नहीं पहुँचाते।
राम-चरित सुनने से श्रोता श्रेय-वृद्धि से सब सुख पाते॥ ५८ ॥
उसको कभी अग्नि की बाधा होती नहीं, न चोरों का भय।
तथा जन्म के अर्जित पापों से मिलता छुटकारा निश्चय॥ ५९ ॥
अपनी सात पीढ़ियों के सँग, होता वही मोक्ष-अधिकारी।
कही सनत्कुमार-प्रश्नोत्तर में नारद ने महिमा सारी॥ ६० ॥
सनत्कुमार-प्रश्न के उत्तर में नारद ने जो बतलाया।
आदि काव्य, वेदार्थ-सुसम्मत, रामायण को हमने गाया॥ ६१ ॥
होता इससे पाप-विनाशन, यही कष्ट है सभी मिटाता।
सब पुण्यों, यज्ञों के फल दे, यह ही है सौभाग्य बढ़ाता॥ ६२ ॥
जिन विज्ञों से एक श्लोक या अर्द्ध श्लोक का होता पाठन।
प्राप्त नहीं होता है उनको, कभी कहीं पापों का बन्धन॥ ६३ ॥

रामार्पितमिदं पुण्यं काव्यं तु सर्वकामदम् ।
भक्त्या शृण्वन्ति विन्दन्ति तेषां पुण्यफलं शृणु ॥ ६४ ॥
शतजन्मार्जितैः पापैः सद्य एव विमोचिताः ।
सहस्रकुलसंयुक्तैः प्रयान्ति परमं पदम् ॥ ६५ ॥
किं तीर्थैर्गोप्रदानैर्वा किं तपोभिः किमध्वरैः ।
अहन्यहनि रामस्य कीर्तनं परिशृण्वताम् ॥ ६६ ॥
चैत्रे माघे कार्तिके च रामायणकथामृतम् ।
नवरहोभिः श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥ ६७ ॥
रामप्रसादजनकं रामभक्तिविवर्धनम् ।
सर्वपापक्षयकरं सर्वसम्पद्विवर्द्धनम् ॥ ६८ ॥
यस्त्वेतच्छृणुयाद् वापि पठेद् वा सुसमाहितः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ॥ ६९ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये
फलानुकीर्तनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

राम-समर्पित पुण्य काव्य यह, सकल कामना-फल देता है ।
सुनें ! भक्ति से, श्रोता-वक्ता इससे क्या-क्या फल पाता है ॥ ६४ ॥
सौ जन्मों के अर्जित पापों से तत्क्षण होता छुटकारा ।
और सहस्र पीढ़ियों के सँग पाते वही परम पद न्यारा ॥ ६५ ॥
तप, गोदान और यज्ञादिक तथा अन्य तीर्थों का सेवन ।
आवश्यक है नहीं उन्हें, जो प्रतिदिन करें राम का कीर्तन ॥ ६६ ॥
चैत्र, माघ, कार्तिक में है यह, श्रवण योग्य नवदिवस-परायण ।
मुनियो ! यह अतिशय उत्तम है अनुपम अमृतमयी रामायण ॥ ६७ ॥
रामचन्द्र की प्रसन्नता श्रीराम-भक्ति की है विवर्द्धिनी ।
सुख समृद्धिकर है यह ही तो, तथा सर्वथा पाप-नाशिनी ॥ ६८ ॥
एकचित्त होकर रामायण जो सुनता है और सुनाता ।
सब पापों से हो विमुक्त वह विष्णुलोक को धाम बनाता ॥ ६९ ॥

॥ श्री स्कन्दपुराण के उत्तरखण्ड में श्रीनारद-सनत्कुमार-संवाद के अन्तर्गत
रामायण-माहात्म्य के प्रसङ्ग में फल का वर्णन
नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥



महर्षि वाल्मीकि प्रणीत

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

बालकाण्ड

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

बालकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

ॐ तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम् ।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम् ॥ १ ॥
को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥ २ ॥
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः ॥ ३ ॥
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः ।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ॥ ४ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम् ॥ ५ ॥
श्रुत्वा चैतत्त्रिलोकज्ञो वाल्मीकेर्नारदो वचः ।
श्रूयतामिति चामन्त्र्य प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥
बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः ।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः ॥ ७ ॥
इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी ॥ ८ ॥
बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः ।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः ॥ ९ ॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः ।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ॥ १० ॥
समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान् ।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः ॥ ११ ॥

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण

बालकाण्ड

पहला सर्ग

नारद जी का वाल्मीकि मुनि को संक्षेप से श्रीराम-चरित्र सुनाना

स्वाध्यायी सतत तपस्या-रत विद्वद्वर वाक्य-विशारद से।
वाल्मीकि तपसी ने पूछा, मुनि पुंगव श्रीमन्नारद से॥ १॥
इस समय लोक में गुणी-बली, सुकृतज्ञ और धर्मज्ञ आज।
है कौन! सत्यवादी उत्तम, अति दृढव्रती, देवर्षिराज!॥ २॥
उत्तम चरित्र से युक्त कौन, सब जीवों का जो हितकर है।
विद्वान और सामर्थ्यवान, प्रिय-दर्शन सब विधि सुन्दर है॥ ३॥
मन का शासक है, क्रोधजयी, द्युतिशाली, पर-निन्दा न कभी।
रण में क्रोधित हो जाने पर किससे होते सुर दीन सभी॥ ४॥
मुनि-प्रवर! हमारी अभिलाषा, उत्सुकता यह बढ़ती जाती।
प्रभो! आपमें ऐसे जन से परिचय की क्षमता दिखलाती॥ ५॥
सुनकर श्री वाल्मीकि-वचन यह, अति महतामय परम मनोहर।
त्रिलोकज्ञ नारद प्रसन्न हो बोले, सुनें कथा शुभ, मुनिवर!॥ ६॥
मुने! आपने जो अति दुर्लभ गुण-समूह को है बतलाया।
उससे युक्त पुरुष का वर्णन सुनें! ध्यान जिसका है आया॥ ७॥
इक्ष्वाकु-वंश में जन्मे हैं वह, वशी, बली, सत्कान्तिमान।
श्रीराम-नाम से चर्चित हैं, सर्वथा जितेन्द्रिय धैर्यवान॥ ८॥
बुद्धिमान, नीतिज्ञ, सुवक्ता, शोभान्वित, संहारक रिपुदल।
पुष्टस्कन्ध लम्ब भुज वाले, शंख-ग्रीव, ठोढ़ी के मांसल॥ ९॥
विस्तृत वक्ष, बृहद् धनु-धारक, मांसल हँसली के, हैं रिपु-हर।
बाहु जानु तक लम्ब, सुमस्तक, भव्य ललाट, चाल अति मनहर॥ १०॥
है शरीर मध्यम, सुडौल प्रिय, स्निग्धवर्ण, वह हैं प्रतापि-वर।
वक्ष प्रशस्त, विशाल नयन, वे अति शोभित हैं शुभलक्षण-धर॥ ११॥

धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः ।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ॥ १२ ॥
प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः ।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥ १३ ॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥ १४ ॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान् ।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ॥ १५ ॥
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः ।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ॥ १६ ॥
स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः ।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ॥ १७ ॥
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः ।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ॥ १८ ॥
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः ।
तमेवंगुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ॥ १९ ॥
ज्येष्ठं ज्येष्ठगुणैर्युक्तं प्रियं दशरथः सुतम् ।
प्रकृतीनां हितैर्युक्तं प्रकृतिप्रियकाम्यया ॥ २० ॥
यौवराज्येन संयोक्तुमैच्छत् प्रीत्या महीपतिः ।
तस्याभिषेकसम्भारान् दृष्ट्वा भार्याथ कैकयी ॥ २१ ॥
पूर्वं दत्तवरा देवी वरमेनमयाचत ।
विवासनं च रामस्य भरतस्याभिषेचनम् ॥ २२ ॥
स सत्यवचनाद् राजा धर्मपाशेन संयतः ।
विवासयामास सुतं रामं दशरथः प्रियम् ॥ २३ ॥
स जगाम वनं वीरः प्रतिज्ञामनुपालयन् ।
पितुर्वचननिर्देशात् कैकेय्याः प्रियकारणात् ॥ २४ ॥
तं व्रजन्तं प्रियो भ्राता लक्ष्मणोऽनुजगाम ह ।
स्नेहाद् विनयसम्पन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ २५ ॥
भ्रातरं दयितो भ्रातुः सौभ्रात्रमनुदर्शयन् ।
रामस्य दयिता भार्या नित्यं प्राणसमा हिता ॥ २६ ॥
जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता ।
सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः ॥ २७ ॥
सीताप्यनुगता रामं शशिनं रोहिणी यथा ।
पौरैरनुगतो दूरं पित्रा दशरथेन च ॥ २८ ॥

सत्य-व्रती, धर्मात्मा वे हैं, सततलोक-साधन में हैं रत।
यशोधनी, ज्ञानी, पवित्र अति तथा जितेन्द्रिय मन के संयत ॥ १२ ॥
हैं वही प्रजापति के समान, श्री-सम्पन्न, वैरि-विध्वंसक।
सब जीवों के तथा धर्म के एक मात्र हैं वे सरक्षक ॥ १३ ॥
वे स्वधर्म, स्वजनों के पालक, वेदों, वेदांगों के ज्ञाता।
उनकी धनुर्वेद-क्षमता का पार न कोई भी है पाता ॥ १४ ॥
शास्त्र-तत्त्वविद्, स्मृति-सशक्त, वे प्रतिभाशाली हैं, सुविचारक।
अति उदार, वे वार्ता-पटु है, सभी जनों के है प्रतिपालक ॥ १५ ॥
सिन्धु-गामिनी नदियों के सम, साधु राम से मिलने आते।
वे हैं आर्य तथा समदर्शी, प्रियदर्शी सबको अति भाते ॥ १६ ॥
सभी गुणों युत राम, स्वमाता कौसल्या के हैं प्रिय वत्सल।
सिन्धु-सदृश गम्भीर-हृदय, वे धैर्यवान ज्यों अडिग हिमञ्चल ॥ १७ ॥
विष्णु-सदृश बलवान और हैं चन्द्र-सदृश दर्शन में सुन्दर।
तथा क्रोध में काल-अनल-सम और धरा-सम अतुल क्षमाधर ॥ १८ ॥
त्याग-भाव में हैं कुबेर-सम धर्मभाव में धर्मराज हैं।
सत्य-पराक्रम के अधीश जो सर्वोत्तम गुण के समाज है ॥ १९ ॥
श्रेष्ठ गुणों-युत ज्येष्ठपुत्र श्रीराम सृष्टि के हितकारी को।
सकल प्रजा-कल्याण-कामना से उस समुचित अधिकारी को ॥ २० ॥
जब दशरथ ने प्रेम विवश उनको चाहा युवराज बनाना।
तैयारी राज्याभिषेक की हुई कैकयी ने यह जाना ॥ २१ ॥
इसने पहले ही दशरथ से वचन एक वर का था पाया।
अतः राम-वनवास, भरत को राज —यही प्रस्ताव सुनाया ॥ २२ ॥
दशरथ बँधे धर्म-बन्धन में, वे सत्यधर्म के विश्वासी।
विवश परमप्रिय सुवन राम से कहा, बनो हे सुत! वनवासी ॥ २३ ॥
कैकेयी की प्रसन्नता-हित तथा पिता-आज्ञा-पालन को।
दृढ-प्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्र ने गमन किया तब निर्जन वन को ॥ २४ ॥
स्नेह-विनय-सम्पन्न, सुमित्रा के अतीव आनन्दविवर्धन।
अनुज राम के अति प्रिय लक्ष्मण, था जिनको भ्रातृत्व निबन्धन ॥ २५ ॥
तत्पर हुए साथ चलने को देख राम को वन में जाते।
तथा राम की प्राणों से प्रिय, पत्नी भी स्वधर्म के नाते ॥ २६ ॥
जनक-कुलोत्पन्ना, अवतीर्णा, प्रकटित तथा देवमाया-सम।
शुभ लक्षण-सम्पन्न सुन्दरी, सकल नारियों में अत्युत्तम ॥ २७ ॥
शशि-रोहिणी-सदृश सीता ने, किया राम का तभी अनुगमन।
चले साथ में राजा दशरथ और वहाँ के पुर-वासी जन ॥ २८ ॥

शृङ्गवेरपुरे सूतं गङ्गाकूले व्यसर्जयत् ।
गुहमासाद्य धर्मात्मा निषादाधिपतिं प्रियम् ॥ २९ ॥
गुहेन सहितो रामो लक्ष्मणेन च सीतया ।
ते वनेन वनं गत्वा नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः ॥ ३० ॥
चित्रकूटमनुप्राप्य भरद्वाजस्य शासनात् ।
रम्यमावसथं कृत्वा रममाणा वने त्रयः ॥ ३१ ॥
देवगन्धर्वसंकाशास्तत्र ते न्यवसन् सुखम् ।
चित्रकूटं गते रामे पुत्रशोकातुरस्तदा ॥ ३२ ॥
राजा दशरथः स्वर्गं जगाम विलपन् सुतम् ।
गते तु तस्मिन् भरतो वसिष्ठप्रमुखैर्द्विजः ॥ ३३ ॥
नियुज्यमानो राज्याय नैच्छद् राज्यं महाबलः ।
स जगाम वनं वीरो रामपादप्रसादकः ॥ ३४ ॥
गत्वा तु स महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।
अयाचद् भ्रातरं राममार्यभावपुरस्कृतः ॥ ३५ ॥
त्वमेव राजा धर्मज्ञ इति रामं वचोऽब्रवीत् ।
रामोऽपि परमोदारः सुमुखः सुमहायशाः ॥ ३६ ॥
न चैच्छत् पितुरादेशाद् राज्यं रामो महाबलः ।
पादुके चास्य राज्याय न्यासं दत्वा पुनःपुनः ॥ ३७ ॥
निवर्तयामास ततो भरतं भरताग्रजः ।
स काममनवाप्यैव रामपादावुपस्पृशन् ॥ ३८ ॥
नन्दिग्रामेऽकरोद् राज्यं रामागमनकाङ्क्षया ।
गते तु भरते श्रीमान् सत्यसंधो जितेन्द्रियः ॥ ३९ ॥
रामस्तु पुनरालक्ष्य नागरस्य जनस्य च ।
तत्रागमनमेकाग्रो दण्डकान् प्रविवेश ह ॥ ४० ॥
प्रविश्य तु महारण्यं रामो राजीवलोचनः ।
विराधं राक्षसं हत्वा शरभङ्गं ददर्श ह ॥ ४१ ॥
सुतीक्ष्णं चाप्यगस्त्यं च अगस्त्यभ्रातरं तथा ।
अगस्त्यवचनाच्चैव जग्राहैन्द्रं शरासनम् ॥ ४२ ॥
खड्गं च परमप्रीतस्तूणी चाक्षयसायकौ ।
वसतस्तस्य रामस्य वने वनचरैः सह ॥ ४३ ॥
ऋषयोऽभ्यागमन् सर्वे वधायासुररक्षसाम् ।
स तेषां प्रतिशुश्राव राक्षसानां तदा वने ॥ ४४ ॥
प्रतिज्ञातश्च रामेण वधः संयति रक्षसाम् ।
ऋषीणामग्निकल्पानां दण्डकारण्यवासिनाम् ॥ ४५ ॥

शृंगवेरपुर गंगा-तट पर, प्रिय निषाद-गुह-गृह जब आया।
तभी राम ने इन सबको ही, निज सारथि के सँग लौटाया॥ २९॥
गुह, लक्ष्मण, सीता-सँग रघुपति वन-वन करते रम्य सुभ्रमण।
और मार्ग में बहुजल वाली नदियों का भी किया अति-क्रमण॥ ३०॥
चित्रकूट पर पहुँच राम ने भरद्वाज मुनि-आज्ञा पाई।
सतिय, सबन्धु निवास वहीं पर पर्णकुटी रमणीय बनाई॥ ३१॥
लीलाएँ सुर-गन्धर्वों-सी, करते रहे वहाँ पर रहकर।
इधर अतिव शोकातुर दशरथ इनके चित्रकूट जाने पर॥ ३२॥
राजा दशरथ गये स्वर्ग को, सुत-वियोग में अतिविलाप कर।
तदनन्तर मुनिवर वशिष्ठ ने वीर भरत-राज्याभिषेक कर॥ ३३॥
किया नियुक्त राज्य पर यद्यपि यह न भरत को किन्तु सुहाया।
वीर भरत ने राम-प्रार्थना करने को वन-पथ अपनाया॥ ३४॥
वहाँ महात्मा, सत्यविक्रमी रामचन्द्र से की सुयाचना।
राज्य आप स्वीकारें प्रभुवर ! मेरी है यह प्रबल कामना॥ ३५॥
क्योंकि आप धर्मज्ञ योग्य है राज्य-कार्य के लिए भ्रातृवर !।
किन्तु उदार, यशी, पितुपालक राम सहर्ष दृढ़ो निश्चय पर॥ ३६॥
राज्येच्छा से रहित राम ने कहा पादुकाएँ निज देकर।
भरत ! सम्हालो राज्य तुम्हीं अब शुभ प्रतीक यह मुझसे लेकर॥ ३७॥
ऐसा कहकर रामचन्द्र ने भ्रातृ भरत को फिर लौटाया।
पदस्पर्श तब किये भरत ने मन-वाञ्छित न कार्य हो पाया॥ ३८॥
राम-आगमन सदा मनाते, नन्दिग्राम रह, राज्य चलाया।
भरत-गमन पर सत्यव्रती रघुनाथ राम के मन में आया॥ ३९॥
नागरिकों का आना-जाना नित्य विघ्न-प्रद हमें कष्टकर।
अतः सुखद एकनिवास हित निवसें दण्डक वन में चलकर॥ ४०॥
कमलनयन ने महारण्य में फिर विराध राक्षस का वध कर।
सुख पाया शरभंग महात्मा के श्रेयस्कर श्रीदर्शन कर॥ ४१॥
वहीं सुतीक्ष्ण, तथैव बन्धु सँग श्री अगस्त्य ऋषि से भी मिलकर।
श्री अगस्त्य मुनि के कहने से, राम हुए तब ऐन्द्र धनुर्धर॥ ४२॥
तरकस अक्षय दो, एक खड्ग, जिनमें शर न कभी घट पाते।
धारण कर वनचरो-सहित वे रहे वहाँ कुछ समय बिताते॥ ४३॥
असुर-राक्षसों के वध की प्रार्थना एक दिन ऋषि कुछ लाये।
उचित वचन उन ऋषियों के ये रामचन्द्र के मन में भाये॥ ४४॥
दण्डक वन के अनल-तेज-सम ऋषियों के सुन निर्देश-वचन।
की सुप्रतिज्ञा दृढ़प्रतिज्ञ ने, बस असुर-कटक कर पूर्ण निधन॥ ४५॥

तेन तत्रैव वसता जनस्थाननिवासिनी ।
विरूपिता शूर्पणखा राक्षसी कामरूपिणी ॥ ४६ ॥
ततः शूर्पणखावाक्यादुद्युक्तान् सर्वराक्षसान् ।
खरं त्रिशिरसं चैव दूषणं चैव राक्षसम् ॥ ४७ ॥
निजघान रणे रामस्तेषां चैव पदानुगान् ।
वने तस्मिन् निवसता जनस्थाननिवासिनाम् ॥ ४८ ॥
रक्षसां निहतान्यासन् सहस्राणि चतुर्दश ।
ततो ज्ञातिवधं श्रुत्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४९ ॥
सहायं वरयामास मारीचं नाम राक्षसम् ।
वार्यमाणः सुबहुशो मारीचेन स रावणः ॥ ५० ॥
न विरोधो बलवता क्षमो रावण तेन ते ।
अनादृत्य तु तद्वाक्यं रावणः कालचोदितः ॥ ५१ ॥
जगाम सहमारीचस्तस्याश्रमपदं तदा ।
तेन मायाविना दूरमपवाह्य नृपात्मजौ ॥ ५२ ॥
जहार भार्यां रामस्य गृध्रं हत्वा जटायुषम् ।
गृध्रं च निहतं दृष्ट्वा हृतां श्रुत्वा च मैथिलीम् ॥ ५३ ॥
राघवः शोकसंतप्तो विललापाकुलेन्द्रियः ।
ततस्तेनैव शोकेन गृध्रं दग्ध्वा जटायुषम् ॥ ५४ ॥
मार्गमाणो वने सीतां राक्षसं संददर्श ह ।
कबन्धं नाम रूपेण विकृतं घोरदर्शनम् ॥ ५५ ॥
तं निहत्य महाबाहुर्ददाह स्वर्गतश्च सः ।
स चास्य कथयामास शबरीं धर्मचारिणीम् ॥ ५६ ॥
श्रमणां धर्मनिपुणामभिगच्छेति राघव ।
सोऽभ्यगच्छन्महातेजाः शबरीं शत्रुसूदनः ॥ ५७ ॥
शबर्या पूजितः सम्यग् रामो दशरथात्मजः ।
पम्पातीरे हनुमता सङ्गतो वानरेण ह ॥ ५८ ॥
हनुमद्वचनाच्चैव सुग्रीवेण समागतः ।
सुग्रीवाय च तत्सर्वं शंसद्रामो महाबलः ॥ ५९ ॥
आदितस्तद् यथावृत्तं सीतायाश्च विशेषतः ।
सुग्रीवश्चापि तत्सर्वं श्रुत्वा रामस्य वानरः ॥ ६० ॥
चकार सख्यं रामेण प्रीतश्चैवाग्निसाक्षिकम् ।
ततो वानरराजेन वैरानुकथनं प्रति ॥ ६१ ॥
रामायावेदितं सर्वं प्रणयाद् दुःखितेन च ।
प्रतिज्ञातं च रामेण तदा वालिवधं प्रति ॥ ६२ ॥

काम-रूपिणी शूर्पणखा राक्षसी वहाँ जनपद-निवासिनी।
इनके द्वारा हुई विरूपित, नासा-कान-विहीन कामिनी॥ ४६॥
शूर्पणखा के सहचर असुरों ने तब की रण की तैयारी।
खर, दूषण, त्रिशिरादि राक्षसों की चढ़ धाई सेना सारी॥ ४७॥
रामचन्द्र ने मार गिराया सभी राक्षसों को तब क्षण में।
जनस्थान-वासी दुष्टों को, जो गर्वित थे अपने बल में॥ ४८॥
तदनन्तर चौदह सहस्र दानव-निज-दल के वध को सुनकर।
महाक्रोध से विवश दशानन रावण हुआ अचेतन सत्वर॥ ४९॥
रावण ने मारीच निशाचर से की तब साहाय्य-याचना।
मना किया, समझाया उसने, पर राम-विमुख वह रहा बना॥ ५०॥
सक्षम राम अतुल बलशाली युद्ध नहीं है उससे समुचित।
किन्तु कथन-मारीच न माना, दशमुख विवश काल से प्रेरित॥ ५१॥
तब मारीच-साथ में रावण, शीघ्र राम-आश्रम तक आया।
और उसी की माया द्वारा, अवध-सुतों को दूर हटाया॥ ५२॥
तब जटायु को क्षत-विक्षत कर, श्री सीता का किया अपहरण।
दशा देख आहत जटायु की सुनकर उससे मैथिली-हरण॥ ५३॥
करने लगे विलाप शोक में, शिथिलेन्द्रिय श्रीराम उसी क्षण।
किया शोक-सन्तप्त राम ने मृत जटायु को अग्नि-समर्पण॥ ५४॥
दुखी राम जब खोज रहे थे सीता को वन-वन में चलकर।
अकस्मात तब सम्मुख देखा दनु कबन्ध घनघोर भयंकर॥ ५५॥
महाबाहु ने उसे मारकर, अग्नि-दाह कर स्वर्ग पठाया।
मृत्यु-पूर्व उसने ही इनको शबरी-वासस्थान बताया॥ ५६॥
राघव को संन्यासिनि शबरी धर्म-रता के गुण बतलाये।
तेजस्वी रघुपति रिपु-सूदन, तब शबरी-आश्रम में आये॥ ५७॥
शबरी ने पूजा-अर्चा की दशरथ-सुत की परम भक्ति कर।
कपि हनुमत् से हुआ सुपरिचय पम्पा नाम सरोवर-तट पर॥ ५८॥
वहीं पवनसुत ही के द्वारा कपि सुकण्ठ का परिचय पाया।
महाबली प्रभु रामचन्द्र ने उनको अपना मित्र बनाया॥ ५९॥
बतलाया वृत्तान्त उन्हें सब, सीता का अतिशय विशेष कर।
और सुना सुग्रीवराज ने भलीभांति से बहुत ध्यान धर॥ ६०॥
अग्निदेव को साक्षी रखकर तब दोनों में हुई मित्रता।
बालि वैर की सकल कथा भी रघुवर को दी शीघ्र सब बता॥ ६१॥
दुखी कपीश्वर ने सनेह-वश कथा-बालि की जब वरणन की।
दृढ़प्रतिज्ञ प्रभु राघव ने ली ठान प्रतिज्ञा बालि-हनन की॥ ६२॥

वालिनश्च बलं तत्र कथयामास वानरः ।
सुग्रीवः शङ्कितश्चासीन्नित्यं वीर्येण राघवे ॥ ६३ ॥
राघवप्रत्ययार्थं तु दुन्दुभेः कायमुत्तमम् ।
दर्शयामास सुग्रीवो महापर्वतसंनिभम् ॥ ६४ ॥
उत्स्मयित्वा महाबाहुः प्रेक्ष्य चास्थि महाबलः ।
पादाङ्गुष्ठेन चिक्षेप सम्पूर्णं दशयोजनम् ॥ ६५ ॥
बिभेद च पुनस्तालान् सप्तैकेन महेषुणा ।
गिरिं रसातलं चैव जनयन् प्रत्ययं तदा ॥ ६६ ॥
ततः प्रीतमनास्तेन विश्वस्तः स महाकपिः ।
किष्किन्धां रामसहितो जगाम च गुहां तदा ॥ ६७ ॥
ततोऽगर्जद्धरिवरः सुग्रीवो हेमपिङ्गलः ।
तेन नादेन महता निर्जगाम हरीश्वरः ॥ ६८ ॥
अनुमान्य तदा तारां सुग्रीवेण समागतः ।
निजघान च तत्रैनं शरेणैकेन राघवः ॥ ६९ ॥
ततः सुग्रीववचनाद्धत्वा वालिनमाहवे ।
सुग्रीवमेव तद्राज्ये राघवः प्रत्यपादयत् ॥ ७० ॥
स च सर्वान् समानीय वानरान् वानरर्षभः ।
दिशः प्रस्थापयामास दिदृक्षुर्जनकात्मजाम् ॥ ७१ ॥
ततो गृध्रस्य वचनात् सम्पातेर्हनुमान् बली ।
शतयोजनविस्तीर्णं पुप्लुवे लवणार्णवम् ॥ ७२ ॥
तत्र लङ्कां समासाद्य पुरीं रावणपालिताम् ।
ददर्श सीतां ध्यायन्तीमशोकवनिकां गताम् ॥ ७३ ॥
निवेदयित्वाभिज्ञानं प्रवृत्तिं विनिवेद्य च ।
समाश्वास्य च वैदेहीं मर्दयामास तोरणम् ॥ ७४ ॥
पञ्च सेनाग्रगान् हत्वा सप्त मन्त्रिसुतानपि ।
शूरमक्षं च निष्पिष्य ग्रहणं समुपागमत् ॥ ७५ ॥
अस्त्रेणान्मुक्तमात्मानं ज्ञात्वा पैतामहाद् वरात् ।
मर्षयन् राक्षसान् वीरो यन्त्रिणस्तान् यदृच्छया ॥ ७६ ॥
ततो दग्ध्वा पुरीं लङ्कामृते सीतां च मैथिलीम् ।
रामाय प्रियमाख्यातुं पुनरायान्महाकपिः ॥ ७७ ॥
सोऽभिगम्य महात्मानं कृत्वा रामं प्रदक्षिणम् ।
न्यवेदयदमेयात्मा दृष्टा सीतेति तत्त्वतः ॥ ७८ ॥
ततः सुग्रीवसहितो गत्वा तीरं महोदधेः ।
समुद्रं क्षोभयामास शरैरादित्यसंनिभैः ॥ ७९ ॥

तब सुकण्ठ ने कहा राम से, प्रभो! बालि है बली अपरिमित।
क्योंकि राम के बल के प्रति वह, था अजान, संदिग्ध सशंकित ॥ ६३ ॥
सुग्रीवराज ने फिर प्रतीति-हित दुन्दुभि का हाल सुनाया।
उसके पर्वत-सम विशाल अति मृत शरीर को भी दिखलाया ॥ ६४ ॥
देख अस्थि-पञ्जर रघुपति ने तब कुछ मन्द-मन्द मुसकाकर।
दश योजन दूरी पर फेंका पदांगुष्ठ से मात्र हटाकर ॥ ६५ ॥
तभी राम ने वृहद् बाण से दिखलाने को अपना कुछ बल।
वींधा सात ताल-तरुओं को तथा पर्वतों-सहित रसातल ॥ ६६ ॥
तब विश्वास राम के अतिशय पौरुष पर कपिवर प्रसन्न मन।
किष्किन्धा की गुहा मोदयुत किया राम के साथ तब गमन ॥ ६७ ॥
स्वर्ण-सदृश पिंगलवर्णी तब की सुकण्ठ ने प्रबल गर्जना।
तब बाली ने अपनी पत्नी तारा को दी सहज सान्त्वना ॥ ६८ ॥
बालि गेह से बाहर आ, सुग्रीव बन्धु से तुरत भिड़ गया।
और राम के एक बाण से बालि वहीं तत्काल मर गया ॥ ६९ ॥
सुग्रीव मित्र की इच्छा पर, युद्ध में बालि-संहार किया।
और राम ने फिर सुकण्ठ को, बालि नृपति का राज्य दे दिया ॥ ७० ॥
तब सुग्रीव कपीश्वर ने भी सकल बानरों को बुलवाया।
और जानकी-अन्वेषण हित उन्हें चतुर्दिक् शीघ्र पठाया ॥ ७१ ॥
सम्पाति गृध्र से समाचार सुन, हनु ने भरी छलाँग विकट।
सौ योजन विस्तार पार कर क्षार सिन्धु के गये पहुँच तट ॥ ७२ ॥
तब रावण-पालित लंका में, वे अशोक वाटिका पहुँचकर।
देख सके श्री सीता जी को, बैठी वहाँ अतीव शोकातुर ॥ ७३ ॥
वैदेही को प्रमाण-परिचय दे रघुपति का संदेश दिया।
उन्हें सान्त्वना देकर कपि ने, पुनि द्वार-वाटिका ध्वंस किया ॥ ७४ ॥
तब सेनापति पञ्च और फिर सप्त सचिव-सुवनों को मारा।
हनन किया अक्षय का, पुनि निज का बन्दी बनना स्वीकारा ॥ ७५ ॥
ब्रह्म-पाश-बन्धन से यद्यपि मुक्त सदा ब्रह्मा के वर से।
फिर भी रुष्ट न असुरों पर हो, स्वतः बँध गये वे निर्भय से ॥ ७६ ॥
सीता का निवास तज, कपि ने शेष दग्ध की सारी लंका।
प्रभु को प्रिय संदेश सुनाने सिय का, लौट चला रणबंका ॥ ७७ ॥
हनु प्रबुद्ध ने राम महात्मन् की प्रदक्षिणा कर, बतलाया।
मैंने श्रीसीता माता के दिव्य दर्शनों का सुख पाया ॥ ७८ ॥
तब सुग्रीव-साथ रघुवर ने महासिन्धु के तट पर आकर।
किया क्षुब्ध सागर को तेजस्वी रवि-जैसे बाण चलाकर ॥ ७९ ॥

दर्शयामास चात्मानं समुद्रः सरितां पतिः ।
समुद्रवचनाच्चैव नलं सेतुमकारयत् ॥ ८० ॥
तेन गत्वा पुरीं लङ्कां हत्वा रावणमाहवे ।
रामः सीतामनुप्राप्य परां व्रीडामुपागमत् ॥ ८१ ॥
तामुवाच ततो रामः परुषं जनसंसदि ।
अमृष्यमाणा सा सीता विवेश ज्वलनं सती ॥ ८२ ॥
ततोऽग्निवचनात् सीतां ज्ञात्वा विगतकल्मषाम् ।
कर्मणा तेन महता त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ ८३ ॥
सदेवर्षिगणं तुष्टं राघवस्य महात्मनः ।
बभौ रामः सम्प्रहृष्टः पूजितः सर्वदैवतैः ॥ ८४ ॥
अभिषिच्य च लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ।
कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वरः प्रमुमोद ह ॥ ८५ ॥
देवताभ्यो वरं प्राप्य समुत्थाप्य च वानरान् ।
अयोध्यां प्रस्थितो रामः पुष्पकेण सुहृद्वृतः ॥ ८६ ॥
भरद्वाजाश्रमं गत्वा रामः सत्यपराक्रमः ।
भरतस्यान्तिके रामो हनूमन्तं व्यसर्जयत् ॥ ८७ ॥
पुनराख्यायिकां जल्पन् सुग्रीवसहितस्तदा ।
पुष्पकं तत् समारुह्य नन्दिग्रामं ययौ तदा ॥ ८८ ॥
नन्दिग्रामे जटां हित्वा भ्रातृभिः सहितोऽनघः ।
रामः सीतामनुप्राप्य राज्यं पुनरवाप्तवान् ॥ ८९ ॥
प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः ।
निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः ॥ ९० ॥
न पुत्रमरणं केचिद् द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित् ।
नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः ॥ ९१ ॥
न चाग्निजं भयं किंचिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः ।
न वातजं भयं किंचिन्नापि ज्वरकृतं तथा ॥ ९२ ॥
न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्करभयं तथा ।
नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च ॥ ९३ ॥
नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा ।
अश्वमेधशतैरिष्ट्वा तथा बहुसुवर्णकैः ॥ ९४ ॥
गवां कोट्ययुतं दत्त्वा विद्वद्भ्यो विधिपूर्वकम् ।
असंख्येयं धनं दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यो महायशाः ॥ ९५ ॥
राजवंशाञ्छतगुणान् स्थापयिष्यति राघवः ।
चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन् स्वे स्वे धर्मे नियोक्ष्यति ॥ ९६ ॥

तब नदियों के पति समुद्र ने सम्मुख हो, जैसे बतलाया।
तभी सिंधु पर सेतुबन्ध का श्री रघुपति ने निर्माण कराया॥ ८०॥
उसी सेतु से लंका जाकर रघुवर ने मारा लंकापति।
सीता-मिलन सुखद, फिर भी रघुपति का मन कुछ हुआ संकुचित॥ ८१॥
भरी सभा मे रामचन्द्र ने मर्मान्तिक कटु वचन कह दिया।
अतः जानकी ने तत्क्षण ही, पावक-मध्य प्रवेश कर लिया॥ ८२॥
अग्नि-साक्ष्य से रामचन्द्र ने कलुष-हीन सीता को माना।
राम महात्मा का सुकृत्य यह, सबने धन्य-धन्य कर माना॥ ८३॥
ऋषियों-देवों-सहित चराचर त्रिभुवन था सुकृत्य पर मोहित।
राम हुए संतुष्ट समुद, औ सब देवों से सब विधि पूजित॥ ८४॥
किया राम ने तभी विभीषण का लंका-पति-पद-अभिषेक।
समझे तब कृतकृत्य स्वयं को, हुआ प्रसन्नता का अतिरेक॥ ८५॥
देवों से वर प्राप्त, पुनर्जीवित कपियों को सँग मे लेकर।
गमन नाथ ने किया अयोध्या को पुष्पक विमान पर चढ़कर॥ ८६॥
सत्य विक्रमी सुखद राम जब भरद्वाज के आश्रम आये।
तुरत पवनसुत आज्ञा पाकर भरत समीप अवध को धाये॥ ८७॥
प्रिय सुग्रीव (तथा मित्रों सँग) कहते हुए कथाएँ सुन्दर।
नन्दिग्राम को गये राम तब उस पुष्पक विमान पर चढ़कर॥ ८८॥
वहीं भाइयों-सहित निष्कलुष किया राम ने जटा-निस्सरण।
पुनः जनकजा-प्राप्ति-अनन्तर किया राज्य का तथा अधिग्रहण॥ ८९॥
राम-राज्य में सुखी, तुष्ट अतिपुष्ट सर्वथा सभी रहेंगे।
रोग, व्याधि, दुर्भिक्ष न होंगे, प्रसन्नता सब जीव लहेंगे॥ ९०॥
तब प्राणों से हीन न होंगे पुत्र किसी के भी जीवन में।
विधवा नहीं नारियाँ होंगी, तत्पर पातिव्रत-पालन में॥ ९१॥
कभी अग्नि-भय, कहीं न होगा जल में तथा डूबने का भय।
वातज पीड़ा नहीं रहेगी, नहीं रहेगा ज्वर-भय निश्चय॥ ९२॥
क्षुधा तथा चोरी का भय भी नहीं कहीं भी रह पाएगा।
तब नगरों सँग राष्ट्र सर्वथा धनिक, धान्य-युत दिखलाएगा॥ ९३॥
तथा सत्ययुग-सदृश सभी जन अति प्रसन्न सर्वदा रहेंगे।
स्वर्ण-दक्षिणा-सहित राम तब अश्वमेध शत यज्ञ करेंगे॥ ९४॥
एक खरब गौ विद्वानों को, विधिवत् विप्रों को असीम धन।
देंगे परम यशस्वी निश्चय रामचन्द्र अतिशय प्रसन्न मन॥ ९५॥
राम करेंगे तभी सौ गुने उच्च राज-वंशों का स्थापन।
और करेंगे चारों वर्णों का समुचित सर्वथा नियोजन॥ ९६॥

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति ॥ ९७ ॥
इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम् ।
यः पठेद् रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ९८ ॥
एतदाख्यानमायुष्यं पठन् रामायणं नरः ।
सपुत्रपौत्रः सगणः प्रेत्य स्वर्गे महीयते ॥ ९९ ॥
पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्
स्यात् क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात् ।
वणिग्जनः पुण्यफलत्वमीया-
ज्जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात् ॥ १०० ॥
॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

नारदस्य तु तद् वाक्यं श्रुत्वा वाक्यविशारदः ।
पूजयामास धर्मात्मा सहशिष्यो महामुनिम् ॥ १ ॥
यथावत् पूजितस्तेन देवर्षिर्नारदस्तथा ।
आपृच्छ्यैवाभ्यनुज्ञातः स जगाम विहायसम् ॥ २ ॥
स मुहूर्तं गते तस्मिन् देवलोकं मुनिस्तदा ।
जगाम तमसातीरं जाह्नव्यास्त्वविदूरतः ॥ ३ ॥
स तु तीरं समासाद्य तमसाया मुनिस्तदा ।
शिष्यमाह स्थितं पार्श्वे दृष्ट्वा तीर्थमकर्दमम् ॥ ४ ॥
अकर्दममिदं तीर्थं भरद्वाज निशामय ।
रमणीयं प्रसन्नाम्बु सन्मनुष्यमनो यथा ॥ ५ ॥
न्यस्यतां कलशस्तात दीयतां वल्कलं मम ।
इदमेवावगाहिष्ये तमसातीर्थमुत्तमम् ॥ ६ ॥
एवमुक्तो भरद्वाजो वाल्मीकेन महात्मना ।
प्रायच्छत मुनेस्तस्य वल्कलं नियतो गुरोः ॥ ७ ॥
स शिष्यहस्तादादाय वल्कलं नियतेन्द्रियः ।
विचचार ह पश्यंस्तत् सर्वतो विपुलं वनम् ॥ ८ ॥

दश सहस्र, दश शत वर्षों तक राम करेंगे राज्य निरन्तर।
जायेंगे निज परम धाम को यह श्री रामचन्द्र तदनन्तर ॥ ९७ ॥
वेदों-सम पवित्र, अघनाशक परम पुण्यमय राम-चरित यह।
जो जन गाता पाप-मुक्त हो, सभी सुखों को पाता है वह ॥ ९८ ॥
आयुर्वर्धिनी इस रामायण का पाठक अतिशय सुख पाता।
पुत्र, पौत्र, परिजन-समेत यह राम-धाम-दर्शन का दाता ॥ ९९ ॥
ब्राह्मण पढ़कर इसको होता पृथ्वी पर विद्वान अपार।
इसके पढ़ने से क्षत्रिय का होता नित्य राज्य-विस्तार ॥
वैश्य जनों का इसके पढ़ने से बढ़ता अतिशय व्यापार।
और शूद्र भी इसके द्वारा पाता है समुचित सत्कार ॥ १०० ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में पहला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

दूसरा सर्ग

रामायण काव्य का उपक्रम— तमसा के तट पर क्रौञ्च-वध से संतप्त हुए महर्षि वाल्मीकि के शोक का श्लोक-रूप में प्रकट होना तथा ब्रह्माजी का उन्हें रामचरित्र-मय काव्य के निर्माण का आदेश देना

यों नारद देवर्षि-कथन सुन, शिष्यों-सह अतिशय प्रसन्न मन।
वाल्मीकि धर्म-वाणीविद् ने तब किया महामुनि का पूजन ॥ १ ॥
पूजित सम्मानित मुनीश ने, अनुमति ऋषिवर से ली पहले।
अनुमति पाने पर फिर मुनिवर आकाश-मार्ग की ओर चले ॥ २ ॥
नारद गये घड़ी दो बीतीं, वाल्मीकि गये तमसा-तट पर।
तमसा दूर न थी गंगा से, बहती दोनों थीं समीपतर ॥ ३ ॥
तमसा के तट पर देखा, था पंक-विहीन घाट अति निर्मल।
तब बोले अपने पास खड़े, प्रिय पट्ट शिष्य से वचन विमल ॥ ४ ॥
भरद्वाज! गन्दगी-रहित यह घाट लखो कितना है सुन्दर।
इसका जल निर्मल है, जैसा होता है सज्जन का अन्तर ॥ ५ ॥
तात! यहीं पर रखो कलश अब और मुझे दो मेरा वल्कल।
स्नान करूँगा यहीं, यहाँ तमसा सुतीर्थ का है अनुपम जल ॥ ६ ॥
सुवचन वाल्मीकि महात्मा का जब भरद्वाज ने श्रवण किया।
तब अपने गुरुवर मुनिवर को तत्क्षण ही वल्कल वस्त्र दिया ॥ ७ ॥
प्रिय भरद्वाज से वल्कल ले तब परम जितेन्द्रिय मुनि कुछ क्षण।
देखते हुए वन की सुषमा, वे करने लगे वहीं विचरण ॥ ८ ॥

तस्याभ्याशे तु मिथुनं चरन्तमनपायिनम्।
ददर्श भगवांस्तत्र क्रौञ्चयोश्चारुनिःस्वनम्॥ ९॥
तस्मात् तु मिथुनादेकं पुमांसं पापनिश्चयः।
जघान वैरनिलयो निषादस्तस्य पश्यतः॥ १०॥
तं शोणितपरीताङ्गं चेष्टमानं महीतले।
भार्या तु निहतं दृष्ट्वा रुराव करुणां गिरम्॥ ११॥
वियुक्ता पतिना तेन द्विजेन सहचारिणा।
ताम्रशीर्षेण मत्तेन पत्त्रिणा सहितेन वै॥ १२॥
तथाविधं द्विजं दृष्ट्वा निषादेन निपातितम्।
ऋषेर्धर्मात्मनस्तस्य कारुण्यं समपद्यत॥ १३॥
ततः करुणवेदित्वादधर्मोऽयमिति द्विजः।
निशाम्य रुदतीं क्रौञ्चीमिदं वचनमब्रवीत्॥ १४॥
मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥ १५॥
तस्येत्थं ब्रुवतश्चिन्ता बभूव हृदि वीक्षतः।
शोकार्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया॥ १६॥
चिन्तयन् स महाप्राज्ञश्चकार मतिमान्मतिम्।
शिष्यं चैवाब्रवीद् वाक्यमिदं स मुनिपुङ्गवः॥ १७॥
पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा॥ १८॥
शिष्यस्तु तस्य ब्रुवतो मुनेर्वाक्यमनुत्तमम्।
प्रतिजग्राह संतुष्टस्तस्य तुष्टोऽभवन्मुनिः॥ १९॥
सोऽभिषेकं ततः कृत्वा तीर्थे तस्मिन् यथाविधि।
तमेव चिन्तयन्नर्थमुपावर्तत वै मुनिः॥ २०॥
भरद्वाजस्ततः शिष्यो विनीतः श्रुतवान् गुरोः।
कलशं पूर्णमादाय पृष्ठतोऽनुजगाम ह॥ २१॥
स प्रविश्याश्रमपदं शिष्येण सह धर्मवित्।
उपविष्टः कथाश्चान्याश्चकार ध्यानमास्थितः॥ २२॥
आजगाम ततो ब्रह्मा लोककर्ता स्वयं प्रभुः।
चतुर्मुखो महातेजा द्रष्टुं तं मुनिपुङ्गवम्॥ २३॥
वाल्मीकिरथ तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय वाग्यतः।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा तस्थौ परमविस्मितः॥ २४॥
पूजयामास तं देवं पाद्यार्घ्यासनवन्दनैः।
प्रणम्य विधिवच्चैनं पृष्ट्वा चैव निरामयम्॥ २५॥

असह वियोग— क्रौञ्च खग-दम्पति, जो समीप ही रहा था विचर।
मुनि ने देखा, बोल रहे वे खग मञ्जुल वाणी अति सुन्दर ॥ ९ ॥
कारण-विना जन्तु-वैरी तब, एक व्याध पापी ने आकर।
तथा मिथुन के नर को मारा, मुनि समक्ष ही बाण चलाकर ॥ १० ॥
रक्त-सिक्त फड़फड़ा पंख वह लगा तड़पने तब पृथ्वी पर।
क्रौञ्ची, निज पति की दशा देख, चीत्कार कर उठी तब सत्वर ॥ ११ ॥
काम-विवश वह ताम्रशीर्ष खग, पंख शुभ्र, विलसित भार्या-सह।
विचर रहा था, अतः दुख-भरी रुदन कर रही थी क्रौञ्ची वह ॥ १२ ॥
उस निषाद-हत नरपक्षी की दुर्दशा देख यह दुखदायी।
वाल्मीकि धर्मधर के मानस में उस पर बहुत दया आयी ॥ १३ ॥
तथा रुदनरत उस क्रौञ्ची को देख, व्याध से कहे ये वचन।
सहज-करुण मुनि ने, 'अधर्म यह धारे' किया हृदय में चिन्तन ॥
व्याध ! न तुमको सुख आजीवन (तुम नित्य ही कमाते पातक)।
क्रौञ्च-मिथुन के निरपराध कामातुर नर-खग के संहारक ॥
अपने शाप-वचन पा मुनिवर लगे सोचने अति चिन्तित मन।
समझे, खग-पीड़ा-प्रेरित यह मेरा है उद्‌गार चिरन्तन ॥
परम प्रबुद्ध महाज्ञानी मुनि पहुँचे इस प्रकार निश्चय पर।
और कहा फिर भरद्वाज से, सुनो हमारी बात शिष्यवर ! ॥१४-१७॥
शोकाकुल मेरे मुख का यह, सहित ताल-लय चार चरणमय।
वीणा पर है गेय, काव्यमय श्लोक इसे मानो निःसशय ॥ १८ ॥
भरद्वाज ने गुरु-वचनों का प्रसन्नता से किया समर्थन।
कहा, काव्यमय होगा निश्चय, यह सुन हुआ तुष्ट मुनि का मन ॥ १९ ॥
विधिवत करके स्नान तीर्थ में करते हुए इसी का चिन्तन।
मुनिवर लौटे निज आश्रम को, (शिष्य-सहित होकर प्रसन्न मन) ॥ २० ॥
अति विनीत शास्त्रज्ञ शिष्य भी, भरद्वाज गुरु-पद-चिह्नों पर।
पीछे-पीछे चले मुदित हो, जल से भरे कलश को लेकर ॥ २१ ॥
शिष्य-सहित आश्रम में ऋषि धर्मज्ञ विराजे निज आसन पर।
करते रहे अन्य वार्ताएँ, किन्तु ध्यान था लगा श्लोक पर ॥ २२ ॥
तभी चतुर्मुख ब्रह्मा प्रभुवर सब-समर्थ तेजस्वि सृष्टिकर।
वाल्मीकि मुनीश्वर से मिलने, आए उनके ही आश्रम पर ॥ २३ ॥
उन्हें देख, वाल्मीकि चकित-से, खड़े रहे इन्द्रिय, मन-वश कर।
शान्त और करबद्ध कुछ समय, वे वैसी ही स्थिति में रहकर ॥ २४ ॥
पाद्य, अर्घ्य, आसन, स्तुति आदिक से करके ब्रह्मा का पूजन।
ऋषिवर ने पूछा कुशल-वृत्त, कर उनके चरणों का वन्दन ॥ २५ ॥

अथोपविश्य भगवानासने परमार्चिते ।
वाल्मीकये च ऋषये संदिदेशासनं ततः ॥ २६ ॥
ब्रह्मणा समनुज्ञातः सोऽप्युपाविशदासने ।
उपविष्टे तदा तस्मिन् साक्षाल्लोकपितामहे ॥ २७ ॥
तद्गतेनैव मनसा वाल्मीकिर्ध्यानमास्थितः ।
पापात्मना कृतं कष्टं वैरग्रहणबुद्धिना ॥ २८ ॥
यत् तादृशं चारुरवं क्रौञ्चं हन्यादकारणात् ।
शोचन्नेव पुनः क्रौञ्चीमुपश्लोकमिमं जगौ ॥ २९ ॥
पुनरन्तर्गतमना भूत्वा शोकपरायणः ।
तमुवाच ततो ब्रह्मा प्रहसन् मुनिपुङ्गवम् ॥ ३० ॥
श्लोक एवास्त्वयं बद्धो नात्र कार्या विचारणा ।
मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती ॥ ३१ ॥
रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम ।
धर्मात्मनो भगवतो लोके रामस्य धीमतः ॥ ३२ ॥
वृत्तं कथय धीरस्य यथा ते नारदाच्छ्रुतम् ।
रहस्यं च प्रकाशं च यद् वृत्तं तस्य धीमतः ॥ ३३ ॥
रामस्य सहसौमित्रे राक्षसानां च सर्वशः ।
वैदेह्याश्चैव यद् वृत्तं प्रकाशं यदि वा रहः ॥ ३४ ॥
तच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति ।
न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति ॥ ३५ ॥
कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम् ।
यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ॥ ३६ ॥
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ।
यावद् रामस्य च कथा त्वत्कृता प्रचरिष्यति ॥ ३७ ॥
तावदूर्ध्वमधश्च त्वं मल्लोकेषु निवत्स्यसि ।
इत्युक्त्वा भगवान् ब्रह्मा तत्रैवान्तरधीयत ।
ततः सशिष्यो भगवान् मुनिर्विस्मयमाययौ ॥ ३८ ॥
तस्य शिष्यास्ततः सर्वे जगुः श्लोकमिमं पुनः ।
मुहुर्मुहुः प्रीयमाणाः प्राहुश्च भृशविस्मिताः ॥ ३९ ॥
समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा ।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ ४० ॥
तस्य बुद्धिरियं जाता महर्षेर्भावितात्मनः ।
कृत्स्नं रामायणं काव्यमीदृशैः करवाण्यहम् ॥ ४१ ॥

तब ब्रह्मा भगवान एक अति, उत्तम आसन पर विराज कर।
दी आज्ञा वाल्मीकि विज्ञ को, ग्रहण करें आसन निज, मुनिवर ! ॥ २६ ॥
आज्ञा पा ब्रह्मा जी से मुनिवर ने भी ग्रहण किया आसन।
साक्षात् विराजित थे यद्यपि श्री लोकपितामह चतुरानन ॥ २७ ॥
तब भी ऋषिवर थे क्रौञ्च-मिथुन की घटना से अति ही चिन्तित।
वे सोच रहे थे, पाप-बुद्धि वैरत्व-भाव में नित्य निहित ॥ २८ ॥
उस पापात्मा ने निरपराध, कलरव करते खग को मारा।
मुखरित श्लोक क्रौञ्चि-क्रन्दन पर, उसको ही कह पड़े दुबारा ॥ २९ ॥
दुहराते ही हृदय अनन्तर, पछताव छेदने लगा वहीं।
मनोदशा मुनि की अनुभव कर ब्रह्मा ने हँसकर बात कही ॥ ३० ॥
मुने ! आपका श्लोक-वाक्य यह, श्लोक-रूप में होगा निश्चय।
मुझसे प्रेरित, मुखरित तुमसे, प्रकटा है यह वचन काव्यमय ॥ ३१ ॥
मुनिवर ! तुम श्रीरामचन्द्र के करो चरित का मधुरिम वर्णन।
जग में रामचन्द्र ही हैं धर्मात्मा बुद्धिमान श्री भगवन् ॥ ३२ ॥
सुना आपने नारद-मुख से जैसा, वैसा ही हो चित्रण।
है रहस्यमय सुप्रकाशमय, बुद्धिमान का वृत्त विलक्षण ॥ ३३ ॥
श्रीलक्ष्मण-सह रामचन्द्र के तथा राक्षसों के चरित्र सब।
अति रहस्यमय वा प्रकाशमय वैदेही के दिव्य वृत्त अब ॥ ३४ ॥
हैं यद्यपि अज्ञात सर्वथा, किन्तु आपको होंगे सुविदित।
काव्यांकित वार्ताएँ होंगी, ऋषिवर ! सब ही सत्य प्रमाणित ॥ ३५ ॥
राम-कथा यह लिखें श्लोक में, परम मनोरम पावन सुन्दर।
सरिताओं, शैलों की सत्ता, मुने ! रहेगी जब तक भू पर ॥ ३६ ॥
तब तक रामायण निश्चय ही जग में परम ख्याति पाएगी।
जब तक तव-कृत राम-कथा यह, काव्यमयी गाई जाएगी ॥ ३७ ॥
वासस्थल होगा इच्छित तव, भू, स्वर्ग तथा मम ब्रह्मलोक।
इतना कह अन्तर्धान हुए, थे चकित शिष्य-गुरु यह विलोक ॥ ३८ ॥
निज शिष्यों सँग विस्मित होकर, (लगे श्लोक को फिर दुहराने)।
सुप्रसन्न हो शिष्य सुविस्मित लगे परस्पर में बतलाने ॥ ३९ ॥
समाक्षरों चारों चरणों का वाक्य कहा था जो गुरुवर ने।
था तो वह गुरु-हृदय-शोक, पर श्लोक-रूप में समझा सबने ॥ ४० ॥
परम शुद्ध वाल्मीकि-हृदय में भी यह हुआ विचार उच्चतम।
पूरी रामायण की रचना श्लोकों में ही करें शीघ्र हम ॥ ४१ ॥

उदारवृत्तार्थपदैर्मनोरमै-
स्तदास्य रामस्य चकार कीर्तिमान् ।
समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो
यशस्करं काव्यमुदारदर्शनः ॥ ४२ ॥
तदुपगतसमाससंधियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ४३ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

श्रुत्वा वस्तु समग्रं तद्धर्मार्थसहितं हितम् ।
व्यक्तमन्वेषते भूयो यद् वृत्तं तस्य धीमतः ॥ १ ॥
उपस्पृश्योदकं सम्यङ्मुनिः स्थित्वा कृताञ्जलिः ।
प्राचीनाग्रेषु दर्भेषु धर्मेणान्वेषते गतिम् ॥ २ ॥
रामलक्ष्मणसीताभी राज्ञा दशरथेन च ।
सभार्येण सराष्ट्रेण यत् प्राप्तं तत्र तत्त्वतः ॥ ३ ॥
हसितं भाषितं चैव गतिर्यावच्च चेष्टितम् ।
तत् सर्वं धर्मवीर्येण यथावत् सम्प्रपश्यति ॥ ४ ॥
स्त्रीतृतीयेन च तथा यत् प्राप्तं चरता वने ।
सत्यसंधेन रामेण तत् सर्वं चान्ववेक्षत ॥ ५ ॥
ततः पश्यति धर्मात्मा तत् सर्वं योगमास्थितः ।
पुरा यत् तत्र निर्वृत्तं पाणावामलकं यथा ॥ ६ ॥
तत् सर्वं तत्त्वतो दृष्ट्वा धर्मेण स महामतिः ।
अभिरामस्य रामस्य तत् सर्वं कर्तुमुद्यतः ॥ ७ ॥
कामार्थगुणसंयुक्तं धर्मार्थगुणविस्तरम् ।
समुद्रमिव रत्नाढ्यं सर्वश्रुतिमनोहरम् ॥ ८ ॥
स यथा कथितं पूर्वं नारदेन महात्मना ।
रघुवंशस्य चरितं चकार भगवान् मुनिः ॥ ९ ॥
जन्म रामस्य सुमहद्वीर्यं सर्वानुकूलताम् ।
लोकस्य प्रियतां क्षान्तिं सौम्यतां सत्यशीलताम् ॥ १० ॥

अति उदार अति दूरदर्शि मुनिवर ने तब फिर
राम-चरित ले, दिव्य सहस्रों श्लोक बनाये।
इस महाकाव्य में है प्रतिपादन रामचन्द्र का
यश-संवर्धक मृदुल मधुर पद इसमें आये॥ ४२ ॥
तत्पुरुषादि समास, सन्धियों तथा प्रत्ययों
का इसमें विन्यास हुआ है अतिशय सुन्दर।
दोष-हीन, सद्गुणोंयुक्त इस राम-कथा औ
रावण-वध का काव्य पढ़े ध्यानस्थित होकर॥ ४३ ॥

॥ श्रीवाल्मीक-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

तीसरा सर्ग

वाल्मीकि मुनि द्वारा रामायण-काव्य में निबद्ध विषयों का संक्षेप से उल्लेख

कथा-वस्तुमय राम-चरित को, धर्मादिक-फल-देय समझकर।
प्रकट, गुप्त-ज्ञानार्थ मुनीश्वर, पुनः हुए अन्वेषण तत्पर॥ १ ॥
कुश के आसन पर विराज कर, विधिवत मुनि ने किया आचमन।
हाथ जोड़, फिर योग-क्रिया से, किया उन्होंने रघुवर-चिन्तन॥ २ ॥
दशरथ, राम, रानियों, लक्ष्मण, सीता तथा राज्य-सम्बन्धित।
सभी क्रियाएँ, वार्ताएँ भी, योग-ध्यान में हुई सन्निहित॥ ३ ॥
इनका हँसना और बोलना, चलना तथा राज्य-सञ्चालन।
समझ गये वाल्मीकि मुनीश्वर, ध्यान-योग में लाकर निज मन॥ ४ ॥
सत्यप्रतिज्ञ राम, श्री लक्ष्मण, वैदेही की वन-लीलाएँ।
क्रमशः होने लगीं स्पष्ट सब, हुई फलवती योग-कलाएँ॥ ५ ॥
कर में रखे आमलक फल को, देख रहा हो कोई जैसे।
योगाश्रित धर्मात्मा मुनि ने घटनाओं को देखा वैसे॥ ६ ॥
सबके प्रिय श्री रामचरित को, किया योग में जभी निरीक्षण।
मुनि वाल्मीकि तपस्वी ने की महाकाव्य की चेष्टा तत्क्षण॥ ७ ॥
धर्म, अर्थ, कामादि-गुणान्वित सब वेदों का यह प्रतिपादक।
सकल रत्न-निधि सागर जैसा है यह काव्य-रत्न-उत्पादक॥ ८ ॥
नारद-वर्णित राम-चरित का भली भाँति से किया अनुकरण।
मुनि के महाकाव्य में चर्चित हुआ भली विधि वही अनुसरण॥ ९ ॥
राम-जन्म, श्रीराम-पराक्रम, सर्वानुकूल लोकप्रियता।
सौम्य भावना, क्षमा और है इसमें उनकी सत्यशीलता॥ १० ॥

नाना चित्राः कथाश्चान्या विश्वामित्रसहायने ।
जानक्याश्च विवाहं च धनुषश्च विभेदनम् ॥ ११ ॥
रामरामविवादं च गुणान् दाशरथेस्तथा ।
तथाभिषेकं रामस्य कैकेय्या दुष्टभावताम् ॥ १२ ॥
विघातं चाभिषेकस्य रामस्य च विवासनम् ।
राज्ञः शोकं विलापं च परलोकस्य चाश्रयम् ॥ १३ ॥
प्रकृतीनां विषादं च प्रकृतीनां विसर्जनम् ।
निषादाधिपसंवादं सूतोपावर्तनं तथा ॥ १४ ॥
गङ्गायाश्चापि संतारं भरद्वाजस्य दर्शनम् ।
भरद्वाजाभ्यनुज्ञानाच्चित्रकूटस्य दर्शनम् ॥ १५ ॥
वास्तुकर्म निवेशं च भरतागमनं तथा ।
प्रसादनं च रामस्य पितुश्च सलिलक्रियाम् ॥ १६ ॥
पादुकाग्र्याभिषेकं च नन्दिग्रामनिवासनम् ।
दण्डकारण्यगमनं विराधस्य वधं तथा ॥ १७ ॥
दर्शनं शरभङ्गस्य सुतीक्ष्णेन समागमम् ।
अनसूयासमाख्यां च अङ्गरागस्य चार्पणम् ॥ १८ ॥
दर्शनं चाप्यगस्त्यस्य धनुषो ग्रहणं तथा ।
शूर्पणख्याश्च संवादं विरूपकरणं तथा ॥ १९ ॥
वधं खरत्रिशिरसोरुत्थानं रावणस्य च ।
मारीचस्य वधं चैव वैदेह्या हरणं तथा ॥ २० ॥
राघवस्य विलापं च गृध्रराजनिबर्हणम् ।
कबन्धदर्शनं चैव पम्पायाश्चापि दर्शनम् ॥ २१ ॥
शबरीदर्शनं चैव फलमूलाशनं तथा ।
प्रलापं चैव पम्पायां हनूमद्दर्शनं तथा ॥ २२ ॥
ऋष्यमूकस्य गमनं सुग्रीवेण समागमम् ।
प्रत्ययोत्पादनं सख्यं वालिसुग्रीवविग्रहम् ॥ २३ ॥
वालिप्रमथनं चैव सुग्रीवप्रतिपादनम् ।
ताराविलापं समयं वर्षरात्रनिवासनम् ॥ २४ ॥
कोपं राघवसिंहस्य बलानामुपसंग्रहम् ।
दिशः प्रस्थापनं चैव पृथिव्याश्च निवेदनम् ॥ २५ ॥
अङ्गुलीयकदानं च ऋक्षस्य बिलदर्शनम् ।
प्रायोपवेशनं चैव सम्पातेश्चापि दर्शनम् ॥ २६ ॥
पर्वतारोहणं चैव सागरस्यापि लङ्घनम् ।
समुद्रवचनाच्चैव मैनाकस्य च दर्शनम् ॥ २७ ॥

विश्वामित्र-साथ में लक्ष्मण, रामचन्द्र की वन-लीलाएँ।
धनुष-भंग, सीता-विवाह की इसमें अद्भुत विविध कथाएँ॥ ११॥
राम-परशुधर का विवाद है, इसमें दशरथ-सुत-गुण-वर्णन।
तथा राम-राज्याभिषेक सँग कैकेयी का दुष्ट आचरण॥ १२॥
इसी भाँति अभिषेक-विघ्न, फिर रामचन्द्र का लिखा वन-गमन।
राजा दशरथ का विलाप है वर्णित उनका परलोक-गमन॥ १३॥
प्रजा विषाद, प्रजा को पथ से पुनः अयोध्या को लौटाना।
गुह निषाद-वार्ता-वर्णन है औ सुमन्त का वापस जाना॥ १४॥
श्रीगंगा-सतरण, और हैं भरद्वाज ऋषि के श्री दर्शन।
भरद्वाज की आज्ञा से ही चित्रकूट के रम्य सुदर्शन॥ १५॥
वास-हेतु फिर कुटी बनाना तथा भरत का वहाँ आगमन।
असफल भरत-प्रार्थना-वर्णन, रघुपति का पितु को जल-तर्पन॥ १६॥
राम-चरण-पादुकाऽभिषेचन, सु-नन्दिग्राम में भरत निवास।
राम-दण्डकारण्य-गमन, फिर वहाँ विराध-वध का इतिहास॥ १७॥
श्री शरभग ऋषीश्वर-दर्शन, फिर सुतीक्ष्ण सह दिव्य समागम।
अनसूया-सीता-वार्ता है, अंगराग का अर्पण अनुपम॥ १८॥
श्री अगस्त्य ऋषि-दरस, उन्हीं से प्राप्त धनुष का धारण करना।
शूर्पणखा-संवाद और फिर रूपहीन कर उसे, विचरना॥ १९॥
खर, दूषण, त्रिशिरा-वध के सँग, लंका-पति का कपट-आचरण।
मृग मारीच-हनन, रावण-कृत वैदेही का तथा अपहरण॥ २०॥
अतिशय राम-विलाप, गृध्रपति प्रिय जटायु का तथा दुर्मरण।
फिर कबन्ध से भेंट और फिर पम्पासर-तट-सुखमय विचरण॥ २१॥
फिर साध्वी शबरी के दर्शन, कन्द-मूल का सेवन करना।
पम्पा सर पर दुखी राम को, कपिवर हनूमान का मिलना॥ २२॥
राम-लखन-सुग्रीव मिलन, प्रभु-बल का उसको आभास हुआ।
ऋष्यमूक पर मित्र बने, तब सुग्रीव-बालि का युद्ध हुआ॥ २३॥
और बालि-वध, तारा-क्रन्दन, कपि सुकण्ठ को राज्य-दिलाना।
वर्षा-बीते पर सुकण्ठ-प्रण, तब सीता का पता लगाना॥ २४॥
क्रोध राम-शार्दूल, सीय-हित खोज, सैन कपि का सञ्चय कर।
उन्हें भेजना, धरा-द्वीप-शैलों का विस्तृत परिचय देकर॥ २५॥
हनुमत को मुद्रिका, गुफा में उनको स्वयंप्रभा के दर्शन।
तथा ऋक्ष का अनशन, खगपति संपाति-राम-आलाप-मिलन॥ २६॥
पवन-पुत्र का मलयाऽऽरोहण, फिर सागरपति के पार गमन।
और सिन्धु के कहने से प्रकटित मैनाक शैल का दर्शन॥ २७॥

राक्षसीतर्जनं चैव च्छायाग्राहस्य दर्शनम् ।
सिंहिकायाश्च निधनं लङ्कामलयदर्शनम् ॥ २८ ॥
रात्रौ लङ्काप्रवेशं च एकस्यापि विचिन्तनम् ।
आपानभूमिगमनमवरोधस्य दर्शनम् ॥ २९ ॥
दर्शनं रावणस्यापि पुष्पकस्य च दर्शनम् ।
अशोकवनिकायानं सीतायाश्चापि दर्शनम् ॥ ३० ॥
अभिज्ञानप्रदानं च सीतायाश्चापि भाषणम् ।
राक्षसीतर्जनं चैव त्रिजटास्वप्नदर्शनम् ॥ ३१ ॥
मणिप्रदानं सीताया वृक्षभङ्गं तथैव च ।
राक्षसीविद्रवं चैव किङ्कराणां निबर्हणम् ॥ ३२ ॥
ग्रहणं वायुसूनोश्च लङ्कादाहाभिगर्जनम् ।
प्रतिप्लवनमेवाथ मधूनां हरणं तथा ॥ ३३ ॥
राघवाश्वासनं चैव मणिनिर्यातनं तथा ।
संगमं च समुद्रेण नलसेतोश्च बन्धनम् ॥ ३४ ॥
प्रतारं च समुद्रस्य रात्रौ लङ्कावरोधनम् ।
विभीषणेन संसर्गं वधोपायनिवेदनम् ॥ ३५ ॥
कुम्भकर्णस्य निधनं मेघनादनिबर्हणम् ।
रावणस्य विनाशं च सीतावाप्तिमरेः पुरे ॥ ३६ ॥
विभीषणाभिषेकं च पुष्पकस्य च दर्शनम् ।
अयोध्यायाश्च गमनं भरद्वाजसमागमम् ॥ ३७ ॥
प्रेषणं वायुपुत्रस्य भरतेन समागमम् ।
रामाभिषेकाभ्युदयं सर्वसैन्यविसर्जनम् ।
स्वराष्ट्ररञ्जनं चैव वैदेह्याश्च विसर्जनम् ॥ ३८ ॥
अनागतं च यत् किंचिद् रामस्य वसुधातले ।
तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः ॥ ३९ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः ।
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत् ॥ १ ॥

छाया-ग्राही सिंहिका तड़ित, वध हुआ पवनसुत द्वारा फिर।
गिरि त्रिकूट पर लंका नगरी, हनुमत लाँघे पुनि मलयागिर ॥ २८ ॥
लंक-प्रवेश अकेले निशि में, निज कर्तव्य कार्य का चिन्तन।
रावण मदिरा-स्थल से होकर रम्य महल अन्तःपुर दर्शन ॥ २९ ॥
लंकापति रावण के दर्शन, दिव्य यान पुष्पक के दर्शन।
और अशोक वाटिका सुस्थित सीता के चरणों का वन्दन ॥ ३० ॥
परिचय हेतु अँगूठी देकर सीता से विनम्र अभिभाषण।
निशिचरियों का सिय पर तर्जन, फिर त्रिजटा-सुःस्वप्न का विवरण ॥ ३१ ॥

चूडामणि पाना सीता से तथा वाटिका वृक्ष नसाना।
राक्षसियों का सभय पलायन, राक्षस-गण को मार गिराना ॥ ३२ ॥
बन्दी होकर लंकापति की सभामध्य वे गर्ज रहे थे।
लंका-दाह, सिन्धु पुनि लंघन, कपिगण कर मधुपान रहे थे ॥ ३३ ॥
राम हुए आश्वस्त, उन्हें जब हुई पवनसुत से मणि अर्जित।
अभियान, सिन्धु से मिलन और नल का उद्यम सेतु-बन्ध-हित ॥ ३४ ॥
सिन्धु-संतरण और रात्रि में सेना से लंका-अवरोधन।
और विभीषण-मिलन, विभीषण का रावण-वध-युक्ति-निवेदन ॥ ३५ ॥
कुम्भकर्ण-वध, मेघनाद-वध, राक्षस-वर रावण का विनाश।
श्री सीता-संप्राप्ति, युद्ध से पाना रघुवर का समवकाश ॥ ३६ ॥

अभिषेक विभीषण का निरुपम, देवयान पुष्पक के दर्शन।
तथा अयोध्या-गमन, मार्ग में भरद्वाज मुनि से पुनि सुमिलन ॥ ३७ ॥
हनूमान द्वारा सँदेश दे, भ्रातृ भरत से फिर मिल पाना।
तदनन्तर अभिषेक राम का सेनाओं का निज स्थल फिरना ॥ ३८ ॥
इस पृथ्वी पर जो भविष्य में होनी थी रघुवर-लीलाएँ।
कवि के महाकाव्य में वर्णित हैं वह भी सब रुचिर कथाएँ ॥ ३९ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

चौथा सर्ग

महर्षि वाल्मीकि का चौबीस हजार श्लोकों से युक्त रामायण काव्य का निर्माण करके उसे लव-कुश को पढ़ाना, मुनिमण्डली में रामायण-गान करके लव और कुश का प्रशंसित होना तथा अयोध्या में श्रीराम द्वारा सम्मानित हो उन दोनों का राज-दरबार में रामायण-गान सुनाना

उत्तम शासन रामचन्द्र ने किया अयोध्या का जब स्वीकृत।
तब विचित्र पद-अर्थ-समन्वित, काव्य हुआ वाल्मीकि-विनिर्मित ॥ १ ॥

चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः ।
तथा सर्गशतान् पञ्च षट्काण्डानि तथोत्तरम् ॥ २ ॥
कृत्वा तु तन्महाप्राज्ञः सभविष्यं सहोत्तरम् ।
चिन्तयामास को न्वेतत् प्रयुञ्जीयादिति प्रभुः ॥ ३ ॥
तस्य चिन्तयमानस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
अगृह्णीतां ततः पादौ मुनिवेषौ कुशीलवौ ॥ ४ ॥
कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ ॥ ५ ॥
स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ ।
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः ॥ ६ ॥
काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत् ।
पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रतः ॥ ७ ॥
पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम् ।
जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलयसमन्वितम् ॥ ८ ॥
रसैः शृङ्गारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः ।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम् ॥ ९ ॥
तौ तु गान्धर्वतत्त्वज्ञौ स्थानमूर्च्छनकोविदौ ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ गन्धर्वाविव रूपिणौ ॥ १० ॥
रूपलक्षणसम्पन्नौ मधुरस्वरभाषिणौ ।
बिम्बादिवोत्थितौ बिम्बौ रामदेहात् तथापरौ ॥ ११ ॥
तौ राजपुत्रौ कार्त्स्न्येन धर्म्यमाख्यानमुत्तमम् ।
वाचोविधेयं तत्सर्वं कृत्वा काव्यमनिन्दितौ ॥ १२ ॥
ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे ।
यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुः सुसमाहितौ ॥ १३ ॥
महात्मानौ महाभागौ सर्वलक्षणलक्षितौ ।
तौ कदाचित् समेतानामृषीणां भावितात्मनाम् ॥ १४ ॥
मध्येसभं समीपस्थाविदं काव्यमगायताम् ।
तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे बाष्पपर्याकुलेक्षणाः ॥ १५ ॥
साधु साध्विति तावूचुः परं विस्मयमागताः ।
ते प्रीतमनसः सर्वे मुनयो धर्मवत्सलाः ॥ १६ ॥
प्रशशंसुः प्रशस्तव्यौ गायमानौ कुशीलवौ ।
अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः ॥ १७ ॥
चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम् ।
प्रविश्य तावुभौ सुष्ठु तथाभावमगायताम् ॥ १८ ॥

हैं चौबीस सहस्र श्लोक शुभ और पाँच सौ सर्ग समुत्तम।
उत्तर-सहित सात काण्डों का, इसमें हुआ अमृतमय संगम॥ २ ॥
उत्तर और भविष्यत के सँग यह रामायण लिख लेने पर।
ऋषि ने सोचा, जन-मण्डल को कौन सुनाए इसको पढ़कर॥ ३ ॥
शुद्ध-हृदय ऋषि के विचार के अवसर पर मुनि के स्वरूप में।
आकर लव-कुश ने नमन किया उनके चरणों को, समीप में॥ ४ ॥
यशोधनी धर्मज्ञानी यह राज-पुत्र लव-कुश अति सुन्दर।
मुनि-आश्रम पर ही रहते थे, था इनका कोमल मधुरिम स्वर॥ ५ ॥
ऋषि ने देखा मेधावी वेदों के ज्ञाता हैं अपार।
स्वीकार उन्होने किया तभी ये करें काव्य का शुभ प्रसार॥ ६ ॥
फिर चरित दशानन के वध का, ऋषिवर ने उनको समझाया।
सीता-चरित-सहित रामायण का उनको अध्ययन कराया॥ ७ ॥
यह पठन-श्रवण में मधुर तथा द्रुत, मध्य, विलम्बित से संयुत।
वीणा-स्वर पर लय, ताल-सहित मधुगान हेतु है परम युक्त॥ ८ ॥
करुण, हास्य, शृंगार, वीर, बीभत्स, रौद्र रसमय अतिसुन्दर।
इनको पढ़कर आरम्भ किया, लव-कुश ने ललित गान रुचिकर॥ ९ ॥
वे संगीत-शास्त्र के पण्डित, मूर्छना, स्थान के थे ज्ञाता।
मधु-स्वरमय, गन्धर्व-रूप मनमोहक थे दोनों ही भ्राता॥ १० ॥
रूप, सुलक्षण-युक्त और यह अतिशय मृदुभाषी राजकुँवर।
राम-बिम्ब-बिम्बित द्वितीय थे मानो राम-युगल अति सुन्दर॥ ११ ॥
ये लोक-प्रशंसित राजपुत्र, कण्ठाग्र सकल थी रामायण।
धर्मानुकूल काव्योत्तम का करते थे विधि से पारायण॥ १२ ॥
ऋषियों और ब्राह्मणों, सन्तों का होता था जभी समागम।
तब ध्यान-मग्न दोनों किशोर करते थे काव्य-गान अनुपम॥ १३ ॥
ये बाल महात्मा महाभाग, सर्वोच्च लक्षणों से अन्वित।
थे वहाँ, जहाँ पर आत्म-शुद्ध, ऋषिवर अनेकधा एकत्रित॥ १४ ॥
सभा-मध्य दोनों कुँअरों ने जब रामायण का गान किया।
तब अश्रु-नयन तन्मय ऋषि-मुनि ने भावमुग्ध हो ध्यान दिया॥ १५ ॥
विस्मय-विमुग्ध इन ऋषियों ने तब दिये सहस्रों साधुवाद।
उन धर्मवत्सलों के मन में थी प्रसन्नता सुन काव्य-नाद॥ १६ ॥
अति गान-कुशल इन लव-कुश की, सबने की शंसा यह कहकर।
कितना गानमधुर-मञ्जुल है, अद्भुत ये श्लोक सभी मनहर॥ १७ ॥
यद्यपि घटना है अतीत की, फिर भी ऋषि-संसद के समक्ष।
ऐसा लगता ये घटनाएँ, हो रहीं सामने हैं प्रतक्ष॥ १८ ॥

सहितौ मधुरं रक्तं सम्पन्नं स्वरसम्पदा ।
एवं प्रशस्यमानौ तौ तपःश्लाघ्यैर्महर्षिभिः ॥ १९ ॥
संरक्ततरमत्यर्थं मधुरं तावगायताम् ।
प्रीतः कश्चिन्मुनिस्ताभ्यां संस्थितः कलशं ददौ ॥ २० ॥
प्रसन्नो वल्कलं कश्चिद् ददौ ताभ्यां महायशाः ।
अन्यः कृष्णाजिनमदाद् यज्ञसूत्रं तथापरः ॥ २१ ॥
कश्चित् कमण्डलुं प्रादान्मौञ्जीमन्यो महामुनिः ।
बृसीमन्यस्तदा प्रादात् कौपीनमपरो मुनिः ॥ २२ ॥
ताभ्यां ददौ तदा हृष्टः कुठारमपरो मुनिः ।
काषायमपरो वस्त्रं चीरमन्यो ददौ मुनिः ॥ २३ ॥
जटाबन्धनमन्यस्तु काष्ठरज्जुं मुदान्वितः ।
यज्ञभाण्डमृषिः कश्चित् काष्ठभारं तथापरः ॥ २४ ॥
औदुम्बरीं बृसीमन्यः स्वस्ति केचित् तदावदन् ।
आयुष्यमपरे प्राहुर्मुदा तत्र महर्षयः ॥ २५ ॥
ददुश्चैवं वरान् सर्वे मुनयः सत्यवादिनः ।
आश्चर्यमिदमाख्यानं मुनिना सम्प्रकीर्तितम् ॥ २६ ॥
परं कवीनामाधारं समाप्तं च यथाक्रमम् ।
अभिगीतमिदं गीतं सर्वगीतिषु कोविदौ ॥ २७ ॥
आयुष्यं पुष्टिजननं सर्वश्रुतिमनोहरम् ।
प्रशस्यमानौ सर्वत्र कदाचित् तत्र गायकौ ॥ २८ ॥
रथ्यासु राजमार्गेषु ददर्श भरताग्रजः ।
स्ववेश्म चानीय ततो भ्रातरौ स कुशीलवौ ॥ २९ ॥
पूजयामास पूजार्हौ रामः शत्रुनिबर्हणः ।
आसीनः काञ्चने दिव्ये स च सिंहासने प्रभुः ॥ ३० ॥
उपोपविष्टैः सचिवैर्भ्रातृभिश्च समन्वितः ।
दृष्ट्वा तु रूपसम्पन्नौ विनीतौ भ्रातरावुभौ ॥ ३१ ॥
उवाच लक्ष्मणं रामः शत्रुघ्नं भरतं तथा ।
श्रूयतामेतदाख्यानमनयोर्देववर्चसोः ॥ ३२ ॥
विचित्रार्थपदं सम्यग्गायकौ समचोदयत् ।
तौ चापि मधुरं रक्तं स्वचित्तायतनिःस्वनम् ॥ ३३ ॥
तन्त्रीलयवदत्यर्थं विश्रुतार्थमगायताम् ।
ह्लादयत् सर्वगात्राणि मनांसि हृदयानि च ।
श्रोत्राश्रयसुखं गेयं तद् बभौ जनसंसदि ॥ ३४ ॥

युगल कुमारों का मृदु गायन स्वर-सम्पन्न राग-रस-लय युत।
भावमयी गाथा से पुलकित मुनिगण से, बहुभाँति प्रशंसित ।। १९ ।।
संस्तुति पाकर, वे दोनों जब गाते थे रामायण महान।
मग्न एक ऋषि ने प्रसन्न हो कर दिया सुमंगल घट प्रदान ।। २० ।।
वल्कल-वसन किसी ने इनको दिया कृष्ण मृग-चर्म किसी ने।
इसी भाँति यज्ञोपवीत दे, किया प्रशंसित इन्हें सभी ने ।। २१ ।।
तथा कमण्डलु, मुञ्ज-मेखला, कौपीन और आसन सुन्दर।
देकर ऋषियों ने कहा, वत्स ! है कथा-गान यह अति रुचिकर ।। २२ ।।
अर्पित किया कुठार किसी ने और किसी ने गेरुआ वसन।
फिर दिया किसी ने चीर इन्हें, ऐसे प्रसन्न नाना मुनिगन ।। २३ ।।
जटा-बन्ध-हित सूत्र किसी ने दिया तथा समिधा का बन्धन।
और किसी ने यज्ञ-पात्र दे काष्ठ-भार का किया समर्पन ।। २४ ।।
गूलर-पीढ़ा दे, कहा वत्स ! हो प्रतिक्षण कल्याण तुम्हारा।
हो आयु-वृद्धि, युग-युग जीयो, बोल उठा ऋषि-मण्डल सारा ।। २५ ।।
सभी सत्यवादी ऋषियों नें दिये इन्हें वर, प्रमुदित होकर।
वाल्मीकि-रचित यह महाकाव्य, है चमत्कारमय अति सुन्दर ।। २६ ।।
राम-काव्य सर्वथा भविष्यत के कवियो का है समाधार।
सब भाँति गायको ! गीतों के तुममें है अद्‌भुत चमत्कार ।। २७ ।।
है श्रवण, मनन में यह उत्तम, संपुष्टि, आयु-आरोग्य-प्रदायक।
दिवस एक यों सर्व-प्रशंसित, विचर रहे थे लव-कुश गायक ।। २८ ।।
गली, राज-पथ-गामी, इनको रामचन्द्र ने तभी देखकर।
आये अपने राजभवन में इनको तभी साथ में लेकर ।। २९ ।।
शत्रु-निषूदन रामचन्द्र से हुए वहाँ तब ये सम्मानित।
तथा स्वर्ण-सिहासन पर श्री रामचन्द्र जी हुए विराजित ।। ३० ।।
मन्त्रि-वृन्द बैठा समीप में तथा भ्रातृ-मण्डल प्रसन्नमन।
और देख लव-कुश दोनों को, अति विनम्र अतिशय सुरूप-धन ।। ३१ ।।
प्रिय शत्रुघ्न, भरत, लक्ष्मण से, तब बोले श्रीराम महीपति।
दिव्य तेजमय भ्रातृ-युगल का है गायन सुमधुर सुन्दर अति ।।
कहा राम नें, वत्स ! सुनाओ, विचित्रार्थ-पदमय निज गायन।
तब मधु स्वर में राग अलापा, इन दोनों ने हो प्रसन्न मन ।।
वीणा-लय के साथ-साथ ही, सहज सरल में अर्थ निरूपित।
हर्ष-जनित रोमाञ्च-साथ, मन हुआ सभी का परम तरंगित ।।
जन-समूह इस काव्य-गान से भली-भाँति से हुआ प्रभावित।
(क्योंकि काव्य रस, राग, रीति के सभी लक्षणों से था अन्वित) ।।३२-३४।।

इमौ मुनी पार्थिवलक्षणान्वितौ
कुशीलवौ चैव महातपस्विनौ ।
ममापि तद् भूतिकरं प्रचक्षते
महानुभावं चरितं निबोधत ॥ ३५ ॥
ततस्तु तौ रामवचःप्रचोदिता-
वगायतां मार्गविधानसम्पदा ।
स चापि रामः परिषद्गतः शनै-
र्बुभूषयासक्तमना बभूव ॥ ३६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

सर्वा पूर्वमियं येषामासीत् कृत्स्ना वसुंधरा ।
प्रजापतिमुपादाय नृपाणां जयशालिनाम् ॥ १ ॥
येषां स सगरो नाम सागरो येन खानितः ।
षष्टिपुत्रसहस्राणि यं यान्तं पर्यवारयन् ॥ २ ॥
इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञां वंशे महात्मनाम् ।
महदुत्पन्नमाख्यानं रामायणमिति श्रुतम् ॥ ३ ॥
तदिदं वर्तयिष्यावः सर्वं निखिलमादितः ।
धर्मकामार्थसहितं श्रोतव्यमनसूयता ॥ ४ ॥
कोशलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान् ।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ॥ ५ ॥
अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता ।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ॥ ६ ॥
आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी ।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा ॥ ७ ॥
राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता ।
मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः ॥ ८ ॥
तां तु राजा दशरथो महाराष्ट्रविवर्धनः ।
पुरीमावासयामास दिवि देवपतिर्यथा ॥ ९ ॥

मुनिकुमार ये राजलक्षणों से हैं परम समन्वित।
गायक लव-कुश तरुण तपस्वी लगते हमें अपरिमित॥
इनके काव्य-गान में है सर्वोदय मेरा (सबका)।
अतः सकल जन सुनें इसे अब, होकर ध्यानावस्थित॥ ३५ ॥
अखिल राष्ट्रमय संस्कृत भाषा, महाकाव्य-गुण-युत जो गायन।
रामाज्ञा— मार्गी पद्धति[1] में लव-कुश ने गायी रामायण॥
दत्तचित्त श्री रामचन्द्र ने सभा-मध्य भाइयों-सहित।
वाल्मीकीय सुमहाकाव्य के सुनने में आनन्द-निहित॥ ३६ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में चौथा सर्ग समाप्त ॥ ४ ॥

पाँचवाँ सर्ग

राजा दशरथ द्वारा सुरक्षित अयोध्यापुरी का वर्णन

आदि प्रजापति मनु से अब तक, जिस कुल की है कीर्ति अपरिमित।
जिसके विजयी नृपति वरों से रही सदा पृथ्वी यह शासित॥ १ ॥
जिसमें जन्मे सगर मनीषी, सिंधु जिन्होंने खनन कराया।
साठ सहस्र सुतों ने जिनकी यात्राओं में साथ निभाया॥ २ ॥
उस इक्ष्वाकु-वंश में जन्मे राजाओं की परम्परा में।
रामायण, इतिहास, काव्य अवतरित उसी में (वसुन्धरा में)॥ ३ ॥
सुनिये! हम दोनों पूर्वापर महत् काव्य का गान करेंगे।
धर्म, अर्थ, कामादि मोक्षदायक उनको जो ध्यान धरेंगे॥ ४ ॥
कौशल नाम वृहत जनपद है बसा हुआ सरयू के तट पर।
सुख, समृद्धि, धन-धान्य आदि से है सम्पन्न और अति सुखकर॥ ५ ॥
यहाँ अयोध्या नाम्नी नगरी सब लोकों में है विख्याता।
इसे बसाया और बनाया श्रीमनु ने (इतिहास बताता)॥ ६ ॥
बारह और तीन योजन है इसकी लम्बाई-चौड़ाई।
राज-मार्ग के दोनों तट पर तरुवर हैं देते दिखलाई॥ ७ ॥
इस सम्पन्न पुरी की सुषमा राज-मार्ग है अधिक बढ़ाता।
इसमें विकसित पुष्प बिछाकर प्रतिदिन जल है छिड़का जाता॥ ८ ॥
देवराज ने जैसे अपनी नगरी अमरावती बसाई।
धर्म, न्याय-पालक दशरथ ने, वैसे ही यह दिव्य बनाई॥ ९ ॥

---

१ गान दो प्रकार के होते हैं—मार्ग और देशी। भिन्न-भिन्न देशों की प्राकृत भाषा में गाये जानेवाले गान को 'देशी' कहते हैं और समूचे राष्ट्र में प्रसिद्ध संस्कृत आदि भाषा का आश्रय लेकर गाया हुआ गान 'मार्गी' के नाम से प्रसिद्ध है।

कपाटतोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणाम् ।
सर्वयन्त्रायुधवतीमुषितां सर्वशिल्पिभिः ॥ १० ॥
सूतमागधसम्बाधां श्रीमतीमतुलप्रभाम् ।
उच्चाट्टालध्वजवतीं शतघ्नीशतसंकुलाम् ॥ ११ ॥
वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम् ।
उद्यानाम्रवणोपेतां महतीं सालमेखलाम् ॥ १२ ॥
दुर्गगम्भीरपरिखां दुर्गामन्यैर्दुरासदाम् ।
वाजिवारणसम्पूर्णां गोभिरुष्ट्रैः खरैस्तथा ॥ १३ ॥
सामन्तराजसंघैश्च बलिकर्मभिरावृताम् ।
नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम् ॥ १४ ॥
प्रासादै रत्नविकृतैः पर्वतैरिव शोभिताम् ।
कूटागारैश्च सम्पूर्णामिन्द्रस्येवामरावतीम् ॥ १५ ॥
चित्रामष्टापदाकारां वरनारीगणायुताम् ।
सर्वरत्नसमाकीर्णां विमानगृहशोभिताम् ॥ १६ ॥
गृहगाढामविच्छिद्रां समभूमौ निवेशिताम् ।
शालितण्डुलसम्पूर्णामिक्षुकाण्डरसोदकाम् ॥ १७ ॥
दुन्दुभीभिर्मृदङ्गैश्च वीणाभिः पणवैस्तथा ।
नादितां भृशमत्यर्थं पृथिव्यां तामनुत्तमाम् ॥ १८ ॥
विमानमिव सिद्धानां तपसाधिगतं दिवि ।
सुनिवेशितवेश्मान्तां नरोत्तमसमावृताम् ॥ १९ ॥
ये च बाणैर्न विध्यन्ति विविक्तमपरापरम् ।
शब्दवेध्यं च विततं लघुहस्ता विशारदाः ॥ २० ॥
सिंहव्याघ्रवराहाणां मत्तानां नदतां वने ।
हन्तारो निशितैः शस्त्रैर्बलाद् बाहुबलैरपि ॥ २१ ॥
तादृशानां सहस्रैस्तामभिपूर्णां महारथैः ।
पुरीमावासयामास राजा दशरथस्तदा ॥ २२ ॥

तामग्निमद्भिर्गुणवद्भिरावृतां
द्विजोत्तमैर्वेदषडङ्गपारगैः ।
सहस्रदैः सत्यरतैर्महात्मभि-
र्महर्षिकल्पैर्ऋषिभिश्च केवलैः ॥ २३ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

वृहत् कपाट-द्वार, बाज़ारें पृथक्-पृथक् से नगरी पूरित।
यन्त्र और शिल्पी इसमें हैं, अस्त्र-शस्त्र हैं इसमें सञ्चित॥ १० ॥
मागध, सूत-गान, भवनों की उच्च छतों पर ध्वज फहराते।
शत-शत तोपें, छबि नगरी की अतुलित, अन्य नगर शर्माते॥ ११ ॥
महिला नाटक-संघ यहाँ हैं, आम्र वाटिकाएँ हैं मधुवन।
अति विशाल लंबी-चौड़ी यह घिरी, चौतरफ़ साखू के वन॥ १२ ॥
चौतरफ़ा गहरी खाई है, कठिन तथा अति दुगम, दुर्जय।
गौएँ, हाथी, बैल, उष्ट्र है, गर्दभ और विविध उत्तम हय॥ १३ ॥
कर-दाता सामन्त नरेशों से छादित यह दिखलाती है।
विविध देश के वणिक वरों से सुषमा यह अनुपम पाती है॥ १४ ॥
रत्न-विनिर्मित, गगनस्पर्शी, भवन यहाँ हैं पर्वत के सम।
क्रीडास्थल एकान्त रम्य औ इन्द्रपुरी-अमरावति के सम॥ १५ ॥
स्वर्ण-लिप्त हैं भवन यहाँ के, वर नारी-समूह अति सुन्दर।
सप्त खण्ड-प्रासाद यहाँ है, रत्न भरे है यहाँ मनोहर॥ १६ ॥
तिल भर भूमि न रिक्त, सघन जनपद, समतल पर बसा सकल पुर।
शीतकाल का चावल सुन्दर, ईख-सदृश जल मीठा सुमधुर॥ १७ ॥
दुन्दुभि, वीणा, पणवध्वनि औ बजते थे मृदंग (नक्कारे)।
अन्य विविध वाद्यों के गुञ्जन होते रहते थे अति प्यारे॥ १८ ॥
देवलोक के सिद्ध तपस्वी के विमान-सम स्थान समुत्तम।
दिव्य भवन छबिमय अन्तःपुर, सुजन श्रेष्ठ बसते थे निरुपम॥ १९ ॥
शब्द-वेधि-शर-वध्य, सर्वथा निःसहाय जन युद्ध-पलायित।
पर, न प्रहार कभी करते थे, ऐसे लक्ष्यवेध में सुनिहित॥ २० ॥
सिंह, व्याघ्र, उन्मत्त शूकरों के मारण में सफल प्रयासी।
धीर, वीर, अति बाहु-बली जन थे ऐसे सब नगर-निवासी॥ २१ ॥
ऐसे महारथी वीरों से सदा अयोध्या भरी दिखाती।
दशरथ ने था इसे बसाया, उनसे ही प्रतिपाली जाती॥ २२ ॥

अग्निहोत्र नित, शम-दम-उत्तम गुण, षडांग-वेदों का ज्ञान
भरी-पुरी नगरी, द्विज-प्रवरों का सुदिव्य था वासस्थान।
सत्यव्रती, दानी अपार, ऋषि-मुनि-सन्तों का दिव्य निवास
दशरथ-पुरी अयोध्या में यों सुख-समृद्धि का अक्षय वास॥ २३ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

तस्यां पुर्यामयोध्यायां वेदवित् सर्वसंग्रहः ।
दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः ॥ १ ॥
इक्ष्वाकूणामतिरथो[1] यज्वा धर्मपरो वशी ।
महर्षिकल्पो राजर्षिस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ २ ॥
बलवान् निहतामित्रो मित्रवान् विजितेन्द्रियः ।
धनैश्च संचयैश्चान्यैः शक्रवैश्रवणोपमः ॥ ३ ॥
यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षिता ।
तथा दशरथो राजा लोकस्य परिरक्षिता ॥ ४ ॥
तेन सत्याभिसंधेन त्रिवर्गमनुतिष्ठता ।
पालिता सा पुरी श्रेष्ठा इन्द्रेणेवामरावती ॥ ५ ॥
तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः ।
नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः ॥ ६ ॥
नाल्पसंनिचयः कश्चिदासीत् तस्मिन् पुरोत्तमे ।
कुटुम्बी यो ह्यसिद्धार्थोऽगवाश्वधनधान्यवान् ॥ ७ ॥
कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिकः ॥ ८ ॥
सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः ।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः ॥ ९ ॥
नाकुण्डली नामुकुटी नास्रग्वी नाल्पभोगवान् ।
नामृष्टो न नलिप्ताङ्गो नासुगन्धश्च विद्यते ॥ १० ॥
नामृष्टभोजी नादाता नाप्यनङ्गदनिष्कधृक् ।
नाहस्ताभरणो वापि दृश्यते नाप्यनात्मवान् ॥ ११ ॥
नानाहिताग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः ।
कश्चिदासीदयोध्यायां न चावृत्तो न संकरः ॥ १२ ॥
स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः ।
दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे ॥ १३ ॥
नास्तिको नानृती वापि न कश्चिदबहुश्रुतः ।
नासूयको न चाशक्तो नाविद्वान् विद्यते क्वचित् ॥ १४ ॥
नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो नासहस्रदः ।
न दीनः क्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन ॥ १५ ॥

---

१ दस हजार महारथियों के साथ अकेला युद्ध करनेवाला ।

छठा सर्ग

राजा दशरथ के शासनकाल में अयोध्या और वहाँ के नागरिकों की उत्तम स्थिति का वर्णन

थे वेदज्ञ, दूरदर्शी वे वस्तु-संग्रही, तेजस्वी अति।
जनपद तथा प्रजा-जन में प्रिय परम, अयोध्या के थे भूपति ॥ १ ॥
दस सहस महारथियों के सम, इक्ष्वाकु-वंश, प्रख्यात अतुल।
राजर्षि, संयमी, महर्षि-सम याज्ञिक औ धर्मधुरीन विपुल ॥ २ ॥
शत्रु-हीन, अतिबली, मित्र-युत तथा जितेन्द्रिय थे वे उत्तम।
सम्पद तथा वस्तु-सग्रह मे थे साक्षात् कुबेर-इन्द्र-सम ॥ ३ ॥
यथा प्रजापति मनु तेजस्वी थे इस सकल जगत के रक्षक।
वैसे ही राजा दशरथ थे जनता, जनपद के सरक्षक ॥ ४ ॥
सम्पादक धर्मार्थ-काम के, सत्यव्रती अति उच्चकर्म-रत।
पालित इनसे हुई अयोध्या देवाधिप से इन्द्रपुरीवत् ॥ ५ ॥
वहु-ज्ञान-श्रवण-युत प्रजा सकल, धर्मात्मा, निर्लोभी, संयत।
सत्यपरायण, निज धन में ही था सदा तोष-संतोष महत् ॥ ६ ॥
काम्य वस्तुओं से विरहित धर्म-अर्थ-पुरुषार्थ-विहीन।
गाय, बैल, धन, धान्य, अश्व, संपति में कोई व्यक्ति न दीन ॥ ७ ॥
कोई नहीं अयोध्या में था, कामी, कृपण, क्रूर दिखलाता।
मूर्ख और नास्तिक मनुष्य तो दृष्टिमात्र में कहीं न आता ॥ ८ ॥
सभी नारियाँ और सभी नर, धर्मशील थे संयम में रत।
सदाचारि, सु-प्रसन्न, शीलमय थे विचार में वे महर्षिवत् ॥ ९ ॥
कुण्डल, मुकुट, पुष्पहारों से भूषित अति वैभव से पूरित।
स्नायी, स्वच्छ, लिप्त चन्दन से, रहते सब जन वहाँ सुवासित ॥ १० ॥
और नहीं अपवित्र अन्न का भोजी या कोई था दाता।
संयमी, स्वर्ण-आभरणों से भूषित था प्रति जन दिखलाता ॥ ११ ॥
अग्निहोत्र-मख-विरत न कोई, चोरी और क्षुद्रता-हीन जन।
नहीं वर्णसंकर दिखता था सदाचारमय था जन-जीवन ॥ १२ ॥
कर्म-निरत थे विप्र जितेन्द्रिय स्वाध्याय करते थे नियमित।
करते यद्यपि दान सर्वथा, पर लेने में सदा संकुचित ॥ १३ ॥
द्विज न वहाँ था कोई नास्तिक, मिथ्यावादी, शास्त्र-ज्ञान बिन।
छिद्रान्वेषी और न विद्यायुत कोई भी था साधन बिन ॥ १४ ॥
छः अंगों सँग वेद-ज्ञान से, यहाँ न कोई जन था विहीन।
विपुल दान, फिर भी न शंक उर, ना दुखी, पंगु, विक्षिप्त दीन ॥ १५ ॥

कश्चिन्नरो वा नारी वा नाश्रीमान् नाप्यरूपवान् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नापि राजन्यभक्तिमान् ॥ १६ ॥
वर्णेष्वग्र्यचतुर्थेषु देवतातिथिपूजकाः ।
कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रमसंयुताः ॥ १७ ॥
दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यं च संश्रिताः ।
सहिताः पुत्रपौत्रैश्च नित्यं स्त्रीभिः पुरोत्तमे ॥ १८ ॥
क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः ।
शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः ॥ १९ ॥
सा तेनेक्ष्वाकुनाथेन पुरी सुपरिरक्षिता ।
यथा पुरस्तान्मनुना मानवेन्द्रेण धीमता ॥ २० ॥
योधानामग्निकल्पानां पेशलानाममर्षिणाम् ।
सम्पूर्णा कृतविद्यानां गुहा केसरिणामिव ॥ २१ ॥
काम्बोजविषये जातैर्वाह्लीकैश्च हयोत्तमैः ।
वनायुजैर्नदीजैश्च पूर्णा हरिहयोत्तमैः ॥ २२ ॥
विन्ध्यपर्वतजैर्मत्तैः पूर्णा हैमवतैरपि ।
मदान्वितैरतिबलैर्मातङ्गैः पर्वतोपमैः ॥ २३ ॥
ऐरावतकुलीनैश्च महापद्मकुलैस्तथा ।
अञ्जनादपि निष्क्रान्तैर्वामनादपि च द्विपैः ॥ २४ ॥
भद्रैर्मन्द्रैर्मृगैश्चैव भद्रमन्द्रमृगैस्तथा ।
भद्रमन्द्रैर्भद्रमृगैर्मृगमन्द्रैश्च सा पुरी ॥ २५ ॥
नित्यमत्तैः सदा पूर्णा नागैरचलसंनिभैः ।
सा योजने द्वे च भूयः सत्यनामा प्रकाशते ।
यस्यां दशरथो राजा वसञ्जगदपालयत् ॥ २६ ॥
तां पुरीं स महातेजा राजा दशरथो महान् ।
शशास शमितामित्रो नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥ २७ ॥

तां सत्यनामां दृढतोरणार्गलां
गृहैर्विचित्रैरुपशोभितां शिवाम् ।
पुरीमयोध्यां नृसहस्रसंकुलां
शशास वै शक्रसमो महीपतिः ॥ २८ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

कोई स्त्री या पुरुष अयोध्या में नहीं कान्ति से था वञ्चित।
रूप-रहित भी यहाँ न कोई और न राजभक्ति से विरहित॥ १६ ॥
चारों वर्णों के लोग यहाँ थे देव, अतिथि-पूजक कृतज्ञ।
अतिशय उदार थे शूरवीर, विक्रमी (तथा कर्तव्य-विज्ञ)॥ १७ ॥
थे दीर्घायु अयोध्यावासी, सब थे सत्य धर्म के आश्रित।
परिवार-सहित वे सुत, नारी, पौत्रादि सुखों से भी पूरित॥ १८ ॥
विप्र-अनुज्ञा में क्षत्रिय, क्षत्रिय-अधिकार वैश्य गण ऊपर।
शूद्र निरत निज कर्तव्यों पर, इन तीन वर्ण की सेवा कर॥ १९ ॥
नृप इक्ष्वाकु-प्रमुख श्री दशरथ, पुरी अयोध्या के थे रक्षक।
वैसे, जैसे मानवेन्द्र मनु थे पहले इसके संरक्षक॥ २० ॥
सम्मानित, दुर्धर्ष अग्नि-सम सरल तथा शस्त्रास्त्र-ज्ञानि वर।
योद्धाओं से नगरी रक्षित थी मानों सिंहों से गह्वर॥ २१ ॥
वाह्लीक, सिन्धु के दरियाई, काम्बोज वनायुज अति सुन्दर।
थे विविध भाँति के अश्व यहाँ, उच्चैःश्रवा-सम सब मनहर॥ २२ ॥
विन्ध्य, हिमालय में समुत्पन्न, पर्वत-सम उन्नत तथा बली।
उन्मत्त गजों से भरी हुई थी शुभा अयोध्या यह नगरी॥ २३ ॥
महापद्म, ऐरावत-वंशज, अञ्जन, वामन, दिग्गज-प्रगटित।
बहुत-बहुत गजराजों से थी पुरी अयोध्या अति परिपूरित॥ २४ ॥
भद्र, मन्द्र, मृग नामक गज थे तथा सुभद्र, मन्द्र, मृग-संकर।
भद्र-मन्द्र, भृग-भद्र, मन्द्र-मृग-संकर गज पर्वत-सम सुन्दर॥
इन पर्वत-सम मत्त गजों का दो योजन तक था अपूर्व बल।
यहाँ युद्ध कर सका न अरिदल, अतः अयोध्या नाम था सफल॥
इसी अयोध्या में नृप दशरथ करते रहे प्रजा का पालन।
इनकी नीति-निपुणता से ही, उत्तम रहा राज्य-सञ्चालन॥२५-२६॥
जैसे शशि नक्षत्र लोक के शासन में अत्यन्त धवल।
वैसे ही रिपु-शामक दशरथ, रहे अयोध्या नृपति अति प्रबल॥ २७ ॥
सफल सत्य था नाम अयोध्या, जिसका अनुपम अमित अपार।
सभी अर्गला से रक्षित थे जिसके सुदृढ़ दिव्यतम द्वार॥
जिसमें भवन विचित्र सहस्रों थे पुरवासी कई हजार।
इन्द्र-सदृश न्यायी श्री दशरथ, उसके शासक थे समुदार॥ २८ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
छठा सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

तस्यामात्या गुणैरासन्निक्ष्वाकोः सुमहात्मनः ।
मन्त्रज्ञाश्चेङ्गितज्ञाश्च नित्यं प्रियहिते रताः ॥ १ ॥
अष्टौ बभूवुर्वीरस्य तस्यामात्या यशस्विनः ।
शुचयश्चानुरक्ताश्च राजकृत्येषु नित्यशः ॥ २ ॥
धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः ।
अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽर्थवित् ॥ ३ ॥
ऋत्विजौ द्वावभिमतौ तस्यास्तामृषिसत्तमौ ।
वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिणश्च तथापरे ॥ ४ ॥
सुयज्ञोऽप्यथ जाबालिः काश्यपोऽप्यथ गौतमः ।
मार्कण्डेयस्तु दीर्घायुस्तथा कात्यायनो द्विजः ॥ ५ ॥
एतैर्ब्रह्मर्षिभिर्नित्यमृत्विजस्तस्य पौर्वकाः ।
विद्याविनीता ह्रीमन्तः कुशला नियतेन्द्रियाः ॥ ६ ॥
श्रीमन्तश्च महात्मानः शस्त्रज्ञा दृढविक्रमाः ।
कीर्तिमन्तः प्रणिहिता यथावचनकारिणः ॥ ७ ॥
तेजः क्षमायशःप्राप्ताः स्मितपूर्वाभिभाषिणः ।
क्रोधात् कामार्थहेतोर्वा न ब्रूयुरनृतं वचः ॥ ८ ॥
तेषामविदितं किंचित् स्वेषु नास्ति परेषु वा ।
क्रियमाणं कृतं वापि चारेणापि चिकीर्षितम् ॥ ९ ॥
कुशला व्यवहारेषु सौहृदेषु परीक्षिताः ।
प्राप्तकालं यथा दण्डं धारयेयुः सुतेष्वपि ॥ १० ॥
कोशसंग्रहणे युक्ता बलस्य च परिग्रहे ।
अहितं चापि पुरुषं न हिंस्युरविदूषकम् ॥ ११ ॥
वीराश्च नियतोत्साहा राजशास्त्रमनुष्ठिताः ।
शुचीनां रक्षितारश्च नित्यं विषयवासिनाम् ॥ १२ ॥
ब्रह्मक्षत्रमहिंसन्तस्ते कोशं समपूरयन् ।
सुतीक्ष्णदण्डाः सम्प्रेक्ष्य पुरुषस्य बलाबलम् ॥ १३ ॥
शुचीनामेकबुद्धीनां सर्वेषां सम्प्रजानताम् ।
नासीत्पुरे वा राष्ट्रे वा मृषावादी नरः क्वचित् ॥ १४ ॥
क्वचिन्न दुष्टस्तत्रासीत् परदाररतिर्नरः ।
प्रशान्तं सर्वमेवासीद् राष्ट्रं पुरवरं च तत् ॥ १५ ॥
सुवाससः सुवेषाश्च ते च सर्वे शुचिव्रताः ।
हितार्थाश्च नरेन्द्रस्य जाग्रतो नयचक्षुषा ॥ १६ ॥

सातवाँ सर्ग

राजमन्त्रियों के गुण और नीति का वर्णन

इक्ष्वाकु-वंशि दशरथ-सुमंत्रिगण मन्त्रमनोगति-ज्ञाता थे।
तन-मुद्रा से मन का अंकन, सदा राज-हित के धाता थे॥ १ ॥
अष्टमंत्रि-मण्डल, शासन में वे सक्षम, कुशल मनस्वी थे।
वीर, सदाचारी, विशुद्ध, उर हित-राजा-प्रजा, यशस्वी थे॥ २ ॥
धृष्टि, जयन्त, सुराष्ट्र, विजयप्रिय और राष्ट्रवर्धन थे पञ्चम।
अर्थनीतियुत धमपाल, सुविदित सुमन्त्र मुनि-अकोप सक्षम॥ ३ ॥
थे महर्षिवर श्री वशिष्ठ औ वामदेव जी इनके प्रोहित।
तथा सहायक भी कुछ मन्त्री थे राजा के बुद्धि-विमण्डित॥ ४ ॥
गौतम, काश्यप, जाबालि, सुयश, मार्कण्डेय दीर्घायु तथैव।
और महात्मन कात्यायन दशरथ के ये भी हितकर सदैव॥ ५ ॥
ब्रह्मर्षियों-साथ करते थे, मन्त्रि-कार्य ये सभी विज्ञवर।
विद्या-नम्र, सलज्ज, कुशल अति, विजितेन्द्रिय ऋत्विज भी मिलकर॥
वे थे श्री-सम्पन्न महात्मा, दृढ़ विक्रमी, शस्त्र-सञ्चालक।
कीर्तिमान, प्राणि-हितकर अति, राजाज्ञा के सब विधि पालक॥
थे तेजस्वी, क्षमाशील ये विहसित मुख करते थे वार्ता।
काम, क्रोध या कभी स्वार्थ-वश मिथ्या वचन न इनको भाता॥ ६-८ ॥
अपनी और विपक्षी-गति-विधि के ज्ञाता थे वे विशेषकर।
भूत, भविष्यत, वर्तमान के भेद बताते इन्हें गुप्तचर॥ ९ ॥
वे व्यवहार-कुशल थे, उनका होता था सौहार्द-परीक्षण।
अवसर पर अपने सुत को भी देते थे ये दण्ड विलक्षण॥ १० ॥
कोष और सेना-संग्रह में सदा सभी रहते थे तत्पर।
निरपराध रिपु की भी हिंसा, इन्हें नहीं थी कभी सुरुचिकर॥ ११ ॥
उनमें थे उत्साह-शौर्य गुण, वे थे राजनीति-अनुगामी।
रक्षित रहते थे उनसे सब— प्रजा, राज्य के सत-अनुगामी॥ १२ ॥
विप्र, क्षत्रियों को न कष्ट दे, न्यायोचित करते धन अर्जन।
अपराधी बल-अबल देखकर, करते सदा दण्ड का मण्डन॥ १३ ॥
शुद्ध-स्वभाव-विचारक थे वे, रहते थे जन-जन से परिचित।
नहीं राष्ट्र में कोई भी था मिथ्यावादी औ असत्य-चित॥ १४ ॥
वहाँ न कोई दुष्ट और था पर-नारी-लम्पट रह पाता।
राष्ट्र, नगर का परम शान्तिमय, वातावरण मनोहर भाता॥ १५ ॥
स्वच्छ वस्त्र, सुन्दरवेषी वे करते थे उत्तम व्रत पालन।
राज्य-हितैषी, सजग, नीतिमय नयनों से करते संचालन॥ १६ ॥

गुरोर्गुणगृहीताश्च प्रख्याताश्च पराक्रमैः।
विदेशेष्वपि विज्ञाताः सर्वतो बुद्धिनिश्चयाः ॥ १७ ॥
अभितो गुणवन्तश्च न चासन् गुणवर्जिताः।
संधिविग्रहतत्त्वज्ञाः प्रकृत्या सम्पदान्विताः ॥ १८ ॥
मन्त्रसंवरणे शक्ताः शक्ताः सूक्ष्मासु बुद्धिषु।
नीतिशास्त्रविशेषज्ञाः सततं प्रियवादिनः ॥ १९ ॥
ईदृशैस्तैरमात्यैश्च राजा दशरथोऽनघः।
उपपन्नो गुणोपेतैरन्वशासद् वसुन्धराम् ॥ २० ॥
अवेक्षमाणश्चारेण प्रजा धर्मेण रक्षयन्।
प्रजानां पालनं कुर्वन्नधर्मं परिवर्जयन् ॥ २१ ॥
विश्रुतस्त्रिषु लोकेषु वदान्यः सत्यसंगरः।
स तत्र पुरुषव्याघ्रः शशास पृथिवीमिमाम् ॥ २२ ॥
नाध्यगच्छद्विशिष्टं वा तुल्यं वा शत्रुमात्मनः।
मित्रवान्नतसामन्तः प्रतापहतकण्टकः।
स शशास जगद् राजा दिवि देवपतिर्यथा ॥ २३ ॥

तैर्मन्त्रिभिर्मन्त्रहिते निविष्टै-
र्वृतोऽनुरक्तैः कुशलैः समर्थैः।
स पार्थिवो दीप्तिमवाप युक्त-
स्तेजोमयैर्गोभिरिवोदितोऽर्कः ॥ २४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

तस्य चैवंप्रभावस्य धर्मज्ञस्य महात्मनः।
सुतार्थं तप्यमानस्य नासीद् वंशकरः सुतः ॥ १ ॥
चिन्तयानस्य तस्यैवं बुद्धिरासीन्महात्मनः।
सुतार्थं वाजिमेधेन किमर्थं न यजाम्यहम् ॥ २ ॥
स निश्चितां मतिं कृत्वा यष्टव्यमिति बुद्धिमान्।
मन्त्रिभिः सह धर्मात्मा सर्वैरपि कृतात्मभिः ॥ ३ ॥
ततोऽब्रवीन्महातेजाः सुमन्त्रं मन्त्रिसत्तम।
शीघ्रमानय मे सर्वान् गुरूंस्तान् सपुरोहितान् ॥ ४ ॥

गुण में गुरु-समान विक्रमयुत दूर विदेशों तक प्रसिद्धि थी।
नृप के प्रिय, निर्णय लेने मे नीर-क्षीरवत् प्रखर बुद्धि थी॥ १७ ॥
देश-काल सर्वदा गुणागर, कभी न विफल संधि-विग्रह में।
धर्म-नीति में कुशल सहज ही भाग्यवान् दवी सपति में॥ १८ ॥
राज-मन्त्रणा-सदा गुप्त रख, सूक्ष्मविषय-विचार में पटुतर।
नीतिशास्त्र के विशेषज्ञ वे, वार्ता करने में अति मनहर॥ १९ ॥
ऐसे गुणी मन्त्रियों के सँग, रह दशरथ निष्पाप नृपतिवर।
भूमण्डल का शासन करते थे विधिवत विवेकमय होकर॥ २० ॥
अपने तथा विपक्षि वर्ग के गुप्तचरों से वृत्त जानकर।
धर्मपूर्वक प्रजा पालते थे अधर्म को सदा त्यागकर॥ २१ ॥
सत्यप्रतिज्ञ, उदार सर्वथा, पुरुष-सिंह दशरथ नरेशवर।
त्रिभुवन-ख्यात, अयोध्या में रह, करते थे शासन पृथ्वी पर॥ २२ ॥
उन्हें न अपना-सा या बढ़कर शत्रु न कोई मिला अभी तक।
उनके मित्र बहुत थे औ सामन्त झुकाते पद पर मस्तक॥
अतुल प्रताप! न देश न बाहर (चोर न रिपु) कण्टक रह पाया।
इन्द्र-सदृश इस पुरी अयोध्या का दशरथ ने राज्य चलाया॥ २३ ॥
इनके मन्त्री गुप्त मन्त्रणा को रखते थे सदा छिपाकर।
अनुरागी थे राजा के प्रति सकुशल-कार्य शक्ति के सागर॥
तेजोमयी किरण से छादित होता ज्यों जाजुल्य प्रभाकर।
वैसे ही शोभित होते थे दशरथ मन्त्रि-मध्य में रहकर॥ २४ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड मे
सातवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

आठवाँ सर्ग

राजा का पुत्र के लिए अश्वमेध यज्ञ करने का प्रस्ताव और मन्त्रियों तथा ब्राह्मणों द्वारा उनका अनुमोदन

सर्वधर्मविद् परम महात्मा दशरथ का अतिशय प्रभाव था।
केवल वंश चलानेवाले सुत का ही उनको अभाव था॥ १ ॥
कभी मनस्वी चिन्तित नृप के मन में आया यह विचार तव।
पुत्र-प्राप्ति हित अश्वमेध का अनुष्ठान शुभ क्यों न करूँ अव॥ २ ॥
शुद्ध-बुद्धि वर सभी मन्त्रियों से मिलकर फिर परामर्श कर।
कार्य-सिद्धि होगी सुयज्ञ से, पहुँचे नृपति इसी निश्चय पर॥ ३ ॥
अति तेजस्वी धर्मात्मा ने प्रिय सुमन्त्र को तभी बुलाया।
सभी गुरुजनों, पुरोहितों को लाने का प्रस्ताव सुनाया॥ ४ ॥

ततः सुमन्त्रस्त्वरितं गत्वा त्वरितविक्रमः।
समानयत् स तान् सर्वान् समस्तान् वेदपारगान् ॥ ५ ॥
सुयज्ञं वामदेवं च जाबालिमथ काश्यपम्।
पुरोहितं वसिष्ठं च ये चाप्यन्ये द्विजोत्तमाः ॥ ६ ॥
तान् पूजयित्वा धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा।
इदं धर्मार्थसहितं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥
मम लालप्यमानस्य सुतार्थं नास्ति वै सुखम्।
तदर्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम ॥ ८ ॥
तदहं यष्टुमिच्छामि शास्त्रदृष्टेन कर्मणा।
कथं प्राप्स्याम्यहं कामं बुद्धिरत्र विचिन्त्यताम् ॥ ९ ॥
ततः साध्विति तद्वाक्यं ब्राह्मणाः प्रत्यपूजयन्।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे पार्थिवस्य मुखेरितम् ॥ १० ॥
ऊचुश्च परमप्रीताः सर्वे दशरथं वचः।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम् ॥ ११ ॥
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम्।
सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रानभिप्रेतांश्च पार्थिव ॥ १२ ॥
यस्य ते धार्मिकी बुद्धिरियं पुत्रार्थमागता।
ततस्तुष्टोऽभवद् राजा श्रुत्वैतद् द्विजभाषितम् ॥ १३ ॥
अमात्यानब्रवीद् राजा हर्षव्याकुललोचनः।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां मे गुरूणां वचनादिह ॥ १४ ॥
समर्थाधिष्ठितश्चाश्वः सोपाध्यायो विमुच्यताम्।
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ॥ १५ ॥
शान्तयश्चापि वर्धन्तां यथाकल्पं यथाविधि।
शक्यः प्राप्तुमयं यज्ञः सर्वेणापि महीक्षिता ॥ १६ ॥
नापराधो भवेत् कष्टो यद्यस्मिन् क्रतुसत्तमे।
छिद्रं हि मृगयन्ते स्म विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः ॥ १७ ॥
विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति।
तद्यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते ॥ १८ ॥
तथा विधानं क्रियतां समर्थाः साधनेष्विति।
तथेति चाब्रुवन् सर्वे मन्त्रिणः प्रतिपूजिताः ॥ १९ ॥
पार्थिवेन्द्रस्य तद् वाक्यं यथापूर्वं निशम्य ते।
तथा द्विजास्ते धर्मज्ञा वर्धयन्तो नृपोत्तमम् ॥ २० ॥
अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जग्मुर्यथागतम्।
विसर्जयित्वा तान् विप्रान् सचिवानिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

विक्रमशील सुमन्त्र शीघ्र ही वेद-पारगों के निवास पर।
जाकर उन मुनियों को लाये, राजभवन में सत्वर सादर ॥ ५ ॥
वामदेव, जाबालि विज्ञवर काश्यप, श्री वशिष्ठ कुल-प्रोहित।
उत्तम ब्राह्मण सभी पधारे श्री सुयज्ञ आचार्य के सहित ॥ ६ ॥
धर्मात्मा दशरथ ने उनका, भली-भाँति से करके पूजन।
उनसे धर्म-अर्थ-युत उत्तम बोले हो कर नम्र सद्वचन ॥ ७ ॥
सुख न बिना सुत, अतः क्लेशमय पुत्र-प्राप्ति हित करता चिन्तन।
निश्चय किया अतः समुचित अब अश्वमेध का करूँ मैं यजन ॥ ८ ॥
इच्छा है शास्त्रोक्त नियम से करूँ यज्ञ मैं होकर अविचल।
अतः विचारें यहाँ आप सब कैसे पाऊँ मैं वाञ्छित फल ॥ ९ ॥
तब वशिष्ठ आदिक विप्रों नें नृप के समुचित वचन श्रवण कर।
बोले, नृपवर ! बहुत ठीक है, अश्वमेध है सब विधि सुन्दर ॥ १० ॥
सब मुनि मुदित हृदय से बोले, नृप ! हो सब सामग्री-सग्रह।
छोड़ें अश्व, प्रथम विचरण को भू-मण्डल पर भ्रमण करे वह ॥ ११ ॥
यज्ञ-भूमि-निर्माण करायें, श्री सरयू के उत्तर-तट पर।
सविधि शास्त्र-सम्मत विधि से कर, निश्चय पाएँगे, वाञ्छित वर ॥ १२ ॥
क्योंकि आपके मन में सुत-हित धार्मिक बुद्धि हुई है समुदित।
मुनीश्वरों के वचन श्रवण कर, राजा हुए बहुत ही प्रमुदित ॥ १३ ॥
चञ्चल दृष्टि, मुदित नरपति ने कहा मन्त्रियों से सुयज्ञ हित।
गुरुजन की आज्ञानुसार सब, सामग्रियाँ करें एकत्रित ॥ १४ ॥
उपाध्याय सँग, वीर जनों के सरक्षण में अश्व-विमोचन।
शीघ्र करें सरयू के उत्तर-तट पर यज्ञ-भूमि का विरचन ॥ १५ ॥
शास्त्रों के अनुसार विप्रवर ! शान्तिकर्म का हो आयोजन।
हो पाता निर्विघ्न यज्ञ तो करते सहज सकल भूपतिगण ॥ १६ ॥
किन्तु असम्भव है, ऐसे में हो न वहाँ कुछ विघ्न उपस्थित।
क्योंकि ब्रह्मराक्षस सुविज्ञ खोजते कुअवसर सदा विघ्न-हित ॥ १७ ॥
विधि से हीन यज्ञकर्ता का होता है तत्काल अमंगल।
अतः विघ्न से रहित यज्ञ यह, मंगलमय सब भाँति हो सफल ॥ १८ ॥
आप सभी सामर्थ्यवान हैं मख-साधन करनें में समुचित।
मन्त्री बोले, आप कह रहे जैसा, वैसा होगा निश्चित ॥ १९ ॥
सभी मन्त्रियों ने भूपति के उक्त वचन का क्रिया समर्थन।
साधुवाद विप्रों ने नृप को, दिये तभी होकर प्रसन्न मन ॥ २० ॥
अनुमति लेकर श्री दशरथ से, लौटे वे निज-निज आश्रम को।
उन्हें विदा कर, नृप ने फिर से समझाया अपने सचिवों को ॥ २१ ॥

ऋत्विग्भिरुप संदिष्टो यथावत् क्रतुराप्यताम् ।
इत्युक्त्वा नृपशार्दूलः सचिवान् समुपस्थितान् ॥ २२ ॥
विसर्जयित्वा स्वं वेश्म प्रविवेश महामतिः ।
ततः स गत्वा ताः पत्नीर्नरेन्द्रो हृदयंगमाः ॥ २३ ॥
उवाच दीक्षां विशत यक्ष्येऽहं सुतकारणात् ।
तासां तेनातिकान्तेन वचनेन सुवर्चसाम् ।
मुखपद्मान्यशोभन्त पद्मानीव हिमात्यये ॥ २४ ॥
॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

एतच्छ्रुत्वा रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत् ।
श्रूयतां तत् पुरावृत्तं पुराणे च मया श्रुतम् ॥ १ ॥
ऋत्विग्भिरुपदिष्टोऽयं पुरावृत्तो मया श्रुतः ।
सनत्कुमारो भगवान् पूर्वं कथितवान् कथाम् ॥ २ ॥
ऋषीणां संनिधौ राजंस्तव पुत्रागमं प्रति ।
काश्यपस्य च पुत्रोऽस्ति विभाण्डक इति श्रुतः ॥ ३ ॥
ऋष्यशृङ्ग इति ख्यातस्तस्य पुत्रो भविष्यति ।
स वने नित्यसंवृद्धो मुनिर्वनचरः सदा ॥ ४ ॥
नान्यं जानाति विप्रेन्द्रो नित्यं पित्रनुवर्तनात् ।
द्वैविध्यं ब्रह्मचर्यस्य भविष्यति महात्मनः ॥ ५ ॥
लोकेषु प्रथितं राजन् विप्रैश्च कथितं सदा ।
तस्यैवं वर्तमानस्य कालः समभिवर्तत ॥ ६ ॥
अग्निं शुश्रूषमाणस्य पितरं च यशस्विनम् ।
एतस्मिन्नेव काले तु रोमपादः प्रतापवान् ॥ ७ ॥
अङ्गेषु प्रथितो राजा भविष्यति महाबलः ।
तस्य व्यतिक्रमाद् राज्ञो भविष्यति सुदारुणा ॥ ८ ॥
अनावृष्टिः सुघोरा वै सर्वलोकभयावहा ।
अनावृष्ट्यां तु वृत्तायां राजा दुःखसमन्वितः ॥ ९ ॥
ब्राह्मणाञ्छ्रुतसंवृद्धान् समानीय प्रवक्ष्यति ।
भवन्तः श्रुतकर्माणो लोकचारित्रवेदिनः ॥ १० ॥
समादिशन्तु नियमं प्रायश्चित्तं यथा भवेत् ।
इत्युक्तास्ते ततो राज्ञा सर्वे ब्राह्मणसत्तमाः ॥ ११ ॥

ऋत्विज-वचन ध्यान में रख उद्यम सब करें यज्ञ-हित सुन्दर।
सचिवों को भी विदा कर दिया, नृपति सिंह ने ऐसा कहकर ॥ २२ ॥
सचिवों को कर विदा, नृपति तब आये अपने राजभवन में।
बोले सभी रानियों से वे (कौतूहल भरकर अति मन में) ॥ २३ ॥
दीक्षित हो देवियो ! सभी अब, यज्ञ करेंगे हम सुत के हित।
नृप-वाणी सुन, तब उनके मुख, हुए वसन्त-कमल सम विकसित ॥ २४ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
आठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८ ॥

नवाँ सर्ग

सुमन्त्र का राजा को ऋष्यशृंग मुनि को बुलाने की सलाह देते हुए उनके अंगदेश में जाने और शान्ता से विवाह करने का प्रसंग सुनाना

ये बातें सुनकर सुमन्त्र बोले नृप से एकान्त प्राप्त कर।
वृत्त एक पौराणिक मैंने सुना, आप भी सुनिये, नृपवर ! ॥ १ ॥
सभी ऋत्विजों ने सुत-दायक इस मख की महिमा बतलाई।
फिर भी सनत्कुमार मुनीश्वर ने अतीत की कथा सुनाई ॥
ऋषि-मण्डल में कथित कथा यह है भवदीय वृत्त-सम्बन्धित।
काश्यप ऋषि के पुत्र विभाण्डक हैं विख्यात तथा जग-वन्दित ॥ २-३ ॥
इनके भी होंगे सुपुत्र जो ऋष्यशृंग वे कहलाएँगे।
वे वन में ही वास करेंगे, वन में वयस्क हो जाएँगे ॥ ४ ॥
संग अकेला पितु का पाकर सब समाज से निपट अपरिचित।
द्विविध ब्रह्मचर्य-पालन में अपने को रक्खेंगे नियमित ॥ ५ ॥
दो प्रकार से ब्रह्मचर्य का विप्रों द्वारा है प्रतिपादन।
उनका ये सर्वथा करेंगे सभी समय में विधि से पालन ॥
होगा समय व्यतीत अग्नि औ तपसी पितु-सेवा में इनका।
होंगे नृप तब एक, नाम शुभ रोमपाद यह होगा जिनका ॥ ६-७ ॥
अग देश में जन्मे, वे नृप बली, प्रतापी होंगे अतिशय।
उनके धर्म-व्यतिक्रम से ही होगा वहाँ उपस्थित अतिभय ॥ ८ ॥
अनावृष्टि घनघोर वहाँ सब प्राणिमात्र के लिए कष्टकर।
होंगे अतिशय नृपति दुखी वे ऐसी अनावृष्टि को लखकर ॥ ९ ॥
शास्त्रविज्ञ विप्रों को तब वे नृपति कहेंगे पास बुलाकर।
वेद-शास्त्र-पारगत विप्रो ! लोक-धर्म सब गुण के आकर ॥ १० ॥
अतः बताएँ मुझे पाप का प्रायश्चित्त आज कुछ उत्तम।
राजा के ऐसा कहने पर तब वे वेदपारगी सक्षम ॥ ११ ॥

वक्ष्यन्ति ते महीपालं ब्राह्मणा वेदपारगाः।
विभाण्डकसुतं राजन् सर्वोपायैरिहानय ॥ १२ ॥
आनाय्य तु महीपाल ऋष्यशृङ्गं सुसत्कृतम्।
विभाण्डकसुतं राजन् ब्राह्मणं वेदपारगम्।
प्रयच्छ कन्यां शान्तां वै विधिना सुसमाहितः ॥ १३ ॥
तेषां तु वचनं श्रुत्वा राजा चिन्तां प्रपत्स्यते।
केनोपायेन वै शक्यमिहानेतुं स वीर्यवान् ॥ १४ ॥
ततो राजा विनिश्चित्य सह मन्त्रिभिरात्मवान्।
पुरोहितममात्यांश्च प्रेषयिष्यति सत्कृतान् ॥ १५ ॥
ते तु राज्ञो वचः श्रुत्वा व्यथिता विनताननाः।
न गच्छेम ऋषेर्भीता अनुनेष्यन्ति तं नृपम् ॥ १६ ॥
वक्ष्यन्ति चिन्तयित्वा ते तस्योपायांश्च तान् क्षमान्।
आनेष्यामो वयं विप्रं न च दोषो भविष्यति ॥ १७ ॥
एवमङ्गाधिपेनैव गणिकाभिर्ऋषेः सुतः।
आनीतोऽवर्षयद् देवः शान्ता चास्मै प्रदीयते ॥ १८ ॥
ऋष्यशृङ्गस्तु जामाता पुत्रांस्तव विधास्यति।
सनत्कुमारकथितमेतावद् व्याहृतं मया ॥ १९ ॥
अथ हृष्टो दशरथः सुमन्त्रं प्रत्यभाषत।
यथर्ष्यशृङ्गस्त्वानीतो येनोपायेन सोच्यताम् ॥ २० ॥
॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

सुमन्त्रश्चोदितो राज्ञा प्रोवाचेदं वचस्तदा।
यथर्ष्यशृङ्गस्त्वानीतो येनोपायेन मन्त्रिभिः।
तन्मे निगदितं सर्वं शृणु मे मन्त्रिभिः सह ॥ १ ॥
रोमपादमुवाचेदं सहामात्यः पुरोहितः।
उपायो निरपायोऽयमस्माभिरभिचिन्तितः ॥ २ ॥
ऋष्यशृङ्गो वनचरस्तपःस्वाध्यायसंयुतः।
अनभिज्ञस्तु नारीणां विषयाणां सुखस्य च ॥ ३ ॥

तब देंगे मन्त्रणा नृपति को वेद-पारगी सकल विप्रवर।
राजन् ! पुत्र विभाण्डक के हैं ऋष्यश्रृंग जी वेद-ज्ञानिवर ।।
सभी उपायों से उनको ही लायें, नृपवर ! यहाँ बुलाकर।
उन विद्वद्वर के आने पर, उनका करें सर्वथा आदर ।।
जब विद्वद्वर यहाँ पधारें, भलीभाँति सत्कार कीजिए।
और वेद-विधि से शान्ता को शुभ विवाह में उन्हें दीजिए ।।१२-१३।।
यह सुनकर नृप रोमपाद को होगा अति चिन्ता का अनुभव।
उन महर्षि को किस उपाय से यहाँ बुलाना होगा सम्भव ।। १४ ।।
फिर वे महामनस्वी नृपवर, निज सचिवों के संग निश्चय कर।
वहाँ मन्त्रियों, पुरोहितों को भेजेंगे उनका आदर कर ।। १५ ।।
नृप-वार्ता सुन सचिव, पुरोहित, विनय करेंगे दुखित हृदय से।
हम न जायँगे वहाँ नृपतिवर, ऋषि के तेज-तपस्या-भय से ।। १६ ।।
फिर सोचा, नृप से वे बोले चिन्तन से उपाय पाने पर।
दोष न होगा, उन ऋषिवर को यहाँ किसी विधि से लाने पर ।। १७ ।।
वेश्याओं की सहायता से मुनि को अंग देश लायेंगे।
शान्ता सुता करेंगे अर्पित और इन्द्र जल बरसायेंगे ।। १८ ।।
सनत्कुमार-कथित— अंगप के होंगे ऋष्यश्रृंग जामाता।
और उन्हीं के पुत्र-यज्ञ के, होंगे निश्चय वही विधाता ।। १९ ।।
अतिप्रसन्न दशरथ सुमन्त्र से बोले, वे ऋषि कैसे आये ?।
करें स्पष्ट, यह किस उपाय से रोमपाद थे उनको लाये ? ।। २० ।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड मे
नवाँ सर्ग समाप्त ।। ९ ।।

दसवाँ सर्ग

अंग देश में ऋष्यश्रृंग के आने तथा शान्ता के साथ विवाह होने के प्रसंग का विस्तार के साथ वर्णन

तब सुमन्त्र बोले नृप से, उन रोमपाद के सचिवों द्वारा।
लाये गये मुनीश्वर जैसे वह उपाय था अतिशय न्यारा ।।
सुना रहा सुस्पष्ट रूप में, सुनें भूप ! मन्त्रियों-सहित सब।
(रोमपाद से सचिवों के सँग, बोले विज्ञ पुरोहित वर तब) ।।
महाराज ! हम सब लोगों को एक उपाय समझ में आया।
सम्भव नहीं, पड़े उसमें कुछ विघ्न और बाधा की छाया ।। १-२ ।।
ऋष्यश्रृंग को वन में रह, स्वाध्याय और तप ही बस सम्भव।
वे हैं स्त्री से परम अपरिचित, विषय-राग का तनिक न अनुभव ।। ३ ।।

इन्द्रियार्थैरभिमतैर्नरचित्तप्रमाथिभिः ।
पुरमानाययिष्यामः क्षिप्रं चाध्यवसीयताम् ॥ ४ ॥
गणिकास्तत्र गच्छन्तु रूपवत्यः स्वलंकृताः ।
प्रलोभ्य विविधोपायैरानेष्यन्तीह सत्कृताः ॥ ५ ॥
श्रुत्वा तथेति राजा च प्रत्युवाच पुरोहितम् ।
पुरोहितो मन्त्रिणश्च तदा चक्रुश्च ते तथा ॥ ६ ॥
वारमुख्यास्तु तच्छ्रुत्वा वनं प्रविविशुर्महत् ।
आश्रमस्याविदूरेऽस्मिन् यत्नं कुर्वन्ति दर्शने ॥ ७ ॥
ऋषेः पुत्रस्य धीरस्य नित्यमाश्रमवासिनः ।
पितुः स नित्यसंतुष्टो नातिचक्राम चाश्रमात् ॥ ८ ॥
न तेन जन्मप्रभृति दृष्टपूर्वं तपस्विना ।
स्त्री वा पुमान् वा यच्चान्यत् सत्त्वं नगरराष्ट्रजम् ॥ ९ ॥
ततः कदाचित् तं देशमाजगाम यदृच्छया ।
विभाण्डकसुतस्तत्र ताश्चापश्यद् वराङ्गनाः ॥ १० ॥
ताश्चित्रवेषाः प्रमदा गायन्त्यो मधुरस्वरम् ।
ऋषिपुत्रमुपागम्य सर्वा वचनमब्रुवन् ॥ ११ ॥
कस्त्वं किं वर्तसे ब्रह्मञ्ज्ञातुमिच्छामहे वयम् ।
एकस्त्वं विजने दूरे वने चरसि शंस नः ॥ १२ ॥
अदृष्टरूपास्तास्तेन काम्यरूपा वने स्त्रियः ।
हार्दात्तस्य मतिर्जाता आख्यातुं पितरं स्वकम् ॥ १३ ॥
पिता विभाण्डकोऽस्माकं तस्याहं सुत औरसः ।
ऋष्यशृङ्ग इति ख्यातं नाम कर्म च मे भुवि ॥ १४ ॥
इहाश्रमपदोऽस्माकं समीपे शुभदर्शनाः ।
करिष्ये वोऽत्र पूजां वै सर्वेषां विधिपूर्वकम् ॥ १५ ॥
ऋषिपुत्रवचः श्रुत्वा सर्वासां मतिरास वै ।
तदाश्रमपदं द्रष्टुं जग्मुः सर्वास्ततोऽङ्गनाः ॥ १६ ॥
गतानां तु ततः पूजामृषिपुत्रश्चकार ह ।
इदमर्घ्यमिदं पाद्यमिदं मूलं फलं च नः ॥ १७ ॥
प्रतिगृह्य तु तां पूजां सर्वा एव समुत्सुकाः ।
ऋषेर्भीताश्च शीघ्रं तु गमनाय मतिं दधुः ॥ १८ ॥
अस्माकमपि मुख्यानि फलानीमानि हे द्विज ।
गृहाण विप्र भद्रं ते भक्षयस्व च मा चिरम् ॥ १९ ॥
ततस्तास्तं समालिङ्ग्य सर्वा हर्षसमन्विताः ।
मोदकान् प्रददुस्तस्मै भक्ष्यांश्च विविधाञ्छुभान् ॥ २० ॥

सभी नरों का मन मथता है जो यह मनमथ विषय-प्रलोभन।
यत्न करें, वे आ पाएँगे उससे यहाँ, छोड़कर उपवन ॥ ४ ॥
सादर भेजें गणिकाओं को अनुपम भूषण-वसन-सुसज्जित।
विविध उपायों से उनको वे, लायेंगी करके आकर्षित ॥ ५ ॥
कहा पुरोहित से राजा ने अच्छा! करे यही तैयारी।
अस्तु पुरोहित, सचिवों ने की इसकी शीघ्र व्यवस्था सारी ॥ ६ ॥
प्रमुख-प्रमुख तब कुछ वेश्याएँ, राजाज्ञा से जाकर वन में।
आश्रम के कुछ पास रुक गयो, ऋषि-दर्शन-प्रयत्न रख मन में ॥ ७ ॥
धीर विभाण्डक-सुत आश्रम मे, पास पिता के ही सुख पाते।
अतः कभी भी वे आश्रम से बाहर कही नही थे जाते ॥ ८ ॥
जन्म-समय से पिता तथा तप से हो सम्बन्ध रहा इनका।
पितु के सिवा न दर्शन उनका अन्य जीव या नर-नारी का ॥ ९ ॥
वहाँ मुनीश्वर ऋष्यशृग का अकस्मात् हो गया आगमन।
और सुन्दरी वेश्याओं के उनको हुए मनोहर दर्शन ॥ १० ॥
वेश, वचन, वाणी अति सुन्दर गायन मधुर अतोव मनोहर।
उनको आया हुआ देखकर, लगीं पूछने समीप आकर ॥ ११ ॥
आप कौन हैं? क्या करते हैं? आश्रम-तज क्यों निर्जन वन में?।
शीघ्र बनाएँ, उत्सुकता है, ब्रह्मन्! हम सबके ही मन में ॥ १२ ॥
पहले ही देखा मुनिवर ने जब यह नारी-रूप नवोत्तम।
स्नेहिल होकर लगे सोचने, परिचय पूज्य पिता का दें हम ॥ १३ ॥
बोले पिता विभाण्डक मुनि हैं मेरे वेद, शास्त्र-विद्वद्वर।
मैं उनका ही औरस सुत हूँ, ऋष्यशृंग नामक अवनी पर ॥ १४ ॥
मेरा आश्रम यहीं पास है, आप सभी हैं अतिशय सुन्दर।
वहीं चलें सत्कृत होने को हुए आपके दर्शन शुभकर ॥ १५ ॥
ऋषि-कुमार की वार्ता सुनकर, हुईं सभी वेश्याएँ सहमत।
गई देखने वे आश्रम को, ऋष्यशृग की हो अभ्यागत ॥ १६ ॥
अर्घ्य और पाद्यादिक से तब किया ऋषीश्वर-सुत ने अर्चन।
भोजन के हित किये उन्होंने उनको कन्द-मूल फल अर्पन ॥ १७ ॥
वे ऋषि की पूजा स्वीकृत कर, उनके पिता विभाण्डक-भय से।
उत्सुक हुई लौट जाने को, शीघ्र तपस्वी के आलय से ॥ १८ ॥
बोलीं वे, हैं पास हमारे भी फल मधुर और अति रुचिकर।
हो कल्याण आपका, इनको भी स्वीकार करें मुनि! सत्वर ॥ १९ ॥
ऐसा कह, ऋषि का आलिंगन किया सभी ने होकर हर्षित।
तथा विविध मिष्टान्न आदि भी, उन ऋषिवर को किये समर्पित ॥ २० ॥

तानि चास्वाद्य तेजस्वी फलानीति स्म मन्यते ।
अनास्वादितपूर्वाणि वने नित्यनिवासिनाम् ॥ २१ ॥

आपृच्छ्य च तदा विप्रं व्रतचर्यां निवेद्य च ।
गच्छन्ति स्मापदेशात्ता भीतास्तस्य पितुः स्त्रियः ॥ २२ ॥

गतासु तासु सर्वासु काश्यपस्यात्मजो द्विजः ।
अस्वस्थहृदयश्चासीद् दुःखाच्च परिवर्तते ॥ २३ ॥

ततोऽपरेद्युस्तं देशमाजगाम स वीर्यवान् ।
विभाण्डकसुतः श्रीमान् मनसाचिन्तयन्मुहुः ॥ २४ ॥

मनोज्ञा यत्र ता दृष्टा वारमुख्याः स्वलंकृताः ।
दृष्ट्वैव च ततो विप्रमायान्तं हृष्टमानसाः ॥ २५ ॥

उपसृत्य ततः सर्वास्तास्तमूचुरिदं वचः ।
एह्याश्रमपदं सौम्य अस्माकमिति चाब्रुवन् ॥ २६ ॥

चित्राण्यत्र बहूनि स्युर्मूलानि च फलानि च ।
तत्राप्येष विशेषेण विधिर्हि भविता ध्रुवम् ॥ २७ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तासां सर्वासां हृदयंगमम् ।
गमनाय मतिं चक्रे तं च निन्युस्तथा स्त्रियः ॥ २८ ॥

तत्र चानीयमाने तु विप्रे तस्मिन् महात्मनि ।
ववर्ष सहसा देवो जगत् प्रह्लादयंस्तदा ॥ २९ ॥

वर्षेणैवागतं विप्रं तापसं स नराधिपः ।
प्रत्युद्गम्य मुनिं प्रह्वः शिरसा च महीं गतः ॥ ३० ॥

अर्घ्यं च प्रददौ तस्मै न्यायतः सुसमाहितः ।
वव्रे प्रसादं विप्रेन्द्रान्मा विप्रं मन्युराविशेत् ॥ ३१ ॥

अन्तःपुरं प्रवेश्यास्मै कन्यां दत्त्वा यथाविधि ।
शान्तां शान्तेन मनसा राजा हर्षमवाप सः ॥ ३२ ॥

एवं स न्यवसत् तत्र सर्वकामैः सुपूजितः ।
ऋष्यशृङ्गो महातेजाः शान्तया सह भार्यया ॥ ३३ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

भूय एव हि राजेन्द्र शृणु मे वचनं हितम् ।
यथा स देवप्रवरः कथयामास बुद्धिमान् ॥ १ ॥

उनको खाकर ऋषि ने समझा, कभी न हमने ये फल खाये।
हम वन-वासी को न अभी तक ऐसे कभी सुअवसर आये॥ २१ ॥
तत्पश्चात् विभाण्डक-भय से, उनसे अनुष्ठान-चर्चा कर।
ऋष्यशृंग-आश्रम से लौटीं वे सुन्दर वेश्याएँ सत्वर॥ २२ ॥
उनके जाने पर काश्यप-सुत, ऋष्यशृंग होकर व्याकुल-मन।
स्मरण (तरुणियों का) करके वे उद्विग्न लगे करने विचरण॥ २३ ॥
तदनन्तर दूसरे दिवस भी इन वेश्याओं का चिन्तन कर।
ऋष्यशृंग जी पहुँचे फिर से, पूर्व दिवस के उसी स्थान पर॥ २४ ॥
जहाँ मिली थीं वे गणिकाएँ वसन-भूषणों से अति सज्जित।
आते हुए देखकर इनको मन में हुई बहुत ही हर्षित॥ २५ ॥
तब सब की सब उनसे बोलीं, उनके बहुत सन्निकट आकर।
सौम्य! पधारें आज, चलें प्रभु! हम लोगों के शुभ आश्रम पर॥ २६ ॥
यद्यपि हैं नाना प्रकार के प्राप्य सभी फल-मूल यहाँ पर।
किन्तु आप पाएँगे निश्चय, बहु विशेष वस्तुएँ वहाँ पर॥ २७ ॥
चलने को तैयार हो गये, ऋष्यशृंग ये बातें सुनकर।
और आ गये अंगदेश में, उन वेश्याओं के सँग चलकर॥ २८ ॥
इस उद्यम से अंगदेश में हुआ मुनीश्वर का जब आना।
सुखद किया आरम्भ इन्द्र ने वहाँ यकायक जल बरसाना॥ २९ ॥
वर्षा से ही समझे राजा, हुआ तपस्वी विप्र-आगमन।
अगवानी करके राजा ने किया उन्हें साष्टांग तब नमन॥ ३० ॥
नृपति, विभाण्डक-भय से, इनका अर्घ्य आदि से करके अर्चन।
वर माँगा, निज पिता-सहित हों, मुने! आप मुझ पर प्रसन्न मन॥ ३१ ॥
अन्तःपुर में ऋष्यशृंग को करके शान्ता सुता समर्पित।
रोमपाद सन्तुष्ट हुए तब और हुए मन में अति हर्षित॥ ३२ ॥
राजा-पूजित ऋष्यशृंग ने पाकर भोग-वस्तुएँ वाञ्छित।
हुए निवासी उसी नगर के, पत्नी शान्ता प्रिया के सहित॥ ३३ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में दसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ सर्ग

सुमन्त्र के कहने से राजा दशरथ का सपरिवार अंगराज के यहाँ जाकर वहाँ से शान्ता और ऋष्यशृंग को अपने घर ले आना

बोले दशरथ से सुमन्त्र अब, एक वृत्त मन में फिर आया।
जिसको सनत्कुमार सुरोत्तम ने ऋषियों को कभी सुनाया॥ १ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातो भविष्यति सुधार्मिकः।
नाम्ना दशरथो राजा श्रीमान् सत्यप्रतिश्रवः॥ २ ॥
अङ्गराजेन सख्यं च तस्य राज्ञो भविष्यति।
कन्या चास्य महाभागा शान्ता नाम भविष्यति॥ ३ ॥
पुत्रस्त्वङ्गस्य राज्ञस्तु रोमपाद इति श्रुतः।
तं स राजा दशरथो गमिष्यति महायशाः॥ ४ ॥
अनपत्योऽस्मि धर्मात्मञ्शान्ताभर्ता मम क्रतुम्।
आहरेत त्वयाऽऽज्ञप्तः संतानार्थं कुलस्य च॥ ५ ॥
श्रुत्वा राज्ञोऽथ तद् वाक्यं मनसा स विचिन्त्य च।
प्रदास्यते पुत्रवन्तं शान्ताभर्तारमात्मवान्॥ ६ ॥
प्रतिगृह्य च तं विप्रं स राजा विगतज्वरः।
आहरिष्यति तं यज्ञं प्रहृष्टेनान्तरात्मना॥ ७ ॥
तं च राजा दशरथो यशस्कामः कृताञ्जलिः।
ऋष्यशृङ्गं द्विजश्रेष्ठं वरयिष्यति धर्मवित्॥ ८ ॥
यज्ञार्थं प्रसवार्थं च स्वर्गार्थं च नरेश्वरः।
लभते च स तं कामं द्विजमुख्याद् विशाम्पतिः॥ ९ ॥
पुत्राश्चास्य भविष्यन्ति चत्वारोऽमितविक्रमाः।
वंशप्रतिष्ठानकराः सर्वभूतेषु विश्रुताः॥ १० ॥
एवं स देवप्रवरः पूर्वं कथितवान् कथाम्।
सनत्कुमारो भगवान् पुरा देवयुगे प्रभुः॥ ११ ॥
स त्वं पुरुषशार्दूल समानय सुसत्कृतम्।
स्वयमेव महाराज गत्वा सबलवाहनः॥ १२ ॥
सुमन्त्रस्य वचः श्रुत्वा हृष्टो दशरथोऽभवत्।
अनुमान्य वसिष्ठं च सूतवाक्यं निशाम्य च॥ १३ ॥
सान्तःपुरः सहामात्यः प्रययौ यत्र स द्विजः।
वनानि सरितश्चैव व्यतिक्रम्य शनैः शनैः॥ १४ ॥
अभिचक्राम तं देशं यत्र वै मुनिपुङ्गवः।
आसाद्य तं द्विजश्रेष्ठं रोमपादसमीपगम्॥ १५ ॥
ऋषिपुत्रं ददर्शाथो दीप्यमानमिवानलम्।
ततो राजा यथायोग्यं पूजां चक्रे विशेषतः॥ १६ ॥
सखित्वात् तस्य वै राज्ञः प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
रोमपादेन चाख्यातमृषिपुत्राय धीमते॥ १७ ॥

राजन् ! यही कहा था ऋषि ने श्री इक्ष्वाकु-वंश में नृपवर।
दशरथ होंगे ख्यात सर्वथा सत्यव्रत-रत अति धार्मिक वर ॥ २ ॥
होगी उनकी अंगराज के साथ सर्वथा परम मित्रता।
अंगराज के भाग्यशालिनी, होगी शान्ता सुता गुणयुता ॥ ३ ॥
राज-पुत्र तब अंग देश के होंगे अंगराज भूपति-वर।
परम यशस्वी नृप दशरथ, कर भेंट, कहेंगे उनसे जाकर ॥ ४ ॥
आज्ञा दें तो शान्ता के पति, ऋषिवर चलकर यज्ञ करायें।
धर्मात्मन् ! जिससे हम भी अब, वंश-विवर्धक सुत को पायें ॥ ५ ॥
रोमपाद दशरथ-वार्ता पर पहले गहन विचार करेंगे।
शान्ता-पति श्रृंग ऋषी पुत्र को, साथ गमन की अनुमति देंगे ॥ ६ ॥
पाकर ऋष्यश्रृंग को दशरथ, होंगे चिन्तामुक्त विगतज्वर।
और करेंगे अनुष्ठान तब, यज्ञ हेतु निज स्थल पर आकर ॥ ७ ॥
यश के इच्छुक धर्मविज्ञ तब अपने दोनों हाथ जोड़कर।
द्विजवर ऋष्यश्रृंग का, भूपति वरण करेंगे पुलकित होकर ॥ ८ ॥
तब स्वीकृत कर वरण ऋषीश्वर यज्ञ-विधायक हो जायेंगे।
पुत्र तथा स्वर्गोपलब्धि तब ये राजा दशरथ पायेंगे ॥ ९ ॥
चार पुत्र होंगे दशरथ के तब निज कुल-मर्यादा-वर्धक।
परम विक्रमी होंगे वे सब तथा सर्वथा ख्याति-प्रवर्तक ॥ १० ॥
ऋषियों को देवर्षि सनत् ने सतयुग में यह कथा सुनाई।
महाराज ! इसमें, इस मख से सम्बन्धित वार्ता है आई ॥ ११ ॥
अतः स्वयं अब पुरुषसिंह ! बाहन ससैन अंग को सिधायें।
मुनि-सुत ऋषिवर ऋष्यश्रृंग को, यहाँ समादर से ले आयें ॥ १२ ॥
दशरथ हर्षित हुए बहुत ही, यह सुमन्त्र का वचन श्रवण कर।
फिर अनुमति ली श्री वशिष्ठ से, उनको भी सब बात बता कर ॥ १३ ॥
अंग देश के लिए रानियों, सचिवों सँग प्रस्थान किया तब।
धीरे-धीरे पथ की नदियों और वनों को पार किया सब ॥ १४ ॥
पहुँचे अंग देश में दशरथ ऋष्यश्रृंग थे जहाँ विराजित।
देखा नृपवर, रोमपाद के पास वहाँ ऋषिवर हैं सुस्थित ॥ १५ ॥
तेजस्वी ये ऋषि-कुमार थे दिखते अग्नि-समान प्रदीपित।
मैत्री वश ये शास्त्र-विधा से, रोमपाद से हुए सुपूजित ॥
रोमपाद, नृप के आने पर मन में हुए बहुत ही हर्षित।
ऋष्यश्रृंग से कहा, बुद्धिमत् ! इनसे है मित्रता अपरिमित ॥ १६-१७ ॥

सख्यं सम्बन्धकं चैव तदा तं प्रत्यपूजयत् ।
एवं सुसत्कृतस्तेन सहोषित्वा नरर्षभः ॥ १८ ॥
सप्ताष्टदिवसान् राजा राजानमिदमब्रवीत् ।
शान्ता तव सुता राजन् सह भर्त्रा विशाम्पते ॥ १९ ॥
मदीयं नगरं यातु कार्यं हि महदुद्यतम् ।
तथेति राजा संश्रुत्य गमनं तस्य धीमतः ॥ २० ॥
उवाच वचनं विप्र गच्छ त्वं सह भार्यया ।
ऋषिपुत्रः प्रतिश्रुत्य तथेत्याह नृपं तदा ॥ २१ ॥
स नृपेणाभ्यनुज्ञातः प्रययौ सह भार्यया ।
तावन्योन्याञ्जलिं कृत्वा स्नेहात्संश्लिष्य चोरसा ॥ २२ ॥
ननन्दतुर्दशरथो रोमपादश्च वीर्यवान् ।
ततः सुहृदमापृच्छ्य प्रस्थितो रघुनन्दनः ॥ २३ ॥
पौरेषु प्रेषयामास दूतान् व शीघ्रगामिनः ।
क्रियतां नगरं सर्वं क्षिप्रमेव स्वलंकृतम् ॥ २४ ॥
धूपितं सिक्तसम्मृष्टं पताकाभिरलंकृतम् ।
ततः प्रहृष्टाः पौरास्ते श्रुत्वा राजानमागतम् ॥ २५ ॥
तथा चक्रुश्च तत् सर्वं राज्ञा यत् प्रेषितं तदा ।
ततः स्वलंकृतं राजा नगरं प्रविवेश ह ॥ २६ ॥
शङ्खदुन्दुभिनिर्ह्लादैः पुरस्कृत्वा द्विजर्षभम् ।
ततः प्रमुदिताः सर्वे दृष्ट्वा वै नागरा द्विजम् ॥ २७ ॥
प्रवेश्यमानं सत्कृत्य नरेन्द्रेणेन्द्रकर्मणा ।
यथा दिवि सुरेन्द्रेण सहस्राक्षेण काश्यपम् ॥ २८ ॥
अन्तःपुरं प्रवेश्यैनं पूजां कृत्वा च शास्त्रतः ।
कृतकृत्यं तदात्मानं मेने तस्योपवाहनात् ॥ २९ ॥
अन्तःपुराणि सर्वाणि शान्तां दृष्ट्वा तथागताम् ।
सह भर्त्रा विशालाक्षीं प्रीत्यानन्दमुपागमन् ॥ ३० ॥
पूज्यमाना तु ताभिः सा राज्ञा चैव विशेषतः ।
उवास तत्र सुखिता कञ्चित् कालं सहद्विजा ॥ ३१ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये बालकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

ऋष्यश्रृंग ने तब दशरथ का आदर किया हृदय से समुचित।
इस प्रकार ये नृपवर दशरथ रोमपाद से होकर आदृत॥
सात-आठ दिन रहकर नृप ने रोमपाद से कहे ये वचन।
सुता आपकी शान्ता, पति-सँग करें अयोध्या हेतु अब गमन॥१८-१९॥

क्योंकि वहाँ पर अति आवश्यक कार्य एक हो गया उपस्थित।
सुधी श्रृंग का तब अंगप ने जाना वहाँ कर लिया स्वीकृत॥ २० ॥

रोमपाद ने, तब शान्ता-सँग ऋषि से जाने की संस्तुति की।
ऋष्यश्रृंग ने राजाज्ञा से तब चलने की दे स्वीकृति दी॥ २१ ॥

नृप-अनुमति से पत्नी के सँग, प्रस्थित हुए तभी ऋषि-नन्दन।
हृदय लगाकर हाथ जोड़कर किया नृपति-द्वय ने अभिनन्दन॥
बलशाली इन रोमपाद के सहित हुए दशरथ आनन्दित।
रघुनन्दन ने प्रस्थान किया तब अवध, साथ में ऋषि-दम्पति॥२२-२३॥

द्रुतगामी दूतों को नृप ने पुर-जन के समीप कर प्रेषित।
कहलाया, वे सभी नगर को भली-भाँति से करें सुसज्जित॥ २४ ॥

धूपित, स्वच्छ और जल-सिंचित करें नगर को, ध्वज फहरायें।
हुए पौर-जन हर्षित, नृप के आने की सुनकर वार्तायें॥ २५ ॥

आज्ञा के अनुसार सभी ने भली-भाँति से साज सजाये।
सकल सुसज्जित सुखद नगर में, तदनन्तर दशरथ जी आये॥
दुन्दुभि, शंख-नाद सँग नृप ये, आये ऋषिवर को आगे कर।
अति प्रसन्न थे सभी पौर-जन, द्विजवर-दर्शन-लाभ प्राप्त कर॥२६-२७॥

ऋषि औ इन्द्र-सदृश दशरथ का स्वागत किया सभी ने, ऐसे।
कश्यप-सुत वामन-सुरपति का कभी सुरों ने आदर जैसे॥ २८ ॥

नृप ने अन्तःपुर में ऋषि का किया शास्त्र-विधि से तब पूजन।
निज को समझे वे कृतार्थ अति तथा हुए अतिशय प्रसन्नमन॥ २९ ॥

पति सँग शान्ता बृहल्लोचना जब आईं इस अन्तःपुर में।
प्रसन्नता की लहरें उमड़ीं सभी रानियों के तब उर में॥ ३० ॥

सभी रानियों तथा नृपति से भली-भाँति शान्ता हो पूजित।
पति सँग रहीं वहाँ वे कुछ दिन, मोद-सहित अतिशय आनन्दित॥ ३१ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्ष रामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

ततः काले बहुतिथे कस्मिंश्चित् सुमनोहरे।
वसन्ते समनुप्राप्ते राज्ञो यष्टुं मनोऽभवत्॥ १॥
ततः प्रणम्य शिरसा तं विप्रं देववर्णिनम्।
यज्ञाय वरयामास संतानार्थं कुलस्य च॥ २॥
तथेति च स राजानमुवाच वसुधाधिपम्।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम्॥ ३॥
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम्।
ततोऽब्रवीन्नृपो वाक्यं ब्राह्मणान् वेदपारगान्॥ ४॥
सुमन्त्रावाहय क्षिप्रमृत्विजो ब्रह्मवादिनः।
सुयज्ञं वामदेवं च जाबालिमथ काश्यपम्॥ ५॥
पुरोहितं वसिष्ठं च ये चान्ये द्विजसत्तमाः।
ततः सुमन्त्रस्त्वरितं गत्वा त्वरितविक्रमः॥ ६॥
समानयत् स तान् सर्वान् समस्तान् वेदपारगान्।
तान् पूजयित्वा धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा॥ ७॥
धर्मार्थसहितं युक्तं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत्।
मम तातप्यमानस्य पुत्रार्थं नास्ति वै सुखम्॥ ८॥
पुत्रार्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम।
तदहं यष्टुमिच्छामि हयमेधेन कर्मणा॥ ९॥
ऋषिपुत्रप्रभावेण कामान् प्राप्स्यामि चाप्यहम्।
ततः साध्विति तद्वाक्यं ब्राह्मणाः प्रत्यपूजयन्॥ १०॥
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे पार्थिवस्य मुखाच्च्युतम्।
ऋष्यश्रृङ्गपुरोगाश्च प्रत्यूचुर्नृपतिं तदा॥ ११॥
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम्।
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम्॥ १२॥
सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रांश्चतुरोऽमितविक्रमान्।
यस्य ते धार्मिकी बुद्धिरियं पुत्रार्थमागता॥ १३॥
ततः प्रीतोऽभवद् राजा श्रुत्वा तु द्विज भाषितम्।
अमात्यानब्रवीद् राजा हर्षेणेदं शुभाक्षरम्॥ १४॥
गुरूणां वचनाच्छीघ्रं सम्भाराः सम्भ्रियन्तु मे।
समर्थाधिष्ठितश्चाश्वः सोपाध्यायो विमुच्यताम्॥ १५॥

बारहवाँ सर्ग

राजा का ऋषियों से यज्ञ कराने के लिए प्रस्ताव, ऋषियों का राजा को और राजा का मन्त्रियों को यज्ञ की आवश्यक तैयारी करने के लिए आदेश देना

बहुत समय बीता, वसन्त का आया दोष-रहित जब अवसर।
तब दशरथ नें मन में सोचा, उचित यज्ञ-आरम्भ शुभंकर॥ १ ॥
फिर सुर-सम सुन्दर द्विजवर को किया नमन नृप ने मस्तक नत।
सुत-प्रद यज्ञ कराने के हित, उनका वरण किया श्रद्धारत॥ २ ॥
स्वीकृत कर प्रार्थना भूप की, बोले उनसे तब शृंगी ऋषि।
सामग्री एकत्र करायें! यज्ञ-अश्व छोड़ें चारों दिशि॥ ३ ॥
सरयू के उत्तर-तट में हो यज्ञ-भूमि अति सुन्दर निर्मित।
तब नृप नें यह कहा, वेद-विद् विप्र शीघ्र हों सब आमन्त्रित॥ ४ ॥
आज्ञा दी सुमन्त्र को सादर ब्रह्मवादि ऋत्विज सब लायें।
श्री सुयज्ञ, जाबालि पुरोहित, काश्यप, वामदेव-गृह जायें॥ ५ ॥
और पधारें यहाँ यज्ञ-हित श्री वशिष्ठ औ अन्य विप्रवर।
तब फिर गये बुलाने सबको, आज्ञापित सुमन्त्र अति सत्वर॥ ६ ॥
लाये सत्वर सभी वेदविद् विप्रों को वे वहाँ बुलाकर।
धर्मात्मा दशरथ ने तब फिर, उन सब विप्रों का पूजन कर॥ ७ ॥
नृप बोले शुभ धर्म-अर्थयुत, मधुर वचन विप्रों के सम्मुख।
मैं (संतप्त) हृदय रहता हूँ, मिला न विप्रो! मुझे पुत्र-सुख॥ ८ ॥
अतः अश्व-मख-अनुष्ठान का मैंने द्विजो! विचार किया है।
इसीलिए इस अश्वमेध का मैंने प्रिय संकल्प लिया है॥ ९ ॥
सफल मनोरथ होंगे निश्चय, ऋष्यशृंग जी के प्रभाव से।
देने लगे नृपति को वे सब, साधुवाद अति शुद्ध भाव से॥ १० ॥
और वशिष्ठ-प्रमुख ऋषियों ने कहा नृपति-वार्ता है उत्तम।
ऋष्यशृंग आदिक ऋषि बोले दशरथ से तब, हे नृपसत्तम!॥ ११ ॥
मख-सामग्री-संग्रह हो अब तथा तदर्थक अश्व-विमोचन।
सरयू के उत्तर-तट पर ही यज्ञभूमि का हो संयोजन॥ १२ ॥
चार पुत्र विक्रमी प्राप्त कर, मख से होगे नृप! तुम प्रमुदित।
क्योंकि तुम्हारे मन में ऐसा हुआ धार्मिक विचार है उदित॥ १३ ॥
विप्रों की यह वार्ता सुनकर, हुए नृपति तब अति प्रसन्नमन।
हर्षित होकर निज सचिवों से कहे शुभाक्षर-युक्त सद्वचन॥ १४ ॥
शीघ्र गुरुजनों की आज्ञा से करो यज्ञ-सामान नियोजन।
ऋत्विज और बली वीरों के संरक्षण में अश्व-विमोचन॥ १५ ॥

सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ।
शान्तयश्चाभिवर्धन्तां यथाकल्पं यथाविधि ॥ १६ ॥
शक्यः कर्तुमयं यज्ञः सर्वेणापि महीक्षिता ।
नापराधो भवेत् कष्टो यद्यस्मिन् क्रतुसत्तमे ॥ १७ ॥
छिद्रं हि मृगयन्त्येते विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः ।
विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति ॥ १८ ॥
तद् यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते ।
तथा विधानं क्रियतां समर्थाः करणेष्विह ॥ १९ ॥
तथेति च ततः सर्वे मन्त्रिणः प्रत्यपूजयन् ।
पार्थिवेन्द्रस्य तद् वाक्यं यथाज्ञप्तमकुर्वत ॥ २० ॥
ततो द्विजास्ते धर्मज्ञमस्तुवन् पार्थिवर्षभम् ।
अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जग्मुर्यथागतम् ॥ २१ ॥
गतेषु तेषु विप्रेषु मन्त्रिणस्तान् नराधिपः ।
विसर्जयित्वा स्वं वेश्म प्रविवेश महामतिः ॥ २२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

पुनः प्राप्ते वसन्ते तु पूर्णः संवत्सरोऽभवत् ।
प्रसवार्थं गतो यष्टुं हयमेधेन वीर्यवान् ॥ १ ॥
अभिवाद्य वसिष्ठं च न्यायतः प्रतिपूज्य च ।
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं प्रसवार्थं द्विजोत्तमम् ॥ २ ॥
यज्ञो मे क्रियतां ब्रह्मन् यथोक्तं मुनिपुङ्गव ।
यथा न विघ्नाः क्रियन्ते यज्ञाङ्गेषु विधीयताम् ॥ ३ ॥
भवान् स्निग्धः सुहृन्मह्यं गुरुश्च परमो महान् ।
वोढव्यो भवता चैव भारो यज्ञस्य चोद्यतः ॥ ४ ॥
तथेति च स राजानमब्रवीद् द्विजसत्तमः ।
करिष्ये सर्वमेवैतद् भवता यत् समर्थितम् ॥ ५ ॥
ततोऽब्रवीद् द्विजान् वृद्धान् यज्ञकर्मसुनिष्ठितान् ।
स्थापत्ये निष्ठितांश्चैव वृद्धान् परमधार्मिकान् ॥ ६ ॥

सचिवो! सरयू-उत्तर तट पर, यज्ञ-भूमि-निर्माण करो अब।
शान्ति-पाठ क्रम— शास्त्र-विधा सब, विघ्न-समूह मिटें जिससे सब ॥ १६ ॥
हो सकते हैं अन्य नृपति भी, इस मख के यजमान सुनिश्चय।
यदि न किसी अपराध, कष्ट का, किसी भाँति से हो कोई भय ॥ १७ ॥
क्योंकि ब्रह्मराक्षस— चतुराई, करता है छिद्रान्वेषण नित।
विधि-विहीन यजमान यज्ञकर्ता का है निश्चित सदा अहित ॥ १८ ॥
यह मख हो सम्पन्न सर्वथा (हो न सके कुछ कही विषमता)।
सभी साधनों के सङ्ग्रह की आप सबों में है अति क्षमता ॥ १९ ॥
सचिवों ने यह नृप की आज्ञा, भली-भाँति से स्वीकृत कर ली।
नृप-आज्ञानुसार ही उनसे यज्ञ-व्यवस्था समुचित सँभली ॥ २० ॥
तब धमज्ञ नृपतिवर विधिवत् सब विप्रों से हुए प्रशंसित।
और नृपति-आज्ञा पाकर वे, चले सभी द्विज निज आश्रम-हित ॥ २१ ॥
विप्रों को कर विदा यथाविधि और मन्त्रियों को कर प्रेषित।
विज्ञ नृपति निज राजमहल में, गये (बहुत ही होकर हर्षित) ॥ २२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में बारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १२ ॥

तेरहवाँ सर्ग

राजा का वसिष्ठ जी से यज्ञ की तैयारी के लिए अनुरोध, वसिष्ठ जी द्वारा इसके लिए सेवकों की नियुक्ति और सुमन्त्र को राजाओं की बुलाहट के लिए आदेश, समागत राजाओं का सत्कार तथा पत्नियों-सहित राजा दशरथ का यज्ञ की दीक्षा लेना

बीता सम्वत् एक, शुद्धतम फिर वसन्त के दिवस आ गये।
नृपति सशक्त, यज्ञ-दीक्षा हित गुरु वशिष्ठ के पास तब गये ॥ १ ॥
गुरु वशिष्ठ का अभिवादन कर नृप ने किया न्यायतः पूजन।
पुत्रप्रद मख से सम्बन्धित सविनय उनसे कहे ये वचन ॥ २ ॥
मुनिवर! अब शास्त्रोक्त नियम से इस मख को सम्पन्न करायें।
विघ्न ब्रह्मराक्षस न किसी विधि कर पायें, वह युक्ति निभायें ॥ ३ ॥
स्नेही, सुहृद्, हितैषी, गुरु हैं, आप हमारे प्रभो! महत्तम।
अतः आप ही भार-वहन में सक्षम हैं मुनिवर! द्विजसत्तम ॥ ४ ॥
गुरुवर ने तब कहा नृपति से स्वीकृत है प्रार्थना हमें यह।
जैसे कहा आपने, वैसे होगा शुभ सम्पन्न यज्ञ यह ॥ ५ ॥
तब वशिष्ठ ने विप्रों, वृद्धों, याज्ञिक कार्यों में चतुरों से।
यज्ञ-विषय में कुशल शिल्पियों, धर्मात्माओं, वृद्ध वरों से ॥

कर्मान्तिकाञ्शिल्पकारान् वर्धकीन् खनकानपि।
गणकाञ्शिल्पिनश्चैव तथैव नटनर्तकान् ॥ ७ ॥
तथा शुचीञ्शास्त्रविदः पुरुषान् सुबहुश्रुतान्।
यज्ञकर्म समीहन्तां भवन्तो राजशासनात् ॥ ८ ॥
इष्टका बहुसाहस्री शीघ्रमानीयतामिति।
उपकार्याः क्रियन्तां च राज्ञो बहुगुणान्विताः ॥ ९ ॥
ब्राह्मणावसथाश्चैव कर्तव्याः शतशः शुभाः।
भक्ष्यान्नपानैर्बहुभिः समुपेताः सुनिष्ठिताः ॥ १० ॥
तथा पौरजनस्यापि कर्तव्याश्च सुविस्तराः।
आगतानां सुदूराच्च पार्थिवानां पृथक् पृथक् ॥ ११ ॥
वाजिवारणशालाश्च तथा शय्यागृहाणि च।
भटानां महदावासा वैदेशिकनिवासिनाम् ॥ १२ ॥
आवासा बहुभक्ष्या वै सर्वकामैरुपस्थिताः।
तथा पौरजनस्यापि जनस्य बहुशोभनम् ॥ १३ ॥
दातव्यमन्नं विधिवत् सत्कृत्य न तु लीलया।
सर्वे वर्णा यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः ॥ १४ ॥
न चावज्ञा प्रयोक्तव्या कामक्रोधवशादपि।
यज्ञकर्मसु ये व्यग्राः पुरुषाः शिल्पिनस्तथा ॥ १५ ॥
तेषामपि विशेषेण पूजा कार्या यथाक्रमम्।
ये स्युः सम्पूजिताः सर्वे वसुभिर्भोजनेन च ॥ १६ ॥
यथा सर्वं सुविहितं न किंचित् परिहीयते।
तथा भवन्तः कुर्वन्तु प्रीतियुक्तेन चेतसा ॥ १७ ॥
ततः सर्वे समागम्य वसिष्ठमिदमब्रुवन्।
यथेष्टं तत् सुविहितं न किंचित् परिहीयते ॥ १८ ॥
यथोक्तं तत् करिष्यामो न किंचित् परिहास्यते।
ततः सुमन्त्रमाहूय वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥
निमन्त्रयस्व नृपतीन् पृथिव्यां ये च धार्मिकाः।
ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्शूद्रांश्चैव सहस्रशः ॥ २० ॥
समानयस्व सत्कृत्य सर्वदेशेषु मानवान्।
मिथिलाधिपतिं शूरं जनकं सत्यवादिनम् ॥ २१ ॥
तमानय महाभागं स्वयमेव सुसत्कृतम्।
पूर्वं सम्बन्धिनं ज्ञात्वा ततः पूर्वं ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥
तथा काशिपतिं स्निग्धं सततं प्रियवादिनम्।
सद्वृत्तं देवसंकाशं स्वयमेवानयस्व ह ॥ २३ ॥

यज्ञ-पूर्ति तक सेवा-निरतों, शिल्पी, खनकों, काष्ठकरों से।
वास्तुकलाविज्ञों, ज्योतिषियों, नर्तकियों, नर्तकों, नटों से॥
और शुद्ध शास्त्रज्ञों, बहुश्रुत पुरुषों का आवाहन कर तब।
उनसे कहा, करें कार्यान्वित राजाज्ञाएँ शीघ्र आप सब॥ ६-८॥
बहु सहस्र ईंटें मँगवाकर, अन्न, पान-उपकरण-समन्वित।
महल बनायें, जिनमें आगत सभी नृपतियों के निवास-हित॥ ९॥
अन्न, पान-उपकरण-समन्वित, वर्षा, वायु-वेग से रक्षित।
विप्र-भवन भी बनें सहस्रों जो हों सुन्दर, स्वच्छ अपरिमित॥ १०॥
दर्शक पुरुषों, नगर-वासियों को रुकने के भी निवसन हों।
आयेंगे जो नृपति दूर से उनके सुविधाजनक भवन हों॥ ११॥
जन साधारण-हित शय्यागृह, अश्व, गजों की शालाएँ हों।
छावनियाँ हों वीर सैनिकों की, सुभटों को सुविधाएँ हों॥ १२॥
सब भवनों में खान-पान के सभी उपकरण रहें उपस्थित।
जन साधारण-वाञ्छित चीज़ें सभी वहाँ पर रहें व्यवस्थित॥
अवहेलना-विना सबका हो, भलीभाँति सत्कार यथोचित।
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हों उचित रूप से वहाँ समादृत॥१३-१४॥
काम, क्रोध-वश भी न अवज्ञा किसी व्यक्ति की कुछ हो पाये।
यज्ञ-कार्य-संलग्न जनों की भलीभाँति स्थिति समझी जाये॥
वे सब भी इस अश्वमेध में उचित रूप से हों अति आदृत।
भोजन, धन से शिल्पी, सेवक, जो होते समुचित सम्मानित॥
करते ध्यान और श्रम से वे अपने कार्य शीघ्र सम्पादित।
आप लोग दायित्व सम्हालें अपने-अपने, होकर प्रमुदित॥१५-१७॥
सभी यज्ञ-कर्मी तदनन्तर मुनिवर श्री वशिष्ठ से मिलकर।
बोले, मुने! यथेष्ट आपके, होंगे कार्य सभी अति सुन्दर॥
कोई भी त्रुटि आ न सकेगी, हो न सकेगा कोई अन्तर।
तब वशिष्ठ ने कहा शीघ्र ही, प्रिय सुमन्त्र को पास बुलाकर॥१८-१९॥
करो निमन्त्रित उन नृपवर को जो हैं धर्मवान् पृथिवी पर।
विप्रों और क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्र सहस्रों को, सुविज्ञवर!॥ २०॥
सब देशों के सत् पुरुषों को लाओ सादर यहाँ बुलाकर।
शूर, सत्यवादी मिथिलापति, महाभाग हैं जनक नृपति-वर॥ २१॥
उनसे हैं सम्बन्ध पुराने, अतः वहाँ पर तुम ही जाओ।
जैसी बात बताई, वैसी विधि से उन्हें बुलाकर लाओ॥ २२॥
स्नेही, मित्र, सदाचारी हैं, प्रियवादी काशी-नरेश वर।
उन सुर-सम तेजस्वी को भी लाओ तुम्हीं वहाँ पर जाकर॥ २३॥

तथा केकयराजानं वृद्धं परमधार्मिकम् ।
श्वशुरं राजसिंहस्य सपुत्रं तमिहानय ॥ २४ ॥
अङ्गेश्वरं महेष्वासं रोमपादं सुसत्कृतम् ।
वयस्यं राजसिंहस्य सपुत्रं तमिहानय ॥ २५ ॥
तथा कोसलराजानं भानुमन्तं सुसत्कृतम् ।
मगधाधिपतिं शूरं सर्वशास्त्रविशारदम् ॥ २६ ॥
प्राप्तिज्ञं परमोदारं सत्कृतं पुरुषर्षभम् ।
राज्ञः शासनमादाय चोदयस्व नृपर्षभान् ।
प्राचीनान् सिन्धुसौवीरान् सौराष्ट्रेयांश्च पार्थिवान् ॥ २७ ॥
दाक्षिणात्यान् नरेन्द्रांश्च समस्तानानयस्व ह ।
सन्ति स्निग्धाश्च ये चान्ये राजानः पृथिवीतले ॥ २८ ॥
तानानय यथा क्षिप्रं सानुगान् सहबान्धवान् ।
एतान् दूतैर्महाभागैरानयस्व नृपाज्ञया ॥ २९ ॥
वसिष्ठवाक्यं तच्छ्रुत्वा सुमन्त्रस्त्वरितं तदा ।
व्यादिशत् पुरुषांस्तत्र राज्ञामानयने शुभान् ॥ ३० ॥
स्वयमेव हि धर्मात्मा प्रयातो मुनिशासनात् ।
सुमन्त्रस्त्वरितो भूत्वा समानेतुं महामतिः ॥ ३१ ॥
ते च कर्मान्तिकाः सर्वे वसिष्ठाय महर्षये ।
सर्वं निवेदयन्ति स्म यज्ञे यदुपकल्पितम् ॥ ३२ ॥
ततः प्रीतो द्विजश्रेष्ठस्तान् सर्वान् मुनिरब्रवीत् ।
अवज्ञया न दातव्यं कस्यचिल्लीलयापि वा ॥ ३३ ॥
अवज्ञया कृतं हन्याद् दातारं नात्र संशयः ।
ततः केश्चिदहोरात्रैरुपयाता महीक्षितः ॥ ३४ ॥
बहूनि रत्नान्यादाय राज्ञो दशरथस्य ह ।
ततो वसिष्ठः सुप्रीतो राजानमिदमब्रवीत् ॥ ३५ ॥
उपयाता नरव्याघ्र राजानस्तव शासनात् ।
मयापि सत्कृताः सर्वे यथार्हं राजसत्तम ॥ ३६ ॥
यज्ञियं च कृतं सर्वं पुरुषैः सुसमाहितैः ।
निर्यातु च भवान् यष्टुं यज्ञायतनमन्तिकात् ॥ ३७ ॥
सर्वकामैरुपहृतैरुपेतं वै समन्ततः ।
द्रष्टुमर्हसि राजेन्द्र मनसेव विनिर्मितम् ॥ ३८ ॥
तथा वसिष्ठवचनादृष्यशृङ्गस्य चोभयोः ।
दिवसे शुभनक्षत्रे निर्यातो जगतीपतिः ॥ ३९ ॥

नृप के श्वसुर वृद्ध धर्मात्मा नृपति-सिंह हैं, केकय नृपवर।
पुत्र-सहित उनको भी लाओ, अपने साथ स्वय तुम जाकर।। २४ ।।
अंगदेश-नृप महा धनुर्धर, रोमपाद हैं मित्र सुहितकर।
अतः उन्हें भी पुत्र-सहित तुम लाओ यहाँ यज्ञ में, जाकर।। २५ ।।
कोसल-पति श्री भानुमान को आदर-सहित यहाँ पर लाओ।
शूर, उदार, विज्ञ मगधेश्वर श्री 'प्राप्तिज्ञ' उन्हें भी लाओ।। २६ ।।
नृप-आज्ञा ले, पूर्व-देश-पति, सिन्धु, सुराष्ट्र-नृपति को मख-हित।
तथा वीर सौवीर देश के नृपति वरों को करो निमन्त्रित।।
दक्षिण भारत के नरेन्द्र वर, इस यज्ञ में निमंत्रण पायें।
पृथिवी भर के दशरथ-स्नेही, आकर उत्सव सफल बनायें ।।२७-२८।।
सम्बन्धियों, सेवकों, सचिवों-सहित यज्ञ में वे सब आयें।
सत्वर-गामी सेवक सबको नृप-आज्ञा से लेने जायें।।
ऋषि-वशिष्ठ प्रेरित सुमन्त्र ने कुशल जनों को तभी बुलाया।
और ऋषीश्वर-कथित नृपों के आवाहन के हित भिजवाया।।
मुख्य नरेशों को लाने को ऋषि-आज्ञा से वे विद्वद्वर।
धर्मात्मा मन्त्री सुमन्त्र ही स्वयं गये उत्साहित होकर ।।२९-३१।।
यज्ञ-व्यवस्था-नियत जनों ने ऋषि को कार्य-प्रगति बतलाई।
भूमि, भवन, गृह, खान-पान की अब तक जो रचना हो पाई।। ३२ ।।
किया सचेत, सभी को ऋषि ने, करें आप सब जिसको वितरण।
उसके प्रति हो भलीभाँति से शोभन आदर-सहित आचरण।।
क्योंकि अनादृत दान सुनिश्चित है दाता के लिए अहितकर।
कुछ दिन बाद नृपति आये सब, दशरथ-आज्ञा का आदर कर।।
देने को उपहार बहुत से अत्युत्तम रत्नों को लेकर।
बोले राजा से वशिष्ठ जी, मन मे तब प्रसन्न अति होकर।।
आये नृपति निमन्त्रित सब जन, राजन्! पुरुषसिंह भूपति वर।
यथा योग्य सत्कार किया है मैंने भी ऐसे अवसर पर ।।३३-३६।।
सभी कार्यकर्ताओं ने कर ली सचेष्ट होकर तैयारी।
चलें, स्वयं भी यज्ञ-भवन में नृपवर! सकल प्रजा हितकारी।। ३७ ।।
वाञ्छित सभी वस्तुएँ राजन्! वहाँ हो गयी हैं एकत्रित।
हुई शीघ्रता इतनी, लगता स्वतः सकल संकल्प-विनिर्मित।। ३८ ।।
श्री वशिष्ठ, श्री ऋष्यश्रृंग के इङ्गित शुभ नक्षत्र-दिवस पर।
राजभवन से यज्ञभूमि को चले स्वयं दशरथ भूपति वर।। ३९ ।।

ततो वसिष्ठप्रमुखाः सर्व एव द्विजोत्तमाः ।
ऋष्यशृङ्गं पुरस्कृत्य यज्ञकर्मारभंस्तदा ॥ ४० ॥
यज्ञवाटं गताः सर्वे यथाशास्त्रं यथाविधि ।
श्रीमांश्च सह पत्नीभी राजा दीक्षामुपाविशत् ॥ ४१ ॥
॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

अथ संवत्सरे पूर्णे तस्मिन् प्राप्ते तुरङ्गमे ।
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे राज्ञो यज्ञोऽभ्यवर्तत ॥ १ ॥
ऋष्यशृङ्गं पुरस्कृत्य कर्म चक्रुर्द्विजर्षभाः ।
अश्वमेधे महायज्ञ राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः ॥ २ ॥
कर्म कुर्वन्ति विधिवद् याजका वेदपारगाः ।
यथाविधि यथान्यायं परिक्रामन्ति शास्त्रतः ॥ ३ ॥
प्रवर्ग्यं शास्त्रतः कृत्वा तथैवोपसदं द्विजाः ।
चक्रुश्च विधिवत् सर्वमधिकं कर्म शास्त्रतः ॥ ४ ॥
अभिपूज्य तदा हृष्टाः सर्वे चक्रुर्यथाविधि ।
प्रातःसवनपूर्वाणि कर्माणि मुनिपुङ्गवाः ॥ ५ ॥
ऐन्द्रश्च विधिवद् दत्तो राजा चाभिष्टुतोऽनघः ।
मध्यन्दिनं च सवनं प्रावर्तत यथाक्रमम् ॥ ६ ॥
तृतीयसवनं चैव राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः ।
चक्रुस्ते शास्त्रतो दृष्ट्वा यथा ब्राह्मणपुङ्गवाः ॥ ७ ॥
आह्वयाञ्चक्रिरे तत्र शक्रादीन् विबुधोत्तमान् ।
ऋष्यशृङ्गादयो मन्त्रैः शिक्षाक्षरसमन्वितैः ॥ ८ ॥
गीतिभिर्मधुरैः स्निग्धैर्मन्त्राह्वानैर्यथार्हतः ।
होतारो ददुरावाह्य हविर्भागान् दिवौकसाम् ॥ ९ ॥
न चाहुतमभूत् तत्र स्खलितं वा न किंचन ।
दृश्यते ब्रह्मवत् सर्वं क्षेमयुक्तं हि चक्रिरे ॥ १० ॥
न तेष्वहःसु श्रान्तो वा क्षुधितो वा न दृश्यते ।
नाविद्वान् ब्राह्मणः कश्चिन्नाशतानुचरस्तथा ॥ ११ ॥

ऋष्यश्रृंग को आगे करके, चले वशिष्ठ और सब द्विजवर।
श्रीगणेश तब किया सभी ने मख का शास्त्र-विधा से सुन्दर॥
अवध-नृपति अपनी सम्मान्या भाग्यवती रानियों के सहित।
हुए शास्त्र-विधि से तब नृपवर अश्वमेध-हित ऋषि से दीक्षित॥४०-४१॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड मे
तेरहवाँ सर्ग समाप्त॥ १३॥

चौदहवाँ सर्ग

महाराज दशरथ के द्वारा अश्वमेध यज्ञ का साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान

बीता एक वर्ष, जब आया अश्व यज्ञ का भू-विचरण कर।
श्रीगणेश तब किया यज्ञ का, नृप ने सरयू-उत्तर-तट पर॥ १ ॥
वे नृप तथा सभी द्विज उत्तम ऋष्यश्रृंग जी को आगे कर।
मख-सम्बन्धित निज कार्यो को करने हेतु हुए सब तत्पर॥ २ ॥
ब्राह्मण करते यथा न्याय-विधिवत् थे उचित कर्म-सम्पादन।
परम वेद-विद् विद्वद्वर थे, क्रम के प्रति अतिशय सतर्क मन॥ ३ ॥
प्रथम प्रवर्ग्य हुआ सम्पादित, तदनन्तर उपसद शास्त्रोचित।
शास्त्र-इतर अन्यान्य कार्य भी हुए सर्वथा जो थे समुचित॥
अश्वमेध के अंगभूत कर्मों को ही 'प्रवर्ग्य' हैं कहते।
विधि मीमांसा कल्पसूत्र वत् शास्त्र-विहित 'उपसद' भी करते॥ ४ ॥
तत् तत् कर्म-अंग देवों का हुआ हर्ष से विधिवत् पूजन।
प्रातः, माध्यन्दिन तृतीय भी किये सभी ने शुद्धतम 'सवन'॥ ५ ॥
हविष्यांश तब दिया इन्द्र का, पाप-निवर्तक हुई प्रक्रिया।
फिर माध्यन्दिन 'सवन' (सोम) का अवसर पर आरम्भ कर दिया॥ ६ ॥
तदनन्तर विप्रों ने तब फिर शास्त्र-विधी को सोच-समझ कर।
किया तृतीय सवन सम्पादित, नृप दशरथ का अतिशय सुन्दर॥ ७ ॥
स्वर-वर्ण-युक्त मन्त्रों से ऋषि श्रृंगादिक मुनियों का गायन।
इन्द्र आदि उत्तम देवों का, नियमित आवाहन-अभिवादन॥ ८ ॥
साम-गान कर, मधुर मनोहर, मञ्जुल मोहक लय से अन्वित।
आवाहन करके देवों का, किये हविष्य-अंश सब अर्पित॥ ९ ॥
वैपरीत्य, भ्रम, भूल नही, निर्विघ्न, न कोई कार्य अपूर्ण।
मंत्रक्रम, आहुति, उच्चारण, मुनि-देवों के सब परिपूर्ण॥ १० ॥
मख में कोई विप्र न दिखता भूखा, प्यासा तथा अति श्रमित।
एक-एक द्विज विज्ञ यज्ञ में था शत-शत शिष्यो से पूजित॥ ११ ॥

ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते।
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते॥ १२॥
वृद्धाश्च व्याधिताश्चैव स्त्रीबालाश्च तथैव च।
अनिशं भुञ्जमानानां न तृप्तिरुपलभ्यते॥ १३॥
दीयतां दीयतामन्नं वासांसि विविधानि च।
इति संचोदितास्तत्र तथा चक्रुरनेकशः॥ १४॥
अन्नकूटाश्च दृश्यन्ते बहवः पर्वतोपमाः।
दिवसे दिवसे तत्र सिद्धस्य विधिवत् तदा॥ १५॥
नानादेशादनुप्राप्ताः पुरुषाः स्त्रीगणास्तथा।
अन्नपानैः सुविहितास्तस्मिन् यज्ञे महात्मनः॥ १६॥
अन्नं हि विधिवत्स्वादु प्रशंसन्ति द्विजर्षभाः।
अहो तृप्ताः स्म भद्रं ते इति शुश्राव राघवः॥ १७॥
स्वलंकृताश्च पुरुषा ब्राह्मणान् पर्यवेषयन्।
उपासन्ते च तानन्ये सुमृष्टमणिकुण्डलाः॥ १८॥
कर्मान्तरे तदा विप्रा हेतुवादान् बहूनपि।
प्राहुः सुवाग्मिनो धीराः परस्परजिगीषया॥ १९॥
दिवसे दिवसे तत्र संस्तरे कुशला द्विजाः।
सर्वकर्माणि चक्रुस्ते यथाशास्त्रं प्रचोदिताः॥ २०॥
नाषडङ्गविदत्रासीन्नाव्रतो नाबहुश्रुतः।
सदस्यास्तस्य वै राज्ञो नावादकुशलो द्विजः॥ २१॥
प्राप्ते यूपोच्छ्रये तस्मिन् षड् बैल्वाः खादिरास्तथा।
तावन्तो बिल्वसहिताः पर्णिनश्च तथा परे॥ २२॥
श्लेष्मातकमयो दिष्टो देवदारुमयस्तथा।
द्वावेव तत्र विहितौ बाहुव्यस्तपरिग्रहौ॥ २३॥
कारिताः सर्व एवैते शास्त्रज्ञैर्यज्ञकोविदैः।
शोभार्थं तस्य यज्ञस्य काञ्चनालंकृता भवन्॥ २४॥
एकविंशतियूपास्ते एकविंशत्यरत्नयः।
वासोभिरेकविंशद्भिरेकैकं समलंकृताः॥ २५॥
विन्यस्ता विधिवत् सर्वे शिल्पिभिः सुकृता दृढाः।
अष्टास्रयः सर्व एव श्लक्ष्णरूपसमन्विताः॥ २६॥
आच्छादितास्ते वासोभिः पुष्पैर्गन्धैश्च पूजिताः।
सप्तर्षयो दीप्तिमन्तो विराजन्ते यथा दिवि॥ २७॥
इष्टकाश्च यथान्यायं कारिताश्च प्रमाणतः।
चितोऽग्निर्ब्राह्मणैस्तत्र कुशलैः शिल्पकर्मणि॥ २८॥

प्रतिदिन ब्राह्मण (द्विजमात्र) सकल को सुलभ यज्ञ में था भोजन।
तापस श्रमण, शूद्र एवं सब आते थे मख में जो सज्जन॥ १२ ॥
बच्चे, महिलाएँ, प्रवृद्ध जन तथा रुग्ण जन भी सब सादर।
भोजन करते अमित स्वाद-युत और अघाते थे वे मन भर॥ १३ ॥
'अन्न-वस्त्र दो! अन्न-वस्त्र दो!' अधिकारीगण थे यों कहते।
और कार्यकर्ता भी बहुविधि बार-बार वैसा ही करते॥ १४ ॥
अन्न-राशि थी वहाँ सु-महती तथा स्वादु पक्वान्न बहुत से।
ढेर-ढेर थे स्थान-स्थान पर, यज्ञस्थल में पर्वत-जैसे॥ १५ ॥
आये थे विभिन्न देशों के नर-नारी जो वहाँ अनगिनित।
खान-पान, सब विधि-विधान से तृप्त, सकल इच्छाएँ पूरित॥ १६ ॥
विधि से निर्मित उत्तम भोजन से है मन सन्तुष्ट हमारा।
द्विज जन कहते थे भूपति से, राजन्! हो कल्याण तुम्हारा॥ १७ ॥
भोजन-वितरक वहाँ सभी थे, वसन और भूषण से भूषित।
देते थे सहयोग उन्हें, वे भी थे मणि-कुण्डल आभूषित॥ १८ ॥
एक कार्य की पूर्ति और फिर अन्यकार्य-आरम्भ-मध्य में।
विजय हेतु शास्त्रार्थ वाग्विद करते रहते थे आपस में॥ १९ ॥
प्रतिदिन कर्म-कुशल ब्राह्मण वे, जिसका जिसमें हुआ नियोजन।
करते थे शास्त्रानुसार ही विधि से सदा कार्य सम्पादन॥ २० ॥
शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, ज्योतिष्, छन्द, व्रती, बहुश्रुत जो।
तर्कादिक से रहित, न ऐसा द्विज जो नृप-मखमण्डल में हो॥ २१ ॥
बिल्व, पलाश, खैर-विटपों के छः छः यूप हुए आरोपित।
स्तम्भारोपण बिल्व-सहित सब अश्वमेध के सम्पादन-हित॥ २२ ॥
दोनों बाँहें प्रसरित होकर, करती हैं जितनी भू-छादित।
अन्तर पर दो स्तम्भ बहेड़ा-देवदारु तरु के थे स्थापित॥ २३ ॥
यज्ञ-शास्त्र के कुशल ब्राह्मणों की आज्ञा से थे ये निर्मित।
इन स्तम्भों में स्वर्ण जड़ा था, मखमण्डल-सौन्दर्य-प्रभा-हित॥ २४ ॥
ये इक्कीस यूप थे अंगुल पाँच शतक औ चार समुन्नत।
विविध वर्ण इक्कीस वसन से भलीभाँति से वे समलंकृत॥ २५ ॥
चिक्कण, अष्टकोण-शोभित दृढ़ काष्ठकरों द्वारा थे निर्मित।
सुमन यूप ये यज्ञ-भूमि में, विधि से किये गये थे स्थापित॥ २६ ॥
चन्दन, पुष्प आदि से पूजित, ये थे वस्त्रों से आच्छादित।
नभ के सप्तर्षियों की तरह, यूप हो रहे थे ये दीपित॥ २७ ॥
सूत्र-ग्रन्थ से सम्मत ईंटों के द्वारा वेदियाँ विनिर्मित।
उनमें शिल्प-विज्ञ विप्रों से अग्नि देवता थे आवाहित॥ २८ ॥

स चित्यो राजसिंहस्य संचितः कुशलैर्द्विजैः ।
गरुडो रुक्मपक्षो वै त्रिगुणोऽष्टादशात्मकः ॥ २९ ॥
नियुक्तास्तत्र पशवस्तत्तदुद्दिश्य दैवतम् ।
उरगाः पक्षिणश्चैव यथाशास्त्रं प्रचोदिताः ॥ ३० ॥
शामित्रे तु हयस्तत्र तथा जलचराश्च ये ।
ऋषिभिः सर्वमेवैतन्नियुक्तं शास्त्रतस्तदा ॥ ३१ ॥
पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तदा ।
अश्वरत्नोत्तमं तत्र राज्ञो दशरथस्य ह ॥ ३२ ॥
कौसल्या तं हयं तत्र परिचर्य समन्ततः ।
कृपाणैर्विससारैनं त्रिभिः परमया मुदा ॥ ३३ ॥
पतत्त्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा ।
अवसद् रजनीमेकां कौसल्या धर्मकाम्यया ॥ ३४ ॥
होताध्वर्युस्तथोद्गाता हस्तेन समयोजयन् ।
महिष्या परिवृत्त्याथ वावातामपरां तथा ॥ ३५ ॥
पतत्त्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः ।
ऋत्विक्परमसम्पन्नः श्रपयामास शास्त्रतः ॥ ३६ ॥
धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः ।
यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन पापमात्मनः ॥ ३७ ॥
हयस्य यानि चाङ्गानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः ।
अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत् समस्ताः षोडशर्त्विजः ॥ ३८ ॥
प्लक्षशाखासु यज्ञानामन्येषां क्रियते हविः ।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य वैतसो भाग इष्यते ॥ ३९ ॥
त्र्यहोऽश्वमेधः संख्यातः कल्पसूत्रेण ब्राह्मणैः ।
चतुष्टोममहस्तस्य प्रथमं परिकल्पितम् ॥ ४० ॥
उक्थ्यं द्वितीयं संख्यातमतिरात्रं तथोत्तरम् ।
कारितास्तत्र बहवो विहिताः शास्त्रदर्शनात् ॥ ४१ ॥
ज्योतिष्टोमायुषी चैवमतिरात्रौ च निर्मितौ ।
अभिजिद्विश्वजिच्चैवमाप्तोर्यामौ महाक्रतुः ॥ ४२ ॥
प्राचीं होत्रे ददौ राजा दिशं स्वकुलवर्धनः ।
अध्वर्यवे प्रतीचीं तु ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम् ॥ ४३ ॥
उद्गात्रे तु तथोदीचीं दक्षिणैषा विनिर्मिता ।
अश्वमेधे महायज्ञे स्वयंभूविहिते पुरा ॥ ४४ ॥
क्रतुं समाप्य तु तदा न्यायतः पुरुषर्षभः ।
ऋत्विग्भ्यो हि ददौ राजा धरां तां कुलवर्धनः ॥ ४५ ॥

फैले पंख, पुच्छ, भू-द्रष्टा, पूर्वमुखी थी गरुड़ के सदृश।
स्थापित यज्ञाग्नि द्विजों ने की गरुड़ाकृति प्रतक्ष अष्टादश ॥ २९ ॥
पशु, पक्षी, सर्पादि वहाँ थे भिन्न-भिन्न देवता-समर्पित।
यूपों में ये बँधे हुए थे यथाशास्त्र से थे निर्देशित ॥ ३० ॥
यज्ञपात्र शामित्र हेतु हय, कूर्म आदि जल-जन्तु वहाँ पर।
जिन्हें शास्त्र-विधि से ऋषियों ने यूपों में था रखा बाँध कर ॥ ३१ ॥
वहाँ तीन सौ पशु थे बन्धित अश्वमेध मख के सुस्थल पर।
दशरथ का अश्वमेध-हय भी वहाँ बँधा था अतिशय सुन्दर ॥ ३२ ॥
कौसल्या ने अभिसिञ्चन कर किया उसे सर्वथा सुसंस्कृत।
और तीन खड्गों से उसका स्पर्श किया होकर अति हर्षित ॥ ३३ ॥
कौसल्या नें सुस्थिर मन से धर्म पालने की इच्छा कर।
रात बिताई एक वहीं पर उसके ही समीप में रहकर ॥ ३४ ॥
तब 'होता', 'अध्वर्यु'-साथ ही 'उद्गाता', से निर्देशित हो।
क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र-वनिता ने अश्वस्पर्श किया हर्षित हो ॥ ३५ ॥
तब फिर क्रमगत अन्य कार्य का उस मख में अवसर जब आया।
अश्वकन्द के गूदे को फिर ऋत्विक ने ही सविधि पकाया ॥ ३६ ॥
उस गूदे की आहुति का था धूम्र पाप-हर अतिशय हितकर।
सविधि, समय पर, नृप दशरथ ने सूँघा यज्ञभूमि में आकर ॥ ३७ ॥
अंगभूत जो भी पदार्थ थे अश्वमेध के उस अवसर पर।
उनसे ऋत्विज द्विज सोलह थे आहुतियाँ देते सुविज्ञवर ॥ ३८ ॥
हवि देते हैं अन्य मखों में 'पाकर' की शाखा में रखकर।
अश्वमेध में किन्तु बेंत की बनी चटाई हैं श्रेयस्कर ॥ ३९ ॥
कल्पसूत्र, ब्राह्मण ग्रन्थों ने तीन दिवस 'सवनीय' बताये।
प्रथम दिवस में 'चतुष्टोम' या 'अग्निष्टोम' विहित कहलाये ॥ ४० ॥
तथा द्वितीय दिवस में विधि से 'उक्थ्य' सवन करणीय धर्म है।
दिन तृतीय 'अतिरात्र' विहित, तदनन्तर ऋतु अन्य कर्म है ॥ ४१ ॥
आयुष् (ज्योतिष्टोम) तथा अतिरात्र, विश्वजित् आदिक अभिजित्।
आप्तोर्याम महान यज्ञ ये, अश्वमेध उपरान्त विसर्जित ॥ ४२ ॥
वंशवृद्धि पर ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु हेतु क्रमशः प्रदान।
दखिन, पूर्व, पश्चिम की धरती देकर प्रमुदित दशरथ महान ॥ ४३ ॥
उसी भाँति उद्गाता को भी सकल भूमि उत्तर की दे दी।
ब्रह्मा-कृत ये दान-विधा है अश्वमेध के यज्ञ प्रखर की ॥ ४४ ॥
कुल-वर्धक पुरुषोत्तम नृप ने अश्वमेध की शुभ समाप्ति पर।
धरा ऋत्विजों को सब दे दी, अधिकाधिक उनका आदर कर ॥ ४५ ॥

एवं दत्त्वा प्रहृष्टोऽभूच्छ्रीमानिक्ष्वाकुनन्दनः ।
ऋत्विजस्त्वब्रुवन् सर्वे राजानं गतकिल्बिषम् ॥ ४६ ॥
भवानेव महीं कृत्स्नामेको रक्षितुमर्हति ।
न भूम्या कार्यमस्माकं नहि शक्ताः स्म पालने ॥ ४७ ॥
रताः स्वाध्यायकरणे वयं नित्यं हि भूमिप ।
निष्क्रयं किञ्चिदेवेह प्रयच्छतु भवानिति ॥ ४८ ॥
मणिरत्नं सुवर्णं वा गावो यद्वा समुद्यतम् ।
तत् प्रयच्छ नृपश्रेष्ठ धरण्या न प्रयोजनम् ॥ ४९ ॥
एवमुक्तो नरपतिर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
गवां शतसहस्राणि दश तेभ्यो ददौ नृपः ॥ ५० ॥
दशकोटिं सुवर्णस्य रजतस्य चतुर्गुणम् ।
ऋत्विजस्तु ततः सर्वे प्रददुः सहिता वसु ॥ ५१ ॥
ऋष्यशृङ्गाय मुनये वसिष्ठाय च धीमते ।
ततस्ते न्यायतः कृत्वा प्रविभागं द्विजोत्तमाः ॥ ५२ ॥
सुप्रीतमनसः सर्वे प्रत्यूचुर्मुदिता भृशम् ।
ततः प्रसर्पकेभ्यस्तु हिरण्यं सुसमाहतः ॥ ५३ ॥
जाम्बूनदं कोटिसंख्यं ब्राह्मणेभ्यो ददौ तदा ।
दरिद्राय द्विजायाथ हस्ताभरणमुत्तमम् ॥ ५४ ॥
कस्मैचिद् याचमानाय ददौ राघवनन्दनः ।
ततः प्रीतेषु विधिवद् द्विजेषु द्विजवत्सलः ॥ ५५ ॥
प्रणाममकरोत् तेषां हर्षव्याकुलितेन्द्रियः ।
तस्याशिषोऽथ विविधा ब्राह्मणैः समुदाहृताः ॥ ५६ ॥
उदारस्य नृवीरस्य धरण्यां पतितस्य च ।
ततः प्रीतमना राजा प्राप्य यज्ञमनुत्तमम् ॥ ५७ ॥
पापापहं स्वर्नयनं दुस्तरं पार्थिवर्षभः ।
ततोऽब्रवीदृष्यशृङ्गं राजा दशरथस्तदा ॥ ५८ ॥
कुलस्य वर्धनं तत् तु कर्तुमर्हसि सुव्रत ।
तथेति च स राजानमुवाच द्विजसत्तमः ।
भविष्यन्ति सुता राजंश्चत्वारस्ते कुलोद्वहाः ॥ ५९ ॥

देकर दान, हुए हर्षान्वित, वे इक्ष्वाकु कुलोद्भव भूपति।
अनघ नृपति से तब बोले वे ऋत्विज हो करके विनम्र अति ॥ ४६ ॥

राजन्! केवल आप, धरणि का कर सकते हैं विधि से पालन।
हम सब हैं असमर्थ, हमारा इससे कोई नहीं प्रयोजन ॥ ४७ ॥

भूमिपाल! हम सब तो रहते वेद-पठन-पाठन में तत्पर।
अतः करें सन्तुष्ट हमें बस समुचित इसका प्रतिफल देकर ॥ ४८ ॥

नृपवर! स्वर्ण, रत्न, गौएँ या जो कुछ भी है यहाँ उपस्थित।
वही दक्षिणा मे दें हमको, नहीं प्रयोजन है धरती-प्रति ॥ ४९ ॥

इस प्रकार नृप से जब बोले, वेद-पारगी वे विद्वद्वर।
शत सहस्र तब गौएँ उनको देकर हर्षित हुए नृपति वर ॥ ५० ॥

दीं दश कोटि स्वर्ण-मुद्राएँ, चालिस कोटि रजत की अर्पित।
तब द्रव्य सकल ऋत्विजगण ने गुरुद्वय को कर दिया समर्पित ॥ ५१ ॥

गुरु वशिष्ठ, ऋषि ऋष्यश्रृंग को, इन सबने जब किया समर्पण।
तब दोनों ने विप्रवरों में किया न्याय से उसका वितरण ॥ ५२ ॥

बोले ऋत्विजगण समोद, नृपवर! हम हैं सन्तुष्ट अतिव सब।
अभ्यागत विप्रों को नृप ने, हो करके एकाग्रचित्त तब ॥ ५३ ॥

एक कोटि मुद्राएँ बाँटीं जो थीं उत्तम स्वर्ण-विनिर्मित।
तब तक ब्राह्मण एक हुआ प्रस्तुत नृप ढिग याचक दरिद्र अति ॥ ५४ ॥

कर से कर-भूषण उतार दे दिया, धन्य! हे धन्य दानपति!।
इस प्रकार सन्तुष्ट हुए अति, तत्रस्थित ब्राह्मण विशुद्धमति ॥ ५५ ॥

हर्षान्वित आकुल-इन्द्रिय नृप ने सबका तब किया अति नमन।
तब सब विप्रों ने नृप के हित कहे बहुत आशीष के वचन ॥ ५६ ॥

उन उदार नृपवर ने सबको किया तभी साष्टांग दण्डवत।
और प्रसन्न हुए अति मन में मिला यज्ञ-फल उनको विधिवत ॥ ५७ ॥

मख था सकल पाप-हर नृप का, स्वर्ग आदि के सुख का दाता।
ऋष्यश्रृंग से दशरथ बोले, पुरी अयोध्या के प्रिय त्राता ॥ ५८ ॥

कुल की परम्परा-संवर्धक जो सुकृत्य हो, कहें! कृपा कर।
तब 'तथास्तु' कह बोले सत्वर ऋषि-सुत ऋष्यश्रृंग विद्वद्वर ॥

होंगे चार पुत्र अति उत्तम, भूप! आपके वीर वंशधर।
(न्यायी और उदार, विक्रमी, परम सुधीर प्रजा के सुखकर) ॥ ५९ ॥

स तस्य वाक्यं मधुरं निशम्य
प्रणम्य तस्मै प्रयतो नृपेन्द्रः ।
जगाम हर्षं परमं महात्मा
तमृष्यशृङ्गं पुनरप्युवाच ॥ ६० ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः

मेधावी तु ततो ध्यात्वा स किञ्चिदिदमुत्तरम् ।
लब्धसंज्ञस्ततस्तं तु वेदज्ञो नृपमब्रवीत् ॥ १ ॥
इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात् ।
अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः ॥ २ ॥
ततः प्राक्रमदिष्टिं तां पुत्रीयां पुत्रकारणात् ।
जुहावाग्नौ च तेजस्वी मन्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ ३ ॥
ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
भागप्रतिग्रहार्थं वै समवेता यथाविधि ॥ ४ ॥
ताः समेत्य यथान्यायं तस्मिन् सदसि देवताः ।
अब्रुवँल्लोककर्तारं ब्रह्माणं वचनं ततः ॥ ५ ॥
भगवंस्त्वत्प्रसादेन रावणो नाम राक्षसः ।
सर्वान् नो बाधते वीर्याच्छासितुं तं न शक्नुमः ॥ ६ ॥
त्वया तस्मै वरो दत्तः प्रीतेन भगवंस्तदा ।
मानयन्तश्च तं नित्यं सर्वं तस्य क्षमामहे ॥ ७ ॥
उद्वेजयति लोकांस्त्रीनुच्छ्रितान् द्वेष्टि दुर्मतिः ।
शक्रं त्रिदशराजानं प्रधर्षयितुमिच्छति ॥ ८ ॥
ऋषीन् यक्षान् सगन्धर्वान् ब्राह्मणानसुरांस्तदा ।
अतिक्रामति दुर्धर्षो वरदानेन मोहितः ॥ ९ ॥
नैनं सूर्यः प्रतपति पार्श्वे वाति न मारुतः ।
चलोर्मिमाली तं दृष्ट्वा समुद्रोऽपि न कम्पते ॥ १० ॥
तन्महन्नो भयं तस्माद् राक्षसाद् घोरदर्शनात् ।
वधार्थं तस्य भगवन्नुपायं कर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥
एवमुक्तः सुरैः सर्वैश्चिन्तयित्वा ततोऽब्रवीत् ।
हन्तायं विदितस्तस्य वधोपायो दुरात्मनः ॥ १२ ॥

परम विज्ञवर ऋष्यश्रृंग के सुनकर तब ऐसे मधुर वचन।
सकलेन्द्रिय-संयमित नृपति ने उनका विधि से फिर किया नमन॥
था उस समय हृदय में उनके हर्ष और उत्साह अधिक।
अनुष्ठान आगे का कहिये पुत्र हेतु हे ऋषि-नन्दन!॥ ६० ॥

॥ श्रीवाल्मीक-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में चौदहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १४ ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

ऋष्यश्रृंग द्वारा राजा दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ का आरम्भ, देवताओं की प्रार्थना से ब्रह्मा जी का रावण के वध का उपाय ढूंढ़ निकालना तथा भगवान् विष्णु का देवताओं को आश्वासन देना

मेधावी श्री ऋष्यश्रृंग ने, तब फिर कुछ क्षण ध्यान लगाकर।
बतलाया नृप से निज निर्णय, भलीभाँति सब समझ-बूझकर॥ १ ॥
महाराज! मैं पुत्र-प्राप्ति-हित शुभ अथर्व-मन्त्रों से पूरित।
यज्ञ करूँगा वैदिक विधि से, जिसमें है साफल्य सुनिश्चित॥ २ ॥
पुत्र-यज्ञ प्रारम्भ किया तब ऋषि ने शुभ सन्तान काम्य कर।
और अग्नि में आहुति डाली, श्रोत्रिय विधि से मन्त्र-पाठ कर॥ ३ ॥
तब फिर सुर, गन्धर्व, सिद्ध, ऋषि हुए वहाँ पर सब एकत्रित।
प्रसन्नता से अपना-अपना यज्ञ-भाग लेने को समुचित॥ ४ ॥
यज्ञ-सभा में नियत रूप से इन देवों का हुआ आगमन।
सब देवों ने सृष्टि-रचयिता ब्रह्मा जी से किया निवेदन॥ ५ ॥
ब्रह्मन्! तव प्रसाद को पाकर, रावण करता हमें प्रताड़ित।
शक्ति नहीं है हम सबमें वह, जिससे उसको करें पराजित॥ ६ ॥
प्रभो! आपने सुप्रसन्न हो, उसको जो वरदान दिया है।
मान उसी का रखकर हमने अपराधों को सहन किया है॥ ७ ॥
वह द्वेषित, तीनों लोकों के सभी जनों को करता पीड़ित।
इतना ही क्या, वह इच्छुक है— देवराज को करे पराजित॥ ८ ॥
बहुत अधिक उद्दण्ड हुआ वह, प्रभो! आपके वर से मोहित।
विप्रों, यक्षों, ऋषि-गन्धर्वों, सब असुरों को करता पीड़ित॥ ९ ॥
ताप-रहित रवि उसके भय से, हुआ वायु भी वेग से रहित।
सिन्धु-उमड़ भी उसके भय से प्रभुवर होता नहीं तरागत॥ १० ॥
उससे हैं भयभीत हम सभी, रूप भयंकर अति भय-दायक।
अब उसके वध का उपाय कुछ करना है प्रभुवर! आवश्यक॥ ११ ॥
देवों के ऐसा कहने पर, ब्रह्मा जी ने कुछ विचारकर।
कहा, शीघ्र उस दुष्टात्मा का वध-उपाय अब सुनो, देववर!॥ १२ ॥

तेन गन्धर्वयक्षाणां देवतानां च रक्षसाम् ।
अवध्योऽस्मीति वागुक्ता तथेत्युक्तं च तन्मया ॥ १३ ॥
नाकीर्तयदवज्ञानात् तद् रक्षो मानुषांस्तदा ।
तस्मात् स मानुषाद् वध्यो मृत्युर्नान्योऽस्य विद्यते ॥ १४ ॥
एतच्छ्रुत्वा प्रियं वाक्यं ब्रह्मणा समुदाहृतम् ।
देवा महर्षयः सर्वे प्रहृष्टास्तेऽभवंस्तदा ॥ १५ ॥
एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः ।
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः ॥ १६ ॥
वैनतेयं समारुह्य भास्करस्तोयदं यथा ।
तप्तहाटककेयूरो वन्द्यमानः सुरोत्तमैः ॥ १७ ॥
ब्रह्मणा च समागत्य तत्र तस्थौ समाहितः ।
तमब्रुवन् सुराः सर्वे समभिष्टूय संनताः ॥ १८ ॥
त्वां नियोक्ष्यामहे विष्णो लोकानां हितकाम्यया ।
राज्ञो दशरथस्य त्वमयोध्याधिपतेर्विभो ॥ १९ ॥
धर्मज्ञस्य वदान्यस्य महर्षिसमतेजसः ।
अस्य भार्यासु तिसृषु ह्रीश्रीकीर्त्युपमासु च ॥ २० ॥
विष्णोपुत्रत्वमागच्छ कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम् ।
तत्र त्वं मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोककण्टकम् ॥ २१ ॥
अवध्यं दैवतैर्विष्णो समरे जहि रावणम् ।
स हि देवान् सगन्धर्वान् सिद्धांश्च ऋषिसत्तमान् ॥ २२ ॥
राक्षसो रावणो मूर्खो वीर्योद्रेकेण बाधते ।
ऋषयश्च ततस्तेन गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ २३ ॥
क्रीडन्तो नन्दनवने रौद्रेण विनिपातिताः ।
वधार्थं वयमायातास्तस्य वै मुनिभिः सह ॥ २४ ॥
सिद्धगन्धर्वयक्षाश्च ततस्त्वां शरणं गताः ।
त्वं गतिः परमा देव सर्वेषां नः परंतप ॥ २५ ॥
वधाय देवशत्रूणां नृणां लोके मनः कुरु ।
एवं स्तुतस्तु देवेशो विष्णुस्त्रिदशपुंगवः ॥ २६ ॥
पितामहपुरोगांस्तान् सर्वलोकनमस्कृतः ।
अब्रवीत् त्रिदशान् सर्वान् समेतान् धर्मसंहितान् ॥ २७ ॥
भयं त्यजत भद्रं वो हितार्थं युधि रावणम् ।
सपुत्रपौत्रं सामात्यं समन्त्रिज्ञातिबान्धवम् ॥ २८ ॥
हत्वा क्रूरं दुराधर्षं देवर्षीणां भयावहम् ।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ॥ २९ ॥

वर माँगा था उसने, कोई यक्ष, देव, गन्धर्व, निशाचर।
मार न पाये मुझे युद्ध में, मैंने उसे लिया स्वीकृत कर॥ १३ ॥
मानव को अति तुच्छ समझकर उनमें उसने नहीं गिनाया।
अतः मनुज ही उसका मारक होगा, यही समझ में आया॥ १४ ॥
विधि के मुख से अपने हित की प्रीति-भरी यह वार्ता सुनकर।
हुए देवता अति प्रसन्न तब और सभी मुनिवर, महर्षिवर॥ १५ ॥
आये तब श्रीविष्णु विश्व-पति, अति तेजस्वी, पीताम्बर-धर।
इनके हाथों में शोभित थे, शंख, सुचक्र, गदायुध सुन्दर॥ १६ ॥
रवि हों जैसे श्याम मेघ पर, थे वैसे ही वे खगपति पर।
देव-वन्द्य के भुज-भूषण थे तप्त स्वर्ण-निर्मित प्रकाश-कर॥ १७ ॥
विधि से मिलकर दत्तचित्त ये हुए सभा में विष्णु विराजित।
बोले सन्नत सभी देवता उनसे सुन्दर वचन संयमित॥ १८ ॥
त्रिभुवन के हित प्रभो! आपको एक दे रहे कार्य-भार हैं।
नृपति अयोध्या के तेजस्वी, सु-मनस्वी दशरथ उदार हैं॥ १९ ॥
धार्मिक हैं वे अति उदार हैं, तेजस्वी हैं ऋषियों के सम।
उनके तीन रानियाँ ह्री, श्री, कीर्ति-देवियों-सी हैं उत्तम॥ २० ॥
विष्णो! वहाँ चार रूपों में, आप करें अवतार अब ग्रहण।
मनुज-रूप में प्रकटित होकर जग-कण्टक का करे निवारण॥ २१ ॥
देवों द्वारा वह अवध्य है, अतः मनुज बन, करें पराजित।
देव, सिद्ध, गन्धर्व, ऋषीश्वर, सभी हो रहे उससे पीड़ित॥ २२ ॥
रावण असुर प्रबल विक्रम से, प्रभो! हो रहा बहुत प्रमादित।
देव, सिद्ध, गन्धर्व, ऋषीश्वर सभी हो रहे उससे पीड़ित॥ २३ ॥
क्रीडा-हित गन्धर्व-अप्सराओं को ले आया वह भू पर।
अतः सिद्ध, गन्धर्व, देवता, यक्ष और सर्वोच्च मुनीश्वर॥
उसके वध के लिए प्रार्थना करते, प्रभो! शरण में आकर।
हम सबकी हैं आप परमगति तथा शत्रु-नाशक सर्वेश्वर॥२४-२५॥
देवों-मनुजों के रिपु-वध का करें विचार मानसिक सुर-वर।
देवेश्वर श्रीविष्णु महाप्रभु इस प्रकार बोले स्तुति सुनकर॥
धर्म-परायण इन देवों से बोले नारायण जग-वन्दित।
ब्रह्मा जी से और प्रताड़ित सुरगण जाय वहाँ समुपस्थित॥२६-२७॥
देवो! हो कल्याण आपका, भलीभाँति से हों निर्भय सब।
होगा वध सवंश रावण का पुत्र, पौत्र, मन्त्रियों-सहित अब॥
इसे मारकर हम सब देवों, महर्षियों का क्लेश हरेंगे।
फिर ग्यारह सहस्र वर्षों तक मनुज-लोक में वास करेंगे॥

वत्स्यामि मानुषे लोके पालयन् पृथिवीमिमाम् ।
एवं दत्त्वा वरं देवो देवानां विष्णुरात्मवान् ॥ ३० ॥

मानुष्ये चिन्तयामास जन्मभूमिमथात्मनः ।
ततः पद्मपलाशाक्षः कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम् ॥ ३१ ॥

पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम् ।
ततो देवर्षिगन्धर्वाः सरुद्राः साप्सरोगणाः ।
स्तुतिभिर्दिव्यरूपाभिस्तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ॥ ३२ ॥

तमुद्धतं रावणमुग्रतेजसं
प्रवृद्धदर्पं त्रिदशेश्वरद्विषम् ।
विरावणं साधुतपस्विकण्टकं
तपस्विनामुद्धर तं भयावहम् ॥ ३३ ॥

तमेव हत्वा सबलं सबान्धवं
विरावणं रावणमुग्रपौरुषम् ।
स्वर्लोकमागच्छ गतज्वरश्चिरं
सुरेन्द्रगुप्तं गतदोषकल्मषम् ॥ ३४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

ततो नारायणो विष्णुर्नियुक्तः सुरसत्तमैः ।
जानन्नपि सुरानेवं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

उपायः को वधे तस्य राक्षसाधिपतेः सुराः ।
यमहं तं समास्थाय निहन्यामृषिकण्टकम् ॥ २ ॥

एवमुक्ताः सुराः सर्वे प्रत्यूचुर्विष्णुमव्ययम् ।
मानुषं रूपमास्थाय रावणं जहि संयुगे ॥ ३ ॥

स हि तेपे तपस्तीव्रं दीर्घकालमरिंदमः ।
येन तुष्टोऽभवद् ब्रह्मा लोककृल्लोकपूर्वजः ॥ ४ ॥

संतुष्टः प्रददौ तस्मै राक्षसाय वरं प्रभुः ।
नानाविधेभ्यो भूतेभ्यो भयं नान्यत्र मानुषात् ॥ ५ ॥

तभी धरित्री भलीभाँति से होगी हमसे यह प्रतिपालित।
इस प्रकार श्री विष्णुदेव ने देवों को देकर वर इच्छित ॥२८-३०॥
तदनन्तर निज जन्म-भूमि का प्रभु ने किया सूक्ष्मतम चिन्तन।
चार स्वरूपों में प्रकटे वे कमलनयन श्रीविष्णु चिरन्तन ॥ ३१ ॥
नृपवर दशरथ को ही प्रभु ने पिता-रूप में तब स्वीकारा।
हुआ स्तवन; गन्धर्व, अप्सरा, सुर, ऋषि, ग्यारह रुद्रों द्वारा ॥
दिव्यस्तुति से इन सबने श्री विष्णुदेव को तभी मनाया।
(मानस-मानसरोवर इनका प्रसन्नता से तब लहराया) ॥ ३२ ॥
है उद्दण्ड, उग्र-तेजस्वी, अभिमानी वह उत्कट
देवराज का द्वेषी है वह, त्रिभुवन का है संकट।
साधु, मनस्वी, देवों, मनुजों को करता है पीड़ित
प्रभो ! आपके द्वारा जड़ से हो विनष्ट यह कण्टक ॥ ३३ ॥
रुला रहा जो इस त्रिभुवन को उस रावण को मारें
उसके सैन्य, बन्धु, बल को भी शीघ्रतया संहारें।
तब फिर जिसको राग-द्वेष के दोष नहीं छू पाते
उस अपने वैकुण्ठ धाम में, प्रभुवर ! पुनः पधारें ॥ ३४ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १५ ॥

सोलहवाँ सर्ग

देवताओं का श्रीहरि से रावण-वध के लिए मनुष्य-रूप में अवतीर्ण होने को कहना, राजा के पुत्रेष्टि यज्ञ में अग्निकुण्ड से प्राजापत्य पुरुष का प्रकट होकर खीर अर्पण करना और उसे खाकर रानियों का गर्भवती होना

देवों द्वारा रावण-वध के लिए हुए जब विष्णु नियोजित।
सर्वव्यापी होकर भी वे देवों से बोले वचन मधुर अति ॥ १ ॥
रावण-वध के लिए कौन है देवो ! कहें उपाय कार्यकर ?।
जिसका आश्रय ले, ऋषियों का कण्टक मेटूँ उसे मारकर ॥ २ ॥
उत्तर में, अविनाशी हरि से बोले इस प्रकार सब सुर-वर।
रण में मारें प्रभो ! आप अब, उसको अपना मनुज-रूप-धर ॥ ३ ॥
बहुत काल, रावण रिपुघ्न ने तप था पहले किया तीव्रतर।
लोक, सकल लोकों में स्रष्टा हुए प्रसन्न विधाता उस पर ॥ ४ ॥
ब्रह्मा ने सन्तुष्ट भाव से उसे दे दिया था तब यह वर।
मनुज छोड़कर अन्य, तुम्हारा प्राणी होगा नहीं प्राण-हर ॥ ५ ॥

अवज्ञाताः पुरा तेन वरदाने हि मानवाः।
एवं पितामहात् तस्माद् वरदानेन गर्वितः॥ ६ ॥
उत्सादयति लोकांस्त्रीन् स्त्रियश्चाप्युपकर्षति।
तस्मात् तस्य वधो दृष्टो मानुषेभ्यः परंतप॥ ७ ॥
इत्येतद् वचनं श्रुत्वा सुराणां विष्णुरात्मवान्।
पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम्॥ ८ ॥
स चाप्यपुत्रो नृपतिस्तस्मिन् काले महाद्युतिः।
अयजत् पुत्रियामिष्टिं पुत्रेप्सुररिसूदनः॥ ९ ॥
स कृत्वा निश्चयं विष्णुरामन्त्र्य च पितामहम्।
अन्तर्धानं गतो देवैः पूज्यमानो महर्षिभिः॥ १० ॥
ततो वै यजमानस्य पावकादतुलप्रभम्।
प्रादुर्भूतं महद् भूतं महावीर्यं महाबलम्॥ ११ ॥
कृष्णं रक्ताम्बरधरं रक्तास्यं दुन्दुभिस्वनम्।
स्निग्धहर्यक्षतनुजश्मश्रुप्रवरमूर्धजम्॥ १२ ॥
शुभलक्षणसम्पन्नं दिव्याभरणभूषितम्।
शैलशृङ्गसमुत्सेधं दृप्तशार्दूलविक्रमम्॥ १३ ॥
दिवाकरसमाकारं दीप्तानलशिखोपमम्।
तप्तजाम्बूनदमयीं राजतान्तपरिच्छदाम्॥ १४ ॥
दिव्यपायससम्पूर्णां पात्रीं पत्नीमिव प्रियाम्।
प्रगृह्य विपुलां दोर्भ्यां स्वयं मायामयीमिव॥ १५ ॥
समवेक्ष्याब्रवीद् वाक्यमिदं दशरथं नृपम्।
प्राजापत्यं नरं विद्धि मामिहाभ्यागतं नृप॥ १६ ॥
ततः परं तदा राजा प्रत्युवाच कृताञ्जलिः।
भगवन् स्वागतं तेऽस्तु किमहं करवाणि ते॥ १७ ॥
अथो पुनरिदं वाक्यं प्राजापत्यो नरोऽब्रवीत्।
राजन्नर्चयता देवानद्य प्राप्तमिदं त्वया॥ १८ ॥
इदं तु नृपशार्दूल पायसं देवनिर्मितम्।
प्रजाकरं गृहाण त्वं धन्यमारोग्यवर्धनम्॥ १९ ॥
भार्याणामनुरूपाणामश्नीतेति प्रयच्छ वै।
तासु त्वं लप्स्यसे पुत्रान् यदर्थं यजसे नृप॥ २० ॥
तथेति नृपतिः प्रीतः शिरसा प्रतिगृह्य ताम्।
पात्रीं देवान्नसम्पूर्णां देवदत्तां हिरण्मयीम्॥ २१ ॥
अभिवाद्य च तद्भूतमद्भुतं प्रियदर्शनम्।
मुदा परमया युक्तश्चकाराभिप्रदक्षिणम्॥ २२ ॥

दुर्बल समझ, मनुज को उसने अवहेलित था किया उस समय।
विधि-वर से दर्पान्ध हो रहा है मदान्ध वह रावण अतिशय ॥ ६ ॥
त्रिभुवन को पीड़ित करता वह महिलाओं का तथा अपहरण।
अतः परंतप ! होगा उसका नर से निश्चित शीघ्र अब मरण ॥ ७ ॥
जिनके वश में सभी जीव हैं, उन हरि ने सुर-वचन श्रवण कर।
दशरथ को ही पिता-रूप में माना उचित अवतरण-क्षण पर ॥ ८ ॥
उसी समय सुत-हीन सर्वथा रिपुसूदन दशरथ भूपति-वर।
पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से ही, थे पुत्रेष्टि यज्ञ में तत्पर ॥ ९ ॥
नृप दशरथ को पिता मानकर, देवों, ऋषियों से हो पूजित।
विधि-अनुमति ले, विष्णुदेव तब अन्तर्धान हुए जग-वन्दित ॥ १० ॥
तभी नृपति के अग्निकुण्ड से हुआ विशालकाय नर प्रकटित।
दिखता था वह बली, विक्रमी, तुलना-हीन दीप्ति से दीपित ॥ ११ ॥
अंग-कान्ति थी श्याम, अरुण मुख, वाणी दुन्दुभि-सम, अरुण वसन।
दाढ़ी-मूछ-केश कोमल सब, ओष्ठ वृहत् केहरि-वत् (नूतन) ॥ १२ ॥
शैल-शिखर-सम उन्नत था वह, दिव्य भूषणों से अति भूषित।
शुभलक्षण-सम्पन्न, चाल थी सिंह-सदृश बल से अति गर्वित ॥ १३ ॥
सूर्य-सदृश आकृति थी उसकी ज्वलित अग्नि-सा था वह दीपित।
हाथों में थी तप्त स्वर्ण की थाली रजतपात्र-आच्छादित ॥ १४ ॥
खीर-भरी मायाविनि थाली, दोनों भुज पर शोभित वैसे।
पत्नी (मायाविनि) अकस्था रसिक पुरुष की हो प्रिय जैसे ॥ १५ ॥
नृप दशरथ की ओर देखकर उसने फिर ऐसा बतलाया।
आज्ञापित होकर ब्रह्मा से, ब्रह्म-लोक ही से मैं आया ॥ १६ ॥
तदनन्तर श्री दशरथ बोले, उससे अपने हाथ जोड़कर।
क्या सेवा मैं करूँ आपकी ? स्वागत ! धन्य ! कहें आगतवर ! ॥ १७ ॥
प्राजापत्य पुरुष बोला, नृप ! तुमसे हैं आराधित सुर-वर।
अतः आज इस वस्तु-प्राप्ति का तुम्हें मिला है उत्तम अवसर ॥ १८ ॥
देवों द्वारा यह निर्मित है खीर, भूप ! सन्तति की दात्री।
स्वीकारो इसको, यह है शुभ श्री, सम्पद्, आरोग्य-विधात्री ॥ १९ ॥
अपनी योग्य रानियों को दे इसे, कहो इसको खाने को।
उनसे तुमको पुत्र मिलेंगे, किया यज्ञ जिनको पाने को ॥ २० ॥
'अच्छा' कह, देवान्न-स्वर्णथाली को सत्वर ग्रहण तब किया।
और मुदित हो नृप ने उसको निज मस्तक पर शीघ्र रख लिया ॥ २१ ॥
तदनन्तर अद्भुत प्रियदर्शन श्रेष्ठपुरुष के कर पद-वन्दन।
प्रदक्षिणा उसकी नृप ने की फिर होकर अतिशय प्रसन्न मन ॥ २२ ॥

ततो दशरथः प्राप्य पायसं देवनिर्मितम् ।
बभूव परमप्रीतः प्राप्य वित्तमिवाधनः ॥ २३ ॥
ततस्तदद्भुतप्रख्यं भूतं परमभास्वरम् ।
संवर्तयित्वा तत् कर्म तत्रैवान्तरधीयत ॥ २४ ॥
हर्षरश्मिभिरुद्द्योतं तस्यान्तःपुरमाबभौ ।
शारदस्याभिरामस्य चन्द्रस्येव नभोंऽशुभिः ॥ २५ ॥
सोऽन्तःपुरं प्रविश्यैव कौसल्यामिदमब्रवीत् ।
पायसं प्रतिगृह्णीष्व पुत्रीयं त्विदमात्मनः ॥ २६ ॥
कौसल्यायै नरपतिः पायसार्धं ददौ तदा ।
अर्धादर्धं ददौ चापि सुमित्रायै नराधिपः ॥ २७ ॥
कैकेय्यै चावशिष्टार्धं ददौ पुत्रार्थकारणात् ।
प्रददौ चावशिष्टार्धं पायसस्यामृतोपमम् ॥ २८ ॥
अनुचिन्त्य सुमित्रायै पुनरेव महामतिः ।
एवं तासां ददौ राजा भार्याणां पायसं पृथक् ॥ २९ ॥
ताश्चैवं पायसं प्राप्य नरेन्द्रस्योत्तमस्त्रियः ।
सम्मानं मेनिरे सर्वाः प्रहर्षोदितचेतसः ॥ ३० ॥

ततस्तु ताः प्राश्य तमुत्तमस्त्रियो
महीपतेरुत्तमपायसं पृथक् ।
हुताशनादित्यसमानतेजसो-
ऽचिरेण गर्भान् प्रतिपेदिरे तदा ॥ ३१ ॥

ततस्तु राजा प्रतिवीक्ष्य ताः स्त्रियः
प्ररूढगर्भाः प्रतिलब्धमानसः ।
बभूव हृष्टस्त्रिदिवे यथा हरिः
सुरेन्द्रसिद्धर्षिगणाभिपूजितः ॥ ३२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

पुत्रत्वं तु गते विष्णौ राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
उवाच देवताः सर्वाः स्वयम्भूर्भगवानिदम् ॥ १ ॥
सत्यसंधस्य वीरस्य सर्वेषां नो हितैषिणः ।
विष्णोः सहायान् बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः ॥ २ ॥
मायाविदश्च शूरांश्च वायुवेगसमान् जवे ।
नयज्ञान् बुद्धिसम्पन्नान् विष्णुतुल्यपराक्रमान् ॥ ३ ॥

देव-विनिर्मित खीर प्राप्त कर पुलकित हुई नृपति की काया।
जैसे कोई निर्धन होता धन्य, प्राप्त कर अतिशय माया ॥ २३ ॥
तब वह अद्भुत, अति तेजस्वी, ब्रह्माज्ञा का कार्य-सिद्ध कर।
ब्रह्म-लोक का गया वहाँ से अन्तर्धान शीघ्र ही होकर ॥ २४ ॥
अन्तःपुर की सभी रानियाँ कान्ति-किरण से मुदित प्रकाशित।
वैसे, जैसे शशि-किरणों से शरद्-गगन होता है भासित ॥ २५ ॥
अन्तःपुर में कौसल्या से बोले नृप पायस ले अद्भुत।
इसे करो स्वीकार देवि! तुम अपने-हित पाने को अब सुत ॥ २६ ॥
आधी खीर नृपति ने दे दी कौसल्या को पुत्र-प्राप्ति-हित।
तथा अर्ध का अर्ध भाग फिर, किया सुमित्रा जी को अर्पित ॥ २७ ॥
उन दोनों को दे देने पर पायसांश जो शेष रह गया।
उसका भी अर्धांश भाग फिर कैकेयी को शीघ्र दे दिया ॥ २८ ॥
कुछ विचार कर शेष भाग को पुनः सुमित्रा को कर अर्पित।
तुष्ट हुए नृप इस प्रकार से करके पायस सबको वितरित ॥ २९ ॥
नृप-कर से पाकर वे समझीं सभी रानियाँ निज को मानित।
और सभी उस समय हो गईं भलीभाँति से मन में हर्षित ॥ ३० ॥
महारानियों ने खाई जब इस विधि खीर समुत्तम
यथासमय तब हुईं सभी वे गर्भ-धारिणी निरुपम।
मख-प्रभाव से सभी गर्भ थे अद्भुत और अलौकिक
थे अतिशय तेजस्वी वे सब दिनकर और अनल-सम ॥ ३१ ॥
गर्भवती देखा जब इनको नृपति हुए तब प्रमुदित
मन में समझा, यज्ञ हमारा सफल हुआ मनवाञ्छित।
इन्द्र, सिद्ध, ऋषि-पूज्य स्वर्ग में हरि प्रसन्न हैं जैसे
वैसे भू पर हुए तुष्ट नृप इन्द्र, सिद्ध, ऋषि-मानित ॥ ३२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

सत्रहवाँ सर्ग

ब्रह्माजी की प्रेरणा से देवता आदि के द्वारा विभिन्न वानरयूथपतियों की उत्पत्ति

श्री दशरथ के पुत्र-भाव को प्राप्त हुए जब स्वयं विष्णु हरि।
बोले सभी देवताओं से श्री विरञ्चिवर वचन ये रुचिर ॥ १ ॥
सत्यरूप विक्रम-स्वरूप हरि, हम सबके हितकर शुभदायक।
देवो! सृष्टि करो पुत्रों की जो उनके हो सकें सहायक ॥
शूर-वीर गति पवन-सदृश मनचाहा रूप धरें मायाविद्।
बुद्धि, नीति, जय, दिव्य देहयुत बहु उपाय औ विविध अस्त्रविद् ॥

असंहार्याननुपायज्ञान् दिव्यसंहननान्वितान् ।
सर्वास्त्रगुणसम्पन्नानमृतप्राशनानिव ॥ ४ ॥
अप्सरस्सु च मुख्यासु गन्धर्वीणां तनूषु च ।
यक्षपन्नगकन्यासु ऋक्षविद्याधरीषु च ॥ ५ ॥
किन्नरीणां च गात्रेषु वानरीणां तनूषु च ।
सृजध्वं हरिरूपेण पुत्रांस्तुल्यपराक्रमान् ॥ ६ ॥
पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवानृक्षपुङ्गवः ।
जृम्भमाणस्य सहसा मम वक्त्रादजायत ॥ ७ ॥
ते तथोक्ता भगवता तत् प्रतिश्रुत्य शासनम् ।
जनयामासुरेवं ते पुत्रान् वानररूपिणः ॥ ८ ॥
ऋषयश्च महात्मानः सिद्धविद्याधरोरगाः ।
चारणाश्च सुतान् वीरान् ससृजुर्वनचारिणः ॥ ९ ॥
वानरेन्द्रं महेन्द्राभमिन्द्रो वालिनमात्मजम् ।
सुग्रीवं जनयामास तपनस्तपतां वरः ॥ १० ॥
बृहस्पतिस्त्वजनयत् तारं नाम महाकपिम् ।
सर्ववानरमुख्यानां बुद्धिमन्तमनुत्तमम् ॥ ११ ॥
धनदस्य सुतः श्रीमान् वानरो गन्धमादनः ।
विश्वकर्मा त्वजनयन्नलं नाम महाकपिम् ॥ १२ ॥
पावकस्य सुतः श्रीमान् नीलोऽग्निसदृशप्रभः ।
तेजसा यशसा वीर्यादत्यरिच्यत वीर्यवान् ॥ १३ ॥
रूपद्रविणसम्पन्नावश्विनौ रूपसम्मतौ ।
मैन्दं च द्विविदं चैव जनयामासतुः स्वयम् ॥ १४ ॥
वरुणो जनयामास सुषेणं नाम वानरम् ।
शरभं जनयामास पर्जन्यस्तु महाबलः ॥ १५ ॥
मारुतस्यौरसः श्रीमान् हनुमान् नाम वानरः ।
वज्रसंहननोपेतो वैनतेयसमो जवे ॥ १६ ॥
सर्ववानरमुख्येषु बुद्धिमान् बलवानपि ।
ते सृष्टा बहुसाहस्रा दशग्रीववधोद्यताः ॥ १७ ॥
अप्रमेयबला वीरा विक्रान्ताः कामरूपिणः ।
ते गजाचलसंकाशा वपुष्मन्तो महाबलाः ॥ १८ ॥
ऋक्षवानरगोपुच्छाः क्षिप्रमेवाभिजज्ञिरे ।
यस्य देवस्य यद्रूपं वेषो यश्च पराक्रमः ॥ १९ ॥
अजायत समं तेन तस्य तस्य पृथक् पृथक् ।
गोलाङ्गूलेषु चोत्पन्नाः किंचिदुन्नतविक्रमाः ॥ २० ॥

कभी पराजित नहीं विष्णु-सम, दृढ़ो, अमृतभोजी देवों-सम।
करो अवतरित ऐसे सुत जो, हे सुरगण! हों सब विधि अनुपम ॥ २-४ ॥
प्रमुख अप्सराएँ, गन्धर्विणि, यक्ष, नाग की कन्याओं से।
ऋक्ष-पत्नियों, विद्याधरियों आदि सुन्दरी ललनाओं से ॥
वानरियों, किन्नरियों से भी पुत्रों की उत्पत्ति करें अब।
तुम जैसे ही विक्रम-युत हों वानर-तन में वे सब के सब ॥ ५-६ ॥
एक बार जमहाई आई, प्रकट हो चुका मुख के द्वारा।
जामवन्त मम सुत पहले हो, वानरदल का प्रबल सहारा ॥ ७ ॥
ब्रह्माजी की इस आज्ञा को देवों ने स्वीकार कर लिया।
तथा शीघ्र वानर-स्वरूप में पुत्रों को उत्पन्न तब किया ॥ ८ ॥
सिद्ध, महात्मा, ऋषि, विद्याधर, नाग, चारणों ने भी मिलकर।
वन-विचरक कपि, ऋक्ष-रूप में पुत्र किये उत्पन्न श्रेष्ठतर ॥ ९ ॥
सुरपति ने महेन्द्र गिरि जैसा बालिराज उत्पन्न तब किया।
फिर सुकण्ठ ने तपनेवाले सूर्यदेव से जन्म शुभ लिया ॥ १० ॥
बुद्धिमान अति महाकाय कपि 'तार' बृहस्पति ने उपजाया।
वानर सरदारों में उन्नत पद प्रशस्त था इसने पाया ॥ ११ ॥
था कुबेर का पुत्र यूथ-पति बली गन्धमादन कपि उत्तम।
और विश्वकर्मा से जन्मे नल नामक कपिवर महानतम ॥ १२ ॥
अग्नि-सदृश तेजस्वी उपजे अग्निदेव से नील कपीश्वर।
जो थे बली, यशस्वी अतिशय, वीर्यवान थे सबसे बढ़कर ॥ १३ ॥
सुन्दरतम अश्विनी-कुमारों से जन्मे थे मैन्द औ द्विविद।
वे भी थे पितु के समान ही बली, वैभवी और शस्त्रविद् ॥ १४ ॥
फिर सुषेण ने वरुणदेव से कपि-स्वरूप में जन्म तब लिया।
महाबली पर्जन्य देव ने पुत्र शरभ उत्पन्न कर दिया ॥ १५ ॥
वाहन-विष्णु गरुड़ के तद्वत् गति में जो कपिवर-समान थे।
पवनदेव के वज्र-शरीरी प्रिय सुपुत्र श्री हनूमान थे ॥ १६ ॥
सभी वानरों में बलशाली और बुद्धि में थे सर्वोत्तम।
वह सहस्र कपि जन्मे जिनका एक मात्र रावण-वध-उद्यम ॥ १७ ॥
उन सबमें ही बल असीम था, महाकाय थे गजों, नगों-सम।
वे ऐच्छिक स्वरूप-धारक थे, अनुपमेय था उनमें विक्रम ॥ १८ ॥
जो जन्मा जिस सुर से उसका वैसा वेष और विक्रम था।
वानर, ऋक्ष ओर लंगूरों का समयोचित हुआ जनम था ॥
पृथक्-पृथक् देवों-जैसा ही पृथक्-पृथक् उनका था लक्षण।
अन्य देव-कपियों से लेकिन लंगूरों का अधिक विलक्षण ॥१९-२०॥

ऋक्षीषु च तथा जाता वानराः किन्नरीषु च।
देवा महर्षिगन्धर्वास्तार्क्ष्ययक्षा यशस्विनः॥ २१॥
नागाः किंपुरुषाश्चैव सिद्धविद्याधरोरगाः।
बहवो जनयामासुर्हृष्टास्तत्र सहस्रशः॥ २२॥
चारणाश्च सुतान् वीरान् ससृजुर्वनचारिणः।
वानरान् सुमहाकायान् सर्वान् वै वनचारिणः॥ २३॥
अप्सरस्सु च मुख्यासु तथा विद्याधरीषु च।
नागकन्यासु च तदा गन्धर्वीणां तनूषु च।
कामरूपबलोपेता यथाकामविचारिणः॥ २४॥
सिंहशार्दूलसदृशा दर्पेण च बलेन च।
शिलाप्रहरणाः सर्वे सर्वे पर्वतयोधिनः॥ २५॥
नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः।
विचालयेयुः शैलेन्द्रान् भेदयेयुः स्थिरान् द्रुमान्॥ २६॥
क्षोभयेयुश्च वेगेन समुद्रं सरितां पतिम्।
दारयेयुः क्षितिं पद्भ्यामाप्लवेयुर्महार्णवान्॥ २७॥
नभस्तलं विशेयुश्च गृह्णीयुरपि तोयदान्।
गृह्णीयुरपि मातङ्गान् मत्तान् प्रव्रजतो वने॥ २८॥
नर्दमानांश्च नादेन पातयेयुर्विहङ्गमान्।
ईदृशानां प्रसूतानि हरीणां कामरूपिणाम्॥ २९॥
शतं शतसहस्राणि यूथपानां महात्मनाम्।
ते प्रधानेषु यूथेषु हरीणां हरियूथपाः॥ ३०॥
बभूवुर्यूथपश्रेष्ठान् वीरांश्चाजनयन् हरीन्।
अन्ये ऋक्षवतः प्रस्थानुपतस्थुः सहस्रशः॥ ३१॥
अन्ये नानाविधाञ्छैलान् काननानि च भेजिरे।
सूर्यपुत्रं च सुग्रीवं शक्रपुत्रं च वालिनम्॥ ३२॥
भ्रातरावुपतस्थुस्ते सर्वे च हरियूथपाः।
नलं नीलं हनूमन्तमन्यांश्च हरियूथपान्॥ ३३॥
ते तार्क्ष्यबलसम्पन्नाः सर्वे युद्धविशारदाः।
विचरन्तोऽर्दयन् सर्दान् सिंहव्याघ्रमहोरगान्॥ ३४॥
महाबलो महाबाहुर्वाली विपुलविक्रमः।
जुगोप भुजवीर्येण ऋक्षगोपुच्छवानरान्॥ ३५॥
तैरियं पृथिवी शूरैः सपर्वतवनार्णवा।
कीर्णा विविधसंस्थानैर्नानाव्यञ्जनलक्षणैः॥ ३६॥

ऋक्ष जाति की माताओं से जन्मे कुछ कपि किन्नरियों से।
कुछ देवों, गन्धर्व यशस्वी यक्षों, गरुड़ और ऋषियों से ॥
विद्याधर, किंपुरुष, सिद्ध, नागों ने भी बहु सुत उपजाये।
इसी भाँति अन्यान्य सहस्रों के कपि-रूप विपुल सुत आये ॥२१-२२॥

और देव-गुण गानेवाले हुए चारणों से कुछ वानर।
रहते थे सुविशालकाय ये वन में मूल-फलों को खाकर ॥ २३ ॥

प्रमुख अप्सरा, विद्याधरियों, गन्धर्वविणियों के विशेषकर।
हुए गर्भ से कपि सुत कोटिक, नाग-सुताओं के भी दृढ़तर ॥
मनचाहा स्वरूप धर लेते, मनमाना करते वे विचरण।
सिंहों, व्याघ्रों के समान था इन सबमें बल-दर्प विलक्षण ॥
शैल उठाकर ये लड़ते थे सभी शिला-पाषाण-प्रहारी।
नख-दन्तों से आघात और सब शास्त्रों के थे सञ्चारी ॥
गिरि-शृंगों को डगमग करते, अचल द्रुमों को तोड़ फकते।
(तोड़-फोड़, विक्रम विशाल, करते विनष्ट जब जिधर देखते) ॥२४-२६॥
पृथ्वी को विदीर्ण कर देने को सक्षम पाद-प्रहार था।
क्षुब्ध सरित्पति सिन्धु, किया क्षण में कपि ने जब उसे पार था ॥ २७ ॥
चाहें तो नभ में हों प्रविष्ट मेघों को कर से धरें पकड़।
चाहें, करें मत्त वनचारी, गजराजों का शीघ्र अधिग्रहण ॥ २८ ॥
निज गर्जन से गगनाचारी खग-समूह ले आते भू पर।
मनचाहा बहुरूप-धरन अतिबली विराटकाय थे कपिवर ॥
यूथों का भी वीर यूथ-पति, एक-एक था यहाँ कपीश्वर।
कोटि-कोटि की संखया में उत्पन्न हुए वानर पृथिवी पर ॥२९-३०॥
सकल यूथ-पतियों से भी उत्पन्न हुए अतिबली कपीश्वर।
अद्‌भुत कीस सहस्रों रहते थे अनेक, गिरि ऋक्षवान पर ॥ ३१ ॥
अन्य वानरों ने विभिन्न गिरि और वनों का लिया समाश्रय।
इन्द्र, सूर्य देवों के क्रमशः बाली और सुकण्ठ पुत्र द्वय ॥
सभी यूथपति वानर इनकी सेवा में रहते थे तत्पर।
इन यूथाधिप कपीश्वरों में थे हनुमत्, नल, नील, अन्य वर ॥
युद्ध-विशारद थे सब कपि ये बलशाली थे सभी गरुड़-सम।
सिंह, व्याघ्र, नागादि जन्तुओं के मर्दन में क्षण में सक्षम ॥३२-३४॥
महाबाहु कपिवर बाली थे महाबली, विक्रमी, विलक्षण।
रीछ, वानरों, लंगूरों का किया बाहु-बल से संरक्षण ॥ ३५ ॥
नाना रूपी, विविध शरीरी, एक-एक से पृथक् विलक्षण।
सागर, शैल, वनों, भूमण्डल भर में फैल गये ये कपिगण ॥ ३६ ॥

तैर्मेघवृन्दाचलकूटसंनिभै-
महाबलैर्वानरयूथपाधिपैः ।
बभूव भूर्भीमशरीररूपैः
समावृता रामसहायहेतोः ॥ ३७ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

निर्वृत्ते तु क्रतौ तस्मिन् हयमेधे महात्मनः ।
प्रतिगृह्यामरा भागान् प्रतिजग्मुर्यथागतम् ॥ १ ॥

समाप्तदीक्षानियमः पत्नीगणसमन्वितः ।
प्रविवेश पुरीं राजा सभृत्यबलवाहनः ॥ २ ॥

यथार्हं पूजितास्तेन राज्ञा च पृथिवीश्वराः ।
मुदिताः प्रययुर्देशान् प्रणम्य मुनिपुङ्गवम् ॥ ३ ॥

श्रीमतां गच्छतां तेषां स्वगृहाणि पुरात् ततः ।
बलानि राज्ञां शुभ्राणि प्रहृष्टानि चकाशिरे ॥ ४ ॥

गतेषु पृथिवीशेषु राजा दशरथः पुनः ।
प्रविवेश पुरीं श्रीमान् पुरस्कृत्य द्विजोत्तमान् ॥ ५ ॥

शान्तया प्रययौ सार्धमृष्यशृङ्गः सुपूजितः ।
अनुगम्यमानो राज्ञा च सानुयात्रेण धीमता ॥ ६ ॥

एवं विसृज्य तान् सर्वान् राजा सम्पूर्णमानसः ।
उवास सुखितस्तत्र पुत्रोत्पत्तिं विचिन्तयन् ॥ ७ ॥

ततो यज्ञे समाप्ते तु ऋतूनां षट् समत्ययुः ।
ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ ॥ ८ ॥

नक्षत्रेऽदितिदैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु ।
ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह ॥ ९ ॥

प्रोद्यमाने जगन्नाथं सर्वलोकनमस्कृतम् ।
कौसल्याजनयद् रामं दिव्यलक्षणसंयुतम् ॥ १० ॥
विष्णोरर्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकुनन्दनम् ।
लोहिताक्षं महाबाहुं रक्तोष्ठं दुन्दुभिस्वनम् ॥ ११ ॥
कौसल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा ।
यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना ॥ १२ ॥

ये थे विस्तृतकाय यूथपित घन-समूह, पर्वत-सम
रिपु के लिए भयंकर, था अपार इनमें बल-विक्रम।
रामचन्द्र को सहायता हित ये सब प्रकट हुए थे
फैल गये चौतरफ़ धरा पर वानर-यूथ वीरतम॥ ३७॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
सत्रहवाँ सर्ग समाप्त॥ १७॥

अठारहवाँ सर्ग

राजाओं तथा ऋष्यशृङ्ग को विदा करके राजा दशरथ का रानियों-सहित पुरी में आगमन; श्रीराम, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न के जन्म, संस्कार, शील-स्वभाव एवं सद्गुण, राजा के दरबार में विश्वामित्र का आगमन और उनका सत्कार

यज्ञ हुआ सम्पन्न सर्वथा, हुए निवृत्त महात्मा नृपवर।
अपने-अपने अंश ग्रहण कर गये देव निज-निज निवास पर॥ १॥
दीक्षा-विधि समाप्त होने पर सभी रानियों को सँग लेकर।
वाहन, सैन्य, सहचरों से युत हुए प्रविष्ट पुरी में नृपवर॥ २॥
मुनि वसिष्ठ औ ऋष्यशृंग को कर प्रणाम प्रमुदित भूपतिवर।
विदा हुए, पहुँचे स्वदेश को दशरथ से सम्मानित होकर॥ ३॥
चले अवध से भूपतियों के सकल शुभ्र सैनिक हर्षान्वित।
सभी समादृत चले सदल-बल, सभी हो रहे थे अति शोभित॥ ४॥
महाराज श्री दशरथ जी ने जब भूपों को विदा कर दिया।
विप्रवरों को आगे करके अनुपम पुरी-प्रवेश तब किया॥ ५॥
शान्ता के सँग ऋष्यशृंग भी गये नृपति से होकर पूजित।
दशरथ भी कुछ दूर भेजने गये उन्हें सेवकों के सहित॥ ६॥
सकल अतिथियों को प्रसन्न मन करके विदा अयोध्या के पति।
करने लगे निवास मुदित हो उर में उत्सुकता सुत की अति॥ ७॥
यज्ञ-पूर्ति उपरान्त पुनः षड्ऋतुओं के व्यतीत होने पर।
द्वादश मास अनन्तर आई चैत्र शुक्ल की नवमी सुन्दर॥
कर्क लग्न, नक्षत्र पुनर्वसु, रवि, मंगल, शनि, गुरु, भृगु ये सब।
शुभ ग्रह थे परमोच्च राशि में, गुरु-शशि योग लग्न में था तब॥
देवी कौसल्या ने ऐसे शुभ लक्षणमय शुभ अवसर पर।
जन्म दिया श्री रामचन्द्र को, जो हैं जग-वन्दित जगदीश्वर॥८-१०॥
प्रकट हुए हरि अर्ध अंश से, ये इक्ष्वाकु-वंश के नन्दन।
अरुण नयन, अरुणोष्ठ, दीर्घ भुज, दुन्दुभि-समान स्वर सुखवर्धन॥ ११॥
अति तेजस्वी सुत से देवी कौसल्या थीं शोभा पातीं।
जैसे वज्रपाणि सुरपति से मातु अदिति थीं दिव्य लखातीं॥ १२॥

भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः।
साक्षाद् विष्णोश्चतुर्भागः सर्वैः समुदितो गुणैः ॥ १३ ॥
अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत् सुतौ।
वीरौ सर्वास्त्रकुशलौ विष्णोरर्धसमन्वितौ ॥ १४ ॥
पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः।
सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ ॥ १५ ॥
राज्ञः पुत्रा महात्मानश्चत्वारो जज्ञिरे पृथक्।
गुणवन्तोऽनुरूपाश्च रुच्या प्रोष्ठपदोपमाः ॥ १६ ॥
जगुः कलं च गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च खात् पतत् ॥ १७ ॥
उत्सवश्च महानासीदयोध्यायां जनाकुलः।
रथ्याश्च जनसम्बाधा नटनर्तकसंकुलाः ॥ १८ ॥
गायनैश्च विराविण्यो वादनैश्च तथापरैः।
विरेजुर्विपुलास्तत्र सर्वरत्नसमन्विताः ॥ १९ ॥
प्रदेयांश्च ददौ राजा सूतमागधवन्दिनाम्।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं गोधनानि सहस्रशः ॥ २० ॥
अतीत्यैकादशाहं तु नामकर्म तथाकरोत्।
ज्येष्ठं रामं महात्मानं भरतं कैकयीसुतम् ॥ २१ ॥
सौमित्रिं लक्ष्मणमिति शत्रुघ्नमपरं तथा।
वसिष्ठः परमप्रीतो नामानि कुरुते तदा ॥ २२ ॥
ब्राह्मणान् भोजयामास पौरजानपदानपि।
अददद् ब्राह्मणानां च रत्नौघममलं बहु ॥ २३ ॥
तेषां जन्मक्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत्।
तेषां केतुरिव ज्येष्ठो रामो रतिकरः पितुः ॥ २४ ॥
बभूव भूयो भूतानां स्वयम्भूरिव सम्मतः।
सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः ॥ २५ ॥
सर्वे ज्ञानोपसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः।
तेषामपि महातेजा रामः सत्यपराक्रमः ॥ २६ ॥
इष्टः सर्वस्य लोकस्य शशाङ्क इव निर्मलः।
गजस्कन्धेऽश्वपृष्ठे च रथचर्यासु सम्मतः ॥ २७ ॥
धनुर्वेदे च निरतः पितुः शुश्रूषणे रतः।
बाल्यात् प्रभृति सुस्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः ॥ २८ ॥
रामस्य लोकरामस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः।
सर्वप्रियकरस्तस्य रामस्यापि शरीरतः ॥ २९ ॥

कैकेयी से सत्यविक्रमी, गुणी भरत का जन्म हुआ था।
इनमें पायस-अष्टांश-सदृश अवतार विष्णु का प्रकट हुआ था।। १३ ।।
हुआ सुमित्रा से श्री लक्ष्मण और वीर शत्रुघ्न-जन्म फिर।
इन शस्त्रज्ञों में था निश्चय अर्ध अंश श्रीहरि का सुस्थिर।। १४ ।।
पुष्यभ, मीन लग्न में जन्मे भरत, सुमित्रा के दो सुतवर।
आश्लेषाभ सुकर्क लग्न में जन्मे रवि था दशम भाव पर।। १५ ।।
पृथक्-पृथक् गुण-युत ये चारों दशरथ-सुत थे अतिशय सुन्दर।
भाद्रपदा नक्षत्र-सदृश ही ये थे चारों दिव्य कान्ति-धर।। १६ ।।
किया अप्सराओं ने नर्तन, गन्धर्वों ने गायन गाये।
देवों ने दुन्दुभी बजाकर नभ से दिव्य पुष्प बरसाये।। १७ ।।
हुई महोत्सवमयी अयोध्या, हुए राजपथ, पथ-जन-पूरित।
हुए नर्तकों और नटों से कला-प्रदर्शन वहाँ अपरिमित।। १८ ।।
गान, वाद्य, जन-रव से नगरी, मनोहारिणी हुई सुगुञ्जित।
दीन जनों के लिए लुटाये गये रत्न से थे पथ पूरित।। १९ ।।
पुरस्कार तब दिये नृपति ने सूत, मागधों, वन्दिजनों को।
और प्रदान किये धन, गोधन, बहु सहस्र सब विप्रवरों को।। २० ।।
नामकरण-सस्कार किया फिर ग्यारह दिन पूरे होने पर।
गुरु वशिष्ठ ने ज्येष्ठ पुत्र का 'राम' नाम रक्खा शुभ सुन्दर।।
भरत नाम कैकेयी-सुत का और सुमित्रा-सुवन सुलक्षण।
छोटे थे शत्रुघ्न और थे ज्येष्ठ प्रतापवान् श्री लक्ष्मण ।।२१-२२।।
जनपद-वासि जनों, विप्रों औ नगरवासियों को भोजन से।
तुष्ट किया भूपति ने पुनरपि विप्रों को रत्नों से, धन से।। २३ ।।
जातकर्म आदिक वसिष्ठ ने किये सभी संस्कार समय पर।
थे स्फुरिता कुल-कीर्ति पताका-सदृश राम, नृप के सुत प्रियवर।। २४ ।।
सब भूतों के लिए स्वयम्भू ब्रह्मा जैसे थे ये प्रियवर।
सभी वेद-विद् शूरवीर थे लोक-हितेच्छा में सब तत्पर।। २५ ।।
ज्ञानी, गुण-सम्पन्न सभी थे नृप दशरथ के चारों सुतवर।
उनमें सत्यविक्रमी जन-प्रिय तेजस्वी थे राम श्रेष्ठतर।। २६ ।।
अश्व और गज-आरोहण में पटु थे वे रथ के सञ्चालक।
निष्कलंक शशि के समान वे शोभित होते थे सुखकारक।। २७ ।।
धनुर्वेद-अभ्यास, पिता की सेवा में रहते थे तत्पर।
बाल समय से लक्ष्मि-विवर्धक लक्ष्मण थे रामानुरागि वर।। २८ ।।
वे अग्रज लोकाभिराम श्री रामचन्द्र के थे अति प्रियकर।
तन-मन से सदैव वे इनकी सेवा में रहते थे तत्पर।। २९ ।।

लक्ष्मणो लक्ष्मिसम्पन्नो बहिःप्राण इवापरः।
न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः॥ ३०॥
मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति न हि तं विना।
यदा हि हयमारूढो मृगयां याति राघवः॥ ३१॥
अथैनं पृष्ठतोऽभ्येति सधनुः परिपालयन्।
भरतस्यापि शत्रुघ्नो लक्ष्मणावरजो हि सः॥ ३२॥
प्राणैः प्रियतरो नित्यं तस्य चासीत् तथा प्रियः।
स चतुर्भिर्महाभागैः पुत्रैर्दशरथः प्रियैः॥ ३३॥
बभूव परमप्रीतो देवैरिव पितामहः।
ते यदा ज्ञानसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः॥ ३४॥
ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च सर्वज्ञा दीर्घदर्शिनः।
तेषामेवंप्रभावाणां सर्वेषां दीप्ततेजसाम्॥ ३५॥
पिता दशरथो हृष्टो ब्रह्मा लोकाधिपो यथा।
ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः॥ ३६॥
पितृशुश्रूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिताः।
अथ राजा दशरथस्तेषां दारक्रियां प्रति॥ ३७॥
चिन्तयामास धर्मात्मा सोपाध्यायः सबान्धवः।
तस्य चिन्तयमानस्य मन्त्रिमध्ये महात्मनः॥ ३८॥
अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः।
स राज्ञो दर्शनाकाङ्क्षी द्वाराध्यक्षानुवाच ह॥ ३९॥
शीघ्रमाख्यात मां प्राप्तं कौशिकं गाधिनःसुतम्।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य राज्ञो वेश्म प्रदुद्रुवुः॥ ४०॥
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे तेन वाक्येन चोदिताः।
ते गत्वा राजभवनं विश्वामित्रमृषिं तदा॥ ४१॥
प्राप्तमावेदयामासुर्नृपायेक्ष्वाकवे तदा।
तेषां तद् वचनं श्रुत्वा सपुरोधाः समाहितः॥ ४२॥
प्रत्युज्जगाम संहृष्टो ब्रह्माणमिव वासवः।
स दृष्ट्वा ज्वलितं दीप्त्या तापसं संशितव्रतम्॥ ४३॥
प्रहृष्टवदनो राजा ततोऽर्घ्यमुपहारयत्।
स राज्ञः प्रतिगृह्यार्घ्यं शास्त्रदृष्टेन कर्मणा॥ ४४॥
कुशलं चाव्ययं चैव पर्यपृच्छन्नराधिपम्।
पुरे कोशे जनपदे बान्धवेषु सुहृत्सु च॥ ४५॥
कुशलं कौशिको राज्ञः पर्यपृच्छत् सुधार्मिकः।
अपि ते संनताः सर्वे सामन्तरिपवो जिताः॥ ४६॥

पृथक् विचरनेवाले मानो प्राण-सदृश थे उनको लक्ष्मण।
कभी राम को नींद न आती थी लक्ष्मण के विना एक क्षण ॥ ३० ॥
विना लखन को दिये न लेते दिव्य खाद्य कितना ही मधुमय।
राम-सुरक्षा-हित मृगया में हय-पीछे सशस्त्र बस तन्मय ॥
लखन धनुर्धर ! राम-सुरक्षा ! राम-लखन में प्रीति अपरबल।
उसी भाँति शत्रुघ्न-भरत में प्रीति परस्पर अतिशय अविचल ॥
इन चारों भ्राताओं पर नृप दशरथ होते थे प्रसन्न अति।
चारों दिग्पालों से होते ब्रह्मा जी जैसे प्रसन्न मति ॥
हुए प्रबुद्ध समझ जब आई, हुए सयाने जब चारों जन।
उदित हुए उनमें अनेक गुण, विविध ज्ञान से पूरित जीवन ॥३१-३४॥
थे सर्वज्ञ, दूरदर्शी, संकोची और कीर्ति से पूरित।
सुप्रभावशाली ये सब थे, थे अत्यन्त दीप्ति से दीपित ॥ ३५ ॥
लोकेश्वर ब्रह्मा-समान ही इनसे दशरथ थे प्रसन्न-मन।
पुरुषसिंह ये चारों करते थे वेदों का नित्य अध्ययन ॥ ३६ ॥
धनुर्वेद-अभ्यास, पिता की सेवा में रहते थे निष्ठित।
चिन्तित हुए नृपति तदनन्तर चारों पुत्रों के विवाह-हित ॥ ३७ ॥
अपने बन्धु, बान्धवों, सचिवों, पुरोहितों के संग बैठकर।
थे विवाह-वार्ता में तत्पर ये धर्मात्मा दशरथ नृपवर ॥ ३८ ॥
इनसे मिलने तब तेजस्वी विश्वामित्र मुनीन्द्र पधारे।
और द्वारपालों से बोले, नृप से कह दो वचन हमारे ॥ ३९ ॥
कुशिक-वंश के गाधि-पुत्र हैं आये विश्वामित्र द्वार पर।
नृपति-भवन में गये शीघ्र वे द्वारपाल मुनि-वचन श्रवण कर ॥ ४० ॥
विश्वामित्र-वाक्य से वे सब द्वारपाल भी थे भय-चिन्तित।
बोले वे इक्ष्वाकु-कुलोद्भव दशरथ से होकर विनयान्वित ॥ ४१ ॥
महाराज से मिलने को हैं आये विश्वामित्र मुनीश्वर।
यह सुन करके पुरोहितों-सँग सावधान हो गये नरेश्वर ॥ ४२ ॥
विधि-अगवानी हेतु इन्द्र-सम गये नृपति स्वागत को सत्वर।
अति कठोर व्रत-पालक थे वे अति तपसी, तेजस्वी मुनिवर ॥
दर्शन कर, होकर प्रसन्नमुख नृप ने उनको अर्घ्य तब दिया।
शास्त्र-विधा से दत्त अर्घ्य को मुनिवर ने स्वीकार कर लिया ॥४३-४४॥
नृपवर से पूछे महर्षि ने सभी भाँति के कुशल-वृत्त तब।
कैसे हैं पुर, कोश, बान्धव, जनपद और सुहृद्वर नृप ! सब ॥
धार्मिक कौशिक मुनि ने पूछा नृप दशरथ से और यहाँ तक।
'नृपति-पड़ोसी तो अधीन हैं, श्रीमन् के समक्ष नतमस्तक ?' ॥४५-४६॥

दैवं च मानुषं चैव कर्म ते साध्वनुष्ठितम् ।
वसिष्ठं च समागम्य कुशलं मुनिपुङ्गवः ॥ ४७ ॥
ऋषींश्च तान् यथान्यायं महाभाग उवाच ह ।
ते सर्वे हृष्टमनसस्तस्य राज्ञो निवेशनम् ॥ ४८ ॥
विविशुः पूजितास्तेन निषेदुश्च यथार्हतः ।
अथ हृष्टमना राजा विश्वामित्रं महामुनिम् ॥ ४९ ॥
उवाच परमोदारो हृष्टस्तमभिपूजयन् ।
यथामृतस्य सम्प्राप्तिर्यथा वर्षमनूदके ॥ ५० ॥
यथा सदृशदारेषु पुत्रजन्माप्रजस्य वै ।
प्रणष्टस्य यथा लाभो यथा हर्षो महोदयः ॥ ५१ ॥
तथैवागमनं मन्ये स्वागतं ते महामुने ।
कं च ते परमं कामं करोमि किमु हर्षितः ॥ ५२ ॥
पात्रभूतोऽसि मे ब्रह्मन् दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मानद ।
अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम् ॥ ५३ ॥
यस्माद् विप्रेन्द्रमद्राक्षं सुप्रभाता निशा मम ।
पूर्वं राजर्षिशब्देन तपसा द्योतितप्रभः ॥ ५४ ॥
ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः पूज्योऽसि बहुधा मया ।
तदद्भुतमभूद् विप्र पवित्रं परमं मम ॥ ५५ ॥
शुभक्षेत्रगतश्चाहं तव संदर्शनात् प्रभो ।
ब्रूहि यत् प्रार्थितं तुभ्यं कार्यमागमनं प्रति ॥ ५६ ॥
इच्छाम्यनुगृहीतोऽहं त्वदर्थं परिवृद्धये ।
कार्यस्य न विमर्शं च गन्तुमर्हसि सुव्रत ॥ ५७ ॥
कर्ता चाहमशेषेण दैवतं हि भवान् मम ।
मम चायमनुप्राप्तो महानभ्युदयो द्विज ।
तवागमनजः कृत्स्नो धर्मश्चानुत्तमो द्विज ॥ ५८ ॥

इति हृदयसुखं निशम्य वाक्यं
श्रुतिसुखमात्मवता विनीतमुक्तम् ।
प्रथितगुणयशा गुणैर्विशिष्टः
परमऋषिः परमं जगाम हर्षम् ॥ ५९ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

देवकर्म यज्ञादि, अतिथि-सत्कार, मानवी-धर्म निरन्तर।
तथा कुशल है सब प्रकार से ? पूछा ऋषि वशिष्ठ से जाकर ॥
अन्य सभी ऋषियों से पूछा कुशल-वृत्त मुनि ने तदनन्तर।
प्रसन्नता से राज-सभा में आये एक साथ सब मिलकर ॥४७-४८॥
और नृपति से पूजित होकर बैठे सब निज-निज आसन पर।
सुप्रसन्न मन अति उदार नृप दशरथ तब अति पुलकित होकर ॥
बोले विश्वामित्र-प्रशंसा में कुछ वचन सर्वथा निर्मल।
मरणशील को अमृत-प्राप्ति हो जल-विहीन स्थल में बरसे जल ॥४९-५०॥
पुत्र-हीन नर पाये, अपनी सुभामिनी से ज्यों सुयोग्य सुत !
खोयी निधि मिल जाय, उदित हो अवसर हर्ष-मोद का अद्भुत ॥ ५१ ॥
शुभागमन है हुआ आपका, वैसे ही हे मुने ! यहाँ पर।
कहें ! कामना उत्तम, जिसको पूरी करूँ मुदित हो सत्वर ॥ ५२ ॥
मुझसे सेवा लेने के हित आप पात्र हैं मुनि ! सर्वोत्तम।
जन्म सफल, जीवन सुधन्य है, आने का जो किया परिश्रम ॥ ५३ ॥
बीती रात्रि सुधन्य ! भोर यह धन्य ! हुए मुनिवर के दर्शन।
पहले थे राजर्षि, आपने तप से किया तेज-संवर्धन ॥
अब ब्रह्मर्षि, राज-ऋषि, रूपों में हैं मेरे पूज्य गाधि-सुत !।
यहाँ आपका शुभागमन है परम पवित्र और अति अद्भुत ॥५४-५५॥
पुण्यतीर्थ का यात्री-सम मैं, तीर्थ हो गया गेह हमारा।
दर्शन धन्य ! कहें प्रभु ! अपना आने का शुभ कारण सारा ॥ ५६ ॥
मेरा है अभ्युदय, मनोरथ जानूँ, उसकी करूँ पूर्ति भी।
होगा कार्य ! न होगा अथवा ऐसा संशय करें न कुछ भी ॥ ५७ ॥
अतिथिदेव है, मुझे देव-सम सदा आपकी आज्ञा-पालन।
शुभागमन से प्राप्त हो गया फल सारे धर्मों का इस क्षण ॥ ५८ ॥
कहे वचन जो मुनि से नृप ने हो करके नतमस्तक
श्रवण, हृदय दोनों के ही थे वे अतिशय सुख-वर्धन।
गुणी, यशस्वी, वशी ऋषीश्वर, उन सबको सुन करके
अति प्रसन्न तब मन ही मन में हुए गाधि के नन्दन ॥ ५९ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

तच्छ्रुत्वा राजसिंहस्य वाक्यमद्भुतविस्तरम् ।
हृष्टरोमा महातेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥
सदृशं राजशार्दूल तवैव भुवि नान्यतः ।
महावंशप्रसूतस्य वसिष्ठव्यपदेशिनः ॥ २ ॥
यत् तु मे हृद्गतं वाक्यं तस्य कार्यस्य निश्चयम् ।
कुरुष्व राजशार्दूल भव सत्यप्रतिश्रवः ॥ ३ ॥
अहं नियममातिष्ठे सिद्ध्यर्थं पुरुषर्षभ ।
तस्य विघ्नकरौ द्वौ तु राक्षसौ कामरूपिणौ ॥ ४ ॥
व्रते तु बहुशश्चीर्णे समाप्त्यां राक्षसाविमौ ।
मारीचश्च सुबाहुश्च वीर्यवन्तौ सुशिक्षितौ ॥ ५ ॥
तौ मांसरुधिरौघेण वेदिं तामभ्यवर्षताम् ।
अवधूते तथाभूते तस्मिन् नियमनिश्चये ॥ ६ ॥
कृतश्रमो निरुत्साहस्तस्माद् देशादपाक्रमे ।
न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव ॥ ७ ॥
तथाभूता हि सा चर्या न शापस्तत्र मुच्यते ।
स्वपुत्रं राजशार्दूल रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ८ ॥
काकपक्षधरं वीरं ज्येष्ठं मे दातुमर्हसि ।
शक्तो ह्येष मया गुप्तो दिव्येन स्वेन तेजसा ॥ ९ ॥
राक्षसा ये विकर्तारस्तेषामपि विनाशने ।
श्रेयश्चास्मै प्रदास्यामि बहुरूपं न संशयः ॥ १० ॥
त्रयाणामपि लोकानां येन ख्यातिं गमिष्यति ।
न च तौ राममासाद्य शक्तौ स्थातुं कथंचन ॥ ११ ॥
न च तौ राघवादन्यो हन्तुमुत्सहते पुमान् ।
वीर्योत्सिक्तौ हि तौ पापौ कालपाशवशं गतौ ॥ १२ ॥
रामस्य राजशार्दूल न पर्याप्तौ महात्मनः ।
न च पुत्रगतं स्नेहं कर्तुमर्हसि पार्थिव ॥ १३ ॥
अहं ते प्रतिजानामि हतौ तौ विद्धि राक्षसौ ।
अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ॥ १४ ॥
वसिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे तपसि स्थिताः ।
यदि ते धर्मलाभं तु यशश्च परमं भुवि ॥ १५ ॥
स्थिरमिच्छसि राजेन्द्र रामं मे दातुमर्हसि ।
यद्यभ्यनुज्ञां काकुत्स्थ ददते तव मन्त्रिणः ॥ १६ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग

विश्वामित्र के मुख से श्रीराम को साथ ले जाने की माँग सुनकर राजा दशरथ का दुःखित एवं मूच्छित होना

अनुपम, अद्भुत वचन सुविस्तृत राजसिंह दशरथ के सुनकर।
रोमाञ्चित तेजस्वी-वर बोले विश्वामित्र मुनीश्वर ॥ १ ॥
नृपतिसिंह से भिन्न न भूपर, ऐसे वचन अन्य कह सकता।
ऊँचे कुल को, यह वसिष्ठ के उपदेशों की है सार्थकता ॥ २ ॥
मेरे मन की बात सुनें! अब, पूरी करें उसे धार्मिक वर!।
क्योंकि प्रतिज्ञा आप कर चुके अतः दिखायें उसे सत्य कर ॥ ३ ॥
अनुष्ठान कर रहा नृपति! मैं मनवाञ्छित सत्कार्य सिद्धि-हित।
माया-रूप-धारि दो निशिचर विघ्न डालते नित्य अपरिमित ॥ ४ ॥
अधिक अंश सम्पन्न हो चुका, आये अब समाप्ति-अवसर पर।
दो— मारीच-सुबाहु नाम के निशिचर हैं शिक्षित, सशक्तवर ॥ ५ ॥
दोनों ने ही यज्ञ-वेदिका पर है रक्त-मांस बरसाया।
इस प्रकार संपूर्ति, समय पर, मुझको बहुत कष्ट पहुँचाया ॥
व्यर्थ परिश्रम हतोत्साह मैं आया हूँ वह स्थान छोड़कर।
भाव न आता ऐसा मन में, उन्हें शाप दूँ, क्रोधित होकर ॥ ६-७ ॥
क्योंकि किसी को इस विधान में किया नहीं जाता है शापित।
नृपवर! अपने ज्येष्ठ पुत्र को जो हैं निश्चय बली अपरिमित ॥
काकपक्ष-धर, सत्यविक्रमी को दे दें! मख की रक्षा-हित।
यही दिव्य तेजस्वि योग्य हैं, मेरे द्वारा सदा सुरक्षित ॥
हैं समर्थ यह सभी राक्षसों के नाशन में राम वीर-वर।
असुर-विनाशक इन्हें करूँगा निश्चय यशी, बली, सुकीर्तिधर ॥८-१०॥
श्रेय प्राप्त कर, तीनों लोकों में होंगे ये अति सुख्यातिवर।
टिक न सकेंगे इनके सम्मुख वे दोनों राक्षस कुबुद्धिवर ॥ ११ ॥
सिवा राम के अन्य न उनके वध का कर सकता है साहस।
बल-दर्पी वे दोनों पपी हैं निश्चय अब काल-पाश-वश ॥
नृप शार्दूल! राम के आगे वे न टिकेंगे रण में क्षण भर।
सुत-विषयक कुछ मोह न लायें किसी भाँति से मन में नृपवर! ॥१२-१३॥
दोनों राक्षस मरें राम से, दृढ़प्रतिज्ञ मैं कहता निश्चय।
मुझे ज्ञात है— राम-रूप कितना महान, कितना बल अक्षय ॥ १४ ॥
खूब जानते श्री वसिष्ठ भी तथा अन्य ये सब ऋषिसत्तम।
भूमण्डल में धर्म-लाभ सँग सुस्थिर यश चाहें यदि उत्तम ॥
तो मुझको दें राम पुत्र यह सभी भाँति से श्रेय समझकर।
वसिष्ठादि ऋषि सभी सचिव भी अनुमति दे दें, यदि भूपतिवर ॥

वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे ततो रामं विसर्जय।
अभिप्रेतमसंसक्तमात्मजं दातुमर्हसि ॥ १७ ॥
दशरात्रं हि यज्ञस्य रामं राजीवलोचनम्।
नात्येति कालो यज्ञस्य यथायं मम राघव ॥ १८ ॥
तथा कुरुष्व भद्रं ते मा च शोके मनः कृथाः।
इत्येवमुक्त्वा धर्मात्मा धर्मार्थसहितं वचः ॥ १९ ॥
विरराम महातेजा विश्वामित्रो महामतिः।
स तन्निशम्य राजेन्द्रो विश्वामित्रवचः शुभम् ॥ २० ॥
शोकेन महताविष्टश्चचाल च मुमोह च।
लब्धसंज्ञस्तदोत्थाय व्यषीदत भयान्वितः ॥ २१ ॥

इति हृदयमनोविदारणं
मुनिवचनं तदतीव शुश्रुवान्।
नरपतिरभवन्महान् महात्मा
व्यथितमनाः प्रचचाल चासनात् ॥ २२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः

तच्छ्रुत्वा राजशार्दूलो विश्वामित्रस्य भाषितम्।
मुहूर्तमिव निःसंज्ञः संज्ञावानिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः।
न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः ॥ २ ॥
इयमक्षौहिणी सेना यस्याहं पतिरीश्वरः।
अनया सहितो गत्वा योद्धाहं तैर्निशाचरैः ॥ ३ ॥
इमे शूराश्च विक्रान्ता भृत्या मेऽस्त्रविशारदाः।
योग्या रक्षोगणैर्योद्धुं न रामं नेतुमर्हसि ॥ ४ ॥
अहमेव धनुष्पाणिर्गोप्ता समरमूर्धनि।
यावत् प्राणान् धरिष्यामि तावद् योत्स्ये निशाचरैः ॥ ५ ॥
निर्विघ्ना व्रतचर्या सा भविष्यति सुरक्षिता।
अहं तत्र गमिष्यामि न रामं नेतुमर्हसि ॥ ६ ॥
बालो ह्यकृतविद्यश्च न च वेत्ति बलाबलम्।
न चास्त्रबलसंयुक्तो न च युद्धविशारदः ॥ ७ ॥

भेजें मेरे साथ राम को मेरा बस यह ही अभीष्ट है।
अब वयस्क, आसक्ति-हीनता का इन प्रिय में गुण विशिष्ट है॥
यज्ञ-दिवस दश शेष रह गये इसी अवधि तक कमलनयन को।
भेजें! मेरे साथ शीघ्र ही, जिससे अवसर मिले यजन को ॥१५-१८॥
हो कल्याण आपका, मन में लायें शोक न कुछ चिन्ता-कर।
इस प्रकार से धर्मात्मा, धर्मार्थ-कथन सब विधि समझाकर॥
विश्वामित्र महातेजस्वी शान्त हो रहे मौन ऋषीश्वर।
सुन शुभ वचन ऋषीश्वर के तब सुत-वियोग से पीड़ित नृपवर॥
सहसा कम्पित हुए, बाद में तत्क्षण ही हो गये विमूर्च्छित।
संज्ञा आने पर भूपित वे करने लगे विषाद अपरिमित ॥१९-२१॥
विश्वामित्र मुनीश्वर का था वचन महाभय-कारक
मानस और हृदय दोनों का निश्चय परम विदारक।
आसन-विचलित और मूर्च्छित हुए इसे नृप सुनकर
जी थे स्वयं महात्मा उत्तम (सबके कष्ट-निवारक) ॥ २२ ॥

॥ श्री वाल्मीक-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १९ ॥

बीसवाँ सर्ग

राजा दशरथ का विश्वामित्र को अपना पुत्र देने से इनकार करना और विश्वामित्र का कुपित होना

संज्ञा-शून्य हो गये थे ये, विश्वामित्र-वचन को सुनकर।
फिर दो घड़ी बाद में बोले, कुछ सचेत हो करके नृपवर॥ १ ॥
सोलह वर्षों से भी कम है, मुने! अवस्था कमलनयन की।
शक्ति न इसमें मुझे दिख रही, रण में निशिचर शत्रु-दमन की॥ २ ॥
मेरी यह अक्षौहिणि सेना, मैं हो हूँ इसका प्रतिपालक।
निशाचरों से युद्ध करूँगा मैं ही बन इसका संचालक॥ ३ ॥
अस्त्र-कुशल विक्रमी शूर हैं, सैनिक, निशिचर रण को समुचित।
अतः इसे ले जायें न ऋषिवर! राम नहीं है योग्य युद्ध-हित॥ ४ ॥
मैं ही लेकर धनुष, युद्ध के अग्रभाग में रह करके स्थित।
जब तक प्राण रहेंगे तन में, रिपु मारूँगा मख-रक्षा-हित॥ ५ ॥
विना विघ्न के अनुष्ठान सब होगा मुझसे रक्षित होकर।
मैं ही साथ चलूँगा, मुनिवर! जाएँ नहीं राम को लेकर॥ ६ ॥
शिक्षित नहीं युद्ध-विद्या का, नही शत्रु-बल-अबल-ज्ञान है।
अभी राम सुत नही जानता अस्त्र चलाने का विधान है॥ ७ ॥

न चासौ रक्षसां योग्यः कूटयुद्धा हि राक्षसाः।
विप्रयुक्तो हि रामेण मुहूर्तमपि नोत्सहे॥ ८॥
जीवितुं मुनिशार्दूल न रामं नेतुमर्हसि।
यदि वा राघवं ब्रह्मन् नेतुमिच्छसि सुव्रत॥ ९॥
चतुरङ्गसमायुक्तं मया सह च तं नय।
षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक॥ १०॥
कृच्छ्रेणोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि।
चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिः परमिका मम॥ ११॥
ज्येष्ठे धर्मप्रधाने च न रामं नेतुमर्हसि।
किं वीर्या राक्षसास्ते च कस्य पुत्राश्च के च ते॥ १२॥
कथं प्रमाणाः के चैतान् रक्षन्ति मुनिपुङ्गव।
कथं च प्रतिकर्तव्यं तेषां रामेण रक्षसाम्॥ १३॥
मामकैर्वा बलैर्ब्रह्मन् मया वा कूटयोधिनाम्।
सर्वं मे शंस भगवन् कथं तेषां मया रणे॥ १४॥
स्थातव्यं दुष्टभावानां वीर्योत्सिक्ता हि राक्षसाः।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत॥ १५॥
पौलस्त्यवंशप्रभवो रावणो नाम राक्षसः।
स ब्रह्मणा दत्तवरस्त्रैलोक्यं बाधते भृशम्॥ १६॥
महाबलो महावीर्यो राक्षसैर्बहुभिर्वृतः।
श्रूयते च महाराज रावणो राक्षसाधिपः॥ १७॥
साक्षाद्वैश्रवणभ्राता पुत्रो विश्रवसो मुनेः।
यदा न खलु यज्ञस्य विघ्नकर्ता महाबलः॥ १८॥
तेन संचोदितौ तौ तु राक्षसौ च महाबलौ।
मारीचश्च सुबाहुश्च यज्ञविघ्नं करिष्यतः॥ १९॥
इत्युक्तो मुनिना तेन राजोवाच मुनिं तदा।
नहि शक्तोऽस्मि संग्रामे स्थातुं तस्य दुरात्मनः॥ २०॥
स त्वं प्रसादं धर्मज्ञ कुरुष्व मम पुत्रके।
मम चैवाल्पभाग्यस्य दैवतं हि भवान् गुरुः॥ २१॥
देवदानवगन्धर्वा यक्षाः पतगपन्नगाः।
न शक्ता रावणं सोढुं किं पुनर्मानवा युधि॥ २२॥
स तु वीर्यवतां वीर्यमादत्ते युधि रावणः।
तेन चाहं न शक्तोऽस्मि संयोद्धुं तस्य वा बलैः॥ २३॥
सबलो वा मुनिश्रेष्ठ सहितो वा ममात्मजैः।
कथमप्यमरप्रख्यं संग्रामाणामकोविदम्॥ २४॥

माया-कपटी असुरों से छल-युद्ध न बालक कर पायेगा।
और राम के क्षण वियोग से कष्ट बहुत ही बढ़ जायेगा॥
मुनिशार्दूल ! मुहूर्त मात्र भी जीवन-यापन होगा दुर्लभ।
अतः न रण करने को इसको ले जायें कृपया अमितप्रभ !॥ ८-९ ॥
चतुरंगिणी सैन्य को लेकर, मैं ही हूँ चलने को प्रस्तुत।
यद्यपि साठ सहस्र वर्ष, मम आयु हो चुकी पूर्ण, कुशिकसुत !॥ १० ॥
कठिनाई से प्राप्त पुत्र को, साथ न ले जायें, हे ऋषिवर !।
चारों पुत्रों में मेरी है प्रीति राम में ही प्रगाढ़तर॥ ११ ॥
धर्मप्रधान ज्येष्ठ इस सुत को अपने साथ न लेकर जाएँ।
निशिचर कौन ? पुत्र वे किसके ? कैसी उनमें युद्ध-कलाएँ ?॥
उनके डील-डौल हैं कैसे ? रक्षक उनका कौन ? मुनीश्वर !।
युद्ध करेगा कैसे उनसे ? उनके सम्मुख राम ठहरकर॥१२-१३॥
उन मायावी निशाचरों का मुझे आप प्रतिकार बताएँ।
सैन्य-सहित रण में स्थिर होने की शैली भी सब समझाएँ॥
क्योंकि राक्षसों का अतिबल से रहता अति अभिमान-भरा मन।
विश्वामित्र ऋषीश्वर बोले सुनकर नृप के तभी यह वचन॥१४-१५॥
है पौलस्त्य-वंश में जन्मा रावण नामक एक निशाचर।
त्रिभुवन को अति दुःख दे रहा वह ब्रह्मा जी से पाकर वर॥ १६ ॥
अन्य बहुत से वीर विक्रमी निशाचरों से रहता घिरकर।
महाराज ! ऐसा सब कहते—असुर श्रेष्ठ है वह दशकंधर॥ १७ ॥
पुत्र विश्रवा मुनि का है वह, औ कुबेर का है वह भ्राता।
यज्ञ-विघ्न-हित अभिमानी वह, स्वयं नहीं है चलकर जाता॥
ये मारीच, सुबाहु उसी से विघ्न हेतु हो करके प्रेरित।
करते विघ्न सभी यज्ञों में प्रतिदिन बली-विक्रमी निश्चित॥१८-१९॥
दशरथ बोले, भलीभाँति से सुनकर वचन सभी ऋषिवर के।
नहीं सामने टिक पाऊँगा रण में दुष्टात्मा निशिचर के॥ २० ॥
दया करें, धर्मज्ञ ! पुत्र पर तथा मन्दभागी मुझ पर भी।
क्योंकि आप हैं पूज्य देवता और आप मेरे गुरुवर भी॥ २१ ॥
देव, दनुज, गन्धर्व, यक्ष, अहि, खगपति वेग न सह पायेंगे।
मानव की सामर्थ्य कहाँ ? जो उससे युद्ध निपट पायेंगे॥ २२ ॥
रावण रण में बलवानों के बल का करता शीघ्र अपहरण।
अतः पुत्र औ सेना-सँग भी मैं न कर सकूँगा उससे रण॥
हूँ असमर्थ युद्ध करने को, सैन्य-सहित मैं उससे, मुनिवर !।
निपट अजान युद्ध-कौशल में, पुत्र राम देवों-सम सुन्दर॥२३-२४॥

बालं मे तनयं ब्रह्मन् नैव दास्यामि पुत्रकम्।
अथ कालोपमौ युद्धे सुतौ सुन्दोपसुन्दयोः॥ २५॥
यज्ञविघ्नकरौ तौ ते नैव दास्यामि पुत्रकम्।
मारीचश्च सुबाहुश्च वीर्यवन्तौ सुशिक्षितौ॥ २६॥
तयोरन्यतरं योद्धुं यास्यामि ससुहृद्गणः।
अन्यथा त्वनुनेष्यामि भवन्तं सहबान्धवः॥ २७॥
इति नरपतिजल्पनाद् द्विजेन्द्रं
कुशिकसुतं सुमहान् विवेश मन्युः।
सुहुत इव मखेऽग्निराज्यसिक्तः
समभवदुज्ज्वलितो महर्षिवह्निः॥ २८॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे विंशः सर्गः॥ २०॥

एकविंशः सर्गः

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य स्नेहपर्याकुलाक्षरम्।
समन्युः कौशिको वाक्यं प्रत्युवाच महीपतिम्॥ १॥
पूर्वमर्थं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञां हातुमिच्छसि।
राघवाणामयुक्तोऽयं कुलस्यास्य विपर्ययः॥ २॥
यदीदं ते क्षमं राजन् गमिष्यामि यथागतम्।
मिथ्याप्रतिज्ञः काकुत्स्थ सुखी भव सुहृद्वृतः॥ ३॥
तस्य रोषपरीतस्य विश्वामित्रस्य धीमतः।
चचाल वसुधा कृत्स्ना देवानां च भयं महत्॥ ४॥
त्रस्तरूपं तु विज्ञाय जगत् सर्वं महानृषिः।
नृपतिं सुव्रतो धीरो वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत्॥ ५॥
इक्ष्वाकूणां कुले जातः साक्षाद् धर्म इवापरः।
धृतिमान् सुव्रतः श्रीमान् न धर्मं हातुमर्हसि॥ ६॥
त्रिषु लोकेषु विख्यातो धर्मात्मा इति राघवः।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व नाधर्मं वोढुमर्हसि॥ ७॥
प्रतिश्रुत्य करिष्येति उक्तं वाक्यमकुर्वतः।
इष्टापूर्तवधो भूयात् तस्माद् रामं विसर्जय॥ ८॥

स्वल्प अवस्था भी उसकी है, दूँगा नहीं इसे ऋषिसत्तम ! ।
सुन्द और उपसुन्द-पुत्र हैं ये मारीच-सुबाहु काल-सम ॥ २५ ॥
अगर आपके मख में वे ही विघ्न डालते हैं विशेषकर ।
तो मैं नहीं राम को दूँगा, उनसे लड़ने को निमेष भर ॥
क्योंकि मुने ! भवदीय यज्ञ-बाधक सुबाहु-मारीच बलोत्तम ।
शिक्षित हैं ये, इनमें है अति युद्ध-विषय का ज्ञान समुत्तम ॥ २६ ॥
रण करने को किसी रूप से मैं ही सुहृदों-सँग जाऊँगा ।
विनय करें स्वीकार, अन्यथा राघव को न भेज पाऊँगा ॥ २७ ॥
नृप दशरथ के निषेधात्मक वचन विप्रवर सुनकर
अतिशय क्रोधित हुए ऋषीश्वर विश्वामित्र, नृपति पर ।
जैसे मख-शालास्थ अग्नि को घृत-आहुति दी जाए
वैसे अग्नितुल्य तेजस्वी भी हो उठे ज्वलिततर ॥ २८ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २० ॥

इक्कीसवाँ सर्ग

विश्वामित्र के रोषपूर्ण वचन तथा वशिष्ठ का राजा दशरथ को समझाना

सुनकर वचन भूप का, जो था पुत्र-स्नेह से अतिशय पूरित ।
बोले नृप से तब कौशिक वर होकर परम क्रोध से प्रेरित ॥ १ ॥
याचित दान-प्रतिज्ञा करके तोड़ रहे जो उसे नृपतिवर ! ।
योग्य नहीं है रघुकुल के, यह सूचक है रघुकुल-विनाशकर ॥ २ ॥
समुचित ऐसा ही है तो मैं वापस विफल जा रहा नृपवर ! ।
सुखी रहें काकुत्स्थ-रत्न ! इन अपने हितैषियों से घिरकर ॥ ३ ॥
विद्वत् विश्वामित्र-कोप से कम्पित हुई धरित्री सारी ।
सभी देवताओं के मन के लिए बहुत था यह भयकारी ॥ ४ ॥
ऋषि-प्रकोप से सारे जग को ध्वस्त हुआ-सा समझ, व्रतोत्तम ।
बोले धीर वशिष्ठ महात्मा नृप से तभी वचन सर्वोत्तम ॥ ५ ॥
महाराज ! इक्ष्वाकु-वंश में आप दूसरे धर्म-सदृश हैं ।
धीर व्रती से कभी न त्यागे जाते धर्म-कर्म, गुण-यश हैं ॥ ६ ॥
'दशरथ हैं धर्मात्मा', यह है व्याप्त वार्ता इस त्रिभुवन में ।
अतः धर्म पालिये ! नहीं है श्रेयस् कभी अधम-वहन में ॥ ७ ॥
वचन-विमुख को पुण्य, यज्ञ, वापी, तडाग, सब कुछ निष्फल है ।
अतः राम को गाधि-सुवन के साथ भेजना ही पुष्कल है ॥ ८ ॥

कृतास्त्रमकृतास्त्रं वा नैनं शक्ष्यन्ति राक्षसाः ।
गुप्तं कुशिकपुत्रेण ज्वलनेनामृतं यथा ॥ ९ ॥
एष विग्रहवान् धर्म एष वीर्यवतां वरः ।
एष विद्याधिको लोके तपसश्च परायणम् ॥ १० ॥
एषोऽस्त्रान् विविधान् वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे ।
नैनमन्यः पुमान् वेत्ति न च वेत्स्यन्ति केचन ॥ ११ ॥
न देवा नर्षयः केचिन्नामरा न च राक्षसाः ।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः ॥ १२ ॥
सर्वास्त्राणि कृशाश्वस्य पुत्राः परमधार्मिकः ।
कौशिकाय पुरा दत्ता यदा राज्यं प्रशासति ॥ १३ ॥
तेऽपि पुत्राः कृशाश्वस्य प्रजापतिसुतासुताः ।
नैकरूपा महावीर्या दीप्तिमन्तो जयावहाः ॥ १४ ॥
जया च सुप्रभा चैव दक्षकन्ये सुमध्यमे ।
ते सूतेऽस्त्राणि शस्त्राणि शतं परमभास्वरम् ॥ १५ ॥
पञ्चाशतं सुताँल्लेभे जया लब्धवरा वरान् ।
वधायासुरसैन्यानामप्रमेयानरूपिणः ॥ १६ ॥
सुप्रभाजनयच्चापि पुत्रान् पञ्चाशतं पुनः ।
संहारान् नाम दुर्धर्षान् दुराक्रामान् बलीयसः ॥ १७ ॥
तानि चास्त्राणि वेत्त्येष यथावत् कुशिकात्मजः ।
अपूर्वाणां च जनने शक्तो भूयश्च धर्मवित् ॥ १८ ॥
तेनास्य मुनिमुख्यस्य धर्मज्ञस्य महात्मनः ।
न किञ्चिदस्त्यविदितं भूतं भव्यं च राघव ॥ १९ ॥
एवंवीर्यो महातेजा विश्वामित्रो महायशाः ।
न रामगमने राजन् संशयं गन्तुमर्हसि ॥ २० ॥
तेषां निग्रहणे शक्तः स्वयं च कुशिकात्मजः ।
तव पुत्रहितार्थाय त्वामुपेत्याभियाचते ॥ २१ ॥

इति मुनिवचनात् प्रसन्नचित्तो
रघुवृषभश्च मुमोद पार्थिवाग्र्यः ।
गमनमभिरुरोच राघवस्य
प्रथितयशाः कुशिकात्मजाय बुद्ध्या ॥ २२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

ज्वलित अग्नि-सम कुशिक-पुत्र से रक्षित होंगे राम अमृत-सम।
अस्त्र-ज्ञान हो, न हो इन्हें, फिर भी न चलेगा शत्रु-पराक्रम ॥ ९ ॥
राम तथा ये गाधि-सुवन हैं धर्म-मूर्ति, विद्वत् बलवत्तर।
अपनी तीव्र तपस्या द्वारा हुए जगत् में पूज्य युगल वर ॥ १० ॥
ये त्रिलोक के अस्त्र-शस्त्र के तथा प्राणियों के हैं ज्ञाता।
मेरे सिवा न इनका कोई हुआ न होगा जन, विज्ञाता ॥ ११ ॥
नहीं जानते हैं महिमा को इनके यक्ष, देवता, ऋषिवर।
(नर-) किन्नर, गन्धर्व आदि भी और राक्षस, नाग उच्चतर ॥ १२ ॥
नृप कृशाश्व के सकल अस्त्र हैं पुत्र परम धार्मिक जो निश्चित।
विश्वामित्र नृपति थे जब, तब उन्हें उन्होंने किया समर्पित ॥ १३ ॥
नृप कृशाश्व औ दक्ष प्रजापति-सुता युगल की ये सन्तति हैं।
शक्ति प्रभामय सकल अस्त्र ये देते विजय और उन्नति हैं ॥ १४ ॥
दक्ष प्रजापति की कन्याएँ दो हैं जया, सुप्रभा उत्तम।
उनसे उपजे अस्त्र-शस्त्र शत सुप्रकाशमय हे नृपसत्तम ! ॥ १५ ॥
पाये पुत्र पचास जया ने शक्ति-समन्वित, रूप से रहित।
प्रकट हुए ये वध करने को निशाचरों का सैन्य के सहित ॥ १६ ॥
फिर पचास संहार नाम सुत सुता सुप्रभा ने भी पाये।
इन पर है आक्रमण असम्भव, महाबली दुर्जय कहलाये ॥ १७ ॥
ये धर्मज्ञ कुशिक-नन्दन, उन सभी अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञाता।
अनुपलब्ध शस्त्रास्त्र अन्य बहु के भी ये हैं स्वयं विधाता ॥ १८ ॥
इन्हें ज्ञात सब, हे दशरथ नृप ! जो कुछ, जैसा, जहाँ कहीं है।
इतना ही क्या ! भूत, भविष्यत्, कुछ भी इनसे छिपा नहीं है ॥ १९ ॥
हैं प्रभावशाली, तेजस्वी, परम यशस्वी निश्चय ऋषिवर।
अतः राम के साथ भेजने में संशय कुछ करें न नृपवर ! ॥ २० ॥
कौशिक ऋषि हैं स्वयं निशिचरों के वध में सक्षम निःसंशय।
तदपि माँगते क्योंकि राम का ही है इसमें निहित अभ्युदय ॥ २१ ॥
ऋषि वशिष्ठ के वचन श्रवण कर दशरथ मुदित यशीश्वर
किया विचार बुद्धि से तब फिर सब कुछ संशय तजकर।
विश्वामित्र प्रसन्न, तुष्ट हों, अतः राम का जाना
कौशिक मुनि के साथ उन्हें तब लगा सर्वथा रुचिकर ॥ २२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्ष रामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

तथा वसिष्ठे ब्रुवति राजा दशरथः स्वयम् ।
प्रहृष्टवदनो राममाजुहाव सलक्ष्मणम् ॥ १ ॥
कृतस्वस्त्ययनं मात्रा पित्रा दशरथेन च ।
पुरोधसा वसिष्ठेन मङ्गलैरभिमन्त्रितम् ॥ २ ॥
स पुत्रं मूर्ध्न्युपाघ्राय राजा दशरथस्तदा ।
ददौ कुशिकपुत्राय सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ ३ ॥
ततो वायुः सुखस्पर्शो नीरजस्को ववौ तदा ।
विश्वामित्रगतं रामं दृष्ट्वा राजीवलोचनम् ॥ ४ ॥
पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद् देवदुन्दुभिनिःस्वनैः ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषः प्रयाते तु महात्मनि ॥ ५ ॥
विश्वामित्रो ययावग्रे ततो रामो महायशाः ।
काकपक्षधरो धन्वी तं च सौमित्रिरन्वगात् ॥ ६ ॥
कलापिनौ धनुष्पाणी शोभयानौ दिशो दश ।
विश्वामित्रं महात्मानं त्रिशीर्षाविव पन्नगौ ॥ ७ ॥
अनुजग्मतुरक्षुद्रौ पितामहमिवाश्विनौ ।
अनुयातौ श्रिया दीप्तौ शोभयन्तावनिन्दितौ ॥ ८ ॥
तदा कुशिकपुत्रं तु धनुष्पाणी स्वलंकृतौ ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणौ खड्गवन्तौ महाद्युती ॥ ९ ॥
कुमारौ चारुवपुषौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
अनुयातौ श्रिया दीप्तौ शोभयेतामनिन्दितौ ॥ १० ॥
स्थाणुं देवमिवाचिन्त्यं कुमाराविव पावकी ।
अध्यर्धयोजनं गत्वा सरय्वा दक्षिणे तटे ॥ ११ ॥
रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ।
गृहाण वत्स सलिलं मा भूत् कालस्य पर्ययः ॥ १२ ॥
मन्त्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलां तथा ।
न श्रमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्ययः ॥ १३ ॥
न च सुप्तं प्रमत्तं वा धर्षयिष्यन्ति नैर्ऋताः ।
न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन ॥ १४ ॥
त्रिषु लोकेषु वा राम न भवेत् सदृशस्तव ।
बलामतिबलां चैव पठतस्तात राघव ॥ १५ ॥

बाईसवाँ सर्ग

राजा दशरथ का स्वस्तिवाचनपूर्वक राम-लक्ष्मण को मुनि के साथ भेजना, मार्ग में उन्हें विश्वामित्र से बला और अतिबला नामक विद्या की प्राप्ति

ऐसा श्री वशिष्ठ के कहने से नृप-मुख हो गया सुविकसित।
और बुलाया पास उन्होंने राघव को सौमित्र के सहित॥ १ ॥
हुआ स्वस्ति-वाचन कौसल्या, दशरथ, मुनि वशिष्ठ के द्वारा।
मंगल-मन्त्रों से अभिमन्त्रित रघुपति का प्रस्थान सँवारा॥ २ ॥
दशरथ ने सुत के मस्तक को प्रसन्नता से तभी सूँघकर।
अर्पित किया राम को विश्वामित्र मुनीश्वर के चरणों पर॥ ३ ॥
धूलि-रहित तब पवन बह चली, हुआ सर्वथा सुख-वर्धन को।
देवों ने जब कुशिक-पुत्र-सँग जाते देखा कमलनयन को॥
बजने लगीं देव-दुन्दुभियाँ, नभ से बरसे पुष्प अपरिमित।
राम-यात्रा-समय नगाड़ों, शंखों से हो गया सब ध्वनित॥ ४-५ ॥
आगे विश्वामित्र चले तब उनके पीछे काकपक्ष-धर।
राम सुमित्रा-सुत लक्ष्मण सँग चले यशस्वी महाधनुर्धर॥ ६ ॥
भ्रातृ-युगल-हाथों में धनु थे और पीठ पर तरकस उत्तम।
दश दिक्-शोभा मुनि-अनुगामी, तीन फनों के नाग युगल-सम॥ ७ ॥
उच्च स्वभाव, उदार, कान्तिमय, थे अनिन्द्य दोनों सुत सुन्दर।
विधि के पीछे आश्विन जैसे कौशिक के बनकर प्रिय अनुचर॥ ८ ॥
हाथों में थे धनुष लिये ये वस्त्राभूषण ले समलंकृत।
सभी अँगुलियों में इनके थे दस्ताने गौहटी-चर्म-कृत॥
खड्ग-धारि, सर्वांग मनोहर, तेजस्वी थे कान्ति-सुभासित।
सुषमा-वर्धक थे अतीव ये कुशिक-पुत्र से हो अनुशासित।
चले शम्भु के पीछे जैसे स्कन्द विशाखकुमार सौम्यवर।
योजन डेढ़ चले ये, पहुँचे जब सरयू के दक्षिण-तट पर॥ ९-११ ॥
बोले मधुरिम वाणी में ऋषि, वत्स राम ! तुम सुनो यह वचन।
कुछ विलम्ब मत करो, शीघ्र ही सरयू जल में करो आचमन॥ १२ ॥
बला और अतिबला नाम से है प्रसिद्ध मन्त्रों का संग्रह।
श्रम, ज्वर, चिन्ता औ विकार का ये विद्याएँ करतीं निग्रह॥ १३ ॥
बेखबरी या शयन-समय भी दानव हों न आक्रमण-सक्षम।
अद्वितीय बाहुबल तुम्हारा, इस पृथ्वी भर में सर्वोत्तम॥ १४ ॥
तात राम ! तुम बला, अतिबला के होगे अभ्यास-सिद्ध जब।
तुम सा कोई कहीं न होगा त्रिभुवन में अतिबली अन्य तब॥ १५ ॥

न सौभाग्ये न दाक्षिण्ये न ज्ञाने बुद्धिनिश्चये ।
नोत्तरे प्रतिवक्तव्ये समो लोके तवानघ ॥ १६ ॥
एतद्विद्याद्वये लब्धे न भवेत् सदृशस्तव ।
बला चातिबला चैव सर्वज्ञानस्य मातरौ ॥ १७ ॥
क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम ।
बलामतिबलां चैव पठतस्तात राघव ॥ १८ ॥
गृहाण सर्वलोकस्य गुप्तये रघुनन्दन ।
विद्याद्वयमधीयाने यशश्चाथ भवेद् भुवि ।
पितामहसुते ह्येते विद्ये तेजःसमन्विते ॥ १९ ॥
प्रदातुं तव काकुत्स्थ सदृशस्त्वं हि पार्थिव ।
कामं बहुगुणाः सर्वे त्वय्येते नात्र संशयः ॥ २० ॥
तपसा सम्भृते चैते बहुरूपे भविष्यतः ।
ततो रामो जलं स्पृष्ट्वा प्रहृष्टवदनः शुचिः ॥ २१ ॥
प्रतिजग्राह ते विद्ये महर्षेर्भावितात्मनः ।
विद्यासमुदितो रामः शुशुभे भीमविक्रमः ॥ २२ ॥
सहस्ररश्मिर्भगवाञ्शरदीव दिवाकरः ।
गुरुकार्याणि सर्वाणि नियुज्य कुशिकात्मजे ॥ २३ ॥
ऊषुस्तां रजनीं तत्र सरय्वां ससुखं त्रयः ।
दशरथनृपसूनुसत्तमाभ्यां
तृणशयनेऽनुचिते तदोषिताभ्याम् ।
कुशिकसुतवचोऽनुलालिताभ्यां
सुखमिव सा विबभौ विभावरी च ॥ २४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

प्रभातायां तु शर्वर्यां विश्वामित्रो महामुनिः ।
अभ्यभाषत काकुत्स्थौ शयानौ पर्णसंस्तरे ॥ १ ॥
कौसल्या सुप्रजा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते ।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्तव्यं दैवमाह्निकम् ॥ २ ॥

अनघ राम! सौभाग्य, चतुरता, ज्ञान और बौद्धिक निश्चय में।
तत्युत्पन्न[1] न तुम-सा कोई प्रश्नोत्तर में, वाणी-जय में ॥ १६ ॥
मिल जाएँगी जब तुमको ये बला, अतिबला शुभ विद्याएँ।
तब तुम होगे अद्वितीय, ये सकल ज्ञान की हैं माताएँ ॥ १७ ॥
बला-अतिबला के अभ्यासी होगे दशरथ-पुत्र राम! जब।
कष्ट न होंगे क्षुधा-पिपासा के भी तुमको कभी कहीं तब ॥
ग्रहण करो तुम इन्हें राम! अब सारी पृथ्वी की रक्षा-हित।
होगा यश-विस्तार तुम्हारा बला-अतिबला द्वारा अतुलित ॥
तेजस्विनी पुत्रियाँ दोनों हैं विरञ्चि की ये विद्याएँ।
इच्छा है हम इन्हें तुम्हें अब विधि-विधान के साथ बताएँ ॥
दोनों के अनुकूल पात्रता और सभी गुण हैं तुममें स्थित।
फिर भी मेरे तप के द्वारा होंगी फलदा तुम्हें अपरिमित ॥
राम-आचमन से पवित्र तब हुए, हुआ शुभ श्रीमुख विकसित ॥१८-२१॥
ग्रहण राम ने कीं तदनन्तर शुद्धहृदय-ऋषि से विद्याएँ।
विद्याओं से उदित हो गयीं उनमें तब विक्रमी कलाएँ ॥
और सहस्रों किरणों से युत हुए शरद् रवि-सम वे भूषित।
समुचित सेवाएँ कर गुरु की अनुभव किया हर्ष का अतुलित ॥
ऋषि, लक्ष्मण, श्रीराम सभी ने श्री सरयू के सुन्दर तट पर।
(रात्रि बिताई वहाँ फिर तभी शान्ति और सुख का अनुभव कर) ॥२२-२३॥
दशरथ के दोनों पुत्रों ने तृण-शय्या पर किया शयन
विषम परिस्थिति में भी, इनके प्रसन्नता-युत रहे नयन।
कुशिक-पुत्र की वाणी द्वारा (माता-सी) ममता पाकर
रजनी इनकी हुई सुखमयी सब विधि सुखमय हुआ शयन ॥ २४ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में बाईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २२ ॥

तेईसवाँ सर्ग

विश्वामित्र-सहित श्रीराम और लक्ष्मण का सरयू-गंगा-संगम के समीप पुण्य आश्रम में रात को ठहरना

बीती रात्रि, प्रभात हो गया जब, तब विश्वामित्र ऋषीश्वर।
बोले इन काकुत्स्थ सुतों से जो विराजते तृण-आसन पर ॥ १ ॥
राम! तुम्हें पाकर कौसल्या, है सुपुत्र-जननी कहलाई।
उठकर दैनिक कार्य करो अब प्रातः-संध्या-वेला आई ॥ २ ॥

---
१ तत्काल बुद्धि पर बुद्धि, युक्ति पर युक्ति उत्पन्न होना।

तस्यर्षेः परमोदारं वचः श्रुत्वा नरोत्तमौ ।
स्नात्वा कृतोदकौ वीरौ जेपतुः परमं जपम् ॥ ३ ॥
कृताह्निकौ महावीर्यौ विश्वामित्रं तपोधनम् ।
अभिवाद्यातिसंहृष्टौ गमनायाभितस्थतुः ॥ ४ ॥
तौ प्रयान्तौ महावीर्यौ दिव्यां त्रिपथगां नदीम् ।
ददृशाते ततस्तत्र सरय्वाः संगमे शुभे ॥ ५ ॥
तत्राश्रमपदं पुण्यमृषीणां भावितात्मनाम् ।
बहुवर्षसहस्राणि तप्यतां परमं तपः ॥ ६ ॥
तं दृष्ट्वा परमप्रीतौ राघवौ पुण्यमाश्रमम् ।
ऊचतुस्तं महात्मानं विश्वामित्रमिदं वचः ॥ ७ ॥
कस्यायमाश्रमः पुण्यः को न्वस्मिन् वसते पुमान् ।
भगवञ्छ्रोतुमिच्छावः परं कौतूहलं हि नौ ॥ ८ ॥
तयोस्तद् वचनं श्रुत्वा प्रहस्य मुनिपुङ्गवः ।
अब्रवीच्छ्रूयतां राम यस्यायं पूर्व आश्रमः ॥ ९ ॥
कन्दर्पो मूर्तिमानासीत् काम इत्युच्यते बुधैः ।
तपस्यन्तमिह स्थाणुं नियमेन समाहितम् ॥ १० ॥
कृतोद्वाहं तु देवेशं गच्छन्तं समरुद्गणम् ।
धर्षयामास दुर्मेधा हुंकृतश्च महात्मना ॥ ११ ॥
अवध्यातश्च रुद्रेण चक्षुषा रघुनन्दन ।
व्यशीर्यन्त शरीरात् स्वात् सर्वगात्राणि दुर्मतेः ॥ १२ ॥
तत्र गात्रं हतं तस्य निर्दग्धस्य महात्मनः ।
अशरीरः कृतः कामः क्रोधाद् देवेश्वरेण ह ॥ १३ ॥
अनङ्ग इति विख्यातस्तदाप्रभृति राघव ।
स चाङ्गविषयः श्रीमान् यत्राङ्गं स मुमोच ह ॥ १४ ॥
तस्यायमाश्रमः पुण्यस्तस्येमे मुनयः पुरा ।
शिष्या धर्मपरा वीर तेषां पापं न विद्यते ॥ १५ ॥
इहाद्य रजनीं राम वसेम शुभदर्शन ।
पुण्ययोः सरितोर्मध्ये श्वस्तरिष्यामहे वयम् ॥ १६ ॥
अभिगच्छामहे सर्वे शुचयः पुण्यमाश्रमम् ।
इह वासः परोऽस्माकं सुखं वत्स्यामहे निशाम् ॥ १७ ॥
स्नाताश्च कृतजप्याश्च हुतहव्या नरोत्तम ।
तेषां संवदतां तत्र तपोदीर्घेण चक्षुषा ॥ १८ ॥
विज्ञाय परमप्रीता मुनयो हर्षमागमन् ।
अर्घ्यं पाद्यं तथाऽऽतिथ्यं निवेद्य कुशिकात्मजे ॥ १९ ॥

अति उदार ऋषि-वचन श्रवण कर, इन वीरों ने शीघ्र स्नान कर।
तर्पण किया सभी देवों का, जपारम्भ फिर किया दिव्यतर ॥ ३ ॥
नित्यकर्म करके ऋषिवर को किया प्रणाम इन्होंने हो नत।
तदनन्तर ये अग्रिम पथ पर चलने को हो गये समुद्यत ॥ ४ ॥
कुछ चलकर पहुँचे बलिष्ठ ये गंगा-सरयू के संगम पर।
धन्य हुए फिर दिव्य त्रिपथगा श्री गंगाजी के दर्शन कर ॥ ५ ॥
गंगा के ही पास वहाँ था शुद्ध-हृदय-ऋषियों का आश्रम।
जहाँ सहस्रों वर्षों से वे करते थे अतीव तप उत्तम ॥ ६ ॥
उस पवित्र आश्रम-दर्शन से हुए राम, लक्ष्मण प्रसन्नमन।
बोले बिश्वामित्र महात्मा से वे होकर नम्र, यह वचन ॥ ७ ॥
भगवन् ! यह किसका आश्रम है, किस मनुष्य का है वासस्थल ?।
कृपया मुझे बताएँ ! मन में उत्कण्ठा बढ़ती है प्रति पल ॥ ८ ॥
स्मितमुख[1] हो करके बोलेऋषि इनकी सुन जिज्ञासा सारी।
सुनो राम ! इस आश्रम का था जो मनुष्य पहले अधिकारी ॥ ९ ॥
बिज्ञ बताते जिसे काम, वह था कन्दर्प दिव्य तनु-धारी।
कभी इसी आश्रम में करते थे शिव यहाँ तपस्या भारी ॥ १० ॥
मरुद्गणों-संग विचरण करते शिव पर उसने किया आक्रमण।
तभी महात्मा शिव ने रोका हुंकृति द्वारा उसे, उसी क्षण ॥ ११ ॥
रघुनन्दन ! भगवान रुद्र ने देखा उसको, हो कुपित नयन।
जीर्ण हो गये अंग काम के, यों अंग-रहित का हुआ पतन ॥ १२ ॥
वहाँ हुआ कन्दर्प महात्मा का शरीर ही शीघ्र नष्ट सब।
रुद्रदेव ने क्रोधित होकर अंग-हीन कर दिया उसे तब ॥ १३ ॥
तब से त्रिभुवन में 'अनंग' यों नाम राम ! उसने है पाया।
उसके अंग नसे जिस स्थल पर, वह ही अंग देश कहलाया ॥ १४ ॥
वीर ! सभी ऋषि शिष्य शम्भु के हैं, शिव का ही यह आश्रम है।
पुण्य-प्रभा से सभी पूर्ण हैं, इनमें नहीं पाप का तम है ॥ १५ ॥
शुभ दर्शन हे राम ! आज निशि में हम यहीं निवास करेंगे।
पुण्यमयी सरिताओं के हम पार सभी प्रातः उतरेंगे ॥ १६ ॥
चलें हम सभी इस आश्रम में स्नानादिक से हो पवित्र अब।
उत्तम होगा वास यहाँ का यहाँ मिलेंगी सुविधाएँ सब ॥
यहाँ स्नान, जप, हवन आदि शुभ, धर्म-कार्य करना है उत्तम।
इनकी पारस्परिक बात को तपोधनी आश्रम-मुनि सत्तम ॥
दिव्य दृष्टि से समझ गये वे कौशिक मुनि का आज आगमन।
अतः शीघ्र आतिथ्य निभाया, अर्घ्य-पाद्य से हो प्रसन्नमन ॥१७-१९॥

१ मुस्कराकर, प्रसन्न मुद्रा में।

रामलक्ष्मणयोः पश्चादकुर्वन्नतिथिक्रियाम् ।
सत्कारं समनुप्राप्य कथाभिरभिरञ्जयन् ॥ २० ॥
यथार्हमजपन् संध्यामृषयस्ते समाहिताः ।
तत्र वासिभिरानीता मुनिभिः सुव्रतैः सह ॥ २१ ॥
न्यवसन् सुसुखं तत्र कामाश्रमपदे तथा ।
कथाभिरभिरामाभिरभिरामौ नृपात्मजौ ।
रमयामास धर्मात्मा कौशिको मुनिपुङ्गवः ॥ २२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशः सर्गः

ततः प्रभाते विमले कृताह्निकमरिन्दमौ ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य नद्यास्तीरमुपागतौ ॥ १ ॥
ते च सर्वे महात्मानो मुनयः संशितव्रताः ।
उपस्थाप्य शुभां नावं विश्वामित्रमथाब्रुवन् ॥ २ ॥
आरोहतु भवान् नावं राजपुत्रपुरस्कृतः ।
अरिष्टं गच्छ पन्थानं मा भूत् कालस्यपर्ययः ॥ ३ ॥
विश्वामित्रस्तथेत्युक्त्वा तानृषीन् प्रतिपूज्य च ।
ततार सहितस्ताभ्यां सरितं सागरङ्गमाम् ॥ ४ ॥
तत्र शुश्राव वै शब्दं तोयसंरम्भवर्धितम् ।
मध्यमागम्य तोयस्य तस्य शब्दस्य निश्चयम् ॥ ५ ॥
ज्ञातुकामो महातेजाः सह रामः कनीयसा ।
अथ रामः सरिन्मध्ये पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम् ॥ ६ ॥
वारिणो भिद्यमानस्य किमयं तुमुलो ध्वनिः ।
राघवस्य वचः श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितम् ॥ ७ ॥
कथयामास धर्मात्मा तस्य शब्दस्य निश्चयम् ।
कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं परम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मणा नरशार्दूल तेनेदं मानसं सरः ।
तस्मात् सुस्राव सरसः सायोध्यामुपगूहते ॥ ९ ॥

राम-लखन का भी मुनियों ने किया अतिथि-सत्कार सर्वथा।
मनोमोद-हित कुछ वार्ताएँ और कथाएँ कहीं फिर तथा ॥ २० ॥
संध्या-वन्दन और मन्त्र-जप क्रिये सभी ने हो ध्यानस्थित।
तदनन्तर इनके शयनस्थल को भी सबने किया व्यवस्थित ॥
सकल कामना-पूरक आश्रम में इन सबने किया तब शयन।
निद्रा-पूर्व ऋषीश्वर ने भी इन्हें सुनाये गाथा-प्रवचन ॥
ऋषि की कथा-वार्ता से ये हुए राम-लक्ष्मण अति रञ्जित।
(तदनन्तर फिर हुए ऋषीश्वर राम और लक्ष्मण भी निद्रित) ॥२१-२२॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
तेईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २३ ॥

चौबीसवाँ सर्ग

श्रीराम और लक्ष्मण का गंगापार होते समय विश्वामित्रजी से जल में उठती हुई तुमुलध्वनि के विषय में प्रश्न करना, विश्वामित्रजी का उन्हें इसका कारण बताना तथा मलद, करूष एवं ताटका वन का (परिचय देते हुए इन्हें ताटका-वध के लिए) आज्ञा प्रदान करना

शत्रु-दमन श्री राघव-लक्ष्मण विमल प्रात में नित्य-कर्म कर।
कुशिक-पुत्र को आगे करके आये श्री गंगा के तट पर ॥ १ ॥
तब फिर वे पुण्याश्रम-वासी, व्रती, मनस्वी सब मुनिसत्तम।
विश्वामित्र ऋषीश से कहा, नाव एक मँगवाकर उत्तम ॥ २ ॥
ऋषे! आप इन राजकुमारों को आगे करके बैठाएँ।
और स्वयं फिर बैठ शीघ्र ही, विघ्न-हीन शुभ पथ पर जाएँ ॥ ३ ॥
'अच्छा' कहकर कुशिकपुत्र फिर उन ऋषियों की सराहना कर।
राम-लखन-युत उसी नाव पर सिन्धुग[1] गंगा-पार उतरकर ॥ ४ ॥
नदी-मध्य-धारा में पहुँचे यात्रा कुछ तय करके ये जब।
चकित हुए श्रीराम भ्रातृ-सह धारा द्वय-घर्षण सुनकर तब ॥
क्यों? कैसे यह नाद हो रहा? इसे जानने की इच्छा कर।
राघव ने पूछा— सरित्-मध्य में, गुरुवर! यह कैसा स्वर गुरुतर? ॥ ५-६ ॥
नदी-मध्य हो रही तुमुल ध्वनि, जल-धारा-घर्षण से क्योंकर?।
यह रहस्य जानने हेतु उत्सुक थे अतिव राम श्री प्रभुवर ॥ ७ ॥
तुमुल नाद का निश्चित कारण तब बतलाते हुए मुनीश्वर।
बोले मुनि, सर मानसरोवर है कैलाश शिखर पर रुचिकर ॥
ब्रह्मा के मन से संकल्पित होने से यह नाम कहाता।
इससे निकली एक नदी का वारि अयोध्या होकर बहता ॥

1 समुद्र की ओर जानेवाली।

सरःप्रवृत्ता सरयूः पुण्या ब्रह्मसरश्च्युता ।
तस्यायमतुलः शब्दो जाह्नवीमभिवर्तते ॥ १० ॥
वारिसंक्षोभजो राम प्रणामं नियतः कुरु ।
ताभ्यां तु तावुभौ कृत्वा प्रणाममतिधार्मिकौ ॥ ११ ॥
तीरं दक्षिणमासाद्य जग्मतुर्लघुविक्रमौ ।
स वनं घोरसंकाशं दृष्ट्वा नरवरात्मजः ॥ १२ ॥
अविप्रहतमैक्ष्वाकः पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम् ।
अहो वनमिदं दुर्गं झिल्लिकागणसंयुतम् ॥ १३ ॥
भैरवैः श्वापदैः कीर्णं शकुन्तैर्दारुणारवैः ।
नानाप्रकारैः शकुनैर्वाश्यद्भिर्भैरवस्वनैः ॥ १४ ॥
सिंहव्याघ्रवराहैश्च वारणैश्चापि शोभितम् ।
धवाश्वकर्णककुभैर्बिल्वतिन्दुकपाटलैः ॥ १५ ॥
संकीर्णं बदरीभिश्च किं न्विदं दारुणं वनम् ।
तमुवाच महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ १६ ॥
श्रूयतां वत्स काकुत्स्थ यस्यैतद् दारुणं वनम् ।
एतौ जनपदौ स्फीतौ पूर्वमास्तां नरोत्तम ॥ १७ ॥
मलदाश्च करूषाश्च देवनिर्माणनिर्मितौ ।
पुरा वृत्रवधे राम मलेन समभिप्लुतम् ॥ १८ ॥
क्षुधा चैव सहस्राक्षं ब्रह्महत्या समाविशत् ।
तमिन्द्रं मलिनं देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥ १९ ॥
कलशैः स्नापयामासुर्मलं चास्य प्रमोचयन् ।
इह भूम्यां मलं दत्त्वा देवाः कारूषमेव च ॥ २० ॥
शरीरजं महेन्द्रस्य ततो हर्षं प्रपेदिरे ।
निर्मलो निष्करूषश्च शुद्ध इन्द्रो यथाभवत् ॥ २१ ॥
ततो देशस्य सुप्रीतो वरं प्रादादनुत्तमम् ।
इमौ जनपदौ स्फीतौ ख्यातिं लोके गमिष्यतः ॥ २२ ॥
मलदाश्च करूषाश्च ममाङ्गमलधारिणौ ।
साधु साध्विति तं देवाः पाकशासनमब्रुवन् ॥ २३ ॥
देशस्य पूजां तां दृष्ट्वा कृतां शक्रेण धीमता ।
एतौ जनपदौ स्फीतौ दीर्घकालमरिंदम ॥ २४ ॥
मलदाश्च करूषाश्च मुदिता धनधान्यतः ।
कस्यचित्त्वथ कालस्य यक्षिणी कामरूपिणी ॥ २५ ॥
बलं नागसहस्रस्य धारयन्ती तदा ह्यभूत् ।
ताटका नाम भद्रं ते भार्या सुन्दस्य धीमतः ॥ २६ ॥

सरयू कहते इसे, क्योंकि यह ब्रह्म-सरोवर से निकली है।
घोर नाद इसलिए हो रहा, गंगा से वह यहाँ मिली है॥ ८-१०॥
इन्हें प्रणाम करो तुम, राघव! मन से हो सर्वथा संयमित।
किया प्रणाम राम-लक्ष्मण ने, सरिताओं को हो श्रद्धान्वित॥ ११॥
गंगा-दक्षिण-तट के पथ पर त्वरित चले दोनों नृप-नन्दन।
वहाँ राम ने निज समीप में देखा एक भयंकर-सा वन॥ १२॥
नर-पद-चिह्न-विहीन देखकर उसे, राम बोले, हे गुरुवर!।
इस अद्भुत, दुर्गम वन में है चारों ओर झिल्लियों का स्वर॥
हिंसक जन्तु भरे हैं इसमें होता खग-रव यहाँ भयंकर।
चारों ओर विहंगम फिरते इन सबका भी है भीषण-स्वर॥१३-१४॥
सिंह, व्याघ्र, शूकर, हस्ती हैं इसकी शोभा अधिक बढ़ाते।
धौरा, पाड़र, शाल, बेल-तरु, तेंदु, बेर, अर्जुन अति भाते॥ १५॥
क्या है इसका नाम? हो रहा इन सबसे जो परम भयंकर।
तेजस्वीवर, तब राघव से बोले विश्वामित्र मुनीश्वर॥ १६॥
वत्स! सुनो किसने पाया था पहले इस वन का अधिपति-पद।
पूर्व समय में अति समृद्धिमय नृवर! यहाँ पर थे दो जनपद॥ १७॥
मलद, करूष नाम के ये थे निर्मित सब देवों के बल से।
वृत्त असुर का वध कर सुरपति लिप्त हो गये थे अतिमल से॥ १८॥
ब्राह्मण-हत्या लगी उन्हें फिर हुए क्षुधा-पीड़ित भी सुरवर।
तब उन मलिन इन्द्र को देवों, महर्षियों ने सत्वर मिलकर॥ १९॥
गंगा-जल-पूरित कलशों से नहलाकर मल सभी छुड़ाया।
इस प्रदेश को फिर देवों ने मल, कारूष सुयुक्त बनाया॥ २०॥
ये कारूष और मल देकर हुए प्रफुल्लित ये सब सुरवर।
निर्मल, क्षुधा-रहित हो तब फिर हुए पूर्ववत् इन्द्र रूप-धर॥ २१॥
तब प्रसन्न होकर महेन्द्र ने दिया जनपदों को उत्तम वर।
मलद, करूष, नाम से होंगे ये प्रसिद्ध जनपद अवनी पर॥
होंगे अति समृद्ध जनपद ये, मेरे इस मल के धारण से।
साधुवाद तब दिया सुरों ने इन महेन्द्र को इस कारण से॥
ये प्रदेश इस भाँति हुए थे इन्द्र देवता द्वारा पूजित।
शत्रुदमन! दोनों प्रदेश थे तब से सुख-समृद्धि से पूरित॥
धन्य-धान्यादि-युक्त देशों में प्रसन्नता थी अतिशय छायी।
कालान्तर में काम-रूपिणी इनमें एक यक्षिणी आयी॥२२-२५॥
वत्स! ताटका नाम्नी की है दश सहस्र गज बलव्रति काया।
राघव! हो कल्याण तुम्हारा, यह है 'सुन्द' दैत्य की तनया॥ २६॥

मारीचो राक्षसः पुत्रो यस्याः शक्रपराक्रमः ।
वृत्तबाहुर्महाशीर्षो विपुलास्यतनुर्महान् ॥ २७ ॥
राक्षसो भैरवाकारो नित्यं त्रासयते प्रजाः ।
इमौ जनपदौ नित्यं विनाशयति राघव ॥ २८ ॥
मलदांश्च करूषांश्च ताटका दुष्टचारिणी ।
सेयं पन्थानमावृत्य वसत्यत्यर्धयोजने ॥ २९ ॥
अत एव च गन्तव्यं ताटकाया वनं यतः ।
स्वबाहुबलमाश्रित्य जहीमां दुष्टचारिणीम् ॥ ३० ॥
मन्नियोगादिमं देशं कुरु निष्कण्टकं पुनः ।
नहि कश्चिदिमं देशं शक्तो ह्यागन्तुमीदृशम् ॥ ३१ ॥
यक्षिण्या घोरया राम उत्सादितमसह्यया ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यथैतद् दारुणं वनम् ।
यक्ष्या चोत्सादितं सर्वमद्यापि न निवर्तते ॥ ३२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

अथ तस्याप्रमेयस्य मुनेर्वचनमुत्तमम् ।
श्रुत्वा पुरुषशार्दूलः प्रत्युवाच शुभां गिरम् ॥ १ ॥
अल्पवीर्या यदा यक्षी श्रूयते मुनिपुङ्गव ।
कथं नागसहस्रस्य धारयत्यबला बलम् ॥ २ ॥
इत्युक्तं वचनं श्रुत्वा राघवस्यामितौजसः ।
हर्षयञ्श्लक्ष्णया वाचा सलक्ष्मणमरिंदमम् ॥ ३ ॥
विश्वामित्रोऽब्रवीद् वाक्यं शृणु येन बलोत्कटा ।
वरदानकृतं वीर्यं धारयत्यबला बलम् ॥ ४ ॥
पूर्वमासीन्महायक्षः सुकेतुर्नाम वीर्यवान् ।
अनपत्यः शुभाचारः स च तेपे महत्तपः ॥ ५ ॥
पितामहस्तु सुप्रीतस्तस्य यक्षपतेस्तदा ।
कन्यारत्नं ददौ राम ताटकां नाम नामतः ॥ ६ ॥
ददौ नागसहस्रस्य बलं चास्याः पितामहः ।
न त्वेव पुत्रं यक्षाय ददौ चासौ महायशाः ॥ ७ ॥

इन्द्र-सदृश विक्रमवर राक्षस है इसका मारीच एक सुत।
है विशाल तनु, गोल भुजाएँ वृहद्भाल, प्रसरित मुख अद्भुत ॥ २७ ॥
मलद, करूष-प्रजा को देता, दनुज भीम-तनु बहुत त्रास है।
इसी भाँति ताटका, प्रदेशों का करती अतिशय विनाश है॥
इसी तरह ताटका राक्षसी भी उत्पात बहुत है करती।
छः कोसों की भूमि घेरकर वन-प्रदेश में नित्य विचरती ॥२८-२९॥
अतः ताटका वन-पथ पर ही हम सबको चलना है समुचित।
निजभुज-बल से इसे मारकर, राघव ! करें प्रान्त को रक्षित ॥ ३० ॥
मेरी आज्ञा से निष्कण्टक करो प्रदेशों को, रघुनन्दन !
यद्यपि अति सुरम्य थल, फिर भी आ सकता न यहाँ कोई जन ॥ ३१ ॥
उसी यक्षिणी मायाविनि ने किया, राम ! इस स्थल को निर्जन।
बतलाया मैंने इस वन का जो रहस्य है, हे रघुनन्दन ! ॥
उसने अपने क्रूर कर्म से लिया नहीं अब भी विराम है।
(अतः मारना इसको, रघुवर ! परमावश्यक प्रथम काम है) ॥ ३२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में चौबीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २४ ॥

पचीसवाँ सर्ग

श्रीराम के पूछने पर विश्वामित्र जी का उनसे ताटका की उत्पत्ति, विवाह एवं शाप आदि का प्रसङ्ग सुनाकर उन्हें ताटका-वध के लिए प्रेरित करना

अमित प्रभावी मुनिवर का यह सुनकर उत्तम उचित शुभ वचन।
बोले उनसे पुनः (सुविस्मित) होकर पुरुषसिंह रघुनन्दन ॥ १ ॥
कम बल की यक्षिणियाँ होती हैं अबला होने के कारण।
तो फिर कैसे दश सहस्र गज-बल को वह करती है धारण ॥ २ ॥
तब ओजस्वी, शत्रुदमन श्रीराम-लखन का हर्ष बढ़ाकर।
कारण लगे बताने उनको मृदु वाणी में ऋषि समझाकर ॥ ३ ॥
वत्स ! मिला वरदान ताटका को, उस फल का उदय हुआ जब।
अबला होकर भी रघुनन्दन ! हुई बलवती वह उतनी तब ॥ ४ ॥
यक्ष सुकेतु विक्रमी की थी कटु सन्तति-हीनता समस्या।
अतः सदाचारी उनने की इसी हेतु से बड़ी तपस्या ॥ ५ ॥
राम ! यक्ष ने तप द्वारा जब विधि को अधिक प्रसन्न कर लिया।
तब विधि ने 'ताटका' नाम का उनको कन्या-रत्न यह दिया ॥ ६ ॥
सहस हस्ति-बल कन्या देकर, सुत से उसको रहित कर दिया।
ऐसा करके ब्रह्मा जी ने जन-समूह का बहुत हित किया ॥ ७ ॥

तां तु बालां विवर्धन्तीं रूपयौवनशालिनीम् ।
जम्भपुत्राय सुन्दाय ददौ भार्यां यशस्विनीम् ॥ ८ ॥
कस्यचित्त्वथ कालस्य यक्षी पुत्रं व्यजायत ।
मारीचं नाम दुर्धर्षं यः शापाद् राक्षसोऽभवत् ॥ ९ ॥
सुन्दे तु निहते राम अगस्त्यमृषिसत्तमम् ।
ताटका सहपुत्रेण प्रधर्षयितुमिच्छति ॥ १० ॥
भक्षार्थं जातसंरम्भा गर्जन्ती साभ्यधावत ।
आपतन्तीं तु तां दृष्ट्वा अगस्त्यो भगवानृषिः ॥ ११ ॥
राक्षसत्वं भजस्वेति मारीचं व्याजहार सः ।
अगस्त्यः परमामर्षस्ताटकामपि शप्तवान् ॥ १२ ॥
पुरुषादी महायक्षी विकृता विकृतानना ।
इदं रूपं विहायाशु दारुणं रूपमस्तु ते ॥ १३ ॥
सैषा शापकृतामर्षा ताटका क्रोधमूर्च्छिता ।
देशमुत्सादयत्येनमगस्त्याचरितं शुभम् ॥ १४ ॥
एनां राघव दुर्वृत्तां यक्षीं परमदारुणाम् ।
गोब्राह्मणहितार्थाय जहि दुष्टपराक्रमाम् ॥ १५ ॥
नह्येनां शापसंसृष्टां कश्चिदुत्सहते पुमान् ।
निहन्तुं त्रिषु लोकेषु त्वामृते रघुनन्दन ॥ १६ ॥
नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम ।
चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना ॥ १७ ॥
नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात् ।
पातकं वा सदोषं वा कर्तव्यं रक्षता सदा ॥ १८ ॥
राज्यभारनियुक्तानामेष धर्मः सनातनः ।
अधर्म्यां जहि काकुत्स्थ धर्मो ह्यस्यां न विद्यते ॥ १९ ॥
श्रूयते हि पुरा शक्रो विरोचनसुतां नृप ।
पृथिवीं हन्तुमिच्छन्तीं मन्थरामभ्यसूदयत् ॥ २० ॥
विष्णुना च पुरा राम भृगुपत्नी पतिव्रता ।
अनिन्द्रं लोकमिच्छन्ती काव्यमाता निषूदिता ॥ २१ ॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभी राजपुत्रैर्महात्मभिः ।
अधर्मसहिता नार्यो हताः पुरुषसत्तमैः ।
तस्मादेनां घृणां त्यक्त्वा जहि मच्छासनान्नृप ॥ २२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

धीरे-धीरे बढ़ी बालिका, आया यौवन-रूप साथ में।
तब सुकेतु ने यशस्विनी को दिया जम्भ-सुत सुन्द-हाथ में ॥ ८ ॥
अति दुर्जय मारीच पुत्र फिर हुआ ताटका के तदनन्तर।
मुनि अगस्त्य से शापित होकर हुआ बाद में वही निशाचर ॥ ९ ॥
फ़िर अगस्त्य के शाप मात्र से, राम! सुन्द की मृत्यु हो गयी।
अतः ताटका यक्षिणि सुत-सँग मुनि को ही मारने को गयी ॥ १० ॥
मुनि को खाने को दौड़ी वह यक्षिणि अतिशय कुपित गर्ज कर।
उसे देख मारीच पुत्र से बोले कुपित अगस्त्य ऋषीश्वर ॥ ११ ॥
सुन्दर देव-योनि त्यजकर तू हो जा दुष्ट! निशाचर भीषण।
शप्ता हुई ताटका यक्षी भी अगस्त्य से तभी उसी क्षण ॥ १२ ॥
भयंकरी विकराल-मुखी तू होगी दुष्टे! मनुजभक्षिणी।
अब न रहेगी किसी भाँति से इस प्रकार तू महायक्षिणी ॥ १३ ॥
क्रोध-मूर्च्छिता हुई ताटका, जागा उसमें अति प्रकोप जब।
जिस प्रदेश में मुनि रहते थे, करनें लगी नष्ट उसको तब ॥ १४ ॥
गो, ब्राह्मण, जन के मंगल-हित इसको मारो तुम, रघुनन्दन!।
दुष्ट-दुर्भगा, दुराचरिणी जो है (जिसका है भीषण तन) ॥ १५ ॥
इस त्रिभुवन में अन्य नहीं है इस शापित यक्षी का मारक।
रघुकुल के आनन्द-विवर्धक! तुम इसके समर्थ संहारक ॥ १६ ॥
राज-पुत्र को दुष्टा के प्रति दया-भाव लाना अनुचित है।
चारों वर्णों की रक्षा-हित नारी-वध भी शास्त्र-विहित है ॥ १७ ॥
शुभ या अशुभ, दोष या पातक, प्रजा-जनों के संरक्षण-हित।
नृप को समय-समय पर करने पड़ते हैं क्रूरता-समन्वित ॥ १८ ॥
राज्य-भार शिर पर धारण कर, नृप का है यह धर्म सनातन।
अधर्मिणी का वध समुचित, उसमें न धर्म का लेश है, सुवन! ॥ १९ ॥
धरा-विनाशन पर उद्यत थी, कभी विरोचन-सुता मन्थरा।
उसके प्राणों को महेन्द्र ने, सुनते हैं, था धर्म-वश हरा ॥ २० ॥
शुक्र-मातु, भृगु-पत्नि सती ने इन्द्र-विनाश भाव अपनाया।
स्वयं विष्णु ने उसका वध कर इन्द्रासन था कभी बचाया ॥ २१ ॥
अन्य धर्म से हीन नारियों को भी राज-सुतों ने मारा।
मम आज्ञा से घृणा त्यागकर, इसका वध है धर्म तुम्हारा ॥ २२ ॥

॥ श्री वाल्मीक-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में पचीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः

मुनेर्वचनमक्लीबं श्रुत्वा नरवरात्मजः।
राघवः प्राञ्जलिर्भूत्वा प्रत्युवाच दृढव्रतः॥ १॥
पितुर्वचननिर्देशात् पितुर्वचनगौरवात्।
वचनं कौशिकस्येति कर्तव्यमविशङ्कया॥ २॥
अनुशिष्टोऽस्म्ययोध्यायां गुरुमध्ये महात्मना।
पित्रा दशरथेनाहं नावज्ञेयं हि तद्वचः॥ ३॥
सोऽहं पितुर्वचः श्रुत्वा शासनाद् ब्रह्मवादिनः।
करिष्यामि न संदेहस्ताटकावधमुत्तमम्॥ ४॥
गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्य च हिताय च।
तव चैवाप्रमेयस्य वचनं कर्तुमुद्यतः॥ ५॥
एवमुक्त्वा धनुर्मध्ये बद्ध्वा मुष्टिमरिंदमः।
ज्याघोषमकरोत् तीव्रं दिशः शब्देन नादयन्॥ ६॥
तेन शब्देन वित्रस्तास्ताटकावनवासिनः।
ताटका च सुसंक्रुद्धा तेन शब्देन मोहिता॥ ७॥
तं शब्दमभिनिध्याय राक्षसी क्रोधमूर्च्छिता।
श्रुत्वा चाभ्यद्रवत् क्रुद्धा यत्र शब्दो विनिःसृतः॥ ८॥
तां दृष्ट्वा राघवः क्रुद्धां विकृतां विकृताननाम्।
प्रमाणेनातिवृद्धां च लक्ष्मणं सोऽभ्यभाषत॥ ९॥
पश्य लक्ष्मण यक्षिण्या भैरवं दारुणं वपुः।
भिद्येरन् दर्शनादस्या भीरूणां हृदयानि च॥ १०॥
एतां पश्य दुराधर्षां मायाबलसमन्विताम्।
विनिवृत्तां करोम्यद्य हृतकर्णाग्रनासिकाम्॥ ११॥
न ह्येनामुत्सहे हन्तुं स्त्रीस्वभावेन रक्षिताम्।
वीर्यं चास्या गतिं चैव हन्यामिति हि मे मतिः॥ १२॥
एवं ब्रुवाणे रामे तु ताटका क्रोधमूर्च्छिता।
उद्यम्य बाहुं गर्जन्ती राममेवाभ्यधावत॥ १३॥
विश्वामित्रस्तु ब्रह्मर्षिर्हुंकारेणाभिभर्त्स्य ताम्।
स्वस्ति राघवयोरस्तु जयं चैवाभ्यभाषत॥ १४॥
उद्धुन्वाना रजो घोरं ताटका राघवावुभौ।
रजोमेघेन महता मुहूर्तं सा व्यमोहयत्॥ १५॥
ततो मायां समास्थाय शिलावर्षेण राघवौ।
अवाकिरत् सुमहता ततश्चुक्रोध राघवः॥ १६॥

छब्बीसवाँ सर्ग

श्रीराम द्वारा ताटका का वध

श्री मुनि के पुरुषार्थ-युक्त, यह दृढ़ता-वर्धक वचन श्रवण कर।
उत्तर में दृढ़व्रती राम तब बोले उनसे हाथ जोड़कर ॥ १ ॥
पुरी अयोध्या में मैं भगवन्! हुआ गुरुजनों से उपदेशित।
आज्ञा-पालन करूँ आपका भलीभाँति से हो निःशंकित ॥
पिता-वचन-गौरव रखने को और अवज्ञा से बचने को।
सभी गुरुजनों ने समझाया मुनि-आज्ञा पालन करने को ॥ २-३ ॥
अतः पिता-उपदेश मानकर, जैसा कहते हैं ऋषिसत्तम!।
मारूँगा उस यक्षी को मैं, कार्य मान करके अति उत्तम ॥ ४ ॥
गो, ब्राह्मण औ देश-राष्ट्र की रक्षा-हित मैं, हे विद्वद्वर!।
अनुपम तेजस्विन् श्रीमन् के वचन पालने को हूँ तत्पर ॥ ५ ॥
ऐसा कहकर शत्रुदमन ने निज धनु का मध्यांग पकड़कर।
प्रत्यञ्चा-टंकार मात्र से सकल दिशाओं में गुञ्जित स्वर ॥ ६ ॥
ताटक-वन-वासी समूह तब हुआ नाद से अतिशय कम्पित।
किंकर्तव्यविमूढ़ ताटका हुई बाद में अतिशय क्रोधित ॥
प्रत्यञ्चा की भीषण ध्वनि वह थी उस समय जिधर से आई।
उसी ओर वह महाराक्षसी करके रोष शीघ्र ही धाई ॥ ७-८ ॥
काया थी उसकी कराल, विकराल-वदन भी था विशेषकर।
बोले लक्ष्मण से रघुनन्दन, उस क्रुद्धा की ओर देखकर ॥ ९ ॥
देखो लखन! महाभयकारी यह है कितनी भीषण तन से।
भीरु जनों के हृदय-विदारित हों क्षण में इसके दर्शन से ॥ १० ॥
माया-बल-सम्पन्न रूप है इसका अति दुर्जय दिखलाता।
देखो! इसके कान, नाक को करके छिन्न इसे लौटाता ॥ ११ ॥
नारि-भाव से रक्षित इसके बध का मन में भाव न आता।
किन्तु पराक्रम तथा गमन-बल केवल इसका अभी मिटाता ॥ १२ ॥
कह ही रहे राम थे, तब वह वहाँ आ गई क्रोधित यक्षी।
गर्जन करके भुजा उठाकर झपटी (जैसे हिंसक पक्षी) ॥ १३ ॥
तब ब्रह्मर्षि कुशिक-सुत ने निज हुंकृति से इसको ललकारा।
और कहा, हे राघव! लक्ष्मण! जय-जय हो कल्याण तुम्हारा ॥ १४ ॥
रघुवंशी वीरों पर उसने मेघ-सदृश अति धूलि उड़ाई।
घड़ी मात्र को हुए विमोहित राघव, लक्ष्मण दोनों भाई ॥ १५ ॥
मायाविनी ताटका ने तब नृप-सुत पर पत्थर बरसाये।
ऐसी स्थिति में रामचन्द्र जी तब फिर बहुत क्रोध में आये ॥ १६ ॥

शिलावर्षं महत् तस्याः शरवर्षेण राघवः।
प्रतिवार्योपधावन्त्याः करौ चिच्छेद पत्रिभिः ॥ १७ ॥
ततश्छिन्नभुजां श्रान्तामभ्याशे परिगर्जतीम्।
सौमित्रिरकरोत् क्रोधाद्धृतकर्णाग्रनासिकाम् ॥ १८ ॥
कामरूपधरा सा तु कृत्वा रूपाण्यनेकशः।
अन्तर्धानं गता यक्षी मोहयन्ती स्वमायया ॥ १९ ॥
अश्मवर्षं विमुञ्चन्ती भैरवं विचचार सा।
ततस्तावश्मवर्षेण कीर्यमाणौ समन्ततः ॥ २० ॥
दृष्ट्वा गाधिसुतः श्रीमानिदं वचनमब्रवीत्।
अलं ते घृणया राम पापैषा दुष्टचारिणी ॥ २१ ॥
यज्ञविघ्नकरी यक्षी पुरा वर्धेत मायया।
वध्यतां तावदेवैषा पुरा संध्या प्रवर्तते ॥ २२ ॥
रक्षांसि संध्याकाले तु दुर्धर्षाणि भवन्ति हि।
इत्युक्तः स तु तां यक्षीमश्मवृष्ट्याभिवर्षिणीम् ॥ २३ ॥
दर्शयञ्शब्दवेधित्वं तां रुरोध स सायकैः।
सा रुद्धा बाणजालेन मायाबलसमन्विता ॥ २४ ॥
अभिदुद्राव काकुत्स्थं लक्ष्मणं च विनेदुषी।
तामापतन्तीं वेगेन विक्रान्तामशनीमिव ॥ २५ ॥
शरेणोरसि विव्याध सा पपात ममार च।
तां हतां भीमसंकाशां दृष्ट्वा सुरपतिस्तदा ॥ २६ ॥
साधु साध्विति काकुत्स्थं सुराश्चाप्यभिपूजयन्।
उवाच परमप्रीतः सहस्राक्षः पुरन्दरः ॥ २७ ॥
सुराश्च सर्वे संहृष्टा विश्वामित्रमथाब्रुवन्।
मुने कौशिक भद्रं ते सेन्द्राः सर्वे मरुद्गणाः ॥ २८ ॥
तोषिताः कर्मणानेन स्नेहं दर्शय राघवे।
प्रजापतेः कृशाश्वस्य पुत्रान् सत्यपराक्रमान्। २९ ॥
तपोबलभृतो ब्रह्मन् राघवाय निवेदय।
पात्रभूतश्च ते ब्रह्मंस्तवानुगमने रतः ॥ ३० ॥
कर्तव्यं सुमहत् कर्म सुराणां राजसूनुना।
एवमुक्त्वा सुराः सर्वे जग्मुर्हृष्टा विहायसम् ॥ ३१ ॥
विश्वामित्रं पूजयन्तस्ततः संध्या प्रवर्तते।
ततो मुनिवरः प्रीतस्ताटकावधतोषितः ॥ ३२ ॥
मूर्ध्नि राममुपाघ्राय इदं वचनमब्रवीत्।
इहाद्य रजनीं राम वसाम शुभदर्शन ॥ ३३ ॥

रघुनन्दन ने वाण-वृष्टि से शिला-वृष्टि को शीघ्र रोककर।
अंग-भंग कर दिया बाण से उसके दोनों हाथ काटकर॥ १७ ॥
भुजा-विहीना शिथिल ताटका करने लगी बहुत ही गर्जन।
तब क्रोधित लक्ष्मण ने उसके किया नाक-कानों का खण्डन॥ १८ ॥
फिर वह कामरूपिणी निज को बहुरूपों में कर परिवर्तित।
मोहित करती हुई भाइयों को हो गयी शीघ्र अन्तर्हित॥ १६ ॥
बरसाकर पाषाण, गगन में अब वह यक्षो लगी विचरने।
बिखरे पाषाणों को देखा सभी ओर जब इन ऋषिवर ने॥
विश्वामित्र शीघ्र ही बोले, दया न इस पर करो राम! अब।
यह है दुराचारिणी यक्षी, इसमें हैं संस्थित दुर्गुण सब॥२०-२१॥
यज्ञ-विघ्न करनेवाली यह अपनी फिर माया फैलाए।
अच्छा है इसके पहले ही संध्या तक यह मारी जाए॥ २२ ॥
क्योंकि सान्ध्य-वेला होने पर निशिचर हो जाते हैं दुर्जय।
तब राघव उत्पल-वर्षिणि को बल दिखलाने का कर निश्चय॥
शब्द-वेधि बाणों से उसको चारों ओर कर दिया छादित।
तब झपटी राघव, लक्ष्मण पर वह मायाविनि भी प्रहार-हित॥
इन्द्र-वज्र की भाँति वेग से उसको आती हुई देखकर।
वेधा शर से हृदय राम ने उसका, उसे गिराया भू पर॥२३-२५॥
हुआ ताटका-हृदय-वेध जब, तब वह गिरी भूमि पर मरकर।
भयंकरी उस यक्षी को तब देवराज ने मरी देखकर॥ २६ ॥
सब देवों सँग राघव-लक्ष्मण को दे साधुवाद अतिशय तब।
हर्षित होकर कुशिक-पुत्र से बोले इन्द्र-आदि सुरवर सब॥ २७ ॥
विश्वामित्र मुनीश्वर से तब बोले सभी देवता उस क्षण।
मुनिवर! हो कल्याण आपका, धन्य हुए सुर तथा मरुद्गण॥ २८ ॥
इस सुकृत्य से सभी देवता तुष्ट हुए अतिशय ऋषिसत्तम!।
कृपा करें अब पुनः राम पर दें कृशाश्व-शस्त्रास्त्र समुत्तम॥ २६ ॥
जो कि तपस्या-बल से युत हैं, उन्हें राम को करें समर्पित।
ये हैं इसके पात्र, आपकी सेवा में रहते हैं संस्थित॥ ३० ॥
नृपति-पुत्र के द्वारा ऋषिवर! होंगे देव-सुकार्य उच्चतर।
मुनि की करते हुए प्रशंसा गये देवता नभो-मार्ग पर॥
तदनन्तर सर्वार्थदायिनी, मनोहारिणी सन्ध्या आई।
मुनिवर ने ताटका-मरण से मन में तुष्टि सर्वथा पाई॥३१-३२॥
मुनिवर ने श्री रामचन्द्र का हर्षित होकर सूँघा मस्तक।
बोले, यहीं रहें शुभदर्शन! प्रसन्नता से इस रजनी तक॥ ३३ ॥

श्वः प्रभाते गमिष्यामस्तदाश्रमपदं मम।
विश्वामित्रवचः श्रुत्वा हृष्टो दशरथात्मजः ॥ ३४ ॥
उवाच रजनीं तत्र ताटकाया वने सुखम्।
मुक्तशापं वनं तच्च तस्मिन्नेव तदाहनि।
रमणीयं विबभ्राज यथा चैत्ररथं वनम् ॥ ३५ ॥
निहत्य तां यक्षसुतां स रामः
प्रशस्यमानः सुरसिद्धसंघैः।
उवास तस्मिन् मुनिना सहैव
प्रभातवेलां प्रतिबोध्यमानः ॥ ३६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

सप्तविंशः सर्गः

अथ तां रजनीमुष्य विश्वामित्रो महायशाः।
प्रहस्य राघवं वाक्यमुवाच मधुरस्वरम् ॥ १ ॥
परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते राजपुत्र महायशः।
प्रीत्या परमया युक्तो ददाम्यस्त्राणि सर्वशः ॥ २ ॥
देवासुरगणान् वापि सगन्धर्वोरगान् भुवि।
यैरमित्रान् प्रसह्याजौ वशीकृत्य जयिष्यसि ॥ ३ ॥
तानि दिव्यानि भद्रं ते ददाम्यस्त्राणि सर्वशः।
दण्डचक्रं महद् दिव्यं तव दास्यामि राघव ॥ ४ ॥
धर्मचक्रं ततो वीर कालचक्रं तथैव च।
विष्णुचक्रं तथात्युग्रमैन्द्रं चक्रं तथैव च ॥ ५ ॥
वज्रमस्त्रं नरश्रेष्ठ शैवं शूलवरं तथा।
अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव ऐषीकमपि राघव ॥ ६ ॥
ददामि ते महाबाहो ब्राह्ममस्त्रमनुत्तमम्।
गदे द्वे चैव काकुत्स्थ मोदकीशिखरी शुभे ॥ ७ ॥
प्रदीप्ते नरशार्दूल प्रयच्छामि नृपात्मज।
धर्मपाशमहं राम कालपाशं तथैव च ॥ ८ ॥
वारुणं पाशमस्त्रं च ददाम्यहमनुत्तमम्।
अशनी द्वे प्रयच्छामि शुष्कार्द्रे रघुनन्दन ॥ ९ ॥

कल प्रभात होगा जब, तब हम सभी चलेंगे निज आश्रम पर।
दशरथ-नन्दन हुए मुदित अति मुनि के उत्तम वचन श्रवण कर ॥ ३४ ॥
ताटक-वन में ही इन सबने मंगल रजनी सुखद बिताई।
ताटक-वन ने पूर्व-शाप से मुक्ति इसी शुभ दिन थी पाई॥
तब से ही फिर यह ताटक-वन हुआ चैत्रवन-सदृश मनोहर।
(ऐसा लगता वन-लक्ष्मी ने दे दी अपनी इसे धरोहर) ॥ ३५ ॥
यक्ष-सुता का वध करके ये रघुवर बली अपरिमित
सब देवों, यक्षों से शतशः हुए सुपूजित वन्दित।
आनेवाले सुप्रभात की करते हुए प्रतीक्षा
रात्रि बिताई ताटक-वन में मुनि-सँग अति आनन्दित ॥ ३६ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २६ ॥

सत्ताईसवाँ सर्ग

विश्वामित्र द्वारा श्रीराम को दिव्यास्त्र-दान

बीती रात्रि ताटका-वन में, आया मंगलमय प्रभात जब।
राघव से हँसकर मृदु वाणी में सुयशस्वी ऋषि बोले तब ॥ १ ॥
नृपसुत ! हो कल्याण तुम्हारा, अति प्रसन्न हूँ अब मैं तुम पर।
अतः मोद से अस्त्र दे रहा सभी भाँति के तुम्हें दिव्यतर ॥ २ ॥
इनसे देव, असुर, गन्धर्वों, नागों को वश में लाओगे।
सभी भाँति के रिपुओं पर तुम रण में शीघ्र विजय पाओगे ॥ ३ ॥
हो कल्याण तुम्हारा रघुवर ! मैं करता हूँ तुम्हें समर्पित।
महादिव्य इस दण्डचक्र को, इसमें है सामर्थ्य अपरिमित॥
धर्मचक्र यह, कालचक्र यह, विष्णुचक्र हैं परम भयंकर।
और तुम्हें मैं आज दे रहा ऐन्द्रचक्र भी अति बलवत्तर ॥ ४-५ ॥
इन्द्रवज्र, शिवशूल और यह विधि का अस्त्र ब्रह्मशिर उत्तम।
इसी भाँति ऐषीक अस्त्र भी तुम्हें दे रहा हूँ, नृपसत्तम ! ॥ ६ ॥
और महाबाहो ! देता मैं, ब्राह्म-अस्त्र तुमको श्रेयस्कर।
हे काकुत्स्थ ! मोदकी, शिखरी, देता तुम्हें गदाएँ शुभकर ॥ ७ ॥
पुरुषसिंह ! अतिशय प्रदीप्त यह अन्य अस्त्र भी देता अक्षय।
धर्मपाश-सँग कालपाश से (नृपसुत ! होंगे विजयी निश्चय) ॥ ८ ॥
वारुण-पाश अस्त्र भी देता इसी भाँति तुमको बलवर्धन।
शुष्क, तरल ये वज्र (अशनि) भी अर्पित हैं तुमको रघुनन्दन ! ॥ ९ ॥

ददामि चास्त्रं पैनाकमस्त्रं नारायणं तथा ।
आग्नेयमस्त्रं दयितं शिखरं नाम नामतः ॥ १० ॥
वायव्यं प्रथमं नाम ददामि तव चानघ ।
अस्त्रं हयशिरो नाम क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च ॥ ११ ॥
शक्तिद्वयं च काकुत्स्थ ददामि तव राघव ।
कङ्कालं मुसलं घोरं कापालमथ किङ्किणीम् ॥ १२ ॥
वधार्थं रक्षसां यानि ददाम्येतानि सर्वशः ।
वैद्याधरं महास्त्रं च नन्दनं नाम नामतः ॥ १३ ॥
असिरत्नं महाबाहो ददामि नृवरात्मज ।
गान्धर्वमस्त्रं दयितं मोहनं नाम नामतः ॥ १४ ॥
प्रस्वापनं प्रशमनं दद्मि सौम्यं च राघव ।
वर्षणं शोषणं चैव संतापनविलापने ॥ १५ ॥
मादनं चैव दुर्धर्षं कन्दर्पदयितं तथा ।
गान्धर्वमस्त्रं दयितं मानवं नाम नामतः ॥ १६ ॥
पैशाचमस्त्रं दयितं मोहनं नाम नामतः ।
प्रतीच्छ नरशार्दूल राजपुत्र महायशः ॥ १७ ॥
तामसं नरशार्दूल सौमनं च महाबलम् ।
संवर्तं चैव दुर्धर्षं मौसलं च नृपात्मज ॥ १८ ॥
सत्यमस्त्रं महाबाहो तथा मायामयं परम् ।
सौरं तेजःप्रभं नाम परतेजोऽपकर्षणम् ॥ १९ ॥
सोमास्त्रं शिशिरं नाम त्वाष्ट्रमस्त्रं सुदारुणम् ।
दारुणं च भगस्यापि शीतेषुमथ मानवम् ॥ २० ॥
एतान् राम महाबाहो कामरूपान् महाबलान् ।
गृहाण परमोदारान् क्षिप्रमेव नृपात्मज ॥ २१ ॥
स्थितस्तु प्राङ्मुखो भूत्वा शुचिर्मुनिवरस्तदा ।
ददौ रामाय सुप्रीतो मन्त्रग्राममनुत्तमम् ॥ २२ ॥
सर्वसंग्रहणं येषां दैवतैरपि दुर्लभम् ।
तान्यस्त्राणि तदा विप्रो राघवाय न्यवेदयत् ॥ २३ ॥
जपतस्तु मुनेस्तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः ।
उपतस्थुर्महार्हाणि सर्वाण्यस्त्राणि राघवम् ॥ २४ ॥
ऊचुश्च मुदिता रामं सर्वे प्राञ्जलयस्तदा ।
इमे च परमोदार किङ्करास्तव राघव ॥ २५ ॥
यद्यदिच्छसि भद्रं ते तत्सर्वं करवाम वै ।
ततो रामः प्रसन्नात्मा तैरित्युक्तो महाबलैः ॥ २६ ॥

ये पिनाक, नारायणास्त्र हैं इनको भी मैं तुम्हें दे रहा।
यह आग्नेय-अस्त्र है इसको विज्ञों ने है शिखर भी कहा॥ १० ॥
है प्रधान वायव्य-अस्त्र यह, इसको भी स्वीकार करो अब।
तथा हयशिरा, क्रौञ्च-अस्त्र भी इनमें हैं सामर्थ्य राम! सब॥ ११ ॥
देता हूँ दो दिव्य शक्तियाँ है जिनकी सुख्याति अपरिमित।
ये कंकाल, कपाल, किंकिणी, घोर, मुसल हैं अस्त्र सुपरिचित॥
इन उपयोगी अस्त्रों द्वारा निश्चय ही मरते हैं निशिचर।
नन्दन महाअस्त्र देता मैं, जिनको रखते हैं विद्याधर॥१२-१३॥
तुम्हें महाबाहो! मैं करता, यह असि-रत्न समर्पित अद्‌भुत।
गन्धर्वों का प्रिय सम्मोहन-अस्त्र तुम्हें दे रहा राजसुत!॥ १४ ॥
प्रस्वापन, प्रशमन सौम्य तुम्हें अर्पित करता हूँ रघुकुल-वर।
वर्षण, शोषण, संतापन-सँग देता तुम्हें विलापन शुभकर॥ १५ ॥
देता हूँ मैं कन्दर्प-अस्त्र औ मादन-अस्त्र तुम्हें, हे रघुवर!।
मानव-अस्त्र साथ में देता, जो है गन्धर्वों का प्रियतर॥ १६ ॥
सभी पिशाचों का अतिशय प्रिय मोहन-अस्त्र दे रहा अद्‌भुत।
स्वीकारो तुम इसे यशस्विन्! पुरुषसिंह हे राम! नृपति-सुत!॥ १७ ॥
तामस, सौमन और महाबल-अस्त्र दे रहा तुम्हें वीरवर!।
ये मौसल, संवर्त अस्त्र द्वय हैं दुर्धर्ष तथा बलवत्तर॥ १८ ॥
देता तुम्हें महाबाहो! मैं मायामय, सत्याख्य अस्त्र द्वय।
तेजःप्रभ यह अस्त्र सूर्य का शत्रु-तेज का करता है क्षय॥ १६ ॥
सोम, विश्वकर्मा, भग, मनु के शिशिर, सुदारुण और भयंकर।
देता हूँ शीतेषु नाम के अस्त्रों को भी तुम्हें मनुजवर!॥ २० ॥
बल से संयुत अस्त्र, रूप ये रखते नित इच्छानुसार हैं।
नृप-सुत! शीघ्र इन्हें स्वीकारो, ये निश्चय अतिशय उदार हैं॥ २१ ॥
स्नानादिक से शुद्ध विराजे विश्वामित्र पूर्व को मुख कर।
और दिया उपदेश राम को उत्तम दिव्यास्त्रों का शुभकर॥
जिन अस्त्रों का समग्र संग्रह देवों को भी है दुर्लभतर।
उन्हें समर्पित कर रघुवर को, प्रमुदित हुए कुशिक-सुत मुनिवर॥२२-२३॥
विश्वामित्र मुनीश्वर ने जब जाप किया फिर ध्यान लगाकर।
दिव्य रूप रख, सभी अस्त्र हो गये उपस्थित तत्क्षण आकर॥ २४ ॥
हर्ष-मगन हो हाथ जोड़कर श्रीराघव से बोले वे सब।
राघव! हो कल्याण आपका, हुए आपके हम किंकर अब॥
सेवाएं हम सदा करेंगे, सदा आपकी इच्छित प्रभुवर!।
अस्त्रों के ऐसा कहने पर मुदित हुए मन में अति रघुवर॥

प्रतिगृह्य च काकुत्स्थः समालभ्य च पाणिना।
मानसा मे भविष्यध्वमिति तान्यभ्यचोदयत् ॥ २७ ॥
ततः प्रीतमना रामो विश्वामित्रं महामुनिम्।
अभिवाद्य महातेजा गमनायोपचक्रमे ॥ २८ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः सर्गः

प्रतिगृह्य ततोऽस्त्राणि प्रहृष्टवदनः शुचिः।
गच्छन्नेव च काकुत्स्थो विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ १ ॥
गृहीतास्त्रोऽस्मि भगवन् दुराधर्षः सुरैरपि।
अस्त्राणां त्वहमिच्छामि संहारान् मुनिपुङ्गव ॥ २ ॥
एवं ब्रुवति काकुत्स्थे विश्वामित्रो महातपाः।
संहारान् व्याजहाराथ धृतिमान् सुव्रतः शुचिः ॥ ३ ॥
सत्यवन्तं सत्यकीर्तिं धृष्टं रभसमेव च।
प्रतिहारतरं नाम पराङ्मुखमवाङ्मुखम् ॥ ४ ॥
लक्ष्यालक्ष्याविमौ चैव दृढनाभसुनाभकौ।
दशाक्षशतवक्त्रौ च दशशीर्षशतोदरौ ॥ ५ ॥
पद्मनाभमहानाभौ दुन्दुनाभस्वनाभकौ।
ज्योतिषं शकुनं चैव नैरास्यविमलावुभौ ॥ ६ ॥
यौगंधरविनिद्रौ च दैत्यप्रमथनौ तथा।
शुचिबाहुर्महाबाहुर्निष्कलिर्विरुचस्तथा।
सार्चिमाली धृतिमाली वृत्तिमान् रुचिरस्तथा ॥ ७ ॥
पित्र्यः सौमनसश्चैव विधूतमकरावुभौ।
परवीरं रतिं चैव धनधान्यौ च राघव ॥ ८ ॥
कामरूपं कामरुचिं मोहमावरणं तथा।
जृम्भकं सर्पनाथं च पन्थानवरुणौ तथा ॥ ९ ॥
कृशाश्वतनयान् राम भास्वरान् कामरूपिणः।
प्रतीच्छ मम भद्रं ते पात्रभूतोऽसि राघव ॥ १० ॥
बाढमित्येव काकुत्स्थः प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
दिव्यभास्वरदेहाश्च मूर्तिमन्तः सुखप्रदाः ॥ ११ ॥

करके उनका स्पर्श हाथ से, बोले उनसे रामचन्द्र तब।
आप सभी मेरे मानस में अस्त्रो! करे निवास शीघ्र अब ॥२५-२७॥
गुरु को किया प्रणाम राम ने अति प्रमुदित होकर फिर सत्वर।
फिर अग्रिम यात्रा-पथ को वे बहुत शीघ्र हो गये सुतत्पर ॥ २८ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २७ ॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग

विश्वामित्र का श्रीराम को अस्त्रों की संहार-विधि बताना तथा उन्हें अन्यान्य अस्त्रों का उपदेश करना; श्रीराम का एक आश्रम एवं यज्ञ-स्थान के विषय में मुनि से प्रश्न

उन सब अस्त्रों को ले पावन हुए मुदित काकुत्स्थ राम तब।
और ऋषीश्वर से वे बोले, पथ पर चलते हुए पुनः अब ॥ १ ॥
गुरो! हुआ मैं भवत्-कृपा से सुर-दुर्जय, अस्त्रों को पाकर।
बतलाएँ संहार-विधा भी अब इन सबकी अति श्रेयस्कर ॥ २ ॥
धीर, तपस्वी, व्रती ऋषीश्वर ने राघव के वचन श्रवण कर।
अस्त्रों की संहार-विधा भी समझाई उनको विशेषकर ॥ ३ ॥
मंगल हो हे राम! तुम्हारा, सत्यवन्त प्रिय सत्यकीर्ति यह।
धृष्ट, रभस, प्रतिहार, पराङ्मुख को भी रखो अवाङ्मुख के सह ॥
लक्ष्य, अलक्ष्य, सुनाभ, शतोदर ये दृढ़नाभ, दशाक्ष दिव्यतर।
उत्तम है दशशीर्ष सर्वथा स्वीकारो दशवक्त्र वीरवर ॥
पद्मनाभ यह, महानाभ यह, दुन्दुनाभ हैं अद्भुत कारक।
लो, ज्योतिष, नैराश्य, शकुन ये विमल, स्वनाभ दैत्य-दल-मारक ॥
दैत्यविमर्दन यौगन्धर ये, निष्काल, विरुच, विनिद्र, वीरवर!।
लो शुचिबाहु, राजसुत! यह है महाबाहु भी वीर्य-वृद्धि-कर ॥
वृत्तिमान, धृतिमाली रुचिकर, रुचिर सार्चिमाली लो, नृप-सुत!।
(दिखलाओगे इन अस्त्रों से रण में तुम विक्रम अति अद्भुत) ॥
ये सौमनस, विधूत, मकर हैं, पित्र्य और परवीर, धान्य, धन।
तथा अस्त्रवर रति को लेकर तुम होगे विजयी, रघुनन्दन! ॥
काम-रूप यह और कामरुचि, मोह, आवरण, जृम्भक-पाकर।
सर्पनाथ, पन्थान, वरुण से हुए राम! तुम शौर्य-प्रभाकर ॥
पुत्र-कृशाश्व प्रजापति के ये सब भास्वर, काम-रूप, महिमान्वित।
हो उपयुक्त पात्र तुम! इनको धारण करो, रहो आनन्दित ।४-१०॥
मूर्तिमान् इन अस्त्रों को ले, हुए मुदित मन रघुकुल-नायक।
ये थे तेजोद्भासित अतिशय निश्चय ही जग के सुखदायक ॥ ११ ॥

केचिदङ्गारसदृशाः केचिद् धूमोपमास्तथा ।
चन्द्रार्कसदृशाः केचित् प्रह्वाञ्जलिपुटास्तथा ॥ १२ ॥
रामं प्राञ्जलयो भूत्वाब्रुवन् मधुरभाषिणः ।
इमे स्म नरशार्दूल शाधि किं करवाम ते ॥ १३ ॥
गम्यतामिति तानाह यथेष्टं रघुनन्दनः ।
मानसाः कार्यकालेषु साहाय्यं मे करिष्यथ ॥ १४ ॥
अथ ते राममामन्त्र्य कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
एवमस्त्विति काकुत्स्थमुक्त्वाजग्मुर्यथागतम् ॥ १५ ॥
स च तान् राघवो ज्ञात्वा विश्वामित्रं महामुनिम् ।
गच्छन्नेवाथ मधुरं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥
किमेतन्मेघसंकाशं पर्वतस्याविदूरतः ।
वृक्षखण्डमितो भाति परं कौतूहलं हि मे ॥ १७ ॥
दर्शनीयं मृगाकीर्णं मनोहरमतीव च ।
नानाप्रकारैः शकुनैर्वल्गुभाषैरलंकृतम् ॥ १८ ॥
निःसृताः स्मो मुनिश्रेष्ठ कान्ताराद् रोमहर्षणात् ।
अनया त्ववगच्छामि देशस्य सुखवत्तया ॥ १९ ॥
सर्वं मे शंस भगवन् कस्याश्रमपदं त्विदम् ।
सम्प्राप्ता यत्र ते पापा ब्रह्मघ्ना दुष्टचारिणः ॥ २० ॥
तव यज्ञस्य विघ्नाय दुरात्मानो महामुने ।
भगवंस्तस्य को देशः सा यत्र तव याज्ञिकी ॥ २१ ॥
रक्षितव्या क्रिया ब्रह्मन् मया वध्याश्च राक्षसाः ।
एतत् सर्वं मुनिश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥ २२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशः सर्गः

अथ तस्याप्रमेयस्य वचनं परिपृच्छतः ।
विश्वामित्रो महातेजा व्याख्यातुमुपचक्रमे ॥ १ ॥
इह राम महाबाहो विष्णुर्देवनमस्कृतः ।
वर्षाणि सुबहूनीह तथा युगशतानि च ॥ २ ॥
तपश्चरणयोगार्थमुवास सुमहातपाः ।
एष पूर्वाश्रमो राम वामनस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

रवि, शशि, धूम्र और अंगारक वर्णो वाले थे प्रकाशमय।
हाथ जोड़कर रामचन्द्र से करने लगे नम्र हो अनुनय॥ १२ ॥
वे सब मधुर वचन यों बोले— पुरुषसिंह! हैं हम सब अनुचर।
हम सब सेवा करें आपकी क्या? आज्ञा दें हमको रघुवर!॥ १३ ॥
कहा राम ने तब अस्त्रों से अभी आप सब निज गृह जायें।
जब आवश्यक हो तब मेरे मन में रह साहाय्य निभायें!॥ १४ ॥
अस्त्रों ने आज्ञा-पालन का वचन दिया, फिर विदा माँगकर।
जैसे आये, विदा उसी विधि हुए राम की परिक्रमा कर॥ १५ ॥
अस्त्रों का सर्वथा ज्ञान जब रामचन्द्र ने प्राप्त कर लिया।
पथ पर चलते हुए उन्होने ऋषि से अद्भुत प्रश्न फिर किया॥ १६ ॥
गिरि पर मेघों-सम वृक्षों से सघन स्थान जो है दिखलाता।
उसे जानने की उत्कण्ठा को गुरुवर! मैं रोक न पाता॥ १७ ॥
दर्शनीय इस रम्यस्थल में सभी ओर मृग-गण दिखलाते।
पक्षी अपने मधु शब्दों से इसकी सुषमा और बढ़ाते॥ १८ ॥
मुनिप्रवर! इस शुभ प्रदेश में हम सबको मिलता सुख अक्षय।
रोमाञ्चक ताटका-विपिन से बाहर आये हम सब निश्चय॥ १९ ॥
यह सब मुझे बताएँ भगवन्! यह सुन्दर किसका आश्रम है?।
और कहाँ विप्रघ्नों, दुष्टों, असुरों का चलता दुष्क्रम है?॥
कौन आपका यज्ञ-स्थल है जहाँ दुरात्मा निशिचर आकर?।
करते विघ्न अनेक और वध उनका मुझे बताएँ मुनिवर!॥
रक्षित रखनी हैं हम सबको किस आश्रम की यज्ञ-क्रियाएँ?।
उत्सुकता बढ़ रही बहुत ही कृपया यह सब शीघ्र बताएँ!॥२०-२२॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड मे
अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २८ ॥

उन्तीसवाँ सर्ग

विश्वामित्र जी का श्रीराम से सिद्धाश्रम का पूर्ववृत्तान्त बताना और उन दोनों भाइयों के साथ अपने आश्रम पर पहुँचकर पूजित होना

अमित प्रभावी रामचन्द्र के अतिशय मधुर वचन यह सुनकर।
उत्तर देते हुए मुग्ध हो, बोले उनसे कौशिक मुनिवर॥ १ ॥
महाबाहु श्रीराम यहाँ पर पूर्व समय में विष्णु श्रेष्ठवर।
वर्षों और शत युगों तक थे करते रहे तपस्या गुरुतर॥ २ ॥
श्री वामन-अवतार धारने को उद्यत श्रीविष्णु हुए जब।
की थी यहीं तपस्या दृढ़तर, भूपति-पुत्र! उन्होंने ही तब॥ ३ ॥

सिद्धाश्रम इति ख्यातः सिद्धो ह्यत्र महातपाः।
एतस्मिन्नेव काले तु राजा वैरोचनिर्बलिः॥ ४॥
निर्जित्य दैवतगणान् सेन्द्रान् सहमरुद्‌गणान्।
कारयामास तद्राज्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतः॥ ५॥
यज्ञं चकार सुमहानसुरेन्द्रो महाबलः।
बलेस्तु यजमानस्य देवाः साग्निपुरोगमाः।
समागम्य स्वयं चैव विष्णुमूचुरिहाश्रमे॥ ६॥
बलिर्वैरोचनिर्विष्णो यजते यज्ञमुत्तमम्।
असमाप्तव्रते तस्मिन् स्वकार्यमभिपद्यताम्॥ ७॥
ये चैनमभिवर्तन्ते याचितार इतस्ततः।
यच्च यत्र यथावच्च सर्वं तेभ्यः प्रयच्छति॥ ८॥
स त्वं सुरहितार्थाय मायायोगमुपाश्रितः।
वामनत्वं गतो विष्णो कुरु कल्याणमुत्तमम्॥ ९॥
एतस्मिन्नन्तरे राम कश्यपोऽग्निसमप्रभः।
अदित्या सहितो राम दीप्यमान इवौजसा॥ १०॥
देवीसहायो भगवान् दिव्यं वर्षसहस्रकम्।
व्रतं समाप्य वरदं तुष्टाव मधुसूदनम्॥ ११॥
तपोमयं तपोराशिं तपोमूर्तिं तपात्मकम्।
तपसा त्वां सुतप्तेन पश्यामि पुरुषोत्तमम्॥ १२॥
शरीरे तव पश्यामि जगत् सर्वमिदं प्रभो।
त्वमनादिरनिर्देश्यस्त्वामहं शरणं गतः॥ १३॥
तमुवाच हरिः प्रीतः कश्यपं गतकल्मषम्।
वरं वरय भद्रं ते वरार्होऽसि मतो मम॥ १४॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य मारीचः कश्यपोऽब्रवीत्।
अदित्या देवतानां च मम चैवानुयाचितम्॥ १५॥
वरं वरद सुप्रीतो दातुमर्हसि सुव्रत।
पुत्रत्वं गच्छ भगवन्नदित्या मम चानघ॥ १६॥
भ्राता भव यवीयांस्त्वं शक्रस्यासुरसूदन।
शोकार्तानां तु देवानां साहाय्यं कर्तुमर्हसि॥ १७॥
अयं सिद्धाश्रमो नाम प्रसादात् ते भविष्यति।
सिद्धे कर्मणि देवेश उत्तिष्ठ भगवन्नितः॥ १८॥

यह सिद्धाश्रम है; इसमें ही मिली विष्णु को सिद्धि वाञ्छिता।
तभी विरोचन-सुत श्री बलि की त्रिभुवन में थी कीर्ति-[1] प्रसरिता ।।
इन्द्र, मरुद्‌गण सभी सुरों को उसने था कर दिया पराजित।
इन सबके साम्राज्य उन्हीं के द्वारा होने लगे सु-शासित ।। ४-५ ।।
असुरराज ने एक यज्ञ का आयोजन था किया उच्चतर।
तथा हुए जब बहुत शीघ्र वह यज्ञ-कार्य करने में तत्पर ।।
तब हरि से श्री अग्नि आदि सुर बोले इस आश्रम में आकर।
(अति विनम्र हो दीन-भाव से अपने-अपने शीश झुकाकर) ।। ६ ।।
सर्वव्यापिन्! वैरोचनि बलि यज्ञ कर रहे हैं जो उत्तम।
उसे पूर्ण होने से पहले साधें अपना कार्य समुत्तम! ।। ७ ।।
सम्प्रति उनसे जो भी याचक वस्तु माँगता है आ करके।
वह असुरेश तुष्ट करते हैं उसको वही वस्तु दे करके ।। ८ ।।
अतः योगमाया-प्रभाव से 'वामन' होकर वहाँ पधारें!।
तथा हरे! हम सब देवों का कल्याणप्रद कार्य सँवारें ।। ९ ।।
उसी समय श्रीराम! अग्नि-सम तेजस्वी कश्यप ऋषि आये।
वे थे सुश्री अदिति प्रिया को भी अपने ही सँग में लाये ।। १० ।।
एक सहस्र दिव्य वर्षों का किया प्रिया-सँग यज्ञ-समापन।
जब, तब उनने वरद विष्णु का आकर किया वहाँ पर वन्दन ।। ११ ।।
तपोराशि हैं तप-स्वरूप हैं, आप तपोमय हैं जग-वन्दन।
अतः तपस्या से पुरुषोत्तम! हुए आपके हैं श्रीदर्शन ।। १२ ।।
अनिर्देश्य[2] हैं आप! आपमें ही संस्थित है सकल चराचर।
आप अनादिदेव की, करता संस्तुति आज शरण में आकर ।। १३ ।।
कलुष-हीन कश्यप से बोले, श्रीहरि तब प्रसन्न अति होकर।
वर पाने के योग्य महर्षे! माँगें आप आज मुझसे वर ।। १४ ।।
तब मरीचि-नन्दन कश्यप ने वचन मधुर यह हरि का सुनकर।
बोले प्रभो! याचना करते, अदिति तथा हम सभी देव-वर ।।
उत्तम व्रत-पालक परमेश्वर! यदि वरदान दे रहे उत्तम।
तो अब मेरे और अदिति के जन्में पुत्र, आप पुरुषोत्तम! ।।१५-१६।।
इन्द्र-अनुज हैं आप सर्वथा, हे निशिचर-सूदन! सुखदायक।
अतः सभी पीड़ित देवों के बनें आप ही शीघ्र सहायक ।। १७ ।।
सिद्धाश्रम यह कहलायेगा, प्रभो! आपकी कृपा प्राप्त कर।
कार्य सिद्ध हो गया आपका अतः यहाँ से चलिये उठकर ।। १८ ।।

---

१ कीर्ति फैली हुई, २ जिसका निर्देश न दिया जा सके।

अथ विष्णुर्महातेजा अदित्यां समजायत ।
वामनं रूपमास्थाय वैरोचनिमुपागमत् ॥ १९ ॥
त्रीन् पदानथ भिक्षित्वा प्रतिगृह्य च मेदिनीम् ।
आक्रम्य लोकाँल्लोकार्थी सर्वलोकहिते रतः ॥ २० ॥

महेन्द्राय पुनः प्रादान्नियम्य बलिमोजसा ।
त्रैलोक्यं स महातेजाश्चक्रे शक्रवशं पुनः ॥ २१ ॥
तेनैव पूर्वमाक्रान्त आश्रमः श्रमनाशनः ।
मयापि भक्त्या तस्यैव वामनस्योपभुज्यते ॥ २२ ॥

एनमाश्रममायान्ति राक्षसा विघ्नकारिणः ।
अत्र ते पुरुषव्याघ्र हन्तव्या दुष्टचारिणः ॥ २३ ॥
अद्य गच्छामहे राम सिद्धाश्रममनुत्तमम् ।
तदाश्रमपदं तात तवाप्येतद् यथा मम ॥ २४ ॥

इत्युक्त्वा परमप्रीतो गृह्य रामं सलक्ष्मणम् ।
प्रविशन्नाश्रमपदं व्यरोचत महामुनिः ।
शशीव गतनीहारः पुनर्वसुसमन्वितः ॥ २५ ॥
तं दृष्ट्वा मुनयः सर्वे सिद्धाश्रमनिवासिनः ।
उत्पत्योत्पत्य सहसा विश्वामित्रमपूजयन् ॥ २६ ॥

यथार्हं चक्रिरे पूजां विश्वामित्राय धीमते ।
तथैव राजपुत्राभ्यामकुर्वन्नतिथिक्रियाम् ॥ २७ ॥

मुहूर्तमथ विश्रान्तौ राजपुत्रावरिंदमौ ।
प्राञ्जली मुनिशार्दूलमूचतू रघुनन्दनौ ॥ २८ ॥
अद्यैव दीक्षां प्रविश भद्रं ते मुनिपुंगव ।
सिद्धाश्रमोऽयं सिद्धः स्यात् सत्यमस्तु वचस्तव ॥ २९ ॥
एवमुक्तो महातेजा विश्वामित्रो महानृषिः ।
प्रविवेश तदा दीक्षां नियतो नियतेन्द्रियः ॥ ३० ॥

कुमारावपि तां रात्रिमुषित्वा सुसमाहितौ ।
प्रभातकाले चोत्थाय पूर्वां संध्यामुपास्य च ॥ ३१ ॥
प्रशुची परमं जाप्यं समाप्य नियमेन च ।
हुताग्निहोत्रमासीनं विश्वामित्रमवन्दताम् ॥ ३२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

तदनन्तर तेजस्वी हरि ने अदिति-गर्भ से जन्म शुभ लिया।
और शीघ्र वामन-स्वरूप धर बलि-प्रदेश को गमन तब किया।। १९ ।।
बलि से त्रिभुवन-राज्य-ग्रहण के, त्रिभुवन-हितकर हरि थे इच्छुक।
अतः तीन पग पृथ्वी के ही बनकर गये वहाँ पर भिक्षुक।।
वामन के बस तीन पदों में ही त्रिभुवन था तभी समाया।
अस्तु उसे लेकर श्रीहरि ने पुनः इन्द्र को राज्य दिलाया ।।२०-२१।।
हरि-निवास-स्थल यह आश्रम है, दुःख-शोक सर्वथा मिटाता।
भक्त उन्हीं वामन प्रभु का हूँ, मैं प्रयोग में इसको लाता।। २२ ।।
मेरे मख[1] में विघ्न डालते निशिचर यहाँ निरन्तर आकर।
पुरुषसिंह! उन सब दुष्टों का वध करना है तुम्हें वहाँ पर।। २३ ।।
पहुँच रहे हैं सिद्धाश्रम के पास, राम! निश्चय ही हम सब।
जैसे यह मेरा आश्रम है, वैसे हुआ तुम्हारा भी अब।। २४ ।।
राम और लक्ष्मण भ्राताओं के सुस्नेह से हाथ पकड़कर।
हर्षित होकर निज आश्रम में हुए प्रविष्ट शीघ्र ही मुनिवर।। २५ ।।
तब तुषार[2] से रहित चन्द्र-सम हुए पुनर्वसु मध्य ऋषीश्वर।
(इस सुषमा का वर्णन करते हुए न थकते कभी कवीश्वर)।।
उनको आते हुए देखकर सिद्धाश्रम-वासी तपस्वि-वर।
आये उनके पास और फिर मुदित हुए उनका पूजन कर।।
विश्वामित्र महामुनि की, की पूजा सब ऋषियों ने जैसे।
पूजा हुई राम-लक्ष्मण युग भ्राताओं की भी तब वैसे ।।२६-२७।।
करके कुछ विश्राम दो घड़ी वहाँ राम रघुकुल-सुखदाता।
विश्वामित्र ऋषीश्वर से यों बोले फिर दोनों ही भ्राता।। २८ ।।
यज्ञ-दीक्षा-ग्रहण करें अब हो कल्याण आपका ऋषिवर!।
सिद्धाश्रम का नाम सफल अब होगा शीघ्र मरेंगे निशिचर।। २९ ।।
श्री काकुत्स्थ राम के ऐसे सुप्रभावमय वचन श्रवण कर।
यज्ञ-दीक्षा में प्रविष्ट ऋषि हुए जितेन्द्रिय नियमित होकर।। ३० ।।
सावधान हो, राज-सुतों ने भी सुख से वह रात बिताई।
और किया संध्योपासन तब, जब प्रभात की वेला आई।।
परम शुद्ध राघव-लक्ष्मण ने गायत्री जप, नित्यकर्म कर।
अग्निहोत्र से निवृत्त मुनिवर का प्रणमन तब किया विनय कर ।।३१-३२।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त ।। २९ ।।

---

1 यज्ञ, 2 हिम, बरफ़।

त्रिंशः सर्गः

अथ तौ देशकालज्ञौ राजपुत्रावरिंदमौ।
देशे काले च वाक्यज्ञावब्रूतां कौशिकं वचः॥ १॥
भगवञ्छ्रोतुमिच्छावो यस्मिन् काले निशाचरौ।
संरक्षणीयौ तौ ब्रूहि नातिवर्तेत तत्क्षणम्॥ २॥
एवं ब्रुवाणौ काकुत्स्थौ त्वरमाणौ युयुत्सया।
सर्वे ते मुनयः प्रीताः प्रशशंसुर्नृपात्मजौ॥ ३॥
अद्यप्रभृति षड्रात्रं रक्षतां राघवौ युवाम्।
दीक्षां गतो ह्येष मुनिर्मौनित्वं च गमिष्यति॥ ४॥
तौ तु तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रौ यशस्विनौ।
अनिद्रं षडहोरात्रं तपोवनमरक्षताम्॥ ५॥
उपासांचक्रतुर्वीरौ यत्तौ परमधन्विनौ।
ररक्षतुर्मुनिवरं विश्वामित्रमरिंदमौ॥ ६॥
अथ काले गते तस्मिन् षष्ठेऽहनि तदागते।
सौमित्रिमब्रवीद् रामो यत्तो भव समाहितः॥ ७॥
रामस्यैवं ब्रुवाणस्य त्वरितस्य युयुत्सया।
प्रजज्वाल ततो वेदिः सोपाध्यायपुरोहिता॥ ८॥
सदर्भचमसस्रुक्का ससमित्कुसुमोच्चया।
विश्वामित्रेण सहिता वेदिर्जज्वाल सर्त्विजा॥ ९॥
मन्त्रवच्च यथान्यायं यज्ञोऽसौ सम्प्रवर्तते।
आकाशे च महाञ्छब्दः प्रादुरासीद् भयानकः॥ १०॥
आवार्य गगनं मेघो यथा प्रावृषि दृश्यते।
तथा मायां विकुर्वाणौ राक्षसावभ्यधावताम्॥ ११॥
मारीचश्च सुबाहुश्च तयोरनुचरास्तदा।
आगम्य भीमसंकाशा रुधिरौघानवासृजन्॥ १२॥
तां तेन रुधिरौघेण वेदीं वीक्ष्य समुक्षिताम्।
सहसाभिद्रुतो रामस्तानपश्यत् ततो दिवि॥ १३॥
तावापतन्तौ सहसा दृष्ट्वा राजीवलोचनः।
लक्ष्मणं त्वभिसम्प्रेक्ष्य रामो वचनमब्रवीत्॥ १४॥
पश्य लक्ष्मण दुर्वृत्तान् राक्षसान् पिशिताशनान्।
मानवास्त्रसमाधूताननिलेन यथा घनान्॥ १५॥
करिष्यामि न संदेहो नोत्सहे हन्तुमीदृशान्।
इत्युक्त्वा वचनं रामश्चापे संधाय वेगवान्॥ १६॥

तीसवाँ सर्ग

श्रीराम द्वारा विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा तथा राक्षसों का संहार

देश, काल-अनुकूल प्रिय वचन कहने के अतिशय विज्ञाता।
इस प्रकार बोले कौशिक से शत्रुदमन तब दोनों भ्राता ॥ १ ॥
हम दोनों सुनने को उत्सुक हैं, आते कब दोनों निशिचर ?।
मुने ! बताएँ ! जिससे हमसे छूट न पाये वह रण-अवसर ॥ २ ॥
इन ककुत्स्थ-वंशी युद्धेच्छुक नृप-पुत्रों की ओर देखकर।
करने लगे प्रशंसा इनकी आश्रमवासी ऋषि विशेषकर ॥ ३ ॥
फिर वे बोले भ्रातृ-युगल से, दीक्षित मुनि अब मौन रहेंगे।
अतः आप अब छः रातों तक युद्ध-सुरक्षा-हित विचरेंगे ॥ ४ ॥
परम यशस्वी राज-सुतों ने इन मुनियो की वार्ता सुनकर।
बिता दिया छः दिवस रात्रियों को सतर्क हो, जागृत रहकर ॥ ५ ॥
शत्रु-दमन वे वीर धनुर्धर सतत सावधानी से रहकर।
मुनि-समीप ही रहे उपस्थित उनके मख के रक्षक बनकर ॥ ६ ॥
छठा दिवस आया जब, रघुवर बोले श्री लक्ष्मण जी से तब।
शीघ्र सुमित्रा-नन्दन ! रण-हित सावधान हो जाओ तुम अब ॥ ७ ॥
युद्धोत्सुक श्रीराम कह रहे थे लक्ष्मण से इस प्रकार जब।
ब्रह्मा और पुरोहित-मण्डित हुई वेदिका प्रज्वलिता तब ॥ ८ ॥
कुश-स्रुक्-समिध-चमस-पुष्पों-सँग ऋत्विज, मुनि से परम सुशोभित।
आवाहित पावक से तब फिर वेदी मख की हुई प्रज्वलित ॥ ९ ॥
वेद - मंत्र - उच्चारण - पूर्वक यज्ञारम्भ हुआ तदनन्तर।
इसी समय नभमण्डल में फिर शब्द हुआ सर्वथा भयंकर ॥ १० ॥
वर्षा में मेघों द्वारा है घिर जाता नभमण्डल जैसे।
इन मारीच-सुबाहु निशिचरों से घिर गया मखस्थल वैसे ॥
भीमकाय उन दोनों का फिर हुआ अनुचरों के सँग आना।
और किया आरम्भ उन्होंने तत्क्षण रक्त-धार बरसाना ॥११-१२॥
रक्त-प्रवाह-सिञ्चिता वेदो तथा यज्ञ की भूमि देखकर।
इधर-उधर देखते हुए ये सहसा दौड़े नृप-सुत रघुवर ॥
कमलनयन ने देखा आते हैं मारीच, सुबाहु खल महा।
अतः सुमित्रा-सुत से रघुवर ने सतर्क हो शीघ्र यह कहा ॥१३-१४॥
देखो लक्ष्मण ! मांस-भक्षकों को मैं मानवास्त्र से सत्वर।
वायु-वेग से मेघों के सम दिखा रहा हूँ दूर हटाकर ॥
सच कहता हूँ, अभी नहीं है इच्छा कायर-वध करने की।
ऐसा कह, प्रक्रिया सँवारी धनु पर मानवास्त्र रखने की ॥१५-१६॥

मानवं परमोदारमस्त्रं परमभास्वरम् ।
चिक्षेप परमक्रुद्धो मारीचोरसि राघवः ॥ १७ ॥
स तेन परमास्त्रेण मानवेन समाहतः ।
सम्पूर्णं योजनशतं क्षिप्तः सागरसम्प्लवे ॥ १८ ॥
विचेतनं विघूर्णन्तं शीतेषुबलपीडितम् ।
निरस्तं दृश्य मारीचं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १९ ॥
पश्य लक्ष्मण शीतेषुं मानवं मनुसंहितम् ।
मोहयित्वा नयत्येनं न च प्राणैर्वियुज्यते ॥ २० ॥
इमानपि वधिष्यामि निर्घृणान् दुष्टचारिणः ।
राक्षसान् पापकर्मस्थान् यज्ञघ्नान् रुधिराशनान् ॥ २१ ॥
इत्युक्त्वा लक्ष्मणं चाशु लाघवं दर्शयन्निव ।
विगृह्य सुमहच्चास्त्रमाग्नेयं रघुनन्दनः ॥ २२ ॥
सुबाहूरसि चिक्षेप स विद्धः प्रापतद् भुवि ।
शेषान् वायव्यमादाय निजघान महायशाः ।
राघवः परमोदारो मुनीनां मुदमावहन् ॥ २३ ॥
स हत्वा राक्षसान् सर्वान् यज्ञघ्नान् रघुनन्दनः ।
ऋषिभिः पूजितस्तत्र यथेन्द्रो विजये पुरा ॥ २४ ॥
अथ यज्ञे समाप्ते तु विश्वामित्रो महामुनिः ।
निरीतिका दिशो दृष्ट्वा काकुत्स्थमिदमब्रवीत् ॥ २५ ॥
कृतार्थोऽस्मि महाबाहो कृतं गुरुवचस्त्वया ।
सिद्धाश्रममिदं सत्यं कृतं वीर महायशः ।
स हि रामं प्रशस्यैवं ताभ्यां संध्यामुपागमत् ॥ २६ ॥
॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः

अथ तां रजनीं तत्र कृतार्थौ रामलक्ष्मणौ ।
ऊषतुर्मुदितौ वीरौ प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १ ॥
प्रभातायां तु शर्वर्यां कृतपौर्वाह्णिकक्रियौ ।
विश्वामित्रमृषींश्चान्यान् सहिताविभजग्मतुः ॥ २ ॥

परम उदार अस्त्र था अतिशय मानव नामक परम प्रकाशित।
उसके हृदयस्थल पर मारा राघव ने होकर अति क्रोधित॥ १७ ॥
मानवास्त्र से हुआ समाहत वह मारीच निशाचर पल में।
और गिरा शत योजन दूरी पर तत्क्षण वारिधि के जल में॥ १८ ॥
आहत हो शीतेषु अस्त्र से राक्षस है यह दूर जा रहा।
ऐसा देख, सुमित्रा-नन्दन से रघुवर ने शीघ्र यह कहा॥
लक्ष्मण! मूर्च्छित निशिचर को ले अस्त्र कर रहा दूर को गमन।
किन्तु न मनु-शीतेषु कर रहा निशिचर-पति का अभी है हनन॥१९-२०॥
अन्य पापियों, दुराचारियों का भी जो है दल दिखलाता।
रक्त, मांस-भोजी, उसको भी देखो! मैं हूँ मार गिराता॥ २१ ॥
करस्फूर्ति-कौशल दिखलाकर श्री रघुनन्दन ने तदनन्तर।
लिया शीघ्र आग्नेय-अस्त्र को अपने वृहद् धनुष पर रखकर॥
उसे सुबाहु-हृदय पर मारा, गिरा भूमि पर वह भी मरकर।
तदनन्तर वायव्य-अस्त्र को रक्खा पुनः राम ने धनु पर॥
मरे अन्य सब राक्षस, इससे प्रमुदित हुए तभी सब ऋषिवर।
(पुष्प-वृष्टि तब हुई गगन से गुञ्जित हुआ सर्वथा जय-स्वर!)॥२२-२३॥
यज्ञ विघ्नकर निशाचरों का भलाभाँति वध कर जग-वन्दित।
राम, असुर-विजयी महेन्द्र-सम हुए ऋषिवरों से अभिनन्दित॥ २४ ॥
विश्वामित्र मुनीश्वर ने फिर अपना इच्छित यज्ञ पूर्ण कर।
बोले रघुवर से दिङ्मण्डल को बाधा से रहित देखकर॥ २५ ॥
तुमको पाकर मैं कृतार्थ हूँ, महाबाहु! रघुवर! अब अतिशय।
गुरु-आज्ञा से सिद्धाश्रम को सार्थक किया तुम्हीं ने निश्चय॥
करते हुए प्रशंसा इस विधि राम और लक्ष्मण की मुनिवर।
(बैठे अपने सिद्धासन पर संध्योपासन के अवसर पर)॥ २६ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३० ॥

इकतीसवाँ सर्ग

श्रीराम, लक्ष्मण तथा ऋषियों-सहित विश्वामित्र का मिथिला को प्रस्थान तथा मार्ग में संध्या के समय शोणभद्र तट पर विश्राम

श्री राघव, लक्ष्मण कृतार्थ अब हुए और ऋषि-यज्ञ-समापन।
मखस्थली में ही हर्षित हो किया सभी ने रजनी-यापन॥ १ ॥
बीती रजनी, सुप्रभात में पौर्वाह्णिक प्रक्रिया निभाई।
कौशिक तथा अन्य ऋषियों के पास गये फिर दोनों भाई॥ २ ॥

अभिवाद्य मुनिश्रेष्ठं ज्वलन्तमिव पावकम्।
ऊचतुः परमोदारं वाक्यं मधुरभाषिणौ ॥ ३ ॥
इमौ स्म मुनिशार्दूल किंकरौ समुपागतौ।
आज्ञापय मुनिश्रेष्ठ शासनं करवाव किम् ॥ ४ ॥
एवमुक्ते तयोर्वाक्ये सर्व एव महर्षयः।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य रामं वचनमब्रुवन् ॥ ५ ॥
मैथिलस्य नरश्रेष्ठ जनकस्य भविष्यति।
यज्ञः परमधर्मिष्ठस्तत्र यास्यामहे वयम् ॥ ६ ॥
त्वं चैव नरशार्दूल सहास्माभिर्गमिष्यसि।
अद्भुतं च धनूरत्नं तत्र त्वं द्रष्टुमर्हसि ॥ ७ ॥
तद्धि पूर्वं नरश्रेष्ठ दत्तं सदसि दैवतैः।
अप्रमेयबलं घोरं मखे परमभास्वरम् ॥ ८ ॥
नास्य देवा न गन्धर्वा नासुरा न च राक्षसाः।
कर्तुमारोपणं शक्ता न कथंचन मानुषाः ॥ ९ ॥
धनुषस्तस्य वीर्यं हि जिज्ञासन्तो महीक्षितः।
न शेकुरारोपयितुं राजपुत्रा महाबलाः ॥ १० ॥
तद्धनुर्नरशार्दूल मैथिलस्य महात्मनः।
तत्र द्रक्ष्यसि काकुत्स्थ यज्ञं च परमाद्भुतम् ॥ ११ ॥
तद्धि यज्ञफलं तेन मैथिलेनोत्तमं धनुः।
याचितं नरशार्दूल सुनाभं सर्वदैवतैः ॥ १२ ॥
आयागभूतं नृपतेस्तस्य वेश्मनि राघव।
अर्चितं विविधैर्गन्धैर्धूपैश्चागुरुगन्धिभिः ॥ १३ ॥
एवमुक्त्वा मुनिवरः प्रस्थानमकरोत् तदा।
सर्षिसङ्घः सकाकुत्स्थ आमन्त्र्य वनदेवताः ॥ १४ ॥
स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि सिद्धः सिद्धाश्रमादहम्।
उत्तरे जाह्नवीतीरे हिमवन्तं शिलोच्चयम् ॥ १५ ॥
इत्युक्त्वा मुनिशार्दूल कौशिकः स तपोधनः।
उत्तरां दिशमुद्दिश्य प्रस्थातुमुपचक्रमे ॥ १६ ॥
तं व्रजन्तं मुनिवरमन्वगादनुसारिणाम्।
शकटीशतमात्रं तु प्रयाणे ब्रह्मवादिनाम् ॥ १७ ॥
मृगपक्षिगणाश्चैव सिद्धाश्रमनिवासिनः।
अनुजग्मुर्महात्मानं विश्वामित्रं तपोधनम् ॥ १८ ॥
निवर्तयामास ततः सर्षिसङ्घः स पक्षिणः।
ते गत्वा दूरमध्वानं लम्बमाने दिवाकरे ॥ १९ ॥

वहाँ प्रज्वलित अग्नि-सदृश इन तेजस्वी ऋषि को प्रणाम कर।
परम मधुर वाणी में बोले श्री राघव, लक्ष्मण उदार-वर ॥ ३ ॥
मुनिप्रवर ! हम दोनों किंकर सेवा में है फिर समुपस्थित।
अब भविष्य की सेवाओं के लिए करें! हमको आज्ञापित ॥ ४ ॥
विनम्रता से इन दोनों के ऐसे मधुर वचन कहने पर।
कौशिक ऋषि को आगे करके, उनसे बोले सभी ऋषीश्वर ॥ ५ ॥
पुरुषश्रेष्ठ ! मिथिला के भूपति, जनक करेंगे धर्म-यज्ञ अब।
होने को सम्मिलित उसी में यथाशीघ्र जाएगे हम सब ॥ ६ ॥
पुरुषसिंह ! तुम दोनों भी तो हम सबके ही साथ चलोगे।
अद्भुत एक वृहद् धनु के तुम चलकर दर्शन वहाँ करोगे ॥ ७ ॥
जनकराज-कुल-पूर्व पुरुष को, मख में मिला सुरों से उत्तम।
वह धनु है भीषण, प्रकाशमय माप-तौल से रहित, नरोत्तम ! ॥ ८ ॥
देव, मनुज, गन्धर्व, असुर उसकी प्रत्यञ्चा खींच न पाये।
तब उसके प्रति मानव की कुछ कोई कैसे बात बताये ॥ ९ ॥
उस धनु के सामर्थ्य-ज्ञान को बहुत बली भूपतिवर आये।
किन्तु कभी प्रत्यञ्चा उसकी नृपनन्दन भी चढ़ा न पाये ॥ १० ॥
मिथिला-पति का धनुष वहाँ जो रक्खा है अतिशय ही अद्भुत।
उसको, तथा यज्ञ को चलकर अब देखोगे तुम, हे नृप-सुत ! ॥ ११ ॥
मख-फल में माँगा देवों से जनकराज ने यह धनु गुरुतर।
अतः दिया शंकर सँग सबने, मध्य-भाग है इसका रुचिकर ॥ १२ ॥
जनक-भवन में देव-सदृश वह पूज्य धनुष है हुआ प्रतिष्ठित।
अगरु, धूप, चन्दन, पुष्पों से होता है वह प्रतिदिन पूजित ॥ १३ ॥
ऐसा कहकर, वन-देवों से आज्ञा ले, वे कौशिक ऋषिवर।
यज्ञ देखने चले, साथ में अन्य ऋषीश्वर, लक्ष्मण, रघुवर ॥ १४ ॥
वन-देवों से बोले कौशिक, स्वस्ति ! चला निज कार्य सिद्ध कर।
हिमगिरि-घाटी के प्रदेश में सुरसरि के उत्तर तट पथ पर ॥ १५ ॥
तपोधनी मुनिवर कौशिक ने वन-देवों से ऐसा कहकर।
उत्तर को प्रस्थान किया फिर, प्रमुदित सिद्धाश्रम से चलकर ॥ १६ ॥
यात्रा करने हेतु चले जब विश्वामित्र तपस्वी मुनिवर।
तब पीछे शत यान भी चले ब्रह्मवादि ऋषियों के (मनहर) ॥ १७ ॥
सिद्धाश्रम से यात्रा करने को जब ऋषि ने चरण बढ़ाये।
तब आश्रम के पशु-पक्षी भी पीछे-पीछे इनके धाये ॥ १८ ॥
चल करके कुछ दूर कुशिक ने पशु, खगादि सबको लौटाया।
बहुत दूर की यात्रा की फिर रवि विश्राम-दिशा को आया ॥ १९ ॥

वासं चक्रुर्मुनिगणाः शोणाकूले समाहिताः ।
तेऽस्तं गते दिनकरे स्नात्वा हुतहुताशनाः ॥ २० ॥
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य निषेदुरमितौजसः ।
रामोऽपि सहसौमित्रिर्मुनींस्तानभिपूज्य च ॥ २१ ॥
अग्रतो निषसादाथ विश्वामित्रस्य धीमतः ।
अथ रामो महातेजा विश्वामित्रं तपोधनम् ॥ २२ ॥
पप्रच्छ मुनिशार्दूलं कौतूहलसमन्वितम् ।
भगवन् को न्वयं देशः समृद्धवनशोभितः ॥ २३ ॥
श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ।
नोदितो रामवाक्येन कथयामास सुव्रतः ।
तस्य देशस्य निखिलमृषिमध्ये महातपाः ॥ २४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

ब्रह्मयोनिर्महानासीत् कुशो नाम महातपाः ।
अक्लिष्टव्रतधर्मज्ञः सज्जनप्रतिपूजकः ॥ १ ॥
स महात्मा कुलीनायां युक्तायां सुमहाबलान् ।
वैदर्भ्यां जनयामास चतुरः सदृशान् सुतान् ॥ २ ॥
कुशाम्बं कुशनाभं च असूर्तरजसं वसुम् ।
दीप्तियुक्तान् महोत्साहान् क्षत्रधर्मचिकीर्षया ॥ ३ ॥
तानुवाच कुशः पुत्रान् धर्मिष्ठान् सत्यवादिनः ।
क्रियतां पालनं पुत्रा धर्मं प्राप्स्यथ पुष्कलम् ॥ ४ ॥
कुशस्य वचनं श्रुत्वा चत्वारो लोकसत्तमाः ।
निवेशं चक्रिरे सर्वे पुराणां नृवरास्तदा ॥ ५ ॥
कुशाम्बस्तु महातेजाः कौशाम्बीमकरोत् पुरीम् ।
कुशनाभस्तु धर्मात्मा पुरं चक्रे महोदयम् ॥ ६ ॥
असूर्तरजसो नाम धर्मारण्यं महामतिः ।
चक्रे पुरवरं राजा वसुनाम गिरिव्रजम् ॥ ७ ॥
एषा वसुमती नाम वसोस्तस्य महात्मनः ।
एते शैलवराः पञ्च प्रकाशन्ते समन्ततः ॥ ८ ॥
सुमागधी नदी रम्या मागधान् विश्रुताऽऽययौ ।
पञ्चानां शैलमुख्यानां मध्ये मालेव शोभते ॥ ९ ॥

सावधान हो सब ऋषियों-संग शोणभद्र के तट पर रुककर।
ऋषि ने करके स्नान, हवन का कार्य किया सम्पन्न सुरुचिकर ॥ २० ॥
तदनन्तर तेजस्वी ऋषि-मुनि बैठे और कुशिक-सुत मुनिवर।
बैठे लक्ष्मण संग राम भी इन सबको अतिशय आदृत कर ॥
परम सुधी कौशिक ऋषिवर के जब समक्ष में बैठे रघुवर।
तब उनसे फिर प्रश्न यह किया रामचन्द्र ने हाथ जोड़कर ॥
यह समृद्धिशाली वन-शोभित कौन देश है अतिशय रुचिकर ?।
हो कल्याण आपका, हमको सब रहस्य बतलाएँ, ऋषिवर ! ॥
रामचन्द्र के मधुर प्रश्न ने ऋषि को प्रेरित बहुत जब किया।
परिचय देना तब तेजस्वी ऋषिवर ने प्रारम्भ कर दिया ॥२१-२४॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
इकतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३१ ॥

बत्तीसवाँ सर्ग

ब्रह्मपुत्र कुश के चार पुत्रों का वर्णन, शोणभद्र-तटवर्ती प्रदेश को वसु की भूमि बताना, कुशनाभ की सौ कन्याओं का वायु के कोप से 'कुब्जा' होना

पूर्व समय में राम ! तपस्वी धर्म-विज्ञ थे 'कुश' भूपतिवर।
विधि-सुत वे निर्विघ्न व्रती थे, करते सत्पुरुषों का आदर ॥ १ ॥
थी विदर्भ-देशीया उत्तम राजकुमारी उनकी जाया।
नृप-समान हो गुणी उन्होंने चार सुतों को था उपजाया ॥ २ ॥
नाम 'असूर्तरजस्', 'वसु' उनका था 'कुशाम्बु', 'कुशनाभ' मनोहर।
थे तेजस्वी उत्साही सब क्षात्र-धर्म-पालन में तत्पर ॥ ३ ॥
नृप ने कहा सुतों से यदि तुम प्रजा-हितैषी हो जाओगे।
तो निश्चय ही सभी धर्म का पूरा-पूरा फल पाओगे ॥ ४ ॥
महाराज कुश ने पुत्रों को इस प्रकार से जब समझाया।
तब सबने अपने रहने को पृथक्-पृथक् निज नगर बसाया ॥ ५ ॥
तेजस्वी कुशाम्ब से नगरी कौशाम्बी तब हुई विनिर्मित।
और महोदय नगर बसाया श्री कुशनाभ पुत्र ने निज-हित ॥ ६ ॥
विज्ञ असूर्तरजस् का धर्मारण्य नगर था अतिशय व्यापक।
तथा गिरिव्रज नाम नगर के श्री वसु नृप-सुत थे संस्थापक ॥ ७ ॥
वसु-गिरिव्रज की शुभा वसुमती हुई राजधानी विख्याता।
पञ्च शैल-मण्डल है शोभित इसके चारों ओर दिखाता ॥ ८ ॥
इसके दक्षिण, पश्चिम दिशि से सोन मगध से चलकर आयी।
शैल-मध्य माला-सी लगनेवाली यह 'मागधी' कहायी ॥ ९ ॥

सैषा हि मागधी राम वसोस्तस्य महात्मनः।
पूर्वाभिचरिता राम सुक्षेत्रा सस्यमालिनी ॥ १० ॥
कुशनाभस्तु राजर्षिः कन्याशतमनुत्तमम्।
जनयामास धर्मात्मा घृताच्यां रघुनन्दन ॥ ११ ॥
तास्तु यौवनशालिन्यो रूपवत्यः स्वलंकृताः।
उद्यानभूमिमागम्य प्रावृषीव शतह्रदाः ॥ १२ ॥
गायन्त्यो नृत्यमानाश्च वादयन्त्यस्तु राघव।
आमोदं परमं जग्मुर्वराभरणभूषिताः ॥ १३ ॥
अथ ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो रूपेणाप्रतिमा भुवि।
उद्यानभूमिमागम्य तारा इव घनान्तरे ॥ १४ ॥
ताः सर्वा गुणसम्पन्ना रूपयौवनसंयुताः।
दृष्ट्वा सर्वात्मको वायुरिदं वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥
अहं वः कामये सर्वा भार्या मम भविष्यथ।
मानुषस्त्यज्यतां भावो दीर्घमायुरवाप्स्यथ ॥ १६ ॥
चलं हि यौवनं नित्यं मानुषेषु विशेषतः।
अक्षयं यौवनं प्राप्ता अमर्यश्च भविष्यथ ॥ १७ ॥
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा वायोरक्लिष्टकर्मणः।
अपहास्य ततो वाक्यं कन्याशतमथाब्रवीत् ॥ १८ ॥
अन्तश्चरसि भूतानां सर्वेषां सुरसत्तम।
प्रभावज्ञाश्च ते सर्वाः किमर्थमवमन्यसे ॥ १९ ॥
कुशनाभसुता देव समस्ताः सुरसत्तम।
स्थानाच्च्यावयितुं देवं रक्षामस्तु तपो वयम् ॥ २० ॥
मा भूत् स कालो दुर्मेधः पितरं सत्यवादिनम्।
अवमन्य स्वधर्मेण स्वयं वरमुपास्महे ॥ २१ ॥
पिता हि प्रभुरस्माकं दैवतं परमं च सः।
यस्य नो दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति ॥ २२ ॥
तासां तु वचनं श्रुत्वा हरिः परमकोपनः।
प्रविश्य सर्वगात्राणि बभञ्ज भगवान् प्रभुः ॥ २३ ॥
अरत्निमात्राकृतयो भग्नगात्रा भयार्दिताः।
ताः कन्या वायुना भग्ना विविशुर्नृपतेर्गृहम्।
प्रविश्य च सुसम्भ्रान्ताः सलज्जाः सास्रलोचनाः ॥ २४ ॥
स च ता दयिता भग्नाः कन्याः परमशोभनाः।
दृष्ट्वा दीनास्तदा राजा सम्भ्रान्त इदमब्रवीत् ॥ २५ ॥

राम महात्मन्! वसु सम्बन्धित सोन मागधी है कहलायी।
इसके उभय तटों पर दिखती हरी-भरी खेती छवि-छायी॥ १० ॥
राम! घृताची नाम अप्सरा से कुशनाभ हुए सम्बन्धित।
सौ कन्याएँ हुईं गर्भ से, जो इसके थीं रूप-समन्वित॥ ११ ॥
एक समय उद्यान-मध्य में विचर रही थीं ये बालाएँ।
लगता था मानों मेघों में चमक रहीं विद्युत्-मालाएँ॥
सुन्दर वसन और भूषण से विभूषिता ये कन्याएँ सब।
गायन, वादन और नृत्य में भलीभाँति हो गयीं मग्न तब॥१२-१३॥
अतुल रूप, सौन्दर्य सभी का थे सबके प्रत्यंग मनोहर।
घन के ओट छिपी लगती थीं ताराओं-सी वे सब सुन्दर॥ १४ ॥
उत्तम गुण-सम्पन्न सुयौवन और रूप-युत उन्हें देखकर।
आकर्षित हो उनसे बोले, उस अवसर पर पवनदेव-वर॥ १५ ॥
सुन्दरियो! मेरी इच्छा है, बनो प्रेयसी मेरी तुम सब।
मनुज-भाव को त्याग, दीर्घतम प्राप्त करो आयुष्य दिव्य अब॥ १६ ॥
इस मानव-शरीर में तुम सब सदा न युवती रह पाओगी।
किन्तु युवतियो! मेरी होकर, सभी अमरता पा जाओगी॥ १७ ॥
कर्मठतम श्री पवनदेव का कन्याओं ने वचन श्रवण कर।
बोलीं अवहेलना-सहित वे सुर-वर पवनदेव से हँसकर॥ १८ ॥
प्राणि-मध्य हैं प्राण आप ही, अन्तस् के विज्ञाता सुरवर!।
फिर भी क्यों अपमानित करते? हम बहनों को ऐसा कहकर॥ १९ ॥
हो सकते हैं आप राजऋषि-कुश-कन्याओं से अब शापित।
किन्तु न ऐसा होगा, रखतीं क्योंकि तपस्या हम सब रक्षित॥ २० ॥
अवहेलना पिता की करके, करें काम-वश वर-अन्वेषण।
ईश्वर ऐसा समय न लाये यही भाव है अपना भूषण॥ २१ ॥
देव-सदृश श्री पिता हमारे, हम सबको देंगे जिसके प्रति।
स्मरण रखें, हे पवनदेवता! हम सबका होगा वह ही पति॥ २२ ॥
क्रोधित अतिशय हुए पवन तब, उन सबकी यह वार्ता सुनकर।
मोड़ा उन सबके अंगों को उन सबकी काया में जाकर॥
बद्ध मुष्टिका-सदृश शरीरिणि, व्याकुल हुईं बहुत ही मन में।
वायुदेव से विकलांगी हो पहुँचीं वे सब राज-भवन में॥
सभी लज्जिता उद्विग्ना थीं और अश्रु बह रहे नयन में।
(अन्तर बहुत हो गया इनके निर्मल रूप और यौवन में॥२३-२४॥
कुब्जा कन्याओं की ऐसी अति दयनीया दशा देखकर।
व्याकुल होकर कन्याओं से बोले वे कुशनाभ भूपवर॥ २५ ॥

किमिदं कथ्यतां पुत्र्यः को धर्ममवमन्यते ।
कुब्जाः केन कृताः सर्वाश्चेष्टन्त्यो नाभिभाषथ ।
एवं राजा विनिःश्वस्य समाधिं संदधे ततः ॥ २६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कुशनाभस्य धीमतः ।
शिरोभिश्चरणौ स्पृष्ट्वा कन्याशतमभाषत ॥ १ ॥
वायुः सर्वात्मको राजन् प्रधर्षयितुमिच्छति ।
अशुभं मार्गमास्थाय न धर्मं प्रत्यवेक्षते ॥ २ ॥
पितृमत्यः स्म भद्रं ते स्वच्छन्दे न वयं स्थिताः ।
पितरं नो वृणीष्व त्वं यदि नो दास्यते तव ॥ ३ ॥
तेन पापानुबन्धेन वचनं न प्रतीच्छता ।
एवं ब्रुवन्त्यः सर्वाः स्म वायुनाभिहता भृशम् ॥ ४ ॥
तासां तु वचनं श्रुत्वा राजा परमधार्मिकः ।
प्रत्युवाच महातेजाः कन्याशतमनुत्तमम् ॥ ५ ॥
क्षान्तं क्षमावतां पुत्र्यः कर्तव्यं सुमहत् कृतम् ।
ऐकमत्यमुपागम्य कुलं चावेक्षितं मम ॥ ६ ॥
अलंकारो हि नारीणां क्षमा तु पुरुषस्य वा ।
दुष्करं तच्च वै क्षान्तं त्रिदशेषु विशेषतः ॥ ७ ॥
यादृशी वः क्षमा पुत्र्यः सर्वासामविशेषतः ।
क्षमा दानं क्षमा सत्यं क्षमा यज्ञाश्च पुत्रिकाः ॥ ८ ॥
क्षमा यशः क्षमा धर्मः क्षमायां विष्ठितं जगत् ।
विसृज्य कन्याः काकुत्स्थ राजा त्रिदशविक्रमः ॥ ९ ॥
मन्त्रज्ञो मन्त्रयामास प्रदानं सह मन्त्रिभिः ।
देशे काले च कर्तव्यं सदृशे प्रतिपादनम् ॥ १० ॥
एतस्मिन्नेव काले तु चूली नाम महाद्युतिः ।
ऊर्ध्वरेताः शुभाचारो ब्राह्मं तप उपागमत् ॥ ११ ॥
तपस्यन्तमृषिं तत्र गन्धर्वी पर्युपासते ।
सोमदा नाम भद्रं ते ऊर्मिलातनया तदा ॥ १२ ॥

अवहेलना धर्म की करके ऐसा किसने तुम्हें बनाया ?।
तुम सबने व्याकुल होकर भी क्यों न अभी तक मुझे बताया ?॥
उत्तर की जिज्ञासा में, वे बैठे फिर उच्छ्वास खींचकर।
(समझ न पाये हुआ कहाँ ! क्या ? किसी भाँति कुशनाभ सुधीश्वर) ॥ २६ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामाण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३२ ॥

तेंतीसवाँ सर्ग

राजा कुशनाभ द्वारा कन्याओं के धैर्य एवं क्षमाशीलता की प्रशंसा, ब्रह्मदत्त की उत्पत्ति तथा उनके साथ कुशनाभ की कन्याओं का विवाह

श्री कुशनाभ सुधी भूपति का प्रश्नात्मक जब सुना यह वचन।
तब वे कन्याएँ बोलीं सब करके जनक-पदों को प्रणमन ॥ १ ॥
त्रिभुवन-विचरक पवनदेव ने अशुभ मार्ग का कर अवलम्बन।
धर्म-हीन हो दुराचार का किया नृपतिवर ! हम सब पर मन ॥ २ ॥
हमने उनसे कहा, पिता के पास आप ही देव ! पधारें।
वह कह दें तो प्रिया-रूप में हम सबको श्रीमन् ! स्वीकारें ॥ ३ ॥
उन पापात्मा ने हम बहनों की यह समुचित बात न मानी।
और किया पीड़ित हम सबको इस प्रकार करके मनमानी ॥ ४ ॥
धर्मात्मा तेजस्वी नृप वे कन्याओं की वार्ता सुनकर।
इस प्रकार आश्वस्त किया तब, उत्तर देते हुए मधुरतर ॥ ५ ॥
महापुरुष-सम क्षमा-दान का तुमने उत्तम कार्य यह किया।
काम-वासना-रहित सभी ने कुल-गौरव पर ध्यान है दिया ॥ ६ ॥
अलंकार है नर-नारी के लिए क्षमा है अति श्रेयस्कर।
देवों के भी लिए पुत्रियो ! सहिष्णुता है ऐसी दुष्कर ॥ ७ ॥
पवनदेव को क्षमा-दान कर, तुमने मेरा नाम बढ़ाया।
विज्ञों ने भी इसी क्षमा को दान, सत्य, मख है बतलाया ॥ ८ ॥
यह ही है यश और धर्म भी इस पर ही है यह जग सुस्थिर।
देव-विक्रमी नृप ने भेजा अन्तःपुर में उन सबको फिर ॥ ९ ॥
अपने मन्त्रविज्ञ सचिवों-सँग तदनन्तर वे नृपति बैठकर।
किसके संग इनका विवाह हो, इस विचार में हुए सुतत्पर ॥ १० ॥
उन्हीं दिनों चूली नामक थे महातपस्वी ब्रह्मचारि-वर।
वेद-कथित तप-अनुष्ठान वे करते थे चिन्तन-रत रहकर ॥ ११ ॥
मंगल हो श्रीराम ! उर्मिला-सुता एक गन्धर्व-कुमारी।
मुनि-उपासिका थी वह जिसका शुभ्र नाम 'सोमदा' दुलारी ॥ १२ ॥

सा च तं प्रणता भूत्वा शुश्रूषणपरायणा ।
उवास काले धर्मिष्ठा तस्यास्तुष्टोऽभवद् गुरुः ॥ १३ ॥
स च तां कालयोगेन प्रोवाच रघुनन्दन ।
परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते किं करोमि तव प्रियम् ॥ १४ ॥
परितुष्टं मुनिं ज्ञात्वा गन्धर्वी मधुरस्वरम् ।
उवाच परमप्रीता वाक्यज्ञा वाक्यकोविदम् ॥ १५ ॥
लक्ष्म्या समुदितो ब्राह्म्या ब्रह्मभूतो महातपाः ।
ब्राह्मेण तपसा युक्तं पुत्रमिच्छामि धार्मिकम् ॥ १६ ॥
अपतिश्चास्मि भद्रं ते भार्या चास्मि न कस्यचित् ।
ब्राह्मेणोपगतायाश्च दातुमर्हसि मे सुतम् ॥ १७ ॥
तस्याः प्रसन्नो ब्रह्मर्षिर्ददौ ब्राह्ममनुत्तमम् ।
ब्रह्मदत्त इति ख्यातं मानसं चूलिनः सुतम् ॥ १८ ॥
स राजा ब्रह्मदत्तस्तु पुरीमध्यवसत् तदा ।
काम्पिल्यां परया लक्ष्म्या देवराजो यथा दिवम् ॥ १९ ॥
स बुद्धिं कृतवान् राजा कुशनाभः सुधार्मिकः ।
ब्रह्मदत्ताय काकुत्स्थं दातुं कन्याशतं तदा ॥ २० ॥
तमाहूय महातेजा ब्रह्मदत्तं महीपतिः ।
ददौ कन्याशतं राजा सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ २१ ॥
यथाक्रमं तदा पाणिं जग्राह रघुनन्दन ।
ब्रह्मदत्तो महीपालस्तासां देवपतिर्यथा ॥ २२ ॥
स्पृष्टमात्रे तदा पाणौ विकुब्जा विगतज्वराः ।
युक्तं परमया लक्ष्म्या बभौ कन्याशतं तदा ॥ २३ ॥
स दृष्ट्वा वायुना मुक्ताः कुशनाभो महीपतिः ।
बभूव परमप्रीतो हर्षं लेभे पुनः पुनः ॥ २४ ॥
कृतोद्वाहं तु राजानं ब्रह्मदत्तं महीपतिम् ।
सदारं प्रेषयामास सोपाध्यायगणं तदा ॥ २५ ॥
सोमदापि सुतं दृष्ट्वा पुत्रस्य सदृशीं क्रियाम् ।
यथान्यायं च गन्धर्वी स्नुषास्ताः प्रत्यनन्दत ।
स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च ताः कन्याः कुशनाभं प्रशंस्य च ॥ २६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

उनकी सेवा में समुपस्थित रहती थी वह समय-समय पर।
तुष्ट हुए गन्धर्व-सुता से गौरवशाली तब वे मुनिवर ॥ १३ ॥
बोले वे कल्याण तुम्हारा हो, प्रसन्न हूँ अब मैं तुम पर।
सिद्ध करूँगा कार्य तुम्हारा, बोलो! जो हो तुमको प्रियतर ॥ १४ ॥
वक्तृ-कला-विज्ञा विदुषी वह अति प्रसन्न होकर अन्तर में।
वाणी के मर्मज्ञ मुनीश्वर से बोली अति मधुरिम स्वर में ॥ १५ ॥
ब्रह्म-रूप हैं आप सर्वथा परब्रह्म-चिन्तन में तत्पर।
अतः चाहती पुत्र आपसे अतिशय धर्मात्मा, विद्वद्वर! ॥ १६ ॥
पत्नी नहीं किसी की मैं हूँ, पति है कोई नहीं हमारा।
नहीं किसी का वरण करूँगी, सुत दें मुझे ब्रह्म-बल-द्वारा ॥ १७ ॥
प्रकट किया मानस-सुत मुनि ने ब्राह्म तपोमय अतिशय सुखकर।
और दिया उस गन्धर्विणि को ब्रह्मदत्त शुभ नाम मनोहर ॥ १८ ॥
वे उस समय कपिल्या धनिका नगरी के वासी नृप वैसे।
अमरावती पुरी में रहते, सुख से श्री महेन्द्र हैं जैसे ॥ १९ ॥
धर्मात्मा कुशनाभ नृपति ने, तब ककुत्स्थ-कुल-भूषण रघुवर!।
निश्चय किया पुत्रियों के ये ब्रह्मदत्त ही होंगे श्रीवर ॥ २० ॥
तेजस्वी कुशनाभ नृपति ने ब्रह्मदत्त को तभी बुलाकर।
अपनी कन्याएँ अर्पित कीं मुदित हृदय, शुभ अवसर पाकर ॥ २१ ॥
इन्द्र-सदृश तेजस्वी तब उन ब्रह्मदत्त जी ने, रघुनन्दन!।
पाणिग्रहण किया उन सबका क्रम से होकर अति प्रसन्न मन ॥ २२ ॥
उन कन्याओं के हाथों का ब्रह्मदत्त ने स्पर्श जब किया।
तब कुब्जत्व त्याग कर सबने दिव्य रूप फिर प्राप्त कर लिया ॥ २३ ॥
बात रोग से, पवनकोप से मिला सभी को तब छुटकारा।
यह सब देख, नृपति के मन मे हुआ हर्ष का अनुभव न्यारा ॥ २४ ॥
शुभ विवाह सम्पन्न हो गया जब, तब नृप ने अवसर पाकर।
विदा किया श्री ब्रह्मदत्त को पत्नी, पुरोहितों-सँग सादर ॥ २५ ॥
गन्धर्वी सोमदा हर्षिता हुई इन्हें पाकर रघुनन्दन!।
किया पुत्र-वधुओं का उसने भलीभाँति से तब अभिनन्दन ॥
क्रम से उन सब ललनाओं को उसने सुख से हृदय लगाया।
(और किया प्रस्थान, नृपति का कार्य उसे यह अतिशय भाया) ॥ २६ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
तेंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

कृतोद्वाहे गते तस्मिन् ब्रह्मदत्ते च राघव।
अपुत्रः पुत्रलाभाय पौत्रीमिष्टिमकल्पयत् ॥ १ ॥
इष्ट्यां तु वर्तमानायां कुशनाभं महीपतिम्।
उवाच परमोदारः कुशो ब्रह्मसुतस्तदा ॥ २ ॥
पुत्रस्ते सदृशः पुत्र भविष्यति सुधार्मिकः।
गाधिं प्राप्स्यसि तेन त्वं कीर्तिं लोके च शाश्वतीम् ॥ ३ ॥
एवमुक्त्वा कुशो राम कुशनाभं महीपतिम्।
जगामाकाशमाविश्य ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥ ४ ॥
कस्यचित् त्वथ कालस्य कुशनाभस्य धीमतः।
जज्ञे परमधर्मिष्ठो गाधिरित्येव नामतः ॥ ५ ॥
स पिता मम काकुत्स्थ गाधिः परमधार्मिकः।
कुशवंशप्रसूतोऽस्मि कौशिको रघुनन्दन ॥ ६ ॥
पूर्वजा भगिनी चापि मम राघव सुव्रता।
नाम्ना सत्यवती नाम ऋचीके प्रतिपादिता ॥ ७ ॥
सशरीरा गता स्वर्गं भर्तारमनुवर्तिनी।
कौशिकी परमोदारा प्रवृत्ता च महानदी ॥ ८ ॥
दिव्या पुण्योदका रम्या हिमवन्तमुपाश्रिता।
लोकस्य हितकार्यार्थं प्रवृत्ता भगिनी मम ॥ ९ ॥
ततोऽहं हिमवत्पार्श्वे वसामि नियतः सुखम्।
भगिन्यां स्नेहसंयुक्तः कौशिक्यां रघुनन्दन ॥ १० ॥
सा तु सत्यवती पुण्या सत्ये धर्मे प्रतिष्ठिता।
पतिव्रता महाभागा कौशिकी सरितां वरा ॥ ११ ॥
अहं हि नियमाद् राम हित्वा तां समुपागतः।
सिद्धाश्रममनुप्राप्तः सिद्धोऽस्मि तव तेजसा ॥ १२ ॥
एषा राम ममोत्पत्तिः स्वस्य वंशस्य कीर्तिता।
देशस्य हि महाबाहो यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १३ ॥
गतोऽर्धरात्रः काकुत्स्थ कथाः कथयतो मम।
निद्रामभ्येहि भद्रं ते मा भूद् विघ्नोऽध्वनीह नः ॥ १४ ॥
निष्पन्दास्तरवः सर्वे निलीना मृगपक्षिणः।
नैशेन तमसा व्याप्ता दिशश्च रघुनन्दन ॥ १५ ॥

चौंतीसवाँ सर्ग

गाधि की उत्पत्ति, कौशिकी की प्रशंसा, विश्वामित्र जी का कथा बंद करके आधी रात का वर्णन करते हुए सबको सोने की आज्ञा देकर शयन करना

हे रघुनन्दन! जब विवाह कर ब्रह्मदत्त नृप गये लौटकर।
तब कुशनाभ नृपति ने सुत-हित किया मखानुष्ठान दिव्यतर॥ १ ॥
आये यज्ञ-समय में तत्क्षण ब्रह्मा-सुवन वहाँ कुश नृपवर।
और कहा कुशनाभ नृपति से भलीभाँति से यह समझाकर॥ २ ॥
वत्स! तुम्हें अपने समान ही पुत्र-लाभ होगा अब निश्चय।
'गाधि' नाम से कीर्ति तुम्हारी और बढ़ाएगा वह अक्षय॥ ३ ॥
ऐसा कह कुशनाभ नृपति से महाराज ऋषि कुश, रघुनन्दन!।
ब्रह्मलोक को गये गगन से (जो हैं निरुपम और चिरन्तन)॥ ४ ॥
तदनन्तर कुशनाभ नृपति ने 'गाधि' नाम का पाया प्रिय सुत।
सभी गुणों से संयुत था वह तथा परम धर्मात्मा अद्भुत॥ ५ ॥
उन्हीं गाधि का मैं सुपुत्र हूँ, हे ककुत्स्थ-भूषण रघुनन्दन!।
कुश-कुल में जन्मा हूँ इससे कौशिक कहते हैं मुझको जन॥ ६ ॥
मेरी ज्येष्ठ बहिन थी राघव! करती थी व्रत-यज्ञ सदा ही।
सत्यवती नाम्नी ऋचीक को (वेद-विधा से वह) थी व्याही॥ ७ ॥
पति अनुसरणकारिणी वह थी सह शरीर के स्वर्ग सिधारी।
प्रकट उसी से हुई धरणि पर यह है नदी कौशिकी न्यारी॥ ८ ॥
हिमगिरि का आश्रय ले करके मेरी वही बहिन जग के हित।
रमणीया सुपुण्य सलिला इस नदी-रूप में हुई प्रवाहित॥ ९ ॥
मुझे स्नेह है बहिन कौशिकी से निश्चय अतिशय रघुनन्दन!।
अतः हिमालय-निकट उसी के तट पर रहता मैं प्रसन्नमन॥ १० ॥
पुण्यमयी वह सत्यवती ही सत्य-धर्म में परम प्रतिष्ठित।
भाग्यवती अति पतिव्रता है सरिद्वरा होकर समुपस्थित॥ ११ ॥
आया था मैं सिद्धाश्रम में मख-हित त्याग वहन का आश्रय।
राम! तुम्हारे परम तेज से मिला सिद्धि-फल मुझको अक्षय॥ १२ ॥
तुमने जो कुछ मुझसे पूछा मेरे कुल, इस स्थल का परिचय।
वह सब मैंने तुम्हें बताया (इसमे नही राम! कुछ संशय)॥ १३ ॥
मेरे कथा-कथन में वीती अर्धरात्रि देखो ककुत्स्थ-वर।
यात्रा विघ्न-हीन हो इससे शयन करो, बोले फिर मुनिवर॥ १४ ॥
वृक्ष हुए निष्कम्प सभी पशु-पक्षी गये निवासस्थल पर।
अन्धकार से व्याप्त दिशाएं हुई सभी अब, देखो रघुवर!॥ १५ ॥

शनैर्विसृज्यते संध्या नभो नेत्रैरिवावृतम् ।
नक्षत्रतारागहनं ज्योतिर्भिरवभासते ॥ १६ ॥
उत्तिष्ठते च शीतांशुः शशी लोकतमोनुदः ।
ह्लादयन प्राणिनां लोके मनांसि प्रभया स्वया ॥ १७ ॥
नैशानि सर्वभूतानि प्रचरन्ति ततस्ततः ।
यक्षराक्षससङ्घाश्च रौद्राश्च पिशिताशनाः ॥ १८ ॥
एवमुक्त्वा महातेजा विरराम महामुनिः ।
साधुसाध्विति ते सर्वे मुनयो ह्यभ्यपूजयन् ॥ १९ ॥
कुशिकानामयं वंशो महान् धर्मपरः सदा ।
ब्रह्मोपमा महात्मानः कुशवंश्या नरोत्तमाः ॥ २० ॥
विशेषेण भवानेव विश्वामित्र महायशः ।
कौशिकी सरितां श्रेष्ठा कुलोद्योतकरी तव ॥ २१ ॥
मुदितैर्मुनिशार्दूलैः प्रशस्तः कुशिकात्मजः ।
निद्रामुपागमच्छ्रीमानस्तंगत इवांशुमान ॥ २२ ॥
रामोऽपि सहसौमित्रिः किंचिदागतविस्मयः ।
प्रशस्य मुनिशार्दूलं निद्रां समुपसेवते ॥ २३ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

उपास्य रात्रिशेषं तु शोणाकूले महर्षिभिः ।
निशायां सुप्रभातायां विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥
सुप्रभाता निशा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते गमनायाभिरोचय ॥ २ ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कृतपूर्वाह्णिकक्रियः ।
गमनं रोचयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ३ ॥
अयं शोणः शुभजलोऽगाधः पुलिनमण्डितः ।
कतरेण पथा ब्रह्मन् संतरिष्यामहे वयम् ॥ ४ ॥
एवमुक्तस्तु रामेण विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम् ।
एष पन्था मयोद्दिष्टो येन यान्ति महर्षयः ॥ ५ ॥
एवमुक्ता महर्षयो विश्वामित्रेण धीमता ।
पश्यन्तस्ते प्रयाता वै वनानि विविधानि च ॥ ६ ॥

ज्योतिर्मय नेत्रों से लगता है अम्बर अब (यह महेन्द्र-सम)।
संध्या गयी, छा गये अगणित ये तारक नक्षत्र तपोत्तम ॥ १६ ॥
सकल लोक के अन्धकार का नाशक हुआ चन्द्रमा समुदित।
जिसकी पुण्य-प्रभा से होते प्राणिमात्र पृथ्वी के प्रमुदित ॥ १७ ॥
रात्रि-समय में यक्ष, राक्षस यथास्थान करते हैं विचरण।
परम भयंकर हैं जो करते रक्त-मांस का ही हैं भक्षण ॥ १८ ॥
ऐसा कह करके वे कौशिक हुए शान्त होकर तब सुस्थित।
साधुवाद तब उनको ऋषियों ने देकर, स्तुति की प्रसन्नचित ॥ १९ ॥
कुश-पुत्रों का वंश सदा ही धर्म-परायण रहा समुत्तम।
इसमें जन्मे सभी महात्मा श्रेष्ठ हुए हैं ब्रह्मा के सम ॥ २० ॥
अपने कुल में स्वयं आप हैं श्रेष्ठ महात्मा अतिशय उत्तम।
बढ़ा रही कुल-कीर्ति आपकी तथा कौशिकी यह, ऋषिसत्तम ! ॥ २१ ॥
प्रमुदित इन सब ऋषियों द्वारा श्रीमत् कौशिक हो अतिशंसित ?।
दिव्य-पूर्ति के सूर्य-सदृश ही वे तेजस्वी हुए सुनिद्रित ॥ २२ ॥
राम और लक्ष्मण भी इस विधि कथा श्रवण से हो विस्मित-मन।
मुनि की बहुत प्रशंसा करके किया मोद से शीघ्र तब शयन ॥ २३ ॥

॥ श्री वाल्मीक-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३४ ॥

पैंतीसवाँ सर्ग

शोणभद्र पार करके विश्वामित्र आदि का गङ्गाजी के तट पर पहुँचकर वहाँ रात्रिवास करना तथा श्रीराम के पूछने पर विश्वामित्रजी का उन्हें गङ्गाजी की उत्पत्ति की कथा सुनाना

शयन किया ऋषियों-सँग निशि में शोणभद्र के सुन्दर तट पर।
सुप्रभात में रामचन्द्र से बोले विश्वामित्र मुनीश्वर ॥ १ ॥
मंगल हो श्रीराम ! तुम्हारा, आई प्रातःवेला (न्यारी)।
उठो ! उठो ! आगे चलने की करो शीघ्र ही अब तैयारी ॥ २ ॥
मुनि-वार्ता सुन, भलीभाँति कर प्रातःकालिक संध्या-वन्दन।
चलने को उद्यत हो करके मुनि से बोले श्री रघुनन्दन ॥ ३ ॥
शोणभद्र में जल अथाह है, जिसका तट युग है अति सुन्दर।
किस पथ से चल करके ब्रह्मन् ! पार करेंगे इसको क्योंकर ? ॥ ४ ॥
यह सुनकर बोले ऋषि कौशिक, जिस पथ से जाते हैं मुनिवर।
शोणभद्र के पार, वही पथ पहले से निश्चित है, रघुवर ! ॥ ५ ॥
विश्वामित्र सुधी के ऐसा कहने पर वे सब ऋषिसत्तम।
चले देखते हुए वनों की भलीभाँति से सुषमा उत्तम ॥ ६ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं गतेऽर्धदिवसे तदा।
जाह्नवीं सरितां श्रेष्ठां ददृशुर्मुनिसेविताम् ॥ ७ ॥
तां दृष्ट्वा पुण्यसलिलां हंससारससेविताम्।
बभूवुर्मुनयः सर्वे मुदिताः सहराघवाः ॥ ८ ॥
तस्यास्तीरे तदा सर्वे चक्रुर्वासपरिग्रहम्।
ततः स्नात्वा यथान्यायं संतर्प्य पितृदेवताः ॥ ९ ॥
हुत्वा चैवाग्निहोत्राणि प्राश्य चामृतवद्धविः।
विविशुर्जाह्नवीतीरे शुभा मुदितमानसाः ॥ १० ॥
विश्वामित्रं महात्मानं परिवार्य समन्ततः।
विष्ठिताश्च यथान्यायं राघवौ च यथार्हतः।
सम्प्रहृष्टमना रामो विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ ११ ॥
भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि गङ्गां त्रिपथगां नदीम्।
त्रैलोक्यं कथमाक्रम्य गता नदनदीपतिम् ॥ १२ ॥
चोदितो रामवाक्येन विश्वामित्रो महामुनिः।
वृद्धिं जन्म च गङ्गाया वक्तुमेवोपचक्रमे ॥ १३ ॥
शैलेन्द्रो हिमवान् राम धातूनामाकरो महान्।
तस्य कन्याद्वयं राम रूपेणाप्रतिमं भुवि ॥ १४ ॥
या मेरुदुहिता राम तयोर्माता सुमध्यमा।
नाम्ना मेना मनोज्ञा वै पत्नी हिमवतः प्रिया ॥ १५ ॥
तस्यां गङ्गेयमभवज्ज्येष्ठा हिमवतः सुता।
उमा नाम द्वितीयाभूत् कन्या तस्यैव राघव ॥ १६ ॥
अथ ज्येष्ठां सुराः सर्वे देवकार्यचिकीर्षया।
शैलेन्द्रं वरयामासुर्गङ्गां त्रिपथगां नदीम् ॥ १७ ॥
ददौ धर्मेण हिमवांस्तनयां लोकपावनीम्।
स्वच्छन्दपथगां गङ्गां त्रैलोक्यहितकाम्यया ॥ १८ ॥
प्रतिगृह्य त्रिलोकार्थं त्रिलोकहितकाङ्क्षिणः।
गङ्गामादाय तेऽगच्छन् कृतार्थेनान्तरात्मना ॥ १९ ॥
या चान्या शैलदुहिता कन्याऽऽसीद्रघुनन्दन।
उग्रं सुव्रतमास्थाय तपस्तेपे तपोधना ॥ २० ॥
उग्रेण तपसा युक्तां ददौ शैलवरः सुताम्।
रुद्रायाप्रतिरूपाय उमां लोकनमस्कृताम् ॥ २१ ॥
एते ते शैलराजस्य सुते लोकनमस्कृते।
गङ्गा च सरितां श्रेष्ठा उमादेवी च राघव ॥ २२ ॥

मध्य दिवस में सभी मुनीश्वर बहुत दूर चलकर जब आये।
मुनिजन-सेवित सरिद्वरा[1] श्री गंगाजी के दर्शन पाये॥ ७ ॥
हंस, सारसों से सेवित श्री गंगाजी के करके दर्शन।
राघव लक्ष्मण-सहित उस समय हुए सभी मुनिवर हर्षितमन॥ ८ ॥
किया सभी ने गगा-तट पर अपना-अपना स्थान फिर ग्रहण।
और वहाँ विधिवत् स्नापित हो किया देव-पितरों का तर्पण॥ ९ ॥
तदनन्तर इन सब ऋषियों ने अग्निहोत्र करके अतिउत्तम।
भोग लगाया मीठे हवि का था जिसका सुस्वादु सुधा-सम॥ १० ॥
कौशिक को कर मध्य, सभी मुनि बैठे फिर श्री गंगा-तट पर।
बैठे राम और लक्ष्मण भी सँग में यथायोग्य निज स्थल पर।
सुप्रसन्न होकर कौशिक से लगे पूछने तब फिर रघुवर॥ ११ ॥
कहिये, यह सुरसरि त्रिलोक में कैसे तीन पथों से चलकर।
नदियों और नदों के स्वामी वारिधि से जा मिली, ऋषीश्वर!॥ १२ ॥
ऋषि ने जब श्रीराम-प्रश्न से मन में मधुर प्रेरणा पाई।
तब गंगा-उत्पत्ति-वृद्धि की उन्हें पावनी कथा सुनाई॥ १३ ॥
सभी धातुओं का आकर[2] है, राम! एक हिमवान शैलवर।
दो कन्याएँ हैं उनकी ही जिनकी तुलना नहीं भूमि पर॥ १४ ॥
मेरु-शैल-पुत्री 'मेना' है इन हिमवान शैल की भार्या।
इन दोनों कन्याओं की है माता यह मेना ही आर्या॥ १५ ॥
ज्येष्ठ सुता गंगा, मेना के हुई गर्भ से है उत्पन्ना।
राघव! अन्य दूसरी कन्या जन्मी, उमा ख्याति-सम्पन्ना॥ १६ ॥
समयान्तर में सब देवों ने माँगा गिरि से दिव्य कार्य-हित।
इस गंगा को, जो कि त्रिपथगा हुई स्वर्ग से तभी अवतरित॥ १७ ॥
इस स्वच्छन्द-गामिनी गंगा को त्रिभुवन-हित की इच्छा कर।
दिया नगेश्वर ने देवों को धर्मपूर्वक तब, हे रघुवर!॥ १८ ॥
तीनों लोकों के मंगल-हित गंगा को लेकर वे सुरवर।
कृतार्थता का अनुभव करते हुए गये सब निज-निज स्थल पर॥ १९ ॥
रघुनन्दन! गिरि-सुता दूसरी हुई तपस्या में अति तन्मय।
और व्रतवती उसने सत्वर किया तपोमय धन का सञ्चय॥ २० ॥
उग्र तपस्या-संलग्ना वह विश्व-वन्दिता उमा हुई जब।
गिरि ने उसका सुप्रभावमय किया रुद्र से शुभ विवाह तब॥ २१ ॥
सरिताओं में उत्तम गंगा, उमा देवियों में, रघुनन्दन!।
इन दोनों गिरिराज-पुत्रियों का करता त्रिभुवन पद-वन्दन॥ २२ ॥

---

1 श्रेष्ठ नदी; 2 भण्डार, खजाना।

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथा त्रिपथगामिनी ।
खं गता प्रथमं तात गतिं गतिमतां वर ॥ २३ ॥
सैषा सुरनदी रम्या शैलेन्द्रतनया तदा ।
सुरलोकं समारूढा विपापा जलवाहिनी ॥ २४ ॥
॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन्नुभौ राघवलक्ष्मणौ ।
प्रतिनन्द्य कथां वीरावूचतुर्मुनिपुङ्गवम् ॥ १ ॥
धर्मयुक्तमिदं ब्रह्मन् कथितं परमं त्वया ।
दुहितुः शैलराजस्य ज्येष्ठाया वक्तुमर्हसि ।
विस्तरं विस्तरज्ञोऽसि दिव्यमानुषसम्भवम् ॥ २ ॥
त्रीन् पथो हेतुना केन प्लावयेल्लोकपावनी ।
कथं गङ्गा त्रिपथगा विश्रुता सरिदुत्तमा ॥ ३ ॥
त्रिषु लोकेषु धर्मज्ञ कर्मभिः कैः समन्विता ।
तथा ब्रुवति काकुत्स्थे विश्वामित्रस्तपोधनः ॥ ४ ॥
निखिलेन कथां सर्वामृषिमध्ये न्यवेदयत् ।
पुरा राम कृतोद्वाहः शितिकण्ठो महातपाः ॥ ५ ॥
दृष्ट्वा च भगवान् देवीं मैथुनायोपचक्रमे ।
तस्य संक्रीडमानस्य महादेवस्य धीमतः ।
शितिकण्ठस्य देवस्य दिव्यं वर्षशतं गतम् ॥ ६ ॥
न चापि तनयो राम तस्यामासीत् परंतप ।
सर्वे देवाः समुद्युक्ताः पितामहपुरोगमाः ॥ ७ ॥
यदिहोत्पद्यते भूतं कस्तत् प्रतिसहिष्यति ।
अभिगम्य सुराः सर्वे प्रणिपत्येदमब्रुवन् ॥ ८ ॥
देवदेव महादेव लोकस्यास्य हिते रत ।
सुराणां प्रणिपातेन प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
न लोका धारयिष्यन्ति तव तेजः सुरोत्तम ।
ब्राह्मेण तपसा युक्तो देव्या सह तपश्चर ॥ १० ॥

गतिशीला गंगा का मैंने यह उत्पत्ति-वृत्त बतलाया।
सुनो राम! फिर नाम त्रिपथगा इनका है कैसे हो पाया!॥ २३ ॥
नभोमार्ग से देवलोक में आई ये सौभाग्य बढ़ाने।
(मृत्युलोक हो) चलीं रसातल सब लोकों का पाप नशाने॥ २४ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३५ ॥

छत्तीसवाँ सर्ग

देवताओं का शिव-पार्वती को सुरत-क्रीडा से निवृत्त करना तथा उमादेवी का देवताओं और पृथ्वी को शाप देना

ऋषिवर-वार्ता का लक्ष्मण और रामचन्द्र ने कर अभिनन्दन।
कहा मुनीश्वर कौशिक से फिर इस प्रकार उनका कर वन्दन॥ १ ॥
ब्रह्मन्! धर्ममयी उत्तम यह कथा आपने हमें सुनाई।
नगपति[1]-ज्येष्ठ सुता गंगा जो दिव्यलोक से भू पर आई॥
अब कृपया बतलाएँ मुझको, विस्तृत करके पुनः ज्ञानघन!।
(देव और मानव-लोकों में कैसे इसका हुआ आगमन?)॥ २ ॥
तीन पथों में कैसे आई? लोक-पावनी गंगा-धारा।
सरिद्वरा[2] यह हुई त्रिपथगा[3] नाम्नी कैसे? पुण्याधारा॥ ३ ॥
धारा-त्रय से कौन-कौन यह करती कार्य? ऋषे! त्रिभुवन में।
राम-प्रश्न सुन तपोधनी मुनि, बैठे थे जो बहु मुनिजन में॥
लगे बताने गंगाजी से सम्बन्धित बातें वे मुनिवर।
बोले, राम! सुपूर्व समय में हुए उमा के नीलकण्ठ वर[4]॥
रति-क्रीडा में हुए निरत वे उमा नववधू को तब पाकर।
परम सुधी श्री महादेव ने सभी ओर से ध्यान हटाकर॥
दिव्य वर्ष शत, क्रीडा में ही दिवस विताये शंकर नें तब।
(फिर भी हुए न शान्त शम्भु के क्रीडा-विषयक वे विचार सव)॥ ४-६ ॥
रिपु-संतापक राम! न फिर भी हुआ उमा से कोई भी सुत।
उद्यत हुए रोकने को तब उनको सभी देवता विधि-युत॥ ७ ॥
कौन करेगा? उमा-गर्भ से प्रकट पुत्र का तेज सहन तब।
यह विचार कर श्री शिवजी को कर प्रणाम बोले वे सुर सब॥ ८ ॥
देवदेव हे महादेव! इस दिव्यलोक के अतिशय हितकर।
सुप्रसन्न हो कृपा करें! अव नत हैं प्रभु-चरणों पर सुरवर॥ ९ ॥
प्रभो! आपके दिव्य तेज को लोक न कर पाएँगे धारण।
अतः तपस्या करें! उमा-सँग हो क्रीडा-निवृत्त इस कारण॥ १० ॥

---

१ हिमवान, हिमाचल; २ नदियों में श्रेष्ठ; ३ तीन धाराओं वाली; ४ पति।

त्रैलोक्यहितकामार्थं तेजस्तेजसि धारय।
रक्ष सर्वानिमाँल्लोकान् नालोकं कर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकमहेश्वरः।
बाढमित्यब्रवीत् सर्वान् पुनश्चेदमुवाच ह ॥ १२ ॥

धारयिष्याम्यहं तेजस्तेजसव सहोमया।
त्रिदशाः पृथिवी चैव निर्वाणमधिगच्छतु ॥ १३ ॥

यदिदं क्षुभित स्थानान्मम तेजो ह्यनुत्तमम्।
धारयिष्यति कस्तन्मे ब्रुवन्तु सुरसत्तमाः ॥ १४ ॥

एवमुक्तास्ततो देवाः प्रत्यूचुर्वृषभध्वजम्।
यत्तेजः क्षुभितं ह्यद्य तद्धरा धारयिष्यति ॥ १५ ॥
एवमुक्तः सुरपतिः प्रमुमोच महाबलः।
तेजसा पृथिवी येन व्याप्ता सगिरिकानना ॥ १६ ॥

ततो देवाः पुनरिदमूचुश्चापि हुताशनम्।
आविश त्वं महातेजो रौद्रं वायुसमन्वितः ॥ १७ ॥

तदग्निना पुनर्व्याप्तं संजातं श्वेतपर्वतम्।
दिव्यं शरवणं चैव पावकादित्यसंनिभम् ॥ १८ ॥

यत्र जातो महातेजाः कार्तिकेयोऽग्निसम्भवः।
अथोमां च शिवं चैव देवाः सर्षिगणास्तथा ॥ १९ ॥
पूजयामासुरत्यर्थं सुप्रीतमनसस्तदा।
अथ शैलसुता राम त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥ २० ॥

समन्युरशपत् सर्वान् क्रोधसंरक्तलोचना।
यस्मान्निवारिता चाहं संगता पुत्रकाम्यया ॥ २१ ॥
अपत्यं स्वेषु दारेषु नोत्पादयितुमर्हथ।
अद्यप्रभृति युष्माकमप्रजाः सन्तु पत्नयः ॥ २२ ॥
एवमुक्त्वा सुरान् सर्वाञ्शशाप पृथिवीमपि।
अवने नैकरूपा त्वं बहुभार्या भविष्यसि ॥ २३ ॥
न च पुत्रकृतां प्रीतिं मत्क्रोधकलुषीकृता।
प्राप्स्यसि त्वं सुदुर्मेधो मम पुत्रमनिच्छती ॥ २४ ॥

तान् सर्वान् पीडितान् दृष्ट्वा सुरान् सुरपतिस्तदा।
गमनायोपचक्राम दिशं वरुणपालिताम् ॥ २५ ॥
स गत्वा तप आतिष्ठत् पार्श्वे तस्योत्तरे गिरेः।
हिमवत्प्रभवे शृङ्गे सह देव्या महेश्वरः ॥ २६ ॥

अपना तेज आप ही धारण कर त्रिभुवन-हित नाथ! करें अब।
जिससे नष्ट न हो त्रिभुवन यह, इसके वासी रहें सुखी सब॥ ११ ॥
देवों की अनुरोध-युक्त यह लोक-महेश्वर वार्ता सुनकर।
'अच्छा' कहकर उनसे बोले, इस प्रकार से वे शिव सुरवर॥ १२ ॥
देवो! मैं निज तेज उमा-सह धारण कर लूँगा त्रिभुवन-हित।
अतः सभी लोकों के वासी होवें निश्चय शान्ति-समन्वित॥ १३ ॥
देवो! मेरा क्षुब्ध तेज यदि कही स्थान से च्युत हो जाए।
धारण उसको कौन करेगा? कैसे? यह सुर-गण बतलाएँ?॥ १४ ॥
वृषभध्वज[1] के यह कहने पर दिया सुरवरों ने तब उत्तर।
क्षुब्ध तेज को धारण करने में समर्थ है पृथिवी, सुरवर!॥ १५ ॥
तेज त्याग तब दिया शम्भु ने देवों का यह वचन श्रवण कर।
जिससे व्याप्त हो गयी पृथिवी और सभी उसके वन, भूधर॥ १६ ॥
तब देवों ने कहा अग्नि से वायुदेव की करके संगत।
शंकरजी के महातेज को आप करें! अपने अन्तर्गत॥ १७ ॥
अग्नि-व्याप्त शिव-तेज शुभ्रतर शैल-रूप में हुआ सुपरिणत।
सूर्य, अग्नि-सम सरकण्डों का वन भी तब ही हुआ दृष्टिगत॥ १८ ॥
अग्नि-जनित तेजस्वी प्रकटे वीर स्वामिकार्तिक उस वन में।
तत्पर हुए देवता, ऋषिवर, उमा और शिव के पूजन में॥ १९ ॥
अति प्रसन्न थे उस अवसर पर सुरवर और दिव्य ऋषि ज्ञानी।
राम! हो गई अरुणिम-नयना[2] तभी कोपवश उमा भवानी॥ २० ॥
बोलीं, शिव से किया समागम पुत्र-प्राप्ति होने के कारण।
किन्तु निवारित किया सुरवरो! तुम सबने ही मुझे अकारण॥
शापित हो पुत्रोत्पादन में होगे अब तुम सब! अक्षम[3]।
तथा पत्नियों से न तुम्हारी चल पायेगा अब वंशक्रम॥२१-२२॥
देवों से ऐसा कहकर वे बोलीं फिर पृथ्वी से आर्या।
एक रूप में तू न रहेगी! अब होगी बहुतों की भार्या॥ २३ ॥
दुष्टे! तूने चाहा, मेरे पुत्र न हो श्री शिव के द्वारा।
अतः तुझे भी मिल न सकेगा पुत्रोत्पादन-सुख अब प्यारा॥ २४ ॥
देखा तब, अतिशय पीड़ित हैं उमा-शाप से वे सब सुरवर।
वरुणदेव से प्रतिपालित तब चले गये पश्चिम को शंकर॥ २५ ॥
और हिमालय के उत्तर के उत्तम एक शिखर पर जाकर।
करने लगे तपस्या, देवी उमा-सहित वे ध्यान लगाकर॥ २६ ॥

---

1 शंकर; 2 लाल नेत्रों वाली; 3 असमर्थ।

एष ते विस्तरो राम शैलपुत्र्या निवेदितः।
गङ्गायाः प्रभवं चैव शृणु मे सहलक्ष्मण ॥ २७ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

तप्यमाने तदा देवे सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः।
सेनापतिमभीप्सन्तः पितामहमुपागमन् ॥ १ ॥
ततोऽब्रुवन् सुराः सर्वे भगवन्तं पितामहम्।
प्रणिपत्य सुराराम सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ॥ २ ॥
येन सेनापतिर्देव दत्तो भगवता पुरा।
स तपः परमास्थाय तप्यते स्म सहोमया ॥ ३ ॥
यदत्रानन्तरं कार्यं लोकानां हितकाम्यया।
संविधत्स्व विधानज्ञ त्वं हि नः परमा गतिः ॥ ४ ॥
देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकपितामहः।
सान्त्वयन् मधुरैर्वाक्यैस्त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥
शैलपुत्र्या यदुक्तं तन्न प्रजाः स्वासु पत्निषु।
तस्या वचनमक्लिष्टं सत्यमेव न संशयः ॥ ६ ॥
इयमाकाशगङ्गा च यस्यां पुत्रं हुताशनः।
जनयिष्यति देवानां सेनापतिमरिंदमम् ॥ ७ ॥
ज्येष्ठा शैलेन्द्रदुहिता मानयिष्यति तं सुतम्।
उमायास्तद्बहुमतं भविष्यति न संशयः ॥ ८ ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कृतार्था रघुनन्दन।
प्रणिपत्य सुराः सर्वे पितामहमपूजयन् ॥ ९ ॥
ते गत्वा परमं राम कैलासं धातुमण्डितम्।
अग्निं नियोजयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः ॥ १० ॥
देवकार्यमिदं देव समाधत्स्व हुताशन।
शैलपुत्र्यां महातेजो गङ्गायां तेज उत्सृज ॥ ११ ॥
देवतानां प्रतिज्ञाय गङ्गामभ्येत्य पावकः।
गर्भं धारय वै देवि देवतानामिदं प्रियम् ॥ १२ ॥
इत्येतद् वचनं श्रुत्वा दिव्यं रूपमधारयत्।
स तस्या महिमां दृष्ट्वा समन्तादवशीर्यत ॥ १३ ॥

गिरिवर की छोटी पुत्री का सुना वृत्त[1] तुमने यह उत्तम।
अब गंगा की कथा सुनाते तुम्हें राम! लक्ष्मण! नरसत्तम!॥ २७ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३६ ॥

सैंतीसवाँ सर्ग

गंगा से कार्तिकेय की उत्पत्ति का प्रसङ्ग

उमा और शिव तप करने में जब थे भलीभाँति से तत्पर।
दें, विरञ्चि! सेनापति हमको, रहे प्रार्थना कर सब सुरवर॥ १ ॥
देव-सुखप्रद राम! इन्द्र-सँग, अग्नि आदि देवों ने आकर।
किया विधाता को प्रणाम, फिर बोले उनसे शीश झुकाकर॥ २ ॥
पूर्व समय में प्रभो! सुरों ने, जिन शिव से सेनापति पाया।
आज उन्होंने उमा-सहित है तप करने में ध्यान लगाया॥ ३ ॥
विधि-विधान के विज्ञ पितामह[2]! कार्य करें! अब जग-हितकारी।
क्योंकि आपके ही आश्रित है, प्रभुवर! देव-सृष्टि यह सारी॥ ४ ॥
सकल लोक के हितकर ब्रह्मा इन देवों की वार्ता सुनकर।
देते हुए सान्त्वना बोले मधुर वचन उनसे यह रुचिकर॥ ५ ॥
देवो! तुम अमोघ-वचना[3] श्री उमा गिरि-सुता से हो शापित।
अतः न तुम सबकी भार्याएँ होंगी सफला पुत्र-जन्म-हित॥ ६ ॥
अग्निदेव अब नभगंगा में शिव का तेज करेंगे स्थापित।
उससे जन्मा पुत्र रिपुदमन ही होगा सेनापति निश्चित॥ ७ ॥
ज्येष्ठा भगिनी गंगा का सुत होगा बहुत उमा को प्यारा।
तथा स्वकीय पुत्र-सम उसको समझेंगी वे जगदाधारा॥ ८ ॥
रघुनन्दन! विधि-वचन-श्रवण कर हो कृतकृत्य सभी वे सुरवर।
उनको श्रद्धा से प्रणाम कर, धन्य हुए उनका पूजन कर॥ ९ ॥
सुरगण ने विविध धातु-मण्डित शुभ कैलाश-शिखर पर जाकर।
किया नियोजित अग्निदेव को पुत्र-जन्म की बात बताकर॥ १० ॥
अग्निदेव से सभी देवता बोले हो करके विनयान्वित[4]।
रुद्र-तेज को आप शीघ्र ही गंगा जी में कर दें स्थापित॥ ११ ॥
गंगा जी से अग्निदेवता बोले तभी निकट में जाकर।
धारण करें! गर्भ यह गंगे! सब देवों पर परम कृपा कर॥ १२ ॥
अग्नि-वार्ता सुन, गंगा ने दिव्य रूप तब फिर अपनाया।
और अग्नि ने रुद्र-तेज को उनके सभी ओर बिखराया॥ १३ ॥

---

१ इतिहास; २ ब्रह्मा; ३ जिसके वचन कभी व्यर्थ न हों; ४ विनय से भरे हुए।

समन्ततस्तदा देवीमभ्यषिञ्चत पावकः।
सर्वस्रोतांसि पूर्णानि गङ्गाया रघुनन्दन ॥ १४ ॥
तमुवाच ततो गङ्गा सर्वदेवपुरोगमम्।
अशक्ता धारणे देव तेजस्तव समुद्धतम् ॥ १५ ॥
दह्यमानाग्निना तेन सम्प्रव्यथितचेतना।
अथाब्रवीदिदं गङ्गां सर्वदेवहुताशनः ॥ १६ ॥
इह हैमवते पार्श्वे गर्भोऽयं संनिवेश्यताम्।
श्रुत्वा त्वग्निवचो गङ्गा तं गर्भमतिभास्वरम् ॥ १७ ॥
उत्ससर्ज महातेजाः स्रोतोभ्यो हि तदानघ।
यदस्या निर्गतं तस्मात् तप्तजाम्बूनदप्रभम् ॥ १८ ॥
काञ्चनं धरणीं प्राप्तं हिरण्यमतुलप्रभम्।
ताम्रं कार्ष्णायसं चैव तैक्ष्ण्यादेवाभिजायत ॥ १९ ॥
मलं तस्याभवत् तत्र त्रपु सीसकमेव च।
तदेतद्धरणीं प्राप्य नानाधातुरवर्धत ॥ २० ॥
निक्षिप्तमात्रे गर्भे तु तेजोभिरभिरञ्जितम्।
सर्वं पर्वतसंनद्धं सौवर्णमभवद् वनम् ॥ २१ ॥
जातरूपमिति ख्यातं तदाप्रभृति राघव।
सुवर्णं पुरुषव्याघ्र हुताशनसमप्रभम्।
तृणवृक्षलतागुल्मं सर्वं भवति काञ्चनम् ॥ २२ ॥
तं कुमारं ततो जातं सेन्द्राः सह मरुद्गणाः।
क्षीरसम्भावनार्थाय कृत्तिकाः समयोजयन् ॥ २३ ॥
ताः क्षीरं जातमात्रस्य कृत्वा समयमुत्तमम्।
ददुः पुत्रोऽयमस्माकं सर्वासामिति निश्चिताः ॥ २४ ॥
ततस्तु देवताः सर्वाः कार्तिकेय इति ब्रुवन्।
पुत्रस्त्रैलोक्यविख्यातो भविष्यति न संशयः ॥ २५ ॥
तेषां तद् वचनं श्रुत्वा स्कन्नं गर्भपरिस्रवे।
स्नापयन् परया लक्ष्म्या दीप्यमानं यथानलम् ॥ २६ ॥
स्कन्द इत्यब्रुवन् देवाः स्कन्नं गर्भपरिस्रवे।
कार्तिकेयं महाबाहुं काकुत्स्थ ज्वलनोपमम् ॥ २७ ॥
प्रादुर्भूतं ततः क्षीरं कृत्तिकानामनुत्तमम्।
षण्णां षडाननो भूत्वा जग्राह स्तनजं पयः ॥ २८ ॥

अग्निदेव ने रुद्र-तेज से गंगा को अभिषिक्त किया जब।
पूरित हुए, राम ! गंगा के उससे उत्तम स्रोत शीघ्र तब ॥ १४ ॥
गंगा सुर-प्रतिनिधि से बोली, स्थापित किया तेज जो उत्तम।
देव ! आपने, उसे धारने में हूँ सभी भाँति मैं अक्षम[1] ॥ १५ ॥
इसके उग्रताप से मैं हूँ व्यथित-चेतना तपती काया।
अग्निदेव ने तब गंगा को एक उपाय उचित बतलाया ॥
देवि ! हिमालय-पार्श्व-भाग में, करें ! गर्भ यह स्थापित जाकर।
तब गंगा ने अग्नि-वचन सुन, उसको जो था अतिशय भास्वर[2] ॥
निज स्रोतों से बाहर करके किया उचित स्थानों पर स्थापित।
गंगा-गर्भ तेज दिखता था अतिशय तप्त स्वर्ण-सा भासित ॥
तभी वहाँ की सभी वस्तुएँ यथा तेज औ यथा भूमि-थल।
स्वर्ण, रजत, सँग ताम्र, लौह से हुई प्रपूरित राम ! उसी पल ॥१६-१९॥
उसके मल ने राँगे, सीसे का तब रूप किया था धारण।
सभी धातुओं से सम्पन्ना हुई धरित्री[3] यह इस कारण ॥ २० ॥
भू पर स्थापित हुआ गर्भ यह जिस क्षण सुप्रकाशमय अतिशय।
कथित श्वेत गिरि और सभी वन हुए उसी क्षण शीघ्र स्वर्णमय ॥ २१ ॥
अग्नि-भासमय स्वर्ण तभी से जात रूप कहलाता रघुवर !।
पुरुषसिंह ! यह प्रकट हुआ था क्योंकि सर्वथा उस अवसर पर ॥
भास्वर[2] रुद्र-तेज से भासित भलीभाँति हो गये सभी जब।
(गर्भ-स्पर्श से लता, वृक्ष, तृण, हुए स्वर्णमय गुल्म[4] आदि सब) ॥ २२ ॥
मरुद्गणों सँग इन्द्र आदि तब सभी देवता हो एकत्रित।
छहों कृत्तिकाओं से बोले दुग्ध पिलाने को 'कुमार' हित ॥ २३ ॥
किया कृत्तिकाओं ने निश्चित हो यह हम सबका ही प्रिय सुत।
सबने विश्वस्ता हो करके सुत को दुग्ध पिलाया अद्भुत ॥ २४ ॥
फिर बोले वे देवप्रवर सब 'कार्तिकेय' यह कहलायेगा।
तुम सबका ! सुत हो, त्रिभुवन में ख्याति बहुत हो यह पायेगा ॥ २५ ॥
देव-वचन सुन, उमा-शिवच्युत नभगंगा से गर्भस्रावित।
हुआ कृत्तिकाओं के द्वारा वह प्रकाशमय बालक स्नापित[5] ॥ २६ ॥
गर्भस्राव-समय में स्कन्दित[6] कार्तिकेय जी हुए वीरवर।
इसीलिए उन महाबाहु को 'स्कन्द' कहा देवों ने रघुवर ! ॥ २७ ॥
कुम्भस्तनी कृत्तिकाओं के प्रकटी दिव्य दुग्ध की धारा।
अतः पिया था दुग्ध उन्होंने अपने छहों मुखों के द्वारा ॥ २८ ॥

---

१ असमर्थ; २ प्रकाशमान; ३ पृथ्वी; ४ झाड़; ५ नहलाया हुआ; ६ गिरा हुआ।

गृहीत्वा क्षीरमेकाह्ना सुकुमारवपुस्तदा ।
अजयत् स्वेन वीर्येण दैत्यसैन्यगणान् विभुः ॥ २९ ॥
सुरसेनागणपतिमभ्यषिञ्चन्महाद्युतिम् ।
ततस्तममराः सर्वे समेत्याग्निपुरोगमाः ॥ ३० ॥
एष ते राम गङ्गाया विस्तरोऽभिहितो मया ।
कुमारसम्भवश्चैव धन्यः पुण्यस्तथैव च ॥ ३१ ॥
भक्तश्च यः कार्तिकेये काकुत्स्थ भुवि मानवः ।
आयुष्मान् पुत्रपौत्रैश्च स्कन्दसालोक्यतां व्रजेत् ॥ ३२ ॥
॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशः सर्गः

तां कथां कौशिको रामे निवेद्य मधुराक्षराम् ।
पुनरेवापरं वाक्यं काकुत्स्थमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
अयोध्याधिपतिर्वीर पूर्वमासीन्नराधिपः ।
सगरो नाम धर्मात्मा प्रजाकामः स चाप्रजः ॥ २ ॥
वैदर्भदुहिता राम केशिनी नाम नामतः ।
ज्येष्ठा सगरपत्नी सा धर्मिष्ठा सत्यवादिनी ॥ ३ ॥
अरिष्टनेमेर्दुहिता सुपर्णभगिनी तु सा ।
द्वितीया सगरस्यासीत् पत्नी सुमतिसंज्ञिता ॥ ४ ॥
ताभ्यां सह महाराजः पत्नीभ्यां तप्तवांस्तपः ।
हिमवन्तं समासाद्य भृगुप्रस्रवणे गिरौ ॥ ५ ॥
अथ वर्षशते पूर्णे तपसाऽऽराधितो मुनिः ।
सगराय वरं प्रादाद् भृगुः सत्यवतां वरः ॥ ६ ॥
अपत्यलाभः सुमहान् भविष्यति तवानघ ।
कीर्तिं चाप्रतिमां लोके प्राप्स्यसे पुरुषर्षभ ॥ ७ ॥
एका जनयिता तात पुत्रं वंशकरं तव ।
षष्टिं पुत्रसहस्राणि अपरा जनयिष्यति ॥ ८ ॥
भाषमाणं महात्मानं राजपुत्र्यौ प्रसाद्य तम् ।
ऊचतुः परमप्रीते कृताञ्जलिपुटे तदा ॥ ९ ॥
एकः कस्याः सुतो ब्रह्मन् का बहूञ्जनयिष्यति ।
श्रोतुमिच्छावहे ब्रह्मन् सत्यमस्तु वचस्तव ॥ १० ॥

वे सुकुमार एक दिन केवल पीकर दुग्ध हुए बलशाली।
और निशिचरों की सेनाओं पर तत्काल विजय-श्री पा ली॥ २९ ॥
तदनन्तर श्री अग्नि आदि इन सभी देवताओं ने मिलकर।
किया दिव्य अभिषेक 'स्कन्द' का उच्च देव-सेनापति-पद पर॥ ३० ॥
राम! तुम्हें गंगा-चरित्र सँग स्कन्द-जन्म को कथा सुनाई।
जिससे श्रोता धन्य हुए सब, पुण्य-राशि भी सबने पाई॥ ३१ ॥
पुत्र, पौत्र, दीर्घायु, धान्य, धन, कार्तिकेय का पूजक पाता।
तदनन्तर काकुत्स्थ! भक्त वह, उनके स्कन्दलोक में जाता॥ ३२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३७ ॥

अड़तीसवाँ सर्ग

राजा सगर के पुत्रों की उत्पत्ति तथा यज्ञ की तैयारी

उत्तम मधुराक्षरा[1] पावनी रामचन्द्र को कथा सुनाकर।
बोले अन्य प्रसंग सुनाते हुए पुनः कौशिक गुण-आकर[2]॥ १ ॥
पहले, वीर! अयोध्या में था धार्मिक नृपति सगर का शासन।
पुत्रहीन था अतः पुत्र की इच्छा करता था मन ही मन॥ २ ॥
रघुवर! कन्या थीं विदर्भ को उनकी ज्येष्ठ सुकेशी भार्या।
धर्म-प्रिया थीं सत्यवादिनी, सद्गुणमयी, रूपसी[3] आर्या॥ ३ ॥
और अरिष्टनेमि कश्यप की पुत्री बहिन गरुण की धन्या।
'सुमति' सुन्दरी भी थीं सुखदा सगर नृपति की पत्नी अन्या॥ ४ ॥
महाराज वे सगर, पत्नियों-सहित हिमालय गिरि पर जाकर।
भृगु-प्रस्रवण-शिखर पर करने लगे तपस्या ध्यान लगाकर॥ ५ ॥
जब शतवर्ष तपस्या द्वारा बिता दिये विधिवत् नरपति ने।
तब उनको वर दिया महाऋषि सत्यवादि-वर भृगु शुभ-मति ने॥ ६ ॥
हे निष्पाप नरेश! तुम्हारे होंगे पुत्र बहुत सुखकारी।
पुरुषप्रवर! तब सकल धरा में विस्तृत होगी कीर्ति तुम्हारी॥ ७ ॥
तात! एक पत्नी से होगा एक पुत्र कुल-वर्धक अद्भुत।
तथा अन्य पत्नी से होंगे साठ सहस्र तुम्हारे, नृप! सुत॥ ८ ॥
जब कह रहे ऋषीश्वर थे यह, तभी रानियाँ उत्सुक होकर!।
लगीं पूछने उत्सुकता से उन ऋषिवर से हाथ जोड़कर॥ ९ ॥
ब्रह्मन्! कहें! कौन सी रानी होगी एक पुत्र की माता?।
सत्य वचन हो, बहुत सुतों का किसमें है लक्षण दिखलाता?॥ १० ॥

१ मधुर वाणी-युक्त; २ गुणों की खान, भण्डार; ३ रूपवती।

तयोस्तद् वचनं श्रुत्वा भृगुः परमधार्मिकः ।
उवाच परमां वाणीं स्वच्छन्दोऽत्र विधीयताम् ॥ ११ ॥

एको वंशकरो वास्तु बहवो वा महाबलाः ।
कीर्तिमन्तो महोत्साहाः का वा कं वरमिच्छति ॥ १२ ॥

मुनेस्तु वचनं श्रुत्वा केशिनी रघुनन्दन ।
पुत्रं वंशकरं राम जग्राह नृपसंनिधौ ॥ १३ ॥

षष्टिं पुत्रसहस्राणि सुपर्णभगिनी तदा ।
महोत्साहान् कीर्तिमतो जग्राह सुमतिः सुतान् ॥ १४ ॥

प्रदक्षिणमृषिं कृत्वा शिरसाभिप्रणम्य तम् ।
जगाम स्वपुरं राजा सभार्यो रघुनन्दन ॥ १५ ॥

अथ काले गते तस्य ज्येष्ठा पुत्रं व्यजायत ।
असमञ्ज इति ख्यातं केशिनी सगरात्मजम् ॥ १६ ॥

सुमतिस्तु नरव्याघ्र गर्भतुम्बं व्यजायत ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि तुम्बभेदाद् विनिःसृता ॥ १७ ॥

घृतपूर्णेषु कुम्भेषु धात्र्यस्तान् समवर्धयन् ।
कालेन महता सर्वे यौवनं प्रतिपेदिरे ॥ १८ ॥

अथ दीर्घेण कालेन रूपयौवनशालिनः ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि सगरस्याभवंस्तदा ॥ १९ ॥

स च ज्येष्ठो नरश्रेष्ठ सगरस्यात्मसम्भवः ।
बालान् गृहीत्वा तु जले सरय्वा रघुनन्दन ॥ २० ॥

प्रक्षिप्य प्राहसन्नित्यं मज्जतस्तान् निरीक्ष्य वै ।
एवं पापसमाचारः सज्जनप्रतिबाधकः ॥ २१ ॥

पौराणामहिते युक्तः पित्रा निर्वासितः पुरात् ।
तस्य पुत्रोंऽशुमान् नाम असमञ्जस्य वीर्यवान् ॥ २२ ॥

सम्मतः सर्वलोकस्य सर्वस्यापि प्रियंवदः ।
ततः कालेन महता मतिः समभिजायत ॥ २३ ॥

सगरस्य नरश्रेष्ठ यजेयमिति निश्चिता ।
स कृत्वा निश्चयं राजा सोपाध्यायगणस्तदा ।
यज्ञकर्मणि वेदज्ञो यष्टुं समुपचक्रमे ॥ २४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

भृगु धर्मात्मा मृदु वाणी में बोले सरस वचन ऋषिसत्तम।
तुम्हीं देवियो! प्रकट करो अब मुझसे इच्छाएँ निज उत्तम॥ ११ ॥
केवल वंश चलानेवाला एक पुत्र है किसको इच्छित?।
किसके बहुत पुत्र हों बोलो! वली, यशस्वी और ओज-युत्?॥ १२ ॥
रघुकुल-नन्दन राम! केशिनी ने मुनि की यह वार्ता सुनकर।
कहा हमें दें आप! वंश के वर्धक एक पुत्र का शुभ वर॥ १३ ॥
बोलीं बहिन गरुड़ की तब फिर बहुत सुतों की शुभ इच्छा कर।
साठ सहस्र यशी, उत्साही पुत्रों का दें! मुझे मुने! वर॥ १४ ॥
परिक्रमा रानियों-सहित की भृगु ऋषि की, भूपति ने सुखकर।
करके पुनः प्रणाम उन्हें वे प्रस्थित[1] हुए नगर को, रघुवर!॥ १५ ॥
राज्ञी प्रमुखा सुकेशिनी ने राजभवन में वास फिर किया।
और शीघ्र असमञ्ज पुत्र को यथासमय में जन्म शुभ दिया॥ १६ ॥
किया पिण्ड उत्पन्न सुमति ने जिसकी थी तूँबी-सा आकृति।
उसके भेदन से फिर रघुवर! साठ सहस्र हुई सुत-निःसृति[2]॥ १७ ॥
किया धात्रियों[3] ने घृत-पूरित कलशों में रख उनका पालन।
किया प्रकृति ने यथासमय फिर उन सबमें यौवन-सञ्चालन॥ १८ ॥
अधिक समय के बाद सगर के साठ सहस्र सभी वे प्रिय सुत।
हुए समर्थ सर्वथा यौवन, रूप और सुषमा से संयुत॥ १९ ॥
ज्येष्ठ सुवन असमञ्ज बालकों को प्रतिदिवस पकड़कर पल में।
फेंक दिया करता था सद्यः[4] रघुनन्दन! सरयू के जल में॥ २० ॥
उन्हें डूबते देख, बहुत ही हँसता था वह दुर्मति-नायक।
सत्पुरुषों, नागरिकों को वह दुष्ट हुआ अति पीड़ा-दायक॥
किया नगर से बाहर उसको नृप ने अतिपातकी समझकर।
अंशुमान सुत उसका लोकप्रिय, मृदुभाषी और बीरवर॥
सगर नृपति के मन में आया यह विचार उत्तम तदनन्तर।
यज्ञ करूँ मैं पुण्य-प्राप्ति-हित एक शीघ्र ही अतिशय सुन्दर॥
अस्तु, उपाध्यायों को लेकर करने लगे सगर तैयारी।
(यथासमय सम्पन्न हो गयी उनकी यज्ञ-योजना सारी) ॥२१-२४॥

॥ श्री वाल्मीक-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड मे
अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३८ ॥

---

१ प्रस्थान किया, रवाना हुए; २ निकासी; ३ धायों, उपमाताओं; ४ रोज।

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा कथान्ते रघुनन्दनः।
उवाच परमप्रीतो मुनिं दीप्तमिवानलम्॥ १॥
श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते विस्तरेण कथामिमाम्।
पूर्वजो मे कथं ब्रह्मन् यज्ञं वै समुपाहरत्॥ २॥
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितः।
विश्वामित्रस्तु काकुत्स्थमुवाच प्रहसन्निव॥ ३॥
श्रूयतां विस्तरो राम सगरस्य महात्मनः।
शंकरश्वशुरो नाम्ना हिमवानिति विश्रुतः॥ ४॥
विन्ध्यपर्वतमासाद्य निरीक्षेते परस्परम्।
तयोर्मध्ये समभवद् यज्ञः स पुरुषोत्तम॥ ५॥
स हि देशो नरव्याघ्र प्रशस्तो यज्ञकर्मणि।
तस्याश्वचर्यां काकुत्स्थ दृढधन्वा महारथः॥ ६॥
अंशुमानकरोत् तात सगरस्य मते स्थितः।
तस्य पर्वणि तं यज्ञं यजमानस्य वासवः॥ ७॥
राक्षसीं तनुमास्थाय यज्ञियाश्वमपाहरत्।
ह्रियमाणे तु काकुत्स्थ तस्मिन्नश्वे महात्मनः॥ ८॥
उपाध्यायगणाः सर्वे यजमानमथाब्रुवन्।
अयं पर्वणि वेगेन यज्ञियाश्वोऽपनीयते॥ ९॥
हर्तारं जहि काकुत्स्थ हयश्चैवोपनीयताम्।
यज्ञच्छिद्रं भवत्येतत् सर्वेषामशिवाय नः॥ १०॥
तत् तथा क्रियतां राजन् यज्ञोऽच्छिद्रः कृतो भवेत्।
सोपाध्यायवचः श्रुत्वा तस्मिन् सदसि पार्थिवः॥ ११॥
षष्टिं पुत्रसहस्राणि वाक्यमेतदुवाच ह।
गतिं पुत्रा न पश्यामि रक्षसां पुरुषर्षभाः॥ १२॥
मन्त्रपूतैर्महाभागैरास्थितो हि महाक्रतुः।
तद् गच्छथ विचिन्वध्वं पुत्रका भद्रमस्तु वः॥ १३॥
समुद्रमालिनीं सर्वां पृथिवीमनुगच्छथ।
एकैकं योजनं पुत्रा विस्तारमभिगच्छत॥ १४॥
यावत् तुरगसंदर्शस्तावत् खनत मेदिनीम्।
तमेव हयहर्तारं मार्गमाणा ममाज्ञया॥ १५॥

उनतालीसवाँ सर्ग

इन्द्र के द्वारा राजा सगर के यज्ञसम्बन्धी अश्व का अपहरण, सगर-पुत्रों द्वारा सारी पृथ्वी का भेदन तथा देवताओं का ब्रह्माजी को यह सब समाचार बताना

विश्वामित्र-कथित सुन्दर यह कथा श्रवण कर राम मुदित मन।
अग्नि-सदृश तेजस्वी ऋषि से बोले होकर नम्र यह वचन॥ १ ॥
ब्रह्मन्! हो कल्याण आपका विस्तृत करके इसे बताएँ!।
मेरे पूर्वज सगर नृपति ने कैसे किया यज्ञ? समझाएँ!॥ २ ॥
सुनकर बात राम की, ऋषि के मन में हुआ बहुत कौतूहल।
और बहुत हँसकर वे बोले रामचन्द्र से वचन सुनिर्मल॥ ३ ॥
सगर-चरित्र-श्रवण की इच्छा, राम! तुम्हारी है यदि अद्भुत।
तो फिर सुनो! श्वसुर शंकर के हैं हिमवान नगाधिप विश्रुत[1]॥ ४ ॥
उनका है विस्तार विन्ध्य तक और विन्ध्य उन तक आता है।
वहीं मध्य में यज्ञ हुआ था (आर्यावर्त कहा जाता है)॥ ५ ॥
पुरुषसिंह! यज्ञार्थ भूमि है यही श्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम।
यज्ञ-अश्व की रक्षा-हित नृप सगर-निदेश प्राप्त अति विक्रम॥
सुदृढ़ धनुर्धर, महारथी श्री अंशुमान जी हुए सुतत्पर।
किन्तु सगर के यज्ञ-अश्व को इन्द्रदेव ने पर्व-दिवस पर॥ ६-७ ॥
राक्षस रूप बनाकर अपना यज्ञ-अश्व का किया अपहरण।
चोरी कर, काकुत्स्थ! अश्व को ले जाते थे वासव[2] जिस क्षण॥ ८ ॥
उपाध्याय कह उठे सगर से विघ्न दृष्टि में यह आता है।
आज पर्व के दिन, सवेग घोड़े को चोर लिये जाता है॥ ९ ॥
आप! चोर को मारें, राजन्! और अश्व को वापस लायें।
जिससे हो न अमंगल कोई तथा टलें याज्ञिक बाधायें॥
यत्न करें ऐसा, जिससे हो यज्ञ पूर्ण यह विधिवत्, नृपवर!।
सभी उपाध्यायों का ऐसा सभा-मध्य में वचन श्रवण कर॥
अपने साठ सहस्र सुतों से बोले सगर प्रजा-सम्मानित।
शुद्ध हृदय के परम महात्मा इस मख को करते सम्पादित॥
सम्भव नहीं मन्त्र से रक्षित मख में कोई राक्षस आये।
अतः करो तुम खोज अश्व की परमात्मा मांगल्य[3] बढ़ाये॥१०-१३॥
सिन्धु-मण्डिता[4] पृथ्वी का अब तुम सब जाकर देखो कण-कण।
योजन-योजन की दूरी पर करो ध्यान से अश्वान्वेषण[5]॥ १४ ॥
जब तक अश्व न दिखलायी दे, तब तक तुम सब खनो भूमि यह।
है उद्देश्य यही अपना बस देखो तो है कहाँ? चोर वह॥ १५ ॥

---

१ प्रसिद्ध २ इन्द्र ३ शुभ, कल्याण ४ समुद्र से घिरी ५ अश्व की खोज।

दीक्षितः पौत्रसहितः सोपाध्यायगणस्त्वहम् ।
इह स्थास्यामि भद्रं वो यावत् तुरगदर्शनम् ॥ १६ ॥
ते सर्वे हृष्टमनसो राजपुत्रा महाबलाः ।
जग्मुर्महीतलं राम पितुर्वचनयन्त्रिताः ॥ १७ ॥
गत्वा तु पृथिवीं सर्वामदृष्ट्वा तं महाबलाः ।
योजनायामविस्तारमेकैको धरणीतलम् ।
बिभिदुः पुरुषव्याघ्रा वज्रस्पर्शसमैर्भुजैः ॥ १८ ॥
शूलैरशनिकल्पैश्च हलैश्चापि सुदारुणैः ।
भिद्यमाना वसुमती ननाद रघुनन्दन ॥ १९ ॥
नागानां वध्यमानानामसुराणां च राघव ।
राक्षसानां दुराधर्षं सत्त्वानां निनदोऽभवत् ॥ २० ॥
योजनानां सहस्राणि षष्टिं तु रघुनन्दन ।
बिभिदुर्धरणीं राम रसातलमनुत्तमम् ॥ २१ ॥
एवं पर्वतसम्बाधं जम्बूद्वीपं नृपात्मजाः ।
खनन्तो नृपशार्दूल सर्वतः परिचक्रमुः ॥ २२ ॥
ततो देवाः सगन्धर्वाः सासुराः सहपन्नगाः ।
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे पितामहमुपागमन् ॥ २३ ॥
ते प्रसाद्य महात्मानं विषण्णवदनास्तदा ।
ऊचुः परमसंत्रस्ताः पितामहमिदं वचः ॥ २४ ॥
भगवन् पृथिवी सर्वा खन्यते सगरात्मजैः ।
बहवश्च महात्मानो वध्यन्ते जलचारिणः ॥ २५ ॥
अयं यज्ञहरोऽस्माकमनेनाश्वोऽपनीयते ।
इति ते सर्वभूतानि हिंसन्ति सगरात्मजाः ॥ २६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशः सर्गः

देवतानां वचः श्रुत्वा भगवान् वै पितामहः ।
प्रत्युवाच सुसंत्रस्तान् कृतान्तबलमोहितान् ॥ १ ॥

अंशुमान, सदुपाध्यायों सँग मैं दीक्षित[1] बस रहूँ यहाँ पर।
तब तक, जब तक पा न सकोगे यज्ञ-अश्व को सभी कहीं पर।। १६ ।।
राम! पितृ-आदेश यथावत् मान चले सब बली राज-सुत।
लगे विचरने पृथ्वी पर तब मन में स्फूर्ति, हर्ष भर अद्भुत ।। १७ ।।
पृथ्वी भर पर अन्वेषण[2] के बाद न अश्व उन्हें मिल पाया।
जब, तब एक-एक योजन का धरणि-भाग सबने अपनाया।।
पुरुषसिंह! उन राज-सुतों ने अपनी वज्र-भुजाओं द्वारा।
(खनन किया निज अधिकृत स्थल का, भूतल हुआ विदारित सारा) ।। १८ ।।
दारुण शूलों और हलों से खनन किया सबने रघुनन्दन!।
अतः अत्यधिक पीड़ित होकर करने लगी धरणि तब क्रन्दन ।। १९ ।।
उनके द्वारा नागों, असुरों, हुआ राक्षसों का जब भञ्जन[3]।
लगा गूँजने प्राणिमात्र का आर्तनाद-स्वर तब रघुनन्दन!।। २० ।।
साठ सहस्र-योजना भू का किया उन्होंने राम! जब खनन।
मानों अनुसन्धान[2] रसातल का करते हों सभी वीर जन।। २१ ।।
जम्बूद्वीप मध्य गिरि आदिक खनते हुए राम! भूपतिवर!।
करने लगे भ्रमण विस्मित हो इतस्ततः[4] सर्वथा धरणि पर।। २२ ।।
अति व्याकुल भयभीत सकल सुर, असुर, नाग, गन्धर्व आदि तब।
और शीघ्र ही एकत्रित हो, गये विधाता के समीप सब।। २३ ।।
अति विषाद से परिपूरित था उस अवसर पर उन सबका मन।
विधि को किया प्रसन्न और फिर बोले उनसे सभी यह वचन।। २४ ।।
भगवन्! सगर-पुत्र हैं करते वसुधा का सर्वथा दुष्खनन[5]।
जिससे अन्य प्राणियों के सँग सन्त जनों का हुआ है हनन।। २५ ।।
यह है यज्ञ-विघ्न का कर्ता! यह निश्चय है चोर अश्व का।
ऐसा कहकर सुत-समूह वह हुआ जा रहा हिंसक सबका।। २६ ।।

।। श्री वाल्मीक-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त ।। ३९ ।।

चालीसवाँ सर्ग

सगर-पुत्रों के भावी विनाश की सूचना देकर ब्रह्माजी का देवताओं को शान्त करना, सगर के पुत्रों का पृथ्वी को खोदते हुए कपिल जी के पास पहुँचना और उनके रोष से जलकर भस्म होना

सुनकर वार्ता सुर-समूह की तथा देखकर उन्हें भीत[6] अति।
यम-सम सगर-सुतों से मोहित देवों से विधि ने दी सम्मति।। १ ।।

---

१ यज्ञ में दीक्षा-प्राप्त २ खोज, शोध ३ विनाश ४ इधर-उधर ५ बुरी तरह खुदाई ६ डरे हुए।

यस्येयं वसुधा कृत्स्ना वासुदेवस्य धीमतः।
महिषी माधवस्यैषा स एव भगवान् प्रभुः॥ २॥

कापिलं रूपमास्थाय धारयत्यनिशं धराम्।
तस्य कोपाग्निना दग्धा भविष्यन्ति नृपात्मजाः॥ ३॥

पृथिव्याश्चापि निर्भेदो दृष्ट एव सनातनः।
सगरस्य च पुत्राणां विनाशो दीर्घदर्शिनाम्॥ ४॥

पितामहवचः श्रुत्वा त्रयस्त्रिंशदरिंदमाः।
देवाः परमसंहृष्टाः पुनर्जग्मुर्यथागतम्॥ ५॥

सगरस्य च पुत्राणां प्रादुरासीन्महास्वनः।
पृथिव्यां भिद्यमानायां निर्घातसमनिःस्वनः॥ ६॥

ततो भित्त्वा महीं सर्वां कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
सहिताः सागराः सर्वे पितरं वाक्यमब्रुवन्॥ ७॥

परिक्रान्ता मही सर्वा सत्त्ववन्तश्च सूदिताः।
देवदानवरक्षांसि पिशाचोरगपन्नगाः॥ ८॥

न च पश्यामहेऽश्वं ते अश्वहर्तारमेव च।
किं करिष्याम भद्रं ते बुद्धिरत्र विचार्यताम्॥ ९॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा पुत्राणां राजसत्तमः।
समन्युरब्रवीद् वाक्यं सगरो रघुनन्दनः॥ १०॥

भूयः खनत भद्रं वो विभेद्य वसुधातलम्।
अश्वहर्तारमासाद्य कृतार्थाश्च निवर्तत॥ ११॥

पितुर्वचनमासाद्य सगरस्य महात्मनः।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि रसातलमभिद्रवन्॥ १२॥

खन्यमाने ततस्तस्मिन् ददृशुः पर्वतोपमम्।
दिशागजं विरूपाक्षं धारयन्तं महीतलम्॥ १३॥

सपर्वतवनां कृत्स्नां पृथिवीं रघुनन्दन।
धारयामास शिरसा विरूपाक्षो महागजः॥ १४॥

यदा पर्वणि काकुत्स्थ विश्रमार्थं महागजः।
खेदाच्चालयते शीर्षं भूमिकम्पस्तदा भवेत्॥ १५॥

ते तं प्रदक्षिणं कृत्वा दिशापालं महागजम्।
मानयन्तो हि ते राम जग्मुर्भित्त्वा रसातलम्॥ १६॥

ततः पूर्वां दिशं भित्त्वा दक्षिणां बिभिदुः पुनः।
दक्षिणस्यामपि दिशि ददृशुस्ते महागजम्॥ १७॥

जिन श्रीमत् श्रीवासुदेव की प्रिय सुवस्तु है वसुधा सारी।
तथा प्रिया रानी है जिनकी वे श्री माधव हो अविकारी ॥ २ ॥
कपिल-रूप में इस पृथ्वी को धारण करते हैं रात्रि-दिवस।
देवो! होगे सभी सगर-सुत भस्म उन्हीं के शीघ्र कोप-वश ॥ ३ ॥
खनन धरातल का होना तो कार्य, सुरो! है परम सनातन।
देख चुके हैं दूरदर्शि जन[1] सगर-सुतों का नाश पुरातन ॥ ४ ॥
वचन पितामह के सुन करके शत्रुदमन तेंतीस देव तब।
सुप्रसन्न हो करके मन में निज-निज स्थल को गये शीघ्र सब ॥ ५ ॥
सगर-सुतों द्वारा होता था खनन[2] धरा का जिस अवसर पर।
वज्रपात के सदृश उस समय होता था अतिशय भीषण स्वर ॥ ६ ॥
सकल धरा का खनन तथा फिर परिक्रमा उसकी ये सब कर।
अश्वान्वेषण में असफल हो बोले पिता सगर से आकर ॥ ७ ॥
कण-कण छान चुके पृथ्वी का तथा किया सर्वथा खनन है।
नाग, पिशाच, देवता, राक्षस, असुरों का भी किया हनन है ॥ ८ ॥
फिर भी अश्व न मिल पाया औ मिला न कहीं अश्व का हर्ता[3]।
अब, अग्रिम कर्तव्य कार्य के पितर्! आप हैं निर्णयकर्ता ॥ ९ ॥
रघुनन्दन! अपने पुत्रों के सुनकर वचन सगर वे अनुचित।
तदनन्तर बोले उन सबसे वे भूपतिवर होकर प्रकुपित ॥ १० ॥
जाओ जाकर खनन करो फिर से इस पृथ्वी का पुत्रो! सब।
अब तब हो आना! मिल जाए अश्व, अश्व का चोर तुम्हें जब ॥ ११ ॥
शिरोधार्य कर पिता महात्मा की आज्ञा को वे सब सत्वर।
बढ़े रसातल-ओर, धरा का करने लगे खनन तब जाकर ॥ १२ ॥
देखा शैलाकार उन्होंने दिग्गज एक खनन के अवसर।
'विरूपाक्ष' नामक दिग्गज ही यह था अति विरूप धरणी-धर ॥ १३ ॥
रघुनन्दन! पर्वतों, वनों सँग, सकल धरणि को वही गजेश्वर।
विरूपाक्ष धारण करते थे यत्नपूर्वक निज मस्तक पर ॥ १४ ॥
इधर-उधर अपना मस्तक जब वे करते थे कभी विभ्रमित[4]।
तब काकुत्स्थ! धरित्री भी यह होती थी उस समय प्रकम्पित[5] ॥ १५ ॥
राम! पूर्व के रक्षक दिग्गज विरूपाक्ष की परिक्रमा कर।
वे सब करने लगे खनन फिर इस पृथ्वी का आगे बढ़कर ॥ १६ ॥
तत्पश्चात् भूमि के दक्षिण करने लगे खनन सब सगरज[6]।
तब देखा उन सबने फिर से एक दूसरा दक्षिण दिग्गज ॥ १७ ॥

---

१ भविष्यज्ञाता २ खुदाई ३ हरण करनेवाला ४ घुमाते; ५ कम्पायमान। ६ सगर के सकल पुत्र।

महापद्मं महात्मानं सुमहत्पर्वतोपमम् ।
शिरसा धारयन्तं गां विस्मयं जग्मुरुत्तमम् ॥ १८ ॥
ते तं प्रदक्षिणं कृत्वा सगरस्य महात्मनः ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि पश्चिमां बिभिदुर्दिशम् ॥ १९ ॥
पश्चिमायामपि दिशि महान्तमचलोपमम् ।
दिशागजं सौमनसं ददृशुस्ते महाबलाः ॥ २० ॥
ते तं प्रदक्षिणं कृत्वा पृष्ट्वा चापि निरामयम् ।
खनन्तः समुपाक्रान्ता दिशं सोमवतीं तदा ॥ २१ ॥
उत्तरस्यां रघुश्रेष्ठ ददृशुर्हिमपाण्डुरम् ।
भद्रं भद्रेण वपुषा धारयन्तं महीमिमाम् ॥ २२ ॥
समालभ्य ततः सर्वे कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम् ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि बिभिदुर्वसुधातलम् ॥ २३ ॥
ततः प्रागुत्तरां गत्वा सागराः प्रथितां दिशम् ।
रोषादभ्यखनन् सर्वे पृथिवीं सगरात्मजाः ॥ २४ ॥
ते तु सर्वे महात्मानो भीमवेगा महाबलाः ।
ददृशुः कपिलं तत्र वासुदेवं सनातनम् ॥ २५ ॥
हयं च तस्य देवस्य चरन्तमविदूरतः ।
प्रहर्षमतुलं प्राप्ताः सर्वे ते रघुनन्दन ॥ २६ ॥
ते तं यज्ञहनं ज्ञात्वा क्रोधपर्याकुलेक्षणाः ।
खनित्रलाङ्गलधरा नानावृक्षशिलाधराः ॥ २७ ॥
अभ्यधावन्त संक्रुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रुवन् ।
अस्माकं त्वं हि तुरगं यज्ञियं हृतवानसि ॥ २८ ॥
दुर्मेधस्त्वं हि सम्प्राप्तान् विद्धि नः सगरात्मजान् ।
श्रुत्वा तद् वचनं तेषां कपिलो रघुनन्दन ॥ २९ ॥
रोषेण महताविष्टो हुङ्कारमकरोत् तदा ।
ततस्तेनाप्रमेयेण कपिलेन महात्मना ।
भस्मराशीकृताः सर्वे काकुत्स्थ सगरात्मजाः ॥ ३० ॥
॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

महापद्म नामक थे वे गज शल-काय[1] थे उन्नत अतिशय।
वे भी धरणि किये थे धारण, राजसुतों को अति ही विस्मय ! ॥ १८ ॥
उसकी भी फिर परिक्रमा को और सभी ने किया नमन तब।
तदनन्तर पश्चिमा धरणि का करने लगे खनन वे सुत सब ॥ १९ ॥
महाबली उन सगर-सुतों को मिला वहाँ भी दिग्गज उत्तम।
था शुभ नाम सौमनस उसका, था शरीर उसका भी गिरि-सम ॥ २० ॥
उसकी भी फिर परिक्रमा कर पूछा शुभ मंगल समाचार।
और खोदने लगे दिशा उत्तर में भूपति के वे कुमार ॥ २१ ॥
रघुमणि ! उत्तर में भी इनको दिग्गज मिला सु-श्वेतभद्र फिर।
थी जिसकी कल्याणी काया पर यह महाधरित्री सुस्थिर[2] ॥ २२ ॥
साठ सहस्र सगर-पुत्रों ने परिक्रमा की उसकी सत्वर।
और कुशल-वृत्तान्त पूछकर फिर से हुए खनन में तत्पर ॥ २३ ॥
होकर क्रुद्ध तभी वे नृप-सुत पूर्वोत्तरा दिशा में जाकर।
करने लगे खनन पृथ्वी का एक साथ सामर्थ्य बढ़ाकर ॥ २४ ॥
बली, भयानक, वेगशालि इन राज-सुतों को इस अवसर पर।
देख पड़े श्री कपिल-रूप में वासुदेव भगवान सुरेश्वर ॥ २५ ॥
कपिलदेव के पास यज्ञ का अश्व कर रहा था तब विचरण।
हे रघुनन्दन ! उसे देखकर हर्षित हुए तभी वे उस क्षण ॥ २६ ॥
वे क्रोधारुण-नयन[3] हो गये यज्ञ-विघ्नकर उन्हें जानकर।
खंती, हल, तरु उनके हाथों में थे कतिपय खण्डित पत्थर ॥ २७ ॥
वे दौड़े अत्यन्त क्रोध से कहा कपिल से, रुको यहाँ पर !।
हम सबके इस यज्ञ-अश्व को तुम हो लाये यहाँ चुराकर ! ॥ २८ ॥
सगर-पुत्र हम सभी आ गये, हे दुर्बुद्धे ! यज्ञ-विघ्नकर !।
क्रोधित हुए कपिल मुनि उनकी इस प्रकार से वार्ता सुनकर ॥ २९ ॥
अमित प्रभावि मुनीश्वर मुख से हुंकृति निकली तभी विलक्षण।
और उसी हुंकृति द्वारा ही सगर-सुतों को वहीं उसी क्षण ॥
मंगल हो काकुत्स्थ ! तुम्हारा किया भस्म में ऋषि ने परिणत[4]।
(तभी देव, गन्धर्व आदि सब हुए कपिल के प्रति अतिशय नत) ॥ ३० ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में चालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४० ॥

---

1 पर्वत-सम शरीर वाले २ टिकी हुई ३ क्रोध से लाल नेत्रों वाले ४ बदलना।

एकचत्वारिंशः सर्गः

पुत्रांश्चिरगताञ्ज्ञात्वा सगरो रघुनन्दन।
नप्तारमब्रवीद् राजा दीप्यमानं स्वतेजसा॥ १॥
शूरश्च कृतविद्यश्च पूर्वैस्तुल्योऽसि तेजसा।
पितॄणां गतिमन्विच्छ येन चाश्वोपवाहितः॥ २॥
अन्तर्भौमानि सत्त्वानि वीर्यवन्ति महान्ति च।
तेषां तु प्रतिघातार्थं सासिं गृह्णीष्व कार्मुकम्॥ ३॥
अभिवाद्याभिवाद्यांस्त्वं हत्वा विघ्नकरानपि।
सिद्धार्थः संनिवर्तस्व मम यज्ञस्य पारगः॥ ४॥
एवमुक्तोंऽशुमान् सम्यक् सगरेण महात्मना।
धनुरादाय खड्गं च जगाम लघुविक्रमः॥ ५॥
स खातं पितृभिर्मार्गमन्तर्भौमं महात्मभिः।
प्रापद्यत नरश्रेष्ठ तेन राज्ञाभिचोदितः॥ ६॥
देवदानवरक्षोभिः पिशाचपतगोरगैः।
पूज्यमानं महातेजा दिशागजमपश्यत॥ ७॥
स तं प्रदक्षिणं कृत्वा पृष्ट्वा चैव निरामयम्।
पितॄन् स परिपप्रच्छ वाजिहर्तारमेव च॥ ८॥
दिशागजस्तु तच्छ्रुत्वा प्रत्युवाच महामतिः।
आसमञ्ज कृतार्थस्त्वं सहाश्वः शीघ्रमेष्यसि॥ ९॥
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सर्वानेव दिशागजान्।
यथाक्रमं यथान्यायं प्रष्टुं समुपचक्रमे॥ १०॥
तैश्च सर्वैर्दिशापालैर्वाक्यज्ञैर्वाक्यकोविदैः।
पूजितः सहयश्चैवागन्तासीत्यभिचोदितः॥ ११॥
तेषां तद् वचनं श्रुत्वा जगाम लघुविक्रमः।
भस्मराशीकृता यत्र पितरस्तस्य सागराः॥ १२॥
स दुःखवशमापन्नस्त्वसमञ्जसुतस्तदा।
चुक्रोश परमार्तस्तु वधात् तेषां सुदुःखितः॥ १३॥
यज्ञियं च हयं तत्र चरन्तमविदूरतः।
ददर्श पुरुषव्याघ्रो दुःखशोकसमन्वितः॥ १४॥
स तेषां राजपुत्राणां कर्तुकामो जलक्रियाम्।
स जलार्थी महातेजा न चापश्यज्जलाशयम्॥ १५॥

इकतालीसवाँ सर्ग

सगर की आज्ञा से अंशुमान् का रसातल में जाकर घोड़े को ले आना और अपने चाचाओं के निधन का समाचार सुनाना

श्री रघुनन्दन! 'निज पुत्रों को, वहुत दिनों से गये' याद कर।
बोले सगर परम तेजस्वी अंशुमान हे पौत्र वीरवर!॥ १ ॥
वत्स! वीर, विद्वान्, शूर हो तेजस्वी कुल-सदृश आचरण।
अश्व-चौर के अन्वेषण[1] में चाचाओं का करो! अनुसरण[2]॥ २ ॥
पृथ्वीतल में बहुत अधिक हैं बली वीर रहते, इस कारण।
उन सबसे संघर्ष-हेतु तुम! करो खड्ग-धनु को अब धारण॥ ३ ॥
वन्दनीय का वन्दन करना विघ्नकारियों का तथा हनन।
यज्ञ-पूर्ति-हित अश्व-सहित हो वीर! तुम्हारा यहाँ आगमन॥ ४ ॥
सगर-वचन सुन अंशुमान वे परमविक्रमी अति उदार वर।
अति द्रुत गति से चले खड्ग औ अपने धनुष-बाण धारण कर॥ ५ ॥
पृथ्वीतल में चाचाओं ने जो कर दिया मार्ग था निर्मित।
चले उसी पर अंशुमान वे सगर नृपति से होकर प्रेरित॥ ६ ॥
अति तेजस्वी अंशुमान ने वहाँ किये दिग्गज के दर्शन।
करते थे सुर, नाग, निशाचर, खग, पिशाच सब जिसका पूजन॥ ७ ॥
अंशुमान ने परिक्रमा कर पूछा कुशल-वृत्त उससे तब।
प्रश्न किया, वह अश्व-चौर है कहाँ? कहाँ हैं चाचा वे सब?॥ ८ ॥
सुनकर प्रश्न सुधी[3] दिग्गज ने दिया शीघ्र ही तब फिर उत्तर।
कार्य सिद्ध कर, तुम आओगे अश्व-सहित अब वीर! लौटकर॥ ९ ॥
अंशुमान वे ऐसा समुचित इस दिग्गज से उत्तर सुनकर।
लगे पूछने अन्य दिग्गजों से भी क्रमशः तभी वीरवर॥ १० ॥
वाक्य-मर्मविद् सभी दिग्गजों ने उनका सत्कार किया तब।
और कामना यही प्रकट की, अश्व-सहित लौटोगे तुम अव॥ ११ ॥
पाकर आशीर्वाद चल पड़े अंशुमान गति अधिक वढ़ाकर।
भस्म हुए थे जहाँ सगर-सुत उसी स्थान पर पहुँचे जाकर॥ १२ ॥
अंशुमान असमञ्ज-सुवन वे उनके दुख से हुए दुखितमन।
और वहाँ अत्यन्त आर्त हो करने लगे बहुत ही क्रन्दन॥ १३ ॥
दुःख, शोक-युत अंशुमान थे पुरुषसिंह वे उस अवसर पर।
तभी शीघ्र देखा निज मख[4] का वहीं अश्व भी रहा है विचर॥ १४ ॥
चाचाओं को जल की अञ्जलि देने की इच्छा कर अतिशय।
जल के इच्छुक हुए वीर वे किन्तु वहाँ था नहीं जलाशय॥ १५ ॥

---

१ खोज; २ पीछा, उनके ही अनुसार; ३ उत्तम बुद्धि वाले; ४ यज्ञ।

विसार्य निपुणां दृष्टिं ततोऽपश्यत् खगाधिपम्।
पितृणां मातुलं राम सुपर्णमनिलोपमम् ॥ १६ ॥
स चैनमब्रवीद् वाक्यं वैनतेयो महाबलः।
मा शुचः पुरुषव्याघ्र वधोऽयं लोकसम्मतः ॥ १७ ॥
कपिलेनाप्रमेयेण दग्धा हीमे महाबलाः।
सलिलं नार्हसि प्राज्ञ दातुमेषां हि लौकिकम् ॥ १८ ॥
गङ्गा हिमवतो ज्येष्ठा दुहिता पुरुषर्षभ।
तस्यां कुरु महाबाहो पितृणां सलिलक्रियाम् ॥ १९ ॥
भस्मराशीकृतानेतान् प्लावयेल्लोकपावनी।
तया क्लिन्नमिदं भस्म गङ्गया लोककान्तया।
षष्टिं पुत्रसहस्राणि स्वर्गलोकं गमिष्यति ॥ २० ॥
निर्गच्छाश्वं महाभाग संगृह्य पुरुषर्षभ।
यज्ञं पैतामहं वीर निर्वर्तयितुमर्हसि ॥ २१ ॥
सुपर्णवचनं श्रुत्वा सोंऽशुमानतिवीर्यवान्।
त्वरितं हयमादाय पुनरायान्महातपाः ॥ २२ ॥
ततो राजानमासाद्य दीक्षितं रघुनन्दन।
न्यवेदयद् यथावृत्तं सुपर्णवचनं तथा ॥ २३ ॥
तच्छ्रुत्वा घोरसंकाशं वाक्यमंशुमतो नृपः।
यज्ञं निर्वर्तयामास यथाकल्पं यथाविधि ॥ २४ ॥
स्वपुरं त्वगमच्छ्रीमानिष्टयज्ञो महीपतिः।
गङ्गायाश्चागमे राजा निश्चयं नाध्यगच्छत ॥ २५ ॥
अगत्वा निश्चयं राजा कालेन महता महान्।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि राज्यं कृत्वा दिवं गतः ॥ २६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

कालधर्मं गते राम सगरे प्रकृतीजनाः।
राजानं रोचयामासुरंशुमन्तं सुधार्मिकम् ॥ १ ॥

राम ! दूर की सभी वस्तुओं के दर्शक ने दृष्टि तीव्र कर।
देखा, चाचाओं के मातुल[1] विचर रहे हैं गरुड़ वहीं पर॥ १६ ॥
महाबली विनतानन्दन ने अंशुमान से कहा, वीरवर!।
पुरुषसिंह ! मत करो दुखी मन इनका वध है जगत्-श्रेय-कर॥ १७ ॥
विद्वन् ! दग्ध हुए हैं ये सब उत्तम कपिल महात्मा द्वारा।
अतः इन्हें लौकिक जल देना होगा व्यर्थ प्रयास तुम्हारा॥ १८ ॥
पुरुषसिंह ! हिमगिरि की ज्येष्ठा पुत्री हैं श्री गंगा निर्मल।
इन सबके तर्पण में होगा समुचित उनका ही उत्तम जल॥ १९ ॥
लोकपावनी गंगा से जब होगी भस्म-राशि आप्लावित।
होंगे इनके पाप नष्ट तब होगा सिद्ध तुम्हारा वाञ्छित॥
साठ सहस्र सगर के सुत सब स्वर्गलोक सीधे जायेंगे।
(वीर ! तुम्हारे यश के गायन बहुत समय तक जन गायेंगे)॥ २० ॥
लेकर यज्ञ-अश्व को पहले, वीर ! पितामह तक तुम जाओ।
और वहाँ पर जाकर उनका यज्ञ शीघ्र सम्पन्न कराओ॥ २१ ॥
विक्रमशाली पक्षिराज की अंशुमान यह वार्ता सुनकर।
आये पास पितामह के तब अश्व-सहित वे यज्ञस्थल पर॥ २२ ॥
यज्ञ-सुदीक्षित भूप सगर से किया सभी विज्ञप्ति-निवेदन[2]।
और गरुड़ की बात बताकर प्रकट किया अपना संवेदन॥ २३ ॥
अंशुमान के मुख से ऐसी भयवर्द्धक वार्ताएँ सुनकर।
किया यज्ञ कल्पोक्त विधा[3] से नृपति सगर ने उस अवसर पर॥ २४ ॥
करके यज्ञ समाप्त सगर फिर आये अपने राज-भवन में।
किन्तु न गंगा जी को लाने की विधि जान सके कुछ मन में॥ २५ ॥
बहुत समय चिन्तन करके भी सगर न आये कुछ निश्चय पर।
तीस सहस्र वर्ष शासन के बाद गये वे स्वर्ग भूप-वर॥ २६ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४१ ॥

बयालीसवाँ सर्ग

अंशुमान् और भगीरथ की तपस्या, ब्रह्माजी का भगीरथ को अभीष्ट वर देकर गंगाजी को धारण करने के लिए भगवान शंकर को राजी करने के निमित्त प्रयत्न करने की सलाह देना

राम ! सगर के बाद धर्म-रत अंशुमान को समझ यथोचित।
प्रजाजनों ने उन्हें नृपति-पद देने को निज रुचि की प्रकटित॥ १ ॥

---

१ मामा; २ जानने योग्य समाचार; ३ शास्त्र-विधि।

स राजा सुमहानासीदंशुमान् रघुनन्दन।
तस्य पुत्रो महानासीद् दिलीप इति विश्रुतः ॥ २ ॥
तस्मै राज्यं समादिश्य दिलीपे रघुनन्दन।
हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे सुदारुणम् ॥ ३ ॥
द्वात्रिंशच्छतसाहस्रं वर्षाणि सुमहायशाः।
तपोवनगतो राजा स्वर्गं लेभे तपोधनः ॥ ४ ॥
दिलीपस्तु महातेजाः श्रुत्वा पैतामहं वधम्।
दुःखोपहतया बुद्ध्या निश्चयं नाध्यगच्छत ॥ ५ ॥
कथं गङ्गावतरणं कथं तेषां जलक्रिया।
तारयेयं कथं चैतानिति चिन्तापरोऽभवत् ॥ ६ ॥
तस्य चिन्तयतो नित्यं धर्मेण विदितात्मनः।
पुत्रो भगीरथो नाम जज्ञे परमधार्मिकः ॥ ७ ॥
दिलीपस्तु महातेजा यज्ञैर्बहुभिरिष्टवान्।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि राजा राज्यमकारयत् ॥ ८ ॥
अगत्वा निश्चयं राजा तेषामुद्धरणं प्रति।
व्याधिना नरशार्दूल कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ९ ॥
इन्द्रलोकं गतो राजा स्वार्जितेनैव कर्मणा।
राज्ये भगीरथं पुत्रमभिषिच्य नरर्षभः ॥ १० ॥
भगीरथस्तु राजर्षिर्धार्मिको रघुनन्दन।
अनपत्यो महाराजः प्रजाकामः स च प्रजाः ॥ ११ ॥
मन्त्रिष्वाधाय तद् राज्यं गङ्गावतरणे रतः।
तपो दीर्घं समातिष्ठद् गोकर्णे रघुनन्दन ॥ १२ ॥
ऊर्ध्वबाहुः पञ्चतपा मासाहारो जितेन्द्रियः।
तस्य वर्षसहस्राणि घोरे तपसि तिष्ठतः ॥ १३ ॥
अतीतानि महाबाहो तस्य राज्ञो महात्मनः।
सुप्रीतो भगवान् ब्रह्मा प्रजानां प्रभुरीश्वरः ॥ १४ ॥
ततः सुरगणैः सार्धमुपागम्य पितामहः।
भगीरथं महात्मानं तप्यमानमथाब्रवीत् ॥ १५ ॥
भगीरथ महाराज प्रीतस्तेऽहं जनाधिप।
तपसा च सुतप्तेन वरं वरय सुव्रत ॥ १६ ॥
तमुवाच महातेजाः सर्वलोकपितामहम्।
भगीरथो महाबाहुः कृताञ्जलिपुटः स्थितः ॥ १७ ॥

रघुनन्दन ! वे अंशुमान थे महाप्रतापी राजा अद्भुत ।
और उन्हीं के महापुरुष थे श्री दिलीप नाम सुत विश्रुत[1] ॥ २ ॥
रघुकुलनन्दन ! अंशुमान वे उन दिलीप को भूप बनाकर ।
करने लगे तपस्या हिमगिरि के सर्वोच्च शिखर पर जाकर ॥ ३ ॥
किया वर्ष बत्तीस सहस तक महायशस्वी ने तप उत्तम ।
तपोधनी वे गये, तपोवन से फिर स्वर्गलोक नृप सत्तम ॥ ४ ॥
पितामहों का निधन जान कर दुखी दिलीप हुए अति मन में ।
उनको निर्णय मिल न सका कुछ अपने अति बौद्धिक चिन्तन में ॥ ५ ॥
किस प्रकार हो गंगावतरण ? कैसे जल-अञ्जलि दी जाये ? ।
कैसे हो उद्धार पितामह के समूह का समझ न पाये ॥ ६ ॥
ख्यात-धार्मिक[2] नृप दिलीप की नित चिन्तित रहती थी आत्मा ।
यथासमय में प्राप्त हुआ सुत उन्हें भगीरथ अति धर्मात्मा ॥ ७ ॥
अतितेजस्वी नृप दिलीप वे करके बहुत यज्ञ पृथ्वी पर ।
तीस सहस्र दिव्य वर्षों तक रहे प्रजा-पालन में तत्पर ॥ ८ ॥
पुरुषसिंह वे निज पितरों के थे उद्धार-विषय में चिन्तित ।
इससे उनकी रोगी काया पंचतत्त्व को हुई समर्पित ॥ ९ ॥
राज्यासन पर पुत्र भगीरथ का दिलीप करके अभिषेचन[3] ।
अपनी पुण्यों के प्रभाव से गये अन्त मे इन्द्र-निकेतन ॥ १० ॥
रघुनन्दन ! राजर्षि, धार्मिक रहे भगीरथ, सुत से वञ्चित ।
अतः पुत्र पाने की इच्छा से रहते थे प्रायः चिन्तित ॥
फिर भी गंगा को पृथ्वी पर लाने की वे इच्छा लेकर ।
करने तप गोकर्ण तीर्थ में गये; राज्य सचिवों को देकर ॥११-१२॥
ऊर्ध्वबाहु वे पञ्चअग्नि का सेवन करते रहे जितेन्द्रिय ।
भोजन उन्हें, महाबाहो ! था एक मास में एक दिवस प्रिय ॥
बीते वर्ष सहस्र महात्मा, व्रती भगीरथ के इस विधि जब ।
हुए प्रसन्न प्रजा के स्वामी ब्रह्माजी उन पर अतिशय तब ॥
देवों के सँग वहाँ पितामह का तदनन्तर हुआ आगमन ।
बोले वे तप-मग्न महात्मा प्रवर भगीरथ से यह सुवचन ॥१३-१५॥
उत्तम तप से सुप्रसन्न हूँ अतिशय भूप भगीरथ ! तुम पर ।
माँगो अतः जनाधिप ! सुव्रत महाराज ! मुझसे इच्छित वर ॥ १६ ॥
तब तेजस्वी महाबाहु वे भूप भगीरथ हाथ जोड़कर ।
बोले, लोकपितामह से तब उनके सम्मुख उत्थित[4] होकर ॥ १७ ॥

---

१ चारों ओर प्रसिद्ध; २ प्रसिद्ध धर्मवान्; ३ अभिषेक; ४ उठकर ।

यदि मे भगवान् प्रीतो यद्यस्ति तपसः फलम् ।
सगरस्यात्मजाः सर्वे मत्तः सलिलमाप्नुयुः ॥ १८ ॥

गङ्गायाः सलिलक्लिन्ने भस्मन्येषां महात्मनाम् ।
स्वर्गं गच्छेयुरत्यन्तं सर्वे च प्रपितामहाः ॥ १९ ॥

देव याचे ह संतत्यै नावसीदेत् कुलं च नः ।
इक्ष्वाकूणां कुले देव एष मेऽस्तु वरः परः ॥ २० ॥

उक्तवाक्यं तु राजानं सर्वलोकपितामहः ।
प्रत्युवाच शुभां वाणीं मधुरां मधुराक्षराम् ॥ २१ ॥

मनोरथो महानेष भगीरथ महारथ ।
एवं भवतु भद्रं ते इक्ष्वाकुकुलवर्धन ॥ २२ ॥

इयं हैमवती ज्येष्ठा गङ्गा हिमवतः सुता ।
तां वै धारयितुं राजन् हरस्तत्र नियुज्यताम् ॥ २३ ॥

गङ्गायाः पतनं राजन् पृथिवी न सहिष्यते ।
तां वै धारयितुं राजन् नान्यं पश्यामि शूलिनः ॥ २४ ॥

तमेवमुक्त्वा राजानं गङ्गां चाभाष्य लोककृत् ।
जगाम त्रिदिवं देवैः सर्वैः सह मरुद्गणैः ॥ २५ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

देवदेवे गते तस्मिन् सोऽङ्गुष्ठाग्रनिपीडिताम् ।
कृत्वा वसुमतीं राम वत्सरं समुपासत ॥ १ ॥

अथ संवत्सरे पूर्णे सर्वलोकनमस्कृतः ।
उमापतिः पशुपती राजानमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

प्रीतस्तेऽहं नरश्रेष्ठ करिष्यामि तव प्रियम् ।
शिरसा धारयिष्यामि शैलराजसुतामहम् ॥ ३ ॥

ततो हैमवती ज्येष्ठा सर्वलोकनमस्कृता ।
तदा सातिमहद्रूपं कृत्वा वेगं च दुःसहम् ॥ ४ ॥

आकाशादपतद् राम शिवे शिवशिरस्युत ।
अचिन्तयच्च सा देवी गङ्गा परमदुर्धरा ॥ ५ ॥

मुझ पर यदि भगवन्! प्रसन्न हो आप दे रहे हैं तप का फल।
तो पायें मेरे हाथों से भूप सगर के सभी पुत्र जल॥ १८ ॥
भस्म महात्मा पितामहों की गंगाजल से होवे सिञ्चित।
जिससे अक्षय स्वर्गलोक-सुख पाने से न रहें वे वञ्चित॥ १९ ॥
कुल की परम्परा चलने को पुत्रेच्छा है देव! हमारी।
हो इक्ष्वाकु-वंश का प्रति जन इस याचित वर का अधिकारी॥ २० ॥
भूप भगीरथ के श्रीमुख से समुचित वर की बात सुनी जब।
मधुराक्षरा परम कल्याणी वाणी में बोले ब्रह्मा तब॥ २१ ॥
है इक्ष्वाकु-वंश का वर्धक, भूप! तुम्हारा यह वाञ्छित वर।
हो कल्याण तुम्हारा! कहते जैसा, तुम वैसा हो सत्वर॥ २२ ॥
हिमगिरि की हैं ज्येष्ठ सुता वे हैमवती गंगा इस कारण।
श्री शंकर से करो प्रार्थना! उनको करें कृपा कर धारण॥ २३ ॥
गंगा-धारा-वेग-सहन में सहसा सक्षम धरणि नहीं है।
इसके लिए शम्भु को तजकर अन्य न कोई शक्ति कहीं है॥ २४ ॥
गंगा जी से कहा विधाता ने, भूपति पर करो! अनुग्रह।
तदनन्तर वे गये स्वर्ग को फिर सब देवों-मरुद्गणों-सह॥ २५ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
बयालीसवाँ सर्ग समाप्त॥ ४२ ॥

तेंतालीसवाँ सर्ग

भगीरथ की तपस्या से संतुष्ट हुए भगवान् शङ्कर का गंगा को अपने सिर पर धारण करके बिन्दुसरोवर में छोड़ना और उनका सात धाराओं में विभक्त हो भगीरथ के साथ जाकर उनके पितरों का उद्धार करना

राम! पदांगुष्ठाग्र[1] भाग से होकर खड़े भगीरथ ने तब।
एक वर्ष की शिवोपासना, विधि वर देकर चले गये जब॥ १ ॥
करते हुए तपस्या, बीता भूप भगीरथ का सम्वत्सर।
तब उनसे प्रसन्न हो, बोले पशुपति गिरिजापति शिवशंकर॥ २ ॥
नरश्रेष्ठ! प्रिय कार्य तुम्हारा होगा, मैं प्रसन्न हूँ अतिशय।
शैल-सुता गंगा को मस्तक पर धारण कर लूँगा निश्चय॥ ३ ॥
ज्येष्ठा पुत्री लोक-वन्दिता हैमवती गंगा तदनन्तर।
दुःसह परम वेगमय अपना महा-महा विस्तृत स्वरूप कर॥ ४ ॥
अम्बर[2] से आई मंगलमय श्री शिवजी के शुभ मस्तक पर।
परम दुर्धरा देवी गंगा अपने मन में यह विचार कर॥ ५ ॥

---

1 पैर के अंगूठे का अगला भाग; 2 आकाश।

विशाम्यहं हि पातालं स्रोतसा गृह्य शंकरम् ।
तस्यावलेपनं ज्ञात्वा क्रुद्धस्तु भगवान् हरः ॥ ६ ॥
तिरोभावयितुं बुद्धिं चक्रे त्रिनयनस्तदा ।
सा तस्मिन् पतिता पुण्या पुण्ये रुद्रस्य मूर्धनि ॥ ७ ॥
हिमवत्प्रतिमे राम जटामण्डलगह्वरे ।
सा कथंचिन्महीं गन्तुं नाशक्नोद् यत्नमास्थिता ॥ ८ ॥
नैव सा निर्गमं लेभे जटामण्डलमन्ततः ।
तत्रैवाबम्भ्रमद् देवी संवत्सरगणान् बहून् ॥ ९ ॥
तामपश्यत् पुनस्तत्र तपः परममास्थितः ।
स तेन तोषितश्चासीदत्यन्तं रघुनन्दन ॥ १० ॥
विससर्ज ततो गङ्गां हरो बिन्दुसरः प्रति ।
तस्यां विसृज्यमानायां सप्त स्रोतांसि जज्ञिरे ॥ ११ ॥
ह्लादिनी पावनी चैव नलिनी च तथैव च ।
तिस्रः प्राचीं दिशं जग्मुर्गङ्गाः शिवजलाः शुभाः ॥ १२ ॥
सुचक्षुश्चैव सीता च सिन्धुश्चैव महानदी ।
तिस्रश्चैता दिशं जग्मुः प्रतीचीं तु दिशं शुभा ॥ १३ ॥
सप्तमी चान्वगात् तासां भगीरथरथं तदा ।
भगीरथोऽपि राजर्षिर्दिव्यं स्यन्दनमास्थितः ॥ १४ ॥
प्रायादग्रे महातेजा गङ्गा तं चाप्यनुव्रजत् ।
गगनाच्छंकरशिरस्ततो धरणिमागता ॥ १५ ॥
असर्पत जलं तत्र तीव्रशब्दपुरस्कृतम् ।
मत्स्यकच्छपसङ्घैश्च शिशुमारगणैस्तथा ॥ १६ ॥
पतद्भिः पतितैश्चैव व्यरोचत वसुंधरा ।
ततो देवर्षिगन्धर्वा यक्षसिद्धगणास्तथा ॥ १७ ॥
व्यलोकयन्त ते तत्र गगनाद् गां गतां तदा ।
विमानैर्नगराकारैर्हयैर्गजवरैस्तदा ॥ १८ ॥
पारिप्लवगताश्चापि देवतास्तत्र विष्ठिताः ।
तदद्भुतमिमं लोके गङ्गावतरमुत्तमम् ॥ १९ ॥
दिदृक्षवो देवगणाः समीयुरमितौजसः ।
सम्पतद्भिः सुरगणैस्तेषां चाभरणौजसा ॥ २० ॥
शतादित्यमिवाभाति गगनं गततोयदम् ।
शिशुमारोरगगणैर्मीनैरपि च चञ्चलैः ॥ २१ ॥
विद्युद्भिरिव विक्षिप्तैराकाशमभवत् तदा ।
पाण्डुरैः सलिलोत्पीडैः कीर्यमाणैः सहस्रधा ॥ २२ ॥

पृथ्वीतल में अब प्रविष्ट मैं होऊँगी शंकर को लेकर।
इस प्रकार अभिमान जानकर क्रुद्ध हुए हर[1] महा महेश्वर ।। ६ ।।
और किया निश्चय, गंगा को कर दूँगा निश्चित अदृश्य अब।
पुण्या गंगा आई पावन रुद्रदेव के मस्तक पर तब ।। ७ ।।
राम! हिमालय जैसो, शिव की जटा-गुफा में गंगा आई।
करने पर भी यत्न असीमित वे न धरा ऊपर आ पाईं ।। ८ ।।
उलझ गईं शिवजटा-जाल-तट में ही पथ न उन्हें मिल पाया।
और वहीं पर परिभ्रमण कर बहु वर्षों का समय बिताया ।। ९ ।।
रघुनन्दन ! शिव-जटा-जूट में देखा गंगा हुई अदृश्या।
नृप ने तब संतुष्ट किया शिव को कर कठिना पुनः तपस्या ।। १० ।।
बिन्दु सरोवर में गंगा का हर ने किया तभी निस्सारण[2]।
तदनन्तर गंगा-धारा का हुआ सप्तधा फिर विस्तारण ।। ११ ।।
पहले, नलिनी और ह्लादिनी शुभा पावनी जो कहलाई।
धाराएँ वे तीन मंगला जल लेकर पूरब को धाई ।। १२ ।।
सीता और सुचक्षु, महानदि सिन्धु नाम से होकर अन्वित[3]।
पुनः तीन धाराएँ पश्चिम को गंगा की हुई प्रवाहित ।। १३ ।।
और भगीरथ-रथ के पीछे चली सातवीं गंगा-धारा।
थे राजर्षि भगीरथ जिस पर वह सुदिव्य था रथ अति न्यारा ।। १४ ।।
चलते हुए भगीरथ-रथ का गंगा जी ने किया अनुसरण।
इस प्रकार नभ से, शिव-मस्तक पर, फिर भू पर हुआ अवतरण ।। १५ ।।
कल-कल करती हुई वेग से चली दिव्य जब गंगा-धारा।
गिरने लगा— सूँस औ कच्छप, मत्स्य-व्यूह तब उसमें सारा ।। १६ ।।
वसुन्धरा की बढ़ी बहुत ही सुषमा जल-जीवों से उस क्षण।
तदनन्तर देवता, यक्ष, ऋषि और उच्चतम सभा सिद्धगण ।। १७ ।।
नगर-समान विमानों, अश्वों, गजराजों पर सभी बैठकर।
लगे देखने गंगा-सुषमा, आती थी जो नभ से भू पर ।। १८ ।।
सभी देवता वहाँ खड़े थे हो करके आश्चर्य से चकित।
अद्भुत उत्तम था जग में यह गंगा का अवतरण अपरिमित ।।
तेजस्वी देवता हुए थे सभी वहाँ पर ही एकत्रित।
सभी तीव्रगामी, प्रकाशमय दिव्य भूषणों से यों भूषित ।।
मेघ-हीन निर्मल नभ में हों मानों सूर्य सहस्रों समुदित।
मत्स्य, सूँस औ सर्प उछलते, चञ्चल दृश्य अलौकिक अतुलित ।।
मानों चञ्चल चपलाओं[4] से व्याप्त हो गया उच्च यह गगन।
फेन-खण्ड को विस्तृत करता था अम्बर[5] में तभी मधु पवन ।।

1 शंकर जी; 2 बाहर निकालना; 3 युक्त; 4 बिजलियों; 5 आकाश।

शारदाभ्रैरिवाकीर्णं गगनं हंससम्प्लवैः ।
क्वचिद् द्रुततरं याति कुटिलं क्वचिदायतम् ॥ २३ ॥
विनतं क्वचिदुद्भूतं क्वचिद् याति शनैः शनैः ।
सलिलेनैव सलिलं क्वचिदभ्याहतं पुनः ॥ २४ ॥
मुहुरूर्ध्वपथं गत्वा पपात वसुधां पुनः ।
तच्छंकरशिरोभ्रष्टं भ्रष्टं भूमितले पुनः ॥ २५ ॥
व्यरोचत तदा तोयं निर्मलं गतकल्मषम् ।
तत्रर्षिगणगन्धर्वा वसुधातलवासिनः ॥ २६ ॥
भवाङ्गपतितं तोयं पवित्रमिति पस्पृशुः ।
शापात् प्रपतिता ये च गगनाद् वसुधातलम् ॥ २७ ॥
कृत्वा तत्राभिषेकं ते बभूवुर्गतकल्मषाः ।
धूतपापाः पुनस्तेन तोयेनाथ शुभान्विताः ॥ २८ ॥
पुनराकाशमाविश्य स्वाँल्लोकान् प्रतिपेदिरे ।
मुमुदे मुदितो लोकस्तेन तोयेन भास्वता ॥ २९ ॥
कृताभिषेको गङ्गायां बभूव गतकल्मषः ।
भगीरथो हि राजर्षिर्दिव्यं स्यन्दनमास्थितः ॥ ३० ॥
प्रायादग्रे महाराजस्तं गङ्गा पृष्ठतोऽन्वगात् ।
देवाः सर्षिगणाः सर्वे दैत्यदानवराक्षसाः ॥ ३१ ॥
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिंनरमहोरगाः ।
सर्पाश्चाप्सरसो राम भगीरथरथानुगाः ॥ ३२ ॥
गङ्गामन्वगमन् प्रीताः सर्वे जलचराश्च ये ।
यतो भगीरथो राजा ततो गङ्गा यशस्विनी ॥ ३३ ॥
जगाम सरितां श्रेष्ठा सर्वपापप्रणाशिनी ।
ततो हि यजमानस्य जह्नोरद्भुतकर्मणः ॥ ३४ ॥
गङ्गा सम्प्लावयामास यज्ञवाटं महात्मनः ।
यस्यावलेपनं ज्ञात्वा क्रुद्धो जह्नुश्च राघव ॥ ३५ ॥
अपिबत् तु जलं सर्वं गङ्गायाः परमाद्भुतम् ।
ततो देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च सुविस्मिताः ॥ ३६ ॥
पूजयन्ति महात्मानं जह्नुं पुरुषसत्तमम् ।
गङ्गां चापि नयन्ति स्म दुहितृत्वे महात्मनः ॥ ३७ ॥
ततस्तुष्टो महातेजाः श्रोत्राभ्यामसृजत् प्रभुः ।
तस्माज्जह्नुसुता गङ्गा प्रोच्यते जाह्नवीति च ॥ ३८ ॥

मानों शरद-श्वेत जलधर हों या उड़ते हों हंस मनोहर।
तीव्रा, वक्र कहीं पर चौड़ी हो, बहती थी धारा सुन्दर।।
नीचे कभी, कभी ऊपर को, धीरे कभी, शीघ्र जाती थी।
कहीं-कहीं यह समतल भू पर निज जल से ही टकराती थी।।१६-२४।।
उठता ऊँचे पथ पर फिर यह गंगा-जल भू पर आ जाता।
गिरा गगन से, शिव-मस्तक पर होकर, था भू पर छा जाता।। २५ ।।
अति पवित्र गंगा-जल निर्मल लगता था भू पर अति सुन्दर।
तब भू के ऋषियो, गन्धर्वों ने निज मन में यही सोचकर।।
शंकर-मस्तक-जल पवित्र है करने लगे सहर्ष आचमन।
शाप-भ्रष्ट होने से जिनका हुआ गगन से भूमि-आगमन।।२६-२७।।
करके गंगा-स्नान, उस समय पाप-हीन हो गये शीघ्र तब।
और सभी पापों के धुलने से पुण्यों से युक्त हुए सब।। २८ ।।
और उन्होंने पाये अपने-अपने लोक गगन में इच्छित।
हुआ प्रकाशित गंगा-जल से जगत सदा के लिए प्रहर्षित।। २९ ।।
करके गंगा-स्नान मनुज सब पापों से हो गये विवर्जित[1]।
अतिशय दिव्य मनोरम रथ पर थे राजर्षि भगीरथ संस्थित।। ३० ।।
पीछे चलती थीं श्री गंगा, रथ था नृप का दिव्य अग्रसर।
राम ! उस समय देव, दैत्य, ऋषि, दानव और महत्तम निशिचर।।
सभी यक्ष, गन्धर्व, सुकिन्नर, बृहन्नाग, सर्वोच्च सिद्धगण।
और अप्सरा सुन्दरियाँ भी रथ का करने लगीं अनुसरण।।
गंगा-जल के साथ-साथ ही हर्षित हो चलते थे जलचर।
आगे-आगे भूप भगीरथ-रथ चलता था तभी जब जिधर।।
चलती थीं पापघ्नि[2], यशस्विनि सरिद्वरा अति शुभा तब उधर।
जह्नु विक्रमी महामना नृप अद्भुत पथ में रहे यज्ञ कर।।३१-३४।।
गंगा ने उनके मख-मण्डप को प्रवाह के साथ बहाया।
राघव ! गंगा-गर्व समझकर क्रोध जह्नु को अतिशय आया।। ३५ ।।
और पी गये गंगा-जल सब अद्भुत कार्य हुआ यह जग-हित।
तब समस्त गन्धर्व, देवता और ऋषीश्वर हुए अति चकित।। ३६ ।।
पुरुष-प्रवर ! तब संस्तुति[3] द्वारा सबने मिलकर उन्हें मनाया।
और महात्मा जह्नु नृपति की गंगा जी को सुता बनाया।। ३७ ।।
अतः जह्नु नृप ने गंगा को किया कर्ण-द्वारों से प्रकटित।
जह्नु-सुता गंगा का इनसे नाम जाह्नवी हुआ सुप्रचलित।। ३८ ।।

१ मुक्त; २ पापों को नष्ट करनेवाली; ३ प्रशंसा, स्तुति।

जगाम च पुनर्गङ्गा भगीरथरथानुगा ।
सागरं चापि सम्प्राप्ता सा सरित्प्रवरा तदा ॥ ३९ ॥

रसातलमुपागच्छत् सिद्ध्यर्थं तस्य कर्मणः ।
भगीरथोऽपि राजर्षिर्गङ्गामादाय यत्नतः ॥ ४० ॥

पितामहान् भस्मकृतानपश्यद् गतचेतनः ।
अथ तद्भस्मनां राशिं गङ्गासलिलमुत्तमम् ।
प्लावयत् पूतपाप्मानः स्वर्गं प्राप्ता रघूत्तम ॥ ४१ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

स गत्वा सागरं राजा गङ्गयानुगतस्तदा ।
प्रविवेश तलं भूमेर्यत्र ते भस्मसात्कृताः ॥ १ ॥

भस्मन्यथाप्लुते राम गङ्गायाः सलिलेन वै ।
सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा राजानमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

तारिता नरशार्दूल दिवं याताश्च देववत् ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि सगरस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

सागरस्य जलं लोके यावत्स्थास्यति पार्थिव ।
सगरस्यात्मजाः सर्वे दिवि स्थास्यन्ति देववत् ॥ ४ ॥

इयं च दुहिता ज्येष्ठा तव गङ्गा भविष्यति ।
त्वत्कृतेन च नाम्नाथ लोके स्थास्यति विश्रुता ॥ ५ ॥

गङ्गा त्रिपथगा नाम दिव्या भागीरथीति च ।
त्रीन् पथो भावयन्तीति तस्मात् त्रिपथगा स्मृता ॥ ६ ॥

पितामहानां सर्वेषां त्वमत्र मनुजाधिप ।
कुरुष्व सलिलं राजन् प्रतिज्ञामपवर्जय ॥ ७ ॥

पूर्वकेण हि ते राजंस्तेनातियशसा तदा ।
धर्मिणां प्रवरेणाथ नैष प्राप्तो मनोरथः ॥ ८ ॥

तथैवांशुमता वत्स लोकेऽप्रतिमतेजसा ।
गङ्गां प्रार्थयता नेतुं प्रतिज्ञा नापवर्जिता ॥ ९ ॥

पुनः भगीरथ-रथ के पीछे उसी भाँति गंगा जी चलकर।
जा पहुँचीं सागर तक सत्वर पुण्या सरिद्वरा तदनन्तर ॥ ३९ ॥
और भगीरथ-पितरोद्धारण-कार्य हेतु फिर गई रसातल।
साथ उन्हें ले जाने को, था किया नृपति ने यत्न सुप्रबल ॥ ४० ॥
भंस्म-राशि पितरों की देखी नृप ने हो करके अचेत तब।
गंगा-जल से हुई सुप्लावित[1] सगर-सुतो की भस्म-राशि सब ॥
पाप-हीन हो सगर-सुतों ने पाया रघुवर! स्वर्ग समुत्तम।
(धन्य हुए शिव-गंगा-महिमा से वे भूप भगीरथ सत्तम) ॥ ४१ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
तेंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४३ ॥

चौवालीसवाँ सर्ग

ब्रह्माजी का भगीरथ की प्रशंसा करते हुए उन्हें गङ्गाजल से पितरों के तर्पण की आज्ञा देना और राजा का वह सब करके अपने नगर को जाना; गङ्गावतरण के उपाख्यान की महिमा

इस प्रकार श्रीराम! भगीरथ गंगा-सँग सागर तक जाकर।
हुए रसातल में प्रविष्ट फिर, थी पितरों की भस्म जहाँ पर ॥ १ ॥
और हो गयी भस्म-राशि वह आप्लावित गंगा-जल से जब।
सर्वलोक-स्वामी ब्रह्मा ने कहा भगीरथ से आकर तब ॥ २ ॥
साठ सहस्र सगर-पुत्रों का, नृप! तुमने उद्धार कर दिया।
और उन्होंने देवों के सम स्वर्गलोक को प्राप्त कर लिया ॥ ३ ॥
हे भूपाल! रहेगा सँस्थित सागर-जल जगती में जब तक।
वास करेंगे स्वर्गलोक मे पितर तुम्हारे! सगरज[2] तब तक ॥ ४ ॥
भूप! तुम्हारी भी ये गंगा ज्येष्ठ कन्यका कहलाएँगी।
तव! नामाश्रित होकर जग मे भागीरथी कही जाएँगी ॥ ५ ॥
दिव्या, भागीरथी, त्रिपथगा नामो से होंगी प्रसिद्धि नित।
गमन करेंगी अम्बर, पृथ्वी और रसातल-पवित्रता-हित ॥ ६ ॥
यहीं नरेश्वर गंगा-जल से करो! सभी पितरो का तर्पण।
इस प्रकार निज पूर्व जनो का पूर्ण करो! अतिशय पावन प्रण ॥ ७ ॥
इन्हें यहाँ लाने को इच्छुक थे पूर्वज नृप सगर तुम्हारे!।
किन्तु यशस्वी, धर्मात्मा वे बहुत यत्न करके भी हारे ॥ ८ ॥
ऐसे ही, हे वत्स! प्रभावी गुण-विशिष्ट ऋषि-सम तेजस्वी।
क्षत्रिय-धर्म-परायण नृपवर मेरे जैसे परम तपस्वी ॥ ९ ॥

---
1 जलमग्न; 2 सगर-पुत्र।

राजर्षिणा गुणवता महर्षिसमतेजसा ।
मत्तुल्यतपसा चैव क्षत्रधर्मस्थितेन च ॥ १० ॥
दिलीपेन महाभाग तव पित्रातितेजसा ।
पुनर्न शकिता नेतुं गङ्गां प्रार्थयतानघ ॥ ११ ॥
सा त्वया समतिक्रान्ता प्रतिज्ञा पुरुषर्षभ ।
प्राप्तोऽसि परमं लोके यशः परमसम्मतम् ॥ १२ ॥
तच्च गङ्गावतरणं त्वया कृतमरिंदम ।
अनेन च भवान् प्राप्तो धर्मस्यायतनं महत् ॥ १३ ॥
प्लावयस्व त्वमात्मानं नरोत्तम सदोचिते ।
सलिले पुरुषश्रेष्ठ शुचिः पुण्यफलो भव ॥ १४ ॥
पितामहानां सर्वेषां कुरुष्व सलिलक्रियाम् ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि स्वं लोकं गम्यतां नृप ॥ १५ ॥
इत्येवमुक्त्वा देवेशः सर्वलोकपितामहः ।
यथागतं तथागच्छद् देवलोकं महायशाः ॥ १६ ॥
भगीरथस्तु राजर्षिः कृत्वा सलिलमुत्तमम् ।
यथाक्रमं यथान्यायं सागराणां महायशाः ॥ १७ ॥
कृतोदकः शुची राजा स्वपुरं प्रविवेश ह ।
समृद्धार्थो नरश्रेष्ठ स्वराज्यं प्रशशास ह ॥ १८ ॥
प्रमुमोद च लोकस्तं नृपमासाद्य राघव ।
नष्टशोकः समृद्धार्थो बभूव विगतज्वरः ॥ १९ ॥
एष ते राम गङ्गाया विस्तरोऽभिहितो मया ।
स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते संध्याकालोऽतिवर्तते ॥ २० ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुत्र्यं स्वर्ग्यमथापि च ।
यः श्रावयति विप्रेषु क्षत्रियेष्वितरेषु च ॥ २१ ॥
प्रीयन्ते पितरस्तस्य प्रीयन्ते दैवतानि च ।
इदमाख्यानमायुष्यं गङ्गावतरणं शुभम् ॥ २२ ॥
यः शृणोति च काकुत्स्थ सर्वान् कामानवाप्नुयात् ।
सर्वे पापाः प्रणश्यन्ति आयुः कीर्तिश्च वर्धते ॥ २३ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

अंशुमान भी अति इच्छुक थे इनको लाने को जीवन भर।
किन्तु न वे भी इन गंगा को ला पाये भूपेन्द्र! धरणि पर॥ १० ॥

नृपति दिलीप पिता तेजस्वी महाभाग निष्कलुष[1] तुम्हारे।
अतिशय इच्छुक होकर भी वे गंगा को लाने में हारे॥ ११ ॥

तुमने कर ली पूर्ण प्रतिज्ञा गंगा को लाने की भू पर।
अतः तुम्हें जगती पर उत्तम मिला महायश वीर नर-प्रवर!॥ १२ ॥

तुमने जो पृथ्वी पर गंगा को लाने का कार्य है किया।
उससे ब्रह्मलोक धर्माश्रय पर अपना अधिकार कर लिया॥ १३ ॥

स्नान-योग्य है श्री गंगाजल सदा सर्वथा हे मानववर!।
हो करके सुपवित्र पुण्य का लाभ करो तुम स्वयं स्नान कर॥ १४ ॥

हो कल्याण तुम्हारा! तर्पण पितामहों का करो, नृपतिवर!।
जाओ तुम निज राज्यस्थल को, मैं जाता निज ब्रह्मलोक पर॥ १५ ॥

ऐसा कहकर लोक-पितामह महायशस्वी विधि देवेश्वर।
आये थे जैसे वैसे ही देवलोक को गये लौटकर॥ १६ ॥

तर्पण कर राजर्षि भगीरथ वे गंगाजल से तदनन्तर।
सगरज[2] अपने पितामहों का क्रम से सतत ध्यान में रखकर॥ १७ ॥

गये निज नगर पावन होकर सफल मनोरथ होकर सत्वर।
करने लगे राज्य का शासन प्रजा-हितेच्छा[3] रख, विशेषकर॥ १८ ॥

रघुनन्दन! अपने भूपति को पाकर प्रमुदित हुए प्रजा-जन।
पूर्ण मनोरथ हुए सभी के, मिटे शोक निश्चिन्त हुए मन॥ १९ ॥

राम! सुविस्तृत करके मैंने गंगा जी की कथा सुनायी।
मंगल हो, अब सन्ध्या-वन्दन करो! तथोचित वेला आयी॥ २० ॥

मंगलमय गंगावतरण यह उपाख्यान आयुष्य बढ़ाता।
यही पुत्र, धन, यश दे करके स्वर्ग-सुखों की प्राप्ति कराता॥
ब्राह्मण, क्षत्रिय सब वर्णों को, जो यह गंगा-कथा सुनाता।
उस पर होते हैं प्रसन्न सब पितर, देवता (वह सुख पाता)॥२१-२२॥

श्रोताजन की मनःकामना की होती, काकुत्स्थ[4]! सिद्धि है।
मिटते सभी पाप हैं इससे होती यश, आयुष्य-वृद्धि है॥ २३ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४४ ॥

---

१ निष्पाप, निष्कलंक; २ सगर के पुत्रों; ३ भलाई का ध्यान; ४ राम।

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ।
विस्मयं परमं गत्वा विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन् कथितं परमं त्वया ।
गङ्गावतरणं पुण्यं सागरस्यापि पूरणम् ॥ २ ॥

क्षणभूतेव नौ रात्रिः संवृत्तेयं परंतप ।
इमां चिन्तयतोः सर्वां निखिलेन कथां तव ॥ ३ ॥

तस्य सा शर्वरी सर्वा मम सौमित्रिणा सह ।
जगाम चिन्तयानस्य विश्वामित्र कथां शुभाम् ॥ ४ ॥

ततः प्रभाते विमले विश्वामित्रं तपोधनम् ।
उवाच राघवो वाक्यं कृताह्निकमरिंदमः ॥ ५ ॥

गता भगवती रात्रिः श्रोतव्यं परमं श्रुतम् ।
तराम सरितां श्रेष्ठां पुण्यां त्रिपथगां नदीम् ॥ ६ ॥

नौरेषा हि सुखास्तीर्णा ऋषीणां पुण्यकर्मणाम् ।
भगवन्तमिह प्राप्तं ज्ञात्वा त्वरितमागता ॥ ७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
संतारं कारयामास सर्षिसङ्घस्य कौशिकः ॥ ८ ॥

उत्तरं तीरमासाद्य सम्पूज्यर्षिगणं ततः ।
गङ्गाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशुः पुरीम् ॥ ९ ॥

ततो मुनिवरस्तूर्णं जगाम सहराघवः ।
विशालां नगरीं रम्यां दिव्यां स्वर्गोपमां तदा ॥ १० ॥

अथ रामो महाप्राज्ञो विश्वामित्रं महामुनिम् ।
पप्रच्छ प्राञ्जलिर्भूत्वा विशालामुत्तमां पुरीम् ॥ ११ ॥

कतमो राजवंशोऽयं विशालायां महामुने ।
श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते परं कौतूहलं हि मे ॥ १२ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रामस्य मुनिपुङ्गवः ।
आख्यातुं तत्समारेभे विशालायाः पुरातनम् ॥ १३ ॥

श्रूयतां राम शक्रस्य कथां कथयतः श्रुताम् ।
अस्मिन् देशे हि यद् वृत्तं शृणु तत्त्वेन राघव ॥ १४ ॥

पैंतालीसवाँ सर्ग

देवताओं और दैत्यों द्वारा क्षीर-समुद्र-मन्थन, भगवान् रुद्र द्वारा हालाहल विष का पान, भगवान् विष्णु के सहयोग से मन्दराचल का पाताल से उद्धार और उसके द्वारा मन्थन, धन्वन्तरि, अप्सरा, वारुणी, उच्चैःश्रवा, कौस्तुभ तथा अमृत की उत्पत्ति और देवासुर-संग्राम में दैत्यों का संहार

विश्वामित्र मुनीश्वर की इन बातों से होकर अति विस्मित।
मुनिवर से फिर बोले राघव अनुज सु-प्रिय सौमित्र के सहित ॥ १ ॥
ब्रह्मन्! कथा सुनायी जिसमें श्री गंगा का हुआ अवतरण।
अद्भुत सिन्धु-भरण का मुझको समझाया है निरुपम प्रकरण[1] ॥ २ ॥
बहुत प्रफुल्लित हुए, परंतप[2]! हम दोनों भ्राताओं के मन।
सारी निशा सदृश-क्षण बीती करते हुए इसी का चिन्तन ॥ ३ ॥
लक्ष्मण के सँग समय निशा का मेरा चिन्तन में ही बीता।
विश्वामित्र मुनीश्वर! है यह उत्तम, अद्भुत कथा पुनीता ॥ ४ ॥
नित्यकर्म कर चुके तपोधन जब निर्मल प्रभात को पाकर।
शत्रुदमन तब रामचन्द्र ने कहा पास में उनके जाकर ॥ ५ ॥
गयी मुने! पूज्या रजनी अब कथा सुनी मैंने सर्वोत्तम।
त्रिपथगामिनी[3] पुण्या गंगा के अब पार चलें ऋषिसत्तम! ॥ ६ ॥
पुण्यकर्म-रत ऋषि-नौका यह, आसन बिछा जहाँ सुखदायी।
ऋषि-प्रेरित हो तीव्र वेग से पास आपके ऋषिवर! आयी ॥ ७ ॥
विश्वामित्र मुनीश्वर को यह वचन राम का अतिशय भाया।
तथा प्रथम श्री राघव-लक्ष्मण को ऋषियों के संग बिठाया ॥ ८ ॥
उत्तर तट पर स्वयं उन्होंने किया सभी ऋषियों का आदर।
पुरी विशाला-सुषमा वे सब लगे देखने गंगा-तट पर ॥ ९ ॥
मुनिवर विश्वामित्र रामप्रिय लक्ष्मण को अपने सँग लेकर।
स्वर्गपुरी-सी पुरी विशाला की ही ओर चले तदनन्तर ॥ १० ॥
परम सुधी श्री रामचन्द्र ने उस नगरी को तभी देखकर।
प्रश्न 'विशाला' विषयक उनसे किया नम्र हो हाथ जोड़कर ॥ ११ ॥
हो कल्याण आपका मुनिवर! है मेरा सुनने को यह मन।
राजवंश है कौन? कर रहा पुरी विशाला में अब शासन? ॥ १२ ॥
विश्वामित्र मुनीश्वर ने जब रामचन्द्र का वचन सुन लिया।
तब उसके इतिहास पुरातन[4] को कहना प्रारम्भ कर दिया ॥ १३ ॥
मैंने सुनी इन्द्र के मुख से इसकी वैभव-कथा चिरन्तन[4]।
सुनो! सुनाता घटित हुआ जो यहाँ वही तुमको, रघुनन्दन! ॥ १४ ॥

---

१ अनोखा प्रसंग; २ शत्रुतापक; ३ तीन धाराओं में बहनेवाली; ४ प्राचीन।

पूर्वं कृतयुगे राम दितेः पुत्रा महाबलाः ।
अदितेश्च महाभागा वीर्यवन्तः सुधार्मिकाः ॥ १५ ॥
ततस्तेषां नरव्याघ्र बुद्धिरासीन्महात्मनाम् ।
अमरा विजराश्चैव कथं स्यामो निरामयाः ॥ १६ ॥
तेषां चिन्तयतां तत्र बुद्धिरासीद् विपश्चिताम् ।
क्षीरोदमथनं कृत्वा रसं प्राप्स्याम तत्र वै ॥ १७ ॥
ततो निश्चित्य मथनं योक्त्रं कृत्वा च वासुकिम् ।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा ममन्थुरमितौजसः ॥ १८ ॥
अथ वर्षसहस्रेण योक्त्रसर्पशिरांसि च ।
वमन्तोऽतिविषं तत्र ददंशुर्दशनैः शिलाः ॥ १९ ॥
उत्पपाताग्निसंकाशं हालाहलमहाविषम् ।
तेन दग्धं जगत् सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥ २० ॥
अथ देवा महादेवं शङ्करं शरणार्थिनः ।
जग्मुः पशुपतिं रुद्रं त्राहि त्राहीति तुष्टुवुः ॥ २१ ॥
एवमुक्तस्ततो देवैर्देवदेवेश्वरः प्रभुः ।
प्रादुरासीत् ततोऽत्रैव शङ्खचक्रधरो हरिः ॥ २२ ॥
उवाचैनं स्मितं कृत्वा रुद्रं शूलधरं हरिः ।
दैवतैर्मथ्यमाने तु यत्पूर्वं समुपस्थितम् ॥ २३ ॥
तत् त्वदीयं सुरश्रेष्ठ सुराणामग्रतो हि यत् ।
अग्रपूजामिह स्थित्वा गृहाणेदं विषं प्रभो ॥ २४ ॥
इत्युक्त्वा च सुरश्रेष्ठस्तत्रैवान्तरधीयत ।
देवतानां भयं दृष्ट्वा श्रुत्वा वाक्यं तु शार्ङ्गिणः ॥ २५ ॥
हालाहलं विषं घोरं संजग्राहामृतोपमम् ।
देवान् विसृज्य देवेशो जगाम भगवान् हरः ॥ २६ ॥
ततो देवासुराः सर्वे ममन्थू रघुनन्दन ।
प्रविवेशाथ पातालं मन्थानः पर्वतोत्तमः ॥ २७ ॥
ततो देवाः सगन्धर्वास्तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ।
त्वं गतिः सर्वभूतानां विशेषेण दिवौकसाम् ॥ २८ ॥
पालयास्मान् महाबाहो गिरिमुद्धर्तुमर्हसि ।
इति श्रुत्वा हृषीकेशः कामठं रूपमास्थितः ॥ २९ ॥
पर्वतं पृष्ठतः कृत्वा शिश्ये तत्रोदधौ हरिः ।
पर्वताग्रं तु लोकात्मा हस्तेनाक्रम्य केशवः ॥ ३० ॥

राम ! यहाँ सतयुग में पहले थे दिति-पुत्र दैत्य बलवत्तम।
और अदिति के सुत धर्मात्मा महाभाग देवता सुसक्षम[1] ॥ १५ ॥
उन देवों, दैत्यों के मन में यह विचार तब हुआ समुत्तम।
पुरुषसिंह ! हों अजर[2], अमर वत् सब नीरोग भला कैसे ! हम ॥ १६ ॥
चिन्तन-रत देवों-दैत्यों की बुद्धि इसी निश्चय पर आयी।
क्षीरसिन्धु के मन्थन से ही अमृत मिल सकेगा सुखदायी ॥ १७ ॥
तब वासुकि को रज्जु[3] और फिर मन्दर गिरि को बना मथानी।
क्षीरसिन्धु का मन्थन करने लगे देव, दानव (विज्ञानी) ॥ १८ ॥
एक सहस्र वर्ष बीते जब, तब होता था जिससे मन्थन।
वह वासुकि विष लगा उगलने और शिलाओं का पुनि दंशन ॥ १९ ॥
तब दाहक[4] हालाहल नामक अग्नि-सदृश विष उठा भयंकर।
जिससे होने लगे दग्ध सब मानव और सकल देवासुर ॥ २० ॥
गये शरण में शंकर जी की सुरवर ऐसी देख परिस्थिति।
त्राहि-त्राहि ! कह उठे और की सबने मिल शंकर की संस्तुति ॥ २१ ॥
देवों की संस्तुति सुनकर तब प्रकटे भूतनाथ शिवशंकर।
और वहीं पर प्रकट हो गये शंख-चक्र-धर हरि तदनन्तर ॥ २२ ॥
शूलपाणि श्री रुद्रदेव से श्रीहरि बोले तब फिर हँसकर।
हुई सिन्धु-मन्थन में सबसे पहले वस्तु प्राप्त जो सुरवर ! ॥ २३ ॥
हे देवों में अग्रगण्य ! है वह तो भाग आपका निश्चय।
अतः प्रथम पूजा-स्वरूप में स्वीकारें ! उसको मृत्युञ्जय[5] ! ॥ २४ ॥
देव-शिरोमणि विष्णु हुए तब अन्तर्धान, शम्भु से कहकर।
तब हरि की पूर्वोक्त[6] बात सुन तथा सुरों की भीति[7] देखकर ॥ २५ ॥
अमृत मान, उस हालाहल को निज कण्ठस्थल में धारण कर।
करके विदा सभी देवों को गये स्वकीय[8] स्थान को शंकर ॥ २६ ॥
तत्पश्चात् देव-दनुजों ने किया सिन्धु का मिलकर मन्थन।
तब मन्थानि-रूप[9] मन्दर गिरि गया रसातल को, रघुनन्दन ! ॥ २७ ॥
करने लगे प्रार्थना हरि की गन्धर्वों के सँग तब सुरवर।
प्राणिमात्र के अवलम्बन हैं आप ! सुरों के तो विशेषकर ॥ २८ ॥
अतः करें कल्याण हमारा इस मन्दर गिरि को ऊपर कर।
हृषीकेश ने तब कच्छप का रूप रख लिया संस्तुति सुनकर ॥ २९ ॥
गिरि को पृष्ठ भाग पर अपने रखकर किया शयन सागर में।
फिर केशव ने उस पर्वत के अग्रभाग को पकड़ा कर में ॥ ३० ॥

---

१ समर्थ; २ बुढ़ापे से रहित; ३ रस्सी; ४ जलानेवाला; ५ मृत्यु को जीतनेवाले; ६ पहले कही हुई; ७ भय; ८ अपने; ९ मथानी के समान।

देवानां मध्यतः स्थित्वा ममन्थ पुरुषोत्तमः ।
अथ वर्षसहस्रेण आयुर्वेदमयः पुमान् ॥ ३१ ॥
उदतिष्ठत् सुधर्मात्मा सदण्डः सकमण्डलुः ।
पूर्वं धन्वन्तरिर्नाम अप्सराश्च सुवर्चसः ॥ ३२ ॥
अप्सु निर्मथनादेव रसात् तस्माद् वरस्त्रियः ।
उत्पेतुर्मनुजश्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवन् ॥ ३३ ॥
षष्टिः कोटयोऽभवंस्तासामप्सराणां सुवर्चसाम् ।
असंख्येयास्तु काकुत्स्थ यास्तासां परिचारिकाः ॥ ३४ ॥
न ताः स्म प्रतिगृह्णन्ति सर्वे ते देवदानवाः ।
अप्रतिग्रहणादेव ता वै साधारणाः स्मृताः ॥ ३५ ॥
वरुणस्य ततः कन्या वारुणी रघुनन्दन ।
उत्पपात महाभागा मार्गमाणा परिग्रहम् ॥ ३६ ॥
दितेः पुत्रा न तां राम जगृहुर्वरुणात्मजाम् ।
अदितेस्तु सुता वीर जगृहुस्तामनिन्दिताम् ॥ ३७ ॥
असुरास्तेन दैतेयाः सुरास्तेनादितेः सुताः ।
हृष्टाः प्रमुदिताश्चासन् वारुणीग्रहणात् सुराः ॥ ३८ ॥
उच्चैःश्रवा हयश्रेष्ठो मणिरत्नं च कौस्तुभम् ।
उदतिष्ठन्नरश्रेष्ठ तथैवामृतमुत्तमम् ॥ ३९ ॥
अथ तस्य कृते राम महानासीत् कुलक्षयः ।
अदितेस्तु ततः पुत्रा दितिपुत्रानयोधयन् ॥ ४० ॥
एकतामगमन् सर्वे असुरा राक्षसैः सह ।
युद्धमासीन्महाघोरं वीर त्रैलोक्यमोहनम् ॥ ४१ ॥
यदा क्षयं गतं सर्वं तदा विष्णुर्महाबलः ।
अमृतं सोऽहरत् तूर्णं मायामास्थाय मोहिनीम् ॥ ४२ ॥
ये गताभिमुखं विष्णुमक्षरं पुरुषोत्तमम् ।
सम्पिष्टास्ते तदा युद्धे विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ४३ ॥
अदितेरात्मजा वीरा दितेः पुत्रान् निजघ्निरे ।
अस्मिन् घोरे महायुद्धे दैतेयादित्ययोर्भृशम् ॥ ४४ ॥
निहत्य दितिपुत्रांस्तु राज्यं प्राप्य पुरंदरः ।
शशास मुदितो लोकान् सर्षिसङ्घान् सचारणान् ॥ ४५ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

सब देवों के मध्यस्थित हो करने लगे सिन्धु का मन्थन।
सहस वर्ष में प्रकटे आयुर्वेद-रूप धार्मिक उत्तम जन ॥ ३१ ॥
जिनके कर मे दण्ड-कमण्डलु, धन्वन्तरि-नामक अति सुन्दर।
और अप्सरा सुन्दरियाँ भी प्रकटीं कान्तिमयी तदनन्तर ॥ ३२ ॥
अप्-(ज़ल) रस-मन्थन से प्रकटीं सुन्दरियाँ थीं उस अवसर पर।
इसीलिए तो वे कहलायीं अप्सुरसा अप्सरसा नरवर! ॥ ३३ ॥
साठ करोड़ अप्सराएँ थीं सख्या में, काकुत्स्थ! वहाँ पर।
उनकी सेवा-रत महिलाओं की गणना करनी है दुष्कर ॥ ३४ ॥
देवों और दानवों की वे हो न सकें पत्नी सम्मान्या।
इसीलिए वे मानी जाती हैं सब सुन्दरियाँ सामान्या ॥ ३५ ॥
वरुण-सुता वारुणी, सुरा की देवी प्रकटीं फिर, रघुनन्दन!।
स्वीकारेगा कौन सत्पुरुष? हमें, यही बस करती चिन्तन ॥ ३६ ॥
नहीं किया उस वरुण-सुता के लिए, राम! दैत्यों ने उद्यम।
उस अनिन्द्य सुन्दरी सुरा को ग्रहण कर सके थे देवोत्तम ॥ ३७ ॥
सुरा-हीनता से कहलाये दिति के पुत्र असुर हैं निश्चय।
आयी देवों में प्रफुल्लता तभी वारुणी द्वारा अक्षय ॥ ३८ ॥
प्रकटा उच्चैःश्रवा अश्व फिर ओर पुनः कौस्तुभ मणि निरुपम।
तदनन्तर फिर क्षीर-सिन्धु से प्रकट हुआ शुभ अमृत समुत्तम ॥ ३९ ॥
राम! अमृत के लिए दिति, अदिति-पुत्रों का तब हुआ बहुत क्षय।
क्योंकि देवता, दानव दोनों हुए युद्ध करने में तन्मय ॥ ४० ॥
असुर-असुर, देवता-देवता एक हो गये युद्ध हेतु सब।
देवासुर-संग्राम देखकर त्रिभुवन हुआ वीर! मोहित तब ॥ ४१ ॥
देवों, असुरों के समूह को जब रण ने अति क्षीण कर दिया।
अमृत-अपहरण तब श्रीहरि ने मायाश्रित[1] हो शीघ्र कर लिया ॥ ४२ ॥
अक्षर[2] विष्णु-समीप दैत्य, जो आये अमृत हेतु रण करने।
उनको पीस दिया क्षण भर में अनायास ही विश्वम्भर[3] ने ॥ ४३ ॥
युद्ध हुआ था देवों, दैत्यों का, जो वह भीषणतम अतिशय।
उसमें दिति के पुत्रों का था किया अदिति-पुत्रों ने अति क्षय ॥ ४४ ॥
देवराज़, दैत्यों का वध कर भलीभाँति से हुए प्रहर्षित।
तथा चारणों, ऋषियों के सँग उनसे हुए लोक सब शासित ॥ ४५ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४५ ॥

---

१ माया के बल से; २ अविनाशी; ३ सबका भरण करनेवाला।

षट्चत्वारिंशः सर्गः

हतेषु तेषु पुत्रेषु दितिः परमदुःखिता।
मारीचं कश्यपं नाम भर्तारमिदमब्रवीत्॥ १॥

हतपुत्रास्मि भगवंस्तव पुत्रैर्महाबलैः।
शक्रहन्तारमिच्छामि पुत्रं दीर्घतपोर्जितम्॥ २॥

साहं तपश्चरिष्यामि गर्भं मे दातुमर्हसि।
ईश्वरं शक्रहन्तारं त्वमनुज्ञातुमर्हसि॥ ३॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा मारीचः कश्यपस्तदा।
प्रत्युवाच महातेजा दितिं परमदुःखिताम्॥ ४॥

एवं भवतु भद्रं ते शुचिर्भव तपोधने।
जनयिष्यसि पुत्रं त्वं शक्रहन्तारमाहवे॥ ५॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु शुचिर्यदि भविष्यसि।
पुत्रं त्रैलोक्यहन्तारं मत्तस्त्वं जनयिष्यसि॥ ६॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पाणिना सम्ममार्ज ताम्।
तामालभ्य ततः स्वस्ति इत्युक्त्वा तपसे ययौ॥ ७॥

गते तस्मिन् नरश्रेष्ठ दितिः परमहर्षिता।
कुशप्लवं समासाद्य तपस्तेपे सुदारुणम्॥ ८॥

तपस्तस्यां हि कुर्वत्यां परिचर्यां चकार ह।
सहस्राक्षो नरश्रेष्ठ परया गुणसम्पदा॥ ९॥

अग्निं कुशान् काष्ठमपः फलं मूलं तथैव च।
न्यवेदयत् सहस्राक्षो यच्चान्यदपि काङ्क्षितम्॥ १०॥

गात्रसंवाहनैश्चैव श्रमापनयनैस्तथा।
शक्रः सर्वेषु कालेषु दितिं परिचचार ह॥ ११॥

पूर्णे वर्षसहस्रे सा दशोने रघुनन्दन।
दितिः परमसंहृष्टा सहस्राक्षमथाब्रवीत्॥ १२॥

तपश्चरन्त्या वर्षाणि दश वीर्यवतां वर।
अवशिष्टानि भद्रं ते भ्रातरं द्रक्ष्यसे ततः॥ १३॥

यमहं त्वत्कृते पुत्र तमाधास्ये जयोत्सुकम्।
त्रैलोक्यविजयं पुत्र सह भोक्ष्यसि विज्वरः॥ १४॥

छियालीसवाँ सर्ग

पुत्र-बध से दुखी दिति का कश्यप जी से इन्द्रहन्ता पुत्र की प्राप्ति के उद्देश्य से तप के लिए आज्ञा लेकर कुशप्लव में तप करना, इन्द्र द्वारा उनकी परिचर्या तथा उन्हें अपवित्र अवस्था में पाकर इन्द्र का उनके गर्भ के सात टुकड़े कर डालना

पुत्रों के मारे जाने पर हुआ बहुत दुःखित दिति का मन।
निज पति मरीचि-सुत कश्यप से बोलीं जाकर दुखित वे वचन॥ १ ॥
प्रभो! आपके सुवन— सुरों ने है मेरे पुत्रों को मारा।
अतः इन्द्र-हन्ता सुत की है इच्छा मुझे कठिन तप द्वारा॥ २ ॥
आज्ञा दें! तप की मुझे तथा मुझसे ऐसा सुत करें प्रकट।
जो कि इन्द्र को मार सके औ हो समर्थ योद्धा अति उद्भट॥ ३ ॥
तब तेजस्वी श्री मरीचि-सुत कश्यप ने दिति-वार्ता सुनकर।
परम दुःखिता निज पत्नी को दिया शीघ्र ही ऐसा उत्तर॥ ४ ॥
एवमस्तु[1] हो तपोधने! तव मंगल, करो शौच-व्रत धारण।
दोगी जन्म पुत्र ऐसे को, होगा जो महेन्द्र-वध-कारण॥ ५ ॥
एक सहस्र वर्ष तक यदि तुम शुचि-व्रत-पालन-तत्पर होगी।
तो त्रिलोकपति सहस्राक्ष[2] का हन्ता सुत मुझसे जन्मोगी॥ ६ ॥
यह कह, तेजस्वी कश्यप ने निज कर फेरा दिति-शरीर पर।
फिर कह, हो कल्याण तुम्हारा! करने गये तपस्या ऋषिवर॥ ७ ॥
उनके जाने पर, पुरुष-प्रवर! मन में दिति ने उत्साह-हर्ष भर।
कुश-प्लव तप-कानन[3] में आकर, करने लगीं तपस्या दुष्कर॥ ८ ॥
पुरुष-प्रवर श्रीराम! तपस्या करती थीं, दिति कठिन जिस समय।
सेवा करने लगे इन्द्र तब गुण के धनी नम्र हो अतिशय॥ ९ ॥
अग्नि, कुशा, जल, काष्ठ, मूल, फल आदि वस्तुएँ सभी अभिलषित।
दिति मौसी को सहस्राक्ष थे लाकर करते नित्य निवेदित॥ १० ॥
शारीरिक श्रम-हरण हेतु वे चरण दबाते दिति के सुखकर।
अन्यावश्यक सेवाएँ भी करते थे वे समय-समय पर॥ ११ ॥
दश वत्सर जब शेष रह गये सहस्राब्द[4] में, हे रघुनन्दन!।
हर्षित होकर सहस्राक्ष[5] से बोलीं दिति तब मधुर मृदु वचन॥ १२ ॥
मेरी कठिन तपस्या के अब शेष रहे केवल दश वत्सर।
हो कल्याण वीरवर! भावी[6] भ्राता निज देखोगे सत्वर[7]॥ १३ ॥
वधोद्देश्य[8] से वत्स! तुम्हारे मैंने की है पुत्र-याचना।
किन्तु उसे रोकूँगी, सुख तुम उस त्रिभुवन-जित-साथ भोगना॥ १४ ॥

---

१ ऐसा ही हो; २ सहस्रनयन इन्द्र; ३ तपोवन; ४ एक हजार वर्ष; ५ इन्द्र; ६ होनेवाले; ७ शीघ्र; ८ वध करने के इरादे से।

याचितेन सुरश्रेष्ठ पिता तव महात्मना।
वरो वर्षसहस्रान्ते मम दत्तः सुतं प्रति॥ १५॥

इत्युक्त्वा च दितिस्तत्र प्राप्ते मध्यं दिनेश्वरे।
निद्रयापहृता देवी पादौ कृत्वाथ शीर्षतः॥ १६॥

दृष्ट्वा तामशुचिं शक्रः पादयोः कृतमूर्धजाम्।
शिरःस्थाने कृतौ पादौ जहास च मुमोद च॥ १७॥

तस्याः शरीरविवरं प्रविवेश पुरंदरः।
गर्भं च सप्तधा राम चिच्छेद परमात्मवान्॥ १८॥

भिद्यमानस्ततो गर्भो वज्रेण शतपर्वणा।
रुरोद सुस्वरं राम ततो दितिरबुध्यत॥ १९॥

मा रुदो मा रुदश्चेति गर्भं शक्रोऽभ्यभाषत।
बिभेद च महातेजा रुदन्तमपि वासवः॥ २०॥

न हन्तव्यं न हन्तव्यमित्येव दितिरब्रवीत्।
निष्पपात ततः शक्रो मातुर्वचनगौरवात्॥ २१॥

प्राञ्जलिर्वज्रसहितो दितिं शक्रोऽभ्यभाषत।
अशुचिर्देवि सुप्तासि पादयोः कृतमूर्धजा॥ २२॥
तदन्तरमहं लब्ध्वा शक्रहन्तारमाहवे।
अभिन्दं सप्तधा देवि तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि॥ २३॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः॥ ४६॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

सप्तधा तु कृते गर्भे दितिः परमदुःखिता।
सहस्राक्षं दुराधर्षं वाक्यं सानुनयाब्रवीत्॥ १॥
ममापराधाद् गर्भोऽयं सप्तधा शकलीकृतः।
नापराधो हि देवेश तवात्र बलसूदन॥ २॥
प्रियं त्वत्कृतमिच्छामि मम गर्भविपर्यये।
मरुतां सप्त सप्तानां स्थानपाला भवन्तु ते॥ ३॥

करने पर प्रार्थना, तुम्हारे पूज्य पिताजी ने ही सुरवर!।
दश शत वर्ष बीत जाने पर दिया मुझे विक्रमी पुत्र-वर॥ १५ ॥
आसन-स्थित, फिर मध्य दिवस में दिति हो गयीं बैठकर निद्रित।
सिर झुक गया, केश चरणों से लगे, सिर हुआ चरणों पर स्थित॥ १६ ॥
चरणों पर केशों को रखकर उन्हें शीश-आधार बनाया।
हँसे इन्द्र यह अशुचि[1] देखकर मन में हर्ष बहुत ही आया॥ १७ ॥
रहनेवाले सावधान वे इन्द्र गये दिति-उदर-मध्य फिर।
खण्ड कर दिये सात उन्होंने उसके, जो था, राम! गर्भ स्थिर॥ १८ ॥
जब शतपर्व वज्र से करने लगे विदीर्ण, राम! वे सुरवर।
रोने लगा गर्भ का बालक, बैठ गयीं दिति तभी जागकर॥ १९ ॥
भाई! मत रो! कहा इन्द्र ने, रोते हुए गर्भ से सत्वर।
फिर उन तेजस्वी महेन्द्र ने सात खण्ड का दिया उसे कर॥ २० ॥
कहा उस समय दिति ने, बालक को मत मारो तुम, हे सुरवर!।
मातृ-वचन-गौरव-वश आये इन्द्र उदर से तभी निकलकर॥ २१ ॥
वज्र-सहित फिर हाथ जोड़कर कहा इन्द्र ने देवि! चरण से-।
स्पर्शित शिर के केश आपके थे, थी अशुचि इसी कारण से॥
पाकर छिद्र, इन्द्र-हन्ता के मैंने टुकड़े सात कर दिए।
तुम मेरे इस दुरपराध को, क्षमा करो माँ! आज इसलिए॥२२-२३॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
छियालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४६ ॥

सैंतालीसवाँ सर्ग

दिति का अपने पुत्रों को मरुद्गण बनाकर देवलोक में रखने के लिए इन्द्र से अनुरोध; इन्द्र द्वारा उसकी स्वीकृति; दिति के तपोवन में ही इक्ष्वाकु-पुत्र विशाल द्वारा विशाला नगरी का निर्माण तथा वहाँ के तत्कालीन राजा सुमति द्वारा विश्वामित्र मुनि का सत्कार;

श्री माता दिति को, महेन्द्र से गर्भ-सप्तधा[2] हो जाने पर।
दुःख हुआ अति, और उन्होंने कहा इन्द्र से तब अनुनय कर॥ १ ॥
सात खण्ड जो हुए गर्भ के इसमें है अपराध हमारा।
इसमें कोई दोष नहीं है बलसूदन देवेश! तुम्हारा॥ २ ॥
तुमने जो यह कृत्य किया है वह हो दोनों को ही हितकर।
सातों मरुद्गणों के स्थल के पालक हों, ये सात पुरुषवर॥ ३ ॥

---

१ अपवित्रता; २ सात गर्भ धारण करनेवाली।

वातस्कन्धा इमे सप्त चरन्तु दिवि पुत्रक।
मारुता इति विख्याता दिव्यरूपा ममात्मजाः॥ ४॥
ब्रह्मलोकं चरत्वेक इन्द्रलोकं तथापरः।
दिव्यवायुरिति ख्यातस्तृतीयोऽपि महायशाः॥ ५॥
चत्वारस्तु सुरश्रेष्ठ दिशो वै तव शासनात्।
संचरिष्यन्ति भद्रं ते कालेन हि ममात्मजाः॥ ६॥
त्वत्कृतेनैव नाम्ना वै मारुता इति विश्रुताः।
तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा सहस्राक्षः पुरंदरः॥ ७॥
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यमितीदं बलसूदनः।
सर्वमेतद् यथोक्तं ते भविष्यति न संशयः॥ ८॥
विचरिष्यन्ति भद्रं ते देवरूपास्तवात्मजाः।
एवं तौ निश्चयं कृत्वा मातापुत्रौ तपोवने॥ ९॥
जग्मतुस्त्रिदिवं राम कृतार्थाविति नः श्रुतम्।
एष देशः स काकुत्स्थ महेन्द्राध्युषितः पुरा॥ १०॥
दितिं यत्र तपः सिद्धामेवं परिचचार सः।
इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्र पुत्रः परमधार्मिकः॥ ११॥
अलम्बुषायामुत्पन्नो विशाल इति विश्रुतः।
तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरी कृता॥ १२॥
विशालस्य सुतो राम हेमचन्द्रो महाबलः।
सुचन्द्र इति विख्यातो हेमचन्द्रादनन्तरः॥ १३॥
सुचन्द्रतनयो राम धूम्राश्व इति विश्रुतः।
धूम्राश्वतनयश्चापि सृञ्जयः समपद्यत॥ १४॥
सृञ्जयस्य सुतः श्रीमान् सहदेवः प्रतापवान्।
कुशाश्वः सहदेवस्य पुत्रः परमधार्मिकः॥ १५॥
कुशाश्वस्य महातेजाः सोमदत्तः प्रतापवान्।
सोमदत्तस्य पुत्रस्तु काकुत्स्थ इति विश्रुतः॥ १६॥
तस्य पुत्रो महातेजाः सम्प्रत्येष पुरीमिमाम्।
आवसत् परमप्रख्यः सुमतिर्नाम दुर्जयः॥ १७॥
इक्ष्वाकोस्तु प्रसादेन सर्वे वैशालिका नृपाः।
दीर्घायुषो महात्मानो वीर्यवन्तः सुधार्मिकाः॥ १८॥
इहाद्य रजनीमेकां सुखं स्वप्स्यामहे वयम्।
श्वः प्रभाते नरश्रेष्ठ जनकं द्रष्टुमर्हसि॥ १९॥

सप्त मरुद्गण दिव्य पुत्र मम ख्याति जगत् में प्राप्त ये करें।
नभ के वातस्कन्ध[1] सप्त में स्वच्छन्द सदा ही ये विचरें॥ ४ ॥
प्रथम मरुद्गण ब्रह्मलोक में, इन्द्रलोक में अन्य दूसरा।
अन्तरिक्ष में विचरण-रत हो 'वायु' नाम से ख्यात[2] तीसरा॥ ५ ॥
शेष चार पुत्रों के गण ये तुमसे ही होकर अनुशासित।
यथासमय सम्पूर्ण दिशाओं में होंगे सुरवर! सञ्चारित॥ ६ ॥
तुमने कहा— 'मा रुदः' (मत रो!) अतः रहेंगे 'मारुत' होकर।
दिति की ऐसी वार्ता सुनकर, सहस्राक्ष विक्रमी पुरन्दर॥ ७ ॥
बलसूदन वे दिति से बोले हाथ जोड़कर तब फिर सविनय।
अम्ब! कह रही हो तुम जैसा, वैसा ही होगा निःसंशय॥ ८ ॥
सदा करेंगे सुख से विचरण दिव्य-रूप रहकर ये सब सुत।
तप-उपवन में, माता-सुत में हुआ इस तरह निर्णय अद्भुत॥
राम! सुना हमने, कृतार्थ हो गये स्वर्ग को वे दोनों फिर।
हे काकुत्स्थ[3]! यही स्थल, जिसमें पूर्व समय में होकर सुस्थिर॥९-१०॥
तपःसिद्ध दिति की परिचर्या[4] देवराज ने की थी अतिशय।
पुरुषसिंह! इक्ष्वाकु-पुत्र थे पूर्व समय में दिव्य ज्ञानमय॥ ११ ॥
अलम्बुषा से जन्मे थे वे, थे 'विशाल' नामक अति विश्रुत।
और उन्होंने पुरी विशाला यहीं बसायी थी अति अद्भुत॥ १२ ॥
हेमचन्द्र सुत थे विशाल के, राम! जो कि थे परम वीरवर।
थे प्रसिद्ध अति हेमचन्द्र के सुत सुचन्द्र नामक तदनन्तर॥ १३ ॥
थे धूम्राश्व यशस्वी सुत, इन श्री सुचन्द्र के, हे रघुनन्दन!।
और हुए धूम्राश्व नृपति के सुत सृञ्जय रिपु-वृन्द-निकन्दन॥ १४ ॥
सृञ्जय के सुत हुए प्रतापी श्री सहदेव सकल गुण-अन्वित[5]।
थे कुशाश्व सहदेव-पुत्र, था जिन्हें अस्त्र का ज्ञान अपरिमित॥ १५ ॥
थे कुशाश्व के सोमदत्त सुत परम प्रतापि-प्रमुख विद्वद्वर।
नृपवर सोमदत्त के सुत थे श्री ककुत्स्थ-वंशी सुकीर्तिवर॥ १६ ॥
सुमति नाम से अति प्रसिद्ध हैं श्री काकुत्स्थ-पुत्र तेजस्वी।
वे ही दुर्जय, पुरी 'विशाला' के सम्प्रति हैं नृपति मनस्वी[6]॥ १७ ॥
महाराज इक्ष्वाकु-कृपा से ये सब वैशालिक भूपतिवर।
होते आये बली महात्मा, धार्मिक दीर्घ आयु के भू पर॥ १८ ॥
रजनी में नरश्रेष्ठ! हम सभी यहीं करेंगे आज सुख-शयन।
भद्र! करोगे मिथिला चलकर नृपति जनक के प्रातः दर्शन॥ १९ ॥

१ आकाश का वह भाग जहाँ वायु बहती है; २ प्रसिद्ध; ३ ककुत्स्थ-वंश के; ४ सेवा; ५ गुणों से युक्त; ६ बुद्धिमान।

सुमतिस्तु महातेजा विश्वामित्रमुपागतम् ।
श्रुत्वा नरवरश्रेष्ठः प्रत्यागच्छन्महायशाः ॥ २० ॥

पूजां च परमां कृत्वा सोपाध्यायः सबान्धवः ।
प्राञ्जलिः कुशलं पृष्ट्वा विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ २१ ॥
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे विषयं मुने ।
सम्प्राप्तो दर्शनं चैव नास्ति धन्यतरो मम ॥ २२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

पृष्ट्वा तु कुशलं तत्र परस्परसमागमे ।
कथान्ते सुमतिर्वाक्यं व्याजहार महामुनिम् ॥ १ ॥

इमौ कुमारौ भद्रं ते देवतुल्यपराक्रमौ ।
गजसिंहगती वीरौ शार्दूलवृषभोपमौ ॥ २ ॥
पद्मपत्रविशालाक्षौ खड्गतूणधनुर्धरौ ।
अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ ॥ ३ ॥
यदृच्छयैव गां प्राप्तौ देवलोकादिवामरौ ।
कथं पद्भ्यामिह प्राप्तौ किमर्थं कस्य वा मुने ॥ ४ ॥
भूषयन्ताविमं देशं चन्द्रसूर्याविवाम्बरम् ।
परस्परेण सदृशौ प्रमाणेङ्गितचेष्टितैः ॥ ५ ॥
किमर्थं च नरश्रेष्ठौ सम्प्राप्तौ दुर्गमे पथि ।
वरायुधधरौ वीरौ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ६ ॥
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा यथावृत्तं न्यवेदयत् ।
सिद्धाश्रमनिवासं च राक्षसानां वधं यथा ।
विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राजा परमविस्मितः ॥ ७ ॥
अतिथी परमं प्राप्तौ पुत्रौ दशरथस्य तौ ।
पूजयामास विधिवत् सत्काराहौं महाबलौ ॥ ८ ॥
ततः परमसत्कारं सुमतेः प्राप्य राघवौ ।
उष्य तत्र निशामेकां जग्मतुर्मिथिलां ततः ॥ ९ ॥

नृपवर तेजस्वी सुयशस्वी सुना सुमति ने कौशिक आये।
जब, तब विधिवत् शीघ्र उन्होंने अगवानी के साज सजाये॥ २० ॥
बान्धव, उपाध्याय-सँग मिलकर किया नृपति ने ऋषि का पूजन।
हाथ जोड़कर कुशल-वृत्त सब पूछा फिर यह कहा मृदु वचन॥ २१ ॥
मुने! आपका बहुत अनुग्रह है मुझ पर, जो आप पधारे।
बढ़कर कोई धन्य नहीं है अन्य पुरुष अतिरिक्त हमारे॥ २२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४७ ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग

राजा सुमति से सत्कृत हो एक रात विशाला में रहकर मुनियों-सहित श्रीराम का मिथिलापुरी में पहुँचना और वहाँ सूने आश्रम के विषय में पूछने पर विश्वामित्र जी का उनसे अहल्या को शाप प्राप्त होने की कथा सुनाना।

पूछा मंगल-वृत्त परस्पर में ऋषि-नृप ने इस अवसर पर।
नृपवर बोले, मुनिवर से फिर ऐसा वचन वहाँ तदनन्तर॥ १ ॥
शिव[1] हो तव! देवों-सम दिखता मुझे कुमारों में अति विक्रम।
ये लगते हैं वृषभ, सिंह-से सिंह, हस्ति-सी चाल समुत्तम॥ २ ॥
ये जो विकसित कमल-नयन हैं करते असि, तरकस, धनु धारण।
श्री अश्विनीकुमारों जैसे दिव्य रूप तारुण्य[2] प्रसारण॥ ३ ॥
देवलोक से सुर-सुत आये मानों दैवेच्छा से भू पर।
किसके सुत हैं? कैसे आये? यहाँ किसलिए पैदल चलकर?॥ ४ ॥
इनसे रवि, शशि-शोभित नभ-सम हुआ स्वदेश सुशोभित उत्तम।
उन्नत काया, मनोभाव सँग चेष्टा में हैं युगल एक-सम॥ ५ ॥
उत्तम आयुध-धारी दुर्गम पथ में हैं किसलिए पधारे?।
जिज्ञासा है, मुनिवर! अतिशय मानस[3] में इस समय हमारे॥ ६ ॥
सुनकर प्रश्न सुमति का मुनि ने भलीभाँति वृत्तान्त बताया।
सिद्धाश्रम-निवास, दैत्यों के वध का सब प्रसंग समझाया॥
विस्मित हुए बहुत वे नृपवर विश्वामित्र-बात सुन, अद्भुत।
(समझ गये ये राघव-लक्ष्मण हैं बलशाली दशरथ के सुत)॥ ७ ॥
आदर के उपयुक्त उन्होंने इन दोनों को अतिथि समझकर।
विधिवत् शुभ सत्कार, सुपूजन इनका किया सुखद अवसर पर॥ ८ ॥
सत्कृत हो रघुवंश-कुमारों ने नृप से आदर जब पाया।
किया रात्रि विश्राम और फिर प्रातः मिथिला-पथ अपनाया॥ ९ ॥

---
१ कल्याण २ यौवन, जवानी; ३ मन।

तां दृष्ट्वा मुनयः सर्वे जनकस्य पुरीं शुभाम् ।
साधु साध्विति शंसन्तो मिथिलां समपूजयन् ॥ १० ॥
मिथिलोपवने तत्र आश्रमं दृश्य राघवः ।
पुराणं निर्जनं रम्यं पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम् ॥ ११ ॥
इदमाश्रमसंकाशं किं न्विदं मुनिवर्जितम् ।
श्रोतुमिच्छामि भगवन् कस्यायं पूर्व आश्रमः ॥ १२ ॥
तच्छ्रुत्वा राघवेणोक्तं वाक्यं वाक्यविशारदः ।
प्रत्युवाच महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ १३ ॥
हन्त ते कथयिष्यामि शृणु तत्त्वेन राघव ।
यस्यैतदाश्रमपदं शप्तं कोपान्महात्मनः ॥ १४ ॥
गौतमस्य नरश्रेष्ठ पूर्वमासीन्महात्मनः ।
आश्रमो दिव्यसंकाशः सुरैरपि सुपूजितः ॥ १५ ॥
स चात्र तप आतिष्ठदहल्यासहितः पुरा ।
वर्षपूगान्यनेकानि राजपुत्र महायशः ॥ १६ ॥
तस्यान्तरं विदित्वा च सहस्राक्षः शचीपतिः ।
मुनिवेषधरो भूत्वा अहल्यामिदमब्रवीत् ॥ १७ ॥
ऋतुकालं प्रतीक्षन्ते नार्थिनः सुसमाहिते ।
संगमं त्वहमिच्छामि त्वया सह सुमध्यमे ॥ १८ ॥
मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन ।
मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात् ॥ १९ ॥
अथाब्रवीत् सुरश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना ।
कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो ॥ २० ॥
आत्मानं मां च देवेश सर्वथा रक्ष गौतमात् ।
इन्द्रस्तु प्रहसन् वाक्यमहल्यामिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥
सुश्रोणि परितुष्टोऽस्मि गमिष्यामि यथागतम् ।
एवं संगम्य तु तदा निश्चक्रामोटजात् ततः ॥ २२ ॥
स सम्भ्रमात् त्वरन् राम शङ्कितो गौतमं प्रति ।
गौतमं स ददर्शाथ प्रविशन्तं महामुनिम् ॥ २३ ॥
देवदानवदुर्धर्षं तपोबलसमन्वितम् ।
तीर्थोदकपरिक्लिन्नं दीप्यमानमिवानलम् ॥ २४ ॥
गृहीतसमिधं तत्र सकुशं मुनिपुङ्गवम् ।
दृष्ट्वा सुरपतिस्त्रस्तो विषण्णवदनोऽभवत् ॥ २५ ॥
अथ दृष्ट्वा सहस्राक्षं मुनिवेषधरं मुनिः ।
दुर्वृत्तं वृत्तसम्पन्नो रोषाद् वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

साधु-साधु ! कह, जनकपुरी की सुषमा देखी मिथिला जाकर।
बहुत प्रशंसा की ऋषियों ने इसकी, अतुलित दिव्य बताकर॥ १० ॥
उपवन में था रम्य पुरातन आश्रम एक, किन्तु था निर्जन।
उसे देखकर प्रश्न-रूप में ऋषि से बोले तब रघुनन्दन॥ ११ ॥
आश्रम-जैसा, मुनि-विहीन यह स्थान कौन है भगवन ! उत्तम ?।
पहले था किसका ? सुनने को इच्छुक हूँ, बतलाएँ ! सक्षम !॥ १२ ॥
राघव के इस प्रश्न-वाक्य को भलीभाँति से तब फिर सुनकर।
अति तेजस्वी वाक्य-विशारद बोले विश्वामित्र मुनीश्वर॥ १३ ॥
पूर्व महात्मा थे इसके जो, किया जिन्होंने इसको शापित।
सुनो राम ! उनका, आश्रम का वृत्त सर्वथा हो ध्यानस्थित॥ १४ ॥
पूर्व समय यह स्थान महात्मा गौतम का आश्रम था नरवर !।
परम दिव्य, पूजा, सु-प्रशंसा करते थे इसकी सब सुरवर॥ १५ ॥
पहले यहीं अहल्या के सँग श्री महर्षि गौतम ने रहकर।
वर्ष बिताये बहुत राज-सुत ! करते हुए तपस्या गुरुतर॥ १६ ॥
एक समय गौतम-अनुपस्थिति में उपयुक्त सुअवसर पाकर।
शचीनाथ[1] ने ऋषि-स्वरूप रख कहा अहल्या से यह आकर॥ १७ ॥
समाहिते[2] ! ऋतुकाल-प्रतीक्षा करते नहीं रतीच्छा-रत नर।
अतः चाहता कटि-सुरम्य ! तुमसे मैं संगम इस अवसर पर॥ १८ ॥
मुनि रूपी हैं इन्द्र, समझकर भी दुर्मेधा[3] ने, रघुनन्दन !।
कौतूहलवश सहस्राक्ष सँग संगम का कर दिया समर्थन॥ १९ ॥
बोली रति-तुष्टा ऋषि-पत्नी मैं कृतार्थ हूँ अतिशय सुरवर !।
प्रभो ! आप अब इस आश्रम से यत्नपूर्वक जाएँ ! सत्वर॥ २० ॥
मेरी और स्वयं की रक्षा ऋषि-प्रकोप से करें सुरेश्वर !।
तब बोले यह वाक्य अहल्या से, महेन्द्र वे तत्क्षण हँसकर॥ २१ ॥
मैं जैसे आया था सुन्दरि ! उसी भाँति से जाऊँगा अब।
इन्द्र अहल्या से संगम कर आश्रम से बाहर आये तब॥ २२ ॥
गौतम के आने की शंका से थे इन्द्र पलायन-तत्पर[4]।
तब देखा करते प्रवेश हैं आश्रम में प्रत्यक्ष मुनीश्वर॥
देव-दनुज-दुर्धर्ष तपोबल से वे मुनिवर परम समन्वित।
तीर्थोदक-सिञ्चित शरीर वे अग्नि-सदृश होते थे दीपित॥
हाथों में वे लिये हुए थे समिधाएँ, कुश यज्ञ-कार्य हित।
उन्हें देखते ही विषण्णमुख[5] इन्द्र हुए भय से अति कम्पित॥२३-२५॥
परम दुराचारी महेन्द्र को मुनिस्वरूप में तभी देखकर।
मुनिवर गौतम कुपित हुए अति फिर वे बोले सदाचारि वर॥ २६ ॥

१ इन्द्र; २ संयम वाली; ३ दुर्बुद्धि; ४ भागने को उद्यत; ५ दुःखी।

मम रूपं समास्थाय कृतवानसि दुर्मते।
अकर्तव्यमिदं यस्माद् विफलस्त्वं भविष्यसि ॥ २७ ॥

गौतमेनैवमुक्तस्य सुरोषेण महात्मना।
पेततुर्वृषणौ भूमौ सहस्राक्षस्य तत्क्षणात् ॥ २८ ॥

तथा शप्त्वा च वै शक्रं भार्यामपि च शप्तवान्।
इह वर्षसहस्राणि बहूनि निवसिष्यसि ॥ २९ ॥

वातभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी।
अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन् वसिष्यसि ॥ ३० ॥

यदा त्वेतद् वनं घोरं रामो दशरथात्मजः।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि ॥ ३१ ॥

तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोहविवर्जिता।
मत्सकाशं मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि ॥ ३२ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा गौतमो दुष्टचारिणीम्।
इममाश्रममुत्सृज्य सिद्धचारणसेविते।
हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे महातपाः ॥ ३३ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

अफलस्तु ततः शक्रो देवानग्निपुरोगमान्।
अब्रवीत् त्रस्तनयनः सिद्धगन्धर्वचारणान् ॥ १ ॥

कुर्वता तपसो विघ्नं गौतमस्य महात्मनः।
क्रोधमुत्पाद्य हि मया सुरकार्यमिदं कृतम् ॥ २ ॥

अफलोऽस्मि कृतस्तेन क्रोधात् सा च निराकृता।
शापमोक्षेण महता तपोऽस्यापहृतं मया ॥ ३ ॥

तन्मां सुरवराः सर्वे सर्षिसङ्घाः सचारणाः।
सुरकार्यकरं यूयं सफलं कर्तुमर्हथ ॥ ४ ॥

शतक्रतोर्वचः श्रुत्वा देवाः साग्निपुरोगमाः।
पितृदेवानुपेत्याहुः सर्वे सह मरुद्गणैः ॥ ५ ॥

अयं मेषः सवृषणः शक्रो ह्यवृषणः कृतः।
मेषस्य वृषणौ गृह्य शक्रायाशु प्रयच्छत ॥ ६ ॥

रखकर मेरा रूप दुर्मते! पापकर्म करने से अतिशय।
होगा! विफल (अण्डकोषों से) मुझसे शापित होकर निश्चय ॥ २७ ॥
कुपित महात्मा गौतम-मुख से निकले जैसे ही शाप-वचन।
वैसे ही उस समय इन्द्र के हुआ अण्डकोषों का प्रपतन ॥ २८ ॥
वे मुनि देकर शाप इन्द्र को हुए अहल्या पर भी प्रकुपित।
उससे बोले, वर्ष सहस्रों यही रहेगी तू भी शापित ॥ २९ ॥
पीकर पवन, भस्म में रहकर क्षुधा, तृषा के कष्ट सहेगी।
सभी प्राणियों से अदृश्य हो इस आश्रम में वास करेगी ॥ ३० ॥
जब इस घोर विपिन में भार्ये! अति दुर्धर्ष राम आयेंगे।
तब हो पायेगी पवित्र तू पाप-व्यूह सब मिट जायेंगे ॥
लोभ, मोह, सब दोष मिटेंगे उनका ही करने से आदर।
पास हमारे तू आयेगी दिव्य देह अपनी फिर पाकर ॥३१-३२॥
अपनी दुराचारिणी पत्नी से ऐसा कहकर तदनन्तर।
महातपस्वी अति तेजस्वी गौतम गये निजाश्रम तजकर ॥
और सिद्ध-चारण-जन-सेवित हिमगिरि के रमणीय शिखर पर।
(जाकर करने लगे तपस्या शुभाचरण मे होकर तत्पर) ॥ ३३ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामाण आदिकाव्य के बालकाण्ड मे
अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४८ ॥

उनचासवाँ सर्ग

पितृदेवताओं द्वारा इन्द्र को भेड़े के अण्डकोष से युक्त करना तथा भगवान् श्रीराम के द्वारा अहल्या का उद्धार एवं उन दोनों दम्पति के द्वारा इनका सत्कार

होकर अण्डकोष से वञ्चित वे महेन्द्र सन्त्रस्त[1] नयन अति।
बोले अग्नि, सिद्ध, चारण, सुर और सभी गन्धर्वों के प्रति ॥ १ ॥
देवो! गौतम-तप खण्डन कर मैंने किया उन्हें जो प्रकुपित।
इससे सिद्ध किया है निश्चय कार्य आप सबका ही समुचित ॥ २ ॥
मुझे शाप दे अफल किया, फिर निज पत्नी को त्याग दिया है।
क्रोधित मुनि ने, इससे मैंने उनके तप का हरण किया है ॥ ३ ॥
अपनी कार्य-सिद्धि-कर्ता को यत्नपूर्वक सुर, ऋषि, चारण।
अण्डकोष से युक्त करें! अब जिससे हो संकष्ट-निवारण ॥ ४ ॥
इन्द्र-वचन सुन मरुद्गणों सँग अग्नि पुरोगम देव, ऋषि प्रमुख।
पितृलोक मे जाकर बोले तभी पितृ देवों के सम्मुख ॥ ५ ॥
मेष आपका वृषण-सहित है और इन्द्र हैं वृषण-विवञ्चित।
पितरो! इससे अर्पित कर दें! इसका वृषण शचीपति[2] के हित ॥ ६ ॥

१ त्रासयुक्त, दुखी; २ इन्द्र।

अफलस्तु कृतो मेषः परां तुष्टिं प्रदास्यति ।
भवतां हर्षणार्थं च ये च दास्यन्ति मानवाः ।
अक्षयं हि फलं तेषां यूयं दास्यथ पुष्कलम् ॥ ७ ॥
अग्नेस्तु वचनं श्रुत्वा पितृदेवाः समागताः ।
उत्पाट्य मेषवृषणौ सहस्राक्षे न्यवेशयन् ॥ ८ ॥
तदाप्रभृति काकुत्स्थ पितृदेवाः समागताः ।
अफलान् भुञ्जते मेषान् फलैस्तेषामयोजयन् ॥ ९ ॥
इन्द्रस्तु मेषवृषणस्तदाप्रभृति राघव ।
गौतमस्य प्रभावेण तपसा च महात्मनः ॥ १० ॥
तदागच्छ महातेज आश्रमं पुण्यकर्मणः ।
तारयैनां महाभागामहल्यां देवरूपिणीम् ॥ ११ ॥
विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य आश्रमं प्रविवेश ह ॥ १२ ॥
ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम् ।
लोकैरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः ॥ १३ ॥
प्रयत्नान्निर्मितां धात्रा दिव्यां मायामयीमिव ।
धूमेनाभिपरीताङ्गीं दीप्तामग्निशिखामिव ॥ १४ ॥
सतुषाराावृतां साभ्रां पूर्णचन्द्रप्रभामिव ।
मध्येऽम्भसो दुराधर्षां दीप्तां सूर्यप्रभामिव ॥ १५ ॥
सा हि गौतमवाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूव ह ।
त्रयाणामपि लोकानां यावद् रामस्य दर्शनम् ।
शापस्यान्तमुपागम्य तेषां दर्शनमागता ॥ १६ ॥
राघवौ तु तदा तस्याः पादौ जगृहतुर्मुदा ।
स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा हि तौ ॥ १७ ॥
पाद्यमर्घ्यं तथाऽऽतिथ्यं चकार सुसमाहिता ।
प्रतिजग्राह काकुत्स्थो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १८ ॥
पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद् देवदुन्दुभिनिःस्वनैः ।
गन्धर्वाप्सरसां चैव महानासीत् समुत्सवः ॥ १९ ॥
साधु साध्विति देवास्तामहल्यां समपूजयन् ।
तपोबलविशुद्धाङ्गीं गौतमस्य वशानुगाम् ॥ २० ॥
गौतमोऽपि महातेजा अहल्यासहितः सुखी ।
रामं सम्पूज्य विधिवत् तपस्तेपे महातपाः ॥ २१ ॥

आप सभी को तुष्ट करेगा अवृषण[1] मेष यहीं पर रहकर।
तथा आपके लिए वृषण से रहित मेष देंगे जो भी नर॥
उन्हें आप सब प्रमुदित होकर देंगे श्रेयस्कर उत्तम फल।
(वे पाएँगे आयु, पुत्र, धन, धान्य आदि सुख निश्चय निश्चल)॥ ७ ॥
पितरों ने यह अग्नि-वचन सुन मेष-वृषण का करके त्रोटन[2]।
इन्द्र-अंग के उचित स्थान पर एकत्रित हो, किया नियोजन॥ ८ ॥
बधिया मेष-प्रयोग तभी से वे आगत, काकुत्स्थ! पितृगण।
करते हैं उपयोग, प्रदाता को देते उत्तम फल तत्क्षण॥ ९ ॥
उसी समय से, हे रघुनन्दन! मुनि गौतम-तप के प्रभाव से।
धारण करने पड़े इन्द्र को मेष-वृषण अति विवश भाव से॥ १० ॥
अब तेजस्वी राम! चलो तुम शीघ्र पुण्यकर्मा आश्रम पर।
और करो उद्धार अहल्या भाग्यवती देवी का सत्वर॥ ११ ॥
विश्वामित्र मुनीश्वर का यह भलीभाँति से वचन श्रवण कर।
लक्ष्मण-सहित राम आश्रम में हुए प्रविष्ट, उन्हें आगे कर॥ १२ ॥
वहाँ अहल्या भाग्यशालिनी को देखा तप से अति दीपित।
देख न सकते थे जिसको सुर, मानव, दानव बली असीमित॥ १३ ॥
वे मायामयि मानों विधि से थीं की गई यत्न से निर्मित।
वे होती थीं धूमाच्छादित ज्वलिता दीपशिखा-सी ज्योतित॥
वे थीं मेघ, तुषार-छादिता चन्द्र-प्रभा-सी तब दिखलातीं।
तथा वारि के मध्य प्रभाकर की दुर्धर्ष प्रभा-सी भातीं॥१४-१५॥
देख न पाएगा कोई भी यह था गौतम का शाप-वचन।
इससे त्रिभुवन-प्राणिमात्र को थे उनके तब दुर्लभ दर्शन॥
रामचन्द्र के दर्शन द्वारा वे हो गयीं शाप-मुक्ता जब।
(सुलभ हो गये सभी प्राणियों को उनके मंगल दर्शन तब)॥ १६ ॥
किया अहल्या के चरणों का स्पर्श राम-लक्ष्मण ने जाकर।
तभी अहल्या ने गौतम के शाप-वचन को मन में लाकर॥
समाहिता[3] हो पाद्य-अर्घ्य से विधिवत् किया राम को सत्कृत।
रामचन्द्र ने शास्त्र-विधा से किया उचित आतिथ्य सुस्वीकृत॥१७-१८॥
देव-दुन्दुभी बजने के सँग हुई गगन से पुष्प-वृष्टि नव।
और अप्सराओं, गन्धर्वों द्वारा होने लगा महोत्सव॥ १९ ॥
साधु-साधु! कह सब देवों ने किया अहल्या जी का पूजन।
तथा विशुद्धांगी गौतम की गृहणी ने पाया नूतन तन॥ २० ॥
तेजस्वी गौतम भी तब फिर हुए अहल्या-सहित मोदमय।
विधिवत् रामार्चन करके वे पुनः तपोरत हुए तपोमय॥ २१ ॥

---
१ अण्डकोष-रहित, बधिया; २ निकालकर; ३ मन से।

रामोऽपि परमां पूजां गौतमस्य महामुनेः।
सकाशाद् विधिवत् प्राप्य जगाम मिथिलां ततः॥ ३२॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः॥ ४९॥

पञ्चाशः सर्गः

ततः प्रागुत्तरां गत्वा रामः सौमित्रिणा सह।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य यज्ञवाटमुपागमत्॥ १॥
रामस्तु मुनिशार्दूलमुवाच सहलक्ष्मणः।
साध्वी यज्ञसमृद्धिर्हि जनकस्य महात्मनः॥ २॥
बहूनीह सहस्राणि नानादेशनिवासिनाम्।
ब्राह्मणानां महाभाग वेदाध्ययनशालिनाम्॥ ३॥
ऋषिवाटाश्च दृश्यन्ते शकटीशतसंकुलाः।
देशो विधीयतां ब्रह्मन् यत्र वत्स्यामहे वयम्॥ ४॥
रामस्य वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रो महामुनिः।
निवासमकरोद् देशे विविक्ते सलिलान्विते॥ ५॥
विश्वामित्रमनुप्राप्तं श्रुत्वा नृपवरस्तदा।
शतानन्दं पुरस्कृत्य पुरोहितमनिन्दितः॥ ६॥
ऋत्विजोऽपि महात्मानस्त्वर्घ्यमादाय सत्वरम्।
प्रत्युज्जगाम सहसा विनयेन समन्वितः॥ ७॥
विश्वामित्राय धर्मेण ददौ धर्मपुरस्कृतम्।
प्रतिगृह्य तु तां पूजां जनकस्य महात्मनः॥ ८॥
पप्रच्छ कुशलं राज्ञो यज्ञस्य च निरामयम्।
स तांश्चाथ मुनीन् पृष्ट्वा सोपाध्यायपुरोधसः॥ ९॥
यथार्हमृषिभिः सर्वैः समागच्छत् प्रहृष्टवत्।
अथ राजा मुनिश्रेष्ठं कृताञ्जलिरभाषत॥ १०॥
आसने भगवानास्तां सहैभिर्मुनिपुङ्गवैः।
जनकस्य वचः श्रुत्वा निषसाद महामुनिः॥ ११॥
पुरोधा ऋत्विजश्चैव राजा च सहमन्त्रिभिः।
आसनेषु यथान्यायमुपविष्टाः समन्ततः॥ १२॥
दृष्ट्वा स नृपतिस्तत्र विश्वामित्रमथाब्रवीत्।
अद्य यज्ञसमृद्धिर्मे सफला दैवतैः कृता॥ १३॥

गौतम मुनि से पूजित होकर अति आदर सत्कार-प्राप्त कर।
गये राम मिथिला नगरी को मुनिवर सँग रघुवंश-दिवाकर॥ २२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
उनचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४९ ॥

पचासवाँ सर्ग

श्रीराम आदि का मिथिला-गमन, राजा जनक द्वारा विश्वामित्र का सत्कार तथा उनका श्रीराम और लक्ष्मण के विषय में जिज्ञासा एवं परिचय पाना

आश्रम से ईशान कोण को ऋषि के पीछे राम भ्रातृ-युत।
चलकर पहुँचे वहाँ, जहाँ था मिथिलापति-मख-मण्डप अद्‌भुत॥ १ ॥
बोले वहाँ राम-लक्ष्मण, है जनक महात्मा का अति उत्तम।
समारोह यज्ञ का अनूठा दिखता, महाभाग! ऋषिसत्तम!॥ २ ॥
भिन्न-भिन्न देशों के वासी विप्र यहाँ पर हो एकत्रित।
वेदों का स्वाध्याय कर रहे सकल यहाँ पर होकर सुस्थित॥ ३ ॥
ऋषियों को निवास की सुविधा बहु वाहन-समूह से पूरित।
हम सबको रुकने का कोई समुचित स्थान करें! अब निश्चित॥ ४ ॥
सुनकर वचन राम का मुनि ने जब एकान्तस्थल को पाया।
जल की जहाँ परम सुविधा थी उसे उन्होंने तब अपनाया॥ ५ ॥
जब यह सुना अनिन्द्य जनक ने यहाँ आ गये कौशिक मुनिवर।
तब तत्क्षण चल पड़े अर्घ्य ले शतानन्द जी को आगे कर॥ ६ ॥
उनके साथ अर्घ्य ले करके अन्य महात्मा ऋत्विज ज्ञानी।
सहसा उठ कर चले नम्र हो ऋषिवर की करने अगवानी॥ ७ ॥
धर्म-शास्त्र-अनुसार जनक ने अर्घ्य किया तब उन्हें समर्पित।
जनक महात्मा की पूजा को करके ग्रहण, और हो हर्षित॥
चल रहा यज्ञ निर्विघ्न और पूछा उनका कुशल-वृत्त[1] तब।
उनसे भी, थे उस अवसर पर जो कि पुरोहित, उपाध्याय सब॥
अन्य महाऋषियों से कौशिक मिले हर्ष से पुनः वहाँ पर।
हाथ जोड़कर कहा जनक ने पूज्य कुशिक-सुत से तदनन्तर॥ ८-१० ॥
आप! इन सभी मुनीश्वरों सँग, बैठें भगवन्! निज आसन पर।
सुनकर वचन-विदेह विराजे आसन पर तब फिर वे मुनिवर॥ ११ ॥
ऋत्विज और पुरोहित, सचिवों के सँग जनक नृपति भी तब फिर।
शोभित हुए सर्वथा अपने यथायोग्य आसन पर हो स्थिर॥ १२ ॥
कौशिक मुनि की ओर देखकर बोले मिथिलापति वचन विमल।
भगवन्! शुभ योजना यज्ञ की, सुरगण ने कर दी आज सफल॥ १३ ॥

---

१ वृत्तांत, समाचार।

अद्य यज्ञफलं प्राप्तं भगवद्दर्शनान्मया ।
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुङ्गवः ॥ १४ ॥
यज्ञोपसदनं ब्रह्मन् प्राप्तोऽसि मुनिभिः सह ।
द्वादशाहं तु ब्रह्मर्षे दीक्षामाहुर्मनीषिणः ॥ १५ ॥
ततो भागार्थिनो देवान् द्रष्टुमर्हसि कौशिक ।
इत्युक्त्वा मुनिशार्दूलं प्रहृष्टवदनस्तदा ॥ १६ ॥
पुनस्तं परिपप्रच्छ प्राञ्जलिः प्रयतो नृपः ।
इमौ कुमारौ भद्रं ते देवतुल्यपराक्रमौ ॥ १७ ॥
गजतुल्यगती वीरौ शार्दूलवृषभोपमौ ।
पद्मपत्रविशालाक्षौ खड्गतूणीधनुर्धरौ ।
अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ ॥ १८ ॥
यदृच्छयेव गां प्राप्तौ देवलोकादिवामरौ ।
कथं पद्भ्यामिह प्राप्तौ किमर्थं कस्य वा मुने ॥ १९ ॥
वरायुधधरौ वीरौ कस्य पुत्रौ महामुने ।
भूषयन्ताविमं देशं चन्द्रसूर्याविवाम्बरम् ॥ २० ॥
परस्परस्य सदृशौ प्रमाणेङ्गितचेष्टितैः ।
काकपक्षधरौ वीरौ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ २१ ॥
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा जनकस्य महात्मनः ।
न्यवेदयदमेयात्मा पुत्रौ दशरथस्य तौ ॥ २२ ॥
सिद्धाश्रमनिवासं च राक्षसानां वधं तथा ।
तत्रागमनमव्यग्रं विशालायाश्च दर्शनम् ॥ २३ ॥
अहल्यादर्शनं चैव गौतमेन समागमम् ।
महाधनुषि जिज्ञासां कर्तुमागमनं तथा ॥ २४ ॥
एतत् सर्वं महातेजा जनकाय महात्मने ।
निवेद्य विररामाथ विश्वामित्रो महामुनिः ॥ २५ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रस्य धीमतः ।
हृष्टरोमा महातेजाः शतानन्दो महातपाः ॥ १ ॥

मिला आपके मुने! दर्शनों से मुझको मख का फल उत्तम।
हुआ अनुग्रहमय सुधन्य अब आज आपसे मैं ऋषिसत्तम!॥
आये मख-मण्डप में भगवन्! कृपया ऋषि-प्रवरों को लेकर।
शेष रहे याज्ञिक दीक्षा के बारह दिन कहते ऋत्विज वर॥
तब मख[1] के भागार्थि[2] सुरों के दर्शन-लाभ करेंगे! निश्चय।
मुनिवर से ऐसा कह करके नृपति शान्त हो गये उस समय॥१४-१६॥
नृप फिर मुनि से लगे पूछने जनक भूप वर यज्ञ-उद्यमी।
मुने! आपका मंगल हो ये देवों जैसे परमविक्रमी॥
गज-गति वाले सिंह और अतिपुष्ट वृषभ-सम परम वीरवर।
कमल-पत्र-सम वृहन्नयन[3] ये असि, तरकस औ खड्ग, धनुर्धर॥
अति सुन्दर अश्विनीकुमारों जसे युवा अवस्था-प्रापक।
ऐसा लगता काम देवता के भी ये उत्तम अध्यापक॥
देवलोक के अमर युगल निज इच्छा से आया अवनी पर।
किसके सुत हैं? और किसलिए पैदल ही आये हैं? मुनिवर!॥
रवि-शशि से होता है जैसे परम-विभूषित निर्मल अम्बर।
भूषित करते हैं इस स्थल को उसी भाँति ये भी आयुध धर॥
शारीरिक चेष्टा, संकेतों में रखते ये दोनों समता।
मैं इच्छुक हूँ काकपक्षधर पुत्रों की कहिये! उत्तमता॥१७-२१॥
आत्मबली ऋषिवर तब बोले जनक नृपति का प्रश्न श्रवण कर।
ये दोनों ही महामनस्वी श्री दशरथ के सुत हैं, नृपवर!॥ २२ ॥
सिद्धाश्रम-निवास, मख-ध्वंसक निशाचरों का तथा फिर हनन।
विना व्यग्रता मिथिला आना और विशाला नगरी-दर्शन॥ २३ ॥
साक्षात्कार अहल्या का, फिर ऋषि गौतम के साथ समागम।
कहकर, मुनि ने कहा, धनुष का परिचय पाने को आये हम॥ २४ ॥
महा महात्मा नृपति जनक से इन सब वार्ताओं को कहकर।
विश्वामित्र मुनीश्वर तब फिर मौन हुए तेजस्वी गुरुवर॥ २५ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में पचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५० ॥

इक्यावनवाँ सर्ग

शतानन्द के पूछने पर विश्वामित्र का उन्हें श्रीराम के द्वारा अहल्या के उद्धार का समाचार बताना तथा शतानन्द द्वारा श्रीराम का अभिनन्दन करते हुए विश्वामित्र जी के पूर्वचरित्र का वर्णन

ऋषिवर विश्वामित्र सुधी[4] की अति अद्भुत यह वार्ता सुनकर।
तब फिर हुए सुधी रोमाञ्चित शतानन्द तत्क्षण ब्राह्मण-वर॥ १ ॥

---

१ यज्ञ; २ यज्ञ-भाग पानेवाले; ३ दीर्घ नेत्रों वाले; ४ उत्तम बुद्धि वाले।

गौतमस्य सुतो ज्येष्ठस्तपसा द्योतितप्रभः ।
रामसंदर्शनादेव परं विस्मयमागतः ॥ २ ॥
एतौ निषण्णौ सम्प्रेक्ष्य शतानन्दो नृपात्मजौ ।
सुखासीनौ मुनिश्रेष्ठं विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ ३ ॥
अपि ते मुनिशार्दूल मम माता यशस्विनी ।
दर्शिता राजपुत्राय तपोदीर्घमुपागता ॥ ४ ॥
अपि रामे महातेजा मम माता यशस्विनी ।
वन्यैरुपाहरत् पूजां पूजार्हे सर्वदेहिनाम् ॥ ५ ॥
अपि रामाय कथितं यद् वृत्तं तत् पुरातनम् ।
मम मातुर्महातेजो देवेन दुरनुष्ठितम् ॥ ६ ॥
अपि कौशिक भद्रं ते गुरुणा मम सगता ।
मम माता मुनिश्रेष्ठ रामसंदर्शनादितः ॥ ७ ॥
अपि मे गुरुणा रामः पूजितः कुशिकात्मज ।
इहागतो महातेजाः पूजां प्राप्य महात्मनः ॥ ८ ॥
अपि शान्तेन मनसा गुरुर्मे कुशिकात्मज ।
इहागतेन रामेण पूजितेनाभिवादितः ॥ ९ ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य विश्वामित्रो महामुनिः ।
प्रत्युवाच शतानन्दं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥ १० ॥
नातिक्रान्तं मुनिश्रेष्ठ यत्कर्तव्यं कृतं मया ।
संगता मुनिना पत्नी भार्गवेणेव रेणुका ॥ ११ ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः ।
शतानन्दो महातेजा रामं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥
स्वागतं ते नरश्रेष्ठ दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य महर्षिमपराजितम् ॥ १३ ॥
अचिन्त्यकर्मा तपसा ब्रह्मर्षिरमितप्रभः ।
विश्वामित्रो महातेजा वेद्म्येनं परमां गतिम् ॥ १४ ॥
नास्ति धन्यतरो राम त्वत्तोऽन्यो भुवि कश्चन ।
गोप्ता कुशिकपुत्रस्ते येन तप्तं महत्तपः ॥ १५ ॥
श्रूयतां चाभिधास्यामि कौशिकस्य महात्मनः ।
यथाबलं यथातत्त्वं तन्मे निगदतः शृणु ॥ १६ ॥
राजाऽऽसीदेष धर्मात्मा दीर्घकालमरिंदमः ।
धर्मज्ञः कृतविद्यश्च प्रजानां च हिते रतः ॥ १७ ॥
प्रजापतिसुतस्त्वासीत् कुशो नाम महीपतिः ।
कुशस्य पुत्रो बलवान् कुशनाभः सुधार्मिकः ॥ १८ ॥

वे गौतम के ज्येष्ठ पुत्र थे तपःकान्ति से थे भासित अति।
रामचन्द्र जी के दर्शन से हुए सर्वथा वे बिस्मित-मति॥ २॥
राघव-लक्ष्मण को सुखपूर्वक बैठे हुए देख, आसन पर।
पूछा शतानन्द ने मुनिवर उन कौशिक से फिर विशेषकर॥ ३॥
मातु अहल्या ने मेरी, तप में अधिकाधिक समय बिताया।
उन्हें, आपने राजसुतों के क्या दर्शन का लाभ कराया?॥ ४॥
मेरी यशस्विनी तेजस्विनि माँ ने वनज फूल-फल लाकर।
देह-धारियों के प्रपूज्य, क्या किया राम का समुचित आदर?॥ ५॥
मुने! आपने राघव को क्या बतलाया प्राचीन वृत्त तब।
छल-घटना तेजस्वि इन्द्र से माँ के प्रति जो घटित हुई सब॥ ६॥
कौशिक! हो कल्याण आपका रामचन्द्र के दर्शन पाकर।
शाप-मुक्त हो मेरी माता मिलीं पिता जी से क्या आकर?॥ ७॥
कुशिक-पुत्र! क्या राघव-पूजन कर पाये हैं पिता हमारे?।
राम, महात्मा की पूजा को क्या स्वीकृत कर यहाँ पधारे?॥ ८॥
आये हैं जो राम यहाँ पर स्वस्थ चित्त हो कुशिक-सुनन्दन!।
कर पाये वे भलीभाँति से पूज्य पिता का क्या अभिवादन?॥ ९॥
वक्तृकला-विज्ञाता[1] मुनिवर शतानन्द के प्रश्न श्रवण कर।
वाक्यविशारद शतानन्द से उत्तर में बोले तदनन्तर॥ १०॥
जो कुछ था कर्तव्य मुनीश्वर! मेरा, मैंने उसे निभाया।
मुनि जमदग्नि-रेणुकावत् ही माता नें गौतम को पाया॥ ११॥
बिश्वामित्र मुनीश्वर की ये सब यथार्थ वार्ताएँ सुनकर।
बोले तब श्री रामचन्द्र से शतानन्द तेजस्वी मुनिवर॥ १२॥
अपराजेय[2] मुनीश्वर को जो आगे करके आप पधारे।
स्वागत है नर-प्रवर आपका अहोभाग्य हैं आज हमारे॥ १३॥
इनके हैं सत्कर्म अचिन्तित अमित कान्ति ये हैं जग-त्राता।
ये तप से ब्रह्मर्षि हुए हैं मैं इन तपस्तेज का ज्ञाता॥ १४॥
धन्य आपसे बढ़कर कोई पुरुष नहीं है राम! धरणि पर।
क्योंकि आपके संरक्षण हैं परम तपस्वी कौशिक ऋषिवर॥ १५॥
मैं कौशिक के बल-स्वरूप का वर्णन कर, करता अभिनन्दन।
सुनें! ध्यान दे, अब यथार्थ में भलीभाँति सब कुछ रघुनन्दन!॥ १६॥
पहले चिर समयक[3] शासक थे शत्रुदमन, धर्मात्मा, नृपवर।
ये धर्मज्ञ सुधी ऋषि नित थे प्रजा-हितेच्छा में ही तत्पर॥ १७॥
पहले कुश नामक राजा थे अतिशय ख्यात, प्रजापति के सुत।
उन कुश के कुशनाभ पुत्र थे बली और धर्मात्मा अद्भुत॥ १८॥

१ बोलने की कला में चतुर; २ कभी पराजित न होनेवाले; ३ बहुत समय तक।

कुशनाभसुतस्त्वासीद् गाधिरित्येव विश्रुतः।
गाधेः पुत्रो महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः॥ १९॥
विश्वामित्रो महातेजाः पालयामास मेदिनीम्।
बहुवर्षसहस्राणि राजा राज्यमकारयत्॥ २०॥
कदाचित् तु महातेजा योजयित्वा वरूथिनीम्।
अक्षौहिणीपरिवृतः परिचक्राम मेदिनीम्॥ २१॥
नगराणि च राष्ट्राणि सरितश्च महागिरीन्।
आश्रमान् क्रमशो राजा विचरन्नाजगाम ह॥ २२॥
वसिष्ठस्याश्रमपदं नानापुष्पलताद्रुमम्।
नानामृगगणाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम्॥ २३॥
देवदानवगन्धर्वैः किंनरैरुपशोभितम्।
प्रशान्तहरिणाकीर्णं द्विजसङ्घनिषेवितम्॥ २४॥
ब्रह्मर्षिगणसंकीर्णं देवर्षिगणसेवितम्।
तपश्चरणसंसिद्धैरग्निकल्पैर्महात्मभिः॥ २५॥
सततं संकुलं श्रीमद्ब्रह्मकल्पैर्महात्मभिः।
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च शीर्णपर्णाशनैस्तथा॥ २६॥
फलमूलाशनैर्दान्तैर्जितदोषैर्जितेन्द्रियैः।
ऋषिभिर्वालखिल्यैश्च जपहोमपरायणैः॥ २७॥
अन्यैर्वैखानसैश्चैव समन्तादुपशोभितम्।
वसिष्ठस्याश्रमपदं ब्रह्मलोकमिवापरम्।
ददर्श जयतां श्रेष्ठो विश्वामित्रो महाबलः॥ २८॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः॥ ५१॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

तं दृष्ट्वा परमप्रीतो विश्वामित्रो महाबलः।
प्रणतो विनयाद् वीरो वसिष्ठं जपतां वरम्॥ १॥
स्वागतं तव चेत्युक्तो वसिष्ठेन महात्मना।
आसनं चास्य भगवान् वसिष्ठो व्यादिदेश ह॥ २॥
उपविष्टाय च तदा विश्वामित्राय धीमते।
यथान्यायं मुनिवरः फलमूलमुपाहरत्॥ ३॥
प्रतिगृह्य तु तां पूजां वसिष्ठाद् राजसत्तमः।
तपोऽग्निहोत्रशिष्येषु कुशलं पर्यपृच्छत॥ ४॥

उन कुशनाभ महात्मा के सुत गाधि नाम से थे विश्रुतवर।
उन्हीं गाधि के सुत तेजस्वी हैं ये विश्वामित्र मुनीश्वर ।। १९ ।।
बहु सहस्र वर्षों तक भूपति विश्वामित्र अमित तेजस्वी।
सदा राज्य-चालन, भू-पालन, में रत रहे उदार यशस्वी ।। २० ।।
करके एक समय सेना ये एकत्रित तेजस्वी नृपवर।
अक्षौहणी सैन्य ले करके विचरण करने लगे अवनि[1] पर ।। २१ ।।
नगरों, राष्ट्रों और गिरिवरों, सरिताओं का तथा अति-क्रमण।
करते हुए अनेक आश्रमों में ये भूतपूर्व नृप विचरण ।।
पहुँचे ऋषि वसिष्ठ-आश्रम में जो था लता, सुमन, तरु, मृगयुत।
करते जहाँ निवास नित्य थे सिद्ध-चारणों के गण अद्भुत ।।२२-२३।।
करते थे गन्धर्व, देवता, किन्नर, दानव उसे सुशोभित।
था प्रशान्त, वनपशु से पूरत वह आश्रम विप्रों से सेवित ।।
ब्रह्मर्षियों, देवऋषियों का था समुदाय वहाँ पर अतुलित।
अग्नि-सदृश तेजस्वि महात्मा तपःसिद्ध थे वहाँ सन्तुलित ।।२४-२५।।
ब्रह्मा जैसे वहाँ महात्मा महामहिम रहते थे प्रतिक्षण।
वायु और जल, सूखे पत्तों को खाते थे सिद्ध विलक्षण ।।
और मूल-फल खानेवाले दोष-रहित विजितेन्द्रिय मुनिवर।
ऋषिवर बालखिल्य के सँग थे याज्ञिक और जपी बहु ऋषिवर ।।
सभी ओर वानप्रस्थी ऋषियों द्वारा था शोभित आश्रम।
विजयी विश्वामित्र ने लखा उसको ब्रह्मलोक-सा सक्षम ।।२६-२८।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त ।। ५१ ।।

बावनवाँ सर्ग

महर्षि वसिष्ठ द्वारा विश्वामित्र का सत्कार और कामधेनु को अभीष्ट वस्तुओं की सृष्टि करने का आदेश

दर्शन कर जापक वसिष्ठ के विश्वामित्र हुए प्रमुदित मन।
फिर उनके संपूज्य पदों को किया वीर ने विधि से विनमन ।। १ ।।
कहा महात्मा वर वसिष्ठ ने तब, 'स्वागत है' भूप ! तुम्हारा।
आसन देकर कहा बैठने को उनको मृदु वाणी द्वारा ।। २ ।।
विश्वामित्र सुधी आसन पर भलीभाँति जब हुए विराजित।
तब वसिष्ठ ने मूल-फलों से किया नृपेश्वर को उपहारित ।। ३ ।।
फिर वसिष्ठ को उस पूजा को स्वीकृत करके वे नृप सत्तम।
लगे पूछने, अग्निहोत्र, तप, शिष्यों का शिव-वृत्त[2] समुत्तम ।।

[1] पृथ्वी; [2] कल्याणमय वृत्तान्त।

कुशनाभसुतस्त्वासीद् गाधिरित्येव विश्रुतः ।
गाधेः पुत्रो महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ १९ ॥
विश्वामित्रो महातेजाः पालयामास मेदिनीम् ।
बहुवर्षसहस्राणि राजा राज्यमकारयत् ॥ २० ॥
कदाचित् तु महातेजा योजयित्वा वरूथिनीम् ।
अक्षौहिणीपरिवृतः परिचक्राम मेदिनीम् ॥ २१ ॥
नगराणि च राष्ट्राणि सरितश्च महागिरीन् ।
आश्रमान् क्रमशो राजा विचरन्नाजगाम ह ॥ २२ ॥
वसिष्ठस्याश्रमपदं नानापुष्पलताद्रुमम् ।
नानामृगगणाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम् ॥ २३ ॥
देवदानवगन्धर्वैः किंनरैरुपशोभितम् ।
प्रशान्तहरिणाकीर्णं द्विजसङ्घनिषेवितम् ॥ २४ ॥
ब्रह्मर्षिगणसंकीर्णं देवर्षिगणसेवितम् ।
तपश्चरणसंसिद्धैरग्निकल्पैर्महात्मभिः ॥ २५ ॥
सततं संकुलं श्रीमद्ब्रह्मकल्पैर्महात्मभिः ।
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च शीर्णपर्णाशनैस्तथा ॥ २६ ॥
फलमूलाशनैर्दान्तैर्जितदोषैर्जितेन्द्रियैः ।
ऋषिभिर्वालखिल्यैश्च जपहोमपरायणैः ॥ २७ ॥
अन्यैर्वैखानसैश्चैव समन्तादुपशोभितम् ।
वसिष्ठस्याश्रमपदं ब्रह्मलोकमिवापरम् ।
ददर्श जयतां श्रेष्ठो विश्वामित्रो महाबलः ॥ २८ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

तं दृष्ट्वा परमप्रीतो विश्वामित्रो महाबलः ।
प्रणतो विनयाद् वीरो वसिष्ठं जपतां वरम् ॥ १ ॥
स्वागतं तव चेत्युक्तो वसिष्ठेन महात्मना ।
आसनं चास्य भगवान् वसिष्ठो व्यादिदेश ह ॥ २ ॥
उपविष्टाय च तदा विश्वामित्राय धीमते ।
यथान्यायं मुनिवरः फलमूलमुपाहरत् ॥ ३ ॥
प्रतिगृह्य तु तां पूजां वसिष्ठाद् राजसत्तमः ।
तपोऽग्निहोत्रशिष्येषु कुशलं पर्यपृच्छत ॥ ४ ॥

उन कुशनाभ महात्मा के सुत गाधि नाम से थे विश्रुतवर।
उन्हीं गाधि के सुत तेजस्वी हैं ये विश्वामित्र मुनीश्वर॥ १९ ॥
बहु सहस्र वर्षों तक भूपति विश्वामित्र अमित तेजस्वी।
सदा राज्य-चालन, भू-पालन, में रत रहे उदार यशस्वी॥ २० ॥
करके एक समय सेना ये एकत्रित तेजस्वी नृपवर।
अक्षौहणी सैन्य ले करके विचरण करने लगे अवनि[1] पर॥ २१ ॥
नगरों, राष्ट्रों और गिरिवरों, सरिताओं का तथा अति-क्रमण।
करते हुए अनेक आश्रमों में ये भूतपूर्व नृप विचरण॥
पहुँचे ऋषि वसिष्ठ-आश्रम में जो था लता, सुमन, तरु, मृगयुत।
करते जहाँ निवास नित्य थे सिद्ध-चारणों के गण अद्भुत॥२२-२३॥
करते थे गन्धर्व, देवता, किन्नर, दानव उसे सुशोभित।
था प्रशान्त, वनपशु से पूरित वह आश्रम विप्रों से सेवित॥
ब्रह्मर्षियों, देवऋषियों का था समुदाय वहाँ पर अतुलित।
अग्नि-सदृश तेजस्वि महात्मा तप सिद्ध थे वहाँ सन्तुलित॥२४-२५॥
ब्रह्मा जैसे वहाँ महात्मा महामहिम रहते थे प्रतिक्षण।
वायु और जल, सूखे पत्तों को खाते थे सिद्ध विलक्षण॥
और मूल-फल खानेवाले दोष-रहित विजितेन्द्रिय मुनिवर।
ऋषिवर बालखिल्य के सँग थे याज्ञिक और जपी बहु ऋषिवर॥
सभी ओर वानप्रस्थी ऋषियों द्वारा था शोभित आश्रम।
विजयी विश्वामित्र ने लखा उसको ब्रह्मलोक-सा सक्षम॥२६-२८॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५१ ॥

बावनवाँ सर्ग

महर्षि वसिष्ठ द्वारा विश्वामित्र का सत्कार और कामधेनु को अभीष्ट वस्तुओं की सृष्टि करने का आदेश

दर्शन कर जापक वसिष्ठ के विश्वामित्र हुए प्रमुदित मन।
फिर उनके संपूज्य पदों को किया वीर ने विधि से विनमन॥ १ ॥
कहा महात्मा वर वसिष्ठ ने तब, 'स्वागत है' भूप! तुम्हारा।
आसन देकर कहा बैठने को उनको मृदु वाणी द्वारा॥ २ ॥
विश्वामित्र सुधी आसन पर भलीभाँति जब हुए विराजित।
तब वसिष्ठ ने मूल-फलों से किया नृपेश्वर को उपहारित॥ ३ ॥
फिर वसिष्ठ की उस पूजा को स्वीकृत करके वे नृप सत्तम।
लगे पूछने, अग्निहोत्र, तप, शिष्यों का शिव-वृत्त[2] समुत्तम॥

---

[1] पृथ्वी; [2] कल्याणमय वृत्तान्त।

विश्वामित्रो महातेजा वनस्पतिगणे तदा।
सर्वत्र कुशलं प्राह वसिष्ठो राजसत्तमम् ॥ ५ ॥
सुखोपविष्टं राजानं विश्वामित्रं महातपाः।
पप्रच्छ जपतां श्रेष्ठो वसिष्ठो ब्रह्मणः सुतः ॥ ६ ॥

कच्चित्ते कुशलं राजन् कच्चिद् धर्मेण रञ्जयन्।
प्रजाः पालयसे राजन् राजवृत्तेन धार्मिक ॥ ७ ॥
कच्चित्ते सम्भृता भृत्याः कच्चित् तिष्ठन्ति शासने।
कच्चित्ते विजिताः सर्वे रिपवो रिपुसूदन ॥ ८ ॥

कच्चिद् बलेषु कोशेषु मित्रेषु च परंतप।
कुशलं ते नरव्याघ्र पुत्रपौत्रे तथानघ ॥ ९ ॥
सर्वत्र कुशलं राजा वसिष्ठं प्रत्युदाहरत्।
विश्वामित्रो महातेजा वसिष्ठं विनयान्वितम् ॥ १० ॥
कृत्वा तौ सुचिरं कालं धर्मिष्ठौ ताः कथास्तदा।
मुदा परमया युक्तौ प्रीयेतां तौ परस्परम् ॥ ११ ॥
ततो वसिष्ठो भगवान् कथान्ते रघुनन्दन।
विश्वामित्रमिदं वाक्यमुवाच प्रहसन्निव ॥ १२ ॥

आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि बलस्यास्य महाबल।
तव चैवाप्रमेयस्य यथार्हं सम्प्रतीच्छ मे ॥ १३ ॥
सत्क्रियां हि भवानेतां प्रतीच्छतु मया कृताम्।
राजंस्त्वमतिथिश्रेष्ठः पूजनीयः प्रयत्नतः ॥ १४ ॥
एवमुक्तो वसिष्ठेन विश्वामित्रो महामतिः।
कृतमित्यब्रवीद् राजा पूजावाक्येन मे त्वया ॥ १५ ॥
फलमूलेन भगवन् विद्यते यत् तवाश्रमे।
पाद्येनाचमनीयेन भगवद्दर्शनेन च ॥ १६ ॥
सर्वथा च महाप्राज्ञ पूजार्हेण सुपूजितः।
नमस्तेऽस्तु गमिष्यामि मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा ॥ १७ ॥
एवं ब्रुवन्तं राजानं वसिष्ठः पुनरेव हि।
न्यमन्त्रयत धर्मात्मा पुनः पुनरुदारधीः ॥ १८ ॥
बाढमित्येव गाधेयो वसिष्ठं प्रत्युवाच ह।
यथाप्रियं भगवतस्तथास्तु मुनिपुङ्गव ॥ १९ ॥
एवमुक्तस्तथा तेन वसिष्ठो जपतां वरः।
आजुहाव ततः प्रीतः कल्माषीं धूतकल्मषाम् ॥ २० ॥

आश्रम, लता और तरुओं का पूछा कुशल-वृत्त तदनन्तर।
उत्तर में बोले वसिष्ठ तब सभी भाँति है कुशल, भूपवर ! ॥ ४-५ ॥
बैठे विश्वामित्र नृपति जब सुखपूर्वक अपने आसन पर।
तब वसिष्ठ विधि-सुत ने उनसे भी यह प्रश्न किया अति रुचिकर ॥ ६ ॥
धर्मात्मन् ! कर रहे आप निज सकुशल, प्रजा-वर्ग का पालन ?।
राजोचित प्रियकरी नीति से प्रजावर्ग में सुख-सञ्चालन ॥ ७ ॥
पोषित भृत्य-वर्ग, रिपुसूदन ! है आज्ञा-पालक अति विनयी ?।
और हो गये आप सर्वथा अपने शत्रु-वर्ग पर विजयी ? ॥ ८ ॥
तथा परंतप ! अनघ ! पुरुषवर ! कोश, मित्रगण-सँग सेनाएँ।
सकुशल पुत्र-पौत्र सब भगवन् विश्वामित्र ! मुझे बतलाएँ ? ॥ ९ ॥
विश्वामित्र नृपति तेजस्वी ने विनयी ऋषि-वचन श्रवण कर।
हाँ, भगवन् ! सर्वथा कुशल है कहकर दिया नम्र हो उत्तर ॥ १० ॥
बातें करते रहे परस्पर धर्मात्मा ऋषि और नृपतिवर।
अतः बढ़ गया प्रेम बहुत हो उन दोनों में फिर समुचित-तर ॥ ११ ॥
विश्वामित्र, वसिष्ठ कर चुके आपस में वार्ताएँ कुछ जब।
विश्वामित्र मुनीश्वर से फिर श्री वसिष्ठ बोले हँसकर तब ॥ १२ ॥
इच्छा है, मैं करूँ आपको सेना-सहित महाबल ! सत्कृत।
वीरेश्वर ! अमितप्रभाव नृप ! अतः करें अनुरोध सुस्वीकृत ॥ १३ ॥
अतिथि-प्रवर ! सत्कार आपका करना है कर्तव्य हमारा।
अतः भूप ! स्वीकारें ! जो कुछ हो सत्कार हमारे द्वारा ॥ १४ ॥
ऐसा कहने पर वसिष्ठ के बोले विश्वामित्र भूप तब।
मुने ! आपके वचनों से ही मेरे आदर-कृत्य हुए सब ॥ १५ ॥
आश्रमस्थ फल, मूल, पाद्य ये हैं पर्याप्त तथैव आचमन।
सबसे बढ़कर मेरी पूजा के कारण हैं श्रीमद्दर्शन ॥ १६ ॥
यद्यपि पूज्य आप सब विधि मुनि ! अपितु किया मेरा यह पूजन !।
नमस्कार है, मैं जाऊँगा, रक्खे धीमन् ! सदा सुहृदमन ॥ १७ ॥
तब उदार-चेता धर्मात्मा श्री वसिष्ठ ने दिया निमन्त्रण।
विश्वामित्र नृपेश्वर से यह कहा यहाँ पर रुकिये कुछ क्षण ॥ १८ ॥
कहा गाधि-सुत ने वसिष्ठ से आज्ञा है स्वीकार ऋषीश्वर !।
करें ! आप वैसा ही जैसा लगे आपको कृपया रुचिकर ॥ १९ ॥
जापक-वर[1] वे अति प्रसन्न फिर हुए नृपति की वार्ता सुनकर।
तथा अनघ[2] चितकबरी अपनी कामधेनु को पास बुलाकर ॥ २० ॥

१ जप करनेवालों में श्रेष्ठ; २ निष्पाप ।

एह्येहि शबले क्षिप्रं शृणु चापि वचो मम ।
सबलस्यास्य राजर्षेः कर्तुं व्यवसितोऽस्म्यहम् ।
भोजनेन महार्हेण सत्कारं संविधत्स्व मे ॥ २१ ॥
यस्य यस्य यथाकामं षड्रसेष्वभिपूजितम् ।
तत् सर्वं कामधुग् दिव्ये अभिवर्ष कृते मम ॥ २२ ॥
रसेनान्नेन पानेन लेह्यचोष्येण संयुतम् ।
अन्नानां निचयं सर्वं सृजस्व शबले त्वरः ॥ २३ ॥
॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः

एवमुक्ता वसिष्ठेन शबला शत्रुसूदन ।
विदधे कामधुक् कामान् यस्य यस्येप्सितं यथा ॥ १ ॥
इक्षून् मधूंस्तथा लाजान् मैरेयांश्च वरासवान् ।
पानानि च महार्हाणि भक्ष्यांश्चोच्चावचानपि ॥ २ ॥
उष्णाढ्यस्यौदनस्यात्र राशयः पर्वतोपमाः ।
मृष्टान्यन्नानि सूपांश्च दधिकुल्यास्तथैव च ॥ ३ ॥
नानास्वादुरसानां च खाण्डवानां तथैव च ।
भोजनानि सुपूर्णानि गौडानि च सहस्रशः ॥ ४ ॥
सर्वमासीत् सुसंतुष्टं हृष्टपुष्टजनायुतम् ।
विश्वामित्रबलं राम वसिष्ठेन सुतर्पितम् ॥ ५ ॥
विश्वामित्रो हि राजर्षिहृष्टपुष्टस्तदाभवत् ।
सान्तःपुरवरो राजा सब्राह्मणपुरोहितः ॥ ६ ॥
सामात्यो मन्त्रिसहितः सभृत्यः पूजितस्तदा ।
युक्तः परमहर्षेण वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ ७ ॥
पूजितोऽहं त्वया ब्रह्मन् पूजार्हेण सुसत्कृतः ।
श्रूयतामभिधास्यामि वाक्यं वाक्यविशारद ॥ ८ ॥
गवां शतसहस्रेण दीयतां शबला मम ।
रत्नं हि भगवन्नेतद् रत्नहारी च पार्थिवः ॥ ९ ॥

(चितकबरी) शबले ! द्रुत आओ निकट सुनो मेरी वार्ता यह।
मैं उत्सुक हूँ सबल राजऋषि-पूजा के हित सेना के सह ॥
षड्रस भोज्यों में, जिसको जो प्रिय हो, वह उसके प्रति देकर।
(सफल मनोरथ करो ! भाग्य-वश नृपति पधारे हैं विशेषकर) ॥
चेष्टित वस्तु-वृष्टि से स्वागत करो ! आज मेरे कहने से।
दिव्य कामधेनो ! सुलाभ है मुझे तुम्हें सुख से रहने से ॥२१-२२॥
शबले ! भोज्य, पेय, लेह्यादिक[1] चोष्य[2] वस्तुओं को प्रकटित कर।
होवे नहीं विलम्ब करो तुम ! स्वागत इनका प्रिय समुचित-तर ॥ २३ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में बावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५२ ॥

तिरपनवाँ सर्ग

कामधेनु की सहायता से उत्तम अन्न-पान द्वारा सेना-सहित तृप्त हुए विश्वामित्र का वसिष्ठ से उनकी कामधेनु को माँगना और उनका देने से अस्वीकार करना

कबरी (कामधेनु) ने आज्ञा ऋषि वसिष्ठ की सुनकर ऐसी।
जिसकी थी इच्छा जैसी तब उसके लिए वस्तु दी वैसी ॥ १ ॥
उत्तम गुड़ की सुरा, इक्षु, मधु, आसव, लावा, प्रिय पानक रस।
इन बहुमूल्य पदार्थों को दे कामधेनु ने (प्राप्त किया यश) ॥ २ ॥
उष्ण भात, मिष्टान्नों की तब गिरि-सी प्रकटीं वहाँ राशियाँ।
दाल, क्षीर तैयार हो गयी, बहीं दूध, दधि, घृत की नदियाँ ॥ ३ ॥
रस, खाण्डव, सुस्वादु तथा थीं खाद्य वस्तुएँ जिनमें उत्तम।
चाँदी की थालियाँ सज्जिता आईं वहाँ सहस्रों निरुपम ॥ ४ ॥
अति सन्तुष्ट हुई नृप-सेना रामचन्द्र ! ऋषिवर के द्वारा।
हृष्ट-पुष्ट उन सैन्य-जनों को मिला तृप्ति-भोजन-सुख सारा ॥ ५ ॥
अन्तःपुर-रानियों, ब्राह्मणों, पुरोहितों के साथ उस समय।
विश्वामित्र भूपवर भी अति हृष्ट हुए संतुष्ट (निरामय) ॥ ६ ॥
मान्य मन्त्रियों, सद्भृत्यों सँग पूजित विश्वामित्र मुदित मन।
बोले श्री वसिष्ठ ऋषिवर से ऐसा मधुरिम मृदुल सद्वचन ॥ ७ ॥
होकर पूज्य, आपने ब्रह्मन् ! मेरा किया सर्वथा स्वागत।
वाणीपटु ऋषिराज ! वार्ता, सुनें कह रहा मैं अभ्यागत ॥ ८ ॥
भगवन् ! एक लक्ष गौएँ ले ! मुझको दें शबला गौ न्यारी।
क्योंकि रत्न है यह, फिर इसको लेने का नृप ही अधिकारी ॥

---

१ चटनी आदि; २ चूसनेवाली।

तस्मान्मे शबलां देहि ममैषा धर्मतो द्विज।
एवमुक्तस्तु भगवान् वसिष्ठो मुनिपुङ्गवः॥ १०॥
विश्वामित्रेण धर्मात्मा प्रत्युवाच महीपतिम्।
नाहं शतसहस्रेण नापि कोटिशतैर्गवाम्॥ ११॥
राजन् दास्यामि शबलां राशिभी रजतस्य वा।
न परित्यागमर्हेयं मत्सकाशादरिंदम॥ १२॥
शाश्वती शबला मह्यं कीर्तिरात्मवतो यथा।
अस्यां हव्यं च कव्यं च प्राणयात्रा तथैव च॥ १३॥
आयत्तमग्निहोत्रं च बलिर्होमस्तथैव च।
स्वाहाकारवषट्कारौ विद्याश्च विविधास्तथा॥ १४॥
आयत्तमत्र राजर्षे सर्वमेतन्न संशयः।
सर्वस्वमेतत् सत्येन मम तुष्टिकरी तथा॥ १५॥
कारणैर्बहुभी राजन् न दास्ये शबलां तव।
वसिष्ठेनैवमुक्तस्तु विश्वामित्रोऽब्रवीत् तदा॥ १६॥
संरब्धतरमत्यर्थं वाक्यं वाक्यविशारदः।
हैरण्यकक्ष्याग्रैवेयान् सुवर्णाङ्कुशभूषितान्॥ १७॥
ददामि कुञ्जराणां ते सहस्राणि चतुर्दश।
हैरण्यानां रथानां च श्वेताश्वानां चतुर्युजाम्॥ १८॥
ददामि ते शतान्यष्टौ किंकिणीकविभूषितान्।
हयानां देशजातानां कुलजानां महौजसाम्।
सहस्रमेकं दश च ददामि तव सुव्रत॥ १९॥
नानावर्णविभक्तानां वयःस्थानां तथैव च।
ददाम्येकां गवां कोटिं शबला दीयतां मम॥ २०॥
यावदिच्छसि रत्नानि हिरण्यं वा द्विजोत्तम।
तावद् ददामि ते सर्वं दीयतां शबला मम॥ २१॥
एवमुक्तस्तु भगवान् विश्वामित्रेण धीमता।
न दास्यामीति शबलां प्राह राजन् कथंचन॥ २२॥
एतदेव हि मे रत्नमेतदेव हि मे धनम्।
एतदेव हि सर्वस्वमेतदेव हि जीवितम्॥ २३॥

देकर ध्यान, धर्मतः सोचें मुझे वस्तु दें! मेरी ऋषिवर!।
कौशिक के ऐसा कहने पर वे वसिष्ठ मुनिवर तदनन्तर ।।
बोले, भले, आप मुझको दें! एक लक्ष गौएँ सुन्दरतर।
अथवा दें! शत कोटि धेनुएं, चाहे रजत-राशियाँ रुचिकर ।।
पा न सकेगे! इतना सब कुछ देकर भी यह शबला याचित[1]।
क्योंकि पास से मेरे यह गौ अलग न होगी भूप! कदाचित ।।९-१२।।
यथा यशस्वी-कीर्ति अलग हो उससे, कभी नहीं है सम्भव।
तथा धेनु यह हव्य-कव्य मम जीवन-आधारा, नृपपुङ्गव! ।। १३ ।।
मेरे अग्निहोत्र, बलि, स्वाहा, वषट्कार हैं निर्भर इस पर।
विविध भाँति विद्यार्जन करता मैं नित इसे पास में रखकर ।। १४ ।।
सत्य कह रहा, मेरा सब कुछ आश्रित है शबला पर निश्चय।
मेरा है सर्वस्व यही गौ, देती तोष[2] मुझे यह अक्षय ।। १५ ।।
अन्य विविध कारण हैं जिनसे दे न सकूँगा इसको, नृपवर!।
ऋषि वसिष्ठ के यह कहने पर बोले विश्वामित्र भूपवर ।। १६ ।।
वाक्य-विशारद ने वसिष्ठ को बतलाया होकर अति प्रकुपित।
बन्धन-रज्जु, कण्ठ के भूषण, अंकुश होंगे हेम[3] से रचित ।। १७ ।।
जिनके, ऐसे गज दूंगा मैं अब चौदह सहस्र अति अद्भुत।
और आठ सौ रथ सुवर्णमय, चार-चार श्वेताश्वों से युत ।।
उनमें भी सोने के घुंघरू होंगे, देश, जाति के उत्तम।
तेजस्वी ग्यारह सहस्र मैं दूँगा अश्व सुव्रती सत्तम! ।।
उनमें भी सोने के घुंघरू करते होंगे मधुर-मधुर स्वन[4]।
उत्तम देशज, उच्च कुलोद्भव तथा महा तेजस्वी नूतन ।।
एकादश सहस्र दूँगा मैं सुव्रत! अश्व भी गुणि जन-सम्मत।
जो कि आपकी मर्यादा के होंगे मुने! सर्वथा सगत ।।
विविध वर्ण की कोटि धेनुएँ होंगी जिनकी नयी अवस्था।
दूंगा, किन्तु मुझे बस शबला देने की ही करें व्यवस्था! ।।१८-२०।।
इसके भी अतिरिक्त रत्न या स्वर्ण आप चाहें जो उत्तम।
दूंगा, किन्तु मुझे दें! अपनी यह शबला निश्चय ऋषिसत्तम! ।। २१ ।।
तब भगवान वसिष्ठ, सुधीश्वर कौशिक के ऐसा कहने पर।
बोले, किसी भाँति शबला यह दूँगा नहीं आपको नृपवर! ।। २२ ।।
मेरा रत्न यही है निरुपम, है यह ही मेरा उत्तम धन।
मेरा है सर्वस्व यही तो और यही है मेरा जीवन ।। २३ ।।

---

१ माँगी हुई; २ सन्तोष; ३ स्वर्ण; ४ आवाज़।

दर्शश्च पौर्णमासश्च यज्ञाश्चैवाप्तदक्षिणाः ।
एतदेव हि मे राजन् विविधाश्च क्रियास्तथा ॥ २४ ॥
अतोमूलाः क्रियाः सर्वा मम राजन् न संशयः ।
बहुना किं प्रलापेन न दास्ये कामदोहिनीम् ॥ २५ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः

कामधेनुं वसिष्ठोऽपि यदा न त्यजते मुनिः ।
तदास्य शबलां राम विश्वामित्रोऽन्वकर्षत ॥ १ ॥
नीयमाना तु शबला राम राज्ञा महात्मना ।
दुःखिता चिन्तयामास रुदन्ती शोककर्शिता ॥ २ ॥
परित्यक्ता वसिष्ठेन किमहं सुमहात्मना ।
याहं राजभृतैर्दीना ह्रियेय भृशदुःखिता ॥ ३ ॥
किं मयापकृतं तस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
यन्मामनागसं दृष्ट्वा भक्तां त्यजति धार्मिकः ॥ ४ ॥
इति संचिन्तयित्वा तु निःश्वस्य च पुनः पुनः ।
जगाम वेगेन तदा वसिष्ठं परमौजसम् ॥ ५ ॥
निर्धूय तांस्तदा भृत्याञ्शतशः शत्रुसूदन ।
जगामानिलवेगेन पादमूलं महात्मनः ॥ ६ ॥
शबला सा रुदन्ती च क्रोशन्ती चेदमब्रवीत् ।
वसिष्ठस्याग्रतः स्थित्वा रुदन्ती मेघनिःस्वना ॥ ७ ॥
भगवन् किं परित्यक्ता त्वयाहं ब्रह्मणः सुत ।
यस्माद् राजभटा मां हि नयन्ते त्वत्सकाशतः ॥ ८ ॥
एवमुक्तस्तु ब्रह्मर्षिरिदं वचनमब्रवीत् ।
शोकसंतप्तहृदयां स्वसारमिव दुःखिताम् ॥ ९ ॥
न त्वां त्यजामि शबले नापि मेऽपकृतं त्वया ।
एष त्वां नयते राजा बलान्मत्तो महाबलः ॥ १० ॥
नहि तुल्यं बलं मह्यं राजा त्वद्य विशेषतः ।
बली राजा क्षत्रियश्च पृथिव्याः पतिरेव च ॥ ११ ॥

मेरे प्रचुर दक्षिणाप्रद मख दर्श-पौर्णमासादि[1] इसी पर।
निर्भर हैं सत्कर्म सर्वथा भाँति-भाँति के सभी, नृपेश्वर! ॥ २४ ॥
मेरे सारे सत्कर्मों का मूल यही तो है निःसंशय।
किं बहुना[2] मैं कामधेनु को कभी न दूँगा, यह है निश्चय ॥ २५ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
तिरपनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५३ ॥

चौवनवाँ सर्ग

विश्वामित्र का वसिष्ठ जी की गौ को बलपूर्वक ले जाना, गौ का दुखी होकर वसिष्ठ जी से इसका कारण पूछना और उनकी आज्ञा से शक, यवन, पह्लव आदि वीरों की सृष्टि करके उनके द्वारा विश्वामित्र जी की सेना का संहार करना

किसी भाँति से गौ देने को हुए न उद्यत वे वसिष्ठ जब।
बलपूर्वक ले चले खींचकर, राम! उसे कौशिक सत्वर तब ॥ १ ॥
मन ही मन रो पड़ी धेनु तब, जब ले चले गाधि के वे सुत।
करने लगी विचार उस समय हो करके वह राम! शोक-युत ॥ २ ॥
अहो महात्मा ऋषि वसिष्ठ ने त्याग दिया है क्या मुझको अब ?।
जो बलपूर्वक लिये जा रहे मुझ दुखिया को नृप-सेवक सब ॥ ३ ॥
पूत[3] हृदय महर्षि का मैंने क्या अपराध किया है? कैसे?।
निरपराध निज भक्ता को जो त्याग रहे धर्मात्मा ऐसे? ॥ ४ ॥
लंबी साँसें लेती थी, वह, रिपुसूदन! यह सोच-सोचकर।
अति तेजस्वी ऋषि वसिष्ठ के शीघ्र गयी तब वह समीपतर ॥
और सैकड़ों राज-सेवकों को बलपूर्वक तभी झटककर।
आई पास महात्मा-चरणों के वह वायु-वेग से चलकर ॥
वायु-वेग-गामिनी महात्मा के चरणों के पास हुई स्थिर।
रोती हुई मेघ-गम्भीरा ध्वनि में बोली ऋषि से तब फिर ॥ ५-७ ॥
भगवन्! ब्रह्मकुमार! आपने क्या मुझको अब त्याग दिया है?।
राज-जनों ने मुझे दूर, जो ले जाने का यत्न किया है ॥ ८ ॥
बोले उस संतप्त हृदय की गौ से ऋषि वसिष्ठ तब ऐसे।
अपनी परम दुःखिता भगिनी से कोई कहता हो जैसे ॥ ९ ॥
शबले! तुम सम निरपराध को किया न मैंने कभी निःशरण[4]।
ये उन्मत्त बली नृप ही कर रहे तुम्हारा दुखद अपहरण ॥ १० ॥
इनके सदृश नहीं बल मेरा, ये वरिष्ठ हैं भूपति-पद पर।
भूपालक क्षत्रिय होने के कारण ही हैं वे बलवत्तर ॥ ११ ॥

---

१ यज्ञ विशेष; २ अधिक क्या कहा जाय; ३ पवित्र; ४ निराश्रित।

इयमक्षौहिणी पूर्णा गजवाजिरथाकुला ।
हस्तिध्वजसमाकीर्णा तेनासौ बलवत्तरः ॥ १२ ॥

एवमुक्ता वसिष्ठेन प्रत्युवाच विनीतवत् ।
वचनं वचनज्ञा सा ब्रह्मर्षिमतुलप्रभम् ॥ १३ ॥

न बलं क्षत्रियस्याहुर्ब्राह्मणा बलवत्तराः ।
ब्रह्मन् ब्रह्मबलं दिव्यं क्षात्राच्च बलवत्तरम् ॥ १४ ॥

अप्रमेयं बलं तुभ्यं न त्वया बलवत्तरः ।
विश्वामित्रो महावीर्यस्तेजस्तव दुरासदम् ॥ १५ ॥

नियुङ्क्ष्व मां महातेजस्त्वं ब्रह्मबलसम्भृताम् ।
तस्य दर्पं बलं यत्नं नाशयामि दुरात्मनः ॥ १६ ॥

इत्युक्तस्तु तथा राम वसिष्ठस्तु महायशाः ।
सृजस्वेति तदोवाच बलं परबलार्दनम् ॥ १७ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सुरभिः सासृजत् तदा ।
तस्या हुंभारवोत्सृष्टाः पह्लवाः शतशो नृप ॥ १८ ॥

नाशयन्ति बलं सर्वं विश्वामित्रस्य पश्यतः ।
स राजा परमक्रुद्धः क्रोधविस्फारितेक्षणः ॥ १९ ॥

पह्लवान् नाशयामास शस्त्रैरुच्चावचैरपि ।
विश्वामित्रार्दितान् दृष्ट्वा पह्लवाञ्शतशस्तदा ॥ २० ॥

भूय एवासृजद् घोराञ्छकान् यवनमिश्रितान् ।
तैरासीत् संवृता भूमिः शकैर्यवनमिश्रितैः ॥ २१ ॥

प्रभावद्भिर्महावीर्यैर्हेमकिञ्जल्कसंनिभैः ।
तीक्ष्णासिपट्टिशधरैर्हेमवर्णाम्बरावृतैः ॥ २२ ॥

निर्दग्धं तद्बलं सर्वं प्रदीप्तैरिव पावकैः ।
ततोऽस्त्राणि महातेजा विश्वामित्रो मुमोच ह ।
तैस्ते यवनकाम्बोजा बर्बराश्चाकुलीकृताः ॥ २३ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

ततस्तानाकुलान् दृष्ट्वा विश्वामित्रास्त्रमोहितान् ।
वसिष्ठश्चोदयामास कामधुक् सृज योगतः ॥ १ ॥

इनके पास रथाश्व, गजमयी अक्षौहिणी सैन्य का है बल।
हस्ति-पृष्ठ पर ध्वज फहराते, मुझसे ये अत्यन्त हैं प्रबल॥ १२ ॥
सकल रहस्य समझकर शबला लगी सोचने (उर अति संशय)।
बोली कामधेनु तेजस्वी ब्रह्म ऋषीश्वर से फिर सविनय॥ १३ ॥
क्षत्रिय-बल से अधिक प्रबल है होता दिव्य ब्रह्मबल रिपुहर।
क्षत्रिय-बल, बल नहीं, मुनीश्वर! होता ब्राह्मण ही बलवत्तर[1]॥ १४ ॥
विश्वामित्र विक्रमी की है नहीं आपके बल से समता।
है असीम दुर्धर्ष तेजबल की श्रीमन् में अतिशय क्षमता॥ १५ ॥
आज्ञा दें! भवदीय ब्रह्म-बल से मेरा है हुआ सुपोषण।
मैं कर लूँगी दुष्टात्मा नृप-बल-अभिमान, यत्न का शोषण॥ १६ ॥
महायशस्वी ऋषि वसिष्ठ ने, राम! धेनु के यह कहने पर।
कहा, शत्रु-सेना के नाशक करो प्रकट सैनिक तुम! सत्वर॥ १७ ॥
ऋषि वसिष्ठ की आज्ञा पाकर किया धेनु ने वैसा समुचित।
उसकी हुंकृति से अनेक शत पह्लव वीर हुए तब प्रकटित॥ १८ ॥
वे उन कौशिक के सम्मुख ही करने लगे सैन्य का प्रहनन।
क्रोध-समन्वित-नयन नृपति वे रहे देख निज सेना-विलयन[2]॥ १९ ॥
लघु-विशाल शस्त्रों से कौशिक ने पह्लव सेना को मारा।
देखा गौ ने पह्लव सेना-नाशन हुआ गाधि-सुत द्वारा॥
गौ ने पुनः यवनमिश्रित शक वीर भयंकर किये सु-प्रकटित।
वहाँ यवन-मिश्रित असंख्य शक फैल गये तत्काल अपरिमित॥२०-२१॥
केसर, स्वर्ण-कान्ति काया के थे तेजस्वि विक्रमी वे सब।
तीक्ष्ण खड्ग, पट्टिशधारी सब वसन हेम[3]-सम थे उनके तब॥
वे ज्वलिताग्नि-सदृश उद्भासित होनेवाले वीर विलक्षण।
करने लगे गाधि-सुत-सेना को तब भस्म सर्वथा उस क्षण॥
तब तेजस्वी कौशिक नृप ने किया उन्हें अस्त्रों से आकुल।
(अतः हुए कम्बोज, यवन औ बर्बर अस्त्र-घात से व्याकुल)॥२२-२३॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
चौवनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५४ ॥

पचपनवाँ सर्ग

अपने सौ पुत्रों और सारी सेना के नष्ट हो जाने पर विश्वामित्र का तपस्या करके महादेव जी से दिव्यास्त्र पाना तथा उनका वसिष्ठ के आश्रम पर प्रयोग करना एवं वसिष्ठ जी का ब्रह्मदण्ड लेकर उनके सामने खड़ा होना

कौशिक-अस्त्रों से व्याकुल निज सेना को देखा ऋषि ने जब।
गौ से कहा पुनः यौगिक बल से सेना की सृष्टि करो अब॥ १ ॥

---

१ अधिक बली; २ सेना का विनाश; ३ स्वर्ण।

तस्या हुंकारतो जाताः काम्बोजा रविसंनिभाः ।
ऊधसस्त्वाथ सम्भूता बर्बराः शस्त्रपाणयः ॥ २ ॥
योनिदेशाच्च यवनाः शकृद्देशाच्छकाः स्मृताः ।
रोमकूपेषु म्लेच्छाश्च हारीताः सकिरातकाः ॥ ३ ॥
तैस्तान्निषूदितं सर्वं विश्वामित्रस्य तत्क्षणात् ।
सपदातिगजं साश्वं सरथं रघुनन्दन ॥ ४ ॥
दृष्ट्वा निषूदितं सैन्यं वसिष्ठेन महात्मना ।
विश्वामित्रसुतानां तु शतं नानाविधायुधम् ॥ ५ ॥
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धं वसिष्ठं जपतां वरम् ।
हुंकारेणैव तान् सर्वान् निर्ददाह महानृषिः ॥ ६ ॥
ते साश्वरथपादाता वसिष्ठेन महात्मना ।
भस्मीकृता मुहूर्तेन विश्वामित्रसुतास्तथा ॥ ७ ॥
दृष्ट्वा विनाशितान् सर्वान् बलं च सुमहायशा ।
सव्रीडं चिन्तयाविष्टो विश्वामित्रोऽभवत् तदा ॥ ८ ॥
समुद्र इव निर्वेगो भग्नदंष्ट्र इवोरगः ।
उपरक्त इवादित्यः सद्यो निष्प्रभतां गतः ॥ ९ ॥
हतपुत्रबलो दीनो लूनपक्ष इव द्विजः ।
हतसर्वबलोत्साहो निर्वेदं समपद्यत ॥ १० ॥
स पुत्रमेकं राज्याय पालयेति नियुज्य च ।
पृथिवीं क्षत्रधर्मेण वनमेवाभ्यपद्यत ॥ ११ ॥
स गत्वा हिमवत्पार्श्वे किन्नरोरगसेवितम् ।
महादेवप्रसादार्थं तपस्तेपे महातपाः ॥ १२ ॥
केनचित् त्वथ कालेन देवेशो वृषभध्वजः ।
दर्शयामास वरदो विश्वामित्रं महामुनिम् ॥ १३ ॥
किमर्थं तप्यसे राजन् ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ।
वरदोऽस्मि वरो यस्ते काङ्क्षितः सोऽभिधीयताम् ॥ १४ ॥
एवमुक्तस्तु देवेन विश्वामित्रो महातपाः ।
प्रणिपत्य महादेवं विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम् ॥ १५ ॥
यदि तुष्टो महादेव धनुर्वेदो ममानघ ।
साङ्गोपाङ्गोपनिषदः सरहस्यः प्रदीयताम् ॥ १६ ॥
यानि देवेषु चास्त्राणि दानवेषु महर्षिषु ।
गन्धर्वयक्षरक्षःसु प्रतिभान्तु ममानघ ॥ १७ ॥
तव प्रसादाद् भवतु देवदेव ममेप्सितम् ।
एवमस्त्विति देवेशो वाक्यमुक्त्वा गतस्तदा ॥ १८ ॥

तेजस्वी काम्बोज धेनु के प्रकट हुए हुंकारस्वन[1] से।
तथा शस्त्रधारी बर्बर भी प्रकट हुए शबला के थन से॥ २ ॥
जननस्थल से यवन और शक उपजे गोबर-स्थल से अगणित।
तथा रोम-कूपों से म्लेच्छों सँग हारीत, किरात युद्ध-हित॥ ३ ॥
उन सबने पैदल, रथ, अश्वों और हाथियों को तब मारा।
रघुपति! कौशिक की सेना का मिटा इस तरह बहुबल सारा॥ ४ ॥
तभी वसिष्ठ महात्मा द्वारा, निज सेना का मरण देखकर।
क्रुद्ध हुए शत पुत्र नृपति के सभी विविध आयुध धारण कर॥ ५ ॥
और आक्रमण किया उन्होंने जापक-वर वसिष्ठ पर तत्क्षण।
तब ऋषि ने हुंकार मात्र से उन्हें कर दिया शीघ्र भस्म-कण॥ ६ ॥
कौशिक के शत पुत्र, अश्व, रथ, पैदल-सहित सैन्य-दल सारा।
घटिकाद्वय[2] में भस्म हो गया जलकर ऋषि वसिष्ठ के द्वारा॥ ७ ॥
कौशिक वे तब नष्ट देखकर निज पुत्रों को सैन्य के सहित।
चिन्ता में पड़ गये और फिर हुए यशस्वी नृप-वर लज्जित॥ ८ ॥
वेग-शान्त सागर-सम वे तब होकर भग्नदंष्ट्र[3] पन्नग-सम।
तेज-हीन हो गये सर्वथा राहु-ग्रस्त दिनकर-सम[4] अक्षम[5]॥ ९ ॥
पुत्र, सैन्य-संहार निरख वे पंख-कटे पक्षी-सम निश्चय।
होकर बल, उत्साह-हीन वे खिन्न हुए मन ही मन अतिशय॥ १० ॥
बचे हुए निज एक पुत्र का भूपति-पद पर कर अभिषेचन।
उसे प्रजा-रक्षण, पालन की आज्ञा दे, वे चले गये वन॥ ११ ॥
सेवित किन्नर, नाग— हिमालय-पार्श्व भाग में तब वे जाकर।
करने लगे तपस्या शिव की प्रसन्नता-हित ध्यान लगाकर॥ १२ ॥
दिये उन्हें कुछ समय-बाद में महादेव ने अपने दर्शन।
विश्वामित्र मुनीश्वर से फिर कहा वरद ने मधुर यह वचन॥ १३ ॥
क्या कहने को इच्छा है? यह करते हो किस हेतु तपस्या?।
जो अभीष्ट हो, कहो! वरद मैं सुलझाऊँगा सभी समस्या॥ १४ ॥
विश्वामित्र तपस्वी ने यह महादेव जी के कहनें पर।
उनसे ऐसा कहा पदों में उनके अपना शीश झुकाकर॥ १५ ॥
तुष्ट, अनघ, देवेश! आपकी यदि है वर देनें की इच्छा।
अंग, उपांग, रहस्य, उपनिषद— धनुर्वेद की देवें शिक्षा॥ १६ ॥
अनघ! देव, गन्धर्व, यक्ष, ऋषि, दनुज राक्षसों द्वारा शासित।
जो भी हों शस्त्रास्त्र, सभी वे हों मेरे मानस में भासित॥ १७ ॥
देव-देव! बस यही मनोरथ हो भवदीय कृपा से सुफलित।
'एवमस्तु' कह, तब देवेश्वर हुए वहाँ से फिर अन्तर्हित॥ १८ ॥

---

१ हुंकार-स्वर; २ दो घड़ी; ३ टूटे दांत वाले; ४ सूर्य के समान; ५ असमर्थ।

प्राप्य चास्त्राणि देवेशाद् विश्वामित्रो महाबलः।
दर्पेण महता युक्तो दर्पपूर्णोऽभवत् तदा ॥ १९ ॥
विवर्धमानो वीर्येण समुद्र इव पर्वणि।
हतं मेने तदा राम वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ २० ॥
ततो गत्वाऽऽश्रमपदं मुमोचास्त्राणि पार्थिवः।
यैस्तत् तपोवनं नाम निर्दग्धं चास्त्रतेजसा ॥ २१ ॥
उदीर्यमाणमस्त्रं तद् विश्वामित्रस्य धीमतः।
दृष्ट्वा विप्रद्रुता भीता मुनयः शतशो दिशः ॥ २२ ॥
वसिष्ठस्य च ये शिष्या ये च वै मृगपक्षिणः।
विद्रवन्ति भयाद् भीता नानादिग्भ्यः सहस्रशः ॥ २३ ॥
वसिष्ठस्याश्रमपदं शून्यमासीन्महात्मनः।
मुहूर्तमिव निःशब्दमासीदीरिणसंनिभम् ॥ २४ ॥
वदतो वै वसिष्ठस्य मा भैरिति मुहुर्मुहुः।
नाशयाम्यद्य गाधेयं नीहारमिव भास्करः ॥ २५ ॥
एवमुक्त्वा महातेजा वसिष्ठो जपतां वरः।
विश्वामित्रं तदा वाक्यं सरोषमिदमब्रवीत् ॥ २६ ॥
आश्रमं चिरसंवृद्धं यद् विनाशितवानसि।
दुराचारो हि यन्मूढस्तस्मात् त्वं न भविष्यसि ॥ २७ ॥
इत्युक्त्वा परमक्रुद्धो दण्डमुद्यम्य सत्वरः।
विधूम इव कालाग्निर्यमदण्डमिवापरम् ॥ २८ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

एवमुक्तो वसिष्ठेन विश्वामित्रो महाबलः।
आग्नेयमस्त्रमुद्दिश्य तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ १ ॥
ब्रह्मदण्डं समुद्यम्य कालदण्डमिवापरम्।
वसिष्ठो भगवान् क्रोधादिदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
क्षत्रबन्धो स्थितोऽस्म्येष यद् बलं तद् विदर्शय।
नाशयाम्यद्य ते दर्पं शस्त्रस्य तव गाधिज ॥ ३ ॥

देवेश्वर श्री महादेव ने इन्हें दे दिया जब वर इच्छित।
पाकर अस्त्र, बली कौशिक वे हुए बहुत अभिमान-प्रपूरित ॥ १९ ॥
सम्बन्धित पूर्णिमा-सिन्धु[1]-सम निज को सबसे महत् मानकर।
अपने बल से ऋषि वसिष्ठ को मरा हुआ सा, राम ! जानकर ॥ २० ॥
वसिष्ठ-आश्रम पर अस्त्रों का करने लगे प्रयोग गाधि-सुत।
विविधास्त्रों के परम तेज से जलने लगा तपोवन अद्भुत ॥ २१ ॥
सुधी गाधि-सुत-अस्त्र-तेज को बढ़ते हुए सामने अपने।
देख, सैकड़ों आश्रम-वासी ऋषिवर चौदिग् लगे भागने ॥ २२ ॥
ऋषि के शिष्य, वहाँ के खग, पशु तथा सहस्रों प्राणी वनचर।
हो करके भयभीत वहाँ से, भाग चले सब ओर निकलकर ॥ २३ ॥
और महात्मा श्री वसिष्ठ का शून्य हो गया आश्रम-उपवन।
घटिका द्वय में ऊसर जैसा हुआ स्थान वह अतिशय निःस्वन[2] ॥ २४ ॥
कहने लगे वसिष्ठ सभी से बारम्बार, डरो मत ! तुम सब।
रवि द्वारा कुहरे के तद्वत् नष्ट करूँगा गाधिज[3] को अब ॥ २५ ॥
जापक-प्रवर महातेजस्वी इस प्रकार उन सबसे कहकर।
बोले विश्वामित्र नृपति से अति क्रोधित होकर तदनन्तर ॥ २६ ॥
चिर पोषित इस हरिताश्रम को तूने नष्ट किया सब निष्फल।
मूर्ख ! दुराचारी ! स्वपापवश रह न सकेगा तू अब सकुशल ॥ २७ ॥
धूम्र-रहित कालाग्नि-सदृश फिर वे उद्दीप्त हो उठे सत्वर।
रण-हित, यम के दण्ड-सदृश निज दण्ड उठाया स्वयं भयंकर ॥ २८ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्ष रामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
पचपनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५५ ॥

छप्पनवाँ सर्ग

विश्वामित्र द्वारा वसिष्ठ जी पर नाना प्रकार के दिव्यास्त्रों का प्रयोग और वसिष्ठ द्वारा ब्रह्मदण्ड से ही उनका शमन एवं विश्वामित्र का ब्राह्मणत्व की प्राप्ति के लिए तप करने का निश्चय

ऋषि वसिष्ठ के यह कहने पर विश्वामित्र महा बलवत्तर।
रुको ! रुको ! बोले वसिष्ठ से आग्नेयास्त्र हाथ में लेकर ॥ १ ॥
तब द्वितीय यम-दण्ड-सदृश निज ब्रह्मदण्ड को लेकर कर में।
बोले विश्वामित्र बली से ऋषि वसिष्ठ अपने उत्तर में ॥ २ ॥
क्षत्रिय अधम ! उपस्थित हूँ मैं अभिमानी दिखला ! अपना बल।
शस्त्रास्त्रों को धूल-धूसरित करके, दर्प करूँगा निष्फल ॥ ३ ॥

---

१ पूर्णिमा के दिन उमड़ा समुद्र; २ आवाज-रहित; ३ गाधिनन्दन विश्वामित्र।

क्व च ते क्षत्रियबलं क्व च ब्रह्मबलं महत्।
पश्य ब्रह्मबलं दिव्यं मम क्षत्रियपांसन ॥ ४ ॥
तस्यास्त्रं गाधिपुत्रस्य घोरमाग्नेयमुत्तमम्।
ब्रह्मदण्डेन तच्छान्तमग्नेर्वेग इवाम्भसा ॥ ५ ॥
वारुणं चैव रौद्रं च ऐन्द्रं पाशुपतं तथा।
ऐषीकं चापि चिक्षेप कुपितो गाधिनन्दनः ॥ ६ ॥
मानवं मोहनं चैव गान्धर्वं स्वापनं तथा।
जृम्भणं मादनं चैव संतापनविलापने ॥ ७ ॥
शोषणं दारणं चैव वज्रमस्त्रं सुदुर्जयम्।
ब्रह्मपाशं कालपाशं वारुणं पाशमेव च ॥ ८ ॥
पिनाकमस्त्रं दयितं शुष्कार्द्रे अशनी तथा।
दण्डास्त्रमथ पैशाचं क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च ॥ ९ ॥
धर्मचक्रं कालचक्रं विष्णुचक्रं तथैव च।
वायव्यं मथनं चैव अस्त्रं हयशिरस्तथा ॥ १० ॥
शक्तिद्वयं च चिक्षेप कङ्कालं मुसलं तथा।
वैद्याधरं महास्त्रं च कालास्त्रमथ दारुणम् ॥ ११ ॥
त्रिशूलमस्त्रं घोरं च कापालमथ कङ्कणम्।
एतान्यस्त्राणि चिक्षेप सर्वाणि रघुनन्दन ॥ १२ ॥
वसिष्ठे जपतां श्रेष्ठे तदद्भुतमिवाभवत्।
तानि सर्वाणि दण्डेन ग्रसते ब्रह्मणः सुतः ॥ १३ ॥
तेषु शान्तेषु ब्रह्मास्त्रं क्षिप्तवान् गाधिनन्दनः।
तदस्त्रमुद्यतं दृष्ट्वा देवाः साग्निपुरोगमाः ॥ १४ ॥
देवर्षयश्च सम्भ्रान्ता गन्धर्वाः समहोरगाः।
त्रैलोक्यमासीत् संत्रस्तं ब्रह्मास्त्रे समुदीरिते ॥ १५ ॥
तदप्यस्त्रं महाघोरं ब्राह्मं ब्राह्मेण तेजसा।
वसिष्ठो ग्रसते सर्वं ब्रह्मदण्डेन राघव ॥ १६ ॥
ब्रह्मास्त्रं ग्रसमानस्य वसिष्ठस्य महात्मनः।
त्रैलोक्यमोहनं रौद्रं रूपमासीत् सुदारुणम् ॥ १७ ॥
रोमकूपेषु सर्वेषु वसिष्ठस्य महात्मनः।
मरीच्य इव निष्पेतुरग्नेर्धूमाकुलार्चिषः ॥ १८ ॥
प्राज्वलद् ब्रह्मदण्डश्च वसिष्ठस्य करोद्यतः।
विधूम इव कालाग्नेर्यमदण्ड इवापरः ॥ १९ ॥
ततोऽस्तुवन् मुनिगणा वसिष्ठं जपतां वरम्।
अमोघं ते बलं ब्रह्मंस्तेजो धारय तेजसा ॥ २० ॥

क्षत्रिय-कुल-कलंक ! तेरा यह साधारण सा कहाँ क्षात्रबल ! ।
और कहाँ अतिशय महान यह देख ! सबल मेरा सु ब्रह्मबल ! ।। ४ ।।
शान्त हुआ, ऋषि-ब्रह्म-दण्ड से वह भीषण आग्नेय-अस्त्र तब ।
गाधि-पुत्र का वैसे, जैसे जल से अग्नि-वेग तत्क्षण सब ।। ५ ।।
प्रकुपित होकर गाधि-पुत्र ने वारुण, ऐन्द्र, रौद्र अति उत्तम ।
और पुनः ऐषीक, पाशुपत-अस्त्र प्रयोजित किये महत्तम ।। ६ ।।
रघुनन्दन ! फिर मानव, मोहन, इसी भाँति गान्धर्वस्वापन ।
जृम्भण, मादन और विलापन अस्त्रों में उत्तम संतापन ।। ७ ।।
शोषण, दारण तथा सुदुर्जय वज्र-अस्त्र उस युद्धस्थल में ।
ब्रह्म, काल, वारुण पाशों को किया प्रयोजित पुनरपि पल में ।। ८ ।।
शुष्क, आर्द्र अशनिप्रयोग कर दयित, पिनाक अस्त्र भी सत्वर ।
छोड़ दिये पैशाच, क्रौञ्च-सँग दण्ड-अस्त्र भी अति बलवत्तर ।। ९ ।।
धर्मचक्र, फिर कालचक्र, फिर विष्णुचक्र का किया प्रयोजन ।
इसी भाँति वायव्य, मथन सँग किया हयशिरा-अस्त्र नियोजन ।।
शक्तिद्वय कंकाल मुसल-संग अस्त्र चलाया फिर विद्याधर ।
फिर कापाल, घोर, फिर कंकण एवं त्रिशूलास्त्र बलवत्तर ।।
गाधि-पुत्र ने अस्त्र चलाये ऋषि वसिष्ठ पर अति बलवत्तर ।
रघुनन्दन ! वे अस्त्र भयावह सब त्रिभुवन के लिए भयंकर ।।१०-१२।।
कौशिक के अस्त्र-प्रहार विपुल, दुर्जय, घटना यद्यपि अद्‌भुत ।
किन्तु किया वसिष्ठ के केवल ब्रह्म-दण्ड से उन्हें नष्ट, द्रुत ।। १३ ।।
उन सर्वास्त्र-शान्ति पर, क्रोधित, कौशिक ने ब्रह्मास्त्र उठाया ।
अग्नि आदि देवों, गन्धर्वों को जिसने अति भीत बनाया ।।
देव, देवऋषि, वृहन्नाग सब त्रिभुवन-वासी प्राणी अगणित ।
उठते ही इस ब्रह्म-अस्त्र के भय के कारण हुए प्रकम्पित ।।१४-१५।।
किन्तु नष्ट हो गया क्षणों में राघव ! ब्रह्म-अस्त्र-बल सारा ।
एकमात्र ऋषिवर वसिष्ठ के उत्तम ब्रह्म-दण्ड के द्वारा ।। १६ ।।
तथा कर रहे थे वसिष्ठ वे ब्रह्म-अस्त्र को शान्त जिस समय ।
उनका रूप कराल, भयंकर त्रिभुवन को मोहक था अतिशय ।। १७ ।।
सभी रोम-कूपों से निकलीं ऋषि के, तभी किरण-मालाएँ ।
और निकलने लगीं, धूम से रहित अग्नि की बहु ज्वालाएँ ।। १८ ।।
वह द्वितीय यम-दण्ड-सदृश था ब्रह्म-दण्ड उन्नत ऋषि कर में ।
कालाग्नि प्रज्वलित धूम-रहित जल रही प्रलय के अवसर में ।। १९ ।।
जापक-प्रार्थी मुनि-गण बोले है अमोघ भवदीय ब्रह्मबल ।
अपने बल को लें समेट अब ! ब्रह्मन् ! अपना तेज समुज्ज्वल ।। २० ।।

निगृहीतस्त्वया ब्रह्मन् विश्वामित्रो महाबलः।
अमोघं ते बलं श्रेष्ठ लोकाः सन्तु गतव्यथाः॥ २१॥

एवमुक्तो महातेजाः शमं चक्रे महाबलः।
विश्वामित्रो विनिकृतो विनिःश्वस्येदमब्रवीत्॥ २२॥

धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे॥ २३॥

तदेतत् प्रसमीक्ष्याहं प्रसन्नेन्द्रियमानसः।
तपो महत् समास्थास्ये यद् वै ब्रह्मत्वकारणम्॥ २४॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः॥ ५६॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

ततः संतप्तहृदयः स्मरन्निग्रहमात्मनः।
विनिःश्वस्य विनिःश्वस्य कृतवैरो महात्मना॥ १॥

स दक्षिणां दिशं गत्वा महिष्या सह राघव।
ततापं परमं घोरं विश्वामित्रो महातपाः॥ २॥

फलमूलाशनो दान्तश्चचार परमं तपः।
अथास्य जज्ञिरे पुत्राः सत्यधर्मपरायणाः॥ ३॥

हविष्पन्दो मधुष्पन्दो दृढनेत्रो महारथः।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु ब्रह्मा लोकपितामहः॥ ४॥

अब्रवीन्मधुरं वाक्यं विश्वामित्रं तपोधनम्।
जिता राजर्षिलोकास्ते तपसा कुशिकात्मज॥ ५॥

अनेन तपसा त्वां हि राजर्षिरिति विद्महे।
एवमुक्त्वा महातेजा जगाम सह दैवतैः॥ ६॥

त्रिविष्टपं ब्रह्मलोकं लोकानां परमेश्वरः।
विश्वामित्रोऽपि तच्छ्रुत्वा ह्रिया किंचिदवाङ्मुखः॥ ७॥

दुःखेन महताविष्टः समन्युरिदमब्रवीत्।
तपश्च सुमहत् तप्तं राजर्षिरिति मां विदुः॥ ८॥

देवाः सर्षिगणाः सर्वे नास्ति मन्ये तपःफलम्।
एवं निश्चित्य मनसा भूय एव महातपाः॥ ९॥

तपश्चचार धर्मात्मा काकुत्स्थ परमात्मवान्।
एतस्मिन्नेव काले तु सत्यवादी जितेन्द्रियः॥ १०॥

विश्वामित्र बली मुनिवर हैं हुए पराजित इसके द्वारा।
अब हों शान्त आप ! जिससे हो व्यथा-हीन यह त्रिभुवन सारा ॥ २१ ॥
शान्त हुए तेजस्वि विक्रमी श्री वसिष्ठ ऋषि-स्तवन श्रवण कर।
बोले विश्वामित्र पराजित लेते व्यथित श्वास अवसर पर ॥ २२ ॥
धिक् क्षत्रिय-बल, है वास्तव में ब्रह्म-तेज ही सर्वोत्तम बल।
क्योंकि विनष्ट हो गये मेरे ब्रह्मदण्ड से अस्त्र ये सकल ॥ २३ ॥
अतः जितेन्द्रिय निर्मल मन मैं तप-व्रत वही करूँगा धारन।
जो होगा ब्रह्मत्व-प्राप्ति का मेरे लिए सर्वथा साधन ॥ २४ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
छप्पनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५६ ॥

सत्तावनवाँ सर्ग

विश्वामित्र की तपस्या, राजा त्रिशंकु का अपना यज्ञ कराने के लिए पहले वसिष्ठ जी से प्रार्थना करना और उनके इन्कार कर देने पर उन्हीं के पुत्रों की शरण में जाना

स्मरण पराजय का रखकर निज, गाधि-सुवन अति हृदय-दग्ध थे।
लेते थे निःश्वास निरन्तर, वृथा ब्रह्मऋषि-शत्रु बने थे ॥ १ ॥
फिर अपनी रानी को लेकर वे दक्षिण दिशि को पयान कर।
करने लगे घोर तप कौशिक (ब्राह्मण-बल संकल्प मानकर) ॥ २ ॥
वे विजितेन्द्रिय फल-मूलादिक खाकर, रहते थे तप में रत।
वहीं हुए उत्पन्न चार सुत इनके पालक सत्यधर्म-व्रत ॥ ३ ॥
हविष्पन्द औ मधुष्पन्द, दृढ़नेत्र, महारथ सुखद गुणागर।
दश शत वर्ष पूर्ण होने पर लोकपितामह विधि तब आकर ॥ ४ ॥
बोले विश्वामित्र तपोधन से यह वाक्य मधुर तब उत्तम।
तप से तुम राजर्षि लोकजित् हुए कुशिकनन्दन ! अतिसक्षम ॥ ५ ॥
मैं सच्चा राजर्षि समझता तुमको कठिन तपस्या से अब।
ऐसा कहकर विधि तेजस्वी सकल लोकपति और देव सब ॥ ६ ॥
स्वर्ग-मार्ग से ब्रह्मलोक को गये शीघ्र होकर अन्तर्हित।
यह सुन करके कौशिक का मुख लज्जा से कुछ हुआ तब नमित ॥ ७ ॥
होकर व्यथित दीनतापूर्वक लगे सोचने मन में वे तब।
इतने तप पर भी समझ रहे ये सुर, ऋषि राजर्षि मुझे सब ॥
होता है प्रतीत इस तप का मिला नहीं मुझको कुछ भी फल।
पुनः समुद्यत हुए महातप कठिन तपस्या को वे निश्चल ॥ ८-९ ॥
फिर कठिनातिकठिन तप करने में धर्मात्मा हुए सुतत्पर।
उसी समय इक्ष्वाकु-कीर्तिकर एक राज्य करते थे नृपवर ॥

त्रिशङ्कुरिति विख्यात इक्ष्वाकुकुलवर्धनः ।
तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना यजेयमिति राघव ॥ ११ ॥
गच्छेयं स्वशरीरेण देवतानां परां गतिम् ।
वसिष्ठं स समाहूय कथयामास चिन्तितम् ॥ १२ ॥
अशक्यमिति चाप्युक्तो वसिष्ठेन महात्मना ।
प्रत्याख्यातो वसिष्ठेन स ययौ दक्षिणां दिशम् ॥ १३ ॥
ततस्तत्कर्मसिद्ध्यर्थं पुत्रांस्तस्य गतो नृपः ।
वासिष्ठा दीर्घतपसस्तपो यत्र हि तेपिरे ॥ १४ ॥
त्रिशङ्कुस्तु महातेजाः शतं परमभास्वरम् ।
वसिष्ठपुत्रान् ददृशे तप्यमानान् मनस्विनः ॥ १५ ॥
सोऽभिगम्य महात्मानः सर्वानेव गुरोः सुतान् ।
अभिवाद्यानुपूर्वेण ह्रिया किंचिदवाङ्मुखः ॥ १६ ॥
अब्रवीत् स महात्मानः सर्वानेव कृताञ्जलिः ।
शरणं वः प्रपन्नोऽहं शरण्याञ्शरणं गतः ॥ १७ ॥
प्रत्याख्यातो हि भद्रं वो वसिष्ठेन महात्मना ।
यष्टुकामो महायज्ञं तदनुज्ञातुमर्हथ ॥ १८ ॥
गुरुपुत्रानहं सर्वान् नमस्कृत्य प्रसादये ।
शिरसा प्रणतो याचे ब्राह्मणांस्तपसि स्थितान् ॥ १९ ॥
ते मां भवन्तः सिद्ध्यर्थं याजयन्तु समाहिताः ।
सशरीरो यथाहं वै देवलोकमवाप्नुयाम् ॥ २० ॥
प्रत्याख्यातो वसिष्ठेन गतिमन्यां तपोधनाः ।
गुरुपुत्रानृते सर्वान् नाहं पश्यामि कांचन ॥ २१ ॥
इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां पुरोधाः परमा गतिः ।
तस्मादनन्तरं सर्वे भवन्तो दैवतं मम ॥ २२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः

ततस्त्रिशङ्कोर्वचनं श्रुत्वा क्रोधसमन्वितम् ।
ऋषिपुत्रशतं राम राजानमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
प्रत्याख्यातोऽसि दुर्मेधो गुरुणा सत्यवादिना ।
तं कथं समतिक्रम्य शाखान्तरमुपेयिवान् ॥ २ ॥

सत्यवादि विजितेन्द्रिय का था नाम त्रिशंकु ख्यात जन-जन में।
'ऐसा उत्तम यज्ञ करूँ मैं', सोचा कभी उन्होंने मन में ॥१०-११॥
इस शरीर के साथ स्वर्ग में जाऊँ देवों की गति पाकर।
और बताया ऋषि वसिष्ठ को उनको अपने पास बुलाकर ॥ १२ ॥
बोले उनसे ऋषि वशिष्ठ तब यह है कार्य अशक्य नृपतिवर!।
कार्यसिद्धि के लिए नृपति वे गये दिशा दक्षिण यह सुनकर ॥ १३ ॥
चले गये वे ऋषि वसिष्ठ के पुत्रों के ही पास नृपति वर।
दीर्घ काल से ऋषि वसिष्ठ के पुत्र जहाँ थे तप में तत्पर ॥ १४ ॥
तेजस्वी त्रिशंकु ने देखा सौ पुत्रों को वहाँ पहुँचकर।
वे तेजस्वी सयत-मन थे और तपस्या में थे तत्पर ॥ १५ ॥
नृपति, महात्मा गुरु-पुत्रों के विनयपूर्वक पास पहुँचकर।
क्रम से किया प्रणाम सभी को कुछ लज्जा से मुख नीचा कर ॥
हाथ जोड़कर मनस्वियों से इस प्रकार वे बोले उस क्षण।
मैंने आप शरण्य गुरु-सुतों की अब ली है सर्वथा शरण ॥१६-१७॥
शिव[1] हो! मख[2] करवाने को है ऋषि वसिष्ठ ने किया अस्वीकृत।
उत्तम मख करने के इच्छुक को अब आप करें! आज्ञापित ॥ १८ ॥
इच्छा है सु-प्रसन्न करूँ मै आप सभी को करके प्रणमन।
आप सभी हैं तप में तत्पर रहनेवाले श्रेष्ठ विप्रजन ॥
आप सभी एकाग्रचित्त हो मेरा वाञ्छित यज्ञ कराएँ।
जिससे मैं स-शरीर स्वर्ग को जाऊँ मिटें सभी चिन्ताएँ ॥१९-२०॥
तपोधनो! मैं श्री वसिष्ठ से अस्वीकार किये जाने पर।
मेरे सम्मुख गति न अन्य कुछ गुरु-पुत्रो! श्रीमन्-शरणेतर ॥ २१ ॥
सब इक्ष्वाकु-वशियों के हैं श्री वसिष्ठ ही पूज्य परम गति।
उनके बाद आप ही मेरे पूज्य देवता हैं परमोचित ॥ २२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५७ ॥

अट्ठावनवाँ सर्ग

वसिष्ठ ऋषि के पुत्रों का त्रिशंकु को डाँट बताकर घर लौटने के लिए आज्ञा देना तथा उन्हें दूसरा पुरोहित बनाने को उद्यत देख शाप-प्रदान और उनके शाप से चाण्डाल हुए त्रिशंकु का विश्वामित्र जी की शरण में जाना

सुनकर वचन त्रिशंकु नृपति के, राम! हुए गुरु-सुत शत प्रकुपित।
बोले फिर गुरु-पुत्र सभी वे कर त्रिशकु को परम तिरस्कृत ॥ १ ॥
सत्यव्रती गुरु ने दुर्बुद्धे! रोक दिया मख करने को जब।
अन्य शाख का आश्रय लेकर क्यों आज्ञोल्लंघन करते तब? ॥ २ ॥

---

१ कल्याण; २ यज्ञ।

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां पुरोधाः परमा गतिः ।
न चातिक्रमितुं शक्यं वचनं सत्यवादिनः ॥ ३ ॥
अशक्यमिति सोवाच वसिष्ठो भगवानृषिः ।
तं वयं वै समाहर्तुं क्रतुं शक्ताः कथंचन ॥ ४ ॥
बालिशस्त्वं नरश्रेष्ठ गम्यतां स्वपुरं पुनः ।
याजने भगवाञ्शक्तस्त्रैलोक्यस्यापि पार्थिव ॥ ५ ॥
अवमानं कथं कर्तुं तस्य शक्ष्यामहे वयम् ।
तेषां तद् वचनं श्रुत्वा क्रोधपर्याकुलाक्षरम् ॥ ६ ॥
स राजा पुनरेवैतानिदं वचनमब्रवीत् ।
प्रत्याख्यातो भगवता गुरुपुत्रैस्तथैव हि ॥ ७ ॥
अन्यां गतिं गमिष्यामि स्वस्ति वोऽस्तु तपोधनाः ।
ऋषिपुत्रास्तु तच्छ्रुत्वा वाक्यं घोराभिसंहितम् ॥ ८ ॥
शेपुः परमसंक्रुद्धाश्चण्डालत्वं गमिष्यसि ।
इत्युक्त्वा ते महात्मानो विविशुः स्वं स्वमाश्रमम् ॥ ९ ॥
अथ रात्र्यां व्यतीतायां राजा चण्डालतां गतः ।
नीलवस्त्रधरो नीलः पुरुषो ध्वस्तमूर्धजः ॥ १० ॥
चित्यमाल्याङ्गरागश्च आयसाभरणोऽभवत् ।
तं दृष्ट्वा मन्त्रिणः सर्वे त्यज्य चण्डालरूपिणम् ॥ ११ ॥
प्राद्रवन् सहिता राम पौरा येऽस्यानुगामिनः ।
एको हि राजा काकुत्स्थ जगाम परमात्मवान् ॥ १२ ॥
दह्यमानो दिवारात्रं विश्वामित्रं तपोधनम् ।
विश्वामित्रस्तु तं दृष्ट्वा राजानं विफलीकृतम् ॥ १३ ॥
चण्डालरूपिणं राम मुनिः कारुण्यमागतः ।
कारुण्यात् स महातेजा वाक्यं परमधार्मिकः ॥ १४ ॥
इदं जगाद भद्रं ते राजानं घोरदर्शनम् ।
किमागमनकार्यं ते राजपुत्र महाबल ॥ १५ ॥
अयोध्याधिपते वीर शापाच्चण्डालतां गतः ।
अथ तद्वाक्यमाकर्ण्य राजा चण्डालतां गतः ॥ १६ ॥
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ।
प्रत्याख्यातोऽस्मि गुरुणा गुरुपुत्रैस्तथैव च ॥ १७ ॥
अनवाप्यैव तं कामं मया प्राप्तो विपर्ययः ।
सशरीरो दिवं यायामिति मे सौम्यदर्शन ॥ १८ ॥

इक्ष्वाकु-वंश के पूज्य पुरोहित, गति वसिष्ठ हैं मात्र तथा।
प्रवर सत्यवादिन् के वचनों को कर सकता कौन अन्यथा॥ ३ ॥
श्री भगवान ऋषीश्वर ने है जिस मख[1] को कह दिया असम्भव।
उसको ही सम्पन्न कराने की स्वीकृति दें, कैसे सम्भव?॥ ४ ॥
अज्ञानी! जाओ! निज पुर को यत्न तुम्हारे सभी व्यर्थ हैं।
ऋषि वसिष्ठ त्रैलोक्य मात्र के यज्ञाचार्यो में समर्थ हैं॥ ५ ॥
उनका फिर अपमान भला कब? कर पाएंगे हम सब कैसे?।
क्रोध-युक्त गुरु-पुत्रों के सुन वचन नृपति बोले तब ऐसे॥
तपोधनो! गुरुवर वसिष्ठ ने ठुकराया है मुझे यज्ञ-हित।
और आप गुरु-सुत भी मेरी करते नहीं प्रार्थना स्वीकृत॥ ६-७ ॥
आप सभी का मंगल हो! मैं अतः जा रहा अन्य-शरण में।
यह, त्रिशंकु का वचन श्रवण कर कुपित हुए गुरु-सुत वे क्षण में॥
फिर, त्रिशंकु को शाप दे दिया, होगा तू चाण्डाल विनिन्दित।
ऐसा कह निज-निज आश्रम को गये महात्मा-सुत वे वन्दित॥ ८-९ ॥
रात बीतते ही त्रिशंकु वे नीलकाय चाण्डाल हुए तब।
नील वसन, रुक्षांग[2] हुए वे सिर के केश हुए छोटे सब॥ १० ॥
चिता-भस्म-सम लिप्त धूलि के भूषण भी सब हुए लौहमय।
राम! उन्हें चाण्डाल देखकर सचिव, पुरजनों में छाया भय॥
वे अनुगामी, धैर्य-स्वभावी उन त्रिशंकु को, गये त्याग कर।
तब ककुत्स्थ-सुत! वे नृप निशि-दिन चिन्तानल[3] का कष्ट प्राप्त कर॥
गये अकेले स्वयं, तपोधन विश्वामित्र-शरण में फिर तब।
कौशिक ने समझा, रघुनन्दन! है त्रिशंकु-जीवन निष्फल सब॥११-१३॥
फिर त्रिशंकु चाण्डाल-रूपि पर मुनि-मन में करुणा भर आई।
द्रवित हुए, बोले फिर लखकर भीषण रूप अतिव दुखदाई॥ १४ ॥
दिखते थे जो परम भयंकर उनसे बोले परम द्रवित मन।
भला तुम्हारा हो भूपति-सुत! किस कारण से हुआ आगमन?॥ १५ ॥
वीर! हुए चाण्डाल, शप्त[4] हो लगता हमें अयोध्या-नृपवर।
चाण्डालत्व प्राप्त भूपति वे विश्वामित्र-वचन को सुनकर॥
बोले वाक्य-सुकोविद से तब हाथ जोड़कर वाक्य, विज्ञवर!।
गुरु वसिष्ठ, उनके पुत्रों ने ठुकराया है मुझको ऋषिवर!॥
इस शरीर से स्वर्ग-गमन का यत्न हुआ मुनिराज! व्यर्थ का।
वस्तु अभिलषित मिल न सकी मैं हुआ किन्तु भागी अनर्थ का॥

---

१ यज्ञ; २ कठोर अंग वाला; ३ चिन्ता रूपी अग्नि; ४ शापित।

मया चेष्टं क्रतुशतं तच्च नावाप्यते फलम्।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन ॥ १९ ॥
कृच्छ्रेष्वपि गतः सौम्य क्षत्रधर्मेण ते शपे।
यज्ञैर्बहुविधैरिष्टं प्रजा धर्मेण पालिताः ॥ २० ॥
गुरवश्च महात्मानः शीलवृत्तेन तोषिताः।
धर्मे प्रयतमानस्य यज्ञं चाहर्तुमिच्छतः ॥ २१ ॥
परितोषं न गच्छन्ति गुरवो मुनिपुङ्गव।
दैवमेव परं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥ २२ ॥
दैवेनाक्रम्यते सर्वं दैवं हि परमा गतिः।
तस्य मे परमार्तस्य प्रसादमभिकाङ्क्षतः।
कर्तुमर्हसि भद्रं ते दैवोपहतकर्मणः ॥ २३ ॥
नान्यां गतिं गमिष्यामि नान्यच्छरणमस्ति मे।
दैवं पुरुषकारेण निवर्तयितुमर्हसि ॥ २४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

उक्तवाक्यं तु राजानं कृपया कुशिकात्मजः।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं साक्षाच्चण्डालतां गतम् ॥ १ ॥
इक्ष्वाको स्वागतं वत्स जानामि त्वां सुधार्मिकम्।
शरणं ते प्रदास्यामि मा भैषीर्नृपपुङ्गव ॥ २ ॥
अहमामन्त्रये सर्वान् महर्षीन् पुण्यकर्मणः।
यज्ञसाह्यकरान् राजंस्ततो यक्ष्यसि निर्वृतः ॥ ३ ॥
गुरुशापकृतं रूपं यदिदं त्वयि वर्तते।
अनेन सह रूपेण सशरीरो गमिष्यसि ॥ ४ ॥
हस्तप्राप्तमहं मन्ये स्वर्गं तव नराधिप।
यस्त्वं कौशिकमागम्य शरण्यं शरणागतः ॥ ५ ॥
एवमुक्त्वा महातेजाः पुत्रान् परमधार्मिकान्।
व्यादिदेश महाप्राज्ञान् यज्ञसम्भारकारणात् ॥ ६ ॥
सर्वाञ्शिष्यान् समाहूय वाक्यमेतदुवाच ह।
सर्वानृषीन् सवासिष्ठानानयध्वं ममाज्ञया ॥ ७ ॥

मैंने शत-शत यज्ञ किये हैं मिला न उनका किन्तु मुझे फल।
मिथ्या वादन हुआ न मुझसे और न होगा कभी किसी पल ॥१६-१९॥
क्षात्र-धर्म की शपथ खा रहा संकट में भी हुआ न विचलित।
तथा धर्मतः प्रजा-सुरक्षा की मैंने मख[1] किये अपरिमित ॥ २० ॥
मुझसे शील, आचरण द्वारा हुए महात्मा गुरु जन तोषित[2]।
अब भी तो था यज्ञेच्छुक मैं इससे होता धर्म सुपोषित[3] ॥ २१ ॥
मुनिवर ! मेरे गुरु जन मुझ पर हो न सके कुछ भी प्रसन्न जब।
मान गया मैं, भाग्य मुख्य है तथा निरर्थक है पौरुष सब ॥ २२ ॥
सबकी ही है दैव परम गति, दैव आक्रमण करता सब पर।
मैं अत्यन्त आर्त होकर अब आया कृपा-हेतु तव, मुनिवर ! ॥
दैव-दलित पुरुषार्थ हमारा हुआ अतः अति कृपा करें ! अब।
(मंगल हो भवदीय ! निरन्तर आप मनोरथ फलित करें ! सब) ॥ २३ ॥
शरण न कहीं, शरण बस मुनि की, नहीं करूँगा कहीं को गमन।
आप देव ! दुर्दैव मिटाकर, शुभ में कर सकते परिवर्तन ॥ २४ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५८ ॥

उनसठवाँ सर्ग

विश्वामित्र का त्रिशंकु को आश्वासन देकर उनका यज्ञ कराने के लिए ऋषि-मुनियों को आमन्त्रित करना और उनकी बात न माननेवाले महोदय तथा ऋषिपुत्रों को शाप देकर नष्ट करना

सुन करके चाण्डाल-रूप उन नृप त्रिशंकु का वाक्य वह कथित।
विश्वामित्र वचन मृदु बोले, होकर परम दया से सु-द्रवित ॥ १ ॥
समझ रहा इक्ष्वाकु-वत्स ! तुम धर्मात्मा हो स्वागत है तव !।
भय मत करो ! शरण मैं दूँगा तुमको अपनी राजन् ! अभिनव ॥ २ ॥
सभी पुण्यकर्मा ऋषियों को मैं करता हूँ नृप ! आमन्त्रित।
देंगे सब साहाय्य तुम्हें वे करना यज्ञ सुफल आनन्दित ॥ ३ ॥
गुरु से शापित मिला रूप जो तुम्हें ! उसी के साथ रिपुंजय !।
सहित देह के तुम जाओगे इच्छित स्वर्गलोक को निश्चय ॥ ४ ॥
शरणागत-वत्सल कौशिक की शरण आ गये हो तुम नृपवर !।
अतः समझता हाथ तुम्हारे आया स्वर्गलोक है सुखकर ॥ ५ ॥
यह कह, तेजस्वी ने अपने पुत्रों को आज्ञा दी सत्वर।
सामग्रियाँ यज्ञ की अब तुम ! करो इकट्ठा हे धार्मिक वर ! ॥ ६ ॥
सब शिष्यों को पास बुलाकर कहा, करो मख-हित आमन्त्रित।
बहु-विषयज्ञ[4] सभी ऋषियों को हों वसिष्ठ-सुत भी सु-सम्मिलित ॥

---

१ यज्ञ; २ संतुष्ट; ३ भली प्रकार पालन; ४ नाना विषयों को जाननेवाले।

सशिष्यान् सुहृदश्चैव सर्त्विजः सुबहुश्रुतान् ।
यदन्यो वचनं ब्रूयान्मद्वाक्यबलचोदितः ॥ ८ ॥
तत् सर्वमखिलेनोक्तं ममाख्येयमनादृतम् ।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा दिशो जग्मुस्तदाज्ञया ॥ ९ ॥
आजग्मुरथ देशेभ्यः सर्वेभ्यो ब्रह्मवादिनः ।
ते च शिष्याः समागम्य मुनिं ज्वलिततेजसम् ॥ १० ॥
ऊचुश्च वचनं सर्वं सर्वेषां ब्रह्मवादिनाम् ।
श्रुत्वा ते वचनं सर्वे समायान्ति द्विजातयः ॥ ११ ॥
सर्वदेशेषु चागच्छन् वर्जयित्वा महोदयम् ।
वासिष्ठं यच्छतं सर्वं क्रोधपर्याकुलाक्षरम् ॥ १२ ॥
यथाह वचनं सर्वं शृणु त्वं मुनिपुङ्गव ।
क्षत्रियो याजको यस्य चण्डालस्य विशेषतः ॥ १३ ॥
कथं सदसि भोक्तारो हविस्तस्य सुरर्षयः ।
ब्राह्मणा वा महात्मानो भुक्त्वा चाण्डालभोजनम् ॥ १४ ॥
कथं स्वर्गं गमिष्यन्ति विश्वामित्रेण पालिताः ।
एतद् वचननैष्ठुर्यमूचुः संरक्तलोचनाः ॥ १५ ॥
वासिष्ठा मुनिशार्दूल सर्वे सहमहोदयाः ।
तेषां तद् वचनं श्रुत्वा सर्वेषां मुनिपुङ्गवः ॥ १६ ॥
क्रोधसंरक्तनयनः सरोषमिदमब्रवीत् ।
यद् दूषयन्त्यदुष्टं मां तप उग्रं समास्थितम् ॥ १७ ॥
भस्मीभूता दुरात्मानो भविष्यन्ति न संशयः ।
अद्य ते कालपाशेन नीता वैवस्वतक्षयम् ॥ १८ ॥
सप्तजातिशतान्येव मृतपाः सम्भवन्तु ते ।
श्वमांसनियताहारा मुष्टिका नाम निर्घृणाः ॥ १९ ॥
विकृताश्च विरूपाश्च लोकाननुचरन्त्विमान् ।
महोदयश्च दुर्बुद्धिर्मामदूष्यं ह्यदूषयत् ॥ २० ॥
दूषितः सर्वलोकेषु निषादत्वं गमिष्यति ।
प्राणातिपातनिरतो निरनुक्रोशतां गतः ॥ २१ ॥

ऋषि-मुनि, शिष्यों, सुहृद्, ऋत्विजों को भी लाओ! तुम सब जाकर।
तथा बुलाया गया व्यक्ति या अन्य उपेक्षा उससे पाकर।।
यज्ञ-विषय में जो भी जैसा कहे बताना वह मुझको सब।
आज्ञापित हो सभी दिशाओं में कौशिक के शिष्य गये तब।। ७-९ ।।
सब देशों से ब्रह्म-वादि जन आने लगे वहाँ तदनन्तर।
तेजस्वी कौशिक-शिष्यों ने उनके पास लौट के आकर।।
बतलाये आहूत[1] महात्मा पुरुषों-द्वारा कथित सब वचन।
बोले, गुरो! सभी देशों से विप्रों का हो रहा आगमन।।१०-११।।
किन्तु महोदय ऋषि तथैव श्री गुरु वसिष्ठ-पुत्रों को तजकर।
आने को प्रस्थान कर चुके अन्य सभी, गुरुवर! महर्षिवर।।
अतिशय क्रुद्ध वसिष्ठ-सुतों ने गुरुवर का सन्देश श्रवण कर।
जो कुछ, जैसे वचन कहे थे, सुनें! उन्हें भी आप! कृपा कर।।
वे बोले, चाण्डाल-यज्ञ में हो आचार्य जहाँ पर क्षत्रिय।
वहाँ हविष्य-भोज में कैसे विप्र, देव, ऋषि होंगे सक्रिय[2]?।।
विश्वामित्र-प्रपालित ब्राह्मण स्वर्गलोक जाएँगे कैसे?।
अति निष्ठुर अरुणाभनयन[3] हो कहे वचन इन सबने ऐसे।।
मुनि शार्दूल महोदय के सँग ऋषि वसिष्ठ-पुत्रों ने गुरुवर!।
विश्वामित्र मुनीश्वर ने तब उन सबकी वार्ताएँ सुनकर।।
रक्त नयन, अतिशय क्रोधित हो इस प्रकार से बोले तब फिर।
मैं दुर्भाव, दोष को तजकर उग्र तपस्या में हूँ सुस्थिर।।१२-१७।।
होंगे भस्म दुरात्मा, विनशित मुझ पर दोष लगाते जो सब।
वे जाएँगे काल-पाश में बँधकर यम के पुर निश्चय अब।। १८ ।।
तथा सात सौ जन्म रहेंगे मृतप[4] श्वान के मांसाहारी[5]।
निन्द्य जाति मुष्टिक चाण्डालिन में ही रहें जन्म-अधिकारी।। १९ ।।
सब लोकों में वे विचरेंगे होकर विकृत, विरूप निरन्तर।
और महा दुर्बुद्धि महोदय दोष-हीन मुझको दूषित कर।। २० ।।
होंगे मेरे परम कोप से बहुत समय तक प्रतिजन-निन्दित।
तथा दूसरे सभी प्राणियों की हिंसा में सदा प्रवर्तित।।

---

१ बुलाये गये; २ सम्मिलित; ३ लाल नेत्रों वाले; ४ मुर्दों की रखवाली करनेवाले; ५ कुत्तों का मांस खानेवाले।

दीर्घकालं मम क्रोधाद् दुर्गतिं वर्तयिष्यति ।
एतावदुक्त्वा वचनं विश्वामित्रो महातपाः ।
विरराम महातेजा ऋषिमध्ये महामुनिः ॥ २२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः

तपोबलहताञ्ज्ञात्वा वासिष्ठान् समहोदयान् ।
ऋषिमध्ये महातेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥
अयमिक्ष्वाकुदायादिस्त्रशङ्कुरिति विश्रुतः ।
धर्मिष्ठश्च वदान्यश्च मां चैव शरणं गतः ॥ २ ॥
स्वेनानेन शरीरेण देवलोकजिगीषया ।
यथायं स्वशरीरेण देवलोकं गमिष्यति ॥ ३ ॥
तथा प्रवर्त्यतां यज्ञो भवद्भिश्च मया सह ।
विश्वामित्रवचः श्रुत्वा सर्व एव महर्षयः ॥ ४ ॥
ऊचुः समेताः सहसा धर्मज्ञा धर्मसंहितम् ।
अयं कुशिकदायादो मुनिः परमकोपनः ॥ ५ ॥
यदाह वचनं सम्यगेतत् कार्यं न संशयः ।
अग्निकल्पो हि भगवान् शापं दास्यति रोषतः ॥ ६ ॥
तस्मात् प्रवर्त्यतां यज्ञः सशरीरो यथा दिवि ।
गच्छेदिक्ष्वाकुदायादो विश्वामित्रस्य तेजसा ॥ ७ ॥
ततः प्रवर्त्यतां यज्ञः सर्वे समधितिष्ठत ।
एवमुक्त्वा महर्षयः संजह्रुस्ताः क्रियास्तदा ॥ ८ ॥
याजकश्च महातेजा विश्वामित्रोऽभवत् क्रतौ ।
ऋत्विजश्चानुपूर्व्येण मन्त्रवन्मन्त्रकोविदाः ॥ ९ ॥
चक्रुः सर्वाणि कर्माणि यथाकल्पं यथाविधि ।
ततः कालेन महता विश्वामित्रो महातपाः ॥ १० ॥
चकारावाहनं तत्र भागार्थं सर्वदेवताः ।
नाभ्यागमंस्तदा तत्र भागार्थं सर्वदेवताः ॥ ११ ॥
ततः कोपसमाविष्टो विश्वामित्रो महामुनिः ।
स्रुवमुद्यम्य सक्रोधस्त्रिशङ्कुमिदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

लेकर जन्म निषाद-योनि में दया-शून्य भोगेंगे दुर्गति।
इस प्रकार से शाप दे दिया कौशिक ऋषि ने उन सबके प्रति ॥
महातपस्वी कौशिक ने तब ऋषि-समूह में ऐसा कहकर।
शान्त हो गये अति तेजस्वी तब फिर विश्वामित्र सुमति वर ॥२१-२२॥

॥ श्री वाल्मीक-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में उनसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५६ ॥

साठवाँ सर्ग

विश्वामित्र का ऋषियों से त्रिशंकु का यज्ञ कराने के लिए अनुरोध, ऋषियों द्वारा यज्ञ का आरम्भ, त्रिशंकु का सशरीर स्वर्गगमन, इन्द्र द्वारा स्वर्ग से उनके गिराये जाने पर क्षुब्ध हुए विश्वामित्र का नूतन देवसर्ग के लिए उद्योग, फिर देवताओं के अनुरोध से उनका इस कार्य से विरत होना

सहित महोदय, तप-बल से फिर गुरु वसिष्ठ-सुत-कुगति समझकर।
बोले, राम! सभी ऋषियों से वे तेजस्वी कौशिक मुनिवर ॥ १ ॥
दानी, धर्मात्मा, त्रिशंकु ये हैं इक्ष्वाकु-वंश के जातक।
जो कि शरण लेने को मेरी आये हैं इस समय यहाँ तक ॥ २ ॥
ये इच्छुक हैं इस शरीर से देव-लोक-अधिकार-प्राप्ति हित।
अतः जिस तरह जा पायें ये इसी रूप में स-तन स्वर्ग-स्थित ॥ ३ ॥
ऐसा कोई यज्ञ, आप सब! मेरे साथ करें! मिल करके।
महर्षियों ने वचन श्रवण कर इस प्रकार कौशिक ऋषिवर के ॥ ४ ॥
कहा परस्पर में सुधर्म-मय परामर्श-द्वारा कर निश्चय ॥
विप्रो! विश्वामित्र तपस्वी कुशिक-पुत्र हैं क्रोधी अतिशय।
अतः कह रहे जैसा, वैसा हम सबको करना है समुचित ॥
अग्नि-तुल्य तेजस्वी देंगे शाप, अन्यथा होकर प्रकुपित।
अतः गाधि-सुत-तेजोबल से हम सब ऐसा यज्ञ रचायें ॥
जिससे ये त्रिशंकु इक्ष्वाकुज-सहित शरीर स्वर्ग को जायें ॥ ५-७ ॥
हुआ सर्वसम्मति से निश्चय यज्ञारम्भ किया जाए अब।
अपने-अपने कार्य कर दिये ऋषियों ने आरम्भ शीघ्र तब ॥ ८ ॥
स्वयं महातेजस्वी कौशिक याजक हुए यज्ञ में तब फिर।
और अनेक मन्त्र के ज्ञाता विप्र हुए ऋत्विज बन सुस्थिर ॥
सबने कल्पशास्त्र की विधि से मन्त्र-पाठ कर, कार्य किये सब।
विश्वामित्र तपस्वी ने भी बहुत समय तक मन्त्र पढ़े तब ॥
फिर मख-भाग-ग्रहण करने को किया देव-गण का आवाहन।
किन्तु उस समय उन देवों का हुआ वहाँ पर नहीं आगमन ॥९-११॥
इससे विश्वामित्र मुनीश्वर परम क्रुद्ध हो स्रुवा उठाकर।
भरे रोष में, नृप त्रिशंकु से बोले इस प्रकार तदनन्तर ॥ १२ ॥

पश्य मे तपसो वीर्यं स्वार्जितस्य नरेश्वर।
एष त्वां स्वशरीरेण नयामि स्वर्गमोजसा ॥ १३ ॥
दुष्प्रापं स्वशरीरेण स्वर्गं गच्छ नरेश्वर।
स्वार्जितं किञ्चिदप्यस्ति मया हि तपसः फलम् ॥ १४ ॥
राजंस्त्वं तेजसा तस्य सशरीरो दिवं व्रज।
उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन् सशरीरो नरेश्वरः ॥ १५ ॥
दिवं जगाम काकुत्स्थ मुनीनां पश्यतां तदा।
स्वर्गलोकं गतं दृष्ट्वा त्रिशङ्कुं पाकशासनः ॥ १६ ॥
सह सर्वैः सुरगणैरिदं वचनमब्रवीत्।
त्रिशङ्को गच्छ भूयस्त्वं नासि स्वर्गकृतालयः ॥ १७ ॥
गुरुशापहतो मूढ पत भूमिमवाक्शिराः।
एवमुक्तो महेन्द्रेण त्रिशङ्कुरपतत् पुनः ॥ १८ ॥
विक्रोशमानस्त्राहीति विश्वामित्रं तपोधनम्।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य क्रोशमानस्य कौशिकः ॥ १९ ॥
रोषमाहारयत् तीव्रं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्।
ऋषिमध्ये स तेजस्वी प्रजापतिरिवापरः ॥ २० ॥
सृजन् दक्षिणमार्गस्थान् सप्तर्षीनपरान् पुनः।
नक्षत्रवंशमपरमसृजत् क्रोधमूर्च्छितः ॥ २१ ॥
दक्षिणां दिशमास्थाय ऋषिमध्ये महायशाः।
सृष्ट्वा नक्षत्रवंशं च क्रोधेन कलुषीकृतः ॥ २२ ॥
अन्यमिन्द्रं करिष्यामि लोको वा स्यादनिन्द्रकः।
दैवतान्यपि स क्रोधात् स्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ २३ ॥
ततः परमसम्भ्रान्ताः सर्षिसङ्घाः सुरासुराः।
विश्वामित्रं महात्मानमूचुः सानुनयं वचः ॥ २४ ॥
अयं राजा महाभाग गुरुशापपरिक्षतः।
सशरीरो दिवं यातुं नार्हत्येव तपोधन ॥ २५ ॥
तेषां तद् वचनं श्रुत्वा देवानां मुनिपुङ्गवः।
अब्रवीत् सुमहद् वाक्यं कौशिकः सर्वदेवताः ॥ २६ ॥
सशरीरस्य भद्रं वस्त्रिशङ्कोरस्य भूपतेः।
आरोहणं प्रतिज्ञातं नानृतं कर्तुमुत्सहे ॥ २७ ॥
स्वर्गोऽस्तु सशरीरस्य त्रिशङ्कोरस्य शाश्वतः।
नक्षत्राणि च सर्वाणि मामकानि ध्रुवाण्यथ ॥ २८ ॥
यावल्लोका धरिष्यन्ति तिष्ठन्त्वेतानि सर्वशः।
यत् कृतानि सुराः सर्वे तदनुज्ञातुमर्हथ ॥ २९ ॥

देखो राजन्! अपने द्वारा अर्जित[1] तप का फल दिखलाता।
तुमको अभी स्वकीय[2] शक्ति से मैं स-शरीर स्वर्ग पहुँचाता॥ १३ ॥
तुम दुष्प्राप्य स्वर्ग को अपने इस शरीर से जाओ नृपवर!।
मैंने प्राप्त किया है कुछ भी कठिन तपस्या-फल यदि शुभकर॥
तो जाओ! उसके प्रभाव से सहित शरीर स्वर्ग तुम सत्वर।
मुनिवर के इतना कहने पर सहित शरीर त्रिशंकु नरेश्वर॥१४-१५॥
मुनियों के देखते-देखते स्वर्गलोक को गये नृपतिवर।
पहुँचा हुआ स्वर्ग में देखा जब त्रिशंकु को, बोले सुरवर॥ १६ ॥
तब सब देवों-सहित भूप से कहा, अरे सुन नृपति अधमतर!।
लौट, यहाँ से मूर्ख! स्वर्ग में स्थान नहीं है तुझे उचिततर॥ १७ ॥
अतः अधोमुख नीचे जा! तू गुरु-द्रोही गुरु-शाप न मोचन।
इतना कहते ही महेन्द्र[3] के हुआ त्रिशंकु भूप का निपतन॥ १८ ॥
'त्राहि तपोधन!' यों चिल्लाते रहे त्रिशंकु पतन-अवसर पर।
उनकी करुण पुकार श्रवण कर क्रोधित कौशिक हुए मुनीश्वर॥ १९ ॥
फिर त्रिशंकु से बोले कौशिक 'ठहरो! ठहरो! वहीं भूपवर!'।
ऋषि-मण्डल में अन्य प्रजापति-सदृश बन गये अन्य सृष्टिकर[4]॥
दक्षिण-पथ के लिए सु-नूतन की सप्तर्षि-सृष्टि, हो प्रकुपित।
एवं निर्मित किये शीघ्र ही अगणित नव नक्षत्र अपरिमित॥२०-२१॥
क्रोधित कौशिक तारागण रच, करने लगे विचार पुनः तब।
बिना इन्द्र के स्वर्ग रहेगा? या निर्मित हो नया स्वर्ग अब॥
यह निश्चय कर, अति क्रोधित वे नये देवता लगे विरचने।
अतः सभी देवता, असुर, ऋषि मन में लगे बहुत ही डरने॥२२-२३॥
विश्वामित्र-पास में आकर करने लगे तभी वे अनुनय।
गुरु-शापित चण्डाल भूप का महाभाग! हो गया पुण्य-क्षय॥
सहित शरीर स्वर्ग जाने के कैसे होंगे! ये अधिकारी?।
नष्ट हो गयी पुण्य-राशि जब गुरु-शापित होने से सारी॥२४-२५॥
सुनकर, उन देवों की वार्ता भलीभाँति से कौशिक मुनिवर।
बोले फिर, उन सब देवों से परमोत्कृष्ट वचन यह रुचिकर॥ २६ ॥
मैं स-शरीर त्रिशंकु भूप को स्वर्ग भेजने का करके प्रण।
मिथ्या नहीं करूँगा, निश्चय हो कल्याण आपका, सुरगण!॥ २७ ॥
इन त्रिशंकु को सदा स्वर्ग-सुख मिले और तारक नव-निर्मित।
वह सब मेरी सृष्टि रहे अब, जब तक रहे सृष्टि यह संस्थित[5]॥
इसी भाँति अन्यान्य सृष्टि भी जो कुछ मैं कर चुका तपोधन।
रहे चिरस्थायी, हे देवो! करें आप सबका अनुमोदन॥२८-२९॥

---

१ कमाये हुए; २ अपनी; ३ इन्द्र; ४ सृष्टि रचयिता ब्रह्मा; ५ टिकी हुई।

एवमुक्ताः सुराः सर्वे प्रत्यूचुर्मुनिपुङ्गवम् ।
एवं भवतु भद्रं ते तिष्ठन्त्वेतानि सर्वशः ॥ ३० ॥
गगने तान्यनेकानि वैश्वानरपथाद् बहिः ।
नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ तेषु ज्योतिःषु जाज्वलन् ॥ ३१ ॥
अवाक्शिरास्त्रिशङ्कुश्च तिष्ठत्वमरसंनिभः ।
अनुयास्यन्ति चैतानि ज्योतींषि नृपसत्तमम् ॥ ३२ ॥
कृतार्थं कीर्तिमन्तं च स्वर्गलोकगतं यथा ।
विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा सर्वदेवैरभिष्टुतः ॥ ३३ ॥
ऋषिमध्ये महातेजा बाढमित्येव देवताः ।
ततो देवा महात्मानो ऋषयश्च तपोधनाः ।
जग्मुर्यथागतं सर्वे यज्ञस्यान्ते नरोत्तम ॥ ३४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रो महातेजाः प्रस्थितान् वीक्ष्य तानृषीन् ।
अब्रवीन्नरशार्दूल सर्वांस्तान् वनवासिनः ॥ १ ॥
महाविघ्नः प्रवृत्तोऽयं दक्षिणामास्थितो दिशम् ।
दिशमन्यां प्रपत्स्यामस्तत्र तप्स्यामहे तपः ॥ २ ॥
पश्चिमायां विशालायां पुष्करेषु महात्मनः ।
सुखं तपश्चरिष्यामः सुखं तद्धि तपोवनम् ॥ ३ ॥
एवमुक्त्वा महातेजाः पुष्करेषु महामुनिः ।
तप उग्रं दुराधर्षं तेपे मूलफलाशनः ॥ ४ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु अयोध्याधिपतिर्महान् ।
अम्बरीष इति ख्यातो यष्टुं समुपचक्रमे ॥ ५ ॥
तस्य वै यजमानस्य पशुमिन्द्रो जहार ह ।
प्रणष्टे तु पशौ विप्रो राजानमिदमब्रवीत् ॥ ६ ॥
पशुरभ्याहृतो राजन् प्रणष्टस्तव दुर्नयात् ।
अरक्षितारं राजानं घ्नन्ति दोषा नरेश्वर ॥ ७ ॥
प्रायश्चित्तं महद्ध्येतन्नरं वा पुरुषर्षभ ।
आनयस्व पशुं शीघ्रं यावत् कर्म प्रवर्तते ॥ ८ ॥

सभी वस्तुएँ रहें सु-संस्थित, मंगल हो भवदीय सर्वथा।
सुरगण बोले, हो ऐसा ही मुनिवर! 'तथास्तु', कह रहे यथा।। ३० ।।
मुनिवर! ये नक्षत्र गगन में हुए आप से जो हैं विरचित।
वैश्वानर-पथ से बाहर नित होंगे सदा प्रकाशित अगणित।। ३१ ।।
उन ज्योतित तारक-सुमध्य[1] में अपना सिर नीचा कर उत्तम।
ये त्रिशंकु भी देवों-जैसे होंगे भासित तब नृपसत्तम।। ३२ ।।
नृप का, सदा करेंगे तारे दिव्य पुरुष की भाँति अनुसरण।
फिर धार्मिक तेजस्वी कौशिक की स्तुति करने लगे देवगण।। ३३ ।।
कहा, 'बहुत अच्छा' कौशिक ने अति प्रसन्न होकर उनसे तब।
स्वीकृत किये सभी देवों के कौशिक ने अनुरोध सभी तब।।
हे मनुष्य-वर! राम! हो चुका, भलीभाँति सम्पन्न यज्ञ जब।
जैसे आये थे, वैसे फिर गये तपोधन ऋषि, सुरवर सब।। ३४ ।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
साठवाँ सर्ग समाप्त ।। ६० ।।

इकसठवाँ सर्ग

विश्वामित्र की पुष्कर तीर्थ में तपस्या तथा राजर्षि अम्बरीष का ऋचीक के मध्यम पुत्र शुनःशेप को यज्ञ-पशु बनाने के लिए खरीदकर लाना

राम! पुरुषवर! यज्ञागत[2] उन वन-निवासि ऋषियों को तत्र फिर।
जाते हुए देख, तेजस्वी कौशिक बोले वचन यह रुचिर।। १ ।।
महर्षियो! दक्षिण में रहने से तप में व्यवधान आ गया।
अन्य दिशा में अतः वास कर रक्खेंगे तप स्थान कुछ नया।। २ ।।
हैं पश्चिमा विशाला में जो विधि के पुष्कर-तट के तप-वन।
रहकर वहीं, तपस्या सुख से करने का है अब मेरा मन।। ३ ।।
ऐसा कहकर, वे तेजस्वी मुनि पुष्कर-समीप में जाकर।
करने लगे तपस्या दुर्जय वहीं मूल, फल आदिक खाकर।। ४ ।।
उन्हीं दिनों फिर अम्बरीष नृप पुरी अयोध्या के शासक वर।
हुए एक शुभ महायज्ञ की तैयारी में अतिशय तत्पर।। ५ ।।
यज्ञ-समय में हुआ यज्ञ-पशु श्री महेन्द्र के द्वारा अपहृत।
लुप्त यज्ञ-पशु देख, नृपति से बोले उत्तम यज्ञ-पुरोहित।। ६ ।।
राजन्! लाया गया यज्ञ-पशु लुप्त हुआ कुनीति के कारण।
अगर यज्ञ-पशु नहीं सुरक्षित, नृप-विनाश का नहीं निवारण।। ७ ।।
शुरू यज्ञ होने से पहले मख-पशु[3] लाओ खोज, भूपवर!
अथवा प्रायश्चित्त-रूप में पुरुष किसी विधि लाओ क्रय कर[4] ।। ८ ।।

---

१ नक्षत्रमण्डल के बीच; २ यज्ञ में आये हुए; ३ यज्ञ का पशु; ४ खरीदकर।

उपाध्यायवचः श्रुत्वा स राजा पुरुषर्षभः ।
अन्वियेष महाबुद्धिः पशुं गोभिः सहस्रशः ॥ ९ ॥
देशाञ्जनपदांस्तांस्तान् नगराणि वनानि च ।
आश्रमाणि च पुण्यानि मार्गमाणो महीपतिः ॥ १० ॥
स पुत्रसहितं तात सभार्यं रघुनन्दन ।
भृगुतुङ्गे समासीनमृचीकं संददर्श ह ॥ ११ ॥
तमुवाच महातेजाः प्रणम्याभिप्रसाद्य च ।
महर्षिं तपसा दीप्तं राजर्षिरमितप्रभः ॥ १२ ॥
पृष्ट्वा सर्वत्र कुशलमृचीकं तमिदं वचः ।
गवां शतसहस्रेण विक्रीणीषे सुतं यदि ॥ १३ ॥
पशोरर्थे महाभाग कृतकृत्योऽस्मि भार्गव ।
सर्वे परिगता देशा यज्ञियं न लभे पशुम् ॥ १४ ॥
दातुमर्हसि मूल्येन सुतमेकमितो मम ।
एवमुक्तो महातेजा ऋचीकस्त्वब्रवीत् वचः ॥ १५ ॥
नाहं ज्येष्ठं नरश्रेष्ठ विक्रीणीयां कथंचन ।
ऋचीकस्य वचः श्रुत्वा तेषां माता महात्मनाम् ॥ १६ ॥
उवाच नरशार्दूलमम्बरीषमिदं वचः ।
अविक्रेयं सुतं ज्येष्ठं भगवानाह भार्गवः ॥ १७ ॥
ममापि दयितं विद्धि कनिष्ठं शुनकं प्रभो ।
तस्मात् कनीयसं पुत्रं न दास्ये तव पार्थिव ॥ १८ ॥
प्रायेण हि नरश्रेष्ठ ज्येष्ठाः पितृषु वल्लभाः ।
मातृणां च कनीयांसस्तस्माद् रक्षये कनीयसम् ॥ १९ ॥
उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन् मुनिपत्न्यां तथैव च ।
शुनःशेपः स्वयं राम मध्यमो वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥
पिता ज्येष्ठमविक्रेयं माता चाह कनीयसम् ।
विक्रेयं मध्यमं मन्ये राजपुत्र नयस्व माम् ॥ २१ ॥
अथ राजा महाबाहो वाक्यान्ते ब्रह्मवादिनः ।
हिरण्यस्य सुवर्णस्य कोटिभी रत्नराशिभिः ॥ २२ ॥
गवां शतसहस्रेण शुनःशेपं नरेश्वरः ।
गृहीत्वा परमप्रीतो जगाम रघुनन्दन ॥ २३ ॥
अम्बरीषस्तु राजर्षी रथमारोप्य सत्वरः ।
शुनःशेपं महातेजा जगामाशु महायशाः ॥ २४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

सुधी पुरुषवर ! अम्बरीष ! अब गौ सहस्र से मूल्य चुकाकर।
एक पुरुष का अन्वेषण[1] क्रय-हेतु लगे करने वे जाकर ॥ ६ ॥
भिन्न-भिन्न देशों, नगरों, वन और जनपदों में विचरण कर।
तथा पवित्राश्रमों आदि में हो करके भृगु तुंग-शिखर पर ॥ १० ॥
आकर दर्शन किये सुपत्नी और सुपुत्रों-सँग, रघुनन्दन !।
बैठे हुए ऋचीक ऋषीश्वर के (जो थे निरुपम जग-वन्दन) ॥ ११ ॥
कान्तिमान् अतिशय तेजस्वी और तपस्या से उद्दीपित।
बोले नृप, ऋचीक ऋषिवर से प्रणामादि द्वारा कर प्रमुदित ॥ १२ ॥
ऋषि ऋचीक से पूछ चुके जब कुशल-वृत्त, वे पहले, नरपति।
तब बोले, लें ! एक लक्ष गौ दें, ऋषिवर ! सुत एक यज्ञ-हित ॥ १३ ॥
होऊँगा कृतकृत्य, यज्ञ-पशु के हित मैं पाकर सुत उत्तम।
सब देशों में घूम चुका मैं, मिला न पशु, मख के हित सक्षम ॥ १४ ॥
लेकर उचित मूल्य मुझको दें ! अतः एक सुत अपना ऋषिवर !।
अति तेजस्वी ऋषि ऋचीक फिर बोले वचन नृपति के सुनकर ॥ १५ ॥
अपने ज्येष्ठ पुत्र का विक्रय नहीं करूँगा मैं, हे नृपवर !।
किसी भाँति भी, तब सुत-माता ने ऋचीक की वार्ता सुनकर ॥ १६ ॥
कहा शीघ्र ही पुरुषसिंह उन अम्बरीष से माँ के नाते।
अविक्रेय[2] हैं ज्येष्ठ पुत्र को श्री भार्गव भगवान बताते ॥ १७ ॥
किन्तु ज्ञात हो ! यह कनिष्ठ सुत शुनक मुझे है अतिप्रिय नृपवर !।
अतः न दूँगी छोटे सुत को मैं कदापि उसका विक्रय कर ॥ १८ ॥
नरपुंगव ! प्रायः होते हैं जेठे पुत्र पिता को प्यारे।
दूँगी नहीं, करूँगी रक्षा, छोटे होते मातृ-दुलारे ॥ १९ ॥
राम ! ऋषीश्वर और उन्हीं की पत्नी के ऐसा कहने पर।
शुनःशेप मँझले सु-पुत्र ने स्वयं कहा यह, उत्तर देकर ॥ २० ॥
माँ कनिष्ठ को, पिता ज्येष्ठ को अविक्रेय बतलाते, नृपवर !।
मँझला मैं विक्रेय[3] एक हूँ, अतः ले चलें ! मुझको सत्वर ॥ २१ ॥
ब्रह्मवादि इस मँझले सुत के रघुनन्दन ! ऐसा कहने पर।
स्वर्ण-राशि, शत लक्ष स्वर्ण की मुद्राएँ अति हर्षित होकर ॥
गौएँ भी तब एक लक्ष फिर शुनःशेप के बदले देकर।
राज-भवन की ओर चल पड़े अपने साथ उन्हें भी लेकर ॥२२-२३॥
अति तेजस्वी महा यशस्वी अम्बरीष राजर्षि सु-हर्षित।
बैठाकर रथ पर उत्सुक हो उन्हें हुए, तदनन्तर प्रस्थित ॥ २४ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
इकसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६१ ॥

---

१ खोज; २ विक्रय के योग्य न होना; ३ बेचने योग्य।

द्विषष्टितमः सर्गः

शुनःशेपं नरश्रेष्ठ गृहीत्वा तु महायशाः।
व्यश्रमत् पुष्करे राजा मध्याह्ने रघुनन्दन ॥ १ ॥
तस्य विश्रममाणस्य शुनःशेपो महायशाः।
पुष्करं ज्येष्ठमागम्य विश्वामित्रं ददर्श ह ॥ २ ॥
तप्यन्तमृषिभिः सार्धं मातुलं परमातुरः।
विषण्णवदनो दीनस्तृष्णया च श्रमेण च ॥ ३ ॥
पपाताङ्के मुने राम वाक्यं चेदमुवाच ह।
न मेऽस्ति माता न पिता ज्ञातयो बान्धवाः कुतः ॥ ४ ॥
त्रातुमर्हसि मां सौम्य धर्मेण मुनिपुङ्गव।
त्राता त्वं हि नरश्रेष्ठ सर्वेषां त्वं हि भावनः ॥ ५ ॥
राजा च कृतकार्यः स्यादहं दीर्घायुरव्ययः।
स्वर्गलोकमुपाश्नीयां तपस्तप्त्वा ह्यनुत्तमम् ॥ ६ ॥
स मे नाथो ह्यनाथस्य भव भव्येन चेतसा।
पितेव पुत्रं धर्मात्मंस्त्रातुमर्हसि किल्बिषात् ॥ ७ ॥
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रो महातपाः।
सान्त्वयित्वा बहुविधं पुत्रानिदमुवाच ह ॥ ८ ॥
यत्कृते पितरः पुत्राञ्जनयन्ति शुभार्थिनः।
परलोकहितार्थाय तस्य कालोऽयमागतः ॥ ९ ॥
अयं मुनिसुतो बालो मत्तः शरणमिच्छति।
अस्य जीवितमात्रेण प्रियं कुरुत पुत्रकाः ॥ १० ॥
सर्वे सुकृतकर्माणः सर्वे धर्मपरायणाः।
पशुभूता नरेन्द्रस्य तृप्तिमग्नेः प्रयच्छत ॥ ११ ॥
नाथवांश्च शुनःशेपो यज्ञश्चाविघ्नतो भवेत्।
देवतास्तर्पिताश्च स्युर्मम चापि कृतं वचः ॥ १२ ॥
मुनेस्तद् वचनं श्रुत्वा मधुच्छन्दादयः सुताः।
साभिमानं नरश्रेष्ठ सलीलमिदमब्रुवन् ॥ १३ ॥
कथमात्मसुतान् हित्वा त्रायसेऽन्यसुतं विभो।
अकार्यमिव पश्यामः श्वमांसमिव भोजने ॥ १४ ॥
तेषां तद् वचनं श्रुत्वा पुत्राणां मुनिपुङ्गवः।
क्रोधसंरक्तनयनो व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ १५ ॥
निःसाध्वसमिदं प्रोक्तं धर्मादपि विगर्हितम्।
अतिक्रम्य तु मद्वाक्यं दारुणं रोमहर्षणम् ॥ १६ ॥

बासठवाँ सर्ग

विश्वामित्र द्वारा शुनःशेप की रक्षा का सफल प्रयत्न और तपस्या

शुनःशेप के साथ राम! वे अम्बरीष पुष्कर में आकर।
रुके, महायश मध्य दिवस में उत्तम विश्रामस्थल पाकर॥ १ ॥
इधर हुए विश्राम-मग्न नृप, उधर यशस्वी शुनःशेप सुत।
आये वहाँ, जहाँ ऋषि-गण-सह मामा कौशिक थे तप में रत॥ २ ॥
थे दीनातुर शुनःशेप वे मुख था उनका परम विषादित।
और भूख, श्रम से व्याकुल थे औ आकुल थे परम पिपासित॥ ३ ॥
अतः राम! वे बोले ऋषि से तभी अंक में उनके गिरकर।
मेरे माता-पिता नहीं हैं, होंगे भ्रातृ, बन्धु फिर क्योंकर?॥ ४ ॥
रक्षा करें! सौम्य! अब मेरी अपने परम धर्म के द्वारा।
नृवर! आप सबके रक्षक हैं करते पूर्ण अभिलषित सारा॥ ५ ॥
अम्बरीष भी हों कृतार्थ ये, मैं भी अक्षय आयु प्राप्त कर।
उत्तम तप से स्वर्ग पा सकूँ, ऐसा प्रभु! कुछ करें! कृपा कर॥ ६ ॥
निर्मल मन से, ऋषि धर्मात्मन्! मुझ अनाथ के नाथ बनें! अब।
सुत के रक्षक पितृ भाँति ही पापज कष्ट मिटाएँ! मम सब॥ ७ ॥
विश्वामित्र तपस्वी ने उन शुनःशेप की वार्ता सुनकर।
कहा बुलाकर निज सुवनों से, देकर उसे सान्त्वना दृढ़तर॥ ८ ॥
पुत्रो! पिता जन्म देता है सुत को जिस परलोक-सौख्य हित।
शुभकर उस उद्देश्य-पूर्ति का समुचित अवसर आज उपस्थित॥ ९ ॥
पुत्रो! मुनिकुमार यह मुझसे जीवन-रक्षा का है याचक।
अतः करो! प्रिय इसका तुम सब देकर जीवन मात्र सु-साधक॥ १० ॥
तुम सबके सब पुण्यात्मा हो धर्मात्मा अत्यन्त पुत्रवर!।
अतः करो श्री अग्निदेव को तुष्ट, भूप-मख के पशु बनकर॥ ११ ॥
शुनःशेप होगा सनाथ यह नृप-मख भी निर्बाध पूर्ण तब।
मम आज्ञा-पालन भी होगा, होंगे तृप्त देव-गण भी सब॥ १२ ॥
मधुच्छन्द आदिक सुत वे तब सुन करके यह बात पितु-कथित।
साभिमान अवहेलनपूर्वक बोले ऐसे वचन अचिन्तित॥ १३ ॥
विभो! अन्य जन-सुत-रक्षा हित निज पुत्रों को यज्ञ-समर्पण।
यह अकार्य है, यथा दिव्य भोजन में श्वान-मांस का मिश्रण॥ १४ ॥
पुत्रों की यह वार्ता सुनकर मुनिपुङ्गव होकर अति क्रोधित।
रक्तनयन वे, इन वाक्यों से करने लगे उन्हें सम्बोधित॥ १५ ॥
तुम लोगों ने निर्भय होकर आज्ञोल्लंघक बात कही है।
यह रोमाञ्चक दारुण है अति और धर्म के योग्य नहीं है॥ १६ ॥

श्वमांसभोजिनः सर्वे वासिष्ठा इव जातिषु ।
पूर्णं वर्षसहस्रं तु पृथिव्यामनुवत्स्यथ ॥ १७ ॥

कृत्वा शापसमायुक्तान् पुत्रान् मुनिवरस्तदा ।
शुनःशेपमुवाचार्तं कृत्वा रक्षां निरामयाम् ॥ १८ ॥

पवित्रपाशैराबद्धो रक्तमाल्यानुलेपनः ।
वैष्णवं यूपमासाद्य वाग्भिरग्निमुदाहर ॥ १९ ॥

इमे च गाथे द्वे दिव्ये गायेथा मुनिपुत्रक ।
अम्बरीषस्य यज्ञेऽस्मिंस्ततः सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ २० ॥

शुनःशेपो गृहीत्वा ते द्वे गाथे सुसमाहितः ।
त्वरया राजसिंहं तमम्बरीषमुवाच ह ॥ २१ ॥

राजसिंह महाबुद्धे शीघ्रं गच्छावहे वयम् ।
निवर्तयस्व राजेन्द्र दीक्षां च समुदाहर ॥ २२ ॥

तद् वाक्यमृषिपुत्रस्य श्रुत्वा हर्षसमन्वितः ।
जगाम नृपतिः शीघ्रं यज्ञवाटमतन्द्रितः ॥ २३ ॥

सदस्यानुमते राजा पवित्रकृतलक्षणम् ।
पशुं रक्ताम्बरं कृत्वा यूपे तं समबन्धयत् ॥ २४ ॥

स बद्धो वाग्भिरग्र्याभिरभितुष्टाव वै सुरौ ।
इन्द्रमिन्द्रानुजं चैव यथावन्मुनिपुत्रकः ॥ २५ ॥

ततः प्रीतः सहस्राक्षो रहस्यस्तुतितोषितः ।
दीर्घमायुस्तदा प्रादाच्छुनःशेपाय वासवः ॥ २६ ॥

स च राजा नरश्रेष्ठ यज्ञस्य च समाप्तवान् ।
फलं बहुगुणं राम सहस्राक्षप्रसादजम् ॥ २७ ॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा भूयस्तेपे महातपाः ।
पुष्करेषु नरश्रेष्ठ दशवर्षशतानि च ॥ २८ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमः सर्गः

पूर्णे वर्षसहस्रे तु व्रतस्नातं महामुनिम् ।
अभ्यगच्छन् सुराः सर्वे तपःफलचिकीर्षवः ॥ १ ॥

तुम सब भी वसिष्ठ-पुत्रों-सम जन्म मुष्टिकों[1] का पाओगे ! ।
दस सहस्र वर्षों तक भू पर गर्हित[2] श्वान-मांस खाओगे ! ।। १७ ।।
देकर शाप सुतों को अपने, वे मुनिवर होकर क्रोधित मन ।
सब विधि अभयदान दे बोले शुनःशेप से तभी यह वचन ।। १८ ।।
पाश-बद्ध तुम ! लाल पुष्प की माला, चन्दन करके धारण ।
विष्णु-यूप से जब बन्धन हो करना अग्नि-स्तोत्र-उच्चारण ।।
परम दिव्य इन दो गाथाओं का करना मुनि-सुत ! गायन तब ।
प्राप्त करोगे ! इनके द्वारा सिद्धि शीघ्र वाञ्छाओं की सब ।।१६-२०।।
शुनःशेप ने दत्तचित्त हो गाथाओं को कर लिया ग्रहण ।
जाकर बोले नृपति सिंह उन अम्बरीष से, वे फिर तत्क्षण ।। २१ ।।
राजसिंह ! राजेन्द्र ! सुधी ! अब चलो चलें हम दोनों सत्वर ।
और आप भी दीक्षा लेकर, पूर्ण करें ! निज यज्ञ, नृपतिवर ! ।। २२ ।।
अम्बरीष उन शुनःशेप के सुन करके यह वचन समुत्तम ।
समुत्फुल्ल अति निरालस्य हो आये मख-शाला[3] में सक्षम ।। २३ ।।
फिर सदस्य-अनुमति से नृप ने लाल वस्त्र, चन्दन, पुष्पान्वित ।
पशु लक्षित को कुश-रज्वा से यज्ञ-यूप[4] से किया निबन्धित ।। २४ ।।
उत्तम रागमयी वाणी से बन्धित शुनःशेप ने तब फिर ।
इन्द्र-विष्णु का किया संस्तवन करके अपने मन को सुस्थिर ।। २५ ।।
इस रहस्यभूता स्तुति द्वारा तुष्ट सहस्रनयन अति सुरपति ।
शुनःशेप को, की प्रदान दीर्घायु हुए उस पर प्रसन्न अति ।। २६ ।।
और अन्ततः अम्बरीष पर भी सुरपति की कृपा हुई अति ।
सफल यज्ञ, सब विधि फल पाकर, हुए नृपति भी परम प्रफुल्लित ।। २७ ।।
विश्वामित्र महा धर्मात्मा ने तप में फिर ध्यान लगाया ।
और वहीं पुष्कर में रहकर दश शत वत्सर समय बिताया ।। २८ ।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में बासठवाँ सर्ग समाप्त ।। ६२ ।।

तिरसठवाँ सर्ग

विश्वामित्र को ऋषि एवं महर्षि-पद की प्राप्ति, मेनका द्वारा उनका तपोभङ्ग तथा ब्रह्मर्षि-पद की प्राप्ति के लिए उनकी घोर तपस्या

बीते वर्ष सहस्र, मुनीश्वर ने व्रत-पूर्तिस्नान किया जब ।
आये सभी देवता, उनको उत्तम तप-फल देने को तब ।। १ ।।

---

1 कुत्ते का मांस खानेवाली एक जाति; 2 निन्द्य; 3 यज्ञशाला; 4 यज्ञ-स्तम्भ ।

अब्रवीत् सुमहातेजा ब्रह्मा सुरुचिरं वचः ।
ऋषिस्त्वमसि भद्रं ते स्वार्जितैः कर्मभिः शुभैः ॥ २ ॥
तमेवमुक्त्वा देवेशस्त्रिदिवं पुनरभ्यगात् ।
विश्वामित्रो महातेजा भूयस्तेपे महत् तपः ॥ ३ ॥
ततः कालेन महता मेनका परमाप्सराः ।
पुष्करेषु नरश्रेष्ठ स्नातुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥
तां ददर्श महातेजा मेनकां कुशिकात्मजः ।
रूपेणाप्रतिमां तत्र विद्युतं जलदे यथा ॥ ५ ॥
कन्दर्पदर्पवशगो मुनिस्तामिदमब्रवीत् ।
अप्सरः स्वागतं तेऽस्तु वस चेह ममाश्रमे ॥ ६ ॥
अनुगृह्णीष्व भद्रं ते मदनेन विमोहितम् ।
इत्युक्ता सा वरारोहा तत्र वासमथाकरोत् ॥ ७ ॥
तपसो हि महाविघ्नो विश्वामित्रमुपागमत् ।
तस्यां वसन्त्यां वर्षाणि पञ्च पञ्च च राघव ॥ ८ ॥
विश्वामित्राश्रमे सौम्ये सुखेन व्यतिचक्रमुः ।
अथ काले गते तस्मिन् विश्वामित्रो महामुनिः ॥ ९ ॥
सव्रीड इव संवृत्तश्चिन्ताशोकपरायणः ।
बुद्धिर्मुनेः समुत्पन्ना सामर्षा रघुनन्दन ॥ १० ॥
सर्वं सुराणां कर्मैतत् तपोऽपहरणं महत् ।
अहोरात्रापदेशेन गताः संवत्सरा दश ॥ ११ ॥
काममोहाभिभूतस्य विघ्नोऽयं प्रत्युपस्थितः ।
स निःश्वसन् मुनिवरः पश्चात्तापेन दुःखितः ॥ १२ ॥
भीतामप्सरसं दृष्ट्वा वेपन्तीं प्राञ्जलिं स्थिताम् ।
मेनकां मधुरैर्वाक्यैर्विसृज्य कुशिकात्मजः ॥ १३ ॥
उत्तरं पर्वतं राम विश्वामित्रो जगाम ह ।
स कृत्वा नैष्ठिकीं बुद्धिं जेतुकामो महायशाः ॥ १४ ॥
कौशिकीतीरमासाद्य तपस्तेपे दुरासदम् ।
तस्य वर्षसहस्राणि घोरं तप उपासतः ॥ १५ ॥
उत्तरे पर्वते राम देवतानामभूद् भयम् ।
आमन्त्रयन् समागम्य सर्वे सर्षिगणाः सुराः ॥ १६ ॥
महर्षिशब्दं लभतां साध्वयं कुशिकात्मजः ।
देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकपितामहः ॥ १७ ॥
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं विश्वामित्रं तपोधनम् ।
महर्षे स्वागतं वत्स तपसोग्रेण तोषितः ॥ १८ ॥

तेजस्वी विधि मधुर वचन यह बोले, हो कल्याण तुम्हारा।
ऋषि-गणना में मुने ! आ गये; तव शुभ कर्मों का फल सारा ! ।। २ ।।
ऐसा कह देवेश्वर ब्रह्मा ब्रह्मलोक को गमने सत्वर।
विश्वामित्र महा तेजस्वी हुए उग्र व्रत में फिर तत्पर ।। ३ ।।
समयान्तर में वहाँ मेनका नाम अप्सरा तभी पधारी।
पुष्कर में वह परम सुन्दरी करने लगी स्नान-तैयारी ।। ४ ।।
कौशिक तेजस्वी ने देखा उसको पुष्कर-जल में ऐसे।
घन में चमक रही हो मानों अतुल सुन्दरी बिजली जैसे ।। ५ ।।
बोले उसको देख काम-वश उससे, तब वे कौशिक मुनिवर।
तेरा स्वागत है ! तू मेरे इस आश्रम में अब निवास कर ! ।। ६ ।।
तेरा हो कल्याण ! काम-वश मैं हूँ, मुझ पर शीघ्र कृपा कर।
कटि-क्षीणा मेनका अप्सरा करने लगी निवास वहाँ पर ।। ७ ।।
कौशिक के तप में फिर ऐसे विघ्न स्वयं हो गया उपस्थित।
राघव ! कौशिक के आश्रम में हुआ मेनका-वास यथोचित ।।
बीत गये दस वर्ष मेनका के निवास करते इस वन में।
इतना समय बीत जाने पर लज्जित हुए मुनीश्वर मन में ।।
चिन्ता और शोक-सागर में लगे डूबने वे तदनन्तर।
रघुनन्दन ! फिर इस विचार से हुआ रोषमय मुनि का अन्तर ।।८-१०।।
समझ गये तप-हरण-हेतु ही देवों का यह है प्रयास सब।
एक दिवा-निशि-सदृश हमारे बीत गये हैं दश वत्सर अब ।। ११ ।।
काम-विमोहित मेरे तप में विघ्न हुआ अति, इस अवसर पर।
ले करके निःश्वास हुए वे पश्चात्ताप-दुखित अति मुनिवर ।। १२ ।।
तब भीता कम्पिता मेन हाथ जोड़कर हुई सामने।
मात्र मृदु वचन कह उसको कर दिया विदा मुनिवर कौशिक ने ।। १३ ।।
और स्वयं वे चले गये फिर उत्तर के हिमगिरि पर सत्वर।
निश्चयमयी बुद्धि में अपनी काम-विजय की इच्छा भरकर ।। १४ ।।
कौशिक गये कौशिकी-तट पर हुए सुदुर्जय तप में सुस्थिर।
करते हुए तपस्या उनके बीते तभी वर्ष दस शत फिर ।। १५ ।।
हे श्रीराम ! उत्तराचल में हुआ बहुत भय देवों को तब।
करने लगे विचार देवता और ऋषीश्वर भी मिलकर सब ।। १६ ।।
अब महर्षि का पद पायें ये विश्वामित्र, यही है उत्तम।
सब देवों की यह वार्ता सुन लोक-पितामह विधि सुरसत्तम ।।
कौशिक के समीप आ करके बोले उनसे मधुर यह वचन।
मैं हूँ तुष्ट महर्षे ! तप से, स्वागत है सर्वथा तपोधन ! ।।१७-१८।।

महत्त्वमृषिमुख्यत्वं ददामि तव कौशिक।
ब्रह्मणस्तु वचः श्रुत्वा विश्वामित्रस्तपोधनः॥ १९॥
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम्।
ब्रह्मर्षिशब्दमतुलं स्वार्जितैः कर्मभिः शुभैः॥ २०॥
यदि मे भगवन्नाह ततोऽहं विजितेन्द्रियः।
तमुवाच ततो ब्रह्मा न तावत् त्वं जितेन्द्रियः॥ २१॥
यतस्व मुनिशार्दूल इत्युक्त्वा त्रिदिवं गतः।
विप्रस्थितेषु देवेषु विश्वामित्रो महामुनिः॥ २२॥
ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बो वायुभक्षस्तपश्चरन्।
धर्मे पञ्चतपा भूत्वा वर्षास्वाकाशसंश्रयः॥ २३॥
शिशिरे सलिलेशायी रात्र्यहानि तपोधनः।
एवं वर्षसहस्रं हि तपो घोरमुपागमत्॥ २४॥
तस्मिन् संतप्यमाने तु विश्वामित्रे महामुनौ।
संतापः सुमहानासीत् सुराणां वासवस्य च॥ २५॥
रम्भामप्सरसं शक्रः सर्वैः सह मरुद्गणैः।
उवाचात्महितं वाक्यमहितं कौशिकस्य च॥ २६॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः॥ ६३॥

चतुःषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्र का रम्भा को शाप देकर पुनः घोर तपस्या के लिए दीक्षा लेना

सुरकार्यमिदं रम्भे कर्तव्यं सुमहत् त्वया।
लोभनं कौशिकस्येह काममोहसमन्वितम्॥ १॥
तथोक्ता साप्सरा राम सहस्राक्षेण धीमता।
व्रीडिता प्राञ्जलिर्वाक्यं प्रत्युवाच सुरेश्वरम्॥ २॥
अयं सुरपते घोरो विश्वामित्रो महामुनिः।
क्रोधमुत्स्रक्ष्यते घोरं मयि देव न संशयः॥ ३॥
ततो हि मे भयं देव प्रसादं कर्तुमर्हसि।
एवमुक्तस्तया राम सभयं भीतया तदा॥ ४॥
तामुवाच सहस्राक्षो वेपमानां कृताञ्जलिम्।
मा भैषी रम्भे भद्रं ते कुरुष्व मम शासनम्॥ ५॥
कोकिलो हृदयग्राही माधवे रुचिरद्रुमे।
अहं कन्दर्पसहितः स्थास्यामि तव पार्श्वतः॥ ६॥

देता तुम्हें ! महत्ता[1] अब तुम हुए कुशिक-सुत ! आज ऋषि-प्रवर ।
इस प्रकार से वार्ता सुनकर विधि के सम्मुख कौशिक मुनिवर ।।
बोले विधि[2] से हाथ जोड़कर होकर भलीभाँति से प्रणमित[3] ।
मैंने अपने कर्मों द्वारा यदि अतिपुण्य किया है अर्जित ।।
तो मुझको ब्रह्मर्षि बनाएँ ! समझूँ 'हुआ जितेन्द्रिय मैं अब' ।
नहीं जितेन्द्रिय हुए अभी तुम ! ब्रह्मा जी बोले उनसे तब ।।१९-२१।।
यत्न करो मुनिवर ! कह करके ब्रह्मा हुए स्वर्ग को प्रस्थित ।
देवों के जाने पर मुनिवर फिर से हुए तपस्या में स्थित ।। २२ ।।
ऊर्ध्वबाहु[4] वे, निरालम्ब स्थित, करते हुए पवन का भक्षण ।
गर्मी में पञ्चाग्नि ताप कर, वर्षा में रह बिना आवरण ।। २३ ।।
और तपोधन शिशिर-समय में रात्रि-दिवस पानी में रहकर ।
वर्ष सहस्र बिताए ऐसे दृढ़ता से अति दुर्जय तप कर ।। २४ ।।
इस प्रकार से तप करते थे जब वे विश्वामित्र मुनि-प्रवर ।
इन्द्र आदि देवों के मन में जागा तब संताप उच्चतर ।। २५ ।।
थी रम्भा अप्सरा, मरुद्गण, इन्हें इन्द्र ने कहा बुलाकर ।
जो थी अपने लिए सुहितकर औ कौशिक के लिए अहितकर ।। २६ ।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में तिरसठवाँ सर्ग समाप्त ।। ६३ ।।

चौंसठवाँ सर्ग

विश्वामित्र का रम्भा को शाप देकर पुनः घोर तपस्या के लिए दीक्षा लेना

रम्भे ! महत् कार्य देवों का करना है, जो हुआ उपस्थित ।
कौशिक मुनि को शीघ्र लुभाकर काम-मोह से करो समन्वित ।। १ ।।
सुधी इन्द्र के यह कहने पर, राम ! अप्सरा होकर लज्जित ।
बोली ऐसे इन्द्रदेव से वह फिर वचन मधुरता-मिश्रित ।। २ ।।
देवपते ! वे कौशिक मुनि हैं त्रिभुवन ख्यात भयंकर अतिशय ।
उनका होगा क्रोध भयानक मुझ पर देव ! नहीं है संशय ।। ३ ।।
मुझको उनसे भय लगता है मुझ पर कृपा करें, हे सुरवर ! ।
राम ! इन्द्र ने उस रम्भा को इस प्रकार भयभीत समझकर ।।
बोले उससे, जो कि हाथ जोड़े भय से थी अतिशय कम्पित ।
रम्भे ! तव कल्याण ! न भय कर, आज्ञा मान निरख मेरा हित ।। ४-५ ।।
शोभित होंगे नव पल्लव से जब तरुवर वैशाख मास में ।
तब मैं भी, मन्मथ, कोकिल सँग वहीं रहूँगा शुभे ! साथ में ।। ६ ।।

---

१ श्रेष्ठता; २ ब्रह्मा; ३ प्रणाम करते हुए; ४ ऊपर को भुजा उठाये हुए ।

त्वं हि रूपं बहुगुणं कृत्वा परमभास्वरम्।
तमृषिं कौशिकं भद्रे भेदयस्व तपस्विनम्॥ ७॥
सा श्रुत्वा वचनं तस्य कृत्वा रूपमनुत्तमम्।
लोभयामास ललिता विश्वामित्रं शुचिस्मिता॥ ८॥
कोकिलस्य तु शुश्राव वल्गु व्याहरतः स्वनम्।
सम्प्रहृष्टेन मनसा स चैनामन्ववैक्षत॥ ९॥
अथ तस्य च शब्देन गीतेनाप्रतिमेन च।
दर्शनेन च रम्भाया मुनिः संदेहमागतः॥ १०॥
सहस्राक्षस्य तत्सर्वं विज्ञाय मुनिपुङ्गवः।
रम्भां क्रोधसमाविष्टः शशाप कुशिकात्मजः॥ ११॥
यन्मां लोभयसे रम्भे कामक्रोधजयैषिणम्।
दशवर्षसहस्राणि शैली स्थास्यसि दुर्भगे॥ १२॥
ब्राह्मणः सुमहातेजास्तपोबलसमन्वितः।
उद्धरिष्यति रम्भे त्वां मत्क्रोधकलुषीकृताम्॥ १३॥
एवमुक्त्वा महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः।
अशक्नुवन् धारयितुं कोपं संतापमात्मनः॥ १४॥
तस्य शापेन महता रम्भा शैली तदाभवत्।
वचः श्रुत्वा च कन्दर्पो महर्षेः स च निर्गतः॥ १५॥
कोपेन च महातेजास्तपोऽपहरणे कृते।
इन्द्रियैरजितै राम न लेभे शान्तिमात्मनः॥ १६॥
बभूवास्य मनश्चिन्ता तपोऽपहरणे कृते।
नैवं क्रोधं गमिष्यामि न च वक्ष्ये कथंचन॥ १७॥
अथवा नोच्छ्वसिष्यामि संवत्सरशतान्यपि।
अहं हि शोषयिष्यामि आत्मानं विजितेन्द्रियः॥ १८॥
तावद् यावद्धि मे प्राप्तं ब्राह्मण्यं तपसार्जितम्।
अनुच्छ्वसन्नभुञ्जानस्तिष्ठेयं शाश्वतीः समाः॥ १९॥
नहि मे तप्यमानस्य क्षयं यास्यन्ति मूर्तयः।
एवं वर्षसहस्रस्य दीक्षां स मुनिपुङ्गवः।
चकाराप्रतिमां लोके प्रतिज्ञां रघुनन्दन॥ २०॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः॥ ६४॥

भद्रे ! अपने कान्त-रूप को काम-गुणों से करके अन्वित।
हावभाव से उन कौशिक को कर दे उनको तप से विचलित ॥ ७ ॥
इन्द्र-वचन सुन, परम सुन्दरी ने अपना रख, रूप समुत्तम।
अपने मधुर हास से करने लगी लुभाने का मुनि को श्रम ॥ ८ ॥
कोकिल-रव सुन हुई हर्ष से उस दिक् में मुनि-दृष्टि सुकर्षित।
तब देखा सामने खड़ी है वह रम्भा (सुमनों-सी विकसित) ॥ ९ ॥
कोकिल-कूजन, गीत मनोहर सुनकर औ रम्भा के दर्शन।
(कामोत्तेजक इन कार्यों) से कौशिक हुए तभी शंकित मन ॥ १० ॥
मुनिपुंगव वे समझ गये फिर देवराज का सब कुचक्र यह।
तब रम्भा को किया प्रशापित[1] उन कौशिक मुनि ने ऐसा कह ॥ ११ ॥
'लुभा रही तू रम्भे ! दुष्टे ! काम-क्रोध-जय-इच्छुक मुझको।
अतः सहस-दश वर्ष मूर्ति-पत्थर-वत् रहना होगा तुझको ! ॥ १२ ॥
समय-पूर्ति पर, एक तपस्वी रम्भे ! तपोबलान्वित[2] ब्राह्मण।
कौशिक-क्रोध-कलुषिता तेरा! कर पाएगा कभी उद्धरण' ॥ १३ ॥
था पछताव न किन्तु कर सके कौशिक अपना क्रोध-संयमन।
अतः हुए संतप्त उस समय परम तपस्वी वे मन ही मन ॥ १४ ॥
पत्थर-प्रतिमा हुई उस समय कौशिक-शापित वह रम्भा जब।
कौशिक के शाप-वचन सुन खिसके, गये वहाँ से इन्द्र, काम तब ॥ १५ ॥
राम ! क्रोध-वश नष्ट हुआ तप हो न सका इन्द्रिय-निग्रह भी।
अतः मुनीश्वर तेजस्वी को शान्ति मानसिक मिली न तब भी ॥ १६ ॥
तप का जब अपहरण हो गया तब मुनिवर ने किया सुनिश्चित।
नहीं करूँगा क्रोध कभी मैं और न बोलूँगा, अब किञ्चित ॥ १७ ॥
सौ वर्षों तक श्वास न लूँगा मैं श्वासारोहण-अवरोहण[3]।
मैं इन्द्रिय-जित कर डालूँगा इस शरीर का अतिशय शोषण ॥ १८ ॥
समय बीत जाए कितना भी, बन न सकूँगा ब्राह्मण जब तक।
श्वास रोककर खान-पान के बिना रहूँगा निश्चय तब तक ॥ १९ ॥
नष्ट न होगा तप-अवसर पर इस शरीर का कोई अवयव।
यह विचार कर, दस शत वर्षों की तप-दीक्षा ली फिर राघव ! ॥
उदाहरण उस कठिन प्रतिज्ञा का दुर्लभ जग में, रघुनन्दन !।
(ऐसे अद्भुत अनुपम तप में मग्न हुए वे मुनि जग-वन्दन) ॥ २० ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
मे चौंसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६४ ॥

---

१ शाप दे दिया; २ तपोबल से युक्त; ३ श्वास का लेना-छोड़ना।

पञ्चषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्र जी की घोर तपस्या, उन्हें ब्राह्मणत्व की प्राप्ति तथा राजा जनक का उनकी प्रशंसा करके उनसे विदा ले राजभवन को लौटना

अथ हैमवतीं राम दिशं त्यक्त्वा महामुनिः।
पूर्वां दिशमनुप्राप्य तपस्तेपे सुदारुणम्॥ १ ॥
मौनं वर्षसहस्रस्य कृत्वा व्रतमनुत्तमम्।
चकाराप्रतिमं राम तपः परमदुष्करम्॥ २ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे तु काष्ठभूतं महामुनिम्।
विघ्नैर्बहुभिराधूतं क्रोधो नान्तरमाविशत्॥ ३ ॥
स कृत्वा निश्चयं राम तप आतिष्ठताव्ययम्।
तस्य वर्षसहस्रस्य व्रते पूर्णे महाव्रतः॥ ४ ॥
भोक्तुमारब्धवानन्नं तस्मिन् काले रघूत्तम।
इन्द्रो द्विजातिर्भूत्वा तं सिद्धमन्नमयाचत॥ ५ ॥
तस्मै दत्त्वा तदा सिद्धं सर्वं विप्राय निश्चितः।
निःशेषितेऽन्ने भगवानभुक्त्वैव महातपाः॥ ६ ॥
न किंचिदवदद् विप्रं मौनव्रतमुपास्थितः।
तथैवासीत् पुनर्मौनमनुच्छ्वासं चकार ह॥ ७ ॥
अथ वर्षसहस्रं च नोच्छ्वसन् मुनिपुङ्गवः।
तस्यानुच्छ्वसमानस्य मूर्ध्नि धूमो व्यजायत॥ ८ ॥
त्रैलोक्यं येन सम्भ्रान्तमातापितमिवाभवत्।
ततो देवर्षिगन्धर्वाः पन्नगोरगराक्षसाः॥ ९ ॥
मोहितास्तपसा तस्य तेजसा मन्दरश्मयः।
कश्मलोपहताः सर्वे पितामहमथाब्रुवन्॥ १० ॥
बहुभिः कारणैर्देव विश्वामित्रो महामुनिः।
लोभितः क्रोधितश्चैव तपसा चाभिवर्धते॥ ११ ॥
न ह्यस्य वृजिनं किंचिद् दृश्यते सूक्ष्ममप्युत।
न दीयते यदि त्वस्य मनसा यदभीप्सितम्॥ १२ ॥
विनाशयति त्रैलोक्यं तपसा सचराचरम्।
व्याकुलाश्च दिशः सर्वा न च किंचित् प्रकाशते॥ १३ ॥
सागराः क्षुभिताः सर्वे विशीर्यन्ते च पर्वताः।
प्रकम्पते च वसुधा वायुर्वातीह संकुलः॥ १४ ॥
ब्रह्मन् न प्रतिजानीमो नास्तिको जायते जनः।
सम्मूढमिव त्रैलोक्यं सम्प्रक्षुभितमानसम्॥ १५ ॥

पैंसठवाँ सर्ग

विश्वामित्र जी की घोर तपस्या, उन्हें ब्राह्मणत्व की प्राप्ति तथा राजा जनक का उनकी प्रशंसा करके उनसे विदा ले राजभवन को लौटना

राम ! प्रतिज्ञा करके मुनिवर वह उत्तर की दिशा त्यागकर।
जाकर पूर्व दिशा में, फिर वे हुए कठिनतम तप में तत्पर ॥ १ ॥
दस शत वर्षों तक मौनी हो करते रहे तपस्या उत्तम।
उनकी दुष्कर तप-तुलना में, राम ! सभी तप लगते थे कम ॥ २ ॥
वर्ष सहस्र पूर्ण होने तक रहे काष्ठ-सम वे निश्चेष्टित।
विविध विघ्न-बाधाओं पर भी क्रोध न उनमें हुआ प्रवेष्टित ॥ ३ ॥
रहकर अटल, किया अक्षय तप, राम ! किया था जैसा निश्चय।
महाव्रती के दस शत वर्षों का बीता जब नियत वह समय ॥ ४ ॥
व्रत-प्रपूर्ति पर अन्नग्रहण की कौशिक ने की, राम ! कामना।
विप्रवेष धर तभी इन्द्र ने की उनसे पक्वान्न-याचना ॥ ५ ॥
सिद्ध अन्न तब, ब्राह्मण को सब किया उन्होंने शीघ्र निवेदित।
शेष न कुछ रहने के कारण स्वयं रह गये क्षुधित, पिपासित ॥ ६ ॥
कहा न कुछ भी उस ब्राह्मण से करते रहे मौन-व्रत-पालन।
यथापूर्व फिर शुरू किया तप किया न श्वासोच्छ्वास-प्रचालन ॥ ७ ॥
दस शत वर्षों तक मुनिवर ने रक्खी अपनी श्वास रोक कर।
अतः धूम्र उनके मस्तक से निकल चला, रघुपति ! तदनन्तर ॥ ८ ॥
उससे इस त्रिभुवन के प्राणी भीत और संतप्त हुए तब।
मुनि-तप से गन्धर्व, देवता, नाग, सर्प, ऋषि, राक्षस-गण सब ॥ ९ ॥
मन्द कान्ति हो गये, विमोहित मन में दुखित हुए वे अतिशय।
ब्रह्मा जी से जाकर बोले तदनन्तर वे सभी उस समय ॥ १० ॥
विविध साधनों द्वारा मुनि को लोभ, मोहमय करने का श्रम।
व्यर्थ हो गया देव ! बढ़ रहे तप-प्रभाव से वे मुनिसत्तम ॥ ११ ॥
दोष न उनमें देख रहे हम लघु से लघु भी इस अवसर पर।
अगर न उनको दिया गया, मनमाना उनका जो वाञ्छित वर ॥
तो वे सकल चराचर त्रिभुवन प्राणि मात्र के होगे नाशक।
धूमाच्छादित हुई दिशाएँ नहीं मिल रहा बल सु-प्रकाशक ॥१२-१३॥
सागर अतिशय क्षुब्ध हो रहे और पवन का प्रचण्ड प्रवहन।
शैल दरारों में फटते है, धरणी में होता है कम्पन ॥ १४ ॥
कैसे हो यह शान्त उपद्रव ? साधन नहीं समझ में आता।
है त्रैलोक्य मूढ़मति नास्तिक, कर्म-हीन, अति क्षुब्ध दिखाता ॥ १५ ॥

भास्करो निष्प्रभश्चैव महर्षेस्तस्य तेजसा।
बुद्धिं न कुरुते यावन्नाशे देव महामुनिः ॥ १६ ॥
तावत् प्रसादो भगवन्नग्निरूपो महाद्युतिः।
कालाग्निना यथा पूर्वं त्रैलोक्यं दह्यतेऽखिलम् ॥ १७ ॥
देवराज्यं चिकीर्षेत दीयतामस्य यन्मनः।
ततः सुरगणाः सर्वे पितामहपुरोगमाः ॥ १८ ॥
विश्वामित्रं महात्मानं वाक्यं मधुरमब्रुवन्।
ब्रह्मर्षे स्वागतं तेऽस्तु तपसा स्म सुतोषिताः ॥ १९ ॥
ब्राह्मण्यं तपसोग्रेण प्राप्तवानसि कौशिक।
दीर्घमायुश्च ते ब्रह्मन् ददामि समरुद्‌गणः ॥ २० ॥
स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गच्छ सौम्य यथासुखम्।
पितामहवचः श्रुत्वा सर्वेषां त्रिदिवौकसाम् ॥ २१ ॥
कृत्वा प्रणामं मुदितो व्याजहार महामुनिः।
ब्राह्मण्यं यदि मे प्राप्तं दीर्घमायुस्तथैव च ॥ २२ ॥
ॐकारोऽथ वषट्कारो वेदाश्च वरयन्तु माम्।
क्षत्रवेदविदां श्रेष्ठो ब्रह्मवेदविदामपि ॥ २३ ॥
ब्रह्मपुत्रो वसिष्ठो मामेवं वदतु देवताः।
यद्येवं परमः कामः कृतो यान्तु सुरर्षभाः ॥ २४ ॥
ततः प्रसादितो देवैर्वसिष्ठो जपतां वरः।
सख्यं चकार ब्रह्मर्षिरेवमस्त्विति चाब्रवीत् ॥ २५ ॥
ब्रह्मर्षिस्त्वं न संदेहः सर्वं सम्पद्यते तव।
इत्युक्त्वा देवताश्चापि सर्वा जग्मुर्यथागतम् ॥ २६ ॥
विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा लब्ध्वा ब्राह्मण्यमुत्तमम्।
पूजयामास ब्रह्मर्षिं वसिष्ठं जपतां वरम् ॥ २७ ॥
कृतकामो महीं सर्वां चचार तपसि स्थितः।
एवं त्वनेन ब्राह्मण्यं प्राप्तं राम महात्मना ॥ २८ ॥
एष राम मुनिश्रेष्ठ एष विग्रहवांस्तपः।
एष धर्मः परो नित्यं वीर्यस्यैष परायणम् ॥ २९ ॥
एवमुक्त्वा महातेजा विरराम द्विजोत्तमः।
शतानन्दवचः श्रुत्वा रामलक्ष्मणसंनिधौ ॥ ३० ॥
जनकः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच कुशिकात्मजम्।
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुङ्गव ॥ ३१ ॥

सूर्य-प्रभा भी मन्द पड़ गयी विश्वामित्र तेज के द्वारा।
मुनिवर का शरीर दिखता है तप से ज्वलित अग्नि-सम सारा॥
इससे पहले ही कि नाश-जग करने को इच्छा हो जागृत।
प्रलय-अग्नि ने इस त्रिभुवन को जैसे पूर्व किया था भस्मित॥१६-१७॥
दिया जाय सुर-राज्य भी उन्हें यदि मुनिवर को है वह इच्छित।
(विधिवत उनकी अभिलाषा की ही प्रपूर्ति में है सबका हित)॥
विश्वामित्र-समीप विधि-प्रमुख[1] गये देवता वे तदनन्तर।
और मुनीश्वर से बोले फिर प्रिय मधुरिम वाणी में सत्वर॥
स्वागत है सर्वथा तुम्हारा, ब्रह्मर्षे! हैं तुष्ट देव सब।
कौशिक! तुमने प्राप्त कर लिया ब्राह्मणत्व तप के द्वारा अब॥
तुम्हें मरुद्गण-सहित दे रहा मैं ब्रह्मन्! दीर्घायु समुत्तम।
जाओ! सौम्य! यथेच्छ स्थान को, हो कल्याण तुम्हारा निरुपम॥
सुन कथन पितामह ब्रह्मा का, अति मुदित हो गये मुनिसत्तम* ॥१८-२१॥
उनसे होकर कहा नम्र अति कर प्रणाम उनको समयोचित।
ब्राह्मणत्व है मिला मुझे यदि और दीर्घ आयुष् भी अविकृत[2] ॥ २२ ॥
तो ॐकार, वषट्कारादिक वेद हमारा करें! संवरण[3]।
तथा ब्रह्म, क्षत्र-वेदों के ज्ञाताओं में परम विचक्षण॥ २३ ॥
कहें वसिष्ठ ब्रह्म-सुत आकर मुझे उपस्थित होकर ब्राह्मण।
तब समझूँगा सफल हुआ मैं जाएँ यथास्थान अब सुर-गण॥ २४ ॥
तब देवों ने जापक-वर को जा करके सुप्रसन्न कर लिया।
मैत्री स्थापित कर वसिष्ठ ने तब ब्राह्मण-वर उन्हें कह दिया॥ २५ ॥
सब ब्राह्मण-संस्कार हो चुके ब्राह्मण हुए मुने! तुम निश्चित।
ऐसा कहकर सभी देवता गये स्थान निज होकर प्रमुदित॥ २६ ॥
विश्वामित्र धार्मिक ने तब ब्राह्मण का पद पाकर उत्तम।
किया ब्रह्मऋषि श्री वसिष्ठ का पूजन (उनका हुआ सफल श्रम)॥ २७ ॥
सफल मनोरथ, तप-रत, फिर भी करने लगे धरणि पर विचरण।
राम! इस तरह कौशिक मुनि ये तप के द्वारा हुए ब्राह्मण॥ २८ ॥
हैं तप-मूर्ति धर्म की प्रतिमा राम! धन्य! कौशिक मुनिसत्तम।
परम पराक्रम की निधि हैं ये (इसमें नहीं कहीं कोई भ्रम)॥ २९ ॥
शान्त हुए फिर शतानन्द द्विज तेजस्वी वर यह सब कहकर।
शतानन्द के मुख से ऐसी कथा जनक नृपवर ने सुनकर॥
राघव, लक्ष्मण के समीप आ बोले ऋषि से हाथ जोड़कर।
अनुगृहीत मैं परम धन्य हूँ मुनिपुंगव! ऐसे अवसर पर॥३०-३१॥

---

१ ब्रह्मा आदि प्रधान; २ विकारहीन; ३ स्वीकार; * अतिरिक्त पंक्ति।

यज्ञं काकुत्स्थसहितः प्राप्तवानसि कौशिक ।
पावितोऽहं त्वया ब्रह्मन् दर्शनेन महामुने ॥ ३२ ॥
गुणा बहुविधाः प्राप्तास्तव संदर्शनान्मया ।
विस्तरेण च वै ब्रह्मन् कीर्त्यमानं महत्तपः ॥ ३३ ॥
श्रुतं मया महातेजो रामेण च महात्मना ।
सदस्यैः प्राप्य च सदः श्रुतास्ते बहवो गुणाः ॥ ३४ ॥
अप्रमेयं तपस्तुभ्यमप्रमेयं च ते बलम् ।
अप्रमेया गुणाश्चैव नित्यं ते कुशिकात्मज ॥ ३५ ॥
तृप्तिराश्चर्यभूतानां कथानां नास्ति मे विभो ।
कर्मकालो मुनिश्रेष्ठ लम्बते रविमण्डलम् ॥ ३६ ॥
श्वः प्रभाते महातेजो द्रष्टुमर्हसि मां पुनः ।
स्वागतं जपतां श्रेष्ठ मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ ३७ ॥
एवमुक्तो मुनिवरः प्रशस्य पुरुषर्षभम् ।
विससर्जाशु जनकं प्रीतं प्रीतमनास्तदा ॥ ३८ ॥
एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठं वैदेहो मिथिलाधिपः ।
प्रदक्षिणं चकाराशु सोपाध्यायः सबान्धवः ॥ ३९ ॥
विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा सहरामः सलक्ष्मणः ।
स्ववासमभिचक्राम पूज्यमानो महात्मभिः ॥ ४० ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमः सर्गः

राजा जनक का विश्वामित्र और राम-लक्ष्मण का सत्कार करके उन्हें अपने यहाँ रखे हुए धनुष का परिचय देना और धनुष चढ़ा देने पर श्रीराम के साथ उनके ब्याह का निश्चय प्रकट करना

ततः प्रभाते विमले कृतकर्मा नराधिपः ।
विश्वामित्रं महात्मानमाजुहाव सराघवम् ॥ १ ॥
तमर्चयित्वा धर्मात्मा शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
राघवौ च महात्मानौ तदा वाक्यमुवाच ह ॥ २ ॥
भगवन् स्वागतं तेऽस्तु किं करोमि तवानघ ।
भवानाज्ञापयतु मामाज्ञाप्यो भवता ह्यहम् ॥ ३ ॥
एवमुक्तः स धर्मात्मा जनकेन महात्मना ।
प्रत्युवाच मुनिश्रेष्ठो वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ४ ॥

जो कि हुआ काकुत्स्थ सुतों सँग मेरे मख में प्रभो ! आगमन ।
परम कृपा कर, किया सुपावन ब्रह्मन् ! मुझको देकर दर्शन ।। ३२ ।।
बहुगुण मिले मुझे हैं मुनिवर ! प्रभो ! आपके दर्शन द्वारा ।
कहा महत्तप शतानन्द ने शुभ वृत्तान्त आपका सारा ।।
सभा-सदस्यों, राम-साथ में सुना आपका तैजस् वर्णन ।
और सुने गुण सभी आपके हुआ प्रभावित अति मेरा मन ।।३३-३४।।
कुशिकात्मज ! भवदीय तपस्या अति अनुपम है त्रिभुवन-शंसित ।
बल अनन्त है और आपके गुण अनन्त हैं अतुल अपरिमित ।। ३५ ।।
विभो ! न होगी तृप्ति, आपकी आश्चर्यान्वित कथा-श्रवण कर ।
किन्तु भास्कर अस्त-समय है, यज्ञ-समय आया है, मुनिवर ! ।। ३६ ।।
तेजस्वी जापक ! स्वागत है श्रीमन् पुनि प्रातः दें ! दर्शन ।
इस अवसर पर मुझसे जाने की आज्ञा के कहें ! मृदु वचन ।। ३७ ।।
जनकराज के यों कहने पर विश्वामित्र हुए अति प्रमुदित ।
विदा किया पुनि नृप-शंसा[1] कर किया भवन हित उन्हें सु-प्रस्थित ।। ३८ ।।
तदनन्तर निज बन्धु-बान्धवों, उपाध्याय-सह वे मिथिलापति ।
परिक्रमा करके मुनिवर की चले गये निज राज-भवन-प्रति ।। ३९ ।।
तभी महात्माओं से पूजित हो धर्मात्मा कौशिक ऋषिवर ।
राम और लक्ष्मण को सँग ले आये निज विश्रामस्थल पर ।। ४० ।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में पैंसठवाँ सर्ग समाप्त ।। ६५ ।।

छाछठवाँ सर्ग

राजा जनक का विश्वामित्र और राम-लक्ष्मण का सत्कार करके उन्हें अपने यहाँ रखे हुए धनुष का परिचय देना और धनुष चढ़ा देने पर श्रीराम के साथ उनके ब्याह का निश्चय प्रकट करना

निर्मल शुभ प्रभात में धार्मिक नृप ने प्रातःकृत्य किये जब ।
राघव, लक्ष्मण-सहित महात्मा कौशिक मुनि को बुलवाया तब ।।
धर्मात्मा वे, उन सबका फिर शास्त्र-विधा से करके अर्चन ।
बोले मुनि राघव, लक्ष्मण से सुप्रसन्न हो मधुर यह वचन ।। १-२ ।।
स्वागत है निष्कलुष ! आपका, ऋषिवर ! मुझे करें आज्ञापित ! ।
बतलाएँ ! इस आज्ञा-पालक को अपनी सेवा कुछ समुचित ।। ३ ।।
धर्मात्मा कौशिक से ऐसे जनक महात्मा के कहने पर ।
बोले उनसे प्रत्युत्तर में, तब फिर वाक्य-विशारद मुनिवर ।। ४ ।।

---

१ राजा की प्रशंसा ।

पुत्रौ दशरथस्येमौ क्षत्रियौ लोकविश्रुतौ।
द्रष्टुकामौ धनुःश्रेष्ठं यदेतत्त्वयि तिष्ठति ॥ ५ ॥
एतद् दर्शय भद्रं ते कृतकामौ नृपात्मजौ।
दर्शनादस्य धनुषो यथेष्टं प्रतियास्यतः ॥ ६ ॥
एवमुक्तस्तु जनकः प्रत्युवाच महामुनिम्।
श्रूयतामस्य धनुषो यदर्थमिह तिष्ठति ॥ ७ ॥
देवरात इति ख्यातो निमेर्ज्येष्ठो महीपतिः।
न्यासोऽयं तस्य भगवन् हस्ते दत्तो महात्मनः ॥ ८ ॥
दक्षयज्ञवधे पूर्वं धनुरायम्य वीर्यवान्।
विध्वंस्य त्रिदशान् रोषात् सलीलमिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥
यस्माद् भागार्थिनो भागं नाकल्पयत मे सुराः।
वराङ्गानि महार्हाणि धनुषा शातयामि वः ॥ १० ॥
ततो विमनसः सर्वे देवा वै मुनिपुङ्गव।
प्रसादयन्त देवेशं तेषां प्रीतोऽभवद् भवः ॥ ११ ॥
प्रीतियुक्तस्तु सर्वेषां ददौ तेषां महात्मनाम्।
तदेतद् देवदेवस्य धनूरत्नं महात्मनः ॥ १२ ॥
न्यासभूतं तदा न्यस्तमस्माकं पूर्वजे विभौ।
अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः ॥ १३ ॥
क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता।
भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा ॥ १४ ॥
वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा।
भूतलादुत्थितां तां तु वर्धमानां ममात्मजाम् ॥ १५ ॥
वरयामासुरागत्य राजानो मुनिपुङ्गव।
तेषां वरयतां कन्यां सर्वेषां पृथिवीक्षिताम् ॥ १६ ॥
वीर्यशुल्केति भगवन् न ददामि सुतामहम्।
ततः सर्वे नृपतयः समेत्य मुनिपुङ्गव ॥ १७ ॥
मिथिलामभ्युपागम्य वीर्यं जिज्ञासवस्तदा।
तेषां जिज्ञासमानानां शैवं धनुरुपाहृतम् ॥ १८ ॥
न शेकुर्ग्रहणे तस्य धनुषस्तोलनेऽपि वा।
तेषां वीर्यवतां वीर्यमल्पं ज्ञात्वा महामुने ॥ १९ ॥
प्रत्याख्याता नृपतयस्तन्निबोध तपोधन।
ततः परमकोपेन राजानो मुनिपुङ्गव ॥ २० ॥
अरुन्धन् मिथिलां सर्वे वीर्यसंदेहमागताः।
आत्मानमवधूतं मे विज्ञाय नृपपुङ्गवाः ॥ २१ ॥

महाराज ! नृप दशरथ के हैं विश्वविदित विक्रमी उभय सुत ।
उसे देखने को इच्छुक हैं वह जो रक्खा धनु है अद्‌भुत ।। ५ ।।
हो कल्याण आपका ! इनके तोष[1] हेतु वह धनुष दिखायें ! ।
फिर इच्छानुरूप नृपनन्दन ये निज राज्य-धाम को जायें ।। ६ ।।
तब बोले नृप, सुनिये मुनिवर ! धनु-वृत्तान्त सुनाता हूँ अब ।
रखने का उद्‌देश्य कौन है, रक्खा किसने इसे ? और कब ? ।। ७ ।।
भगवन् ! निमि के ज्येष्ठ पुत्र थे देवराज विख्यात धरणि पर ।
उन्हीं महात्मा से प्रदत्त यह प्रभो ! यहाँ पर धनुष-धरोहर ।। ८ ।।
दक्ष-यज्ञ-विध्वंस-समय में खेल-खेल में इसे उठाकर ।
क्रोधपूर्वक सब देवों से पूर्व समय से बोले शंकर ।।
यज्ञ-भाग का इच्छुक था मैं तुम सबने ! वह किया अन्यथा ।
अतः तुम्हारे शिरश्छेद की तुमको है मिल रही यह व्यथा ।। ९-१० ।।
मुनिवर ! यह सुन, सब देवों ने होकर हतप्रभ[2] संस्तुति द्वारा ।
किया प्रसन्न तभी शंकर को मिटा क्रोध उनका तब सारा ।। ११ ।।
मुदित शम्भु ने धनुष, मनस्वी[3] देवों को कर दिया समर्पित ।
तब से यह देवाधिदेव श्री शंकर जी का धनु है रक्षित ।। १२ ।।
मेरे पूर्वज देवराज के पास धरोहर, धनु यह तब से ।
एक समय शोधन करता था यज्ञ-भूमि का मैं निज हल से ।। १३ ।।
तभी हलाग्र भाग से कर्षित[4] भू से कन्या एक सु-प्रकटित ।
कर्षित भू से प्रकट, सुवर्धित[5], अतः नाम सीता है समुचित ।। १४ ।।
वरण हेतु आये नृप, पर निश्चय, जो धनु को चढ़ा सकेगा ।
विक्रम-शुल्का[6] अयोनिजा[7] इस कन्या को वह प्राप्त करेगा ।।
उसको ही दूँगा यह कन्या जो दिखलायेगा विक्रम अति ।
यह सुन, आये तब मिथिला में मिलकर यहाँ बहुत से भूपति ।।
और उन्होंने पूछा, कैसा विक्रम है निश्चित इसके प्रति ।
तब मैंने जिज्ञासु नृपों के सम्मुख रक्खा, इस धनु को अति ।।१५-१८।।
किन्तु उठाना दूर रहा, वे रहे हिलाने में भी असफल ।
मैंने देखा, विक्रमियों में है मुनिवर ! अत्यन्त स्वल्प बल ।। १९ ।।
कन्या उन्हें न देने पर जो घटना घटी सुनें ! वह मुनिवर ! ।
हुए कुपित नृप, उनको संशय हुआ स्वयं अपने विक्रम पर ।।
खड़े हुए वे सब मिथिला को सभी ओर से कर आच्छादित[8] ।
वे नृपपुंगव मेरे द्वारा अपने को तब समझ तिरस्कृत ।।२०-२१।।

---

१ सन्तोष; २ निस्तेज; ३ बुद्धिमान; ४ जोती गयी; ५ बढ़ी; ६ पराक्रम में दिया जानेवाला पुरस्कार; ७ योनि से न उत्पन्न, दिव्यजन्म, सीता; ८ घेरा डाल दिया ।

रोषेण महताविष्टाः पीडयन् मिथिलां पुरीम्।
ततः संवत्सरे पूर्णे क्षयं यातानि सर्वशः॥ २२॥
साधनानि मुनिश्रेष्ठ ततोऽहं भृशदुःखितः।
ततो देवगणान् सर्वांस्तपसाहं प्रसादयम्॥ २३॥
ददुश्च परमप्रीताश्चतुरङ्गबलं सुराः।
ततो भग्ना नृपतयो हन्यमाना दिशो ययुः॥ २४॥
अवीर्या वीर्यसंदिग्धाः सामात्याः पापकारिणः।
तदेतन्मुनिशार्दूल धनुः परमभास्वरम्॥ २५॥
रामलक्ष्मणयोश्चापि दर्शयिष्यामि सुव्रत।
यद्यस्य धनुषो रामः कुर्यादारोपणं मुने।
सुतामयोनिजां सीतां दद्यां दाशरथेरहम्॥ २६॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः॥ ६६॥

सप्तषष्टितमः सर्गः

श्रीराम के द्वारा धनुर्भङ्ग तथा राजा जनक का विश्वामित्र की आज्ञा से राजा दशरथ को बुलाने के लिए मन्त्रियों को भेजना

जनकस्य वचः श्रुत्वा विश्वामित्रो महामुनिः।
धनुर्दर्शय रामाय इति होवाच पार्थिवम्॥ १॥
ततः स राजा जनकः सचिवान् व्यादिदेश ह।
धनुरानीयतां दिव्यं गन्धमाल्यानुलेपितम्॥ २॥
जनकेन समादिष्टाः सचिवाः प्राविशन् पुरम्।
तद्धनुः पुरतः कृत्वा निर्जग्मुरमितौजसः॥ ३॥
नृणां शतानि पञ्चाशद् व्यायतानां महात्मनाम्।
मञ्जूषामष्टचक्रां तां समूहुस्ते कथंचन॥ ४॥
तामादाय सुमञ्जूषामायसीं यत्र तद्धनुः।
सुरोपमं ते जनकमूचुर्नृपतिमन्त्रिणः॥ ५॥
इदं धनुर्वरं राजन् पूजितं सर्वराजभिः।
मिथिलाधिप राजेन्द्र दर्शनीयं यदीच्छसि॥ ६॥
तेषां नृपो वचः श्रुत्वा कृताञ्जलिरभाषत।
विश्वामित्रं महात्मानं तावुभौ रामलक्ष्मणौ॥ ७॥
इदं धनुर्वरं ब्रह्मञ्जनकैरभिपूजितम्।
राजभिश्च महावीर्यैरशक्तैः पूरितं तदा॥ ८॥

और कुपित नृप तब मिथिला को करने लगे बहुत ही पीड़ित।
ऐसे, एक वर्ष में मेरी सेना हुई बहुत ही सीमित ॥ २२ ॥
रण-साधन जब क्षीण हो गये, मुनिवर! हुआ दुःख तब अतिशय।
तप से मैंने सब देवों को किया मनाने का फिर निश्चय ॥ २३ ॥
चतुरंगिणी सैन्य मुझको दी उन देवों ने हो प्रसन्न मन।
मेरी सेना से ताड़ित हो वे सब, उनके सभी मन्त्रि जन ॥
करने लगे पलायन[1] पापी सभी ओर निज वीर्य-सशंकित।
सुव्रत मुने! यह ही वह धनु है, होता है जो परम प्रकाशित ॥२४-२५॥
उसे राम, लक्ष्मण को भी मैं दिखलाऊँगा महा मुनीश्वर।
और धनुष की प्रत्यञ्चा यदि चढ़ा सके ये राम महीश्वर ॥
तो दशरथ-सुत रामचन्द्र को प्रसन्नता से प्रभो! उसी क्षण।
अपनी अयोनिजा सीता दूँ हो जाये मेरा पूरा प्रण ॥ २६ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में छाछठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६६ ॥

सड़सठवाँ सर्ग

श्रीराम के द्वारा धनुर्भङ्ग तथा राजा जनक का विश्वामित्र की आज्ञा से राजा दशरथ को बुलाने के लिए मन्त्रियों को भेजना

जनक नृपति का वचन इस तरह विश्वामित्र मुनीश्वर सुनकर।
बोले, धनुष दिखायें नृपवर! रामचन्द्र को अब वह सत्वर ॥ १ ॥
सचिवों से तब कहा जनक ने चन्दन-माल्यादिक से शोभित।
लाओ! यहाँ दिव्य धनु वह जो परम तेज से है अति द्योतित[2] ॥ २ ॥
जनकाज्ञा से अति तेजस्वी मन्त्री तभी नगर में जाकर।
चले धनुष को आगे करके अवधपुरी के बाहर आकर ॥ ३ ॥
अठ-पहिया सन्दूक-लौह में रक्खा था विशाल वह धनु वर।
ला पाये थे उसे ठेलकर पञ्च सहस्र मनस्वि वीर वर ॥ ४ ॥
लाकर लोहे की मञ्जूषा जिसमें वृहद धनुष था संस्थित।
किया निवेदन सचिवों ने, देवोपम श्री मिथिलापति के प्रति ॥ ५ ॥
राजन्! मिथिलापते! धनुष यह सभी नृपों से जो सम्मानित।
चाहें तो, इन राज-सुतों को दिखलाये! (जो हैं प्रतिभान्वित) ॥ ६ ॥
उनका सुनकर वचन, जनक नृप, हाथ जोड़ करके तदनन्तर ॥
बोले विश्वामित्र महात्मा राम और लक्ष्मण से सत्वर ॥ ७ ॥
ब्रह्मन्! वह यह श्रेष्ठ धनुष है जो है जनक-वंश-जन-पूजित।
असफल रहे उठाने में विक्रमी नृपों से भी सम्मानित ॥ ८ ॥

---

1 भागने लगे; 2 प्रकाशमान्।

नैतत् सुरगणाः सर्वे सासुरा न च राक्षसाः ।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः ॥ ९ ॥
क्व गतिर्मानुषाणां च धनुषोऽस्य प्रपूरणे ।
आरोपणे समायोगे वेपने तोलने तथा ॥ १० ॥
तदेतद् धनुषां श्रेष्ठमानीतं मुनिपुङ्गव ।
दर्शयैतन्महाभाग अनयो राजपुत्रयोः ॥ ११ ॥
विश्वामित्रः सरामस्तु श्रुत्वा जनकभाषितम् ।
वत्स राम धनुः पश्य इति राघवमब्रवीत् ॥ १२ ॥
महर्षेर्वचनाद् रामो यत्र तिष्ठति तद्धनुः ।
मञ्जूषां तामपावृत्य दृष्ट्वा धनुरथाब्रवीत् ॥ १३ ॥
इदं धनुर्वरं दिव्यं संस्पृशामीह पाणिना ।
यत्नवांश्च भविष्यामि तोलने पूरणेऽपि वा ॥ १४ ॥
बाढमित्यब्रवीद् राजा मुनिश्च समभाषत ।
लीलया स धनुर्मध्ये जग्राह वचनान्मुनेः ॥ १५ ॥
पश्यतां नृसहस्राणां बहूनां रघुनन्दनः ।
आरोपयत् स धर्मात्मा सलीलमिव तद्धनुः ॥ १६ ॥
आरोपयित्वा मौर्वीं च पूरयामास तद्धनुः ।
तद् बभञ्ज धनुर्मध्ये नरश्रेष्ठो महायशाः ॥ १७ ॥
तस्य शब्दो महानासीन्निर्घातसमनिःस्वनः ।
भूमिकम्पश्च सुमहान् पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ १८ ॥
निपेतुश्च नराः सर्वे तेन शब्देन मोहिताः ।
वर्जयित्वा मुनिवरं राजानं तौ च राघवौ ॥ १९ ॥
प्रत्याश्वस्ते जने तस्मिन् राजा विगतसाध्वसः ।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं वाक्यज्ञो मुनिपुङ्गवम् ॥ २० ॥
भगवन् दृष्टवीर्यो मे रामो दशरथात्मजः ।
अत्यद्भुतमचिन्त्यं च अतर्कितमिदं मया ॥ २१ ॥
जनकानां कुले कीर्तिमाहरिष्यति मे सुता ।
सीता भर्तारमासाद्य रामं दशरथात्मजम् ॥ २२ ॥
मम सत्या प्रतिज्ञा सा वीर्यशुल्केति कौशिक ।
सीता प्राणैर्बहुमता देया रामाय मे सुता ॥ २३ ॥
भवतोऽनुमते ब्रह्मञ्शीघ्रं गच्छन्तु मन्त्रिणः ।
मम कौशिक भद्रं ते अयोध्यां त्वरिता रथैः ॥ २४ ॥

सुर, राक्षस, गन्धर्व, असुर सब यक्ष और किन्नर भी अतिबल।
महानाग आदिक तक इसको, रहे उठाने में सब असफल ॥ ९ ॥
मानव में है कहाँ शक्ति तब ? इसको खींचे और चढ़ाये।
तथा उठाकर शर-युत करके प्रत्यञ्चा-टंकार सुनाये ! ॥ १० ॥
लाया गया श्रेष्ठ धनु मुनिवर ! (वह, जिसकी सुन चुके कथाएँ)।
अब इन दोनों राजकुमारों को, हे महाभाग ! दिखलाएँ ! ॥ ११ ॥
राम-सहित कौशिक मुनिवर ने जनकराज की वार्ता सुनकर।
रघुनन्दन से कहा, वत्स प्रिय ! राम ! इसे देखो विस्मयकर ॥ १२ ॥
फिर महर्षि की आज्ञा पाकर किया लौह-संदूक अनावृत[1]।
धनु को देखा रामचन्द्र ने मुनि से बोले वचन अति विनत ॥ १३ ॥
अच्छा अब मैं दिव्य, श्रेष्ठ इस वृहद् धनुष पर कर[2] हूँ धरता।
और उठाने तथा चढ़ाने का प्रयत्न भी किञ्चित करता ॥ १४ ॥
हाँ, ऐसा ही करो ! कह उठे एक साथ ही मुनिवर नृपवर।
मुनि-आज्ञा से रामचन्द्र ने धनु का मध्य प्रदेश ग्रहण कर ॥
लीलापूर्वक उसे उठाया और चढ़ा दी प्रत्यञ्चा तब।
व्यक्ति सहस्रों प्रस्तुत उनका देख रहे थे कौतुक यह सब ॥१५-१६॥
तभी यशस्वी नृवर राम ने ज्यों ही प्रत्यञ्चा उत्थित कर[3]।
उसे कर्ण तक खींचा त्यों ही खण्डित वह हो गया धनुष वर ॥ १७ ॥
वज्रपात-सा हुआ महा रव[4] होते ही उस धनु के खण्डित।
मानो हो फट पड़ा धराधर वसुन्धरा भूकम्प-प्रकम्पित ॥ १८ ॥
रघुकुल-भूषण राघव, लक्ष्मण, मुनिवर और जनक को तजकर।
धनुष-भंग का भीम[5] शब्द सुन मूर्च्छित हो, गिर पड़े सभी नर ॥ १९ ॥
स्वल्प समय के बाद सचेष्टित और हुए निर्भय जब जन सब।
वाक्यमर्मविद् जनक वाक्-पटु गाधि-सुवन से यों बोले तब ॥ २० ॥
भगवन् ! मैंने देखा दशरथ-नन्दन का अद्भुत यह विक्रम।
शिव-धनु को इस भाँति चढ़ाना अनसोचा, अनुपम, अचिन्त्यतम ॥ २१ ॥
दशरथ-नन्दन रामचन्द्र को पतिस्वरूप में पाकर निश्चय।
पुत्री सीता जनक-वंश की कीर्ति बढ़ाएगी अब अतिशय ॥ २२ ॥
शक्ति-पूर्ण पर सिया-वरण का प्रण मम पूरा हुआ आज जब।
धनुभञ्जक रघुपति को दूँगा प्राणाधिक प्रिय सीता को अब ॥ २३ ॥
साधुवाद ! मुनिवर ! हो आज्ञा, तुरत सवेग मंत्रि चढ़ रथ पर।
नृप दशरथ को समाचार दें उत्कण्ठा का, अवध पहुँचकर ॥ २४ ॥

---

१ खोला; २ हाथ; ३ उठाकर; ४ घोष, आवाज; ५ घोनघोर।

राजानं प्रश्रितैर्वाक्यैरानयन्तु पुरं मम।
प्रदानं वीर्यशुल्कायाः कथयन्तु च सर्वशः ॥ २५ ॥
मुनिगुप्तौ च काकुत्स्थौ कथयन्तु नृपाय वै।
प्रीतियुक्तं तु राजानमानयन्तु सुशीघ्रगाः ॥ २६ ॥
कौशिकस्तु तथेत्याह राजा चाभाष्य मन्त्रिणः।
अयोध्यां प्रेषयामास धर्मात्मा कृतशासनान्।
यथावृत्तं समाख्यातुमानेतुं च नृपं तथा ॥ २७ ॥
॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमः सर्ग

राजा जनक का संदेश पाकर मन्त्रियों-सहित महाराज दशरथ का मिथिला जाने के लिए उद्यत होना

जनकेन समादिष्टा दूतास्ते क्लान्तवाहनाः।
त्रिरात्रमुषिता मार्गे तेऽयोध्यां प्राविशन् पुरीम् ॥ १ ॥
ते राजवचनाद् गत्वा राजवेश्म प्रवेशिताः।
ददृशुर्देवसंकाशं वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ २ ॥
बद्धाञ्जलिपुटाः सर्वे दूता विगतसाध्वसाः।
राजानं प्रश्रितं वाक्यमब्रुवन् मधुराक्षरम् ॥ ३ ॥
मैथिलो जनको राजा साग्निहोत्रपुरस्कृतः।
मुहुर्मुहुर्मधुरया स्नेहसंरक्तया गिरा ॥ ४ ॥
कुशलं चाव्ययं चैव सोपाध्यायपुरोहितम्।
जनकस्त्वां महाराज पृच्छते सपुरःसरम् ॥ ५ ॥
पृष्ट्वा कुशलमव्यग्रं वैदेहो मिथिलाधिपः।
कौशिकानुमते वाक्यं भवन्तमिदमब्रवीत् ॥ ६ ॥
पूर्वं प्रतिज्ञा विदिता वीर्यशुल्का ममात्मजा।
राजानश्च कृतामर्षा निर्वीर्या विमुखीकृताः ॥ ७ ॥
सेयं मम सुता राजन् विश्वामित्रपुरस्कृतैः।
यदृच्छयागतै राजन् निर्जिता तव पुत्रकैः ॥ ८ ॥
तच्च रत्नं धनुर्दिव्यं मध्ये भग्नं महात्मना।
रामेण हि महाबाहो महत्यां जनसंसदि ॥ ९ ॥
अस्मै देया मया सीता वीर्यशुल्का महात्मने।
प्रतिज्ञां तर्तुमिच्छामि तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ १० ॥

धनुर्भंग था शुल्क जानकी का वह पूरा किया राम नें।
दशरथ नृप से करें विनय, वे शीघ्र-पधारें जनक-धाम में।। २५ ।।
विश्वामित्र-सुदेख-रेख में राम-लखन मिथिला में सकुशल।
अवध-भूप भी शीघ्र पधारें (सहित बरात और सब दल-बल)।। २६ ।।
विश्वामित्र मुनीश्वर ने तब फिर तथास्तु कह किया समर्थन।
तब विदेह ने आज्ञापालक सचिवों को यह किया समर्पन।।
मिथिला का वृत्तान्त सर्वथा कहने को उनको समझाया।
(और उन्हें दशरथ को मिथिला में लाने को शीघ्र पठाया)।। २७ ।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
सड़सठवाँ सर्ग समाप्त ।। ६७ ।।

अड़सठवाँ सर्ग

राजा जनक का सन्देश पाकर मन्त्रियों-सहित महाराज दशरथ का मिथिला जाने के लिए उद्यत होना

जनकराज-प्रेषित[1] दूतों के वाहन थके, मार्ग में रुककर।
तीन रात्रि विश्राम, कुशल से पहुँचे नगर अयोध्या जाकर।। १ ।।
राजाज्ञा से राज-महल में देव-तुल्य तेजस्वि वृद्धवर।
श्री दशरथ के किये उन्होंनें दर्शन अद्भुत उस अवसर पर।। २ ।।
उन दूतों ने हाथ जोड़ कर और सर्वथा होकर निर्भय।
कहा मधुर वाणी में नृप से भलीभाँति से होकर सविनय।। ३ ।।
महाराज! मिथिलेश जनक ने यज्ञ-अग्नि को आगे रखकर।
बारम्बार स्नेह से सिञ्चित मधुर-मधुर वाणी में रुचिकर।।
प्रश्न किया है उपाध्याय-सँग आप अयोध्या नगरी के पति।
और पुरोहित उत्तम सेवक हैं सब कुशल क्षेम से सम्प्रति?।। ४-५ ।।
फिर श्री विश्वामित्र महा ऋषि की विदेह ने आज्ञा पाकर।
भेजा है संदेश आपको विना व्यग्रता हमें पठाकर।। ६ ।।
होगी विदित प्रतिज्ञा मेरी सुता-विवाह शुल्क[2]-विक्रम पर।
दुःसाहसी नृपति बहु आकर हुए विफल, लौटे निज-निज घर।। ७ ।।
इस कन्या को कौशिक के सँग विचरणशील राम ने आकर।
जीत लिया है धनुष उठाने का अपना विक्रम दिखलाकर।। ८ ।।
जन-समूह के मध्यस्थित उस धनुष-रत्न का मध्य भाग से।
खींचा, टूट गया वह नृपवर! राम महात्मा महाभाग से।। ९ ।।
राम महात्मा को मैं अपनी विक्रम-शुल्का[3] सीता देकर।
इच्छा है अब पूर्ण प्रतिज्ञा करूँ कृपामय-आज्ञा लेकर।। १० ।।

---

१ भेजे हुए; २ किसी बदले में प्राप्त द्रव्य, दक्षिणा; ३ पुरुषार्थ के बदले में दी जानेवाली।

सोपाध्यायो महाराज पुरोहितपुरस्कृतः ।
शीघ्रमागच्छ भद्रं ते द्रष्टुमर्हसि राघवौ ॥ ११ ॥
प्रतिज्ञां मम राजेन्द्र निर्वर्तयितुमर्हसि ।
पुत्रयोरुभयोरेव प्रीतिं त्वमुपलप्स्यसे ॥ १२ ॥
एवं विदेहाधिपतिर्मधुरं वाक्यमब्रवीत् ।
विश्वामित्राभ्यनुज्ञातः शतानन्दमते स्थितः ॥ १३ ॥
दूतवाक्यं तु तच्छ्रुत्वा राजा परमहर्षितः ।
वसिष्ठं वामदेवं च मन्त्रिणश्चैवमब्रवीत् ॥ १४ ॥
गुप्तः कुशिकपुत्रेण कौसल्यानन्दवर्धनः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा विदेहेषु वसत्यसौ ॥ १५ ॥
दृष्टवीर्यस्तु काकुत्स्थो जनकेन महात्मना ।
सम्प्रदानं सुतायास्तु राघवे कर्तुमिच्छति ॥ १६ ॥
यदि वो रोचते वृत्तं जनकस्य महात्मनः ।
पुरीं गच्छामहे शीघ्रं मा भूत् कालस्य पर्ययः ॥ १७ ॥
मन्त्रिणो बाढमित्याहुः सह सर्वैर्महर्षिभिः ।
सुप्रीतश्चाब्रवीद् राजा श्वो यात्रेति च मन्त्रिणः ॥ १८ ॥
मन्त्रिणस्तु नरेन्द्रस्य रात्रिं परमसत्कृताः ।
ऊषुः प्रमुदिताः सर्वे गुणैः सर्वैः समन्विताः ॥ १९ ॥
॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

दल-बल-सहित राजा दशरथ की मिथिला-यात्रा और वहाँ राजा जनक के द्वारा उनका स्वागत-सत्कार

ततो रात्र्यां व्यतीतायां सोपाध्यायः सबान्धवः ।
राजा दशरथो हृष्टः सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
अद्य सर्वे धनाध्यक्षा धनमादाय पुष्कलम् ।
व्रजन्त्वग्रे सुविहिता नानारत्नसमन्विताः ॥ २ ॥
चतुरङ्गबलं चापि शीघ्रं निर्यातु सर्वशः ।
ममाज्ञासमकालं च यानं युग्यमनुत्तमम् ॥ ३ ॥
वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिरथ काश्यपः ।
मार्कण्डेयस्तु दीर्घायुर्ऋषिः कात्यायनस्तथा ॥ ४ ॥
एते द्विजाः प्रयान्त्वग्रे स्यन्दनं योजयस्व मे ।
यथाकालात्ययो न स्याद् दूता हि त्वरयन्ति माम् ॥ ५ ॥

महाराज! अब गुरुजन एवं पुरोहितों के संग पधारें!।
देखें! राम और लक्ष्मण को भद्र! सुमंगल-कार्य सँवारें?॥ ११ ॥
पूरी करें! प्रतिज्ञा मेरी अब राजेन्द्र! यहाँ पर आकर।
दोनों पुत्रों के विवाह का ले आनन्द तथैव कृपा कर॥ १२ ॥
राजन्! कहा विदेहराज ने यह संदेश आप से मधुरिम।
कौशिक-आज्ञा शतानन्द की सम्मति, उन्हें मिल चुकी अग्रिम॥ १३ ॥
दूत-वाक्य सुन करके राजा दशरथ हुए बहुत ही हर्षित।
और कहा सचिवो, वसिष्ठ गुरु, वामदेव से वचन यथोचित॥ १४ ॥
प्रिय कौसल्यानन्द-विवर्धन राम, अनुज लक्ष्मण के सँग में।
गये महात्मा जनकराज की मिथिला में कौशिक मुनि सँग में॥ १५ ॥
वहाँ किया है जनकराज ने राम-पराक्रम का शुभ दर्शन।
अतः सुनिश्चय उनका मन है, करें राम को सिया समर्पन॥ १६ ॥
आप सभी की सम्मति हो तो चलें महात्मा जनक-पुरी अब।
समझें यदि समुचित यात्रा तो चलें वहाँ अविलम्ब आप सब॥ १७ ॥
यह सुन ब्रह्मर्षियों, मन्त्रियो ने 'अच्छा' कह दे दी स्वीकृति।
तब सचिवों को श्री दशरथ ने प्रातः चलने की दी सम्मति॥ १८ ॥
मन्त्री थे सद्गुणी सर्वथा किया नृपति दशरथ ने आदर।
थे प्रसन्न बारात चलेगी निशा एक सानन्द बिता कर॥ १९ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में अड़सठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६८ ॥

उनहत्तरवाँ सर्ग

दल-बल-सहित राजा दशरथ की मिथिला-यात्रा और वहाँ राजा जनक के द्वारा उनका स्वागत-सत्कार

निशा बीतने पर दशरथ ने उपाध्याय, बान्धवों-सहित फिर।
हर्षित होकर कहा, मन्त्रिवर प्रिय सुमन्त्र से वचन यह रुचिर॥ १ ॥
आज हमारे धनाध्यक्ष सब विविध रत्न ले करके अतुलित।
आगे चलें और रक्षा की होवे पूर्ण व्यवस्था समुचित॥ २ ॥
सेना चतुरंगिणी सु-प्रस्थित हो आज्ञा पा करके सत्वर।
उत्तम अश्वादिक वाहन सब और चलें पालकियाँ सुन्दर॥ ३ ॥
आगे चलें वसिष्ठ महा ऋषि बामदेव, जाबालि तपोधन।
मार्कण्डेय चिरञ्जीवी ऋषि और चलें कश्यप, कात्यायन॥
करो श्रेष्ठ मेरे भी रथ को भलीभाँति तैयार शीघ्र अब।
क्योंकि बहुत जल्दी चलने को कहते हैं ये जनक-दूत सब॥ ४-५ ॥

वचनाच्च नरेन्द्रस्य सेना च चतुरङ्गिणी ।
राजानमृषिभिः सार्धं व्रजन्तं पृष्ठतोऽन्वयात् ॥ ६ ॥
गत्वा चतुरहं मार्गं विदेहानभ्युपेयिवान् ।
राजा च जनकः श्रीमाञ्छ्रुत्वा पूजामकल्पयत् ॥ ७ ॥
ततो राजानमासाद्य वृद्धं दशरथं नृपम् ।
मुदितो जनको राजा प्रहर्षं परमं ययौ ॥ ८ ॥
उवाच वचनं श्रेष्ठो नरश्रेष्ठं मुदान्वितम् ।
स्वागतं ते नरश्रेष्ठ दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव ॥ ९ ॥
पुत्रयोरुभयोः प्रीतिं लप्स्यसे वीर्यनिर्जिताम् ।
दिष्ट्या प्राप्तो महातेजा वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १० ॥
सह सर्वैर्द्विजश्रेष्ठैर्देवैरिव शतक्रतुः ।
दिष्ट्या मे निर्जिता विघ्ना दिष्ट्या मे पूजितं कुलम् ॥ ११ ॥
राघवैः सह सम्बन्धाद् वीर्यश्रेष्ठैर्महाबलैः ।
श्वः प्रभाते नरेन्द्र त्वं संवर्तयितुमर्हसि ॥ १२ ॥
यज्ञस्यान्ते नरश्रेष्ठ विवाहमृषिसत्तमैः ।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा ऋषिमध्ये नराधिपः ॥ १३ ॥
वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठः प्रत्युवाच महीपतिम् ।
प्रतिग्रहो दातृवशः श्रुतमेतन्मया पुरा ॥ १४ ॥
यथा वक्ष्यसि धर्मज्ञ तत् करिष्यामहे वयम् ।
तद् धर्मिष्ठं यशस्यं च वचनं सत्यवादिनः ॥ १५ ॥
श्रुत्वा विदेहाधिपतिः परं विस्मयमागतः ।
ततः सर्वे मुनिगणाः परस्परसमागमे ॥ १६ ॥
हर्षेण महता युक्तास्तां रात्रिमवसन् सुखम् ।
अथ रामो महातेजा लक्ष्मणेन समं ययौ ॥ १७ ॥
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य पितुः पादावुपस्पृशन् ।
राजा च राघवौ पुत्रौ निशाम्य परिहर्षितः ॥ १८ ॥
उवास परमप्रीतो जनकेनाभिपूजितः ।
जनकोऽपि महातेजाः क्रिया धर्मेण तत्त्ववित् ।
यज्ञस्य च सुताभ्यां च कृत्वा रात्रिमुवास ह ॥ १९ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

यात्रा करते हुए नृपतिवर दशरथ के सँग में थे ऋषिवर।
पीछे आज्ञपित सेना फिर चतुरंगिणी चली बलवत्तर ॥ ६ ॥
पहुँचे जनक-देश में वे सब चार दिवस का पथ चल करके।
स्वागत-साज सजाये नृप ने समाचार सुन कर दशरथ के ॥ ७ ॥
वृद्ध नृपति दशरथ-समीप में जनकराज तब हुए उपस्थित।
उनके श्रीदर्शन पा करके हुए विदेह[1] अत्यधिक हर्षित ॥ ८ ॥
मुदित जनक बोले दशरथ से नृवर! आपका है अभिनन्दन।
बड़े भाग्य हैं मेरे, आये जो कि यहाँ पर श्री रघुनन्दन! ॥ ९ ॥
विक्रम-लब्धा[2] प्रीति सुतों की आप यहाँ पायेंगे निश्चय।
है सौभाग्य हमारा, आये श्री वसिष्ठ अतिशय तेजोमय ॥ १० ॥
देव-सभा में इन्द्र-सदृश ये विप्र-वृन्द में होते शोभित।
और भाग्य-वश विघ्न सभी अब हुए पराजित तथा विमोहित ॥ ११ ॥
बली, विक्रमी रघुकुल-अन्वित हुआ हमारा कुल सम्मानित।
प्रातः चलें नरेन्द्र! इन सभी महर्षियों से होकर अन्वित[3] ॥ १२ ॥
यज्ञ-पूर्ति पर नृवर! राम के वैवाहिक शुभ कार्य करें! अब।
ऋषि-मण्डल में संस्थित दशरथ वे विदेह की वार्ता सुन सब ॥ १३ ॥
वाक्य-मर्मविद्, वाक्यविशारद बोले सुधी जनक से सत्वर।
होता दाता के वश में है प्रतिग्रह[4] कहते ऐसा, नृपवर ॥ १४ ॥
जैसा आप कहेंगे! वैसा कार्य करूँगा मैं मिथिलेश्वर!।
सत्यव्रती दशरथ के ऐसे धार्मिक यशकर वचन श्रवण कर ॥ १५ ॥
तब विदेह वे दशरथ-वार्ता सुनकर हुए बहुत ही विस्मित।
मुनिवर वैवाहिक वार्ता कर हुए परस्पर में अति हर्षित ॥ १६ ॥
सबने सुख से रात्रि बिताई कुछ सोये थे, कुछ थे जागे।
लक्ष्मण-सहित राम तेजस्वी ने कौशिक को करके आगे ॥ १७ ॥
जाकर पास पिता के, उनके पद-कमलों का स्पर्श किया जब।
सकुशल देख राम, लक्ष्मण को हुए सु-प्रमुदित श्री दशरथ तब ॥ १८ ॥
प्रसन्नता से रहे रात्रि में वहीं जनक से होकर पूजित।
और जनक तेजस्वी ने तब कर मख-कार्य धर्म से पूरित ॥
कन्याओं के वैवाहिक सब मंगल-कार्य किये सम्पादित।
(मंगल रजनी प्रसन्नता से हुई सभी के द्वारा यापित) ॥ १९ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६९ ॥

---

१ राजा जनक; २ पराक्रम से प्राप्त; ३ पूर्ण, संग-प्राप्त; ४ दान ग्रहण करना।

सप्ततितमः सर्गः

राजा जनक का अपने भाई कुशध्वज को सांकाश्या नगरी से बुलवाना, राजा दशरथ के अनुरोध से वसिष्ठ जी का सूर्यवंश का परिचय देते हुए श्रीराम और लक्ष्मण के लिए सीता तथा ऊर्मिला को वरण करना

ततः प्रभाते जनकः कृतकर्मा महर्षिभिः ।
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः शतानन्दं पुरोहितम् ॥ १ ॥
भ्राता मम महातेजा वीर्यवानतिधार्मिकः ।
कुशध्वज इति ख्यातः पुरीमध्यवसच्छुभाम् ॥ २ ॥
वार्याफलकपर्यन्तां पिबन्निक्षुमतीं नदीम् ।
सांकाश्यां पुण्यसंकाशां विमानमिव पुष्पकम् ॥ ३ ॥
तमहं द्रष्टुमिच्छामि यज्ञगोप्ता स मे मतः ।
प्रीतिं सोऽपि महातेजा इमां भोक्ता मया सह ॥ ४ ॥
एवमुक्ते तु वचने शतानन्दस्य संनिधौ ।
आगताः केचिदव्यग्रा जनकस्तान् समादिशत् ॥ ५ ॥
शासनात् तु नरेन्द्रस्य प्रययुः शीघ्रवाजिभिः ।
समानेतुं नरव्याघ्रं विष्णुमिन्द्राज्ञया यथा ॥ ६ ॥
सांकाश्यां ते समागम्य ददृशुश्च कुशध्वजम् ।
न्यवेदयन् यथावृत्तं जनकस्य च चिन्तितम् ॥ ७ ॥
तद्वृत्तं नृपतिः श्रुत्वा दूतश्रेष्ठैर्महाजवैः ।
आज्ञया तु नरेन्द्रस्य आजगाम कुशध्वजः ॥ ८ ॥
स ददर्श महात्मानं जनकं धर्मवत्सलम् ।
सोऽभिवाद्य शतानन्दं जनकं चातिधार्मिकम् ॥ ९ ॥
राजार्हं परमं दिव्यमासनं सोऽध्यरोहत ।
उपविष्टावुभौ तौ तु भ्रातरावमितद्युती ॥ १० ॥
प्रेषयामासतुर्वीरौ मन्त्रिश्रेष्ठं सुदामनम् ।
गच्छ मन्त्रिपते शीघ्रमिक्ष्वाकुममितप्रभम् ॥ ११ ॥
आत्मजैः सह दुर्धर्षमानयस्व समन्त्रिणम् ।
औपकार्यां स गत्वा तु रघूणां कुलवर्धनम् ॥ १२ ॥
ददर्श शिरसा चैनमभिवाद्येदमब्रवीत् ।
अयोध्याधिपते वीर वैदेहो मिथिलाधिपः ॥ १३ ॥
स त्वां द्रष्टुं व्यवसितः सोपाध्यायपुरोहितम् ।
मन्त्रिश्रेष्ठवचः श्रुत्वा राजा सर्षिगणस्तथा ॥ १४ ॥

सत्तरवाँ सर्ग

राजा जनक का अपने भाई कुशध्वज को सांकाश्या नगरी से बुलवाना, राजा दशरथ के अनुरोध से वशिष्ठ जी का सूर्यवंश का परिचय देते हुए श्रीराम और लक्ष्मण के लिए सीता तथा ऊर्मिला को वरण करना

जनक कर चुके ऋषियों द्वारा यज्ञ-कार्य सम्पन्न शीघ्र जब।
बोले वे मर्मज्ञ, पुरोहित शतानन्द जी से ऐसे तब ॥ १ ॥
ब्रह्मन् ! धार्मिक, बली, कुशध्वज तेजस्वी भ्राता मम अतिशय।
रहते इक्षुमती-तटवर्तिनि सांकाश्या[1] में सुख से निश्चय ॥
रिपु-वारण[2], परकोट-सुरक्षा-हित उसमें हैं यन्त्र वृहत्तम।
पुष्पक जैसी सुविस्तृता वह है पुण्यों से प्राप्य स्वर्ग-सम ॥ २-३ ॥
उन्हें देखने की इच्छा है वे हैं संरक्षक इस मख के।
प्राप्त करें वैवाहिक मख-सुख तेजस्वी वे भी सँग रह के ॥ ४ ॥
शतानन्द के पास धीर जन आये नृप के यह कहने पर।
उनको भी आदेश यही तब लगे सुनाने वे भूपेश्वर ॥ ५ ॥
नृवर कुशध्वज को लाने को द्रुतगामी अश्वों पर चढ़कर।
वे सब चले विष्णु को लाने मानों सुरपति के कहने पर ॥ ६ ॥
सांकाश्या जाकर कुश-ध्वज को मिथिला का वृत्तान्त बताया।
और जनक का अभिप्राय भी अति विनम्र होकर समझाया ॥ ७ ॥
द्रुतगामी[3] दूतों के मुख से मिथिला का वृत्तान्त श्रवण कर।
जनकाज्ञा-अनुसार आ गये मिथिला में वे कुश-ध्वज नृपवर ॥ ८ ॥
वहाँ उन्होंने किये महात्मा जनक धर्मवत्सल के दर्शन।
किया धर्मधर जनकराज सँग शतानन्द द्विज को भी विनमन ॥ ९ ॥
और नृपों के योग्य दिव्यतम सिंहासन पर हुए विराजित।
सीताराम-विवाह-वृत्त से वे मन में थे अति आनन्दित ॥
उन तेजस्वी बन्धु नृपों ने जो थे सिंहासन पर सुस्थित।
किया सुदामन मन्त्रि प्रवर को दशरथ के समीप फिर प्रस्थित ॥
इक्ष्वाकु-रत्न दुर्जय को, सुत-सचिवों सँग लाओ द्रुत जाकर।
पहुँचे दशरथ के खेमे में सचिव सुदामन आज्ञा पाकर ॥ १०-१२ ॥
रघुकुल-कीर्ति-विवर्धक नृप को कर प्रणाम बोले वे सत्वर।
वीर अयोध्यापते ! जनक नृप मिथिलाधीश्वर इस अवसर पर ॥
सहित पुरोहित, उपाध्याय के हैं श्रीमद्-दर्शन-अभिलाषी।
सुनकर ऋषियों सँग दशरथ ने वचन सुदामन के विश्वासी ॥ १३-१४ ॥

---

१ नगरी का नाम; २ शत्रु से प्रतिरोध (सफल मुकाबला); ३ तेज दौड़नेवाले।

सबन्धुरगमत् तत्र जनको यत्र वर्तते ।
राजा च मन्त्रिसहितः सोपाध्यायः सबान्धवः ॥ १५ ॥
वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठो वैदेहमिदमब्रवीत् ।
विदितं ते महाराज इक्ष्वाकुकुलदैवतम् ॥ १६ ॥
वक्ता सर्वेषु कृत्येषु वसिष्ठो भगवानृषिः ।
विश्वामित्राभ्यनुज्ञातः सह सर्वैर्महर्षिभिः ॥ १७ ॥
एष वक्ष्यति धर्मात्मा वसिष्ठो मे यथाक्रमम् ।
तूष्णींभूते दशरथे वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १८ ॥
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञो वैदेहं सपुरोधसम् ।
अव्यक्तप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः ॥ १९ ॥
तस्मान्मरीचिः संजज्ञे मरीचेः कश्यपः सुतः ।
विवस्वान् कश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः स्मृतः ॥ २० ॥
मनुः प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुश्च मनोः सुतः ।
तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥ २१ ॥
इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान् कुक्षिरित्येव विश्रुतः ।
कुक्षेरथात्मजः श्रीमान् विकुक्षिरुदपद्यत ॥ २२ ॥
विकुक्षेस्तु महातेजा बाणः पुत्रः प्रतापवान् ।
बाणस्य तु महातेजा अनरण्यः प्रतापवान् ॥ २३ ॥
अनरण्यात् पृथुर्जज्ञे त्रिशङ्कुस्तु पृथोरपि ।
त्रिशङ्कोरभवत् पुत्रो धुन्धुमारो महायशाः ॥ २४ ॥
धुन्धुमारान्महातेजा युवनाश्वो महारथः ।
युवनाश्वसुतश्चासीन्मान्धाता पृथिवीपतिः ॥ २५ ॥
मान्धातुस्तु सुतः श्रीमान् सुसंधिरुदपद्यत ।
सुसंधेरपि पुत्रौ द्वौ ध्रुवसंधिः प्रसेनजित् ॥ २६ ॥
यशस्वी ध्रुवसंधेस्तु भरतो नाम नामतः ।
भरतात् तु महातेजा असितो नाम जायत ॥ २७ ॥
यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः ।
हैहयास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशबिन्दवः ॥ २८ ॥
तांश्च स प्रतियुध्यन् वै युद्धे राजा प्रवासितः ।
हिमवन्तमुपागम्य भार्याभ्यां सहितस्तदा ॥ २९ ॥
असितोऽल्पबलो राजा कालधर्ममुपेयिवान् ।
द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतिः ॥ ३० ॥
एका गर्भविनाशार्थं सपत्न्यै सगरं ददौ ।
ततः शैलवरे रम्ये बभूवाभिरतो मुनिः ॥ ३१ ॥

अपने बन्धु-बान्धवों के सँग गये जहाँ थे जनकराज तब।
और पास में ही उनके थे वन्धु-बान्धव, सचिव आदि सब॥
श्री विदेह से बोले तब फिर वाक्यविशारद दशरथ नृप वर।
होगा सु-विदित महाराज को हैं इक्ष्वाकु-वंश के सुरवर॥
ये वसिष्ठ कर्तव्य-निदेशक, है इनकी ही आज्ञा उत्तम।
यदि समुपस्थित महर्षियों सँग आज्ञा दें कौशिक मुनिसत्तम॥
तो पहले वसिष्ठ ऋषि ही दें शाखोच्चार सहित मम-परिचय।
यह कह, शान्त हुए दशरथ जब तब वसिष्ठ तेजोमय अतिशय॥
सहित पुरोहित श्री विदेह से बोले देते हुए सुपरिचय।
हैं अव्यक्त, प्रभव, अविनाशी ब्रह्मा नित्य, तेजयुत, अव्यय॥
उनसे प्रकटे श्री मरीचि हैं, हैं मरीचि के श्री कश्यप-सुत।
कश्यप के सुत विवस्वान हैं विवस्वान-सुत वैवस्वत श्रुत॥१५-२०॥
ये मनु ही थे प्रथम प्रजापति इनके थे इक्ष्वाकु नाम सुत।
ये ही श्री इक्ष्वाकु अयोध्या के नृप हुए प्रथम भू-विश्रुत॥ २१ ॥
कुक्षि हुए इक्ष्वाकु-पुत्र तव ये थे अतिशय तेजस्वी वर।
इनके हुए विकुक्षि नाम सुत ये थे अनुपम अमित कान्ति-धर॥ २२ ॥
थे विकुक्षि के सुत तेजस्वी बाण प्रतापी जग में अतिशय।
और बाण के तेजस्वी सुत थे अनरण्य प्रतापी निश्चय॥ २३ ॥
हुए पुनः अनरण्य-सुवन पृथु, पृथु से हुए त्रिशंकु नृपतिवर।
थे त्रिशंकु के धुन्धुमार सुत महायशस्वी अति बलवत्तर॥ २४ ॥
धुन्धुमार से जन्मे थे फिर तेजस्वी युवनाश्व महाबल।
श्री युवनाश्व पुत्र मान्धाता से शासित था यह भूमण्डल॥ २५ ॥
मान्धाता-सुत थे सुसन्धि प्रिय श्रीसम्पन्न और धरणी-जित।
थे सुसन्धि के दो सुत उत्तम श्री ध्रुवसन्धि तथा प्रसेनजित॥ २६ ॥
श्री ध्रुवसन्धि नृपति से जन्मे परम यशस्वी भरत नाम सुत।
और भरत के पुत्र हुए अति तेजस्वी श्री असित विश्व-श्रुत॥ २७ ॥
और असित के साथ शत्रुता तीन नरेशों की अतिशय थी।
तालजंघ, शशविन्दु तथा हैहय की उन्हें घोर चिन्ता थी॥ २८ ॥
तीनों से कर युद्ध निरंतर, असित नृपति हो गये प्रवासी।
अपनी दो रानियों-सहित फिर असित हुए हिमगिरि के वासी॥ २९ ॥
सेना थोड़ी शेष रही थी, वे नृप असित गये सुरपुर तब।
तव थीं दोनों महारानियाँ गर्भवती, ऐसा कहते सब॥ ३० ॥
दिया एक ने गर्भ-नाश-हित सौतन को भोजन फिर स-गरल।
था उस समय श्रेष्ठ पर्वत पर भृगु-कुल वंशी मुनिवर का स्थल॥

भार्गवश्च्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः ।
तत्र चैका महाभागा भार्गवं देववर्चसम् ॥ ३२ ॥
ववन्दे पद्मपत्राक्षी काङ्क्षन्ती सुतमुत्तमम् ।
तमृषिं साभ्युपागम्य कालिन्दी चाभ्यवादयत् ॥ ३३ ॥
स तामभ्यवदद् विप्रः पुत्रेप्सुं पुत्रजन्मनि ।
तव कुक्षौ महाभागे सुपुत्रः सुमहाबलः ॥ ३४ ॥
महावीर्यो महातेजा अचिरात् संजनिष्यति ।
गरेण सहितः श्रीमान् मा शुचः कमलेक्षणे ॥ ३५ ॥
च्यवनं च नमस्कृत्य राजपुत्री पतिव्रता ।
पत्या विरहिता तस्मात् पुत्रं देवी व्यजायत ॥ ३६ ॥
सपत्न्या तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया ।
सह तेन गरेणैव संजातः सगरोऽभवत् ॥ ३७ ॥
सगरस्यासमञ्जस्तु असमञ्जादथांशुमान् ।
दिलीपोंऽशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥ ३८ ॥
भगीरथात् ककुत्स्थश्च ककुत्स्थाच्च रघुस्तथा ।
रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः ॥ ३९ ॥
कल्माषपादोऽप्यभवत् तस्माज्जातस्तु शङ्खणः ।
सुदर्शनः शङ्खणस्य अग्निवर्णः सुदर्शनात् ॥ ४० ॥
शीघ्रगस्त्वग्निवर्णस्य शीघ्रगस्य मरुः सुतः ।
मरोः प्रशुश्रुकस्त्वासीदम्बरीषः प्रशुश्रुकात् ॥ ४१ ॥
अम्बरीषस्य पुत्रोऽभून्नहुषश्च महीपतिः ।
नहुषस्य ययातिस्तु नाभागस्तु ययातिजः ॥ ४२ ॥
नाभागस्य बभूवाज अजाद् दशरथोऽभवत् ।
अस्माद् दशरथाज्जातौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४३ ॥
आदिवंशविशुद्धानां राज्ञां परमधर्मिणाम् ।
इक्ष्वाकुकुलजातानां वीराणां सत्यवादिनाम् ॥ ४४ ॥
रामलक्ष्मणयोरर्थे त्वत्सुते वरये नृप ।
सदृशाभ्यां नरश्रेष्ठ सदृशे दातुमर्हसि ॥ ४५ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

भार्गव च्यवन नाम के ऋषि थे होकर वहाँ तपस्या में स्थिर।
विष-सम्बन्धिनि भाग्यवती वह रानी गयी पास उनके फिर॥
सुता-कांक्षिणी थी पद्माक्षी कालिन्दी नाम्नी अति उत्तम।
सुर-सम तेजस्वी भृगु-सुत को उसने किया प्रणाम नम्रतम॥३१-३३॥
पुत्र-कांक्षिणी से बोले ऋषि वचन गर्भ-सम्बन्धित तब फिर।
एक महाभागे! है तेरे उदर-गर्भ में बालक सुस्थिर॥
बली, विक्रमी, तेजस्वी वह, गरल-सहित ही होगा प्रकटित।
अतः कहेंगे कमललोचने! उसको 'सगर' न हो तुम चिन्तित॥३४-३५॥
पति-हीना कालिन्दी रानी पतिव्रता ने किया ऋषि-नमन।
आश्रम आकर उसने अपने दिया पुत्र को जन्म मुदित मन॥ ३६ ॥
गर्भ-नाश के हेतु सौत के 'गर' (विष) से था संयुत[1] वह सुत।
अतः राजसुत 'सगर' नाम से यह था हुआ जगत में विश्रुत॥ ३७ ॥
'असमंज' सगर-सुत, अंशुमान पुनि उनके दिलीप आत्मज प्रिय।
थे दिलीप के पुत्र भगीरथ (श्री गंगा-लाने में सक्रिय)॥ ३८ ॥
हुए भगीरथ के ककुत्स्थ सुत तथा ककुत्स्थज थे रघु नृपवर।
रघु के पुत्र 'प्रवृद्ध' शापवश पायी राक्षस-योनि अधमतर॥ ३६ ॥
कहते थे कल्माषपाद भी उनको, उनके थे शंखण सुत।
शंखण के सुत हुए सुदर्शन, जिनके अग्नि-वर्ण-सुत अद्भुत॥ ४० ॥
सुत थे अग्निवर्ण के शीघ्रग, शीघ्रग के सुत मरु अति विक्रम।
मरु-ज[2] प्रशुश्रुक, सुवन-प्रशुश्रुक अम्बरीष थे नृप बलवत्तम॥ ४१ ॥
अम्बरीष-सुत नहुष, नहुष-सुत नृप ययाति थे दान-वीर-वर।
श्री ययाति के हुए पुत्र फिर श्री नाभाग-नाम धरणी-धर॥
नृप नाभाग-पुत्र श्री अज थे अज के सुत हैं दशरथ उत्तम।
दशरथ के सुत रामचन्द्र हैं और वीरवर लक्ष्मण सक्षम[3]॥४२-४३॥
आदि समय से शुद्ध रहा है यह इक्ष्वाकु-वंश धर्मव्रत।
(शाखोच्चार) सदा से इसमें जन्मे याज्ञिक और सत्यव्रत॥ ४४ ॥
राम और लक्ष्मण हैं नर-वर कन्याओं के योग्य धरणि पर।
कन्याएँ इनके सुयोग्य है कन्या-दान करें मिथिलेश्वर॥ ४५ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
सत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७० ॥

---

१ मिला हुआ, संयुक्त; २ मरु से उत्पन्न; ३ समर्थ।

एकसप्ततितमः सर्गः

राजा जनक का अपने कुल का परिचय देते हुए श्रीराम और लक्ष्मण के लिए क्रमशः सीता और ऊर्मिला को देने की प्रतिज्ञा करना

एवं ब्रुवाणं जनकः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः।
श्रोतुमर्हसि भद्रं ते कुलं नः परिकीर्तितम्॥ १॥
प्रदाने हि मुनिश्रेष्ठ कुलं निरवशेषतः।
वक्तव्यं कुलजातेन तन्निबोध महामते॥ २॥
राजाभूत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतः स्वेन कर्मणा।
निमिः परमधर्मात्मा सर्वसत्त्ववतां वरः॥ ३॥
तस्य पुत्रो मिथिर्नाम जनको मिथिपुत्रकः।
प्रथमो जनको राजा जनकादप्युदावसुः॥ ४॥
उदावसोस्तु धर्मात्मा जातो वै नन्दिवर्धनः।
नन्दिवर्धसुतः शूरः सुकेतुर्नाम नामतः॥ ५॥
सुकेतोरपि धर्मात्मा देवरातो महाबलः।
देवरातस्य राजर्षेर्बृहद्रथ इति स्मृतः॥ ६॥
बृहद्रथस्य शूरोऽभून्महावीरः प्रतापवान्।
महावीरस्य धृतिमान् सुधृतिः सत्यविक्रमः॥ ७॥
सुधृतेरपि धर्मात्मा धृष्टकेतुः सुधार्मिकः।
धृष्टकेतोश्च राजर्षेर्हर्यश्व इति विश्रुतः॥ ८॥
हर्यश्वस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रतीन्धकः।
प्रतीन्धकस्य धर्मात्मा राजा कीर्तिरथः सुतः॥ ९॥
पुत्रः कीर्तिरथस्यापि देवमीढ इति स्मृतः।
देवमीढस्य विबुधो विबुधस्य महीध्रकः॥ १०॥
महीध्रकसुतो राजा कीर्तिरातो महाबलः।
कीर्तिरातस्य राजर्षेर्महारोमा व्यजायत॥ ११॥
महारोम्णस्तु धर्मात्मा स्वर्णरोमा व्यजायत।
स्वर्णरोम्णस्तु राजर्षेर्ह्रस्वरोमा व्यजायत॥ १२॥
तस्य पुत्रद्वयं राज्ञो धर्मज्ञस्य महात्मनः।
ज्येष्ठोऽहमनुजो भ्राता मम वीरः कुशध्वजः॥ १३॥
मां तु ज्येष्ठं पिता राज्ये सोऽभिषिच्य पिता मम।
कुशध्वजं समावेश्य भारं मयि वनं गतः॥ १४॥
वृद्धे पितरि स्वर्याते धर्मेण धुरमावहम्।
भ्रातरं देवसंकाशं स्नेहात् पश्यन् कुशध्वजम्॥ १५॥

इकहत्तरवाँ सर्ग

राजा जनक का अपने कुल का परिचय देते हुए श्रीराम और लक्ष्मण के लिए क्रमशः सीता और ऊर्मिला को देने की प्रतिज्ञा करना

ऋषि वसिष्ठ के यह कहने पर जनकराज ने हाथ जोड़कर।
कहा ऋषे! हो भला आपका सुनें! हमारा वंश मान्यवर।।
कन्या-दान-समय में कुल का शाखोच्चार परस्पर समुचित।
अतः कृपा कर सुनें महात्मन्! मम कुल-परिचय परम्परा-युत।। १-२ ।।
पूर्व समय में अति धर्मात्मा, धीर, महापुरुषों में उत्तम।
निज विक्रम से त्रिभुवन-श्रुत थे श्री निमि नामक भूपति सत्तम।। ३ ।।
निमि के पुत्र हुए मिथि नामक, मिथि के हुए जनक कुल-शंसित।
तब से मम कुल-नाम 'जनक' है, हुए उदावसु सुवन प्रशंसित।। ४ ।।
हुए उदावसु धर्मात्मा के पुत्र नन्दिवर्धन अति सक्षम।
और नन्दिवर्धन के सुत फिर हुए सुकेतु वीरवर सत्तम।। ५ ।।
देवरात थे सुत सुकेतु के, वे थे धर्मात्मा अतिशय बल।
देवराज के हुए वृहद्रथ सुयश जगत में जिनका पुष्कल।। ६ ।।
और वृहद्रथ के सुत उत्तम महावीर वलशाली अतिशय।
महावीर के हुए सुधृति सुत धीर, सत्य-व्रत-पालक, अक्षय।। ७ ।।
और सुधृति के हुए पुत्र नृप धृष्टकेतु अतिशय धार्मिक फिर।
धृष्टकेतु राजर्षि नृपति के पुत्र हुए हर्यश्व कीर्ति-चिर।। ८ ।।
तथा हुए हर्यश्व-पुत्र मरु, मरु के हुए प्रतीन्धक सुत वर।
और प्रतीन्धक-सुत धर्मात्मा हुए कीर्तिरथ सुधी नृपतिवर।। ९ ।।
हुए कीर्तिरथ-सुत तदनन्तर देवमीढ अवनी पर विश्रुत।
देवमीढ के विबुध, विबुध के हुए महीध्रक सुत अति अद्‌भुत।। १० ।।
और महीध्रक-पुत्र हुए नृप कीर्तिरात अतिशय वलवत्तम।
कीर्तिरात के हुए सुवन सुप्रसिद्ध महारोमा नृप सत्तम।। ११ ।।
और महारोमा से जन्मे सुखद स्वर्णरोमा तदनन्तर।
और स्वर्णरोमा के सुत थे प्रबल ह्रस्वरोमा सुकीर्तिकर।। १२ ।।
हुए ह्रस्वरोमा धर्मात्मा परम महात्मा के जो दो सुत।
उनमें मैं हूँ ज्येष्ठ, कुशध्वज हैं कनिष्ठ भ्राता श्री-संयुत।। १३ ।।
किया राज्य-पद पर अभिसिञ्चित मुझे पिता ने ज्येष्ठ समझकर।
और कुशध्वज-भार मुझे दे वन को चले गये वे नृपवर।। १४ ।।
वृद्ध पिता जब गये स्वर्ग को, करते हुए धर्म का पालन।
भ्रातृ कुशध्वज पर सनेह रख मैं कर रहा राज्य-सञ्चालन।। १५ ।।

कस्यचित्त्वथ कालस्य सांकाश्यादागतः पुरात्।
सुधन्वा वीर्यवान् राजा मिथिलामवरोधकः ॥ १६ ॥
स च मे प्रेषयामास शैवं धनुरनुत्तमम्।
सीता च कन्या पद्माक्षी मह्यं वै दीयतामिति ॥ १७ ॥
तस्याप्रदानान्महर्षे युद्धमासीन्मया सह।
स हतोऽभिमुखो राजा सुधन्वा तु मया रणे ॥ १८ ॥
निहत्य तं मुनिश्रेष्ठ सुधन्वानं नराधिपम्।
सांकाश्ये भ्रातरं शूरमभ्यषिञ्चं कुशध्वजम् ॥ १९ ॥
कनीयानेष मे भ्राता अहं ज्येष्ठो महामुने।
ददामि परमप्रीतो वध्वौ ते मुनिपुङ्गव ॥ २० ॥
सीतां रामाय भद्रं ते ऊर्मिलां लक्ष्मणाय वै।
वीर्यशुल्कां मम सुतां सीतां सुरसुतोपमाम् ॥ २१ ॥
द्वितीयामूर्मिलां चैव त्रिर्वदामि न संशयः।
ददामि परमप्रीतो वध्वौ ते मुनिपुङ्गव ॥ २२ ॥
रामलक्ष्मणयो राजन् गोदानं कारयस्व ह।
पितृकार्यं च भद्रं ते ततो वैवाहिकं कुरु ॥ २३ ॥
मघा ह्यद्य महाबाहो तृतीयदिवसे प्रभो।
फल्गुन्यामुत्तरे राजंस्तस्मिन् वैवाहिकं कुरु।
रामलक्ष्मणयोरर्थे दानं कार्यं सुखोदयम् ॥ २४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमः सर्गः

विश्वामित्र द्वारा भरत और शत्रुघ्न के लिए कुशध्वज की कन्याओं का वरण, राजा जनक द्वारा इसकी स्वीकृति तथा राजा दशरथ का अपने पुत्रों के मंगल के लिए नान्दीश्राद्ध एवं गोदान करना

तमुक्तवन्तं वैदेहं विश्वामित्रो महामुनिः।
उवाच वचनं वीरं वसिष्ठसहितो नृपम् ॥ १ ॥
अचिन्त्यान्यप्रमेयाणि कुलानि नरपुङ्गव।
इक्ष्वाकूणां विदेहानां नैषां तुल्योऽस्ति कश्चन ॥ २ ॥
सदृशो धर्मसम्बन्धः सदृशो रूपसम्पदा।
रामलक्ष्मणयो राजन् सीता चोर्मिलया सह ॥ ३ ॥

कालान्तर में बली सुधन्वा ने सांकाश्या से फिर आकर।
घेर लिया मिथिला नगरी को सभी ओर से सैन्य लगाकर॥ १६ ॥
कहलाया दूतों से उसने शंकर-धनुष मुझे कर अर्पण।
और कमलनयनी निज कन्या सीता को भी करो समर्पण॥ १७ ॥
और महर्षे! नहीं याचना-पूर्ति हुई तो हुआ महा रण।
तथा हुआ हत मेरे द्वारा दुष्ट सुधन्वा तभी उसी क्षण॥ १८ ॥
मुनिवर! किया सुधन्वा-वध जब, तब मैंने सांकाश्य राज्य फिर।
प्रिय भ्राता कुश-ध्वज को देकर उन्हें वहीं पर किया नृपतिवर॥ १९ ॥
मुने! अनुज हैं कुश-ध्वज मेरे, मैं हूँ इनका ज्येष्ठ सुभ्राता।
प्रसन्नता से दो बहुओं का श्वसुर आपको विभो! बनाता॥ २० ॥
भला आपका हो! यह विक्रम-शुल्का[1] सीता देव-सुता-सम।
रामचन्द्र को देंगे, लक्ष्मण को देंगे उर्मिला सुता हम॥
तीन बार आवृत्ति वचन मम प्रसन्नता है मुझमें अतिशय।
मुनिपुंगव! दो वधुएँ दूँगा श्रीमन्! सम्प्रति[2] यह है निश्चय॥२१-२२॥
श्री वसिष्ठ से ऐसा कहकर बोले पुनः जनक दशरथ से।
पितृ-कार्य, गोदान आदि सब करें! कार्य वैवाहिक अथ[3] से॥ २३ ॥
प्रभो! मघा नक्षत्र आज है अतः तीसरे दिन आये जब।
नृपवर! शुभ उत्तरा फाल्गुनी तब विवाह के कार्य करें! सब॥
हो अभ्युदय राम, लक्ष्मण का अतः दान दें! महाबाहु वर।
(आज स्वर्ण, गो, भू, तिलादि का है भविष्य में जो श्रेयस्कर)॥ २४ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७१ ॥

बहत्तरवाँ सर्ग

विश्वामित्र द्वारा भरत और शत्रुघ्न के लिए कुशध्वज की कन्याओं का वरण, राजा जनक द्वारा इसकी स्वीकृति तथा राजा दशरथ का अपने पुत्रों के मङ्गल के लिए नान्दीश्राद्ध एवं गोदान करना

वार्ता-पूर्ति कर चुके अपनी श्री नृप जनक विदेहराज जब।
बोले वीर जनक से कौशिक श्री वसिष्ठ-सँग भलीभाँति तब॥ १ ॥
दोनों कुल हैं अमित प्रभावी श्री इक्ष्वाकु, विदेह-कुलोत्तम।
राज-वंश है अन्य न कोई जिनकी तुलना हो इनके सम॥ २ ॥
रूप-विभव-सम उभय कुलों का धर्म-बन्ध है योग्य परस्पर।
सीता-राम, उर्मिला-लक्ष्मण में है आनुरूप्य[4] अति नृपवर!॥ ३ ॥

---

१ पुरुषार्थ के बदले में दी जानेवाली; २ इस समय; ३ आरम्भ; ४ समानता।

वक्तव्यं च नरश्रेष्ठ श्रूयतां वचनं मम ।
भ्राता यवीयान् धर्मज्ञ एष राजा कुशध्वजः ॥ ४ ॥
अस्य धर्मात्मना राजन् रूपेणाप्रतिमं भुवि ।
सुताद्वयं नरश्रेष्ठ पत्न्यर्थं वरयामहे ॥ ५ ॥
भरतस्य कुमारस्य शत्रुघ्नस्य च धीमतः ।
वरये ते सुते राजंस्तयोरर्थे महात्मनोः ॥ ६ ॥
पुत्रा दशरथस्येमे रूपयौवनशालिनः ।
लोकपालसमाः सर्वे देवतुल्यपराक्रमाः ॥ ७ ॥
उभयोरपि राजेन्द्र सम्बन्धेनानुबध्यताम् ।
इक्ष्वाकुकुलमव्यग्रं भवतः पुण्यकर्मणः ॥ ८ ॥
विश्वामित्रवचः श्रुत्वा वसिष्ठस्य मते तदा ।
जनकः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच मुनिपुङ्गवौ ॥ ९ ॥
कुलं धन्यमिदं मन्ये येषां तौ मुनिपुङ्गवौ ।
सदृशं कुलसम्बन्धं यदाज्ञापयतः स्वयम् ॥ १० ॥
एवं भवतु भद्रं वः कुशध्वजसुते इमे ।
पत्न्यौ भजेतां सहितौ शत्रुघ्नभरतावुभौ ॥ ११ ॥
एकाह्ना राजपुत्रीणां चतसृणां महामुने ।
पाणीन् गृह्णन्तु चत्वारो राजपुत्रा महाबलाः ॥ १२ ॥
उत्तरे दिवसे ब्रह्मन् फल्गुनीभ्यां मनीषिणः ।
वैवाहिकं प्रशंसन्ति भगो यत्र प्रजापतिः ॥ १३ ॥
एवमुक्त्वा वचः सौम्यं प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः ।
उभौ मुनिवरौ राजा जनको वाक्यमब्रवीत् ॥ १४ ॥
परो धर्मः कृतो मह्यं शिष्योऽस्मि भवतोस्तथा ।
इमान्यासनमुख्यानि आस्यतां मुनिपुङ्गवौ ॥ १५ ॥
यथा दशरथस्येयं तथायोध्या पुरी मम ।
प्रभुत्वे नास्ति संदेहो यथार्हं कर्तुमर्हथ ॥ १६ ॥
तथा ब्रुवति वैदेहे जनके रघुनन्दनः ।
राजा दशरथो हृष्टः प्रत्युवाच महीपतिम् ॥ १७ ॥
युवामसंख्येयगुणौ भ्रातरौ मिथिलेश्वरौ ।
ऋषयो राजसङ्घाश्च भवद्भ्यामभिपूजिताः ॥ १८ ॥
स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गमिष्यामः स्वमालयम् ।
श्राद्धकर्माणि विधिवद्विधास्य इति चाब्रवीत् ॥ १९ ॥
तमापृष्ट्वा नरपतिं राजा दशरथस्तदा ।
मुनीन्द्रौ तौ पुरस्कृत्य जगामाशु महायशाः ॥ २० ॥

अब मुझको भी कुछ कहना है, सुनें ! उसे अब, हे मानववर ! ।
अनुज आपके जो बैठे हैं नृपति कुशध्वज धर्म-ज्ञानिवर ॥
हैं इनकी भी दो कन्याएँ परम सुन्दरी नृपवर ! अनुपम ।
उनका भरत-कुमार और प्रिय श्री शत्रुघ्न सुधी-हित उत्तम ॥
वरण कर रहा नृवर ! बनाने को पत्नी इन मनस्वियों की ।
हे भूपाल ! यही इच्छा अब सभी भाँति हम दो ऋषियों की ॥ ४-६ ॥
नृप दशरथ के सभी पुत्र हैं यौवन-शोभित अति तेजोमय ।
तथा लोकपालों, देवों-सम है विक्रमशाली भी निश्चय ॥ ७ ॥
अतः इन्हें भी कन्याएं दें ! करें अधिक सम्बन्ध-सु-दृढ़तम ।
इस इक्ष्वाकु वंश-बन्धन में हो न पुण्यकर ! कभी व्यग्रतम ॥ ८ ॥
विश्वामित्र-वचन सुन करके तथा वसिष्ठ ऋषीश्वर-सम्मति ।
बोले जनक मुनिवरों से तब हाथ जोड़कर हो प्रसन्न अति ॥ ९ ॥
अपने कुल को धन्य समझता जो इक्ष्वाकु-वंश से बन्धित ।
होने की आज्ञा पाता है मुनि प्रवरों से होकर शंसित ॥ १० ॥
मुनियो ! हो शुभ कुशल आपका कुश-ध्वज की ये कुशल पुत्रियाँ ।
होंगी सहचर भ्रातृ युगल श्री भरत और शत्रुघ्न-पत्नियाँ ॥ ११ ॥
महामुने ! अब एक दिवस ही चारों राजकुमार यथोचित ।
चारो भूपति-कन्याओं का पाणिग्रहण करें, हो प्रमुदित ॥ १२ ॥
ब्रह्मन् ! अगले दिन (भग) ब्रह्मा के पूर्वा-उत्तरा फाल्गुनी ।
इन नक्षत्रों को विवाह मे शुभ बतलाते ज्ञान के धनी ॥ १३ ॥
इस प्रकार से सौम्य वचन कह नृपवर जनकराज ने उठकर ।
कहा पुनः दोनों ऋषियों से हो विनम्र अति हाथ जोड़कर ॥ १४ ॥
शिष्य आपका, ऋषियो ! मुझ पर किया आपने यह धर्मोत्तम ।
परम विनय अब, करें अनुग्रह ! आसन पर बैठें ! ऋषि सत्तम ॥ १५ ॥
और आपके लिए अयोध्या जैसी, मिथिला भी है वैसी ।
है अधिकार आपका इस पर, आज्ञा दें समुचित हो जैसी ! ॥ १६ ॥
जनक विदेहराज के ऐसे कहने पर दशरथ रघुनन्दन ।
सुप्रसन्न हो करके बोले मिथिला-पति से मधुर यह वचन ॥ १७ ॥
हे मिथिलेश्वर ! इन कुश-ध्वज संग, आप असंख्य गुणों से पूरित ।
सब विधि सब राजानक ऋषिगण हुए आपसे सत्कृत, पूजित ॥ १८ ॥
हो कल्याण आपका ! हो नृप ! मंगलभागी आप अति तथा ।
विश्रामस्थल पहुँच, करूँगा नान्दीमुख शुभ श्राद्ध सर्वथा ॥ १९ ॥
अनुमति लेकर मिथिला-पति की महायशस्वी दशरथ नृपवर ।
आगे कर कौशिक, वसिष्ठ को गये शीघ्र आवासस्थल पर ॥ २० ॥

वहाँ किया दशरथ नें विधिवत् फिर आभ्युदयिक श्राद्ध महत्तर।
और किये गोदान आदि सब उचित कार्य भी प्रातः उठकर॥ २१ ॥
लक्ष-लक्ष चारों पुत्रों के लिए दुग्धदा[1] सौख्यदा[2] तथा।
दशरथ ने विप्रों को गौएँ दीं मंगल के हेतु सर्वथा॥ २२ ॥
वे गौएं थीं सभी सवत्सा[3] उन सबके थे श्रृंग[4] स्वर्णमय।
थे दोहन के पात्र कांस्यमय दिया धनादि और भी अतिशय॥
रघुकुल-नन्दन पुरुष शिरोमणि और पुत्र-वत्सल ने बहु धन।
दिया पुनः गोदान-निमित्तक भलीभाँति से हो प्रसन्न मन॥२३-२४॥
बैठे फिर गोदान कृत्य कर सभी सुतों से दशरथ घिर कर।
जैसे शान्त प्रजापति बैठें सभी लोकपालों सँग मिलकर॥ २५ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामाण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त॥ ७२ ॥

तिहत्तरवाँ सर्ग

श्रीराम आदि चारों भाइयों का विवाह

जिस दिन नृप ने निज पुत्रों के वैवाहिक गोदान किये सब।
आये केकय-पुत्र उसी दिन, वीर युधाजित् वहाँ शीघ्र तब॥ १ ॥
ये थे सगे भरत के मामा, दर्शन करने महाराज के।
आये, फिर पूछा दशरथ से, कुशल-वृत्त भू, पुर, समाज के॥ २ ॥
बोले, बड़े स्नेह से पूछा कुशल-वृत्त है केकयपति ने।
जिन्हें चाहते आप पूछना, वे सब सुखी, स्वस्थ केकय में॥
मेरे भाञ्जे भरत कुँअर के दर्शन को है केकय का मन।
अतः इन्हें लेने को राजन्! हुआ अयोध्यापुरी आगमन॥ ३-४॥
किन्तु भूपते! सुना वहाँ पर, सब सुत मिथिलापुरी पधारे।
शुभ विवाह-हित, साथ आपके, मन में अति उल्लास हमारे॥
चलें शीघ्र ही भगिनी के सुत, भरतराज के प्रिय दर्शन-हित।
महाराज दशरथ नें अपने, सु-प्रिय अतिथि को देख उपस्थित॥
उनकी आवभगत[5] की; वे थे क्योंकि मान के योग्य सर्वथा।
रात बिताई महामनस्वी, पुत्रों सँग भूपेन्द्र ने तथा॥ ५-७॥
तब तत्त्वज्ञ भूप दशरथ ने प्रातः दैनिक-कार्य सभी कर।
गये जनक की मख-शाला में, ऋषियों को सादर आगे कर॥ ८ ॥
आया 'विजय' मुहूर्त जभी तब, हो वस्त्राभूषण-समलङ्कृत।
आये राम भाइयों के सँग, सकल मंगलाचरण समन्वित॥

1 दूध देनेवाली; 2 सुख देनेवाली; 3 बछड़े के सहित; 4 सींग; 5 सेवा-सत्कार।

मख-मण्डप में श्री वसिष्ठ को ऋषि प्रवरों संग आगे रखकर।
फिर विदेह नृप के समीप आ बोले, श्री वशिष्ठ वे ऋषिवर ।।६-१०।।
राजन्! कृत कौतुक वैवाहिक सभी मङ्गलाचार नृपतिवर।
हुए उपस्थित पुत्रों के सँग, दाता-आज्ञा हेतु द्वार पर ।। ११ ।।
दाता और ग्रहणकर्त्ता से होता दान-धर्म सम्पादन।
अतः बुलाएँ इन्हें, करें फिर कन्यादान-धर्म का पालन ।। १२ ।।
ऐसा जब कह चुके महात्मा श्री वशिष्ठ तब, अति उदारतम।
बोले राजा जनक धर्मविद्, तेजस्वी उत्तर में सक्षम ।। १३ ।।
मुनिवर, यहाँ कौन प्रहरी है? किसकी अनुमति यहाँ चाहिए?।
अपने ही गृह और राज्य में, श्रीमन्! अब स्वच्छन्द आइए।।
कन्याओं के सूत्र बँध चुके और हुए वैवाहिक मङ्गल।
वे हैं यज्ञ-वेदिका-सम्मुख, बैठीं अग्नि-शिखा-सी प्राञ्जल ।।१४-१५।।
मैं भवदीय प्रतीक्षा-रत हूँ यज्ञ-वेदिका पर होकर स्थित।
विना विघ्न के कार्य करें सब, अब विलम्ब कैसा? किसके हित? ।। १६ ।।
ऋषि वसिष्ठ से भूप जनक की कही हुई वार्ता को सुनकर।
पुत्रों-सहित महल में आये दशरथ ऋषियों को आगे कर ।। १७ ।।
कहा विदेहराज ने मुनिवर श्री वसिष्ठ से इस प्रकार तब।
धार्मिकवर! सब ऋषियों के सँग, करें कार्य वैवाहिक अब सब।।
सकल लोक-अभिराम राम का, करें कार्य वैवाहिक सुखकर।
कहा 'बहुत अच्छा', मुनिवर ने जनकराज की वार्ता सुनकर।।
विश्वामित्र तथा धार्मिकवर शतानन्द को करके अग्रिम।
वेदी मण्डप-मध्य बनायी, परम तपस्वी ने शुभ अनुपम।।
चारों ओर गन्ध पुष्पों से हुई वेदिका परम सुसज्जित।
एव स्वर्ण-पालिका अगणित तथा कलश साङ्कुर-यव चित्रित।।
यव-अङ्कुर-युत प्यालों के सँग, धूप-पात्र भी वहाँ बहुत फिर।
किये गये स्रुक्, स्रुवा शंख के पात्र अर्घ्य, पात्रादिक सुस्थिर।।
खीलों से परिपूर्ण पात्र सँग, अक्षर धरे गये प्रक्षालित।
मन्त्रों द्वारा कुशा बिछाये गये वेदिका पर पूजा-हित।।
अग्निस्थापन किया वेदिका पर वैदिक मन्त्रों के द्वारा।
ऋषिवर से सम्पन्न हुआ फिर मङ्गल हवन-कार्य भी सारा ।। १८-२४।।
विविधाभूषण-भूषित सीता को तब जनकराज ने लाकर।
अग्नि देवता के समक्ष, श्री रामचन्द्र-अभिमुखी बिठाकर।।
कौसल्या - आनन्द - विवर्धन रामचन्द्र से बोले सत्वर।
मेरी पुत्री यह सीता है सहधर्मिणी आपकी नृपवर!।।

हो भवदीय[1] क्षेम ! स्वीकारें, करें इसे अब पाणि-ग्रहीता ।
पतिव्रता, सौभाग्यवती, छायावत् अनुवर्तिनि तव सीता ।।२५-२७।।
ऐसा कह, नृपवर विदेह ने किया समर्पित मन्त्रपूत[2] जल ।
प्रमुदित तब देवर्षि-मुखों से, साधु-साधु स्वर हुआ सु-प्राञ्जल ।।
बजने लगीं देव-दुन्दुभियाँ, हुई गगन से पुष्प-वृष्टि अति ।
मन्त्रों के सँग सीता को दे, हर्षित हुए बहुत मिथिलापति ।।
अब विदेह बोले लक्ष्मण से, हो कल्याण तुम्हारा लक्ष्मण ! ।
तुमको मैं उर्मिला दे रहा, स्वीकारो तुम इसे, विचक्षण ! ।।
पाणिग्रहण[3] करो इसका अविलम्ब (सकल गुरुजन के मत से) ।
तदनन्तर वे जनकराज फिर बोले दशरथ-तनय भरत से ।।२८-३१।।
कुँअर भरत ! माण्डवी-हस्त को तुम भी लो अब अपने कर में ।
पुनः कहा शत्रुघ्न वीर से मिथिलापति ने उस अवसर में ।। ३२ ।।
करो महाबाहो ! निज कर से तुम भी अब श्रुतकीर्ति-कर ग्रहण ।
तुम सब भ्राता शान्त भाव हो, सबके हैं संशुद्ध आचरण ।।
काकुत्स्थ-विमल ! चारों भ्राता, पत्नी-संयुत हों शोभित अब ।
जनक-वचन सुन, उन चारों ने, किये कर ग्रहण चारों के तब ।।३३-३४।।
फिर वसिष्ठ-सम्मति से नृप के चारों पुत्रों ने पत्नी-सह ।
परिक्रमा की यज्ञ-वेदिका की, तब हुई बहुत शोभित वह ।।
यज्ञ-वेदिका, नृप दशरथ, ऋषि, ब्राह्मण, ऋषियों, प्रवरों की ।
परिक्रमा वेदोक्त रीति से, छवि अद्‌भुत थी शुभ विवाह की ।।३५-३६।।
पुष्प-वृष्टि फिर हुई गगन से, मनोहारिणी उस अवसर पर ।
दुन्दुभि औ वाद्यों की ध्वनि, गम्भीर छा गये गीतों के स्वर ।। ३७ ।।
और अप्सरावृन्द नाचने लगा हुआ गन्धर्व-गान-कल ।
रघु-प्रमुखों के शुभ विवाह के थे वे अद्‌भुत दृश्य तब सकल ।। ३८ ।।
विविध वाद्य-स्वनमय[4] विवाह में, नृप-सुत वे तेजस्वी अद्‌भुत ।
तीन बार कर अग्नि-परि-क्रमण, हुए सभी पत्नी से सयुत ।। ३९ ।।
सपत्नीक ये रघुनन्दन सब जनवासे में आये तब फिर ।
दशरथ, सुत-वधुओं, ऋषियों, बान्धवों-सहित भी गये वहाँ पर ।। ४० ।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ।। ७३ ।।

---

१ आपका; २ मन्त्र से शुद्ध; ३ विवाह; ४ ध्वनियुक्त ।

प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा॥ २७॥
इत्युक्त्वा प्राक्षिपद् राजा मन्त्रपूतं जलं तदा।
साधु साध्विति देवानामृषीणां वदतां तदा॥ २८॥
देवदुन्दुभिनिर्घोषः पुष्पवर्षो महानभूत्।
एवं दत्त्वा सुतां सीतां मन्त्रोदकपुरस्कृताम्॥ २९॥
अब्रवीज्जनको राजा हर्षेणाभिपरिप्लुतः।
लक्ष्मणागच्छ भद्रं ते ऊर्मिलामुद्यतां मया॥ ३०॥
प्रतीच्छ पाणिं गृह्णीष्व मा भूत् कालस्य पर्ययः।
तमेवमुक्त्वा जनको भरतं चाभ्यभाषत॥ ३१॥
गृहाण पाणिं माण्डव्याः पाणिना रघुनन्दन।
शत्रुघ्नं चापि धर्मात्मा अब्रवीन्मिथिलेश्वरः॥ ३२॥
श्रुतकीर्तेर्महाबाहो पाणिं गृह्णीष्व पाणिना।
सर्वे भवन्तः सौम्याश्च सर्वे सुचरितव्रताः॥ ३३॥
पत्नीभिः सन्तु काकुत्स्था मा भूत् कालस्य पर्ययः।
जनकस्य वचः श्रुत्वा पाणीन् पाणिभिरस्पृशन्॥ ३४॥
चत्वारस्ते चतसृणां वसिष्ठस्य मते स्थिताः।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा वेदिं राजानमेव च॥ ३५॥
ऋषींश्चापि महात्मानः सहभार्या रघूद्वहाः।
यथोक्तेन ततश्चक्रुर्विवाहं विधिपूर्वकम्॥ ३६॥
पुष्पवृष्टिर्महत्यासीदन्तरिक्षात् सुभास्वरा।
दिव्यदुन्दुभिनिर्घोषैर्गीतवादित्रनिःस्वनैः॥ ३७॥
ननृतुश्चाप्सरःसङ्घा गन्धर्वाश्च जगुः कलम्।
विवाहे रघुमुख्यानां तदद्भुतमदृश्यत॥ ३८॥
ईदृशे वर्तमाने तु तूर्योद्घुष्टनिनादिते।
त्रिरग्निं ते परिक्रम्य ऊहुर्भार्या महौजसः॥ ३९॥
अथोपकार्यं जग्मुस्ते सभार्या रघुनन्दनाः।
राजाप्यनुययौ पश्यन् सर्षिसङ्घः सबान्धवः॥ ४०॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः॥ ७३॥

हो भवदीय[1] क्षेम ! स्वीकारें, करें इसे अब पाणि-ग्रहीता ।
पतिव्रता, सौभाग्यवती, छायावत् अनुवर्तिनि तव सीता ॥२५-२७॥
ऐसा कह, नृपवर विदेह ने किया समर्पित मन्त्रपूत[2] जल ।
प्रमुदित तब देवर्षि-मुखों से, साधु-साधु स्वर हुआ सु-प्राञ्जल ॥
बजने लगीं देव-दुन्दुभियाँ, हुई गगन से पुष्प-वृष्टि अति ।
मन्त्रों के सँग सीता को दे, हर्षित हुए बहुत मिथिलापति ॥
अब विदेह बोले लक्ष्मण से, हो कल्याण तुम्हारा लक्ष्मण ! ।
तुमको मैं उर्मिला दे रहा, स्वीकारो तुम इसे, विचक्षण ! ।
पाणिग्रहण[3] करो इसका अविलम्ब (सकल गुरुजन के मत से) ।
तदनन्तर वे जनकराज फिर बोले दशरथ-तनय भरत से ॥२८-३१॥
कुँअर भरत ! माण्डवी-हस्त को तुम भी लो अब अपने कर में ।
पुनः कहा शत्रुघ्न वीर से मिथिलापति ने उस अवसर में ॥ ३२ ॥
करो महाबाहो ! निज कर से तुम भी अब श्रुतकीर्ति-कर ग्रहण ।
तुम सब भ्राता शान्त भाव हो, सबके हैं संशुद्ध आचरण ॥
काकुत्स्थ-विमल ! चारों भ्राता, पत्नी-संयुत हों शोभित अब ।
जनक-वचन सुन, उन चारों ने, किये कर ग्रहण चारों के तब ॥३३-३४॥
फिर वसिष्ठ-सम्मति से नृप के चारों पुत्रों ने पत्नी-सह ।
परिक्रमा की यज्ञ-वेदिका की, तब हुई बहुत शोभित वह ॥
यज्ञ-वेदिका, नृप दशरथ, ऋषि, ब्राह्मण, ऋषियों, प्रवरों की ।
परिक्रमा वेदोक्त रीति से, छवि अद्भुत थी शुभ विवाह की ॥३५-३६॥
पुष्प-वृष्टि फिर हुई गगन से, मनोहारिणी उस अवसर पर ।
दुन्दुभि औ वाद्यों की ध्वनि, गम्भीर छा गये गीतों के स्वर ॥ ३७ ॥
और अप्सरावृन्द नाचने लगा हुआ गन्धर्व-गान-कल ।
रघु-प्रमुखों के शुभ विवाह के थे वे अद्भुत दृश्य तब सकल ॥ ३८ ॥
विविध वाद्य-स्वनमय[4] विवाह में, नृप-सुत वे तेजस्वी अद्भुत ।
तीन बार कर अग्नि-परि-क्रमण, हुए सभी पत्नी से सयुत ॥ ३९ ॥
सपत्नीक ये रघुनन्दन सब जनवासे में आये तब फिर ।
दशरथ, सुत-वधुओं, ऋषियों, बान्धवों-सहित भी गये वहीं पर ॥ ४० ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७३ ॥

---

१ आपका; २ मन्त्र से शुद्ध; ३ विवाह; ४ ध्वनियुक्त ।

चतुःसप्ततितमः सर्गः

विश्वामित्र का अपने आश्रम को प्रस्थान, राजा जनक का कन्याओं को भारी दहेज देकर राजा दशरथ आदि को विदा करना, मार्ग में शुभाशुभ शकुन और परशुराम जी का आगमन

अथ रात्र्यां व्यतीतायां विश्वामित्रो महामुनिः।
आपृष्ट्वा तौ च राजानौ जगामोत्तरपर्वतम्॥ १॥
विश्वामित्रे गते राजा वैदेहं मिथिलाधिपम्।
आपृष्ट्वैव जगामाशु राजा दशरथः पुरीम्॥ २॥
अथ राजा विदेहानां ददौ कन्याधनं बहु।
गवां शतसहस्राणि बहूनि मिथिलेश्वरः॥ ३॥
कम्बलानां च मुख्यानां क्षौमान् कोट्यम्बराणि च।
हस्त्यश्वरथपादातं दिव्यरूपं स्वलंकृतम्॥ ४॥
ददौ कन्याशतं तासां दासीदासमनुत्तमम्।
हिरण्यस्य सुवर्णस्य मुक्तानां विद्रुमस्य च॥ ५॥
ददौ राजा सुसंहृष्टः कन्याधनमनुत्तमम्।
दत्त्वा बहुविधं राजा समनुज्ञाप्य पार्थिवम्॥ ६॥
प्रविवेश स्वनिलयं मिथिलां मिथिलेश्वरः।
राजाप्ययोध्याधिपतिः सह पुत्रैर्महात्मभिः॥ ७॥
ऋषीन् सर्वान् पुरस्कृत्य जगाम सबलानुगः।
गच्छन्तं तु नरव्याघ्रं सर्षिसङ्घं सराघवम्॥ ८॥
घोरास्तु पक्षिणो वाचो व्याहरन्ति समन्ततः।
भौमाश्चैव मृगाः सर्वे गच्छन्ति स्म प्रदक्षिणम्॥ ९॥
तान् दृष्ट्वा राजशार्दूलो वसिष्ठं पर्यपृच्छत।
असौम्याः पक्षिणो घोरा मृगाश्चापि प्रदक्षिणाः॥ १०॥
किमिदं हृदयोत्कम्पि मनो मम विषीदति।
राज्ञो दशरथस्यैतच्छ्रुत्वा वाक्यं महानृषिः॥ ११॥
उवाच मधुरां वाणीं श्रूयतामस्य यत् फलम्।
उपस्थितं भयं घोरं दिव्यं पक्षिमुखाच्च्युतम्॥ १२॥
मृगाः प्रशमयन्त्येते संतापस्त्यज्यतामयम्।
तेषां संवदतां तत्र वायुः प्रादुर्बभूव ह॥ १३॥
कम्पयन् मेदिनीं सर्वां पातयंश्च महाद्रुमान्।
तमसा संवृतः सूर्यः सर्वे नावेदिषुर्दिशः॥ १४॥

चौहत्तरवाँ सर्ग

विश्वामित्र का अपने आश्रम को प्रस्थान, राजा जनक का कन्याओं को भारी दहेज देकर राजा दशरथ आदि को विदा करना, मार्ग में शुभाशुभ शकुन और परशुराम जी का आगमन

रात्रि गई जब हुआ सबेरा, तब नृप द्वय की पाकर अनुमति।
चले गये निज हिमगिरि-आश्रम, विश्वामित्र ऋषीश्वर शुभमति॥ १ ॥
कौशिक के जाने पर, दशरथ ने विदेह से होकर अनुमत।
की तैयारी शुभा अयोध्या नगरी में जाने की विधिवत॥ २ ॥
तब विदेह ने निज कन्याओं को दहेज में दिया बहुत धन।
गौएँ लक्ष एक दीं मिथिला के नरेश ने हो प्रसन्न मन॥
कालीनें, कौशेय वस्त्र भी दिये करोड़ों भूषण-सज्जित।
हस्ती, अश्व, रथादि दिव्य अति, पैदल सैनिक बली भेंट-हित॥ ३-४॥
प्रति कन्या को शत-शत सखियाँ, दास, दासियाँ भी कीं अर्पित।
कनक, रजत-मुद्राएँ कोटिक, मूँगे, मौक्तिक रत्न अपरिमित॥ ५ ॥
मिथिलापति ने दिया सुता-धन, हो हर्षित उत्तम से उत्तम।
फिर दशरथ की आज्ञा लेकर भलीभाँति से वे नृप सत्तम॥
हो प्रविष्ट मिथिला नगरी में राजभवन में हुए उपस्थित।
और महात्मा पुत्रों के सँग उधर हुए दशरथ भी प्रस्थित॥
आगे ऋषिवर और बाद में सैनिक तथा अन्य सेवक सब।
ऋषि-समूह, श्री रामचन्द्र-सँग यात्रा के उस अवसर पर तब॥
पुरुषसिंह दशरथ के चारों ओर हुआ खग-शब्द भयंकर।
और बहुत से मृग भी दौड़े नृप दशरथ के दक्षिण होकर॥ ६-९॥
राजसिंह दशरथ ने पूछा, ऋषि वसिष्ठ से उन्हें देखकर।
होता है खग-रव सुघोर यह, मृग जाते हैं दक्षिण, मुनिवर!॥
शकुन, अपशकुन दोनों कैसे? कंपन औ विषाद उर अन्तर।
तब वसिष्ठ ने नृप दशरथ की प्रासंगिक यह बात श्रवण कर॥१०-११॥
मृदुवाणी में बोले, राजन्! सुनो, बताता मैं इसका फल।
पक्षि-वृन्द-मुख-घोर शब्द से भयावही स्थिति रही है निकल॥
मृग देते भय-शान्ति-सूचना, अतः आप छोड़ें! चिन्ता अब।
ऐसा कहते समय वहाँ पर, आँधी औ तूफान चला तब॥
भू को लगा कँपाने, तब फिर लगा गिराने तरुवर उन्नत[1]।
और सूर्य ढक गया तमस्[2] से, दिशा न होने लगीं दृष्टिगत॥ १२-१४॥

---

१ बड़े-बड़े वृक्ष; २ अंधकार।

भस्मना चावृतं सर्वं सम्मूढमिव तद्बलम् ।
वसिष्ठ ऋषयश्चान्ये राजा च ससुतस्तदा ॥ १५ ॥
ससंज्ञा इव तत्रासन् सर्वमन्यद्विचेतनम् ।
तस्मिंस्तमसि घोरे तु भस्मच्छन्नेव सा चमूः ॥ १६ ॥
ददर्श भीमसंकाशं जटामण्डलधारिणम् ।
भार्गवं जामदग्न्येयं राजा राजविमर्दनम् ॥ १७ ॥
कैलासमिव दुर्धर्षं कालाग्निमिव दुःसहम् ।
ज्वलन्तमिव तेजोभिर्दुर्निरीक्ष्यं पृथग्जनैः ॥ १८ ॥
स्कन्धे चासज्ज्य परशुं धनुर्विद्युद्गणोपमम् ।
प्रगृह्य शरमुग्रं च त्रिपुरघ्नं यथा शिवम् ॥ १९ ॥
तं दृष्ट्वा भीमसंकाशं ज्वलन्तमिव पावकम् ।
वसिष्ठप्रमुखा विप्रा जपहोमपरायणाः ॥ २० ॥
संगता मुनयः सर्वे संजजल्पुरथो मिथः ।
कच्चित् पितृवधामर्षी क्षत्रं नोत्सादयिष्यति ॥ २१ ॥
पूर्वं क्षत्रवधं कृत्वा गतमन्युर्गतज्वरः ।
क्षत्रस्योत्सादनं भूयो न खल्वस्य चिकीर्षितम् ॥ २२ ॥
एवमुक्त्वार्घ्यमादाय भार्गवं भीमदर्शनम् ।
ऋषयो रामरामेति मधुरं वाक्यमब्रुवन् ॥ २३ ॥
प्रतिगृह्य तु तां पूजामृषिदत्तां प्रतापवान् ।
रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्योऽभ्यभाषत ॥ २४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

राजा दशरथ की बात अनसुनी करके परशुराम का श्रीराम को वैष्णव-धनुष पर बाण चढ़ाने के लिए ललकारना

राम दाशरथे वीर वीर्यं ते श्रूयतेऽद्भुतम् ।
धनुषो भेदनं चैव निखिलेन मया श्रुतम् ॥ १ ॥
तदद्भुतमचिन्त्यं च भेदनं धनुषस्तथा ।
तच्छ्रुत्वाहमनुप्राप्तो धनुर्गृह्यापरं शुभम् ॥ २ ॥
तदिदं घोरसंकाशं जामदग्न्यं महद्धनुः ।
पूरयस्व शरेणैव स्वबलं दर्शयस्व च ॥ ३ ॥

धूलि-वृद्धि से हुआ विमूर्च्छित तब भूपति का सब सेना-बल।
श्री वसिष्ठ. अन्यान्य ऋषीश्वर, दशरथ, दशरथ के सुत केवल ।।
रह पाये चैतन्य, शेष सब व्यक्ति वहाँ हो गये विमोहित।
इस प्रकार घोरान्धकार में नृप-सेना हो धूल-धूसरित ।।१५-१६।।
तब देखा दशरथ ने, क्षत्रिय राजाओं के मान-विमर्दन।
जामदग्न्य श्री परशुराम जी, चले आ रहे हैं भृगुनन्दन ।।
थे कैलाश-सदृश दुर्जय वे, दुःसह थे वे काल-अग्नि-सम।
नयन न टिक पाते थे उन पर, थे वे तेजोमय ज्वलन्ततम ।।
कंधे पर था परशु और कर में विद्युत्-सम दीप्त धनुष तब।
त्रिपुर-विनाशक भीम बाण धर, जटाधारि शिव थे लगते अब ।।१७-१९।।
प्रज्वलिताग्नि-सदृश अति भीषण, परशुराम को देख उपस्थित।
याजक[1] जापक[2] वसिष्ठादि सब, अन्य ब्रह्म-ऋषि हो एकत्रित ।।
बातें करने लगे परस्पर में मिल करके इस प्रकार तब।
क्या पितु-वध से कुपित करेंगे पुनः क्षत्रियों का विनाश अब ? ।।
प्रथम विनाश कर चुके, अब निश्चय होगा मिट गया क्रोधज्वर।
बदले की भावना सुनिश्चय दूर हो गई होगी दुस्तर ।।२०-२२।।
भय-दर्शन उन भृगुनन्दन को सब ऋषियो ने दिया अर्घ्य फिर।
राम-राम कह, मृदु वाणी में, की वार्ता मन को कर सुस्थिर ।। २३ ।।
परशुराम जमदग्नि-सुवन ने, ऋषियों का स्वीकृत कर पूजन।
दशरथ-सुत श्री रामचन्द्र से इस प्रकार से कहा यह वचन ।। २४ ।।

।। श्री वाल्मीक-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ।। ७४ ।।

पचहत्तरवाँ सर्ग

राजा दशरथ की बात अनसुनी करके परशुराम का श्रीराम को वैष्णव-धनुष पर बाण चढ़ाने के लिए ललकारना

परशुराम बोले— दशरथ-सुत ! सुनता तुम्हें बली मैं अद्भुत।
शिव-धनु-भञ्जन समाचार भी, मैंने सुना तुम्हारा विश्रुत ।। १ ।।
है अद्भुत अचिन्त्य उस धनु का भञ्जन, फिर भी भेदन सुनकर।
मैं आया हूँ एक दूसरा उत्तम धनुष यहाँ पर लेकर ।। २ ।।
यह विशाल है परम भयंकर परशुराम का धनुष सुदुर्जय।
इसे खीचकर बाण चढ़ाओ ! और दिखाओ निज बल अतिशय ।। ३ ।।

१ यज्ञ करनेवाले; २ जप करनेवाले ।

तदहं ते बलं दृष्ट्वा धनुषोऽप्यस्य पूरणे।
द्वन्द्वयुद्धं प्रदास्यामि वीर्यश्लाघ्यमहं तव ॥ ४ ॥
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजा दशरथस्तदा।
विषण्णवदनो दीनः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ५ ॥
क्षत्ररोषात् प्रशान्तस्त्वं ब्राह्मणश्च महातपाः।
बालानां मम पुत्राणामभयं दातुमर्हसि ॥ ६ ॥
भार्गवाणां कुले जातः स्वाध्यायव्रतशालिनाम्।
सहस्राक्षे प्रतिज्ञाय शस्त्रं प्रक्षिप्तवानसि ॥ ७ ॥
स त्वं धर्मपरो भूत्वा कश्यपाय वसुंधराम्।
दत्त्वा वनमुपागम्य महेन्द्रकृतकेतनः ॥ ८ ॥
मम सर्वविनाशाय सम्प्राप्तस्त्वं महामुने।
न चैकस्मिन् हते रामे सर्वे जीवामहे वयम् ॥ ९ ॥
ब्रुवत्येवं दशरथे जामदग्न्यः प्रतापवान्।
अनादृत्य तु तद्वाक्यं राममेवाभ्यभाषत ॥ १० ॥
इमे द्वे धनुषी श्रेष्ठे दिव्ये लोकाभिपूजिते।
दृढे बलवती मुख्ये सुकृते विश्वकर्मणा ॥ ११ ॥
अनुसृष्टं सुरैरेकं त्र्यम्बकाय युयुत्सवे।
त्रिपुरघ्नं नरश्रेष्ठ भग्नं काकुत्स्थ यत्त्वया ॥ १२ ॥
इदं द्वितीयं दुर्धर्षं विष्णोर्दत्तं सुरोत्तमैः।
तदिदं वैष्णवं राम धनुः परपुरंजयम् ॥ १३ ॥
समानसारं काकुत्स्थ रौद्रेण धनुषा त्विदम्।
तदा तु देवताः सर्वाः पृच्छन्ति स्म पितामहम् ॥ १४ ॥
शितिकण्ठस्य विष्णोश्च बलाबलनिरीक्षया।
अभिप्रायं तु विज्ञाय देवतानां पितामहः ॥ १५ ॥
विरोधं जनयामास तयोः सत्यवतां वरः।
विरोधे तु महद् युद्धमभवद् रोमहर्षणम् ॥ १६ ॥
शितिकण्ठस्य विष्णोश्च परस्परजयैषिणोः।
तदा तु जृम्भितं शैवं धनुर्भीमपराक्रमम् ॥ १७ ॥
हुंकारेण महादेवः स्तम्भितोऽथ त्रिलोचनः।
देवैस्तदा समागम्य सर्षिसङ्घैः सचारणैः ॥ १८ ॥
याचितौ प्रशमं तत्र जग्मतुस्तौ सुरोत्तमौ।
जृम्भितं तद् धनुर्दृष्ट्वा शैवं विष्णुपराक्रमैः ॥ १९ ॥

इसे चढ़ाने में ही पहले बलवत्ता[1] तव राम ! देखकर।
द्वन्द्वयुद्ध दूँगा मैं ऐसा, होगा जो ; तव वीर्य-श्लाघ्य[2] वर ।। ४ ।।

दशरथ-मुख तब हुआ विषादित, परशुराम का वचन श्रवण कर।
अतिशय दीन भाव से बोले वे भार्गव से हाथ जोड़कर ।। ५ ।।
क्षत्रिय-प्रति अब रोष शान्त है, ब्राह्मण आप ब्रह्म के ज्ञाता।
मेरे इन बालक पुत्रों के लिए बनें अब अभय-प्रदाता ।।
स्वाध्याय-व्रति भार्गव-कुल में विभो ! आपने जन्म लिया है।
और प्रतिज्ञा कर महेन्द्र से, शस्त्र आपने त्याग दिया है ।। ६-७ ।।
तथा धर्म मे तत्पर होकर, कश्यप को दे दिया धरणि तब।
जाकर वन में गिरि महेन्द्र पर, शुभ आश्रम में रहते हैं अब ।। ८ ।।
महामुने ! फिर भी कैसे इस सर्वनाश के लिए पधारे ?।
रह न सकेंगे राम हनन पर, किसी भाँति से प्राण हमारे ।। ९ ।।
किन्तु प्रतापी परशुराम ने नृप-वार्ता का कर अवहेलन।
रहे बोलते रामचन्द्र से कटुता-पूर्वक पुनः वे वचन ।। १० ।।
बोले धनुषद्वय में यह भी, दिव्य, श्रेष्ठ सब जग में मानित।
अति दृढ़, प्रबल वृहद् धनुषों को किया विश्वकर्मा ने निर्मित ।। ११ ।।
त्रिपुर-युद्ध में एक धनुष को दिया सुरों ने शिव को नरवर !
वही त्रिपुर-नाशक था जिसको, रक्खा तुमने रघुज[3] ! तोड़कर ।। १२ ।।
सुर-प्रदत्त हरि-धनुष वही है, मेरे कर में रामचन्द्र अब।
यह दुर्धर्ष धनुष है वैष्णव. हारे जिससे शत्रु-नगर सब ।। १३ ।।
हे ककुत्स्थ-नन्दन[4] ! शिव-धनु-सम, मम करस्थ[5] धनु श्रेष्ठ सुप्रबल।
पूछा था ब्रह्मा से देवों ने, हरि-हर में कौन अति प्रबल ? ।।
इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है ? प्रश्न किया जब देवों ने यह।
तब देवों के अभिप्राय को समझ, सत्य के व्रती पितामह ।।
ने विरचा उपाय हरि-हर में, वैर-भाव लाने को उस क्षण।
तब उन हरि-हर विरोधियों में हुआ रोम-हर्षण भीषण रण ।।
एक दूसरे पर जय पाने को इच्छुक तब हुए विष्णु, हर।
जृम्भित हरि ने किया शम्भु के विक्रमि धनु को तभी शिथिलतर ।।
स्तम्भित हुए त्रिलोचन शिव भी, श्री हरि की हुंकृति से उस क्षण।
इन दोनों से हुए शान्ति के याचक, तब सुरवर, ऋषि, चारण ।।
तब ये हरि-हर शान्त हो गये, उन सबकी वह संस्तुति सुनकर।
और विष्णु के परम पराक्रम से, शिव-धनु को शिथिल देखकर ।।

---

१ शक्ति; २ विक्रम-प्रशंसा; ३ राम; ४ ककुत्स्थ-वंश के; ५ हाथ में स्थित।

अधिकं मेनिरे विष्णुं देवाः सर्षिगणास्तथा ।
धनू रुद्रस्तु संक्रुद्धो विदेहेषु महायशाः ॥ २० ॥
देवरातस्य राजर्षेर्ददौ हस्ते ससायकम् ।
इदं च वैष्णवं राम धनुः परपुरंजयम् ॥ २१ ॥
ऋचीके भार्गवे प्रादाद् विष्णुः सन्यासमुत्तमम् ।
ऋचीकस्तु महातेजाः पुत्रस्याप्रतिकर्मणः ॥ २२ ॥
पितुर्मम ददौ दिव्यं जमदग्नेर्महात्मनः ।
न्यस्तशस्त्रे पितरि मे तपोबलसमन्विते ॥ २३ ॥
अर्जुनो विदधे मृत्युं प्राकृतां बुद्धिमास्थितः ।
वधमप्रतिरूपं तु पितुः श्रुत्वा सुदारुणम् ।
क्षत्रमुत्सादयं रोषाज्जातं जातमनेकशः ॥ २४ ॥
पृथिवीं चाखिलां प्राप्य कश्यपाय महात्मने ।
यज्ञस्यान्तेऽददं राम दक्षिणां पुण्यकर्मणे ॥ २५ ॥
दत्त्वा महेन्द्रनिलयस्तपोबलसमन्वितः ।
श्रुत्वा तु धनुषो भेदं ततोऽहं द्रुतमागतः ॥ २६ ॥
तदेवं वैष्णवं राम पितृपैतामहं महत् ।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य गृह्णीष्व धनुरुत्तमम् ॥ २७ ॥
योजयस्व धनुःश्रेष्ठे शरं परपुरंजयम् ।
यदि शक्तोऽसि काकुत्स्थ द्वन्द्वं दास्यामि ते ततः ॥ २८ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमः सर्गः

श्रीराम का वैष्णव-धनुष को चढ़ाकर अमोघ बाण के द्वारा परशुराम के तपःप्राप्त पुण्यलोकों का नाश करना तथा परशुराम का महेन्द्र पर्वत को लौट जाना

श्रुत्वा तु जामदग्न्यस्य वाक्यं दाशरथिस्तदा ।
गौरवाद्यन्त्रितकथः पितू राममथाब्रवीत् ॥ १ ॥
कृतवानसि यत् कर्म श्रुतवानस्मि भार्गव ।
अनुरुध्यामहे ब्रह्मन् पितुरानृण्यमास्थितः ॥ २ ॥
वीर्यहीनमिवाशक्तं क्षत्रधर्मेण भार्गव ।
अवजानासि मे तेजः पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥ ३ ॥

सब देवों-ऋषियों ने हरि को माना तब शंकर से उत्तम।
तब होकर संक्रुद्ध रुद्र ने अपना वह धनु अतिशय सक्षम॥
दिया राजऋषि विदिशा के पति, देवरात नृप के कर में फिर।
राम! दूसरा यह वैष्णव-धनु, शत्रु पुरजय अद्भुत सुरुचिर॥
फिर ऋचीक भार्गव को हरि ने, दिया बनाकर इसे धरोहर।
तब ऋचीक ने अपने सुत जमदग्नि, रहे जो मेरे पितुवर॥
को अर्पण कर दिया, विष्णु से प्राप्त धनुष वह अति बलवत्तर[1]।
अस्त्र-शस्त्र तज पिता तपोबल जब थे योग-ध्यान में तत्पर॥
कार्तवीर्य अर्जुन ने उनको मारा, जड़-स्वभाव के आश्रित।
अर्जुन ने यह किया क्रूर वध, उपजा मुझमें रोष यथोचित॥
जन्मे बारम्बार क्षत्रियों को मारा मैंने हो क्रोधित।
(सारी पृथिवी हुई राम! तब, मेरे द्वारा यह सब अधिकृत) ॥१४-२४॥
सारी पृथ्वी पाकर मैंने तभी राम! मख[2] एक फिर किया।
कश्यप ऋषि को दक्षिणा-रूप, मैंने सब भू-दान कर दिया॥ २५ ॥
फिर महेन्द्र गिरि पर तप करके, मैं हो गया तपोबल-अन्वित।
शिव-धनु-भंग-वार्ता सुनकर, शीघ्र हुआ मैं यहाँ उपस्थित॥ २६ ॥
परम्परागत पिता, पितामह से था वैष्णव धनुष सुरक्षित।
लो उत्तम धनु राम! हस्त में, क्षात्र-धर्म को कर ध्यानस्थित॥
बाण चढ़ाओ इस पर ऐसा, विजयी जो हो शत्रु-नगर पर।
यदि ऐसा कर सके, राम! तब, द्वन्द्वयुद्ध का दूँगा अवसर ॥२७-२८॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७५ ॥

छिहत्तरवाँ सर्ग

श्रीराम का वैष्णव-धनुष को चढ़ाकर अमोघ बाण के द्वारा परशुराम के तपःप्राप्त पुण्यलोकों का नाश करना तथा परशुराम का महेन्द्र पर्वत को लौट जाना

थे पहले तो राम, पिता के गौरव-वश अति मौन नियन्त्रित।
किन्तु वचन सुन परशुराम के बोले उनसे वचन यथोचित॥ १ ॥
पाने को उद्धार पिता के ऋण से जो कुछ किया आपने।
भृगु-सुत! उसका अनुमोदन है किया सर्वथा जग में सबने॥ २ ॥
क्षात्र-धर्म-वश नहीं बोलता द्विज-समक्ष भार्गव! मैं सविनय।
किन्तु मुझे असमर्थ, अविक्रम[3] कहते! तो देखें! बल अतिशय॥ ३ ॥

---

१ अन्यों से बली; २ यज्ञ; ३ पराक्रम-हीन।

इत्युक्त्वा राघवः क्रुद्धो भार्गवस्य वरायुधम् ।
शरं च प्रतिजग्राह हस्ताल्लघुपराक्रमः ॥ ४ ॥
आरोप्य स धनू रामः शरं सज्यं चकार ह ।
जामदग्न्यं ततो रामं रामः क्रुद्धोऽब्रवीदिदम् ॥ ५ ॥
ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च ।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम् ॥ ६ ॥
इमां वा त्वद्गतिं राम तपोबलसमार्जितान् ।
लोकानप्रतिमान् वापि हनिष्यामीति मे मतिः ॥ ७ ॥
न ह्ययं वैष्णवो दिव्यः शरः परपुरंजयः ।
मोघः पतति वीर्येण बलदर्पविनाशनः ॥ ८ ॥
वरायुधधरं रामं द्रष्टुं सर्षिगणाः सुराः ।
पितामहं पुरस्कृत्य समेतास्तत्र सर्वशः ॥ ९ ॥
गन्धर्वाप्सरसश्चैव सिद्धचारणकिन्नराः ।
यक्षराक्षसनागाश्च तद् द्रष्टुं महदद्भुतम् ॥ १० ॥
जडीकृते तदा लोके रामे वरधनुर्धरे ।
निर्वीर्यो जामदग्न्योऽसौ रामो राममुदैक्षत ॥ ११ ॥
तेजोभिर्गतवीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जडीकृतः ।
रामं कमलपत्राक्षं मन्दं मन्दमुवाच ह ॥ १२ ॥
काश्यपाय मया दत्ता यदा पूर्वं वसुंधरा ।
विषये मे न वस्तव्यमिति मां काश्यपोऽब्रवीत् ॥ १३ ॥
सोऽहं गुरुवचः कुर्वन् पृथिव्यां न वसे निशाम् ।
तदाप्रभृति काकुत्स्थ कृता मे काश्यपस्य ह ॥ १४ ॥
तामिमां मद्गतिं वीर हन्तुं नार्हसि राघव ।
मनोजवं गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ १५ ॥
लोकास्त्वप्रतिमा राम निर्जितास्तपसा मया ।
जहि ताञ्छरमुख्येन मा भूत् कालस्य पर्ययः ॥ १६ ॥
अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम् ।
धनुषोऽस्य परामर्शात् स्वस्ति तेऽस्तु परंतप ॥ १७ ॥
एते सुरगणाः सर्वे निरीक्षन्ते समागताः ।
त्वामप्रतिमकर्माणमप्रतिद्वन्द्वमाहवे ॥ १८ ॥
न चेयं तव काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति ।
त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः ॥ १९ ॥

यह कह शीघ्र विक्रमी राघव ने हो करके तब फिर प्रकुपित।
परशुराम के कर से उत्तम धनुष ले लिया बाण के सहित॥ ४ ॥
उसे चढ़ाकर प्रत्यञ्चा पर किया राम ने शर को संस्थित।
और कहा जमदग्नि-पुत्र श्री परशुराम से होकर प्रकुपित॥ ५ ॥
आप विप्रवर पूज्य हमारे हैं कौशिक-सम्बद्ध वीरवर!।
अतः आप पर नहीं छोड़ता भृगुनन्दन! यह बाण प्राण-हर॥ ६ ॥
तप से पाई वेग-गमन-गति पुण्यलोक जो तप से पाये।
उनको ही कर दूँ विनष्ट बस यह विचार मन में हैं आये॥
क्योंकि शत्रु-बल-दर्प-विनाशक जिसमें भरा पराक्रम सु-प्रबल।
रिपु-पुर-जयी[1] बाण वैष्णव यह कभी नहीं होता है निष्फल॥ ७-८ ॥
धनु-शर श्रेष्ठ राम-कर शोभित, सभी देवता और ऋषीश्वर।
दर्शन को एकत्र हुए वे, लोकपितामह को आगे कर॥ ९ ॥
सिद्ध, नाग, गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर, यक्ष, राक्षस, चारण।
आये अद्‌भुत दृश्य देखने, विस्मित हो करके सब उस क्षण॥ १० ॥
जड़वत् हुए सभी दर्शन ये लिया राम ने धनु कर में जब।
रहे देखते परशुराम बस वीर्य-हीन हो, राघव को तब॥ ११ ॥
निकल गया जब तेज वीर्य से हीन हुए जड़ परशुराम जब।
मन्द-मन्द वे कमलनयन श्री रघुपति से सविनय बोले तब॥ १२ ॥
दी थी पृथ्वी जब कश्यप को, तब बोले थे मुझसे ऋषिवर।
'नहीं चाहिए तुमको रहना! मेरे शासन में, विद्वद्वर!'॥ १३ ॥
तब से गुरु-आज्ञा-वश, पृथिवी पर रजनी मैं नही बिताता।
निशा-निवास न करने की इस वार्ता के हैं सब विज्ञाता[2]॥ १४ ॥
अतः न मेरी गमन-शक्ति को आप मिटाएँ राम वीरवर!।
मन की गति से मैं जाऊँगा अब महेन्द्र पर्वत पर सत्वर॥ १५ ॥
किन्तु राम! तप से मैं विजयी हुआ समुत्तम जिन लोकों पर।
शीघ्र उन्हें ही नष्ट करें अब, वैष्णव बाण छोड़कर रिपु-हर॥ १६ ॥
धनुष आपने चढ़ा दिया यह, मधु-हन्ता[3] हैं आप सुरेश्वर!।
वीर! आपका शुभ हो सन्तत[4] आप विष्णु है निश्चय अक्षर॥ १७ ॥
देख रहे हैं सभी देवता, चकित आपके हैं प्रताप से।
टिक सकता है नहीं युद्ध में अनुपम कर्मन्! कभी आप से॥ १८ ॥
लज्जास्पद है नहीं किसी विधि असामर्थ्य मेरा यह, रघुवर!।
क्योंकि त्रिलोकीनाथ विष्णु ने मुझे पराजित किया, छोड़ शर॥ १९ ॥

१ शत्रु-राज्य को जीतनेवाला; २ जानकार; ३ मधु राक्षस के संहारक; ४ सदैव।

शरमप्रतिमं राम मोक्तुमर्हसि सुव्रत ।
शरमोक्षे गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ २० ॥
तथा ब्रुवति रामे तु जामदग्न्ये प्रतापवान् ।
रामो दाशरथिः श्रीमांश्चिक्षेप शरमुत्तमम् ॥ २१ ॥
स हतान् दृश्य रामेण स्वाँल्लोकांस्तपसार्जितान् ।
जामदग्न्यो जगामाशु महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ २२ ॥
ततो वितिमिराः सर्वा दिशश्चोपदिशस्तथा ।
सुराः सर्षिगणा रामं प्रशशंसुरुदायुधम् ॥ २३ ॥
रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्यः प्रपूजितः ।
ततः प्रदक्षिणीकृत्य जगामात्मगतिं प्रभुः ॥ २४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः

राजा दशरथ का पुत्रों और वधुओं के साथ अयोध्या में प्रवेश, शत्रुघ्न-सहित भरत का मामा के यहाँ जाना, श्रीराम के बर्ताव से सबका संतोष तथा सीता और श्रीराम का पारस्परिक प्रेम

गते रामे प्रशान्तात्मा रामो दाशरथिर्धनुः ।
वरुणायाप्रमेयाय ददौ हस्ते महायशाः ॥ १ ॥
अभिवाद्य ततो रामो वसिष्ठप्रमुखानृषीन् ।
पितरं विकलं दृष्ट्वा प्रोवाच रघुनन्दनः ॥ २ ॥
जामदग्न्यो गतो रामः प्रयातु चतुरङ्गिणी ।
अयोध्याभिमुखी सेना त्वया नाथेन पालिता ॥ ३ ॥
रामस्य वचनं श्रुत्वा राजा दशरथः सुतम् ।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य मूर्ध्न्युपाघ्राय राघवम् ॥ ४ ॥
गतो राम इति श्रुत्वा हृष्टः प्रमुदितो नृपः ।
पुनर्जातं तदा मेने पुत्रमात्मानमेव च ॥ ५ ॥
चोदयामास तां सेनां जगामाशु ततः पुरीम् ।
पताकाध्वजिनीं रम्यां तूर्योद्घुष्टनिनादिताम् ॥ ६ ॥
सिक्तराजपथारम्यां प्रकीर्णकुसुमोत्कराम् ।
राजप्रवेशसुमुखैः पौरैर्मङ्गलपाणिभिः ॥ ७ ॥
सम्पूर्णां प्राविशद् राजा जनौघैः समलंकृताम् ।
पौरैः प्रत्युद्गतो दूरं द्विजैश्च पुरवासिभिः ॥ ८ ॥

व्रती राम ! अब छोड़ें ! अपना उत्तम अनुपम यह वैष्णव शर।
छूट जायगा जब यह, तब मैं जाऊँगा महेन्द्र गिरिवर पर॥ २० ॥
परशुराम जमदग्नि-सुवन के इस प्रकार से तब कहने पर।
दशरथ-नन्दन रामचन्द्र ने छोड़ दिया उत्तम वैष्णव शर॥ २१ ॥
पुण्यलोक-तप-अर्जित[1] अपने रघुपति-शर से नष्ट देखकर।
परशुराम जी चले गये तब अपने उत्तम गिरि महेन्द्र पर॥ २२ ॥
दिशा, उपदिशा-तमस् नष्ट तब हुआ परशुधर के जाने पर।
आयुध-धर श्रीराम-प्रशंसा करने लगे देवता, ऋषिवर॥ २३ ॥
जामदग्न्य वे, दशरथ-सुत श्री रामचन्द्र से हुए प्रपूजित।
और राम की परिक्रमा कर गये स्थान निज होकर हर्षित॥ २४ ॥

॥ श्री वाल्मीक-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
छिअत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७६ ॥

सतहत्तरवाँ सर्ग

राजा दशरथ का पुत्रों और वधुओं के साथ अयोध्या में प्रवेश, शत्रुघ्न-सहित भरत का माता के यहाँ जाना, श्रीराम के बर्ताव से सबका संतोष तथा सीता और श्रीराम का पारस्परिक प्रेम

शान्तात्मा, सुयशस्वी दशरथ-सुत ने भार्गव के जाने पर।
अप्रमेय[2] बलवान वरुण को अर्पित वह कर दिया धनुःशर॥ १ ॥
वसिष्ठादि ऋषियों को करके रामचन्द्र जी ने प्रणाम फिर।
सविनय बोले पितु दशरथ से उन्हें देख करके तब अस्थिर[3]॥ २ ॥
गये परशुधर पिता ! सैन्य हो चतुरंगणी शीघ्र ही प्रस्थित।
पुरी अयोध्या को निर्देशित और आप से होकर रक्षित॥ ३ ॥
पुत्र राम को हृदय लगाया नृप ने उनकी वार्ता सुनकर।
सूँघा मस्तक उनका, उनको अपने युगल बाहु में भरकर॥ ४ ॥
प्रमुदित हुए अवध नृप अतिशय परशुराम का सुनकर जाना।
और उन्होंने पिता-पुत्र का पुनर्जन्म तब निश्चय माना॥ ५ ॥
दिया तुरत आदेश अयोध्या पहुँची सेना सकल सुचालित।
ध्वजा-पताका रम्य सजी थीं, पुरी विपुल बाजों से गुंजित॥ ६ ॥
जल-सिञ्चित थे वहाँ राज-पथ और गये थे पुष्प बिखेरे।
प्रमुदित मंगल-सामग्री ले जन-जन राज-द्वार को घेरे॥ ७ ॥
जन-समूह-समलङ्कृत नगरी में वे हुए प्रविष्ट भूप तब।
अगवानी को दूर-दूर से आये ब्राह्मण, पौर[4] आदि सब॥ ८ ॥

---

१ तपस्या से प्राप्त किया हुआ; २ बेहद, अतुलित; ३ बेचैन; ४ नगरनिवासी।

पुत्रैरनुगतः श्रीमाञ्श्रीमद्भिश्च महायशाः।
प्रविवेश गृहं राजा हिमवत्सदृशं प्रियम् ॥ ९ ॥
ननन्द स्वजनै राजा गृहे कामैः सुपूजितः।
कौसल्या च सुमित्रा च कैकेयी च सुमध्यमा ॥ १० ॥
वधूप्रतिग्रहे युक्ता याश्चान्या राजयोषितः।
ततः सीतां महाभागामूर्मिलां च यशस्विनीम् ॥ ११ ॥
कुशध्वजसुते चोभे जगृहुर्नृपयोषितः।
मङ्गलालापनैर्होमैः शोभिताः क्षौमवाससः ॥ १२ ॥
देवतायतनान्याशु सर्वास्ताः प्रत्यपूजयन्।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वा राजसुतास्तदा ॥ १३ ॥
रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिर्मुदिता रहः।
कृतदाराः कृतास्त्राश्च सधनाः ससुहृज्जनाः ॥ १४ ॥
शुश्रूषमाणाः पितरं वर्तयन्ति नरर्षभाः।
कस्यचित्त्वथ कालस्य राजा दशरथः सुतम् ॥ १५ ॥
भरतं कैकयीपुत्रमब्रवीद् रघुनन्दनः।
अयं केकयराजस्य पुत्रो वसति पुत्रक ॥ १६ ॥
त्वां नेतुमागतो वीरो युधाजिन्मातुलस्तव।
श्रुत्वा दशरथस्यैतद् भरतः कैकयीसुतः ॥ १७ ॥
गमनायाभिचक्राम शत्रुघ्नसहितस्तदा।
आपृच्छ्य पितरं शूरो रामं चाक्लिष्टकारिणम् ॥ १८ ॥
मातॄंश्चापि नरश्रेष्ठः शत्रुघ्नसहितो ययौ।
युधाजित् प्राप्य भरतं सशत्रुघ्नं प्रहर्षितः ॥ १९ ॥
स्वपुरं प्राविशद् वीरः पिता तस्य तुतोष ह।
गते च भरते रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ २० ॥
पितरं देवसंकाशं पूजयामासतुस्तदा।
पितुराज्ञां पुरस्कृत्य पौरकार्याणि सर्वशः ॥ २१ ॥
चकार रामः सर्वाणि प्रियाणि च हितानि च।
मातृभ्यो मातृकार्याणि कृत्वा परमयन्त्रितः ॥ २२ ॥
गुरूणां गुरुकार्याणि काले कालेऽन्ववैक्षत।
एवं दशरथः प्रीतो ब्राह्मणा नैगमास्तथा ॥ २३ ॥
रामस्य शीलवृत्तेन सर्वे विषयवासिनः।
तेषामतियशा लोके रामः सत्यपराक्रमः ॥ २४ ॥

नृपति यशस्वी, कान्त[1] सुतों-सँग आये अपने राजभवन में।
जो कि हिमालय-सा उन्नत था और निरत[2] था नभ-चुम्बन में ॥ ९ ॥
तब वाञ्छित वस्तुएँ प्राप्त कर स्वजनों द्वारा नृप थे प्रमुदित।
कौसल्या थीं वहाँ सुमित्रा, कटिक्षीणा कैकयी उपस्थित ॥
बहुओं के परछन-सुकृत्य में तत्पर थीं रानियाँ पुनीता।
यशस्विनी उर्मिला-सहित उन भाग्यवती देवी श्री सीता ॥
और कुशध्वज-सुता माण्डवी, प्रिय श्रुतकीर्ति वधू को क्रम से।
लाईं वे रानियाँ वसन रेशमी, हुए तब हवन नियम से ॥१०-१२॥
नववधुओं से देव-मन्दिरों में जाकर पूजन करवाया।
सास-श्वसुर के पद-पद्मों में नववधुओं ने शीश झुकाया ॥ १३ ॥
निज-निज पति-सँग एकान्तस्थल में ये रहने लगीं प्रफुल्लित।
अस्त्र-शस्त्र-विद् सभी विवाहित भ्राता भी, धन-सुहृद-जन-सहित ॥
नरपुंगव ! चारों भाई ये हुए पिता-सेवा में तत्पर।
बीता जब कुछ समय, तभी वे महाराज श्री दशरथ नृपवर ॥
बोले भरत कैकयी-सुत से तव[3] मातुल[4] हैं रुके यहाँ पर।
वीर युधाजित कैकय-नन्दन आये हैं युवराज वीरवर ॥
तुमको ले जाने को आये भरत ! तुम्हारे मामा जी अब।
नृप दशरथ की वार्ता सुनकर कैकेयी-सुत भरतराज तब ॥
प्रिय शत्रुघ्न-सहित मामा-सँग चलने का करके फिर निश्चय।
सहज विक्रमी रामचन्द्र औ पितु दशरथ से पूछा सविनय ॥
तथा सभी माताओं से भी आज्ञा लेकर हुए सु-प्रस्थित।
हर्षित वीर युधाजित तब फिर भरत और शत्रुघ्न के सहित ॥१४-१९॥
हुए प्रविष्ट नगर कैकय में, उनके पिता हुए तब प्रमुदित।
और भरत के जाने पर फिर सबल राम औ लक्ष्मण शुभमति ॥
हुए देव-सम पिता नृपति की पूजा-सेवा में अति तत्पर।
लगे देखने पौर[5] कार्य भी उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर ॥२०-२१॥
करने लगे प्रजा-जन-इच्छित कार्य सभी वे उनके हितकर।
अपने को संयम में रखकर माताओं के कार्य समय पर ॥ २२ ॥
करते सभी गुरुजनों के भी जो होते थे कार्य महत्तर।
अतः नृपति दशरथ प्रसन्न थे विज्ञ विप्र सँग वैश्य धनिक वर ॥ २३ ॥
तथा तुष्ट थे राज्य-निवासी राम-शील से सभी उस समय।
नृपति-सुतों में सत्यविक्रमी गुणी यशस्वी थे ये अतिशय ॥ २४ ॥

---

१ कान्तिमान; २ लगा हुआ; ३ तुम्हारे; ४ मामा; ५ नगर के।

स्वयंभूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ।
रामश्च सीतया सार्धं विजहार बहूनृतून् ॥ २५ ॥
मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः ।
प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति ॥ २६ ॥
गुणाद्रूपगुणाच्चापि प्रीतिर्भूयोऽभिवर्धते ।
तस्याश्च भर्ता द्विगुणं हृदये परिवर्तते ॥ २७ ॥
अन्तर्गतमपि व्यक्तमाख्याति हृदयं हृदा ।
तस्य भूयो विशेषेण मैथिली जनकात्मजा ।
देवताभिः समा रूपे सीता श्रीरिव रूपिणी ॥ २८ ॥
तया स राजर्षिसुतोऽभिकामया
समेयिवानुत्तमराजकन्यया ।
अतीव रामः शुशुभे मुदान्वितो
विभुः श्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः ॥ २९ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

॥ बालकाण्डं सम्पूर्णम् ॥

यथा यशस्वी, गुणी स्वयंभू सब भूतों से हैं आराधित।
रामचन्द्र सीता-मन-मन्दिर में रहते थे तथा विराजित ॥ २५ ॥
हृदय-निवासिनि सीता के सँग किया राम ने बहु ऋतु-विहरण।
सीता थीं प्रिय बहुत राम को क्योंकि जनक से किया था ग्रहण ॥
सीता के गुण-रूप, राम में करते थे मधु-प्रणय-विवर्धन[1]।
और राम-पति पर मोहित था उससे द्विगुणित सीता का मन ॥२६-२७॥
राम-हृदय के अभिप्राय का ज्ञाता था सीता का मानस।
अतः स्पष्ट कर देती थी वे समय-समय पर उसे प्रणय वश ॥
देवांगना-सदृश सीता थीं रूप और सुषमा में सक्षम।
वे प्रतीत होती थीं मानों रूपवती हों लक्ष्मी उत्तम ॥ २८ ॥
सीता राज-सुता के प्रिय थे राम, सदा उर धारे
सीता के प्रति राम-हृदय में प्रणय भाव थे प्यारे।
जैसे लक्ष्मी सँग श्रीहरि की निरुपम सुषमा होती
उसी भाँति सीता-रघुवर में विमल सुलक्षण सारे ॥ २९ ॥

॥ श्री बाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड में
सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७७ ॥

॥ बालकाण्ड समाप्त ॥

---

१ प्रगाढ़ प्रेम का बढ़ना।

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

अयोध्याकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

श्रीराम के सद्गुणों का वर्णन, राजा दशरथ का श्रीराम को युवराज बनाने का विचार तथा विभिन्न नरेशों और नगर एवं जनपद के लोगों को मन्त्रणा के लिए अपने दरबार में बुलाना

गच्छता मातुलकुलं भरतेन तदानघः ।
शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो नीतः प्रीतिपुरस्कृतः ॥ १ ॥
स तत्र न्यवसद् भ्रात्रा सह सत्कारसत्कृतः ।
मातुलेनाश्वपतिना पुत्रस्नेहेन लालितः ॥ २ ॥
तत्रापि निवसन्तौ तौ तर्प्यमाणौ च कामतः ।
भ्रातरौ स्मरतां वीरौ वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ ३ ॥
राजापि तौ महातेजाः सस्मार प्रोषितौ सुतौ ।
उभौ भरतशत्रुघ्नौ महेन्द्रवरुणोपमौ ॥ ४ ॥
सर्व एव तु तस्येष्टाश्चत्वारः पुरुषर्षभाः ।
स्वशरीराद् विनिर्वृत्ताश्चत्वार इव बाहवः ॥ ५ ॥
तेषामपि महातेजा रामो रतिकरः पितुः ।
स्वयम्भूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ॥ ६ ॥
स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः ।
अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः ॥ ७ ॥
कौसल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा ।
यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना ॥ ८ ॥
स हि रूपोपपन्नश्च वीर्यवाननसूयकः ।
भूमावनुपमः सूनुर्गुणैर्दशरथोपमः ॥ ९ ॥
स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते ।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते ॥ १० ॥

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण

अयोध्याकाण्ड

पहला सर्ग

श्रीराम के सद्गुणों का वर्णन, राजा दशरथ का श्रीराम को युवराज बनाने का विचार तथा विभिन्न नरेशों और नगर एवं जनपद के लोगों को मन्त्रणा के लिए अपने दरबार में बुलाना

श्री शत्रुघ्न अनघ[1], रिपुहन्ता को अतिशय सुप्रेम वश होके।
ले गये साथ मामा के घर श्री भरत सुखद सह स्वजनों के ॥ १ ॥
वीर युधाजित् मातुल[2] से सुत-सदृश स्नेह-आदर को पाये।
सहित रिपुघ्न, भरत ने सुख से नानिहाल में दिवस बिताये ॥ २ ॥
वहाँ सभी इच्छा-प्रपूर्ति से इनको तृप्त किया जाता था।
फिर भी वृद्ध पिता दशरथ का इनको स्मरण सदा आता था ॥ ३ ॥
वरुण, महेन्द्र-सदृश विक्रम में थी जिन प्रिय पुत्रों की समता।
उनके प्रति ज्वलन्त दशरथ में सदा जागती रहती ममता ॥ ४ ॥
निज शरीर से चार भुजाएँ प्रकटित जैसे होतीं प्यारी।
वैसे ही वे सुवन-शिरोमणि दशरथ के प्रिय थे अविकारी ॥ ५ ॥
किन्तु अपेक्षा में तेजस्वी रामचन्द्र में गुण थे सारे।
विधि[3] जैसे प्राणिप्रिय अपने पूज्य पिता के थे वे प्यारे ॥ ६ ॥
वे साक्षात् सनातन हरि थे, रावण-वध-हित स्तुत सुर-द्वारा।
देवों की स्तुति से भूतल पर उनका हुआ अवतरण न्यारा ॥ ७ ॥
कौसल्या-शोभा-वर्धक थे राम अमित तेजस्वी वैसे।
अदिति देव-माता-शोभा-हित थे श्री इन्द्र वज्रधर जैसे ॥ ८ ॥
दोष दूसरों में न देखते थे वे सुन्दर और विक्रमी।
थे निरुपम भू पर, दशरथ-सम गुणी पुत्र वे राम संयमी ॥ ९ ॥
शान्त हृदय, मीठे वचनों से नित्य सान्त्वना वे देते थे।
अन्य व्यक्ति की कटु-कठोर भी वार्ता को वे सह लेते थे ॥ १० ॥

---

1 निष्पाप; 2 मामा; 3 ब्रह्मा।

कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति ।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया ॥ ११ ॥
शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः ।
कथयन्नास्त वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि ॥ १२ ॥
बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः ।
वीर्यवान्न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः ॥ १३ ॥
न चानृतकथो विद्वान् वृद्धानां प्रतिपूजकः ।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते ॥ १४ ॥
सानुक्रोशो जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः ।
दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवाञ्छुचिः ॥ १५ ॥
कुलोचितमतिः क्षात्रं स्वधर्मं बहु मन्यते ।
मन्यते परया प्रीत्या महत् स्वर्गफलं ततः ॥ १६ ॥
नाश्रेयसि रतो यश्च न विरुद्धकथारुचिः ।
उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा ॥ १७ ॥
अरोगस्तरुणो वाग्मी वपुष्मान् देशकालवित् ।
लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः ॥ १८ ॥
स तु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ।
बहिश्चर इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः ॥ १९ ॥
सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत् साङ्गवेदवित् ।
इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥ २० ॥
कल्याणाभिजनः साधुरदीनः सत्यवागृजुः ।
वृद्धैरभिविनीतश्च द्विजैर्धर्मार्थदर्शिभिः ॥ २१ ॥
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान् ।
लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारदः ॥ २२ ॥
निभृतः संवृताकारो गुप्तमन्त्रः सहायवान् ।
अमोघक्रोधहर्षश्च त्यागसंयमकालवित् ॥ २३ ॥
दृढभक्तिः स्थिरप्रज्ञो नासद्ग्राही न दुर्वचः ।
निस्तन्द्रीरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित् ॥ २४ ॥
शास्त्रज्ञश्च कृतज्ञश्च पुरुषान्तरकोविदः ।
यः प्रग्रहानुग्रहयोर्यथान्यायं विचक्षणः ॥ २५ ॥
सत्संग्रहानुग्रहणे स्थानविन्निग्रहस्य च ।
आयकर्मण्युपायज्ञः संदृष्टव्ययकर्मवित् ॥ २६ ॥

मात्र एक उपकार किसी ने किया, न उसको कभी भुलाते।
वशी, सैकड़ों अपराधों को भी वे कभी न मन में लाते॥ ११॥
अस्त्र, शस्त्र-अभ्यास-समय में भी वे जब अवसर थे पाते।
तब सज्जन ज्ञानी वृद्धों से थे वार्ता में समय बिताते॥ १२॥
सुधी, मधुरभाषी, आगत से स्वयं प्रथम वार्ता करते थे।
अपने विक्रम, वीर्य आदि-प्रति गर्व न कुछ मन में रखते थे॥ १३॥
वे थे सुधी; वृद्ध-सम्मानी 'मिथ्या-कथन' सर्वथा त्यागी।
प्रजानुरागिणि थी उनके प्रति वे थे तथा प्रजा-अनुरागी॥ १४॥
थे दयालु, जितक्रोध, विप्रगण-पूजक परम धर्म के ज्ञाता।
वाह्यान्तस्[1] से शुद्ध, जितेन्द्रिय और दीन-दुखियों के त्राता॥ १५॥
राम कुलोचित मति, निज क्षत्रिय उच्च धर्म को रहे मानते।
क्षात्र-धर्म पालन से होती स्वर्ग-प्राप्ति, वे सुखद जानते॥ १६॥
शास्त्र-विमुख निःश्रेयस्-कर्मी[2] बातों में न स्व-रुचि लेते थे।
सदृश-बृहस्पति न्याय-समर्थन में युक्तियाँ सदा देते थे॥ १७॥
वाग्मी, तन नीरोग, तरुण था वे थे देश-काल के ज्ञाता।
साधु पुरुष तत्त्वज्ञ राम थे मानो अनुपम रचित-विधाता॥ १८॥
नृप-सुत गुण-युत राम गुणों से प्रिय थे प्रजा-जनों के ऐसे।
विचर रहे हों राम-रूप में सबके दिव्य प्राण ही जैसे॥ १९॥
वेद-अंगविद[3], विद्या-व्रत में निपुण भरत के अग्रज भ्राता।
और पिता से भी बढ़कर थे बाण-शास्त्र के वे विज्ञाता॥ २०॥
सरल, सत्यवादी, अदीन[4] थे, साधु, सुश्रेयस्-जन्मस्थल थे।
धर्म, अर्थविद् वृद्ध ब्राह्मणों से शिक्षित, मति के निर्मल थे॥ २१॥
वे सुधर्म, कामार्थ-तत्त्वविद्, स्मृति-संयुत थे प्रतिभाशाली।
थी समर्थ समयोचित धार्मिक औ लौकिक व्यवहार-प्रणाली॥ २२॥
मन की मन में बात रख सकें, सहायकों से युत वे विनयी।
क्रोध-हर्ष थे कभी न निष्फल, त्याग, ग्रहण-प्रज्ञा में विजयी॥ २३॥
असद् न लेते, स्मृतिवर थे वे, थे दृढ़-भक्ति, दुर्वचन-त्यागी।
निष्प्रमाद आलस्य-शून्य थे निज-पर-दोष-विज्ञ, बड़भागी॥ २४॥
वे कृतज्ञ थे, अन्य पुरुष के मनोभाव शास्त्रों के ज्ञाता।
उनको संयम, दमन अनुग्रह का चातुर्य बहुत था भाता॥ २५॥
सज्जन-संग्रह, पालनज्ञ वे थे दुष्टों पर निग्रहकारी।
युक्तिवान् समुचित धन-अर्जन-व्यय की विद्या शास्त्रवत् सारी॥ २६॥

---

१ बाहर-भीतर; २ अकल्याणकारी; ३ वेद-वेदांगों के ज्ञाता; ४ दैन्य-रहित।

श्रैष्ठ्यं चास्त्रसमूहेषु प्राप्तो व्यामिश्रकेषु च।
अर्थधर्मौ च संगृह्य सुखतन्त्रो न चालसः ॥ २७ ॥
वैहारिकाणां शिल्पानां विज्ञातार्थविभागवित्।
आरोहे विनये चैव युक्तो वारणवाजिनाम् ॥ २८ ॥
धनुर्वेदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथसम्मतः।
अभियाता प्रहर्ता च सेनानयविशारदः ॥ २९ ॥
अप्रधृष्यश्च संग्रामे क्रुद्धैरपि सुरासुरैः।
अनसूयो जितक्रोधो न दृप्तो न च मत्सरी ॥ ३० ॥
नावज्ञेयश्च भूतानां न च कालवशानुगः।
एवं श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ॥ ३१ ॥
सम्मतस्त्रिषु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणैः।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये चापि शचीपतेः ॥ ३२ ॥
तथा सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैः पितुः।
गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ॥ ३३ ॥
तमेवंवृत्तसम्पन्नमप्रधृष्यपराक्रमम्।
लोकनाथोपमं नाथमकामयत मेदिनी ॥ ३४ ॥
एतैस्तु बहुभिर्युक्तं गुणैरनुपमैः सुतम्।
दृष्ट्वा दशरथो राजा चक्रे चिन्तां परंतपः ॥ ३५ ॥
अथ राज्ञो बभूवैव वृद्धस्य चिरजीविनः।
प्रीतिरेषा कथं रामो राजा स्यान्मयि जीवति ॥ ३६ ॥
एषा ह्यस्य परा प्रीतिर्हृदि सम्परिवर्तते।
कदा नामसुतं द्रक्ष्याम्यभिषिक्तमहं प्रियम् ॥ ३७ ॥
वृद्धिकामो हि लोकस्य सर्वभूतानुकम्पकः।
मत्तः प्रियतरो लोके पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ ३८ ॥
यमशक्रसमो वीर्ये बृहस्पतिसमो मतौ।
महीधरसमो धृत्यां मत्तश्च गुणवत्तरः ॥ ३९ ॥
महीमहमिमां कृत्स्नामधितिष्ठन्तमात्मजम्।
अनेन वयसा दृष्ट्वा यथा स्वर्गमवाप्नुयाम् ॥ ४० ॥
इत्येवं विविधैस्तैस्तैरन्यपार्थिवदुर्लभैः।
शिष्टैरपरिमेयैश्च लोके लोकोत्तरैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

संस्कृत, प्राकृत, नाट्य, अस्त्रविद् थे धर्मार्थ संग्रही भारी।
थे अनुकूल काम के सेवी, निरालस्य थे वे अविकारी ॥ २७ ॥
शिल्प, चित्र, संगीत, वाद्य— मनरञ्जन यद्यपि उन्हें सुहाता।
अर्थ-विभाग-निपुण*, हय-गज का आरोहण भी उनको भाता ॥ २८ ॥
वे अतिरथी वीर-सम्मानित धनुर्वेद-विज्ञों में उत्तम।
सेना-चालन-नीति, आक्रमण औ प्रहार में थे अति सक्षम ॥ २९ ॥
रण में क्रुद्ध सुरासुर सबसे वे अजेय थे योद्धा भारी।
दर्प-ईर्ष्या-हीन, क्रोधजित, द्वेष आदि से थे अविकारी ॥ ३० ॥
प्राणिमात्र का उन्हें ध्यान था बँधे न कभी काल, अवसर से।
उत्तम गुणी, नृपति-सुत रघुपति आदर पाते सारे जग से ॥
तीनों लोकों में सम्मानित, क्षमावन्त थे वसुधा-जैसे।
बुद्धि बृहस्पति के तद्वत् बल-विक्रम में थे वे सुरपति-से ॥३१-३२॥
सूर्यदेवता यथा प्रकाशित होते अपनी किरणों द्वारा।
उसी भाँति पितु-प्रिय थे राघव प्रजा जनों की प्रीति-सहारा ॥ ३३ ॥
सदाचार-सम्पन्न, विक्रमी, अति अजेय इनको जब जाना।
लोकपाल-तेजस्वी को तब नृप ने चाहा भूप बनाना ॥ ३४ ॥
शत्रु-ताप-प्रद दशरथ ने जब रामचन्द्र में सब गुण पाये।
तब उनके मन में विचार शुभ इस प्रकार अति उत्तम आये ॥ ३५ ॥
वृद्धि चिरञ्जीवी दशरथ के मन में फिर चिन्ता यह आई।
जीते जी, सुत राम-राज्य-अभिषेक-प्रीति पाऊँ सुखदाई ॥ ३६ ॥
मन में यह उत्कट अभिलाषा लगी निरन्तर उन्हें सताने।
पुत्र राम-राज्याभिषेक के आएँगे कब क्षण सुखसाने ॥ ३७ ॥
लोक-अभ्युदय-कामी हैं वे करते दया सभी जीवों पर।
मुझसे अधिक सभी के प्रिय वे होंगे, ज्यों जलवर्षक जल-धर ॥ ३८ ॥
बल-विक्रम में यम, महेन्द्र-सम और बुद्धि में यथा बृहस्पति।
गुणवत्तर श्रीराम धैर्य में हैं साक्षात् यथा दृढ़ पर्वत ॥ ३९ ॥
इसी अवस्था में हो जाए धरा राम से शासित सारी।
यथासमय फिर स्वर्ग-प्राप्त मैं करूँ, यही है इच्छा प्यारी ॥ ४० ॥
विविध विलक्षण सज्जन-सम्मित गुण-समूह जब सुत में पाया।
अन्य नृपों में हैं जो दुर्लभ, तब नृप-मन में भाव समाया ॥

* नीचे लिखी पाँच वस्तुओं के लिए अर्थ का विभाजन करनेवाला मनुष्य इहलोक और परलोक में भी सुखी होता है। वे वस्तुएँ हैं— धर्म, यश, अर्थ, आत्मा और स्वजन। —(श्रीमद्भा० ८-१९-३७)

तं समीक्ष्य तदा राजा युक्तं समुदितैर्गुणैः ।
निश्चित्य सचिवैः सार्धं यौवराज्यममन्यत ॥ ४२ ॥
दिव्यन्तरिक्षे भूमौ च घोरमुत्पातजं भयम् ।
संचचक्षेऽथ मेधावी शरीरे चात्मनो जराम् ॥ ४३ ॥
पूर्णचन्द्राननस्याथ शोकापनुदमात्मनः ।
लोके रामस्य बुबुधे सम्प्रियत्वं महात्मनः ॥ ४४ ॥
आत्मनश्च प्रजानां च श्रेयसे च प्रियेण च ।
प्राप्ते काले स धर्मात्मा भक्त्या त्वरितवान् नृपः ॥ ४५ ॥
नानानगरवास्तव्यान् पृथग्जानपदानपि ।
समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान् पृथिवीपतिः ॥ ४६ ॥
तान् वेश्मनानाभरणैर्यथार्हं प्रतिपूजितान् ।
ददर्शालंकृतो राजा प्रजापतिरिव प्रजाः ॥ ४७ ॥
न तु केकयराजानं जनकं वा नराधिपः ।
त्वरया चानयामास पश्चात्तौ श्रोष्यतः प्रियम् ॥ ४८ ॥
अथोपविष्टे नृपतौ तस्मिन् परपुरार्दने ।
ततः प्रविविशुः शेषा राजानो लोकसम्मताः ॥ ४९ ॥
अथ राजवितीर्णेषु विविधेष्वासनेषु च ।
राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः ॥ ५० ॥
स लब्धमानैर्विनयान्वितैर्नृपैः
पुरालयैर्जानपदैश्च मानवैः ।
उपोपविष्टैर्नृपतिर्वृतो बभौ
सहस्रचक्षुर्भगवानिवामरैः ॥ ५१ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

राजा दशरथ द्वारा श्रीराम के राज्याभिषेक का प्रस्ताव तथा सभासदों द्वारा श्रीराम के गुणों का वर्णन करते हुए उक्त प्रस्ताव का सहर्ष युक्तियुक्त समर्थन

ततः परिषदं सर्वामामन्त्र्य वसुधाधिपः ।
हितमुद्धर्षणं चैवमुवाच प्रथितं वचः ॥ १ ॥
दुन्दुभिस्वरकल्पेन गम्भीरेणानुनादिना ।
स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन् ॥ २ ॥

यह विचार कर, निज सचिवों से ली सलाह दशरथ ने तब फिर।
और उन्हें युवराज बनाने को हो गयी धारणा सुस्थिर ॥४१-४२॥
अन्तरिक्ष, भू, स्वर्ग-सकल के नाना भय सबको बतलाये।
और कहा वृद्धावस्था में हम भी हैं, सचिवो! अब आये ॥ ४३ ॥
पूर्णचन्द्र-सम कान्त वदन के राम, प्रजा के प्रिय हैं अतिशय।
तृप्तिदायिनी शोक-हारिणी वार्ता समझी नृप ने निश्चय ॥ ४४ ॥
कल्याण प्रजा औ अपना लख, अनुराग प्रजा के प्रति रखकर।
आतुर, आज्ञा राज्याभिषेक की दी सचिवों को तदनन्तर ॥ ४५ ॥
विविध नगर-वासी सत्पुरुषों, बहु जनपद के राजाओं को।
सहित मन्त्रियों के बुलवाया निज नगरी में योद्धाओं को ॥ ४६ ॥
वास-गेह दे उन सबको फिर भूषण द्वारा किया अलंकृत।
मिले विभूषित, नृप उन सबसे, यथा प्रजा से मिले प्रजापति ॥ ४७ ॥
केकय और जनक को नृप ने नहीं शीघ्रता-वश बुलवाया।
समाचार सुन लेंगे फिर वे, उर में यही विचार समाया ॥ ४८ ॥
रिपु-पुर-मर्दन नृप दशरथ फिर बैठे निज आसन पर आकर।
अन्य लोक प्रिय नृप भी प्रविशित हुए सभा में अवसर पाकर ॥ ४९ ॥
नृपति-दत्त निज-निज सिंहासन पर भूपति सब हुए विराजित।
थे दशरथ की ओर, सभी के मुखमण्डल अतिशय विनयान्वित ॥ ५० ॥
दशरथ से सम्मानित होकर बैठे सविनय नृपवर
और सभी सामन्त, नागरिक भी बैठे उस स्थल पर।
होते सुर-समूह में जैसे सुरपति अति सुषमाकर
वैसी ही सुषमा पाते थे दशरथ सबसे घिरकर ॥ ५१ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में पहला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

दूसरा सर्ग

राजा दशरथ द्वारा श्रीराम के राज्याभिषेक का प्रस्ताव तथा सभासदों द्वारा श्रीराम के गुणों का वर्णन करते हुए उक्त प्रस्ताव का सहर्ष युक्तियुक्त समर्थन

उस अवसर पर सब भूपों को सम्बोधित कर राजसभा में।
बोले नृपति वचन वारिद-सम अति गम्भीरा विधा शुभा में ॥
दुन्दुभि-ध्वनि-सम गुंजित होती थी उच्चस्वर में वह वाणी।
सबकी वह आनन्दवर्धिनी थी सबके हित में कल्याणी ॥ १-२ ॥

राजलक्षणयुक्तेन कान्तेनानुपमेन च ।
उवाच रसयुक्तेन स्वरेण नृपतिर्नृपान् ॥ ३ ॥
विदितं भवतामेतद् यथा मे राज्यमुत्तमम् ।
पूर्वकैर्मम राजेन्द्रैः सुतवत् परिपालितम् ॥ ४ ॥
सोऽहमिक्ष्वाकुभिः सर्वैर्नरेन्द्रैः प्रतिपालितम् ।
श्रेयसा योक्तुमिच्छामि सुखार्हमखिलं जगत् ॥ ५ ॥
मयाप्याचरितं पूर्वैः पन्थानमनुगच्छता ।
प्रजा नित्यमनिद्रेण यथाशक्त्यभिरक्षिताः ॥ ६ ॥
इदं शरीरं कृत्स्नस्य लोकस्य चरता हितम् ।
पाण्डुरस्यातपत्रस्य च्छायायां जरितं मया ॥ ७ ॥
प्राप्य वर्षसहस्राणि बहून्यायूंषि जीवतः ।
जीर्णस्यास्य शरीरस्य विश्रान्तिमभिरोचये ॥ ८ ॥
राजप्रभावजुष्टां च दुर्वहामजितेन्द्रियैः ।
परिश्रान्तोऽस्मि लोकस्य गुर्वीं धर्मधुरं वहन् ॥ ९ ॥
सोऽहं विश्राममिच्छामि पुत्रं कृत्वा प्रजाहिते ।
संनिकृष्टानिमान् सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान् ॥ १० ॥
अनुजातो हि मां सर्वैर्गुणैः श्रेष्ठो ममात्मजः ।
पुरन्दरसमो वीर्ये रामः परपुरंजयः ॥ ११ ॥
तं चन्द्रमिव पुष्येण युक्तं धर्मभृतां वरम् ।
यौवराज्ये नियोक्तास्मि प्रातः पुरुषपुङ्गवम् ॥ १२ ॥
अनुरूपः स वो नाथो लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणाग्रजः ।
त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाथवत्तरम् ॥ १३ ॥
अनेन श्रेयसा सद्यः संयोक्ष्येऽहमिमां महीम् ।
गतक्लेशो भविष्यामि सुते तस्मिन् निवेश्य वै ॥ १४ ॥
यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम् ।
भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् ॥ १५ ॥
यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद् विचिन्त्यताम् ।
अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया ॥ १६ ॥
इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन् नृपा नृपम् ।
वृष्टिमन्तं महामेघं नर्दन्त इव बर्हिणः ॥ १७ ॥
स्निग्धोऽनुनादः संजज्ञे ततो हर्षसमीरितः ।
जनौघोद्घुष्टसंनादो मेदिनीं कम्पयन्निव ॥ १८ ॥

स्निग्ध और गम्भीर नृपोचित अनुपम अति कमनीय सुहाता।
था रसमय, अद्भुत, सम्बोधन, सकल नरेशों को सुखदाता ॥ ३ ॥
थे पूर्वज राजेन्द्र हमारे कैसे? आप सभी हैं ज्ञाता!।
कैसे थे अपने सुत के सम प्रजाजनों के सुक्ख-प्रदाता ॥ ४ ॥
जो सुख देने को इक्ष्वाकुज[1] भूपतियों ने नियम निभाया।
उसी श्रेय का हेतु बनूँ जग-हित में भी, यह मन में आया ॥ ५ ॥
जिस पथ से पूर्वज आये हैं उसका ही अनुसरण किया है।
यथाशक्ति रहकर सचेत, कल्याण-प्रजा पर ध्यान दिया है ॥ ६ ॥
सकल भुवन के हित-साधन का आजीवन संकल्प लिया है।
शुभ्रराज-छत्रच्छाया में इस शरीर को वृद्ध किया है ॥ ७ ॥
बहु सहस्र वर्षायुष[2] पाकर, मैंने है कर्तव्य निभाया।
जरा-जीर्ण[3] अब इस काया को दूँ विश्राम, समझ में आया ॥ ८ ॥
धर्मपूर्वक जन-संरक्षण सम्भव सदा शौर्य के द्वारा।
दीर्घकाल के भार-वहन-वश पौरुष है अब थका हमारा ॥ ९ ॥
अतः पास बैठे विप्रों से, प्रजा-जनों-हित, अनुमति लेकर।
चाह रहा विश्राम, राम को भूतल की राज्यश्री देकर ॥ १० ॥
शत्रु-नगर-जित, राम अपेक्षा में मेरे हैं गुण में उत्तम।
इन्द्र-सदृश बल, विक्रम में हैं सभी भाँति से वे अति सक्षम ॥ ११ ॥
पुष्यभ-युत[4] शशि-सदृश पुरुषमणि सकल कार्य-साधन हितकारी।
होंगे प्रातः राम, पुष्य में प्रिय युवराज राज्य-अधिकारी ॥ १२ ॥
योग्य सिद्ध होंगे नृप, श्रीमत् लक्ष्मण-अग्रज राम सर्वथा।
उनको स्वामी पा, त्रिलोक भी होगा परम सनाथ अब तथा ॥ १३ ॥
इनका कर अभिषेक करूँगा मैं भूतल को मंगल-भागी।
उन्हें राज्य दे, होने को निश्चिन्त, भावना मुझमें जागी ॥ १४ ॥
यह प्रस्ताव उचित समझें! तो अनुमति दें युवराज बनाएँ।
अथवा अन्य कार्य मैं कोई समुचित करूँ, यही बतलाएँ ॥ १५ ॥
उनमें प्रीति मुझे है, फिर भी आप अन्य यदि युक्ति विचारें!।
तो जैसे अभ्युदय अधिक हो, वह कह! मध्यस्थता सँवारें!॥ १६ ॥
यह कहने के समय नृपों ने किया वचन-अभिनन्दन वैसे।
केका-रव[5] से मयूर करते, जलद घनों का स्वागत जैसे ॥ १७ ॥
तब जन-मण्डल-स्नेह-हर्ष-ध्वनि उस अवसर पर पड़ी सुनाई।
वह थी इतनी प्रबल कि जिससे धरा काँपती-सी दिखलाई ॥ १८ ॥

---

१ इक्ष्वाकु-वंशीय; २ सहस्रों वर्षों की आयु; ३ बुढ़ापे में कमजोर; ४ पुष्य नक्षत्र से युक्त; ५ मयूर की आवाज।

तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः ।
ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौरजानपदैः सह ॥ १९ ॥
समेत्य ते मन्त्रयितुं समतागतबुद्धयः ।
ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ २० ॥
अनेकवर्षसाहस्रो वृद्धस्त्वमसि पार्थिव ।
स रामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिवम् ॥ २१ ॥
इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम् ।
गजेन महता यान्तं रामं छत्रावृताननम् ॥ २२ ॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा राजा तेषां मनःप्रियम् ।
अजानन्निव जिज्ञासुरिदं वचनमब्रवीत् ॥ २३ ॥
श्रुत्वैतद् वचनं यन्मे राघवं पतिमिच्छथ ।
राजानः संशयोऽयं मे तदिदं ब्रूत तत्त्वतः ॥ २४ ॥
कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति ।
भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं महाबलम् ॥ २५ ॥
ते तमूचुर्महात्मानः पौरजानपदैः सह ।
बहवो नृप कल्याणगुणाः सन्ति सुतस्य ते ॥ २६ ॥
गुणान् गुणवतो देव देवकल्पस्य धीमतः ।
प्रियानानन्दनान् कृत्स्नान् प्रवक्ष्यामोऽद्य ताञ्शृणु ॥ २७ ॥
दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो रामः सत्यपराक्रमः ।
इक्ष्वाकुभ्योऽपि सर्वेभ्यो ह्यतिरिक्तो विशाम्पते ॥ २८ ॥
रामः सत्पुरुषो लोके सत्यः सत्यपरायणः ।
साक्षाद् रामाद् विनिर्वृत्तो धर्मश्चापि श्रिया सह ॥ २९ ॥
प्रजासुखत्वे चन्द्रस्य वसुधायाः क्षमागुणैः ।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये साक्षाच्छचीपतेः ॥ ३० ॥
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च शीलवाननसूयकः ।
क्षान्तः सान्त्वयिता श्लक्ष्णः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः ॥ ३१ ॥
मृदुश्च स्थिरचित्तश्च सदा भव्योऽनसूयकः ।
प्रियवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः ॥ ३२ ॥
बहुश्रुतानां वृद्धानां ब्राह्मणानामुपासिता ।
तेनास्येहातुला कीर्तिर्यशस्तेजश्च वर्धते ॥ ३३ ॥
देवासुरमनुष्याणां सर्वास्त्रेषु विशारदः ।
सम्यग् विद्याव्रतस्नातो यथावत् साङ्गवेदवित् ॥ ३४ ॥

धर्म-अर्थविद् उन दशरथ का समझे अभिप्राय जब सारा।
तब एकत्र विप्र, सेनापति, प्रमुख जनों ने बहुत विचारा॥
परामर्श के बाद वे सभी आये जब निश्चय पर अपने।
तब दशरथ सद्वृद्ध नृपति से मिलकर कहा इस तरह सबने॥१९-२०॥
वर्ष सहस्रों बाद, थक गयीं, वृद्ध नाथ! भवदीय भुजाएँ।
अतः राम सुत का अवश्य ही युवराजाभिषेक करवाएँ!॥ २१ ॥
रघुकुल-वीर बली सुबाहु वे गज पर बैठ, करें अब यात्रा।
श्वेतछत्र-युत उन्हें देखकर बहुत बढ़ेगी सुख की मात्रा॥ २२ ॥
प्रिय लगनेवाली वार्ता थी, उन सबकी दशरथ को वैसे।
फिर भी अन्तस् भाव-बोध हित, अज्ञ सदृश बोले वे ऐसे॥ २३ ॥
सुनकर मेरी बात, आपने जो अपनी इच्छा बतलाई।
उत्तर दें! उसमें मुझको कुछ देता है संशय दिखलाई॥ २४ ॥
हो रहा धरा का पालन जब सविधि धर्मयुत मेरे द्वारा।
बलवत्तर[1] रामाभिषेक का तब कैसे निर्णय यह न्यारा?॥ २५ ॥
तभी महात्मा नृप, जनपद के लोगों ने उनको बतलाया।
नृप! हमने श्री रामचन्द्र को श्रेयस्कर[2] गुण-युत है पाया॥ २६ ॥
देव-सदृश सद्बुद्धि सु-प्रिय गुण, रामचन्द्र में जो हम पाते।
वे आनन्दप्रद हैं सबके, सुनें नाथ! किंचित् बतलाते॥ २७ ॥
प्रजा-नाथ हैं राम, इन्द्र-सम, सत्यविक्रमी बहुगुण-धारी।
उनमें है इक्ष्वाकु-वंश से भी बढ़कर क्षमता अति न्यारी॥ २८ ॥
सत्यवादि, सत्पुरुष और हैं सत्यपरायण राम अति महत्।
और प्रतिष्ठित हुए भुवन में उनसे धर्म-अर्थ ये तद्वत्॥ २९ ॥
सुख देने में चन्द्र, क्षमा में पृथ्वी की करते हैं समता।
धी में सदृश-बृहस्पति, बल में सुरपति-सम उनमें है क्षमता॥ ३० ॥
हैं अदोषदर्शी[3], सत्यव्रत, शीलवान श्रीराम हमारे।
शान्त और धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय, दीन-सांत्वनाप्रद अदि न्यारे॥
उद्वेग[4], असूया[5]-रहित, मृदुल, सबके प्रति कल्याण-भाव है।
और सत्यवादी, सबसे प्रिय भाषण का उनमें स्वभाव है॥ ३१-३२॥
बहुश्रुत[6], विज्ञ, वृद्ध, विप्रों के भक्त, संग उनका रुचिकर है।
इसीलिए सर्वत्र जगत् में तेज, कीर्ति, यश अति विस्तर है॥ ३३ ॥
देव, असुर, मानव-अस्त्रों के हैं विशेषतः वे विज्ञानी।
सांगवेद-विद्वान्, सकल विद्याओं मे पारंगत ज्ञानी॥ ३४ ॥

---

१ महाबलशाली; २ कल्याणकारी; ३ दूसरों में दोष न देखनेवाले; ४ घबड़ाहट, क्षोभ; ५ ईर्ष्या; ६ अनेक शास्त्रों का विद्वान।

गान्धर्वे च भुवि श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः।
कल्याणाभिजनः साधुरदीनात्मा महामतिः ॥ ३५ ॥
द्विजैरभिविनीतश्च श्रेष्ठैर्धर्मार्थनैपुणैः।
यदा व्रजति संग्रामं ग्रामार्थे नगरस्य वा ॥ ३६ ॥
गत्वा सौमित्रिसहितो नाविजित्य निवर्तते।
संग्रामात् पुनरागत्य कुञ्जरेण रथेन वा ॥ ३७ ॥
पौरान् स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति।
पुत्रेष्वग्निषु दारेषु प्रेष्यशिष्यगणेषु च ॥ ३८ ॥
निखिलेनानुपूर्व्या च पिता पुत्रानिवौरसान्।
शुश्रूषन्ते च वः शिष्याः कच्चिद् वर्मसु दंशिताः ॥ ३९ ॥
इति वः पुरुषव्याघ्रः सदा रामोऽभिभाषते।
व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः ॥ ४० ॥
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति।
सत्यवादी महेष्वासो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ॥ ४१ ॥
स्मितपूर्वाभिभाषी च धर्मं सर्वात्मनाश्रितः।
सम्यग्योक्ता श्रेयसां च न विगृह्यकथारुचिः ॥ ४२ ॥
उत्तरोत्तरयुक्तौ च वक्ता वाचस्पतिर्यथा।
सुभ्रूरायतताम्राक्षः साक्षाद् विष्णुरिव स्वयम् ॥ ४३ ॥
रामो लोकाभिरामोऽयं शौर्यवीर्यपराक्रमैः।
प्रजापालनसंयुक्तो न रागोपहतेन्द्रियः ॥ ४४ ॥
शक्तस्त्रैलोक्यमप्येष भोक्तुं किं नु महीमिमाम्।
नास्य क्रोधः प्रसादश्च निरर्थोऽस्ति कदाचन ॥ ४५ ॥
हन्त्येष नियमाद् वध्यानवध्येषु न कुप्यति।
युनक्त्यर्थैः प्रहृष्टश्च तमसौ यत्र तुष्यति ॥ ४६ ॥
दान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैर्नृणाम्।
गुणैर्विरोचते रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ॥ ४७ ॥
तमेवंगुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम्।
लोकपालोपमं नाथमकामयत मेदिनी ॥ ४८ ॥
वत्सः श्रेयसि जातस्ते दिष्टयासौ तव राघवः।
दिष्टया पुत्रगुणैर्युक्तो मारीच इव कश्यपः ॥ ४९ ॥
बलमारोग्यमायुश्च रामस्य विदितात्मनः।
देवासुरमनुष्येषु सगन्धर्वोरगेषु च ॥ ५० ॥

गान्धर्व वेद के इस भू पर भरताग्रज हैं अनुपम ज्ञाता।
साधु, महामति, अति उदार है मगल-भूमि, अदीन, सु-त्राता ।। ३५ ।।
हैं धर्मार्थ-विवेचन-विद् वे उच्च द्विजों से शिक्षा पाते।
ग्राम, नगर-रक्षा-हित, लक्ष्मण के सँग में रण को जब जाते ।।
तब न लौटते बिना विजय के, लेकर हस्ति-अश्व-बल सारा।
विजयी होकर पुनः अयोध्या में आते जब रथ के द्वारा ।।
मंगल वृत्त[1] पूछते, अपने पौर जनों से स्वजनों-जैसे।
कहिए! पुत्र, नारियाँ, सेवक, शिष्य, मखानल[2] है सब कैसे? ।।३६-३८।।
यथा पिता औरस[3] पुत्रों से कुशल-प्रश्न करता है स्नेहित।
विप्रों से पूछते, शिष्यगण सेवारत तो हैं श्रीमन्-हित? ।।
प्रश्न क्षत्रियों से करते, सैनिक तो तत्पर सदा कवच-धर? ।
पुरजन पर संकट आने से, होते दुखी स्वय अति रघुवर ।।
उन सबके निजी उत्सवों पर, पिता-सदृश वे होते प्रमुदित।
वृद्ध-पुरुष-सेवक, धनुधारी, वे हैं सत्यव्रती, इन्द्रियजित ।।३९-४१।।
मंगल-योजक, स्मितभाषी[4] वे सदा धर्म का आश्रय लेते।
निन्दित बातों में सदा अरुचि, सद्‌विचार में ही मन देते ।। ४२ ।।
पूर्ण कुशल हैं; युक्ति-तर्क में वे साक्षात् बृहस्पति जैसे।
अरुणिम नयन, विशाल भौंह, शोभित हैं, यथा विष्णु हों, वैसे ।। ४३ ।।
शूर, वीर, विक्रमी, सुखप्रद को है पालन-प्रजा सुहाता।
इन्द्रिय-राग आदि दोषों से दूषित हृदय नहीं हो पाता ।। ४४ ।।
इस पृथ्वी की वार्ता क्या? वे त्रिभुवन-रक्षा में समर्थ हैं।
उनके क्रोध, प्रसाद आदि भी, होते किंचित् नहीं व्यर्थ हैं ।। ४५ ।।
प्राणदण्ड्य[5] का वध करते वे, क्रोध न करते हैं अवध्य[6] पर।
जिस पर हैं सन्तुष्ट, हर्ष से धन द्वारा भरते उसका घर ।। ४६ ।।
संयम आदि गुणों से वे हैं प्रजा-कान्त, जन-मोद-प्रदाता।
किरणों से तेजस्वित रवि-सम, तन उनका है शोभा पाता ।। ४७ ।।
लोकपाल जैसे सु-प्रभावी, सत्य-व्रती, विक्रम-गुण-आगर।
अतः, निवासी भूतल के चाहते बनाना उनको प्रभुवर ।। ४८ ।।
हैं सबका सौभाग्य, प्रजा की मगल-स्थिति में वे हैं आये।
हैं मरीचि-नन्दन कश्यप-सम सुत के आप पिता कहलाये ।। ४९ ।।
देव, असुर, गन्धर्व, नाग, नर का समूह उनका गुण-ज्ञाता।
तथा राजधानी, जनपद के बाहर-भीतर जो भी आता ।।

---

१ कुशल-समाचार; २ यज्ञाग्नि; ३ विवाहिता पत्नी से उत्पन्न; ४ प्रसन्न मुद्रा में बोलनेवाले; ५ प्राणदण्ड पाने-योग्य; ६ निरपराध ।

आशंसते जनः सर्वो राष्ट्रे पुरवरे तथा ।
आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः ॥ ५१ ॥
स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः ।
सर्वा देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे मनस्विनः ।
तेषां तद् याचितं देव त्वत्प्रसादात्समृद्धचताम् ॥ ५२ ॥
राममिन्दीवरश्यामं सर्वशत्रुनिबर्हणम् ।
पश्यामो यौवराज्यस्थं तव राजोत्तमात्मजम् ॥ ५३ ॥
तं देवदेवोपममात्मजं ते
सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम् ।
हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं
मुदाभिषेक्तुं वरद त्वमर्हसि ॥ ५४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

राजा दशरथ का वसिष्ठ और वामदेव जी को श्रीराम के राज्याभिषेक की तैयारी करने के लिए कहना और उनका सेवकों को तदनुरूप आदेश देना; राजा की आज्ञा से सुमन्त्र का श्रीराम को राज-सभा मे बुला लाना और राजा का अपने पुत्र श्रीराम को हितकर राजनीति की बातें बताना

तेषामञ्जलिपद्मानि प्रगृहीतानि सर्वशः ।
प्रतिगृह्याब्रवीद् राजा तेभ्यः प्रियहितं वचः ॥ १ ॥
अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम ।
यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छथ ॥ २ ॥
इति प्रत्यर्चितान् राजा ब्राह्मणानिदमब्रवीत् ।
वसिष्ठं वामदेवं च तेषामेवोपशृण्वताम् ॥ ३ ॥
चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्पितकाननः ।
यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम् ॥ ४ ॥
राज्ञस्तूपरते वाक्ये जनघोषो महानभूत् ।
शनैस्तस्मिन् प्रशान्ते च जनघोषे जनाधिपः ॥ ५ ॥
वसिष्ठं मुनिशार्दूलं राजा वचनमब्रवीत् ।
अभिषेकाय रामस्य यत् कर्म सपरिच्छदम् ॥ ६ ॥
तदद्य भगवन् सर्वमाज्ञापयितुमर्हसि ।
तच्छ्रुत्वा भूमिपालस्य वसिष्ठो मुनिसत्तमः ॥ ७ ॥

शील-स्वभावी रामचन्द्र के लिए यही वे सदा मनाते।
बल, आरोग्य, आयु, शुभ, मंगल नित्य बढ़ें, रघुपति-गुण गाते ॥५०-५१॥
प्रातः, सायं, वृद्धा, युवती स्त्रियाँ, सभी होकर ध्यानस्था।
नमस्कार करतीं देवों को, 'हो राघव-युवराज-व्यवस्था' ॥
उन सबकी प्रार्थना यही, श्रीमन् का भी प्रसाद मिल जाये।
(हों युवराज राम, हम सबका काम-कल्पतरु अब लहराये) ॥ ५२ ॥
नीलकमल-सम श्याम कान्ति से शोभित रिपुनाशक सुत न्यारे।
हों युवराज राम अब सत्वर[1], यह मन के हैं भाव हमारे ॥ ५३ ॥
हैं देवाधिदेव हरि जैसी जिनमें सभी कलाएँ
बली, विक्रमी जो हैं, जिनमें हैं जग-हित-इच्छाएँ।
महापुरुष-सेवित अपने सुत रामचन्द्र को सत्वर
वरदायक! राज्याभिषेक कर, नृपवर शीघ्र बनाएँ ॥ ५४ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

तीसरा सर्ग

राजा दशरथ का वसिष्ठ और वामदेव जी को श्रीराम के राज्याभिषेक की तैयारी करने लिए कहना और उनका सेवकों को तदनुरूप आदेश देना, राजा की आज्ञा से सुमन्त्र का श्रीराम को राज-सभा में बुला लाना और राजा का अपने पुत्र श्रीराम को हितकर राजनीति की बातें बताना

संसद[2] ने तब किया समर्थन अपनी कर-कमलाञ्जलि[3] द्वारा।
हितकर वचन नृपति तब बोले और समर्थन को स्वीकारा ॥ १ ॥
स्वीकृत किया आप सबने जब, हो युवराज ज्येष्ठ सुत प्यारा।
मैं प्रसन्न हूँ, अब प्रभाव है मेरा द्विगुणित इसके द्वारा ॥ २ ॥
सांसद[4] पुर-जन को सत्कृत कर, उनके सम्मुख ही अवसर पर।
बोले वामदेव विप्रादिक श्री वसिष्ठ से दशरथ नृपवर ॥ ३ ॥
यह है सुन्दर चैत्र सुपावन विकसित है वन-वृक्ष, लताएँ।
अतः राम-राज्याभिषेक की सामग्री एकत्र कराएँ ॥ ४ ॥
दशरथ वार्ता पूर्ण हुई जब, तब हर्षध्वनि चौदिग् छायी।
धीरे-धीरे जब उन नृप ने जन-रव-शान्ति-अवस्था पायी ॥
बोले नृपवर श्री वसिष्ठ से प्रजापाल वे भूपति ऐसे।
भगवन्! श्रीरामाभिषेक के सांगोपांग कार्य हों कैसे? ॥
आप आज ही आज्ञा दें! तो सेवक सभी करें तैयारी।
मुनिसत्तम ने भूमिपाल की यह वार्ता सुनकर सुखकारी ॥

---

१ शीघ्र; २ राजसभा; ३ कमल रूपी अञ्जलि; ४ संसद-सदस्य।

आदिदेशाग्रतो राज्ञः स्थितान् युक्तान् कृताञ्जलीन् ।
सुवर्णादीनि रत्नानि बलीन् सर्वौषधीरपि ॥ ८ ॥
शुक्लमाल्यानि लाजांश्च पृथक्च मधुसर्पिषी ।
अहतानि च वासांसि रथं सर्वायुधान्यपि ॥ ९ ॥
चतुरङ्गबलं चैव गजं च शुभलक्षणम् ।
चामरव्यजने चोभे ध्वजं छत्रं च पाण्डुरम् ॥ १० ॥
शतं च शातकुम्भानां कुम्भानामग्निवर्चसाम् ।
हिरण्यशृङ्गमृषभं समग्रं व्याघ्रचर्म च ॥ ११ ॥
यच्चान्यत् किंचिदेष्टव्यं तत् सर्वमुपकल्प्यताम् ।
उपस्थापयत प्रातरग्न्यगारे महीपतेः ॥ १२ ॥
अन्तःपुरस्य द्वाराणि सर्वस्य नगरस्य च ।
चन्दनस्रग्भिरर्च्यन्तां धूपैश्च घ्राणहारिभिः ॥ १३ ॥
प्रशस्तमन्नं गुणवद् दधिक्षीरोपसेचनम् ।
द्विजानां शतसाहस्रं यत्प्रकाममलं भवेत् ॥ १४ ॥
सत्कृत्य द्विजमुख्यानां श्वः प्रभाते प्रदीयताम् ।
घृतं दधि च लाजाश्च दक्षिणाश्चापि पुष्कलाः ॥ १५ ॥
सूर्येऽभ्युदितमात्रे श्वो भविता स्वस्तिवाचनम् ।
ब्राह्मणाश्च निमन्त्र्यन्तां कल्प्यन्तामासनानि च ॥ १६ ॥
आबध्यन्तां पताकाश्च राजमार्गश्च सिच्यताम् ।
सर्वे च तालापचरा गणिकाश्च स्वलंकृताः ॥ १७ ॥
कक्ष्यां द्वितीयामासाद्य तिष्ठन्तु नृपवेश्मनः ।
देवायतनचैत्येषु सान्नभक्ष्याः सदक्षिणाः ॥ १८ ॥
उपस्थापयितव्याः स्युर्माल्ययोग्याः पृथक्पृथक् ।
दीर्घासिबद्धगोधाश्च संनद्धा मृष्टवाससः ॥ १९ ॥
महाराजाङ्गनं शूराः प्रविशन्तु महोदयम् ।
एवं व्यादिश्य विप्रौ तु क्रियास्तत्र विनिष्ठितौ ॥ २० ॥
चक्रतुश्चैव यच्छेषं पार्थिवाय निवेद्य च ।
कृतमित्येव चाब्रूतामभिगम्य जगत्पतिम् ॥ २१ ॥
यथोक्तवचनं प्रीतौ हर्षयुक्तौ द्विजोत्तमौ ।
ततः सुमन्त्रं द्युतिमान् राजा वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥
रामः कृतात्मा भवता शीघ्रमानीयतामिति ।
स तथेति प्रतिज्ञाय सुमन्त्रो राजशासनात् ॥ २३ ॥

आज्ञा दी, करबद्ध सेवकों को जो वहाँ उपस्थित थ सब।
तुम सब ! स्वर्ण रत्न-देवार्चन की सब वस्तु यहाँ लाओ अब ॥
सर्वौषधि, सित[1] पुष्प माल्य, घृत, खील, शहद पात्रों में लाओ !।
अस्त्र, शस्त्र, रथ, वसन सुनूतन आदि व्यवस्था शीघ्र कराओ ॥
चतुरंगिणि सेना-सँग लाओ ! चामर-व्यजन-हस्ति शुभ लक्षण।
और ध्वजा के साथ दिव्यतम श्वेत छत्र सर्वथा विलक्षण ॥
अग्नि-सदृश सन्दीप्त स्वर्ण के शत शुभ कलश शीघ्र ही लाओ !।
व्याघ्र-चर्म भी, एक साँड़ की सींगें सोने से मढ़वाओ ! ॥
इसी भाँति वाञ्छिता वस्तुएँ आतीं विधिवत क्रम-माला में।
उनको करो उपस्थित प्रातः महाराज की मख-शाला में ॥५-१२॥
चन्दन, माला से अन्तःपुर तथा नगर के द्वार सजाओ।
मन आकर्षित करे सभी का, ऐसी धूप सुखद सुलगाओ ॥ १३ ॥
दूध, दही, घृत-संयुत उत्तम गुणकारी पक्वान्न बनाओ।
सामग्रियाँ लक्ष विप्रों के भोजन-हित तैयार कराओ ॥ १४ ॥
कल प्रातः विप्रों को सत्कृत करो ! उन्हें दो अन्न वहीं अब।
घृत, दधि, खील, दक्षिणा समुचित, जिससे हों संतुष्ट विप्र सब ॥ १५ ॥
होगा स्वस्ति-पाठ कल प्रातः अतः द्विजों को करो निमन्त्रित।
उनके लिए सुखद आसन भी यथाशीघ्र कर लो एकत्रित ॥ १६ ॥
नगर, पताका-सज्जित करके राजमार्ग पर जल छिड़काओ !।
तथा निपुण-संगीत कलाविद्, सुन्दर गणिकाएँ बुलवाओ ॥
राजमहल के कक्ष दूसरे मे जाकर वे रहें उपस्थित।
देवालय सँग चैत्य पादपों, चौराहों के देव समर्चित ॥
जो हैं उनको भोज्य, दक्षिणा पृथक्-पृथक् की जाए प्रस्तुत।
लंबी खड्ग और गोधा के दस्तानों से वीर सु-संयुत ॥
स्वच्छ वस्त्रधर, महाराज के गरिमामय प्रांगण में आएँ।
दोनों विप्रों ने आज्ञा दे, सम्पादित की सभी क्रियाएँ ॥
राजा-कथित, तथेच्छित[2] कार्यों को विधि से सम्पन्न किया जब।
जाकर बोले अति प्रसन्न हो वे द्विज दोनों दशरथ से तब ॥
राजन् ! जैसे कहे आपने वैसे कार्य किये हम सबने।
तब सुमन्त्र से कहा इस तरह भूपति तेजस्वी दशरथ ने ॥१७-२२॥
पावन-हृदय राम को लाओ ! सखे ! यहाँ पर अब तुम सत्वर।
आज्ञापित[3] होकर सुमन्त्र वे, गये यथाज्ञा[4] ऐसा कहकर ॥ २३ ॥

१ सफेद; २ अवसर पर आवश्यक; ३ आज्ञा प्राप्त होने पर; ४ जैसी आज्ञा।

रामं तत्रानयांचक्रे रथेन रथिनां वरम् ।
अथ तत्र सहासीनास्तदा दशरथं नृपम् ॥ २४ ॥
प्राच्योदीच्या प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भूमिपाः ।
म्लेच्छाश्चार्याश्च ये चान्ये वनशैलान्तवासिनः ॥ २५ ॥
उपासांचक्रिरे सर्वे तं देवा वासवं यथा ।
तेषां मध्ये स राजर्षिर्मरुतामिव वासवः ॥ २६ ॥
प्रासादस्थो दशरथो ददर्शायान्तमात्मजम् ।
गन्धर्वराजप्रतिमं लोके विख्यातपौरुषम् ॥ २७ ॥
दीर्घबाहुं महासत्त्वं मत्तमातङ्गगामिनम् ।
चन्द्रकान्ताननं राममतीव प्रियदर्शनम् ॥ २८ ॥
रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम् ।
घर्माभितप्ताः पर्जन्यं ह्लादयन्तमिव प्रजाः ॥ २९ ॥
न ततर्प समायान्तं पश्यमानो नराधिपः ।
अवतार्य सुमन्त्रस्तु राघवं स्यन्दनोत्तमात् ॥ ३० ॥
पितुः समीपं गच्छन्तं प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात् ।
स तं कैलासशृङ्गाभं प्रासादं रघुनन्दनः ॥ ३१ ॥
आरुरोह नृपं द्रष्टुं सहसा तेन राघवः ।
स प्राञ्जलिरभिप्रेत्य प्रणतः पितुरन्तिके ॥ ३२ ॥
नाम स्वं श्रावयन् रामो ववन्दे चरणौ पितुः ।
तं दृष्ट्वा प्रणतं पार्श्वे कृताञ्जलिपुटं नृपः ॥ ३३ ॥
गृह्याञ्जलौ समाकृष्य सस्वजे प्रियमात्मजम् ।
तस्मै चाभ्युद्यतं सम्यङ्मणिकाञ्चनभूषितम् ॥ ३४ ॥
दिदेश राजा रुचिरं रामाय परमासनम् ।
तथाऽऽसनवरं प्राप्य व्यदीपयत राघवः ॥ ३५ ॥
स्वयैव प्रभया मेरुमुदये विमलो रविः ।
तेन विभ्राजिता तत्र सा सभापि व्यरोचत ॥ ३६ ॥
विमलग्रहनक्षत्रा शारदी द्यौरिवेन्दुना ।
तं पश्यमानो नृपतिस्तुतोष प्रियमात्मजम् ॥ ३७ ॥
अलंकृतमिवात्मानमादर्शतलसंस्थितम् ।
स तं सुस्थितमाभाष्य पुत्रं पुत्रवतां वरः ॥ ३८ ॥
उवाचेदं वचो राजा देवेन्द्रमिव कश्यपः ।
ज्येष्ठायामसि मे पत्न्यां सदृश्यां सदृशः सुतः ॥ ३९ ॥

आज्ञा के अनुकूल राम को लाये रथ पर वहाँ बिठाकर।
राज-सभा में वहाँ सभी थे, दशरथ-उपासना में तत्पर ॥
पूर्वोत्तर, पश्चिम, दक्षिण के सभी भूप थे तथा आर्य जन।
म्लेच्छ और वन, पर्वत-वासी वहाँ मनुज थे सभी मुदितमन ॥२४-२५॥
करते थे वे नृपोपासना जैसे श्री महेन्द्र की सुरगण।
तथा मरुद्गण-मध्य स्वयं राजर्षि सुशोभित दशरथ उस क्षण ॥ २६ ॥
महल-अटारी से देखा भूपति ने वहाँ राम को आते।
जो पौरुष-विख्यात, तेज में गन्धर्वों के सदृश सुहाते ॥ २७ ॥
दीर्घबाहु वे महाबली थे उनकी गति थी मत्त हस्ति-सम।
चन्द्र-सदृश उनका श्रीमुख था, सबको प्रियदर्शन वे निरुपम ॥ २८ ॥
रूप और औदार्य गुणों से दृष्टि तथा मन हर लेते थे।
धूप-तप्त-सम प्राणिमात्र को मेघ-सदृश वे सुख देते थे ॥ २९ ॥
तृप्ति न होती थी दशरथ को उन्हें देखते हुए पूर्ण तब।
उत्तम रथ से उन्हें उतारा, चले पिता के पास राम जब ॥
वे सुमन्त्र भी हाथ जोड़कर पीछे चले सुखद अवसर पर।
राजमहल कैलास-शिखर-सम उज्ज्वल उन्नत था अति रुचिकर ॥
उन सुमन्त्र के साथ राम फिर चढ़कर गये नृपति-दर्शन-हित।
अपने दोनों हाथ जोड़कर गये पिता के पास सु-विनमित ॥३०-३२॥
किया प्रणाम पिता-चरणों को अपना उत्तम नाम बताकर।
करते हुए प्रणाम, राम को नृप ने निज समीप में पाकर ॥
उनके दोनों हाथ पकड़कर नृप ने सुत को हृदय लगाया।
मणि, काञ्चन-भूषित सिंहासन, जो था गया वहाँ पर लाया ॥
उस पर बिठलाया, अपने सुत रामचन्द्र को कर आज्ञापित[1]।
जैसे उदय समय का रवि हो मेरुशैल पर किरणोद्भासित[2] ॥३३-३५॥
उसी भाँति श्री रामचन्द्र ने किया निजासन को प्रकाशमय।
उनसे हुई प्रकाशित संसद शोभा पाती थी तब अतिशय ॥ ३६ ॥
भासित थे नक्षत्र ग्रहों से मण्डित रघुवर शरद-चन्द्र-सम।
तुष्ट हुए उन राम पुत्र को देख, बहुत ही भूपति सत्तम ॥ ३७ ॥
जैसे अपना रूप अलंकृत, दर्पण में हो देख तुष्ट नर।
वैसे ही संतुष्ट हुए लख सुवन राम को श्रेष्ठ नृपतिवर ॥ ३८ ॥
सिंहासन स्थित इन्द्र-सदृश सुत से कश्यप-सम बोले नृपवर।
ज्येष्ठा रानी कौसल्या से जन्म तुम्हारा हुआ पुत्रवर ! ॥ ३९ ॥

---

१ आज्ञा देकर; २ किरणों के द्वारा प्रकाशमान् ।

उत्पन्नस्त्वं गुणज्येष्ठो मम रामात्मजः प्रियः ।
त्वया यतः प्रजाश्चेमाः स्वगुणैरनुरञ्जिताः ॥ ४० ॥

तस्मात् त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि ।
कामतस्त्वं प्रकृत्यैव निर्णीतो गुणवानिति ॥ ४१ ॥

गुणवत्यपि तु स्नेहात् पुत्र वक्ष्यामि ते हितम् ।
भूयो विनयमास्थाय भव नित्यं जितेन्द्रियः ॥ ४२ ॥

कामक्रोधसमुत्थानि त्यजस्व व्यसनानि च ।
परोक्षया वर्तमानो वृत्त्या प्रत्यक्षया तथा ॥ ४३ ॥

अमात्यप्रभृतीः सर्वाः प्रजाश्चैवानुरञ्जय ।
कोष्ठागारायुधागारैः कृत्वा संनिचयान् बहून् ॥ ४४ ॥

इष्टानुरक्तप्रकृतिर्यः पालयति मेदिनीम् ।
तस्य नन्दन्ति मित्राणि लब्ध्वामृतमिवामराः ॥ ४५ ॥

तस्मात् पुत्र त्वमात्मानं नियम्यैवं समाचर ।
तच्छ्रुत्वा सुहृदस्तस्य रामस्य प्रियकारिणः ॥ ४६ ॥

त्वरिताः शीघ्रमागत्य कौसल्यायै न्यवेदयन् ।
सा हिरण्यं च गाश्चैव रत्नानि विविधानि च ॥ ४७ ॥

व्यादिदेश प्रियाख्येभ्यः कौसल्या प्रमदोत्तमा ।
अथाभिवाद्य राजानं रथमारुह्य राघवः ।
ययौ स्वं द्युतिमद् वेश्म जनौघैः प्रतिपूजितः ॥ ४८ ॥

ते चापि पौरा नृपतेर्वचस्त-
च्छ्रुत्वा तदा लाभमिवेष्टमाशु ।
नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा
देवान् समानर्चुरभिप्रहृष्टाः ॥ ४९ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

माता के अनुरूप हुए तुम, राम! गुणों में मुझसे बढ़कर।
तुमने किया गुणों से अपने मुदित प्रजा को सब अवसर पर॥
सुतवर! तुम युवराज-पद ग्रहण करो! पुष्य नक्षत्र शुभद में।
तुम स्वभाव से ही गुणशाली, निर्णय सकल प्रजा-संसद में॥
फिर भी तुमको स्नेह-भाव-वश, कुछ हित की बातें बतलाता।
विनयाश्रित हो, सदा जितेन्द्रिय रहना! यह तुमको समझाता॥४०-४२॥

कामज[1] क्रोधज[2] दुर्व्यसनों का त्याग करो प्रज्ञा[3] के द्वारा।
तुम अपरोक्ष-परोक्ष वृत्ति[4] से करो न्याय-व्रत-पालन सारा॥ ४३ ॥

अधिकारियों, सचिव, सेनापति, प्रजा जनों को रखना प्रमुदित।
शस्त्रागार और भण्डारण[5] रखना पूर्ण, अपरिमित, समुचित॥
प्रजा, सचिव, सेनापतियों को, जो नृप निज अनुकूल बनाता।
ऐसे पालक भूपति से है सुरवत् सुहृद अमृत है पाता॥४४-४५॥

पुत्र! आचरण का प्रतिपालन करो! चित्त को वश में रखकर।
तभी राम के शुभेच्छुकों ने यह वार्ता दशरथ की सुनकर॥
जाकर कौसल्या माता को समाचार यह सुखद सुनाया।
कौसल्या ने उन सबके हित गौएँ, रत्न, स्वर्ण दिलवाया॥

नारि-श्रेष्ठा कौसल्या ने दान दिये बहु, यह सब सुनकर।
तब फिर राम नृपति दशरथ को, कर प्रणाम बैठे निज रथ पर॥
तब अपने शोभाशाली शुभ दिव्य भवन में वे फिर आये।
(सम्मानित कर, प्रजा-जनों ने उनको अपने शीश झुकाये)॥४६-४८॥

नगरवासियों ने राजा की यह प्रिय वार्ता सुनकर
वाञ्छित वस्तु मिलेगी, समझे मन में मोद[6] अतुल भर।
आज्ञा लेकर अपने-अपने गृह को गये सभी वे
इष्टसिद्धि लख पूजे सबने अपने इष्टदेव वर॥ ४९ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

---

१ काम से उत्पन्न; २ क्रोध से उत्पन्न; ३ बुद्धि; ४ प्रत्यक्ष देख-सुनकर और गुप्तचरों द्वारा; ५ भण्डार-गृह में सामग्री एकत्र करना; ६ आनन्द।

चतुर्थः सर्गः

श्रीराम को राज्य देने का निश्चय करके राजा का सुमन्त्र द्वारा पुनः श्रीराम को बुलवाकर उन्हें आवश्यक बातें बताना, श्रीराम का कौसल्या के भवन में जाकर माता को यह समाचार बताना और माता से आशीर्वाद पाकर लक्ष्मण से प्रेमपूर्वक वार्तालाप करके अपने महल में जाना

गतेष्वथ नृपो भूयः पौरेषु सह मन्त्रिभिः।
मन्त्रयित्वा ततश्चक्रे निश्चयज्ञः स निश्चयम् ॥ १ ॥
श्व एव पुष्यो भविता श्वोऽभिषेच्यस्तु मे सुतः।
रामो राजीवपत्राक्षो युवराज इति प्रभुः ॥ २ ॥
अथान्तर्गृहमाविश्य राजा दशरथस्तदा।
सूतमामन्त्रयामास रामं पुनरिहानय ॥ ३ ॥
प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं सूतः पुनरुपाययौ।
रामस्य भवनं शीघ्रं राममानयितुं पुनः ॥ ४ ॥
द्वाःस्थैरावेदितं तस्य रामायागमनं पुनः।
श्रुत्वैव चापि रामस्तं प्राप्तं शङ्कान्वितोऽभवत् ॥ ५ ॥
प्रवेश्य चैनं त्वरितो रामो वचनमब्रवीत्।
यदागमनकृत्यं ते भूयस्तद्ब्रूह्यशेषतः ॥ ६ ॥
तमुवाच ततः सूतो राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति।
श्रुत्वा प्रमाणं तत्र त्वं गमनायेतराय वा ॥ ७ ॥
इति सूतवचः श्रुत्वा रामोऽपि त्वरयान्वितः।
प्रययौ राजभवनं पुनर्द्रष्टुं नरेश्वरम् ॥ ८ ॥
तं श्रुत्वा समनुप्राप्तं रामं दशरथो नृपः।
प्रवेशयामास गृहं विवक्षुः प्रियमुत्तमम् ॥ ९ ॥
प्रविशन्नेव च श्रीमान् राघवो भवनं पितुः।
ददर्श पितरं दूरात् प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥ १० ॥
प्रणमन्तं समुत्थाप्य सम्परिष्वज्य भूमिपः।
प्रदिश्य चासनं चास्मै रामं च पुनरब्रवीत् ॥ ११ ॥
राम वृद्धोऽस्मि दीर्घायुर्भुक्ता भोगा यथेप्सिताः।
अन्नवद्भिः क्रतुशतैर्यथेष्टं भूरिदक्षिणैः ॥ १२ ॥
जातमिष्टमपत्यं मे त्वमद्यानुपमं भुवि।
दत्तमिष्टमधीतं च मया पुरुषसत्तम ॥ १३ ॥
अनुभूतानि चेष्टानि मया वीर सुखान्यपि।
देवर्षिपितृविप्राणामनृणोऽस्मि तथाऽऽत्मनः ॥ १४ ॥

चौथा सर्ग

श्रीराम को राज्य देने का निश्चय करके राजा का सुमन्त्र द्वारा पुनः श्रीराम को बुलवाकर उन्हें आवश्यक बातें बताना, श्रीराम का कौसल्या के भवन में जाकर माता को यह समाचार बताना और माता से आशीर्वाद पाकर लक्ष्मण से प्रेमपूर्वक वार्तालाप करके अपने महल में जाना

नागरिकों के जाने पर, सचिवों से कर कुछ विचार-विनिमय[1]।
देश, काल-नियमज्ञ[2] नृपति ने की मन्त्रणा, लिया यह निर्णय॥ १ ॥
निश्चय किया, पुष्य है कल, तब कमलनयन प्रिय पुत्र हमारे।
होंगे अब युवराज पदस्थित, हो अभिषिक्त (प्रजा के प्यारे)॥ २ ॥
अन्तःपुर में जा, दशरथ ने कहा सूत से तुम फिर जाओ!।
एक वार मम राम-सुवन को यहाँ बुला करके ले आओ॥ ३ ॥
नृप की आज्ञा शिरोधार्य कर, वे सुमन्त्र सचिवाधिप पल में।
शीघ्र बुलाने गये राम को, उनके उत्तम शुभग महल में॥ ४ ॥
द्वार-रक्षकों ने सुमन्त्र-आगमन, राम का जब बतलाया।
राम-हृदय में तब उसको सुन, अकस्मात् कुछ संशय आया॥ ५ ॥
उत्सुक होकर कहा राम ने उन सुमन्त्र से, भीतर आएँ!।
फिर से आने की कैसी आवश्यकता आ पड़ी, बताएँ!॥ ६ ॥
वे बोले, मिलने के इच्छुक महाराज ने मुझे पठाया।
'जाना और न जाना'—निर्णय स्वतः[3] करें जैसा मन भाया॥ ७ ॥
सत्वर जब ये वचन सूत के, रामचन्द्र ने श्रवण कर लिये।
तब दशरथ-दर्शन करने को, शीघ्र महल की ओर चल दिये॥ ८ ॥
दशरथ ने जब राम-आगमन का सवाद मधुरतम पाया।
तब उत्तम बातें बतलाने को, उनको भीतर बुलवाया॥ ९ ॥
पिता-भवन में प्रविशित होकर, किये राम ने नृप के दर्शन।
जोड़ दूर से हाथ, तुरत चरणों में किया विनययुत प्रणमन॥ १० ॥
करते हुए प्रणाम, राम को तब दशरथ ने हृदय लगाया।
और बैठने को आसन दे, पुनः उन्हें ऐसा बतलाया॥ ११ ॥
राम! वृद्ध, दीर्घायु हुआ मैं, भोगे मैंने भोग अपरिमित।
अन्न, दक्षिणा-युत अनेक शत यज्ञ विपुल कर लिये यथोचित॥ १२ ॥
पुरुषोत्तम! मैंने अभीष्ट सुत, भू पर तुमको अनुपम पाया।
दान, यज्ञ, स्वाध्याय-नियम भी मैंने है सर्वथा निभाया॥ १३ ॥
मैंने वीर! अभीष्ट सुखों का अनुभव किया यथोचित सारा।
ब्राह्मण, पितर, देव, ऋषि-ऋण से मिला मुझे निश्चय छुटकारा॥ १४ ॥

---

१ सलाह-मशविरा; २ देश-काल के नियमों के जाननेवाले; ३ स्वयं।

न किंचिन्मम कर्तव्यं तवान्यत्राभिषेचनात्।
अतो यत्त्वामहं ब्रूयां तन्मे त्वं कर्तुमर्हसि ॥ १५ ॥
अद्य प्रकृतयः सर्वास्त्वामिच्छन्ति नराधिपम्।
अतस्त्वां युवराजानमभिषेक्ष्यामि पुत्रक ॥ १६ ॥
अपि चाद्याशुभान् राम स्वप्नान् पश्यामि राघव।
सनिर्घाता दिवोल्काश्च पतन्ति हि महास्वनाः ॥ १७ ॥
अवष्टब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणग्रहैः।
आवेदयन्ति दैवज्ञाः सूर्याङ्गारकराहुभिः ॥ १८ ॥
प्रायेण च निमित्तानामीदृशानां समुद्भवे।
राजा हि मृत्युमाप्नोति घोरां चापदमृच्छति ॥ १९ ॥
तद् यावदेव मे चेतो न विमुह्यति राघव।
तावदेवाभिषिञ्चस्व चला हि प्राणिनां मतिः ॥ २० ॥
अद्य चन्द्रोऽभ्युपगमत् पुष्यात् पूर्वं पुनर्वसुम्।
श्वः पुष्ययोगं नियतं वक्ष्यन्ते दैवचिन्तकाः ॥ २१ ॥
तत्र पुष्येऽभिषिञ्चस्व मनस्त्वरयतीव माम्।
श्वस्त्वाहमभिषेक्ष्यामि यौवराज्ये परंतप ॥ २२ ॥
तस्मात् त्वयाद्यप्रभृति निशेयं नियतात्मना।
सह वध्वोपवस्तव्या दर्भप्रस्तरशायिना ॥ २३ ॥
सुहृदश्चाप्रमत्तास्त्वां रक्षन्त्वद्य समन्ततः।
भवन्ति बहुविघ्नानि कार्याण्येवंविधानि हि ॥ २४ ॥
विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः।
तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम ॥ २५ ॥
कामं खलु सतां वृत्ते भ्राता ते भरतः स्थितः।
ज्येष्ठानुवर्ती धर्मात्मा सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ॥ २६ ॥
किं नु चित्तं मनुष्याणामनित्यमिति मे मतम्।
सतां च धर्मनित्यानां कृतशोभि च राघव ॥ २७ ॥
इत्युक्तः सोऽभ्यनुज्ञातः श्वोभाविन्यभिषेचने।
व्रजेति रामः पितरमभिवाद्याभ्ययाद् गृहम् ॥ २८ ॥
प्रविश्य चात्मनो वेश्म राज्ञाऽऽदिष्टेऽभिषेचने।
तत्क्षणादेव निष्क्रम्य मातुरन्तःपुरं ययौ ॥ २९ ॥
तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम्।
वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम् ॥ ३० ॥
प्रागेव चागता तत्र सुमित्रा लक्ष्मणस्तथा।
सीता चानयिता श्रुत्वा प्रियं रामाभिषेचनम् ॥ ३१ ॥

अब अभिषेक मात्र करने को रहा शेष कर्तव्य हमारा।
अतः कहूँ जो, उसका पालन करना ही है धर्म तुम्हारा ॥ १५ ॥
चाह रही है प्रजा तुम्हें ही, पुत्र! सर्वथा नृपति बनाना।
इससे युवराजाभिषेक मैं शीघ्र चाहता हूँ करवाना ॥ १६ ॥
किन्तु आजकल दुःस्वप्नों में, बीत रही हैं सभी निशाएँ।
वज्रपात-सम भीषण रव की गिरती हैं दिन में उल्काएँ ॥ १७ ॥
हे श्रीराम! बताते मुझको, ज्योतिष विद्या के सुविज्ञ सब।
मंगल, रवि, सँग राहु ग्रहों से मेरा है नक्षत्र ग्रसित अब ॥ १८ ॥
प्रकटित होने पर दुर्लक्षण यह आपत्ति बहुत लाता है।
इसमें पड़कर नृपति अन्ततः विवश मृत्यु-अवसर पाता है ॥ १९ ॥
अतः राम! जब तक मेरा मन मोह-विमुक्त, होश है सब विधि।
पद सम्हाल लो उसके पहले, मति की अद्‌भुत चञ्चल है विधि ॥ २० ॥
चन्द्रदेव हैं आज पुनर्वसु में, कल पुष्यभ में आएँगे।
कहते हैं ज्योतिषी, नृपति! तब शुभ मुहूर्त निश्चय पाएँगे! ॥ २१ ॥
अतः परंतप! इसी पुण्य में तुम अपना अभिषेक कराओ!।
मेरा मन कह रहा, राम को बहुत शीघ्र युवराज बनाओ ॥ २२ ॥
अतः इस समय से विजितेन्द्रिय होने के कर्तव्य निभाओ!।
सीता-सँग उपवास करो तुम! कुश-शय्या पर रात्रि बिताओ ॥ २३ ॥
हो सचेष्ट सन्मित्र सर्वथा विधिवत रक्षा करें तुम्हारी।
क्योंकि कभी ऐसे कार्यों में आते विघ्न बहुत ही भारी ॥ २४ ॥
भरत नगर से बाहर अपने मामा के गृह में हैं जब तक।
है उत्तम अभिषेक तुम्हारा बिना विघ्न हो जाए तब तक ॥ २५ ॥
शंका नहीं, तुम्हारे भ्राता भरत सत्पुरुष आचारी हैं।
दया, धर्मयुत, वशी तुम्हारे अनुयायी, आज्ञाकारी हैं ॥ २६ ॥
फिर भी रहता नहीं चित्त स्थिर मनुजों का, ऐसा मेरा मत।
धार्मिक, सज्जन-मन भी, जब-कब राग-द्वेष से होता दूषित ॥ २७ ॥
कल होनेवाले अभिषेचन के प्रति व्रत-पालन करने को।
आज्ञापित श्रीराम, भवन को गये (नृपति-चिन्ता हरने को) ॥ २८ ॥
राजाज्ञा-व्रत-वार्ता कहने सीता से जब भवन-पधारे।
वहाँ न देखा सीता को, तब पहुँचे मातृ-महल को न्यारे ॥ २९ ॥
देखा वहाँ रेशमी वसना कौशल्या मौनी व्रत धर कर।
सुत-हित राज्यश्री पाने को करती हैं देवार्चन रुचिकर ॥ ३० ॥
यह सुन, वहाँ सुमित्रा, निज सुत लक्ष्मण सँग, पहले थीं आई।
और बाद में श्री सीता भी उन सबसे थीं गई बुलाई ॥ ३१ ॥

तस्मिन् कालेऽपि कौसल्या तस्थावामीलितेक्षणा।
सुमित्रयान्वास्यमाना सीतया लक्ष्मणेन च ॥ ३२ ॥

श्रुत्वा पुष्ये च पुत्रस्य यौवराज्येऽभिषेचनम्।
प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम् ॥ ३३ ॥

तथा सनियमामेव सोऽभिगम्याभिवाद्य च।
उवाच वचनं रामो हर्षयंस्तामिदं वरम् ॥ ३४ ॥

अम्ब पित्रा नियुक्तोऽस्मि प्रजापालनकर्मणि।
भविता श्वोऽभिषेको मे यथा मे शासनं पितुः ॥ ३५ ॥

सीतयाप्युपवस्तव्या रजनीयं मया सह।
एवमुक्तमुपाध्यायैः स हि मामुक्तवान् पिता ॥ ३६ ॥

यानि यान्यत्र योग्यानि श्वोभाविन्यभिषेचने।
तानि मे मङ्गलान्यद्य वैदेह्याश्चैव कारय ॥ ३७ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु कौसल्या चिरकालाभिकाङ्क्षितम्।
हर्षबाष्पाकुलं वाक्यमिदं राममभाषत ॥ ३८ ॥

वत्स राम चिरं जीव हतास्ते परिपन्थिनः।
ज्ञातीन् मे त्वं श्रिया युक्तः सुमित्रायाश्च नन्दय ॥ ३९ ॥
कल्याणे बत नक्षत्रे मया जातोऽसि पुत्रक।
येन त्वया दशरथो गुणैराराधितः पिता ॥ ४० ॥
अमोघं बत मे क्षान्तं पुरुषे पुष्करेक्षणे।
येयमिक्ष्वाकुराजश्रीः पुत्र त्वां संश्रयिष्यति ॥ ४१ ॥
इत्येवमुक्तो मात्रा तु रामो भ्रातरमब्रवीत्।
प्राञ्जलिं प्रह्वमासीनमभिवीक्ष्य स्मयन्निव ॥ ४२ ॥
लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रशाधि त्वं वसुंधराम्।
द्वितीयं मेऽन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरुपस्थिता ॥ ४३ ॥
सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च।
जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये ॥ ४४ ॥
इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामो मातरावभिवाद्य च।
अभ्यनुज्ञाप्य सीतां च ययौ स्वं च निवेशनम् ॥ ४५ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

देखा राघव ने कौसल्या नेत्र बन्द कर, हैं ध्यानस्था।
सीता-लक्ष्मण-सँग सेवा में तथा सुमित्रा हैं समुपस्था।। ३२ ।।
सुन अभिषेचन-वृत्त, पुष्य में, सुवन राम का, अतिशय प्यारा।
परमपुरुष हरि-ध्यानमग्न थीं, प्राणायाम योग के द्वारा।। ३३ ।।
नियम-मग्न माता-समीप में, किया प्रणाम राम ने जाकर।
हर्ष बढ़ाया उनका अतिशय अभिषिञ्चन की बात बताकर।। ३४ ।।
माँ! अब पिता राज्य-पालन को देंगे मुझको शासन सारा।
होगा कल अभिषेक महोत्सव पूज्य पिता की आज्ञा द्वारा।। ३५ ।।
सीता-सँग उपवास-नियम से रात्रि बिताने को बतलाया।
सभी उपाध्यायों की सम्मति, तदनुसार पितु ने समझाया।। ३६ ।।
अब मेरे अभिषेक निमित्तक (उत्सव को तत्पर हो जाओ)।
सीता के सँग परम्परा के मंगल-कार्य सभी करवाओ।। ३७ ।।
माँ ने चिर मन की अभिलाषा-पूरक वचन सुने जब वैसे।
झलके अश्रु-बिन्दु, गद्‌गद हो वे बोलीं रघुवर से ऐसे।। ३८ ।।
चिरंजीव हो, राम! तुम्हारे पथ के शत्रु-विघ्न मिट जाएँ।
तुम्हें देख लक्ष्मीयुत, बान्धव और सुमित्रा मोद मनाएँ।। ३९ ।।
योग-सुमगल में मुझसे शुभ जन्म हुआ है पुत्र! तुम्हारा।
जिससे तुमने मुदित किया है नृप को सभी गुणो के द्वारा।। ४० ।।
मैने कमलनयन हरि-तोषक[1], व्रत, उपवास-सफलता पाई।
उससे ही इक्ष्वाकु राज्य-श्री सुनो राम! तुम तक है आई।। ४१ ।।
स्मित-मुख[2] होकर कहा राम ने, माता के ऐसा कहने पर।
अपने भाई लक्ष्मण से, जो नम्र खड़े थे हाथ जोड़कर।। ४२ ।।
पृथ्वी-शासन करो संग में मेरे ही प्रिय लक्ष्मण भाई!।
अन्तरात्मा तुम द्वितीय हो, अतः राज्य-श्री तुमने पाई।। ४३ ।।
राज्याभीष्ट[3] सुखों को भोगो! हो सौमित्र! तुम्हीं अधिकारी।
सदा तुम्हारे लिए राज्य की अभिलाषा है रही हमारी।। ४४ ।।
यह कह लक्ष्मण से रघुवर ने माताओं को शीश झुकाया।
सीता को आज्ञा दिलवाकर निज निवास का पथ अपनाया।। ४५ ।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के बालकाण्ड
में चतुर्थ सर्ग समाप्त ।। ४ ।।

---

१ विष्णु को प्रसन्न करनेवाला; २ प्रसन्नमुख; ३ राज्य के फलस्वरूप।

पञ्चमः सर्गः

राजा दशरथ के अनुरोध से वसिष्ठजी का सीता-सहित श्रीराम को उपवासव्रत की दीक्षा देकर आना और राजा को इस समाचार से अवगत कराना; राजा का अन्तःपुर में प्रवेश

संदिश्य रामं नृपतिः श्वोभाविन्यभिषेचने ।
पुरोहितं समाहूय वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
गच्छोपवासं काकुत्स्थं कारयाद्य तपोधन ।
श्रेयसे राज्यलाभाय वध्वा सह यतव्रत ॥ २ ॥
तथेति च स राजानमुक्त्वा वेदविदां वरः ।
स्वयं वसिष्ठो भगवान् ययौ रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥
उपवासयितुं वीरं मन्त्रविन्मन्त्रकोविदम् ।
ब्राह्मं रथवरं युक्तमास्थाय सुधृतव्रतः ॥ ४ ॥
स रामभवनं प्राप्य पाण्डुराभ्रघनप्रभम् ।
तिस्रः कक्ष्या रथेनैव विवेश मुनिसत्तमः ॥ ५ ॥
तमागतमृषिं रामस्त्वरन्निव ससम्भ्रमम् ।
मानयिष्यन् स मानार्हं निश्चक्राम निवेशनात् ॥ ६ ॥
अभ्येत्य त्वरमाणोऽथ रथाभ्याशं मनीषिणः ।
ततोऽवतारयामास परिगृह्य रथात् स्वयम् ॥ ७ ॥
स चैनं प्रश्रितं दृष्ट्वा सम्भाष्याभिप्रसाद्य च ।
प्रियार्हं हर्षयन् राममित्युवाच पुरोहितः ॥ ८ ॥
प्रसन्नस्ते पिता राम यत्त्वं राज्यमवाप्स्यसि ।
उपवासं भवानद्य करोतु सह सीतया ॥ ९ ॥
प्रातस्त्वामभिषेक्ता हि यौवराज्ये नराधिपः ।
पिता दशरथः प्रीत्या ययातिं नहुषो यथा ॥ १० ॥
इत्युक्त्वा स तदा राममुपवासं यतव्रतः ।
मन्त्रवत् कारयामास वैदेह्या सहितं शुचिः ॥ ११ ॥
ततो यथावद् रामेण स राज्ञो गुरुरर्चितः ।
अभ्यनुज्ञाप्य काकुत्स्थं ययौ रामनिवेशनात् ॥ १२ ॥
सुहृद्भिस्तत्र रामोऽपि सहासीनः प्रियंवदः ।
सभाजितो विवेशाथताननुज्ञाप्य सर्वशः ॥ १३ ॥
हृष्टनारीनरयुतं रामवेश्म तदा बभौ ।
यथा मत्तद्विजगणं प्रफुल्लनलिनं सरः ॥ १४ ॥

पाँचवाँ सर्ग

राजा दशरथ के अनुरोध से वसिष्ठ जी का सीता-सहित श्रीराम को उपवास-व्रत की दीक्षा देकर आना और राजा को इस समाचार से अवगत कराना; राजा का अन्तःपुर में प्रवेश

उधर राम-राज्याभिषेक का दशरथ ने सन्देश सुनाकर।
कहा पुरोहित वर वसिष्ठ से उनको अपने पास बुलाकर ॥ १ ॥
आप तपोधन ! कार्य-सिद्धि की विघ्न-निवारक-विधि बतलाएँ।
राज्य-प्राप्ति के लिए राम से वधू-सहित उपवास कराएँ ॥ २ ॥
विद्वद्वर, वेदज्ञ, व्रती वे फिर 'तथास्तु' भूपति से कहकर।
राम-भवन की ओर चल दिये, योजित ब्राह्मण-रथ पर चढ़कर ॥
श्री वसिष्ठ भगवान दृढ़व्रत करने को नृप-कथित काम को।
उपवासव्रत - दीक्षा देने, मन्त्र-वेत्ता वीर राम को ॥ ३-४ ॥
श्वेत मेघ की भाँति समुज्ज्वल राम-भवन के पास पहुँचकर।
तीन ड्योढ़ियों तक रथ द्वारा प्रविशित हुए वहाँ पर मुनिवर ॥ ५ ॥
राम-भवन में अति समीप जब, वे महर्षि सम्मान्य पधारे।
उत्सुक धाये मुनि-स्वागत को, प्रस्तुत हुए गेह के द्वारे ॥ ६ ॥
तथा मनीषीवर महर्षि के रथ-समीप रघुवर ने जाकर।
रथ से नीचे उन्हें उतारा उनका तत्क्षण हाथ पकड़कर ॥ ७ ॥
श्रवण-योग्य थे राम प्रिय वचन, उन्हें देख करके विनयान्वित[1]।
उन्हें वत्स ! कह, मुनिवर बोले शीघ्र बहुत ही होकर हर्षित ॥ ८ ॥
राम ! तुम्हारे पिता मुदित हैं, क्योंकि राजलक्ष्मी पाओगे।
वधू-सहित उपवासव्रत का नियम रात्रि में अपनाओगे ॥ ९ ॥
राम ! यथा अभिषेक नहुष का हुआ ययाति नृपति के द्वारा।
वैसे कल प्रातः दशरथ से होगा शुभ अभिषेक तुम्हारा ॥ १० ॥
यह कह, पावन, व्रतधर ऋषि ने पूरे कर मन्त्रोच्चारण-क्रम।
उपवासव्रत की दीक्षा दी, सीता-सहित राम को निरुपम ॥ ११ ॥
तभी राम ने नृप के, गुरु के पूजन के शुभ नियम निभाये।
अनुमति लेकर तथा राम से, वे वसिष्ठ गृह-बाहर आये ॥ १२ ॥
प्रियवादी अपने मित्रों सँग, राम वहाँ कुछ समय रहे स्थिर।
सम्मानित हो, उनकी अनुमति से आये अपने गृह में फिर ॥ १३ ॥
राम-भवन हर्षित नर-नारी से वैसा प्रफुल्ल दिखलाता।
जैसे मत्त खगों के कलरव से है कमल-सरोवर भाता[2] ॥ १४ ॥

---

१ अति विनम्र; २ सुशोभित होता।

स राजभवनप्रख्यात् तस्माद् रामनिवेशनात् ।
निर्गत्य ददृशे मार्गं वसिष्ठो जनसंवृतम् ॥ १५ ॥
वृन्दवृन्दैरयोध्यायां राजमार्गाः समन्ततः ।
बभूवुरभिसम्बाधाः कुतूहलजनैर्वृताः ॥ १६ ॥
जनवृन्दोर्मिसंघर्षहर्षस्वनवृतस्तदा ।
बभूव राजमार्गस्य सागरस्येव निःस्वनः ॥ १७ ॥
सिक्तसम्मृष्टरथ्या हि तथा च वनमालिनी ।
आसीदयोध्या तदहः समुच्छ्रितगृहध्वजा ॥ १८ ॥
तदा ह्ययोध्यानिलयः सस्त्रीबालाकुलो जनः ।
रामाभिषेकमाकाङ्क्षन्नाकाङ्क्षन्नुदयं रवेः ॥ १९ ॥
प्रजालंकारभूतं च जनस्यानन्दवर्धनम् ।
उत्सुकोऽभूज्जनो द्रष्टुं तमयोध्यामहोत्सवम् ॥ २० ॥
एवं तज्जनसम्बाधं राजमार्गं पुरोहितः ।
व्यूहन्निव जनौघं तं शनै राजकुलं ययौ ॥ २१ ॥
सिताभ्रशिखरप्रख्यं प्रासादमधिरुह्य च ।
समीयाय नरेन्द्रेण शक्रेणेव बृहस्पतिः ॥ २२ ॥
तमागतमभिप्रेक्ष्य हित्वा राजासनं नृपः ।
पप्रच्छ स्वमतं तस्मै कृतमित्यभिवेदयत् ॥ २३ ॥
तेन चैव तदा तुल्यं सहासीनाः सभासदः ।
आसनेभ्यः समुत्तस्थुः पूजयन्तः पुरोहितम् ॥ २४ ॥
गुरुणा त्वभ्यनुज्ञातो मनुजौघं विसृज्य तम् ।
विवेशान्तःपुरं राजा सिंहो गिरिगुहामिव ॥ २५ ॥
तदग्र्यवेषप्रमदाजनाकुलं
महेन्द्रवेश्मप्रतिमं निवेशनम् ।
व्यदीपयंश्चारु विवेश पार्थिवः
शशीव तारागणसंकुलं नभः ॥ २६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

सीता-सहित श्रीराम का नियमपरायण होना, हर्ष में भरे पुरवासियों द्वारा नगर की सजावट, राजा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना तथा अयोध्यापुरी में जनपदवासी मनुष्यों की भीड़ का एकत्र होना

गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः ।
सह पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत् ॥ १ ॥

सर्वोत्तम श्रीराम-भवन से मुनि वसिष्ठ जब बाहर आये।
तब मनुजों से भरे खचाखच मार्ग उन्होंने सारे पाये ॥ १५ ॥
और अयोध्या के सब मार्गों में तो भीड़ बहुत ही भारी।
उत्सुक थे राज्याभिषेक के दर्शन को वे सब नर-नारी ॥ १६ ॥
लहरों के सम जन-समूह की हर्षध्वनि थी यों टकराती।
राजमार्ग के कोलाहल में सागर की गर्जना सुनाती ॥ १७ ॥
उपवन-मुक्त अयोध्या के गृह-गृह में फहरीं उच्च ध्वजाएँ।
जल-सिंचित अति स्वच्छ पथों की बढ़ीं बहुत ही तब सुषमाएँ ॥ १८ ॥
बच्चों संग नारियाँ और नर, मनुज असंख्य अवध के वासी।
राम-राज्य-अभिषेक-दरस को सूर्योदय के थे अभिलाषी ॥ १९ ॥
अलंकारमयि पुरी अयोध्या का उत्सव था अति सुखदाता।
इससे उसे देखने को उमड़ा जन-जन का मन अकुलाता ॥ २० ॥
जन-समूह-पूरित नृपपथ पर, तब वे पूज्य पुरोहित आकर।
धीरे-धीरे राजमहल में गये, भीड़ को बगल हटाकर ॥ २१ ॥
श्वेत जलद के खण्ड-सदृश वे उच्च भवन में चढ़कर वैसे।
मिले नृपति दशरथ से, मिलते हैं महेन्द्र से सुरगुरु[1] जैसे ॥ २२ ॥
उन्हें देख, नृप ने आसन तज, पूछा कार्य हुआ क्या? मुनिवर!।
तब वसिष्ठ बोले उत्तर में, हाँ वह कार्य हो गया, नृपवर! ॥ २३ ॥
नृप के साथ वहाँ पर बैठे अन्य सांसदों ने तब उठकर।
आदर किया पुरोहित जी का, मन में मोद बहुत ही भरकर ॥ २४ ॥
गुरु-आज्ञा ले, जन-समूह को नृप दशरथ ने करके प्रस्थित।
पर्वत-गुफा-प्रवेश्य[2] सिंह-सम हुए भवन में अपने प्रविशित ॥ २५ ॥

वहाँ अलंकृत सभी नारियों के थे उत्तम दिव्य वसन
इन्द्र-भवन-सम परम मनोहर था उत्तम तब राज-सदन।
दशरथ ने उसमें प्रवेश कर, शोभा पाई वैसी
ताराओं के मध्य निशाकर[3] के आने पर यथा गगन ॥ २६ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥

छठा सर्ग

सीता-सहित श्रीराम का नियमपरायण होना, हर्ष में भरे पुरवासियों द्वारा नगर की सजावट, राजा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना तथा अयोध्यापुरी में जनपदवासी मनुष्यों की भीड़ का एकत्र होना

विदा पुरोहित हुए, इधर संयमी राम ने स्नान किया जब।
वैदेही विशालनयना सँग, नारायण पर ध्यान दिया तब ॥ १ ॥

---

१ बृहस्पति; २ गिरि-गुफा में प्रवेश कर रहे; ३ चन्द्रमा।

प्रगृह्य शिरसा पात्रीं हविषो विधिवत् ततः ।
महते दैवतायाज्यं जुहाव ज्वलितानले ॥ २ ॥
शेषं च हविषस्तस्य प्राश्याशास्यात्मनः प्रियम् ।
ध्यायन्नारायणं देवं स्वास्तीर्णे कुशसंस्तरे ॥ ३ ॥
वाग्यतः सह वैदेह्या भूत्वा नियतमानसः ।
श्रीमत्यायतने विष्णोः शिश्ये नरवरात्मजः ॥ ४ ॥
एकयामावशिष्टायां रात्र्यां प्रतिविबुध्य सः ।
अलंकारविधिं सम्यक् कारयामास वेश्मनः ॥ ५ ॥
तत्र शृण्वन् सुखा वाचः सूतमागधवन्दिनाम् ।
पूर्वां संध्यामुपासीनो जजाप सुसमाहितः ॥ ६ ॥
तुष्टाव प्रणतश्चैव शिरसा मधुसूदनम् ।
विमलक्षौमसंवीतो वाचयामास स द्विजान् ॥ ७ ॥
तेषां पुण्याहघोषोऽथ गम्भीरमधुरस्तथा ।
अयोध्यां पूरयामास तूर्यघोषानुनादितः ॥ ८ ॥
कृतोपवासं तु तदा वैदेह्या सह राघवम् ।
अयोध्यानिलयः श्रुत्वा सर्वः प्रमुदितो जनः ॥ ९ ॥
ततः पौरजनः सर्वः श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ।
प्रभातां रजनीं दृष्ट्वा चक्रे शोभयितुं पुरीम् ॥ १० ॥
सिताभ्रशिखराभेषु देवतायतनेषु च ।
चतुष्पथेषु रथ्यासु चैत्येष्वट्टालकेषु च ॥ ११ ॥
नानापण्यसमृद्धेषु वणिजामापणेषु च ।
कुटुम्बिनां समृद्धेषु श्रीमत्सु भवनेषु च ॥ १२ ॥
सभासु चैव सर्वासु वृक्षेष्वालक्षितेषु च ।
ध्वजाः समुच्छ्रिताः साधु पताकाश्चाभवंस्तथा ॥ १३ ॥
नटनर्तकसङ्घानां गायकानां च गायताम् ।
मनःकर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः ॥ १४ ॥
रामाभिषेकयुक्ताश्च कथाश्चक्रुर्मिथो जनाः ।
रामाभिषेके सम्प्राप्ते चत्वरेषु गृहेषु च ॥ १५ ॥
बाला अपि क्रीडमाना गृहद्वारेषु सङ्घशः ।
रामाभिषवसंयुक्ताश्चक्रुरेव कथा मिथः ॥ १६ ॥
कृतपुष्पोपहारश्च धूपगन्धाधिवासितः ।
राजमार्गः कृतः श्रीमान् पौरै रामाभिषेचने ॥ १७ ॥

शीश झुका करके हविष्य के दिव्य पात्र को किया फिर नमन।
विष्णु-प्रीति-हित उस हविष्य से विधिपूर्वक फिर किया शुभ हवन ॥ २ ॥
कार्य-सिद्धि संकल्प ग्रहण कर, शेष भाग फिर हवि का पाकर।
सपत्नीक हरि की संस्तुति की उनमें अतिशय ध्यान लगाकर ॥
स्थिर मन, मौन, राम सीता-सँग नारायण के मंदिर आकर।
शयन किया मंगल कुश-आसन दिव्य उन्होंने वहाँ बिछाकर ॥ ३-४ ॥
बीते तीन याम[1] रजनी के एक याम रह गया शेष जब।
उठकर, संसद-सदन-सुसज्जा-आज्ञा दी सेवकगण को तब ॥ ५ ॥
सुनते हुए सूत मागध-सँग वन्दीजन के श्रवण-सुखद स्वन।
हो करके एकाग्र राम ने किया प्रात जप-संध्योपासन ॥ ६ ॥
वस्त्र रेशमी धारण करके, मधुसूदन को शीश झुकाया।
उनकी स्तुति कर, विप्रों द्वारा सुखद स्वस्ति-वाचन करवाया ॥ ७ ॥
वाद्यस्वन-सँग उन विप्रों की पुण्याहध्वनि मधुरिम छाई।
जो थी पुरी अयोध्या के तब अग-अंग सर्वत्र समाई ॥ ८ ॥
वैदेही-सँग राम कर रहे उपवासव्रत-शुभारम्भ अब।
यह सुन हुए अयोध्यावासी सभी नारि-नर अति प्रसन्न तब ॥ ९ ॥
सुनकर पौर[2], राम-अभिषेचन[3] प्रातः वहाँ लगे तब आने।
मिलकर सभी अयोध्या नगरी को हर्षित हो लगे सजाने ॥ १० ॥
जिनके शिखर श्वेत मेघावृत[4], शैलोन्नत[5] नभ को छू जाते।
ऐसे देव-मन्दिरों, तरुओं, भवनों पर थे ध्वज फहराते ॥
विक्रय-योग्य वस्तु से पूरित बाज़ारों की सुन्दर गलियाँ।
चौराहों सँग राजसभाओं तथा गृहस्थों की अटारियाँ ॥
और दूर से दिखनेवाले वृक्षों पर थे ध्वज फहराते।
वे समृद्धिशाली सब भवनों की शोभा थे अधिक बढ़ाते ॥११-१३॥
गायक, नर्तक तथा नटों का गायन, नर्तन, कला-प्रदर्शन।
वहाँ हुआ, उनकी श्रवणप्रिय वाणी से था मुदित प्रजा-मन ॥ १४ ॥
राम-राज्य-अभिषेक-कथानक, सुनकर चौराहों पर, घर-घर।
एकत्रित पुरवासी करते चर्चा केवल वही परस्पर ॥ १५ ॥
गृह-द्वारों पर बालयूथ जो क्रीड़ा द्वारा मन हरते थे।
वे भी राम-राज्य-अभिषेकी आपस में वार्ता करते थे ॥ १६ ॥
राम-राज्य-अभिषेक समय में, पौर जनों ने पर्व मनाया।
धूप-गन्ध-पुष्पोपहार से राजमार्ग को बहुत सजाया ॥ १७ ॥

१ प्रहर; २ पुरवासी जन; ३ राम का अभिषेक; ४ मेघों से ढँका; ५ ऊँचे पर्वत।

प्रकाशकरणार्थं च निशागमनशङ्कया ।
दीपवृक्षांस्तथा चक्रुरनुरथ्यासु सर्वशः ॥ १८ ॥
अलंकारं पुरस्यैवं कृत्वा तत् पुरवासिनः ।
आकाङ्क्षमाणा रामस्य यौवराज्याभिषेचनम् ॥ १९ ॥
समेत्य सङ्घशः सर्वे चत्वरेषु सभासु च ।
कथयन्तो मिथस्तत्र प्रशशंसुर्जनाधिपम् ॥ २० ॥
अहो महात्मा राजायमिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ।
ज्ञात्वा वृद्धं स्वमात्मानं रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २१ ॥
सर्वे ह्यनुगृहीताः स्म यन्नो रामो महीपतिः ।
चिराय भविता गोप्ता दृष्टलोकपरावरः ॥ २२ ॥
अनुद्धतमना विद्वान् धर्मात्मा भ्रातृवत्सलः ।
यथा च भ्रातृषु स्निग्धस्तथास्मास्वपि राघवः ॥ २३ ॥
चिरं जीवतु धर्मात्मा राजा दशरथोऽनघः ।
यत्प्रसादेनाभिषिक्तं रामं द्रक्ष्यामहे वयम् ॥ २४ ॥
एवं विधं कथयतां पौराणां शुश्रुवुः परे ।
दिग्भ्यो विश्रुतवृत्तान्ताः प्राप्ता जानपदा जनाः ॥ २५ ॥
ते तु दिग्भ्यः पुरीं प्राप्ता द्रष्टुं रामाभिषेचनम् ।
रामस्य पूरयामासुः पुरीं जानपदा जनाः ॥ २६ ॥
जनौघैस्तैर्विसर्पद्भिः शुश्रुवे तत्र निःस्वनः ।
पर्वसूदीर्णवेगस्य सागरस्येव निःस्वनः ॥ २७ ॥
ततस्तदिन्द्रक्षयसंनिभं पुरं
दिदृक्षुभिर्जानपदैरुपाहितैः ।
समन्ततः सस्वनमाकुलं बभौ
समुद्रयादोभिरिवार्णवोदकम् ॥ २८ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

श्रीराम के अभिषेक का समाचार पाकर खिन्न हुई मन्थरा का कैकेयी को उभाड़ना, परंतु प्रसन्न हुई कैकेयी का उसे पुरस्कार-रूप में आभूषण देना और वर माँगने के लिए प्रेरित करना

ज्ञातिदासी यतो जाता कैकेय्या तु सहोषिता ।
प्रासादं चन्द्रसंकाशमारुरोह यदृच्छया ॥ १ ॥

राम-राज्य-अभिषेक-पूर्ति तक कहीं रात्रि भी यदि आ जाए।
अतः मार्ग के दोनों तट पर तरुवत् दीपस्तम्भ बनाए॥ १८ ॥
राम-राज्य-अभिषेक-सदिच्छुक पौर जनों ने नगर सजाकर।
और मनाया हर्ष सभी ने मिलकर स्थान-स्थान पर आकर॥
एकत्रित हो, वे चौराहों तथा सभाओं में आपस में।
नृप दशरथ की बहुत प्रशंसा करते थे श्रद्धा के वश में॥१९-२०॥
हैं इक्ष्वाकु-वंश-आनन्दक दशरथ परम महात्मा निश्चय।
हैं अपने को वृद्ध जानकर, देते राज्य राम को अक्षय॥ २१ ॥
होंगे राजा राम, ईश का हम सब पर है परम अनुग्रह।
रक्षक होंगे बहुत समय तक जग-हित-अनहित के ज्ञाता वह॥ २२ ॥
राम सौम्य मन के अति धार्मिक, विद्वद्वर भ्रातृस्नेही हैं।
हमसे रखते प्रीति इस तरह, मानों भ्राता अपने ही हैं॥ २३ ॥
धार्मिक, अनघ[1] जियें दशरथ नृप, बहुत दिनों तक, हे परमेश्वर !।
जिनसे श्रीरामाभिषेक के दर्शन का आया है अवसर॥ २४ ॥
राम-राज्य-अभिषेक-कथानक सुनकर जनपद-जन सब आये।
वे भी यह सब कहनेवालों की वार्ता सुनकर सुख पाये॥ २५ ॥
आये थे रामाभिषेक के दर्शन को वे भी सब मिलकर।
और स्वकीय उपस्थिति द्वारा, उस नगरी को दिया शीघ्र भर॥ २६ ॥
बहुजन एकत्रित होने से वहाँ हुई थी मधु-ध्वनि ऐसी।
पर्वसमय गर्जना सिन्धु की गम्भीरा होती है जैसी॥ २७ ॥

तब रामाभिषेक-दर्शन को आगत जन-गण द्वारा
भरा हुआ था इन्द्रपुरी-सम, नगर मनोहर सारा।
मकर, नक्र, जल-जन्तु-समन्वित सागर ही हो मानो
जन-कोलाहल लगता था तब उसी भाँति वह न्यारा॥ २८ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
छठा सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

सातवाँ सर्ग

श्रीराम के अभिषेक का समाचार पाकर खिन्न हुई मंथरा का कैकेयी को उभाड़ना, परन्तु प्रसन्न हुई कैकेयी का उसे पुरस्कार-रूप में आभूषण देना और वर माँगने के लिए प्रेरित करना

केकय-लब्धा[2], कैकेयी की अज्ञाता[3], सहचारिणि दासी।
दैवयोग से चढ़ी अटारी कैकेयी की चन्द्रप्रभा-सी॥ १ ॥

---

१ निष्पाप; २ केकय राज्य से प्राप्त; ३ अनजाने में।

सिक्तराजपथां कृत्स्नां प्रकीर्णकमलोत्पलाम् ।
अयोध्यां मन्थरा तस्मात् प्रासादादन्ववैक्षत ॥ २ ॥
पताकाभिर्वरार्हाभिर्ध्वजैश्च समलंकृताम् ।
सिक्तां चन्दनतोयैश्च शिरःस्नातजनैर्युताम् ॥ ३ ॥
माल्यमोदकहस्तैश्च द्विजेन्द्रैरभिनादिताम् ।
शुक्लदेवगृहद्वारां सर्ववादित्रनादिताम् ॥ ४ ॥
सम्प्रहृष्टजनाकीर्णां ब्रह्मघोषनिनादिताम् ।
प्रहृष्टवरहस्त्यश्वां सम्प्रणर्दितगोवृषाम् ॥ ५ ॥
हृष्टप्रमुदितैः पौरैरुच्छ्रितध्वजमालिनीम् ।
अयोध्यां मन्थरा दृष्ट्वा परं विस्मयमागता ॥ ६ ॥
सा हर्षोत्फुल्लनयनां पाण्डुरक्षौमवासिनीम् ।
अविदूरे स्थितां दृष्ट्वा धात्रीं पप्रच्छ मन्थरा ॥ ७ ॥
उत्तमेनाभिसंयुक्ता हर्षेणार्थपरा सती ।
राममाता धनं किं नु जनेभ्यः सम्प्रयच्छति ॥ ८ ॥
अतिमात्रं प्रहर्षः किं जनस्यास्य च शंस मे ।
कारयिष्यति किं वापि सम्प्रहृष्टो महीपतिः ॥ ९ ॥
विदीर्यमाणा हर्षेण धात्री तु परया मुदा ।
आचचक्षेऽथ कुब्जायै भूयसीं राघवे श्रियम् ॥ १० ॥
श्वः पुष्येण जितक्रोधं यौवराज्येन चानघम् ।
राजा दशरथो राममभिषेक्ता हि राघवम् ॥ ११ ॥
धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रममर्षिता ।
कैलासशिखराकारात् प्रासादादवरोहत ॥ १२ ॥
सा दह्यमाना क्रोधेन मन्थरा पापदर्शिनी ।
शयानामेव कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥
उत्तिष्ठ मूढे किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते ।
उपप्लुतमघौघेन नात्मानमवबुध्यसे ॥ १४ ॥
अनिष्टे सुभगाकारे सौभाग्येन विकत्थसे ।
चलं हि तव सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोष्णगे ॥ १५ ॥
एवमुक्ता तु कैकेयी रुष्टया परुषं वचः ।
कुब्जया पापदर्शिन्या विषादमगमत् परम् ॥ १६ ॥
कैकेयी त्वब्रवीत् कुब्जां कच्चित् क्षेमं न मन्थरे ।
विषण्णवदनां हि त्वां लक्षये भृशदुःखिताम् ॥ १७ ॥
मन्थरा तु वचः श्रुत्वा कैकेय्या मधुराक्षरम् ।
उवाच क्रोधसंयुक्ता वाक्यं वाक्यविशारदा ॥ १८ ॥

छत से देखा तभी मन्थरा ने नगरी-पथ जल-सिंचित हैं।
यत्र-तत्र सारी नगरी में उत्पल[1] और कमल बिखरित हैं॥ २ ॥
चन्दन-जल-सिंचित सब पथ हैं, फहर रहीं बहुमूल्य ध्वजाएँ।
उबटन करके, सिर-स्नापित हैं सभी पौर-जन, शिशु, महिलाएँ॥ ३ ॥
राम-दत्त मोदक, माला को कर में रख, द्विज हर्ष मनाते।
चूने, चन्दन से चर्चित हैं सभी देवता-मन्दिर भाते॥
वेदध्वनि, वाद्यध्वनि, हर्षित जन-पूरित है नगर दिखाता।
हैं प्रफुल्ल गज, हस्ति, मुदित हो गौ, बैलों का यूथ रँभाता॥ ४-५ ॥
श्रेणी-बद्ध समुन्नत ध्वज हैं और हर्ष से जन-रोमाञ्चित।
देख अयोध्या की यह शोभा, हुई मन्थरा अतिशय विस्मित॥ ६ ॥
उसने पीत रेशमी-वसना राम-धाय को देखा छत पर।
मुद-विकसित-नयना से पूछा, तभी मन्थरा से फिर सत्वर॥ ७ ॥
धाय! राम-माता अभीष्ट क्या पाकर हैं प्रमुदित अति इस क्षण?।
मुझे बता! क्यों हर्षित होकर करती हैं सबको धन-वितरण?॥ ८ ॥
क्यों प्रसन्न हैं पौर सर्वथा कैसा आज विभव पायेंगे?।
महाराज दशरथ प्रसन्न हो कार्य कौन सा करवायेंगे?॥ ९ ॥
कुब्जा से हर्षोत्फुल्ला उस राम-धाय ने तब बतलाया।
कुब्जे! राजश्री पाएँगे राम, बहुत शुभ अवसर आया॥
कल जब महाराज दशरथ वे, उत्तम पुण्य-योग पायेंगे।
जितक्रोध, निष्पाप राम को अभिषिञ्चित फिर करवायेंगे॥१०-११॥
कुब्जा मन में बहुत चिढ़ गयी, धात्री का वह वचन श्रवण कर।
नभस्पर्शि-कैलाश-शिखर-सम शुभ्र भवन से शीघ्र उतरकर॥ १२ ॥
क्रोधज्वलिता, पापदर्शिनी वह कैकेयी-अनहित पाकर।
कैकयी महल में लेटी थी, बोली वह तभी वहाँ जाकर॥ १३ ॥
मूर्खे! उठ! तू क्या सोती है, तुझ पर भीषण भय है आता।
टूटा तुझ पर गिरि, तुझको क्या दुरवस्थाक्रम[2] नहीं दिखाता?॥ १४ ॥
जिस प्रियदर्शी[3] प्रिय को प्रियप्रद तू अपना सौभाग्य मानती।
ग्रीष्म-नदी-जल-सदृश सूखता वही भाग्य, तू नहीं जानती?॥ १५ ॥
रुष्टा कुब्जा जबकि इष्ट में भी अनिष्ट थी लगी बताने।
तब यह सुन करके कैकेयी-मन में दुःख लगा अति आने॥ १६ ॥
कुछ अनिष्ट तो नहीं हो गया? कैकेयी ने पूछा तब फिर।
दिखती जो यों दुखी मन्थरे! मुख पर तेरे है विषाद स्थिर॥ १७ ॥
कैकेयी के मृदुल वचन सुन, वार्ता-कुशल मन्थरा बोली।
क्रुद्धा, निज को हितैषिणी अति बतलाने को दुखिता हो ली॥

---

१ नीलकमल, कुमुद; २ बुरी दशा; ३ अच्छा दिखनेवाला।

सा विषण्णतरा भूत्वा कुब्जा तस्यां हितैषिणी ।
विषादयन्ती प्रोवाच भेदयन्ती च राघवम् ॥ १९ ॥
अक्षयं सुमहद् देवि प्रवृत्तं त्वद्विनाशनम् ।
रामं दशरथो राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २० ॥
सास्म्यगाधे भये मग्ना दुःखशोकसमन्विता ।
दह्यमानानलेनेव त्वद्धितार्थमिहागता ॥ २१ ॥
तव दुःखेन कैकेयि मम दुःखं महद् भवेत् ।
त्वद्वृद्धौ मम वृद्धिश्च भवेदिह न संशयः ॥ २२ ॥
नराधिपकुले जाता महिषी त्वं महीपतेः ।
उग्रत्वं राजधर्माणां कथं देवि न बुध्यसे ॥ २३ ॥
धर्मवादी शठो भर्ता श्लक्ष्णवादी च दारुणः ।
शुद्धभावेन जानीषे तेनैवमतिसंधिता ॥ २४ ॥
उपस्थितः प्रयुञ्जानस्त्वयि सान्त्वमनर्थकम् ।
अर्थेनैवाद्य ते भर्ता कौसल्यां योजयिष्यति ॥ २५ ॥
अपवाह्य तु दुष्टात्मा भरतं तव बन्धुषु ।
काल्ये स्थापयिता रामं राज्ये निहतकण्टके ॥ २६ ॥
शत्रुः पतिप्रवादेन मात्रेव हितकाम्यया ।
आशीविष इवाङ्केन बाले परिधृतस्त्वया ॥ २७ ॥
यथा हि कुर्याच्छत्रुर्वा सर्पो वा प्रत्युपेक्षितः ।
राज्ञा दशरथेनाद्य सपुत्रा त्वं तथा कृता ॥ २८ ॥
पापेनानृतसान्त्वेन बाले नित्यं सुखोचिता ।
रामं स्थापयता राज्ये सानुबन्धा हता ह्यसि ॥ २९ ॥
सा प्राप्तकालं कैकेयि क्षिप्रं कुरु हितं तव ।
त्रायस्व पुत्रमात्मानं मां च विस्मयदर्शने ॥ ३० ॥
मन्थराया वचः श्रुत्वा शयनात् सा शुभानना ।
उत्तस्थौ हर्षसम्पूर्णा चन्द्रलेखेव शारदी ॥ ३१ ॥
अतीव सा तु संतुष्टा कैकेयी विस्मयान्विता ।
दिव्यमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम् ॥ ३२ ॥
दत्त्वा त्वाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रमदोत्तमा ।
कैकेयी मन्थरां हृष्टा पुनरेवाब्रवीदिदम् ॥ ३३ ॥
इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यातं परमं प्रियम् ।
एतन्मे प्रियमाख्यातं किं वा भूयः करोमि ते ॥ ३४ ॥

तभी राम के प्रति लाने को भेदभाव कैकेयी-मन में।
हितैषिता[1] का रूपक रच, बोली, रानी से खिन्न वचन में॥ १८-१९॥
होगा सब सौभाग्य तुम्हारा नष्ट देवि! वह कार्य हो रहा।
है प्रतिकार[2] नहीं कुछ, कल ही राम-राज्य-अभिषेक हो रहा॥ २०॥
यह सुन, भय-सागर में डूबी, मैं जल रही इसी चिन्ता से।
आई यही बताने, तव हित (कार्य हुआ जो राम-पिता से)॥ २१॥
केकयनन्दिनि! दुःख तुम्हारा, मुझको भी दुख देगा निश्चय।
और तुम्हारी उन्नति में ही मेरी है उन्नति निःसंशय॥ २२॥
नृपकुल-जन्मी जबकि देवि! तुम एक नृपति की हो महरानी।
राज-धर्म-उग्रत्व न समझीं, कहाँ ज्ञान? कैसी अज्ञानी?॥ २३॥
धर्मवादि नृप दारुण मति के, नृप मीठी बातें हैं करते।
शुद्ध भावमय उन्हें समझती हो तुम! पर, तुमको वे छलते॥ २४॥
व्यर्थ सान्त्वना देने तुमको, यहाँ महल में वे हैं आते।
कौसल्या को श्री सम्पन्ना, वे ही तो हैं आज बनाते॥ २५॥
नाना के गृह भेज भरत को वे कल प्रातः ही दूषित मन।
अवध-राज्य देंगे निष्कण्टक करके राम पुत्र-अभिषिञ्चन॥ २६॥
माता जैसे सुत का करती, वैसे करती तू पति-पोषण।
सर्प सदृश को गोद बिठाया, किया उसी ने तेरा शोषण॥ २७॥
शत्रु, सर्प हो कभी उपेक्षित. करते दुर्व्यवहार हैं यथा।
पुत्र-सहित तुम कैकेयी से, पति का यह व्यवहार अन्यथा[3]॥ २८॥
बाले! तुम सुखभोग्या के हैं, पति मिथ्या सान्त्वना-प्रदाता।
रामराज्य स्थापित करके जो तुम्हें मृत्युमुख में पहुँचाता॥ २९॥
विस्मय होता तुम्हें मोद-वश, मेरी इस वार्ता के द्वारा।
अतः स्वयं का, सुत का, मेरा, हितकर कार्य करो अब सारा॥ ३०॥
बात मन्थरा की सुन सुमुखी कैकेयी शय्या से उठकर।
हर्षित बैठीं; मानो शारद - पूनम - शशिमण्डल - सी सुन्दर॥ ३१॥
तुष्टा तथा विस्मिता, मुग्धा, कैकेयी ने फिर मुसकाकर।
दिव्याभूषण पुरस्कार में दिया मन्थरा को तब लाकर॥ ३२॥
रमणी-मणि हर्षित कैकेयी ने भूषण देकर समझाया।
तूने आकर मुझे मन्थरे! श्रेयस्कर संवाद सुनाया॥
इस प्रिय, शिव-संवाद[4] सुनाने के बदले में तुझको इस क्षण।
समझ न पाई अन्य कौन सी वस्तु करूँ मैं तुझे समर्पण॥ ३३-३४॥

---

१ हित चाहनेवाली; २ बदलने का उपाय; ३ झूठा; ४ मंगलमयी वार्ता।

रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये।
तस्मात् तुष्टास्मि यद् राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ ३५ ॥
न मे परं किंचिदितो वरं पुनः
प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचोऽमृतम्।
तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं
वरं परं ते प्रददामि तं वृणु ॥ ३६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

मन्थरा का पुनः श्रीराम के राज्याभिषेक को कैकेयी के लिए अनिष्टकारी बताना, कैकेयी का श्रीराम के गुणों को बताकर उनके अभिषेक का समर्थन करना तत्पश्चात् कुब्जा का पुनः श्रीरामराज्य को भरत के लिए भयजनक बताकर कैकेयी को भड़काना

मन्थरा त्वभ्यसूय्यैनामुत्सृज्याभरणं हि तत्।
उवाचेदं ततो वाक्यं कोपदुःखसमन्विता ॥ १ ॥
हर्षं किमर्थमस्थाने कृतवत्यसि बालिशे।
शोकसागरमध्यस्थं नात्मानमवबुध्यसे ॥ २ ॥
मनसा प्रसहामि त्वां देवि दुःखार्दिता सती।
यच्छोचितव्ये हृष्टासि प्राप्य त्वं व्यसनं महत् ॥ ३ ॥
शोचामि दुर्मतित्वं ते का हि प्राज्ञा प्रहर्षयेत्।
अरेः सपत्नीपुत्रस्य वृद्धिं मृत्योरिवागताम् ॥ ४ ॥
भरतादेव रामस्य राज्यसाधारणाद् भयम्।
तद् विचिन्त्य विषण्णास्मि भयं भीताद्धि जायते ॥ ५ ॥
लक्ष्मणो हि महाबाहू रामं सर्वात्मना गतः।
शत्रुघ्नश्चापि भरतं काकुत्स्थं लक्ष्मणो यथा ॥ ६ ॥
प्रत्यासन्नक्रमेणापि भरतस्यैव भामिनि।
राज्यक्रमो विसृष्टस्तु तयोस्तावद्यवीयसोः ॥ ७ ॥
विदुषः क्षत्रचारित्रे प्राज्ञस्य प्राप्तकारिणः।
भयात् प्रवेपे रामस्य चिन्तयन्ती तवात्मजम् ॥ ८ ॥
सुभगा किल कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते।
यौवराज्येन महता श्वः पुष्येण द्विजोत्तमैः ॥ ९ ॥

राम-भरत में भेद न कोई मैं हूँ सदा माननेवाली।
राघव की अभिषेक-वार्ता सुनकर बहुत बढ़ी खुशियाली॥ ३५ ॥
मेरे लिए राम-अभिसिञ्चन है सुखकर दिखलाता
अतः स्व-इच्छित वस्तु माँगने का तुझको है अवसर।
इससे बढ़कर अमृत-सम मधुर वचन नहीं हो सकता
अतः मन्थरे! प्रियम्वदे[1]! जो भाये माँग वही वर॥ ३६ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में सातवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

आठवाँ सर्ग

मन्थरा का पुनः श्रीराम के राज्याभिषेक को कैकेयी के लिए अनिष्टकारी बताना, कैकेयी का श्रीराम के गुणों को बताकर उनके अभिषेक का समर्थन करना, तत्पश्चात् कुब्जा का पुनः श्रीराम-राज्य को भयजनक बताकर कैकेयी को भड़काना

कैकेयी-दत्ताभूषण[2] को कुपित मन्थरा ने तब फेंका।
निन्दा करते हुए कुपित हो, इस प्रकार बोली अविवेका[3]॥ १ ॥
रानी! तुम नादान बहुत हो, बिन अवसर जो हर्ष दिखाती।
शोक-सिन्धु में डूबी हो तुम! फिर भी कुछ हो समझ न पाती॥ २ ॥
जहाँ चाहिए शोक, वहाँ पर तुममे हर्ष मुझे दिखलाता।
अतः शोक सहकर मेरा मन, है अति व्याकुल होता जाता॥ ३ ॥
सोच रही दुर्मते! सौत-सुत, मृत्यु-सदृश है नारी के प्रति।
सौत-पुत्र-अभ्युदय देखकर होगी कौन हर्षिता स्त्री अति?॥ ४ ॥
राम, भरत से सदा डरेंगे, क्योंकि भरत हैं सम अधिकारी।
अतः अहित वे कहीं भरत का करें न कुछ, यह है भय भारी॥ ५ ॥
महाबाहु हैं लक्ष्मण मन से, सदा राम के ही अनुयायी।
वैसे ही शत्रुघ्न भरत के हैं अनुगामी, सुख-व्यवसायी॥ ६ ॥
जन्मक्रम से राम बाद में, भरत-राज्य-अधिकार दिखाता।
हैं लक्ष्मण, शत्रुघ्न अनुज, तो नहीं राज्य-क्रम उनका आता॥ ७ ॥
राम क्षत्रियाचरण, शास्त्र के पण्डित हैं, करते समयोचित।
मैं शंकित हूँ, कौन भरत-प्रति, करें क्रूरता कब वे अनुचित?॥ ८ ॥
वास्तव में सौभाग्यवती हैं कौसल्या ही नृप की दारा[4]।
अभिषिञ्चन[5] पुष्यभ में होगा जिनके सुत का विप्रों द्वारा॥ ९ ॥

---

१ प्रिय बोलनेवाली; २ कैकेयी द्वारा दिये गये गहने; ३ कुमतिवाली; ४ पत्नी; ५ युवराज पद पर अभिषेक।

प्राप्तां वसुमतीं प्रीतिं प्रतीतां हृतविद्विषम् ।
उपस्थास्यसि कौसल्यां दासीवत् त्वं कृताञ्जलिः ॥ १० ॥
एवं च त्वं सहास्माभिस्तस्याः प्रेष्या भविष्यसि ।
पुत्रश्च तव रामस्य प्रेष्यत्वं हि गमिष्यति ॥ ११ ॥
हृष्टाः खलु भविष्यन्ति रामस्य परमाः स्त्रियः ।
अप्रहृष्टा भविष्यन्ति स्नुषास्ते भरतक्षये ॥ १२ ॥
तां दृष्ट्वा परमप्रीतां ब्रुवन्तीं मन्थरां ततः ।
रामस्यैव गुणान् देवी कैकेयी प्रशशंस ह ॥ १३ ॥
धर्मज्ञो गुणवान् दान्तः कृतज्ञः सत्यवाञ्छुचिः ।
रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति ॥ १४ ॥
भ्रातॄन् भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत् पालयिष्यति ।
संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ॥ १५ ॥
भरतश्चापि रामस्य ध्रुवं वर्षशतात् परम् ।
पितृपैतामहं राज्यमवाप्स्यति नरर्षभः ॥ १६ ॥
सा त्वमभ्युदये प्राप्ते दह्यमानेव मन्थरे ।
भविष्यति च कल्याणे किमिदं परितप्यसे ॥ १७ ॥
यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः ।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु ॥ १८ ॥
राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत् तदा ।
मन्यते हि यथाऽऽत्मानं यथा भ्रातॄंस्तु राघवः ॥ १९ ॥
कैकेय्या वचनं श्रुत्वा मन्थरा भृशदुःखिता ।
दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ २० ॥
अनर्थदर्शिनी मौर्ख्यान्नात्मानमवबुध्यसे ।
शोकव्यसनविस्तीर्णे मज्जन्ती दुःखसागरे ॥ २१ ॥
भविता राघवो राजा राघवस्य च यः सुतः ।
राजवंशात्तु भरतः कैकेयि परिहास्यते ॥ २२ ॥
नहि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि ।
स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत् ॥ २३ ॥
तस्माज्ज्येष्ठे हि कैकेयि राज्यतन्त्राणि पार्थिवाः ।
स्थापयन्त्यनवद्याङ्गि गुणवत्स्वितरेष्वपि ॥ २४ ॥
असावत्यन्तनिर्भग्नस्तव पुत्रो भविष्यति ।
अनाथवत् सुखेभ्यश्च राजवंशाच्च वत्सले ॥ २५ ॥

वे भू-निष्कण्टक शासन पा, होंगी मुदित भूप-विश्वासी।
हाथ जोड़कर खड़ी रहोगी, सेवा में तुम बनकर दासी॥ १० ॥
इस भाँति मम सहित कौसल्या-दासी होओगी तुम वैसी।
और भरत भी राम-दास तब होंगे, देखो! स्थिति है कैसी॥ ११ ॥
सीता-सँग, रामान्तःपुर की होंगी स्त्री सुन्दरियाँ मुदिता।
और तुम्हारी बहुएँ होंगी, भरत-विभव-क्षय से अति दुखिता॥ १२ ॥
प्रीति-हीन मन्थरा-वचन जब अनुचित बहुत समझ में आया।
तब कैकेयी ने राघव - गुण - शंसा करते हुए बताया॥ १३ ॥
कुब्जे! हैं धर्मज्ञ, सत्यव्रत, गुणी, पूत, सुकृतज्ञ राम अति।
नृप के ज्येष्ठ पुत्र अभिषिञ्चन के सुयोग्य हैं, है मेरी मति॥ १४ ॥
पिता-सदृश वे भ्रातृ-भृत्य-गण का चिरजीवि करेंगे पालन।
किन्तु तुझे क्यों तप्त कर रहा? कुब्जे! राम-राज्य-सञ्चालन॥ १५ ॥
राम-राज्य-शत वर्ष बाद में भरत मनुजवर सुख पाएँगे।
निश्चय तब वे पितृ-पितामह-राज्य-पदस्थित हो जाएंगे॥ १६ ॥
अरी मन्थरे! जब कि भविष्यत्, स्वर्णिम मंगलमय दिखलाता।
तो ऐसा अभ्युदय-समय यह, क्यों तेरा संताप बढ़ाता!॥ १७ ॥
मेरे लिए भरत-सम आदर-पात्र राम हैं अथवा बढ़कर।
कौसल्या से अधिक रह रहे वे मेरी सेवा में तत्पर॥ १८ ॥
मिलता राज्य राम को जो, वह मिला भरत को यही समझना।
क्योंकि राम सब भ्राताओं को सदा समझते मन से अपना॥ १९ ॥
कैकेयी की वार्ता सुनकर, हुई मन्थरा तब अति दुखिता।
और उष्ण, लम्बी साँसें ले बोली कैकेयी से (पतिता)॥ २० ॥
रानी! तुम मूर्खता कर रही हो अनर्थ को अर्थ मानकर।
डूब रहीं दुख-व्यसन-सिधु में, वह अपना सौभाग्य जानकर॥ २१ ॥
केकय-सुते! राम भूपति के पुत्र राज्य-पद फिर पाएँगे।
और भरत तो राजवंश-क्रम से वञ्चित ही रह जाएगे॥ २२ ॥
सभी राज-सुत नही बैठते, भामिनि! कभी राज्य के पद पर।
सबका ही अभिषिञ्चन होना है निश्चय ही अति अनर्थकर॥ २३ ॥
सुन्दरि! केकयनन्दिनि! नृप हैं ज्येष्ठ पुत्र को नृपति बनाते।
यदि वह है गुण-हीन तभी वे अन्य पुत्र को युक्त बताते॥ २४ ॥
पुत्र-वत्सले! पुत्र तुम्हारा राज - वंश - च्युत हो जाएगा।
और अनाथ-सदृश शासन के सुख को कभी नहीं पाएगा॥ २५ ॥

साहं त्वदर्थे सम्प्राप्ता त्वं तु मां नावबुद्ध्यसे ।
सपत्निवृद्धौ या मे त्वं प्रदेयं दातुमर्हसि ॥ २६ ॥
ध्रुवं तु भरतं रामः प्राप्य राज्यमकण्टकम् ।
देशान्तरं नाययिता लोकान्तरमथापि वा ॥ २७ ॥
बाल एव तु मातुल्यं भरतो नायितस्त्वया ।
संनिकर्षाच्च सौहार्दं जायते स्थावरेष्विव ॥ २८ ॥
भरतानुवशात् सोऽपि शत्रुघ्नस्तत्समं गतः ।
लक्ष्मणो हि यथा रामं तथायं भरतं गतः ॥ २९ ॥
श्रूयते हि द्रुमः कश्चिच्छेत्तव्यो वनजीवनैः ।
संनिकर्षादिषीकाभिर्मोचितः परमाद् भयात् ॥ ३० ॥
गोप्ता हि रामं सौमित्रिर्लक्ष्मणं चापि राघवः ।
अश्विनोरिव सौभ्रात्रं तयोर्लोकेषु विश्रुतम् ॥ ३१ ॥
तस्मान्न लक्ष्मणे रामः पापं किंचित् करिष्यति ।
रामस्तु भरते पापं कुर्यादेव न संशयः ॥ ३२ ॥
तस्माद् राजगृहादेव वनं गच्छतु राघवः ।
एतद्धि रोचते मह्यं भृशं चापि हितं तव ॥ ३३ ॥
एवं ते ज्ञातिपक्षस्य श्रेयश्चैव भविष्यति ।
यदि चेद् भरतो धर्मात् पित्र्यं राज्यमवाप्स्यति ॥ ३४ ॥
स ते सुखोचितो बालो रामस्य सहजो रिपुः ।
समृद्धार्थस्य नष्टार्थो जीविष्यति कथं वशे ॥ ३५ ॥
अभिद्रुतमिवारण्ये सिंहेन गजयूथपम् ।
प्रच्छाद्यमानं रामेण भरतं त्रातुमर्हसि ॥ ३६ ॥
दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया ।
राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यापयेत् ॥ ३७ ॥

यदा च रामः पृथिवीमवाप्स्यते
प्रभूतरत्नाकरशैलसंयुताम् ।
तदा गमिष्यस्यशुभं पराभवं
सहैव दीना भरतेन भामिनि ॥ ३८ ॥
यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यते
ध्रुवं प्रणष्टो भरतो भविष्यति ।
अतो हि संचिन्तय राज्यमात्मजे
परस्य चैवास्य विवासकारणम् ॥ ३९ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

हित बतलाने को मैं आई तै न तथ्य में कुछ रुचि लेती।
उलटे सौत-सौख्य सुन करके मुझे पारितोषिक[1] है देती॥ २६ ॥
याद रखो! निष्कण्टक शासन रामचन्द्र को मिल जाने पर।
भरत-देश-निष्कासन होगा या जाएंगे वे यम के घर॥ २७ ॥
किया बचपने से मामा-गृह-वासी भरत पुत्र को सबने।
स्थावर[2] भी सौहार्द[3] बढ़ाते जब कि निकट-वासी से अपने॥ २८ ॥
करने पर अनुरोध उन्हीं के साथ वहीं शत्रुघ्न पधारे।
हैं, लक्ष्मण रामानुगामि[4]-सम औ शत्रुघ्न भरत को प्यारे॥ २९ ॥
काट न सके लकड़हारे तरु, निकट कँटीले तरु के कारण।
यों कण्टक-तरु के बल पर हो सका विटप का कष्ट-निवारण॥ ३० ॥
लक्ष्मण राम-सुरक्षा करते और राम हैं लक्ष्मण-त्राता।
त्रिभुवन में अश्विनीकुमारों-सा सौभ्रात्र ख्याति है पाता॥ ३१ ॥
नहीं अनिष्ट करेंगे लक्ष्मण का श्रीराम कभी भी निश्चित।
किन्तु अनिष्ट करेंगे वे ही, देवि! तुम्हारे पुत्र भरत-हित॥ ३२ ॥
अतः राम भूपाल-भवन से सीधे अब जंगल को जाएँ।
मुझको रुचता यही, तुम्हारी इसमें ही हैं शुभ कांक्षाएँ॥ ३३ ॥
अतः धर्म से भरत, पिता का राज्य (अकण्टक) यदि पाएँगे।
तो तुम और तुम्हारे प्रियजन, कल्याणी स्थिति में आएँगे॥ ३४ ॥
सहज विमातृज-सुत[5] होने से, राम सुखच्युत इन्हें करेंगे।
तब वे भरत समृद्ध-दास बन जीवित कैसे भला रहेंगे?॥ ३५ ॥
यथा पलायित, हस्ति-यूथ-पति पर होता वन-सिंह-आक्रमण।
भरत-पराभव अतः राम से, करो किसी विधि इससे रक्षण॥ ३६ ॥
पति-प्रेमाभिमान में तुमने जिसे अनादृत किया प्रथम जब।
सौत राम-जननी सद्भाग्या क्यों न वैर-बदला लेंगी अब॥ ३७ ॥

भामिनि! रत्नाकरों, पर्वतों, सह निरुपम भू-शासन उत्तम।
पाकर राज्य करेंगे सुख से जब कि राम वे फिर अतिविक्रम॥
अशुभ, पराभव-पात्र बनोगी! भरत-सहित निश्चय तुम तब फिर।
दीन-हीन अति हो जाओगी, नही रहेगा कुछ उद्यम स्थिर॥ ३८ ॥
भू-अधिकार राम पा लेंगे, याद रखो! जब अति उत्तम
नष्ट-प्राय होंगे तब निश्चय भरत सुवन तव सत्तम।
अतः उपाय करो! जिससे हों, राम शीघ्र वनवासी
और तुम्हारे पुत्र भरत हों प्रचुर राज्य-प्रभु निरुपम॥ ३९ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में आठवाँ सर्ग समाप्त॥ ८॥

---

१ पुरस्कार; २ वृक्ष आदि; ३ प्रेम; ४ राम के अनुगामी; ५ सौतेले पुत्र।

नवमः सर्गः

कुब्जा के कुचक्र से कैकेयी का कोपभवन में प्रवेश

एवमुक्ता तु कैकेयी क्रोधेन ज्वलितानना।
दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य मन्थरामिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
अद्य राममितः क्षिप्रं वनं प्रस्थापयाम्यहम्।
यौवराज्येन भरतं क्षिप्रमद्याभिषेचये ॥ २ ॥
इदं त्विदानीं सम्पश्य केनोपायेन साधये।
भरतः प्राप्नुयाद् राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ३ ॥
एवमुक्ता तु सा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी।
रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥
हन्तेदानीं प्रपश्य त्वं कैकेयि श्रूयतां वचः।
यथा ते भरतो राज्यं पुत्रः प्राप्स्यति केवलम् ॥ ५ ॥
किं न स्मरसि कैकेयि स्मरन्ती वा निगूहसे।
यदुच्यमानमात्मार्थं मत्तस्त्वं श्रोतुमिच्छसि ॥ ६ ॥
मयोच्यमानं यदि ते श्रोतुं छन्दो विलासिनि।
श्रूयतामभिधास्यामि श्रुत्वा चैतद् विधीयताम् ॥ ७ ॥
श्रुत्वैवं वचनं तस्या मन्थरायास्तु कैकयी।
किंचिदुत्थाय शयनात् स्वास्तीर्णादिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥
कथयस्व ममोपायं केनोपायेन मन्थरे।
भरतः प्राप्नुयाद् राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ९ ॥
एवमुक्ता तदा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी।
रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १० ॥
पुरा देवासुरे युद्धे सह राजर्षिभिः पतिः।
अगच्छत् त्वामुपादाय देवराजस्य साह्यकृत् ॥ ११ ॥
दिशामास्थाय कैकेयि दक्षिणां दण्डकान् प्रति।
वैजयन्तमिति ख्यातं पुरं यत्र तिमिध्वजः ॥ १२ ॥
स शम्बर इति ख्यातः शतमायो महासुरः।
ददौ शक्रस्य संग्रामं देवसङ्घैरनिर्जितः ॥ १३ ॥
तस्मिन् महति संग्रामे पुरुषान् क्षतविक्षतान्।
रात्रौ प्रसुप्तान् घ्नन्ति स्म तरसापास्य राक्षसाः ॥ १४ ॥
तत्राकरोन्महायुद्धं राजा दशरथस्तदा।
असुरैश्च महाबाहुः शस्त्रैश्च शकलीकृतः ॥ १५ ॥

नवाँ सर्ग

कुब्जा के कुचक्र से कैकेयी का कोपभवन में प्रवेश

क्रोध-ज्वलित मुख कैकेयी का हुआ मन्थरा के कहने पर।
बोली फिर वह उस कुब्जा से उष्णा लम्बी श्वासें लेकर॥ १ ॥
कुब्जे! अब मैं शीघ्र राम को विपिन यहाँ से पठवाऊंगी।
और भरत-राज्याभिषेक तब भलीभाँति से करवाऊंगी॥ २ ॥
किन्तु इस समय सोचो पहले किस उपाय से यह हो पाये।
राम न पायें राज्य और वह भरत कुँअर के कर में आये॥ ३ ॥
ऐसा कहने पर कैकेयी के, बोली वह पापदर्शिनी।
राम-स्वार्थ पर कर कुठार-आघात, भरत की हितविर्वधिनी[1]॥ ४ ॥
अच्छा केकयनन्दिनि! देखो, अब मैं क्या करने जाती हूँ।
सुनो किस तरह भरत सुवन को राजा अब मैं बनवाती हूँ॥ ५ ॥
स्मरण नहीं है? या कि समझकर छिपा रही हो कथित बात सब।
कहलाओगी! किस कारण से? निजी प्रयोजन मुझसे ही अब॥ ६ ॥
तथा विलासिनि! यदि आग्रह है सुनने का मेरे ही द्वारा।
तो बतलाती सुनो, और सुन, कार्य करो वैसा ही सारा॥ ७ ॥
वचन-मन्थरा के सुन करके, कैकेयी तब शीघ्र सँभलकर।
बोली, सुन्दर बिस्तरवाले दिव्य पलँग से तत्क्षण चलकर॥ ८ ॥
मुझसे कहो मन्थरे! कैसे भरत नृपति-पद पर आएँगे?।
और न अति उद्यम करने पर भी वे राम राज्य पाएंगे॥ ९ ॥
राम-स्वार्थ-घातिनी मन्थरा, पापदर्शिनी तब यह सुनकर।
इस प्रकार बोली कैकेयी से तत्क्षण ही उस अवसर पर॥ १० ॥
पहले देवासुर-रण-अवसर पर तुमको ले, सु-पति तुम्हारे।
सभी राजऋषियों सँग थे वे इन्द्र-मदद के हेतु पधारे॥ ११ ॥
केकयनन्दिनि! दक्षिण दण्डक-मध्य नगर तब वैजयन्त था।
उसमें ख्यात असुर शम्बर था, जिसके ध्वज में मत्स्यांकित[2] था॥
नाना मायाविज्ञ असुर को नहीं पराजित सुर कर पाये।
उसने छेड़ा युद्ध इन्द्र से (सभी असुर लड़ने को आये)॥१२-१३॥
उसमें क्षत-विक्षत मानव जब थे निशि में पड़कर सो जाते।
तब उनको बिस्तर से निशिचर थे वध करने को ले जाते॥ १४ ॥
महाबाहु तब दशरथ ने था युद्ध किया असुरों से न्यारा।
वहीं हुए जर्जर-शरीर वे, असुरों के शस्त्रों के द्वारा॥ १५ ॥

---

१ कल्याण बढ़ानेवाली; २ ध्वजा में मछली का चिह्न था।

अपवाह्य त्वया देवि संग्रामान्नष्टचेतनः ।
तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया ॥ १६ ॥
तुष्टेन तेन दत्तौ ते द्वौ वरौ शुभदर्शने ।
स त्वयोक्तः पतिर्देवि यदेच्छेयं तदा वरम् ॥ १७ ॥
गृह्णीयां तु तदा भर्तस्तथेत्युक्तं महात्मना ।
अनभिज्ञा ह्यहं देवि त्वयैव कथितं पुरा ॥ १८ ॥
कथैषा तव तु स्नेहान्मनसा धार्यते मया ।
रामाभिषेकसम्भारान्निगृह्य विनिवर्तय ॥ १९ ॥
तौ च याचस्व भर्तारं भरतस्याभिषेचनम् ।
प्रव्राजनं च रामस्य वर्षाणि च चतुर्दश ॥ २० ॥
चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ।
प्रजाभावगतस्नेहः स्थिरः पुत्रो भविष्यति ॥ २१ ॥
क्रोधागारं प्रविश्याद्य क्रुद्धेवाश्वपतेः सुते ।
शेष्वानन्तर्हितायां त्वं भूमौ मलिनवासिनी ॥ २२ ॥
मा स्मैनं प्रत्युदीक्षेथा मा चैनमभिभाषथाः ।
रुदन्ती पार्थिवं दृष्ट्वा जगत्यां शोकलालसा ॥ २३ ॥
दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र मे नास्ति संशयः ।
त्वत्कृते च महाराजो विशेदपि हुताशनम् ॥ २४ ॥
न त्वां क्रोधयितुं शक्तो न क्रुद्धां प्रत्युदीक्षितुम् ।
तव प्रियार्थं राजा तु प्राणानपि परित्यजेत् ॥ २५ ॥
न ह्यतिक्रमितुं शक्तस्तव वाक्यं महीपतिः ।
मन्दस्वभावे बुध्यस्व सौभाग्यबलमात्मनः ॥ २६ ॥
मणिमुक्तासुवर्णानि रत्नानि विविधानि च ।
दद्याद् दशरथो राजा मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ २७ ॥
यौ तौ देवासुरे युद्धे वरौ दशरथो ददौ ।
तौ स्मारय महाभागे सोऽर्थो न त्वातिक्रमेदति ॥ २८ ॥
यदा तु ते वरं दद्यात् स्वयमुत्थाप्य राघवः ।
व्यवस्थाप्य महाराजं त्वमिमं वृणुया वरम् ॥ २९ ॥
रामप्रव्रजनं दूरं नव वर्षाणि पञ्च च ।
भरतः क्रियतां राजा पृथिव्यां पार्थिवर्षभ ॥ ३० ॥
चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ।
रूढश्च कृतमूलश्च शेषं स्थास्यति ते सुतः ॥ ३१ ॥
रामप्रव्राजनं चैव देवि याचस्व तं वरम् ।
एवं सेत्स्यन्ति पुत्रस्य सर्वार्थास्तव कामिनि ॥ ३२ ॥

सारथि बन, तुमने रक्षा की, मूर्च्छित नृप को देवि! हटाकर।
हुए वहाँ भी जब शस्त्रक्षत[1] नृप, तब अन्यस्थल ले जाकर॥ १६ ॥
तुष्ट नृपति ने की सुदर्शने! इच्छा तब दो वर देने की।
तब तुमने भावना प्रकट की पति से, अवसर पर लेने की॥
और महात्मा भूपति से था, तुमने फिर 'तथास्तु'[2] कहलाया।
मैं तो थी अनभिज्ञ पूर्व में, किन्तु तुम्हीं ने था बतलाया॥१७-१८॥
देवि! तुम्हारे स्नेह मात्र से, वृत्त रहा वह सुस्थिर[3] मन में।
लाओ! परिवर्तन उनसे ही राम-राज्य के अभिषिंचन में॥ १९ ॥
करो, एक वर से, स्वामी से, भरत-राज्य-अभिषेक-याचना।
चौदह वर्षों तक द्वितीय से तथा राम-वनवास-यातना॥ २० ॥
चौदह वर्षों तक वन में जब राम यहाँ से हट जाएँगे।
प्रजास्नेहदृढ़ता होने से, भरत राज्य-स्थिरता पाएँगे॥ २१ ॥
अतः अश्वपति-नन्दिनि[4]! जाओ मलिन वसन धर कोपभवन में।
और बिना विस्तर के लेटो! धरती पर, कुपिता हो मन में॥ २२ ॥
नृप आएँ तो बात न बोलो! उन्हें न देखो आँख उठाकर।
उन्हें देख, रोकर शोकातुर होकर, लेटो! भू पर आकर॥ २३ ॥
निःसन्देह तुम्हारे पति वे, तुमसे प्यार बहुत रखते हैं।
अतः तुम्हारे लिए अग्नि में भी प्रवेश वे कर सकते हैं॥ २४ ॥
देख न सकते तुम्हें कुपित वे, नहीं क्रोध में ही आयेंगे।
और तुम्हारा हित करने को, प्राण-त्याग तक कर जायेंगे॥ २५ ॥
मुग्धे! निज सौभाग्य, प्रबल बल का अपने अब करो तुम स्मरण।
बात तुम्हारी टाल न सकते महाराज वे कोई भी क्षण॥ २६ ॥
तुम्हें भुलावा दें, सुवर्ण, मणि, मोती, सद्रत्नों के द्वारा।
तब तुम उनसे मत ललचाना, उनका मोह छोड़ना सारा॥ २७ ॥
और महाभागे! देवासुर-रण दशरथ को याद दिलाना।
होगा सिद्ध अभीष्ट तुम्हारा! वरदानों से मैंने जाना॥ २८ ॥
भू से तुम्हें उठाकर दशरथ, उद्यत हों जब वर देने को
शपथ दिलाकर ही तत्पर तब, उनसे होना वर लेने को॥ २९ ॥
तब कहना! नृपश्रेष्ठ! राम को चौदह वर्ष विपिन भिजवाएँ!।
दूर भेजकर उन्हें, भरत को भूमण्डल का भूप बनाएँ!॥ ३० ॥
चौदह वर्ष राम जब वन में राज्य छोड़कर रह जाएँगे!।
प्रजा-प्रीति से मूल सुदृढ़ कर, तब स्थिर राज्य भरत पाएँगे॥ ३१ ॥
देवि! राम-वनवास-हेतु अब माँगो तुम! नृप से अवश्य वर।
पुत्र-राज्य-कामना तुम्हारी पूरी होगी उस अवसर पर॥ ३२ ॥

---

१ शस्त्र से घायल; २ ऐसा ही हो; ३ छिपा रहा; ४ कैकेयी।

अपवाह्य त्वया देवि संग्रामान्नष्टचेतनः ।
तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया ॥ १६ ॥
तुष्टेन तेन दत्तौ ते द्वौ वरौ शुभदर्शने ।
स त्वयोक्तः पतिर्देवि यदेच्छेयं तदा वरम् ॥ १७ ॥
गृह्णीयां तु तदा भर्तस्तथेत्युक्तं महात्मना ।
अनभिज्ञा ह्यहं देवि त्वयैव कथितं पुरा ॥ १८ ॥
कथैषा तव तु स्नेहान्मनसा धार्यते मया ।
रामाभिषेकसम्भारान्निगृह्य विनिवर्तय ॥ १९ ॥
तौ च याचस्व भर्तारं भरतस्याभिषेचनम् ।
प्रव्राजनं च रामस्य वर्षाणि च चतुर्दश ॥ २० ॥
चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ।
प्रजाभावगतस्नेहः स्थिरः पुत्रो भविष्यति ॥ २१ ॥
क्रोधागारं प्रविश्याद्य क्रुद्धेवाश्वपतेः सुते ।
शेष्वानन्तर्हितायां त्वं भूमौ मलिनवासिनी ॥ २२ ॥
मा स्मैनं प्रत्युदीक्षेथा मा चैनमभिभाषथाः ।
रुदन्ती पार्थिवं दृष्ट्वा जगत्यां शोकलालसा ॥ २३ ॥
दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र मे नास्ति संशयः ।
त्वत्कृते च महाराजो विशेदपि हुताशनम् ॥ २४ ॥
न त्वां क्रोधयितुं शक्तो न क्रुद्धां प्रत्युदीक्षितुम् ।
तव प्रियार्थं राजा तु प्राणानपि परित्यजेत् ॥ २५ ॥
न ह्यतिक्रमितुं शक्तस्तव वाक्यं महीपतिः ।
मन्दस्वभावे बुध्यस्व सौभाग्यबलमात्मनः ॥ २६ ॥
मणिमुक्तासुवर्णानि रत्नानि विविधानि च ।
दद्याद् दशरथो राजा मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ २७ ॥
यौ तौ देवासुरे युद्धे वरौ दशरथो ददौ ।
तौ स्मारय महाभागे सोऽर्थो न त्वामतिक्रमेत् ॥ २८ ॥
यदा तु ते वरं दद्यात् स्वयमुत्थाप्य राघवः ।
व्यवस्थाप्य महाराजं त्वमिमं वृणुया वरम् ॥ २९ ॥
रामप्रव्रजनं दूरं नव वर्षाणि पञ्च च ।
भरतः क्रियतां राजा पृथिव्यां पार्थिवर्षभ ॥ ३० ॥
चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ।
रूढश्च कृतमूलश्च शेषं स्थास्यति ते सुतः ॥ ३१ ॥
रामप्रव्राजनं चैव देवि याचस्व तं वरम् ।
एवं सेत्स्यन्ति पुत्रस्य सर्वार्थास्तव कामिनि ॥ ३२ ॥

सारथि बन, तुमने रक्षा की, मूर्च्छित नृप को देवि ! हटाकर।
हुए वहाँ भी जब शस्त्रक्षत[1] नृप, तब अन्यस्थल ले जाकर ॥ १६ ॥
तुष्ट नृपति ने की सुदर्शने ! इच्छा तब दो वर देने की।
तब तुमने भावना प्रकट की पति से, अवसर पर लेने की ॥
और महात्मा भूपति से था, तुमने फिर 'तथास्तु'[2] कहलाया।
मैं तो थी अनभिज्ञ पूर्व में, किन्तु तुम्हीं ने था बतलाया ॥१७-१८॥
देवि ! तुम्हारे स्नेह मात्र से, वृत्त रहा वह सुस्थिर[3] मन में।
लाओ ! परिवर्तन उनसे ही राम-राज्य के अभिषिंचन में ॥ १९ ॥
करो, एक वर से, स्वामी से, भरत-राज्य-अभिषेक-याचना।
चौदह वर्षों तक द्वितीय से तथा राम-वनवास-यातना ॥ २० ॥
चौदह वर्षों तक वन में जब राम यहाँ से हट जाएँगे।
प्रजास्नेहदृढ़ता होने से, भरत राज्य-स्थिरता पाएंगे ॥ २१ ॥
अतः अश्वपति-नन्दिनि[4] ! जाओ मलिन वसन धर कोपभवन में।
और विना विस्तर के लेटो ! धरती पर, कुपिता हो मन में ॥ २२ ॥
नृप आएँ तो बात न बोलो ! उन्हें न देखो आँख उठाकर।
उन्हें देख, रोकर शोकातुर होकर, लेटो ! भू पर आकर ॥ २३ ॥
निःसन्देह तुम्हारे पति वे, तुमसे प्यार बहुत रखते हैं।
अतः तुम्हारे लिए अग्नि में भी प्रवेश वे कर सकते हैं ॥ २४ ॥
देख न सकते तुम्हें कुपित वे, नहीं क्रोध में ही आयेंगे।
और तुम्हारा हित करने को, प्राण-त्याग तक कर जायेंगे ॥ २५ ॥
मुग्धे ! निज सौभाग्य, प्रबल बल का अपने अब करो तुम स्मरण।
बात तुम्हारी टाल न सकते महाराज वे कोई भी क्षण ॥ २६ ॥
तुम्हें भुलावा दें, सुवर्ण, मणि, मोती, सद्रत्नों के द्वारा।
तब तुम उनसे मत ललचाना, उनका मोह छोड़ना सारा ॥ २७ ॥
और महाभागे ! देवासुर-रण दशरथ को याद दिलाना।
होगा सिद्ध अभीष्ट तुम्हारा ! वरदानों से मैंने जाना ॥ २८ ॥
भू से तुम्हें उठाकर दशरथ, उद्यत हों जब वर देने को
शपथ दिलाकर ही तत्पर तब, उनसे होना वर लेने को ॥ २९ ॥
तब कहना ! नृपश्रेष्ठ ! राम को चौदह वर्ष विपिन भिजवाएँ !।
दूर भेजकर उन्हें, भरत को भूमण्डल का भूप बनाएँ !॥ ३० ॥
चौदह वर्ष राम जब वन में राज्य छोड़कर रह जाएँगे !।
प्रजा-प्रीति से मूल सुदृढ़ कर, तब स्थिर राज्य भरत पाएँगे ॥ ३१ ॥
देवि ! राम-वनवास-हेतु अब माँगो तुम ! नृप से अवश्य वर।
पुत्र-राज्य-कामना तुम्हारी पूरी होगी उस अवसर पर ॥ ३२ ॥

१ शस्त्र से घायल; २ ऐसा ही हो; ३ टिका रहा; ४ कैकेयी।

एवं प्रव्राजितश्चैव रामोऽरामो भविष्यति ।
भरतश्च गतामित्रस्तव राजा भविष्यति ॥ ३३ ॥
येन कालेन रामश्च वनात् प्रत्यागमिष्यति ।
अन्तर्बहिश्च पुत्रस्ते कृतमूलो भविष्यति ॥ ३४ ॥
संगृहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः साकमात्मवान् ।
प्राप्तकालं नु मन्येऽहं राजानं वीतसाध्वसा ॥ ३५ ॥
रामाभिषेकसंकल्पान्निगृह्य विनिवर्तय ।
अनर्थमर्थरूपेण ग्राहिता सा ततस्तया ॥ ३६ ॥
हृष्टा प्रतीता कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ।
सा हि वाक्येन कुब्जायाः किशोरीवोत्पथं गता ॥ ३७ ॥
कैकेयी विस्मयं प्राप्य परं परमदर्शना ।
प्रज्ञां ते नावजानामि श्रेष्ठे श्रेष्ठाभिधायिनि ॥ ३८ ॥
पृथिव्यामसि कुब्जानामुत्तमा बुद्धिनिश्चये ।
त्वमेव तु ममार्थेषु नित्ययुक्ता हितैषिणी ॥ ३९ ॥
नाहं समवबुध्येयं कुब्जे राज्ञश्चिकीर्षितम् ।
सन्ति दुःसंस्थिताः कुब्जाः वक्राः परमपापिकाः ॥ ४० ॥
त्वं पद्ममिव वातेन संनता प्रियदर्शना ।
उरस्तेऽभिनिविष्टं वै यावत् स्कन्धात् समुन्नतम् ॥ ४१ ॥
अधस्ताच्चोदरं शान्तं सुनाभमिव लज्जितम् ।
प्रतिपूर्णं च जघनं सुपीनौ च पयोधरौ ॥ ४२ ॥
विमलेन्दुसमं वक्त्रमहो राजसि मन्थरे ।
जघनं तव निर्मृष्टं रशनादामभूषितम् ॥ ४३ ॥
जङ्घे भृशमुपन्यस्ते पादौ च व्यायतावुभौ ।
त्वमायताभ्यां सक्थिभ्यां मन्थरे क्षौमवासिनी ॥ ४४ ॥
अग्रतो मम गच्छन्ती राजसेऽतीव शोभने ।
आसन् याः शम्बरे मायाः सहस्रमसुराधिपे ॥ ४५ ॥
हृदये ते निविष्टास्ता भूयश्चान्याः सहस्रशः ।
तदेव स्थगु यद् दीर्घं रथघोणमिवायतम् ॥ ४६ ॥
मतयः क्षत्रविद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते ।
अत्र तेऽहं प्रमोक्ष्यामि मालां कुब्जे हिरण्मयीम् ॥ ४७ ॥
अभिषिक्ते च भरते राघवे च वनं गते ।
जात्येन च सुवर्णेन सुनिष्टप्तेन सुन्दरि ॥ ४८ ॥
लब्धार्था च प्रतीता च लेपयिष्यामि ते स्थगु ।
मुखे च तिलकं चित्रं जातरूपमयं शुभम् ॥ ४९ ॥

मिलने पर वनवास, राम वे राम नहीं फिर रह पाएँगे।
और तुम्हारे भरत सुनिश्चित, शत्रु-हीन नृप हो जाएँगे॥ ३३ ॥
जब लौटेंगे राम विपिन से, तब तक प्रिय सुत भरत तुम्हारे।
बाह्यान्तस्[1] से सुदृढ़ मूल हो, होंगे भूप प्रजा के प्यारे॥ ३४ ॥
मित्रों के सँग वशी, करेंगे सुदृढ़ मूल सैनिक-बल सग्रह।
अब दशरथ को संकल्पच्युत[2] करने का अवसर आया यह॥
राम-राज्य-अभिषेक हटाओ! वचनबद्ध करके भूपति को।
किया मन्थरा ने अनर्थ को अर्थ बताकर दूषित मति को॥
कैकेयी कुब्जा-बातों से विश्वस्ता हो गयी प्रसन्ना।
और कुपथ पर चली, बालिका-जैसी, यद्यपि थी व्युत्पन्ना[3]॥
तथा विस्मिता हो बोली वह, समझ मन्थरा-मति को न्यारी।
वार्ता तेरी नहीं उपेक्षित होगी, तू उत्तम है नारी॥
बुद्धि-कार्य-निश्चय में तू है भू की कुब्जाओं में उत्तम।
सावधान हो, कार्य-हितैषी बतलाने में तू है सक्षम॥ ३५-३९॥
तेरे बिना न कुब्जे! मुझको, नृप-षड्यन्त्र समझ में आता।
विकृताङ्गी पापिनी अन्य हैं कुब्जाएँ, तू है विज्ञाता[4]॥ ४० ॥
झुकी, वायु से झुकी कमलिनी-वत् कुब्जा! तू अति मनहर है।
ऊँचा वक्षःस्थल कन्धों को छूकर और अधिक सुन्दर है॥ ४१ ॥
है सुनाभियुत उदर शान्त-कृश, उच्चस्कंध निरख शर्माता।
विस्तृत जघन, स्थूल कुच दोनों, सुन्दरतर तव गात लखाता॥ ४२ ॥
और मन्थरे! निर्मल शशि-सम, मुख अद्भुत शोभा तव पाता।
अग्र भाग करधनी-विभूषित कटि का रोम न, स्वच्छ सुहाता॥ ४३ ॥
और मन्थरे! सटी पिंडलियाँ तथा बड़े हैं पैर तुम्हारे।
विस्तृत जंघाएँ सुन्दर हैं, जब तू रेशम-वसन सँवारे॥
मेरे आगे चलती है तब तेरा रूप बहुत है भाता।
असुराधिप शम्बर मायाओं का तुझमें प्राकट्य दिखाता॥
उन मायाओं का समूह ही तेरा यह कूबड़ है भारी।
जो है रथ के अग्रभाग-सम, इसमें है स्मृति, बुद्धि तुम्हारी॥
यह ही क्षत्रिय-विद्या के सँग है विविधा मायाओ वाला।
इस पर डालूंगी मैं कुब्जे! सुन्दर सी सोने की माला॥४४-४७॥
राम-वन-गमन-बाद भरत को नृपति-रूप में जब पाऊँगी।
तब सतुष्ट, दीप्त सोने की माला इसको पहनाऊँगी॥
चन्दन-लेप कराऊँगी मैं तब तेरे सुन्दर कूबड़ पर।
फिर विचित्र सोने के टीके से सजवाऊँगी मुख सुन्दर॥

१ बाहर-अन्दर; २ प्रतिज्ञा से हटाने; ३ बुद्धिमती; ४ चतुर।

कारयिष्यामि ते कुब्जे शुभान्याभरणानि च ।
परिधाय शुभे वस्त्रे देवतेव चरिष्यसि ॥ ५० ॥

चन्द्रमाह्वयमानेन मुखेनाप्रतिमानना ।
गमिष्यसि गतिं मुख्यां गर्वयन्ती द्विषज्जने ॥ ५१ ॥

तवापि कुब्जाः कुब्जायाः सर्वाभरणभूषिताः ।
पादौ परिचरिष्यन्ति यथैव त्वं सदा मम ॥ ५२ ॥

इति प्रशस्यमाना सा कैकेयीमिदमब्रवीत् ।
शयानां शयने शुभ्रे वेद्यामग्निशिखामिव ॥ ५३ ॥

गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते ।
उत्तिष्ठ कुरु कल्याणं राजानमनुदर्शय ॥ ५४ ॥

तथा प्रोत्साहिता देवी गत्वा मन्थरया सह ।
क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्यमदगर्विता ॥ ५५ ॥

अनेकशतसाहस्रं मुक्ताहारं वराङ्गना ।
अवमुच्य वरार्हाणि शुभान्याभरणानि च ॥ ५६ ॥

तदा हेमोपमा तत्र कुब्जावाक्यवशंगता ।
संविश्य भूमौ कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ॥ ५७ ॥

इह वा मां मृतां कुब्जे नृपायावेदयिष्यसि ।
वनं तु राघवे प्राप्ते भरतः प्राप्स्यते क्षितिम् ॥ ५८ ॥

सुवर्णेन न मे ह्यर्थो न रत्नैर्न च भोजनैः ।
एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते ॥ ५९ ॥

अथो पुनस्तां महिषीं महीक्षितो
वचोभिरत्यर्थमहापराक्रमैः ।
उवाच कुब्जा भरतस्य मातरं
हितं वचो राममुपेत्य चाहितम् ॥ ६० ॥

प्रपत्स्यते राज्यमिदं हि राघवो
यदि ध्रुवं त्वं ससुता च तप्स्यसे ।
ततो हि कल्याणि यतस्व तत् तथा
यथा सुतस्ते भरतोऽभिषेक्ष्यते ॥ ६१ ॥

तथातिविद्धा महिषीति कुब्जया
समाहता वागिषुभिर्मुहुर्मुहुः ।
विधाय हस्तौ हृदयेऽतिविस्मिता
शशंस कुब्जां कुपिता पुनः पुनः ॥ ६२ ॥

लहँगा-लुगरा, अभूषण तू मुझसे इस अवसर पर पाकर।
विचरेगी तू देव-अंगना-सदृश रूप उत्तम अति धरकर ॥४८-५०॥
शशि से होड़ लगानेवाले मुख से बहुत लगेगी सुन्दर।
सौभाग्य-गर्विता तू, रिपुओं में दरसेगी ऊँचे स्थल पर ॥ ५१ ॥
जैसे तू मेरे चरणों की सेवा करती है कुब्जे! नित।
भूषण-भूषित कुब्जाओं से उसी भाँति होगी तू सेवित ॥ ५२ ॥
वेदी पर ज्वलिताग्नि-शिखा-सम, शुभ्रा शय्या पर जो थी स्थित।
उस कैकेयी से बोली वह कुब्जा, होकर परम प्रशंसित ॥ ५३ ॥
उठो! करो कल्याण नृपति को कोप दिखाओ अवसर रहते।
सेतुबन्ध जल-हीन नदी पर व्यर्थ विज्ञजन कभी न करते ॥ ५४ ॥
कोपभवन में विशालाक्षी[1] प्रोत्साहित होकर फिर आयी।
वह कैकेयी भाग्य-गर्विता, साथ मन्थरा को भी लायी ॥
मौक्तिक हार और आभूषण जो निर्मित थे लाखों द्वारा।
उन सबको अपनी काया से उसने तत्क्षण फेंक उतारा ॥५५-५६॥
हेम-कान्ता कैकेयी वह कुब्जा की बातों में आयी।
अतः भूमि पर लेट, मन्थरा को उसने यह बात बतायी ॥ ५७ ॥
स्वर्ण, रत्न, भूषण से कुब्जे! मेरा है कुछ नहीं प्रयोजन।
रह न सकूँगी जीवित अब मैं, अगर हुआ न भरत-अभिषिञ्चन ॥
राम-वन-गमन बाद, भरत की या राजश्री हो जाएगी।
या तू मेरी मृत्यु-सूचना महाराज को पहुँचाएगी ॥५८-५९॥

दशरथ-रानी भरताम्बा[2] उन कैकेयी से तब फिर
बोली कुब्जा क्रूर वचन वह, अति कठोर, अति अरुचिर[3]।
जो थे भरत-हेतु प्रिय हितकर, रामचन्द्र को घातक
रानी पथ से विपथ न हो, बस वहाँ रही वह सुस्थिर[4] ॥ ६० ॥

हे कल्याणि! प्राप्त कर लेंगे राज्य कहीं यदि रघुवर
तो संताप बहुत आयेंगे, भरत-सहित तव तुम पर।
इससे ऐसा यत्न करो तुम! होवे शीघ्र भरत का
युवराजाभिषेक, (जो होगा, हम सबको ही सुखकर) ॥ ६१ ॥

बारम्बार किया कुब्जा ने वचन-बाण का वर्षण
जिससे आहत[5] कैकेयी में हुआ बहुत ही घर्षण।
उसने दोनों हाथ रख लिये होकर कुपित हृदय पर
बारम्बार वचन बोली फिर, कुब्जे! पूर्ण ध्यान धर ॥ ६२ ॥

---

१ विशाल नयनों वाली; २ भरत की माता कैकेयी; ३ अप्रिय; ४ अटल; ५ घायल।

यमस्य वा मां विषयं गतामितो
निशम्य कुब्जे प्रतिवेदयिष्यसि ।
वनं गते वा सुचिराय राघवे
समृद्धकामो भरतो भविष्यति ॥ ६३ ॥
अहं हि नैवास्तरणानि न स्रजो
न चन्दनं नाञ्जनपानभोजनम् ।
न किंचिदिच्छामि न चेह जीवनं
न चेदितो गच्छति राघवो वनम् ॥ ६४ ॥
अथैवमुक्त्वा वचनं सुदारुणं
निधाय सर्वाभरणानि भामिनी ।
असंस्कृतामास्तरणेन मेदिनीं
तदाधिशिश्ये पतितेव किंनरी ॥ ६५ ॥
उदीर्णसंरम्भतमोवृतानना
तदावमुक्तोत्तममाल्यभूषणा ।
नरेन्द्रपत्नी विमना बभूव सा
तमोवृता द्यौरिव मग्नतारका ॥ ६६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

राजा दशरथ का कैकेयी के भवन में जाना, उसे कोपभवन में स्थित देखकर दुःखी होना और उसको अनेक प्रकार से सान्त्वना देना

विदर्शिता यदा देवी कुब्जया पापया भृशम् ।
तदा शेते स्म सा भूमौ दिग्धविद्धेव किंनरी ॥ १ ॥
निश्चित्य मनसा कृत्यं सा सम्यगिति भामिनी ।
मन्थरायै शनैः सर्वमाचचक्षे विचक्षणा ॥ २ ॥
सा दीना निश्चयं कृत्वा मन्थरावाक्यमोहिता ।
नागकन्येव निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च भामिनी ॥ ३ ॥
मुहूर्तं चिन्तयामास मार्गमात्मसुखावहम् ।
सा सुहृच्चार्थकामा च तं निशम्य विनिश्चयम् ॥ ४ ॥
बभूव परमप्रीता सिद्धिं प्राप्येव मन्थरा ।
अथ सा रुषिता देवी सम्यक्कृत्वा विनिश्चयम् ॥ ५ ॥

बहुत दिनों के लिए राम के या तो वन जाने पर
सफल मनोरथ मैं होऊँगी, होंगे भरत प्रजेश्वर।
अथवा गयी जानकर मुझको, यम-नगरी में कुब्जे!
नृपति-समीप जायगी! मेरा मरण-सँदेशा लेकर।। ६३ ।।

मैं छोड़ूँगी सभी बिछौने, पुण्य-हार औ चन्दन
भोजन, पान आदि त्यागूँगी, इसी भाँति नयनाञ्जन।
नहीं गये यदि राम विपिन को, इस उद्यम के द्वारा
तो मैं अपने इस जीवन का कर डालूँगी विनशन।। ६४ ।।

कैकेयी ने ऐसी दारुण वचनावली सुनाकर
त्याग दिये अपने भूषण सब कोपभवन में जाकर।
और विना विस्तर के लेटी जब वह कुपित धरणि पर
तब लगता था गिरी किन्नरी नभ से भू पर आकर।। ६५ ।।

कैकेयी का मुख सत्वर[1] तब, हुआ कोप-तम-आवृत[2]
पुष्प-माल्य, भूषण, वसनों को उसने किया अनादृत[3]।
वह उदास मुख वाली रानी तब लगती थी ऐसे
जैसे डूबे तारों वाला नभ हो तम[4] से छादित।। ६६ ।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
नवाँ सर्ग समाप्त ।। ९ ।।

दसवाँ सर्ग

राजा दशरथ का कैकेयी के भवन में जाना, उसे कोपभवन में स्थित देखकर दुखी होना और उसको अनेक प्रकार से सान्त्वना देना

पापिनि कुब्जा ने कैकेयी को उलटी जब राह सुझाई।
तब विष-शर से विद्ध किन्नरी-सी वह भू पर पड़ी दिखाई।। १ ।।
तथा मन्थरा-कथित कार्य जब उसे समझ में उत्तम आया।
धीरे से भामिनी विचक्षण ने सब निज मन्तव्य[5] बताया।। २ ।।
दीन, मन्थरा-वचन-विमोहित ने तब सब निश्चय कर।
नाग-सुता-सम उष्ण दीर्घ साँसों पर साँसें भरकर।।
फिर मुहूर्त तक, निज सुखदायक मार्ग सोचती रही तत्परा।
कैकेयी की हितैषिणी सब देख रही थी कुटिल मन्थरा।।
मुदित हुई अति सकल देख-सुन, जैसे उसे सिद्धि मिल पाई।
इधर कुपित कैकेयी भी तब, भलीभाँति निश्चय पर आई।।

---

१ शीघ्र ही; २ क्रोध रूपी अन्धकार से ढँका; ३ तिरस्कृत; ४ अन्धकार; ५ विचार।

संविवेशाबला भूमौ निवेश्य भ्रुकुटिं मुखे ।
ततश्चित्राणि माल्यानि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ६ ॥
अपविद्धानि कैकेय्या तानि भूमिं प्रपेदिरे ।
तया तान्यपविद्धानि माल्यान्याभरणानि च ॥ ७ ॥
अशोभयन्त वसुधां नक्षत्राणि यथा नभः ।
क्रोधागारे च पतिता सा बभौ मलिनाम्बरा ॥ ८ ॥
एकवेणीं दृढां बद्ध्वा गतसत्त्वेव किंनरी ।
अज्ञाप्य तु महाराजो राघवस्याभिषेचनम् ॥ ९ ॥
उपस्थानमनुज्ञाप्य प्रविवेश निवेशनम् ।
अद्य रामाभिषेको वै प्रसिद्ध इति जज्ञिवान् ॥ १० ॥
प्रियार्हां प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी ।
स कैकेय्या गृहं श्रेष्ठं प्रविवेश महायशाः ॥ ११ ॥
पाण्डुराभ्रमिवाकाशं राहुयुक्तं निशाकरः ।
शुकबर्हिसमायुक्तं क्रौञ्चहंसरुतायुतम् ॥ १२ ॥
वादित्ररवसंघुष्टं कुब्जावामनिकायुतम् ।
लतागृहैश्चित्रगृहैश्चम्पकाशोकशोभितैः ॥ १३ ॥
दान्तराजतसौवर्णवेदिकाभिः समायुतम् ।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्वापीभिरुपशोभितम् ॥ १४ ॥
दान्तराजतसौवर्णैः संवृतं परमासनैः ।
विविधैरन्नपानैश्च भक्ष्यैश्च विविधैरपि ॥ १५ ॥
उपपन्नं महार्हैश्च भूषणैस्त्रिदिवोपमम् ।
स प्रविश्य महाराजः स्वमन्तःपुरमृद्धिमत् ॥ १६ ॥
न ददर्श स्त्रियं राजा कैकेयीं शयनोत्तमे ।
स कामबलसंयुक्तो रत्यर्थी मनुजाधिपः ॥ १७ ॥
अपश्यन् दयितां भार्यां पप्रच्छ विषसाद च ।
नहि तस्य पुरा देवी तां वेलामत्यवर्तत ॥ १८ ॥
न च राजा गृहं शून्यं प्रविवेश कदाचन ।
ततो गृहगतो राजा कैकेयीं पर्यपृच्छत ॥ १९ ॥
यथापुरमविज्ञाय स्वार्थलिप्सुमपण्डिताम् ।
प्रतिहारी त्वथोवाच संत्रस्ता तु कृताञ्जलिः ॥ २० ॥
देव देवी भृशं क्रुद्धा क्रोधागारमभिद्रुता ।
प्रतीहार्या वचः श्रुत्वा राजा परमदुर्मनाः ॥ २१ ॥

मुख की भौहों को टेढ़ी कर, लेटी भू का आश्रय लेके।
फिर केकय की पुत्री ने तब पुष्प-हार, भूषण सब फेंके ॥
यत्र-तत्र भूषण बिखरे वे पृथ्वी पर ऐसे दिखलाते।
जैसे छिटके तारे नभ की सुषमा हैं अत्यन्त बढ़ाते ॥
बिखरे पुष्पहार-आभूषण से शोभित थी वह वसुन्धरा।
कोपभवन में पड़ी हुई थी, वह कैकेयी मलिन-अम्बरा[1] ॥
जूरा बँधा सकल केशों का, गिरी अचेत किन्नरी जैसी।
अभिसिञ्चन[2] की तैयारी-हित, सचिवों को इधर आज्ञा ऐसी ॥
दे करके आदेश नृपति तब अन्तःपुर में हुए उपस्थित।
सोचा, सभी रानियाँ होंगी इस सुवृत्त से अभी अपरिचित ॥
अतः वशी[3] नृप महल पधारे, कहने की इच्छा रख, मन में।
पहले प्रविशित हुए यशस्वी कैकेयी के श्रेष्ठ भवन में ॥
मानों शशि ने किया पदार्पण, राहु, श्वेत घन-युक्त गगन में।
हंस, क्रौंच, शुक, मोरों का होता था कलरव वहाँ भवन में ॥ ३-१२ ॥
वाद्य-घोष गुञ्जित होता था, थीं बौनी, दासी कुब्जाएँ।
चित्र-गेह, चम्पक, अशोक-तरु-शोभित थी बहु सुमन-लताएँ ॥ १३ ॥
चाँदी, हाथी-दाँत, स्वर्ण की वहाँ वेदियाँ थीं अति अद्भुत।
नित्य फलित, पुष्पित तरुओं सँग, बावड़ियों से था वह श्रीयुत ॥ १४ ॥
हाथी-दाँत, स्वर्ण, चाँदी के सिंहासन थे वहाँ सुहाते।
और पेयरस, भक्ष्य, भोज्य थे, बहु पदार्थ भी तब दिखलाते ॥ १५ ॥
था बहुमूल्य भूषणों से युत, भवन बहुत ही शोभा पाता।
उस समृद्ध निज अन्तःपुर में आये महाराज जन-त्राता ॥ १६ ॥
देखा वहाँ नहीं कैकेयी को अपनी उत्तम शय्या पर।
रानी-मोद-विवर्धन[4] को थे आये कामातुर वे नृप वर ॥ १७ ॥
वहाँ न पाकर कैकेयी को, लगे पूछने नृपति दुखित मन।
पहले नहीं उस समय करती थीं कैकेयी कहीं भी गमन ॥
नहीं भवन में आये थे नृप, पहले कभी शून्य अवसर में।
(अतः चकित) वे लगे पूछने कैकेयी को आकर घर में ॥ १८-१९ ॥
मूर्ख, स्वार्थिनी से अजान, वे भूपति प्रश्न लगे तब करने।
प्रतिहारिणि[5] तब सभय, जोड़ कर, नृप से लगी बात यों कहने ॥ २० ॥
दुखिता होकर कैकेयी ने कोपभवन को किया है गमन।
प्रतिहारिणि की वार्ता सुनकर हुआ उदास नृपति का तब मन ॥ २१ ॥

---

१ मैले कपड़ों से युक्त; २ अभिषेक; ३ संयमी; ४ आनन्द-वृद्धि; ५ पहरेदारिन।

विषसाद पुनर्भूयो लुलितव्याकुलेन्द्रियः ।
तत्र तां पतितां भूमौ शयानामतथोचिताम् ॥ २२ ॥
प्रतप्त इव दुःखेन सोऽपश्यज्जगतीपतिः ।
सवृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ २३ ॥
अपापः पापसंकल्पां ददर्श धरणीतले ।
लतामिव विनिष्कृत्तां पतितां देवतामिव ॥ २४ ॥
किंनरीमिव निर्धूतां च्युतामप्सरसं यथा ।
मायामिव परिभ्रष्टां हरिणीमिव संयताम् ॥ २५ ॥
करेणुमिव दिग्धेन विद्धां मृगयुना वने ।
महागज इवारण्ये स्नेहात् परमदुःखिताम् ॥ २६ ॥
परिमृज्य च पाणिभ्यामभिसंत्रस्तचेतनः ।
कामी कमलपत्राक्षीमुवाच वनितामिदम् ॥ २७ ॥
न तेऽहमभिजानामि क्रोधमात्मनि संश्रितम् ।
देवि केनाभियुक्तासि केन वासि विमानिता ॥ २८ ॥
यदिदं मम दुःखाय शेषे कल्याणि पांसुषु ।
भूमौ शेषे किमर्थं त्वं मयि कल्याणचेतसि ॥ २९ ॥
भूतोपहतचित्तेव मम चित्तप्रमाथिनि ।
सन्ति मे कुशला वैद्यास्त्वभितुष्टाश्च सर्वशः ॥ ३० ॥
सुखितां त्वां करिष्यन्ति व्याधिमाचक्ष्व भामिनि ।
कस्य वापि प्रियं कार्यं केन वा विप्रियं कृतम् ॥ ३१ ॥
कः प्रियं लभतामद्य को वा सुमहदप्रियम् ।
मा रौत्सीर्मा च कार्षीस्त्वं देवि सम्परिशोषणम् ॥ ३२ ॥
अवध्यो वध्यतां को वा वध्यः को वा विमुच्यताम् ।
दरिद्रः को भवेदाढ्यो द्रव्यवान् वाप्यकिंचनः ॥ ३३ ॥
अहं च हि मदीयाश्च सर्वे तव वशानुगाः ।
न ते कंचिदभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे ॥ ३४ ॥
आत्मनो जीवितेनापि ब्रूहि यन्मनसि स्थितम् ।
बलमात्मनि जानन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि ॥ ३५ ॥
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे ।
यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुंधरा ॥ ३६ ॥
द्राविडाः सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणापथाः ।
वङ्गाङ्गमगधा मत्स्याः समृद्धाः काशिकोसलाः ॥ ३७ ॥
तत्र जातं बहु द्रव्यं धनधान्यमजाविकम् ।
ततो वृणीष्व कैकेयि यद् यत् त्वं मनसेच्छसि ॥ ३८ ॥

चञ्चल व्याकुल हुईं इन्द्रियाँ नृप की, तब वे हुए अति दुखित।
देखा, वहाँ भूमि पर लेटी, जो था उसके लिए न समुचित ॥ २२ ॥
दुःख-तप्त नृप ने रानी की देखी तभी अवस्था सारी।
वृद्ध नृपति की तरुणी रानी प्राणों से बढ़कर थी प्यारी ॥ २३ ॥
नृप अ-पाप, पापिनि-मन रानी, नृप को ऐसी दी दिखलाई।
कटी लता या गिरी गगन से देवांगना भूमि पर आई ॥ २४ ॥
देवलोक से गिरी अप्सरा, स्वर्ग-भ्रष्ट हो यथा किन्नरी।
लक्ष्य-भ्रष्ट माया हो कोई या हो जाल-निबद्धा हरिणी ॥ २५ ॥
यथा व्याध-विष-शर-बिद्धा हो, गिरी दुखित हथिनी कानन में।
करता है सुस्पर्श गजाधिप, स्नेह-भावना रखकर मन में ॥ २६ ॥
त्रस्त नृपति ने युगल करों से सुहराया रानी को वैसे।
कामातुर नृप कमलाक्षी से बोले वचन विनययुत ऐसे ॥ २७ ॥
देवि ! मुझे विश्वास यही है, क्रोध न मुझ पर हुआ तुम्हारा।
फिर किससे तुम हुईं तिरस्कृत अथवा निन्दित किसके द्वारा ? ॥ २८ ॥
लोट रहीं कल्याणि ! धूलि में क्यों ? यह दुखद मुझे है ऐसे।
सदा तुम्हारे हित की इच्छा रहती है मेरी तो वैसे ॥ २९ ॥
मेरे होते हुए, इस तरह, भूत-ग्रसित-सी तुम दिखलातीं।
यहाँ वैद्य हैं बहुत, बताओ भामिनि ! क्या पीड़ा तुम पातीं ? ॥
सुखी करेंगे वही, तुम्हें ! वे सकल तुष्ट हैं मेरे द्वारा।
अथवा किसका प्रिय करना है ? किससे अप्रिय हुआ तुम्हारा ॥
किस हितकर की इष्ट-सिद्धि हो ? तथा अहितकर का अति अप्रिय।
देवि ! न रोओ और न अपनी देह सुखाने में हो सक्रिय ॥ ३०-३२ ॥
किस अवध्य का वध कर डालूँ ? और वध्य के प्राण बचाऊँ ?।
किस दरिद्र को धनी ? कहो किस धनी व्यक्ति को दीन बनाऊँ ? ॥ ३३ ॥
मैं, मेरे सेवक सदैव हैं, देवि ! तुम्हारे आज्ञाकारी।
जो चाहोगी ! वही करूँगा, भंग न होगी बात तुम्हारी ॥
देने पड़ें प्राण भी चाहे, मन में जो कुछ है, बतलाओ !।
अपने बल को समझ, न मुझ पर कुछ संदेह-भावना लाओ ॥ ३४-३५ ॥
सत्कर्मों की शपथ खा रहा, तुम्हें करूँगा मुदिता प्यारी !।
सूर्य-प्रकाश जहाँ तक जाता, वहाँ तलक का थल-अधिकारी ॥ ३६ ॥
द्रविण, सिन्धु, सौवीर आदि पर मेरा है अधिकार सर्वथा।
कोसल, काशी, मत्स्य, मगध-संग अंग-बंग, सौराष्ट्र पर तथा ॥ ३७ ॥
उनमें पैदा भेड़, बकरियाँ, धान्या[illegible] एवं धन-अक्षय।
इनमें जो हो प्रिय, [illegible] वह, मुझसे [illegible]न्दिनि ! निश्चय ॥ ३८ ॥

किमायासेन ते भीरु उत्तिष्ठोत्तिष्ठ शोभने ।
तत्त्वं मे ब्रूहि कैकेयि यतस्ते भयमागतम् ।
तत् ते व्यपनयिष्यामि नीहारमिव रश्मिवान् ॥ ३९ ॥
तथोक्ता सा समाश्वस्ता वक्तुकामा तदप्रियम् ।
परिपीडयितुं भूयो भर्तारमुपचक्रमे ॥ ४० ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

कैकेयी का राजा को प्रतिज्ञाबद्ध करके उन्हें पहले के दिए हुए दो वरों का स्मरण दिलाकर भरत के लिए अभिषेक और राम के लिए चौदह वर्षों का वनवास माँगना

तं मन्मथशरैर्विद्धं कामवेगवशानुगम् ।
उवाच पृथिवीपालं कैकेयी दारुणं वचः ॥ १ ॥
नास्मि विप्रकृता देव केनचिन्नावमानिता ।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित् तमिच्छामि त्वया कृतम् ॥ २ ॥
प्रतिज्ञां प्रतिजानीष्व यदि त्वं कर्तुमिच्छसि ।
अथ ते व्याहरिष्यामि यथाभिप्रार्थितं मया ॥ ३ ॥
तामुवाच महाराजः कैकेयीमीषदुत्स्मयः ।
कामी हस्तेन संगृह्य मूर्धजेषु भुवि स्थिताम् ॥ ४ ॥
अवलिप्ते न जानासि त्वत्तः प्रियतरो मम ।
मनुजो मनुजव्याघ्राद् रामादन्यो न विद्यते ॥ ५ ॥
तेनाजय्येन मुख्येन राघवेण महात्मना ।
शपे ते जीवनार्हेण ब्रूहि यन्मनसेप्सितम् ॥ ६ ॥
यं मुहूर्तमपश्यंस्तु न जीवे तमहं ध्रुवम् ।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम् ॥ ७ ॥
आत्मना चात्मजैश्चान्यैर्वृणे यं मनुजर्षभम् ।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम् ॥ ८ ॥
भद्रे हृदयमप्येतदनुमृश्योद्धरस्व मे ।
एतत् समीक्ष्य कैकेयि ब्रूहि यत् साधु मन्यसे ॥ ९ ॥
बलमात्मनि पश्यन्ती न विशङ्कितुमर्हसि ।
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे ॥ १० ॥

भीरु ! कौन सी आवश्यकता, जो प्रयास यह कष्ट उठाया ? ।
उठो शोभने ! शीघ्र बताओ तुम पर भय कैसा है आया ? ॥
कष्ट करूँगा दूर तुम्हारा, रवि जैसे कुहरे को करता ।
(कैकेयी को मिली सान्त्वना, बोले ज़ब ऐसे वे भर्ता) ॥ ३६ ॥
तब इच्छुक वह हुई, वता दूँ, 'अप्रिय वार्ता' पति को सारी ।
पति को अधिक प्रपीड़ित करने की उसने फिर की तैयारी ॥ ४० ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्ष रामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
दसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ सर्ग

कैकेयी का राजा को प्रतिज्ञाबद्ध करके उन्हें पहले के दिये हुए दो वरों का स्मरण दिलाकर भरत के लिए अभिषेक और राम के लिए चौदह वर्षों का वनवास माँगना

मन्मथ - शर से पीड़ित वे नृप काम-वेग के वशीभूत थे ।
उनसे बोली कैकेयी तब दारुण वचन परम दुख-प्रद थे ॥ १ ॥
अपमानक[1], निन्दक, अपकारक, कोई भी है नहीं हमारा ।
मेरे एक मनोरथ की बस वाञ्छित पूर्ति आपके द्वारा ॥ २ ॥
उसे पूर्ण करना चाहें तो करें प्रतिज्ञा पहले, नृपवर ! ।
तब मैं अपने अभिप्राय को बतलाने में होऊँ तत्पर ॥ ३ ॥
काम-ग्रस्त नृप कैकेयी से बोले और स्वल्प मुसकाये ।
भू से उठा केश सुहरा कर उसे अंक में अपने लाये ॥ ४ ॥
निज-सौभाग्य-गर्विते[2] ! तुझको क्या यह नहीं ध्यान में आता ।
नृवर राम के सिवा न मुझको तुमसे अधिक अन्य प्रियदाता ॥ ५ ॥
शपथ खा रहा वीर, महात्मा, प्राणप्रिय दुर्धर्ष राम की ।
मुझे बताओ ! निश्चित होगी पूर्ति तुम्हारे कथित काम की ॥ ६ ॥
मैं कैकेयि ! जिन्हें घटिका-द्वय देखे विना न जी पाऊँगा ।
उनकी शपथ, कहोगी जो कुछ वही कार्य कर दिखलाऊँगा ॥ ७ ॥
अन्य सुतों सँग निज को जिन पर किया निछावर प्रमुख मानकर ।
शपथ उन्हीं की, पूर्ण करूँगा कार्य तुम्हारा प्रिये ! जानकर ॥ ८ ॥
भद्रे ! वचन-पूर्ति-तत्पर हूँ, यही सोचकर मुझे उबारो[3] ! ।
सर्वाधिक प्रिय राम-शपथ पर अब तो प्रिये धैर्य मन धारो ॥ ९ ॥
और देखते हुए स्व-बल को, मुझ पर शंका तनिक न लाओ ! ।
सत्कर्मों की शपथ, करूँगा कार्य-सिद्धि निश्चय, बतलाओ ॥ १० ॥

---

१ अपमान करनेवाला; २ अपने सौभाग्य पर गर्व करनेवाली; ३ उद्धार करो ।

सा तदर्थमना देवी तमभिप्रायमागतम् ।
निर्भर्त्स्याच्च हर्षाच्च बभाषे दुर्वचं वचः ॥ ११ ॥

तेन वाक्येन संहृष्टा तमभिप्रायमात्मनः ।
व्याजहार महाघोरमभ्यागतमिवान्तकम् ॥ १२ ॥

यथा क्रमेण शपसे वरं मम ददासि च ।
तच्छृण्वन्तु त्रयस्त्रिंशद् देवाः सेन्द्रपुरोगमाः ॥ १३ ॥

चन्द्रादित्यौ नभश्चैव ग्रहा रात्र्यहनी दिशः ।
जगच्च पृथिवी चेयं सगन्धर्वाः सराक्षसाः ॥ १४ ॥
निशाचराणि भूतानि गृहेषु गृहदेवताः ।
यानि चान्यानि भूतानि जानीयुर्भाषितं तव ॥ १५ ॥

सत्यसंधो महातेजा धर्मज्ञः सत्यवाक्शुचिः ।
वरं मम ददात्येष सर्वे शृण्वन्तु दैवताः ॥ १६ ॥

इति देवी महेष्वासं परिगृह्याभिशस्य च ।
ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ॥ १७ ॥
स्मर राजन् पुरा वृत्तं तस्मिन् देवासुरे रणे ।
तत्र त्वां च्यावयच्छत्रुस्तव जीवितमन्तरा ॥ १८ ॥

तत्र चापि मया देव यत् त्वं समभिरक्षितः ।
जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्रददौ वरौ ॥ १९ ॥
तौ दत्तौ च वरौ देव निक्षेपौ मृगयाम्यहम् ।
तवैव पृथिवीपाल सकाशे रघुनन्दन ॥ २० ॥

तत् प्रतिश्रुत्य धर्मेण न चेद् दास्यसि मे वरम् ।
अद्यैव हि प्रहास्यामि जीवितं त्वद्विमानिता ॥ २१ ॥

वाङ्मात्रेण तदा राजा कैकेय्या स्ववशे कृतः ।
प्रचस्कन्द विनाशाय पाशं मृग इवात्मनः ॥ २२ ॥
ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ।
वरौ देयौ त्वया देव तदा दत्तौ महीपते ॥ २३ ॥
तौ तावदहमद्यैव वक्ष्यामि शृणु मे वचः ।
अभिषेकसमारम्भो राघवस्योपकल्पितः ॥ २४ ॥
अनेनैवाभिषेकेण भरतो मेऽभिषिच्यताम् ।
यो द्वितीयो वरो देव दत्तः प्रीतेन मे त्वया ॥ २५ ॥
तदा देवासुरे युद्धे तस्य कालोऽयमागतः ।
नव पञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ॥ २६ ॥

हर्षित स्वार्थ-ग्रस्त रानी ने, वश में जब भूपति को पाया।
तब उनको उस अवसरवादिनि[1] ने अपना दुर्वचन सुनाया ॥ ११ ॥
शपथ-युक्त नृप-वचन-श्रवण से, हुआ हर्ष था उसको भारी।
अतः समागत[2] भीषण यम-सम शब्दों में बोली वह नारी ॥ १२ ॥
क्रमशः स-शपथ आप हुए हैं, वर देने को उद्यत जैसे।
इन्द्र आदि तैंतीस देवता भी सुन ले, राजन्! अब वैसे ॥ १३ ॥
शशि, रवि, नभ, ग्रह, दिवस, निशा-सँग जगत, धरणि, गन्धर्व, दिशाएँ।
तथा रात्रिचर प्राणी, राक्षस, गृह-देवादि सुनें वार्ताएँ।
इनसे भिन्न अन्य प्राणी सब कथन आपका विधिवत् जानें।
और आपकी बातों के, निज को प्रतक्ष साक्षी वे मानें ॥१४-१५॥
सुनें देवता, अति तेजस्वी सत्यव्रती धर्म के ज्ञाता।
शुद्धाचरण-विचारक नृपवर आज मुझे हैं वरप्रदाता ॥ १६ ॥
काम-विमोहित, महाधनुर्धर, वरद[3] भूप को वश में लाकर।
कैकेयी ने कहा इस तरह, उन्हें प्रशंसा-शब्द सुनाकर ॥ १७ ॥
वृत्त[4] पुराना स्मरण करें नृप! देवासुर-रण का वह सारा।
प्राण रुके बस, और आप थे आहत घोर, शत्रु के द्वारा ॥ १८ ॥
वहाँ रात भर जाग, आपकी प्राण-सुरक्षा-यत्न किये थे।
अतः आपने तब सु-तुष्ट हो, दो वर मुझको वहाँ दिये थे ॥ १९ ॥
उन्हें आपके पास रख दिये, मैंने मान, धरोहर जैसे।
अब मुझको अभिलाषा उनकी श्रीमन् से पाऊँ मैं कैसे? ॥ २० ॥
धर्म-प्रतिज्ञा करके भी यदि आप न मुझको वे वर देंगे।
तो मैं प्राण त्याग कर दूँगी, अपमानित यदि आप करेंगे ॥ २१ ॥
वचन मात्र से, बहेलिये के हिरन जाल में आये जैसे।
कैकेयी-वर-वचन-प्रतिज्ञा-बन्धन में आये नृप वैसे ॥ २२ ॥
वर देने को उद्यत कामातुर नृप से बोली यों रानी।
हैं दातव्य[5] उभय[6] वर, जिनकी हुई प्रतिज्ञा बहुत पुरानी ॥
सुनें! बताती, प्रथम प्रतिज्ञा के वर की वार्ता मैं सारी।
राम-राज्य-अभिषेक-हेतु है हुई हृदय-पति! जो तैयारी ॥
वह अभिषेक भरत सुत का नृप! करें उसी सामग्री द्वारा।
देव! मुदित वर दिया आपने! देवासुर रण-समय दूसरा ॥२३-२५॥
उसे प्राप्त करने का अवसर आया अब, राजन्! सुखकारी।
चौदह वर्षों को होवें अब राम तपस्वी दण्डक-चारी ॥

---

१ अवसर का लाभ उठानेवाली, मौक़ापरस्त; २ आये हुये, साक्षात्; ३ वर देने को वचनबद्ध; ४ इतिहास; ५ देने योग्य; ६ दोनों।

चीराजिनधरो धीरो रामो भवतु तापसः ।
भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम् ॥ २७ ॥
एष मे परमः कामो दत्तमेव वरं वृणे ।
अद्य चैव हि पश्येयं प्रयान्तं राघवं वने ॥ २८ ॥
स राजराजो भव सत्यसंगरः
कुलं च शीलं च हि जन्म रक्ष च ।
परत्र वासे हि वदन्त्यनुत्तमं
तपोधनाः सत्यवचो हितं नृणाम् ॥ २९ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

महाराज दशरथ की चिन्ता, विलाप, कैकेयी को फटकारना, समझाना और उससे वैसा वर न मांगने के लिए अनुरोध करना –

ततः श्रुत्वा महाराजः कैकेय्या दारुणं वचः ।
चिन्तामभिसमापेदे मुहूर्तं प्रतताप च ॥ १ ॥
किं नु मेऽयं दिवास्वप्नश्चित्तमोहोऽपि वा मम ।
अनुभूतोपसर्गो वा मनसो वाप्युपद्रवः ॥ २ ॥
इति संचिन्त्य तद् राजा नाध्यगच्छत् तदासुखम् ।
प्रतिलभ्य ततः संज्ञां कैकेयीवाक्यतापितः ॥ ३ ॥
व्यथितो विक्लवश्चैव व्याघ्रीं दृष्ट्वा यथा मृगः ।
असंवृतायामासीनो जगत्यां दीर्घमुच्छ्वसन् ॥ ४ ॥
मण्डले पन्नगो रुद्धो मन्त्रैरिव महाविषः ।
अहो धिगिति सामर्षो वाचमुक्त्वा नराधिपः ॥ ५ ॥
मोहमापेदिवान् भूयः शोकोपहतचेतनः ।
चिरेण तु नृपः संज्ञां प्रतिलभ्य सुदुःखितः ॥ ६ ॥
कैकेयीमब्रवीत् क्रुद्धो निर्दहन्निव तेजसा ।
नृशंसे दुष्टचारित्रे कुलस्यास्य विनाशिनि ॥ ७ ॥
किं कृतं तव रामेण पापे पापं मयापि वा ।
सदा ते जननीतुल्यां वृत्तिं वहति राघवः ॥ ८ ॥
तस्यैवं त्वमनर्थाय किंनिमित्तमिहोद्यता ।
त्वं मयाऽऽत्मविनाशाय भवनं स्वं निवेशिता ॥ ९ ॥

धारण कर मृग-चर्म, चीर वे वल्कल-वसन विपिन[1] को जाएँ।
निष्कण्टक युवराज-पदप्रिय भरत पुत्र सत्वर[2] अब पाएँ।। २६-२७।।
यही कामना मेरी है, जो माँग रही हूँ वर के नाते।
करें व्यवस्था! जिससे देखूँ आज राम को वन में जाते।। २८ ।।
आप नृपों के नृप हैं! इससे, बनें! सत्य-व्रत-चारी
निज उत्तम कुल-जन्म-शील के संरक्षक हितकारी।
तपोव्रती हैं सत्यवादिता को ही धर्म बताते
इससे नर परलोक, मंगलों का होता अधिकारी।। २९ ।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ।। ११ ।।

बारहवाँ सर्ग

महाराज दशरथ की चिन्ता, विलाप, कैकेयी को फटकारना, समझाना और उससे वैसा वर न माँगने के लिए अनुरोध करना

कैकेयी के दारुण वचनों से भूपति चिन्ता में आये।
और उन्होंने फिर मुहूर्त भर अति संतापज[3] कष्ट उठाये।। १ ।।
सोचा दिवा-स्वप्न है यह, या मेरा मानस-मोह सर्वथा।
भूत-ग्रस्त हूँ या कि मिल रही आधि-व्याधि की मुझे यह व्यथा।। २ ।।
निश्चय में असमर्थ नृपति वे फिर मूर्च्छा की स्थिति में आये।
संज्ञा-युत[4] होने पर फिर वे उसी याद से गये संताये।। ३ ।।
व्याघ्री-जैसी कैकेयी से व्यथित हरिणवत् वे भूपति वर।
लंबी साँसें लगे खींचने, बैठ बिना बिस्तर के भू पर।।
मंत्र-बद्ध ज्यों सर्प विषैला मण्डल में बेबस फँस जाये।
बोले 'धिक् सामर्थ्य' नृपति वे और पुनः मूर्च्छा में आये।। ४-५ ।।
हुई चेतना लुप्त नृपति की, शोक अधिक तब मन में छाया।
बहुत देर में संज्ञा आने पर भी दुःख न था मिट पाया।। ६ ।।
करते हुए तेज से अपने, कैकेयी को दग्ध नृपति वर।
बोले, निर्दय! दुष्ट-चरित्रे! तू है कुल-विनाश में तत्पर।। ७ ।।
पापिनि! मुझसे या कि राम से तेरा क्या अनहित हो पाया?।
तुझसे तो निज माता-जैसा राघव ने व्यवहार निभाया।। ८ ।।
फिर भी करने को अनिष्ट उनका, है तू! उद्यत दिखलाती।
लाया तुझको कुल-विनाश-हित गृह में, बात समझ में आती।। ९ ।।

---

१ जंगल; २ शीघ्र ही; ३ संताप (दाह) देनेवाले; ४ होश में।

अविज्ञानान्नृपसुता व्याला तीक्ष्णविषा यथा।
जीवलोको यदा सर्वो रामस्याह गुणस्तवम् ॥ १० ॥
अपराधं कमुद्दिश्य त्यक्ष्यामीष्टमहं सुतम्।
कौसल्यां च सुमित्रां च त्यजेयमपि वा श्रियम् ॥ ११ ॥
जीवितं चात्मनो रामं न त्वेव पितृवत्सलम्।
परा भवति मे प्रीतिर्दृष्ट्वा तनयमग्रजम् ॥ १२ ॥
अपश्यतस्तु मे रामं नष्टं भवति चेतनम्।
तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं सस्यं वा सलिलं विना ॥ १३ ॥
न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम्।
तदलं त्यज्यतामेष निश्चयः पापनिश्चये ॥ १४ ॥
अपि ते चरणौ मूर्ध्ना स्पृशाम्येष प्रसीद मे।
किमर्थं चिन्तितं पापे त्वया परमदारुणम् ॥ १५ ॥
अथ जिज्ञाससे मां त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये।
अस्तु यत्तत्त्वया पूर्वं व्याहृतं राघवं प्रति ॥ १६ ॥
स मे ज्येष्ठसुतः श्रीमान् धर्मज्येष्ठ इतीव मे।
तत् त्वया प्रियवादिन्या सेवार्थं कथितं भवेत् ॥ १७ ॥
तच्छ्रुत्वा शोकसंतप्ता संतापयसि मां भृशम्।
आविष्टासि गृहे शून्ये सा त्वं परवशं गता ॥ १८ ॥
इक्ष्वाकूणां कुले देवि सम्प्राप्तः सुमहानयम्।
अनयो नयसम्पन्ने यत्र ते विकृता मतिः ॥ १९ ॥
नहि किंचिदयुक्तं वा विप्रियं वा पुरा मम।
अकरोस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्दधामि ते ॥ २० ॥
ननु ते राघवस्तुल्यो भरतेन महात्मना।
बहुशो हि स्म बाले त्वं कथाः कथयसे मम ॥ २१ ॥
तस्य धर्मात्मनो देवि वने वासं यशस्विनः।
कथं रोचयसे भीरु नव वर्षाणि पञ्च च ॥ २२ ॥
अत्यन्तसुकुमारस्य तस्य धर्मे कृतात्मनः।
कथं रोचयसे वासमरण्ये भृशदारुणे ॥ २३ ॥
रोचयस्यभिरामस्य रामस्य शुभलोचने।
तव शुश्रूषमाणस्य किमर्थं विप्रवासनम् ॥ २४ ॥
रामो हि भरताद् भूयस्तव शुश्रूषते सदा।
विशेषं त्वयि तस्मात् तु भरतस्य न लक्षये ॥ २५ ॥

नहीं समझता था नागिन है, नृप-तनया-रूपिणी विषैली।
राम-गुणों की है प्रशस्ति जव सारे जीव-जगत में फैली ॥ १० ॥
त्यागूँ कैसे अपने सुत को, समझूँ क्या अपराध अब ? तथा।
मुझे सुमित्रा, कौसल्या औ राज्यच्युति में नहीं है व्यथा ॥ ११ ॥
पितृ-भक्त प्राणप्रिय सुत को कैसे छोड़ूँ ? समझ न पाता।
ज्येष्ठ पुत्र प्रिय राम-दरश से मेरा प्रेम-सिन्धु लहराता ॥ १२ ॥
देखे विना राम को मेरी नष्ट चेतना होने लगती।
रवि के विना जगत-स्थिति सम्भव विना वारि[1] खेती हो सकती ॥
किन्तु राम के विना, रहेंगे नहीं प्राण मेरी काया में।
पाप-निश्चये ! केकयजे[2] ! तुम पड़ो नहीं वर की माया में ॥ १३-१४॥
तथा दुराग्रह त्यागो अपना, लो पैरों पर रखता मस्तक।
हो प्रसन्न पापिनि ! यह दारुण निश्चय आया कैसे तुम तक ? ॥ १५ ॥
जिज्ञासा यदि राम-भरत में कौन अधिक मुझको प्रियतर है।
तो पहला वर भरत-राज्य-अभिषेक मुझे स्वीकृत सुखकर है ॥ १६ ॥
तू कहती थी 'धर्माचारी ज्येष्ठ पुत्र हैं राम हमारे'।
समझा, सेवा-लोभ वचन चिकने-चुपड़े थे मिथ्या सारे ॥ १७ ॥
राम-राज्य सुन शोकाकुल तू मेरा भी संताप बढ़ाती।
ऐसा लगता शून्य भवन की भूत-व्याधि तुझसे कहलाती ॥ १८ ॥
न्यायशील इक्ष्वाकु-वंश में यह भारी अन्याय आ गया।
जो कि तुम्हारी विकृत बुद्धि में यह विचार है देवि ! छा गया ॥ १९ ॥
अब तक नहीं आचरण तुझसे विशालाक्षि[3] ! अप्रिय हो पाया।
अब भी मैं विश्वस्त नहीं हूँ जो अप्रिय तूने वतलाया ॥ २० ॥
बाले ! तू तो भरत-महात्मा-सदृश राम को बतलाती थी।
मुझसे वहुधा कहा यही तो, जब वार्ता की स्थिति आती थी ॥ २१ ॥
राम यशस्वी धार्मिक को यह वर्ष चतुर्दश वन पठवाना।
तुझको अच्छा लगा किस तरह भीरु ! न मैंने अब तक जाना ॥ २२ ॥
अति सुकुमार धर्म-स्थित मन के, दारुणहृदये ! जो हैं रघुवर।
देना यह वनवास उन्ही को तुझे लग रहा कैसे ? रुचिकर ॥ २३ ॥
शुभनेत्रे ! तेरी शुश्रूषा में ही जिनकी बुद्धि है रही।
उन्हीं नयन-अभिराम राम के लिए विपिन की बात क्यों कही ! ॥ २४ ॥
देख रहा हूँ राम भरत से अधिक भक्त हैं सेवक तेरे।
भरत अधिक सेवा करते हैं, नहीं समझ में आया मेरे ॥ २५ ॥

---

१ जल; २ केकय-पुत्री; ३ बड़ी आँखों वाली।

शुश्रूषां गौरवं चैव प्रमाणं वचनक्रियाम् ।
कस्तु भूयस्तरं कुर्यादन्यत्र पुरुषर्षभात् ॥ २६ ॥
बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम् ।
परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते ॥ २७ ॥
सान्त्वयन् सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा ।
गृह्णाति मनुजव्याघ्रः प्रियैर्विषयवासिनः ॥ २८ ॥
सत्येन लोकाञ्जयति द्विजान् दानेन राघवः ।
गुरूञ्छुश्रूषया वीरो धनुषा युधि शात्रवान् ॥ २९ ॥
सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम् ।
विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे ॥ ३० ॥
तस्मिन्नार्जवसम्पन्ने देवि देवोपमे कथम् ।
पापमाशंससे रामे महर्षिसमतेजसि ॥ ३१ ॥
न स्मराम्यप्रियं वाक्यं लोकस्य प्रियवादिनः ।
स कथं त्वत्कृते रामं वक्ष्यामि प्रियमप्रियम् ॥ ३२ ॥
क्षमा यस्मिंस्तपस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता ।
अप्यहिंसा च भूतानां तमृते का गतिर्मम ॥ ३३ ॥
मम वृद्धस्य कैकेयि गतान्तस्य तपस्विनः ।
दीनं लालप्यमानस्य कारुण्यं कर्तुमर्हसि ॥ ३४ ॥
पृथिव्यां सागरान्तायां यत् किंचिदधिगम्यते ।
तत् सर्वं तव दास्यामि मा च त्वं मन्युमाविश ॥ ३५ ॥
अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते ।
शरणं भव रामस्य माधर्मो मामिह स्पृशेत् ॥ ३६ ॥
इति दुःखाभिसंतप्तं विलपन्तमचेतनम् ।
घूर्णमानं महाराज शोकेन समभिप्लुतम् ॥ ३७ ॥
पारं शोकार्णवस्याशु प्रार्थयन्तं पुनः पुनः ।
प्रत्युवाचाथ कैकेयी रौद्रा रौद्रतरं वचः ॥ ३८ ॥
यदि दत्त्वा वरौ राजन् पुनः प्रत्यनुतप्यसे ।
धार्मिकत्वं कथं वीर पृथिव्यां कथयिष्यसि ॥ ३९ ॥
यदा समेता बहवस्त्वया राजर्षयः सह ।
कथयिष्यन्ति धर्मज्ञ तत्र किं प्रतिवक्ष्यसि ॥ ४० ॥
यस्याः प्रसादे जीवामि या च मामभ्यपालयत् ।
तस्याः कृता मया मिथ्या कैकेय्या इति वक्ष्यसि ॥ ४१ ॥
किल्बिषं त्वं नरेन्द्राणां करिष्यसि नराधिप ।
यो दत्त्वा वरमद्यैव पुनरन्यानि भाषसे ॥ ४२ ॥

जो गुरुजन को गौरव देकर, सेवा करके वचन निभाये।
ऐसा नृवर राम से बढ़कर अन्य कौन है? तुही बताये॥ २६ ॥
यहाँ सहस्रों महिलाओं-सँग उपजीवी[1] जो भृत्य दिखाते।
वे न राम-प्रति सत्या, मिथ्या, विमुख वार्ता कभी बताते॥ २७ ॥
देते हुए नृसिंह सान्त्वना प्राणिमात्र को शुद्ध हृदय से।
राज्य-प्रजा को वश में रखते, राम प्रेम-आचरण, विनय से॥ २८ ॥
सत्य, दान, सेवा से लोकों, द्विजों, गुरुजनों को अपनाते।
रण में वीर, धनुष से रिपु की सेना को हैं वश में लाते॥ २९ ॥
सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता के साथ सरलता।
विद्या, गुरु-सेवादि गुणों की है राघव में सदा प्रबलता॥ ३० ॥
महर्षियों - सम तेजस्वी हैं सीधे - सादे राम देववत्।
देवि! भला उनके अनिष्ट को, क्यों होती हो आज समुद्यत॥ ३१ ॥
राम प्रिय वचन कहते सबसे, सुना न अप्रिय कहते जिनको।
अप्रिय बात बताऊँगा मैं यह कैसे? सबप्रिय उनको॥ ३२ ॥
क्षमा, त्याग तप, सत्य, धर्म हैं, कृतज्ञता औ दया सभी पर।
उन दयालु के बिना कौन गति मेरी होगी, कहे समझकर॥ ३३ ॥
मैं हूँ यम के निकट वृद्ध अति, शोचनीय है स्थिति अब मेरी।
दीनभाव से माँग रहा हूँ कैकेयी! करुणा मैं तेरी॥ ३४ ॥
दूँगा सागरान्त[2] पृथ्वी की वस्तु यथेच्छित मुझसे माँगो!।
किन्तु न छोड़ो यम के मुख में मुझे, दुराग्रह यह तुम त्यागो!॥ ३५ ॥
केकयनन्दिनि! हाथ जोड़ता हूँ मैं तेरे पद भी छूता।
देकर शपथ राम को अब तू मुझे पाप से रखे अछूता॥ ३६ ॥
करते थे विलाप भूपति वे शोक-ताप बढ़ता जाता था।
पुनः - पुनः संज्ञा - विहीन वे होते, मस्तक चकराता था॥
अनुनय करते हुए नृपति पर, दया न कैकेयी को आई।
अधिक रुष्ट-निर्दय हो बोली, उत्तर में वाणी दुखदाई॥३७-३८॥
राजन्! दो वर देकर भी पालन में पश्चाताप करेंगे।
जग में धार्मिक, वीर कहाने का साहस किस भाँति करेंगे?॥ ३९ ॥
जमा हुए राजर्षि कभी वर-सम्बन्धी चर्चा लायेंगे।
तब धर्मज्ञ भूप! उनको क्या आप उस समय बतलायेंगे?॥ ४० ॥
यही न आप कहेंगे? जिसने रक्षा की, जिससे हूँ जीवित।
मिथ्या करता वरप्रतिज्ञा पहले की थी जो उसके हित॥ ४१ ॥
दे करके वरदान, आज यदि करते हैं विपरीत आचरण।
तो कलंक-तिलकान्वित[3] होंगे, महाराज-पूर्वज भूपतिगण॥ ४२ ॥

१ जीविका के लिए दूसरे पर आश्रित; २ समुद्र पर्यन्त; ३ कलंक का टीका लगेगा।

शैब्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ ।
अलर्कश्चक्षुषी दत्त्वा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ४३ ॥
सागरः समयं कृत्वा न वेलामतिवर्तते ।
समयं मानृतं कार्षीः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥ ४४ ॥
स त्वं धर्मं परित्यज्य रामं राज्येऽभिषिच्य च ।
सह कौसल्यया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते ॥ ४५ ॥
भवत्वधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वानृतम् ।
यत्त्वया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ४६ ॥
अहं हि विषमद्यैव पीत्वा बहु तवाग्रतः ।
पश्यतस्ते मरिष्यामि रामो यद्यभिषिच्यते ॥ ४७ ॥
एकाहमपि पश्येयं यद्यहं राममातरम् ।
अञ्जलिं प्रतिगृह्णन्तीं श्रेयो ननु मृतिर्मम ॥ ४८ ॥
भरतेनात्मना चाहं शपे ते मनुजाधिप ।
यथा नान्येन तुष्येयमृते रामविवासनात् ॥ ४९ ॥
एतावदुक्त्वा वचनं कैकेयी विरराम ह ।
विलपन्तं च राजानं न प्रतिव्याजहार सा ॥ ५० ॥
श्रुत्वा तु राजा कैकेय्या वाक्यं परमशोभनम् ।
रामस्य च वने वासमैश्वर्यं भरतस्य च ॥ ५१ ॥
नाभ्यभाषत कैकेयीं मुहूर्तं व्याकुलेन्द्रियः ।
प्रैक्षतानिमिषो देवीं प्रियामप्रियवादिनीम् ॥ ५२ ॥
तां हि वज्रसमां वाचमाकर्ण्य हृदयाप्रियाम् ।
दुःखशोकमयीं श्रुत्वा राजा न सुखितोऽभवत् ॥ ५३ ॥
स देव्या व्यवसायं च घोरं च शपथं कृतम् ।
ध्यात्वा रामेति निःश्वस्य च्छिन्नस्तरुरिवापतत् ॥ ५४ ॥
नष्टचित्तो यथोन्मत्तो विपरीतो यथातुरः ।
हृततेजा यथा सर्पो बभूव जगतीपतिः ॥ ५५ ॥
दीनयाऽऽतुरया वाचा इति होवाच कैकयीम् ।
अनर्थमिममर्थाभं केन त्वमुपदेशिता ॥ ५६ ॥
भूतोपहतचित्तेव ब्रुवन्ती मां न लज्जसे ।
शीलव्यसनमेतत् ते नाभिजानाम्यहं पुरा ॥ ५७ ॥
बालायास्तत् त्विदानीं ते लक्षये विपरीतवत् ।
कुतो वा ते भयं जातं या त्वमेवंविधं वरम् ॥ ५८ ॥

दे शरीर का मांस शैव्य ने कभी बाज की क्षुधा[1] मिटाई।
अपनी आँखें द्विज को देकर, अलर्क भूप ने शुभ गति पाई।। ४३ ।।
सागर है सीमा में रहने का अपना संकल्प निभाता।
तो क्या पूर्व महापुरुषों से विमुख, आपको मिथ्या भाता।। ४४ ।।
नृप दुर्मते ! धर्म को तजकर, राम-राज्य-अभिसिञ्चन को कर।
चाह रहे हो कौसल्या-सँग रमण आदि सुख तुम जी भरकर।। ४५ ।।
हो अधर्म या धर्म तथा हो सत्य या कि मिथ्या, हे नृपवर !।
होगा नहीं प्रतिज्ञा में प्रिय परिवर्तन अब यहाँ रञ्च भर।। ४६ ।।
राम-राज्य-अभिषेक हुआ तो भूप ! आपको दिखा-दिखाकर।
मैं समक्ष में मर जाऊँगी बहु मात्रा में तब विष खाकर।। ४७ ।।
एक दिवस भी कौसल्या हैं दुसह राजमाता के नाते।
मर जाऊँगी यदि देखूँगी, प्रजा-जनों से कर जुड़वाते।। ४८ ।।
कहती हूँ सामने नरेश्वर ! शपथ भरत-सँग अपनी खाकर।
तोष न होगा मुझे, राम-वन-गमन-भिन्न कोई वर पाकर।। ४६ ।।
यह कह शान्त हुई कैकेयी, राजा कर विलाप, रोये तब।
किन्तु न उत्तर उससे कोई मिला, यत्न वे व्यर्थ हुए सब।। ५० ।।
हो वनवास राम का, होएँ भरत राज-सत्ता-अधिकारी।
कैकेयी के मुख से सुनकर, ऐसे वचन अमंगलकारी।।
व्यथितेन्द्रिय[2] भूपति कैकेयी से मुहूर्त भर तनिक न बोले।
रहे देखते अप्रिय-वचना प्राण-प्रिया को आँखें खोले।।५१-५२।।
वज्र-कठोरा, हृदय-अप्रिया शोकमयी वाणी सुन करके।
कष्ट और भी अधिक बढ़ गये, शान्ति-रहित तब उन नृपवर के।। ५३ ।।
कैकेयी की शपथ, कुनिश्चय[3] को वे नृपति ध्यान में लाकर।
हो करके निःश्वसित, राम ! कह, तरुवत्[4] गिरे भूमि पर आकर।। ५४ ।।
नष्टचित्त, उन्मत्त[5], रुग्णवत्[6], प्रकृति हुई विपरीत नृपति की।
मन्त्र-ग्रस्त, निस्तेज सर्पवत् स्थिति निश्चेष्ट हुई भूपति की।। ५५ ।।
दीनातुर वाणी बोले नृप, कैकयि ! यह क्या कार्य किया है ?।
तुझे अनर्थ, अर्थ-सा लगता, किसने यह उपदेश दिया है ?।। ५६ ।।
भूत-ग्रस्त दूषित, पिशाच-सम, मुझसे कहते लाज न आती।
मुझे नहीं था ज्ञात, आज ज्यों शील-रहित अगना दिखाती।। ५७ ।
बाल-समय का शील तुम्हारा आज मुझे विपरीत दिख रहा।
ऐसा वर क्यों माँग रही है ? तुझे आ गया कौन भय महा ?।। ५८ ।।

---

१ भूख; २ विकल हो उठी इन्द्रियों वाले; ३ बुरा निश्चय; ४ वृक्ष के समान; ५ पागल; ६ रोगी के समान।

राष्ट्रे भरतमासीनं वृणीषे राघवं वने।
विरमैतेन भावेन त्वमेतेनानृतेन च ॥ ५९ ॥
यदि भर्तुः प्रियं कार्यं लोकस्य भरतस्य च।
नृशंसे पापसंकल्पे क्षुद्रे दुष्कृतकारिणि ॥ ६० ॥
किं नु दुःखमलीकं वा मयि रामे च पश्यसि।
न कथंचिदृते रामाद् भरतो राज्यमावसेत् ॥ ६१ ॥
रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम्।
कथं द्रक्ष्यामि रामस्य वनं गच्छेति भाषिते ॥ ६२ ॥
मुखवर्णं विवर्णं तु यथैवेन्दुमुपप्लुतम्।
तां तु मे सुकृतां बुद्धिं सुहृद्भिः सह निश्चिताम् ॥ ६३ ॥
कथं द्रक्ष्याम्यपावृत्तां परैरिव हतां चमूम्।
किं मां वक्ष्यन्ति राजानो नानादिग्भ्यः समागताः ॥ ६४ ॥
बालो बतायमैक्ष्वाकश्चिरं राज्यमकारयत्।
यदा हि बहवो वृद्धा गुणवन्तो बहुश्रुताः ॥ ६५ ॥
परिप्रक्ष्यन्ति काकुत्स्थं वक्ष्यामीह कथं तदा।
कैकेय्या क्लिश्यमानेन पुत्रः प्रव्राजितो मया ॥ ६६ ॥
यदि सत्यं ब्रवीम्येतत् तदसत्यं भविष्यति।
किं मां वक्ष्यति कौसल्या राघवे वनमास्थिते ॥ ६७ ॥
किं चैनां प्रतिवक्ष्यामि कृत्वा विप्रियमीदृशम्।
यदा यदा च कौसल्या दासीव च सखीव च ॥ ६८ ॥
भार्यावद् भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति।
सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा ॥ ६९ ॥
न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव।
इदानीं तत्तपति मां यन्मया सुकृतं त्वयि ॥ ७० ॥
अपथ्यव्यञ्जनोपेतं भुक्तमन्नमिवातुरम्।
विप्रकारं च रामस्य सम्प्रयाणं वनस्य च ॥ ७१ ॥
सुमित्रा प्रेक्ष्य वै भीता कथं मे विश्वसिष्यति।
कृपणं बत वैदेही श्रोष्यति द्वयमप्रियम् ॥ ७२ ॥
मां च पञ्चत्वमापन्नं रामं च वनमाश्रितम्।
वैदेही बत मे प्राणाञ्शोचन्ती क्षपयिष्यति ॥ ७३ ॥
हीना हिमवतः पार्श्वे किंनरेणेव किंनरी।
नहि राममहं दृष्ट्वा प्रवसन्तं महावने ॥ ७४ ॥

राम रहें वन में कहती ! जो और भरत का हो अभिषिञ्चन।
ऐसे क्षुद्र असत्य विचारों में, अच्छा हो, कर परिवर्तन ! ॥ ५९ ॥
क्रूर, दुराचारिणि, नृशंस ! यदि चाह रही हित, जग, सुत, पति का।
तो तू परित्याग कर ! अब भी, दुःसंकल्पमयी इस मति का ॥ ६० ॥
मुझमें और राम में तुझको क्या दुःखद व्यवहार दिखाता।
बिना राम के भरत न लेंगे राज्य कभी भी, मैं बतलाता ॥ ६१ ॥
क्योंकि समझता धर्म पालने में हैं राम भरत से बढ़कर।
राहु-ग्रस्त शशि-सम मुख होगा, उनसे वन-वार्ता कहने पर ॥
तब फिर कैसे देख सकूँगा ? उनके मुख की भला उदासी।
सुहृदों-सँग निश्चय करके ही हुआ राम-सिञ्चन-अभिलाषी ॥६२-६३॥
अब मैं शत्रु-पराजित लौटी सेना-सम, देखूँगा कैसे ?।
खेदपूर्वक सकल दिशागत नृपति कहेंगे मुझसे ऐसे ॥
यह इक्ष्वाकु-वंश का राजा मूर्ख रहा चिरकाल राज-युत।
राम कहाँ हैं ? जब पूछेंगे मुझसे गुणी, वृद्धजन, बहुश्रुत ॥
तब कैसे मै बतलाऊँगा ? कैकेयी ने मुझे दबाया।
अतः राम प्रिय सुत को अपने वर से मैंनें विपिन पठाया ॥ ६४-६६॥
समझूँ सत्य राम-वन-प्रेषण, तो असत्य है पहला निश्चय*।
और कहेगी क्या कौसल्या ? देख कृत्य मम अति कुनीतिमय ॥ ६७ ॥
उसका कर अपकार इस तरह, बात कहूँगा उससे कैसी ?।
जिसका सुत प्रिय मुझे और जो सेवा करती दासी जैसी ॥
सखी, भार्या, भगिनी, माता-सम मेरी इच्छा-हितकारी।
सेवा में तत्पर रहती है, है जो सेवा की अधिकारी ॥
किन्तु तुम्हारे कारण से ही उसे न सत्कृत मैं कर पाया।
तप्त कर रहा मुझको, तुमसे जो मैने व्यवहार निभाया ॥ ६८-७०॥
जैसे है अपथ्य का भोजन, रोगी का अति कष्ट बढ़ाता।
अभिषिञ्चन से वञ्चित होकर वन की ओर राम को जाता ॥
देख सुमित्रा भीता, कैसे फिर मेरा विश्वास करेगी ?।
समाचार ये दुःखद सुनकर, सीता कैसे धीर धरेगी ? ॥७१-७२॥
तथा राम-वन-वास और फिर मेरा मृत्यु-सँदेशा पाकर।
अपने प्राण नष्ट कर देगी सीता अधिक शोक में आकर ॥ ७३ ॥
होगी वह हिमवान-पार्श्व में किन्नर-बिछुड़ी किन्नरि जैसी।
और महावन मे निवास की दशा देख राघव की वैसी ॥

* यदि कहूँ कि राम को वनवास देकर मैंने सत्य का पालन किया है तो पहले किया अभिषेक का निश्चय असत्य हो जायगा। मेरे 'सत्य' की रक्षा किसी प्रकार नहीं होगी।

चिरं जीवितुमाशंसे रुदन्तीं चापि मैथिलीम् ।
सा नूनं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥ ७५ ॥
सतीं त्वामहमत्यन्तं व्यवस्याम्यसतीं सतीम् ।
रूपिणीं विषसंयुक्तां पीत्वेव मदिरां नरः ॥ ७६ ॥
अनृतैर्बत मां सान्त्वैः सान्त्वयन्ती स्म भाषसे ।
गीतशब्देन संरुध्य लुब्धो मृगमिवावधीः ॥ ७७ ॥
अनार्य इति मामार्याः पुत्रविक्रायकं ध्रुवम् ।
विकरिष्यन्ति रथ्यासु सुरापं ब्राह्मणं यथा ॥ ७८ ॥
अहो दुःखमहो कृच्छ्रं यत्र वाचः क्षमे तव ।
दुःखमेवंविधं प्राप्तं पुरा कृतमिवाशुभम् ॥ ७९ ॥
चिरं खलु मया पापे त्वं पापेनाभिरक्षिता ।
अज्ञानादुपसम्पन्ना रज्जुरुद्बन्धनी यथा ॥ ८० ॥
रममाणस्त्वया सार्धं मृत्युं त्वां नाभिलक्षये ।
बालो रहसि हस्तेन कृष्णसर्पमिवास्पृशम् ॥ ८१ ॥
तं तु मां जीवलोकोऽयं नूनमाक्रोष्टुमर्हति ।
मया ह्यपितृकः पुत्रः स महात्मा दुरात्मना ॥ ८२ ॥
बालिशो बत कामात्मा राजा दशरथो भृशम् ।
स्त्रीकृते यः प्रियं पुत्रं वनं प्रस्थापयिष्यति ॥ ८३ ॥
वेदैश्च ब्रह्मचर्यैश्च गुरुभिश्चोपकर्शितः ।
भोगकाले महत्कृच्छ्रं पुनरेव प्रपत्स्यते ॥ ८४ ॥
नालं द्वितीयं वचनं पुत्रो मां प्रतिभाषितुम् ।
स वनं प्रव्रजेत्युक्तो बाढमित्येव वक्ष्यति ॥ ८५ ॥
यदि मे राघवः कुर्याद् वनं गच्छेति चोदितः ।
प्रतिकूलं प्रियं मे स्यान्न तु वत्सः करिष्यति ॥ ८६ ॥
राघवे हि वनं प्राप्ते सर्वलोकस्य धिक्कृतम् ।
मृत्युरक्षमणीयं मां नयिष्यति यमक्षयम् ॥ ८७ ॥
मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे ।
इष्टे मम जने शेषे किं पापं प्रतिपत्स्यसे ॥ ८८ ॥
कौसल्या मां च रामं च पुत्रौ च यदि हास्यति ।
दुःखान्यसहती देवी मामेवानुगमिष्यति ॥ ८९ ॥
कौसल्यां च सुमित्रां च मां च पुत्रैस्त्रिभिः सह ।
प्रक्षिप्य नरके सा त्वं कैकेयि सुखिता भव ॥ ९० ॥
मया रामेण च त्यक्तं शाश्वतं सत्कृतं गुणैः ।
इक्ष्वाकुकुलमक्षोभ्यमाकुलं पालयिष्यसि ॥ ९१ ॥

तथा देख, रुदिता सीता को अधिक न तब मैं जी पाऊँगा।
पति-विहीन हो, सुत-सँग शासन करना! जब मैं मर जाऊँगा ।।७४-७५।।
ओह! तुझे साध्वी समझा था, तू तो किन्तु दुष्ट अति निकली।
मदिरा पीकर होश बाद में हुआ कि मदिरा रही विष-मिली ।। ७६ ।।
मीठी बातें तू करती थी, मिथ्या था आश्वासन सारा।
जैसे व्याध हरिण-वध करता, फाँस मधुर गीतों के द्वारा ।। ७७ ।।
लोग कहेंगे, सुत को बेंचा, एक अनार्या के विमोह में।
और मद्यपी[1] द्विज-सम मेरी निन्दा होगी गली-गली में ।। ७८ ।।
तेरे दुष्ट वचन सुन, अतिशय कष्ट-सहन का अवसर आया।
यह दुख मैंने पूर्व जन्म के अशुभ पाप-वश मानो पाया ।। ७९ ।।
मुझ पापी ने पापिनि! तुझको रक्षित रखकर गले लगाया।
किन्तु कण्ठ में पड़ी मृत्यु को रज्जु-सदृश[2] तुझको अब पाया ।। ८० ।।
क्रीडित शिशु एकान्तस्थल में कृष्ण सर्प को पकड़े जैसे।
समझा नहीं मृत्यु का कारण तेरा था आलिंगन वैसे ।। ८१ ।।
जीते हुए, महात्मा सुत को, हाय! पिता से रहित बनाया।
धिक्कारेगा यह जग मुझको, यही उचित फल मैंने पाया ।। ८२ ।।
निन्दा करके, सभी कहेंगे, है यह मूर्ख धरणि का स्वामी।
जो भार्या की तुष्टि हेतु वन भेज रहा प्रिय सुत को कामी ।। ८३ ।।
ब्रह्मचर्य, गुरुजन की सेवा, वेद-पठन से अब तक दुर्बल।
वे सुख-भोग-समय वन जाकर कष्ट सहें, यह हुआ अमंगल ।। ८४ ।।
अपने सुत से कहूँ, विपिन तुम जाओ! तो स्वीकार करेंगे।
देंगे कुछ प्रतिकूल न उत्तर, राम न मेरा मान हरेंगे ।। ८५ ।।
यदि आज्ञा-उल्लंघन करके, राम नहीं कानन[3] को जायें।
तो अच्छा है, किन्तु राम से ऐसी आशा कभी न पायें ।। ८६ ।।
राम वन गये, तो मैं सबसे धिक्[4] अपराधी कहलाऊँगा।
फिर अक्षम्य मृत्यु के द्वारा यम-पुर पहुँचाया जाऊँगा ।। ८७ ।।
मेरी मृत्यु, राम के वन में जाने पर, जब हो जायेगी।
तब तू अत्याचार कौन सा? अन्य प्रियजनों पर ढायेगी ।। ८८ ।।
मेरे संग राम, युग भ्राता-विरह न इनका सह पायेगी।
कौसल्या भी मेरे पीछे यमपुर को निश्चय जायेगी ।। ८९ ।।
पुत्रों के सँग मुझे, सुमित्रा, कौसल्या को कष्ट नरक-सम।
देकर रहना सुखी! बाद में तब तुम केकयनन्दिनि! निर्मम! ।। ९० ।।
क्षोभ-रहित, शाश्वत गुण-संस्कृत यह इक्ष्वाकु-वंश मुझसे जब।
और राम से परित्यक्त हो, तुम उसका पालन करना तब ।। ९१ ।।

१ शराबी। २ गले की फाँसी की रस्सी; ३ वन; ४ निन्द्य।

प्रियं चेद् भरतस्यैतद् रामप्रव्राजनं भवेत् ।
मा स्म मे भरतः कार्षीत् प्रेतकृत्यं गतायुषः ॥ ९२ ॥

मृते मयि गते रामे वनं पुरुषपुङ्गवे ।
सेदानीं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥ ९३ ॥

त्वं राजपुत्रि दैवेन न्यवसो मम वेश्मनि ।
अकीर्तिश्चातुला लोके ध्रुवः परिभवश्च मे ।
सर्वभूतेषु चावज्ञा यथा पापकृतस्तथा ॥ ९४ ॥

कथं रथैर्विभुर्यात्वा गजाश्वैश्च मुहुर्मुहुः ।
पद्भ्यां रामो महारण्ये वत्सो मे विचरिष्यति ॥ ९५ ॥

यस्य त्वाहारसमये सूदाः कुण्डलधारिणः ।
अहंपूर्वाः पचन्ति स्म प्रसन्नाः पानभोजनम् ॥ ९६ ॥

स कथं नु कषायाणि तिक्तानि कटुकानि च ।
भक्षयन् वन्यमाहारं सुतो मे वर्तयिष्यति ॥ ९७ ॥

महार्हवस्त्रसम्बद्धो भूत्वा चिरसुखोचितः ।
काषायपरिधानस्तु कथं रामो भविष्यति ॥ ९८ ॥

कस्यैवं दारुणं वाक्यमेवंविधमपीरितम् ।
रामस्यारण्यगमनं भरतस्याभिषेचनम् ॥ ९९ ॥

धिगस्तु योषितो नाम शठाः स्वार्थपरायणाः ।
न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मातरम् ॥१००॥

अनर्थभावेऽर्थपरे नृशंसे
ममानुतापाय निवेशितासि ।
किमप्रियं पश्यसि मन्निमित्तं
हितानुकारिण्यथवापि रामे ॥ १०१ ॥

परित्यजेयुः पितरोऽपि पुत्रान्
भार्याः पतींश्चापि कृतानुरागाः ।
कृत्स्नं हि सर्वं कुपितं जगत् स्याद्
दृष्ट्वैव रामं व्यसने निमग्नम् ॥ १०२ ॥

अहं पुनर्देवकुमाररूप-
मलंकृतं तं सुतमाव्रजन्तम् ।
नन्दामि पश्यन्निव दर्शनेन
भवामि दृष्ट्वेव पुनर्युवेव ॥ १०३ ॥

और भरत भी चाह रहे यदि वन को जाएँ राघव प्यारे।
तो न मृत्यु के बाद करें वे इस शरीर का दाह हमारे॥ ९२ ॥
पुरुष-शिरोमणि राम-वन-गमन बाद, मृत्यु मम[1] हो जायेगी।
पति-हीना, सुत-संग अयोध्या का शासन तू ही पायेगी॥ ९३ ॥
तू मेरे दुर्भाग्य-योग से राजसुते! है घर में आई।
तूने पापी पुरुषों जैसी मेरी अतुल अकीर्ति बढ़ाई॥
अपयश, तिरस्कार मैं तेरे कारण अब जग से पाऊँगा।
सभी प्राणियों से अवहेलित[2] भी मैं निश्चय हो जाऊँगा॥ ९४ ॥
जो समर्थ, वह वार कर रहे थे यात्राएँ गज, हय, रथ से।
पैदल कैसे निकलेंगे वे? अब चलकर विस्तृत वन-पथ से॥ ९५ ॥
पहले मैं निर्माण करूँगा भोजन, कुण्डलधर रसोइए।
कहते हैं अतिशय प्रसन्न हो प्रतिदिन जिन श्रीराम के लिए॥ ९६ ॥
वही कसैले, तिक्त और कटु फल खाकर, रह करके वन में।
किस प्रकार निर्वाह करेंगे? (राम सोचकर क्या निज मन में)॥ ९७ ॥
जो बहुमूल्य वस्त्रधारी थे, सुख से रहते रहे (भवन में)।
वही, गेरुए वस्त्र पहनकर भला रहेंगे कैसे वन में?॥ ९८ ॥
भरत-राज्य-अभिषेक और फिर राम पुत्र का वन को जाना।
किससे प्रेरित होकर? तूने कहा कठोर वचन मनमाना॥ ९९ ॥
है धिक्कार नारियों को जो हैं शठ और स्वार्थ में तत्पर।
किन्तु न सब पर यही नियम है, यह है भरति-जननि के ऊपर॥ १०० ॥
है अनर्थ में अर्थ-बुद्धि यह, कैकयि! तुझमें आई
क्रूर ताप देने को ही क्या घर में गई बसाई?।
अरी! देखती मुझमें तू क्या अप्रिय अपने हित में?
अथवा सकल हितेच्छु राम में पाती कौन बुराई?॥ १०१ ॥

पिता पुत्र का त्याग करेंगे देख राम-संकट भारी
त्यागेंगी निज-निज पति को भी, रागिनि नारी सारी।
इस प्रकार सारा जग होगा कुपित तुम्हारे कारण
और सभी मानव फिर होंगे तव विपरीताचारी[3]॥ १०२ ॥

सुर-सुत-सम, सुन्दर स्वरूप के सुत समक्ष जब आते
उनके भूषण, वसन देख तब नयन-सौख्य अति पाते।
उन्हें देखता हूँ जब, तब मैं अति निहाल हो जाता
और समझता युवक स्वयं को, जरा-भाव[4] मिट जाते॥ १०३ ॥

---

१ हमारी; २ तिरस्कृत; ३ उलटा आचरण करनेवाले; ४ बुढ़ापा।

विना हि सूर्येण भवेत् प्रवृत्ति-
रवर्षता वज्रधरेण वापि ।
रामं तु गच्छन्तमितः समीक्ष्य
जीवेन्न कश्चित्त्विति चेतना मे ॥ १०४ ॥

विनाशकामामहितामभित्रा-
मावासयं मृत्युमिवात्मनस्त्वाम् ।
चिरं बताङ्केन धृतासि सर्पी
महाविषा तेन हतोऽस्मि मोहात् ॥ १०५ ॥

मया च रामेण सलक्ष्मणेन
प्रशास्तु हीनो भरतस्त्वया सह ।
पुरं च राष्ट्रं च निहत्य बान्धवान्
ममाहितानां च भवाभिहर्षिणी ॥ १०६ ॥

नृशंसवृत्ते व्यसनप्रहारिणि
प्रसह्य वाक्यं यदिहाद्य भाषसे ।
न नाम ते तेन मुखात् पतन्त्यधो
विशीर्यमाणा दशनाः सहस्रधा ॥ १०७ ॥

न किंचिदाहाहितमप्रियं वचो
न वेत्ति रामः परुषाणि भाषितुम् ।
कथं तु रामे ह्यभिरामवादिनि
ब्रवीषि दोषान् गुणनित्यसम्मते ॥ १०८ ॥

प्रताम्य वा प्रज्वल वा प्रणश्य वा
सहस्रशो वा स्फुटितां महीं व्रज ।
न ते करिष्यामि वचः सुदारुणं
ममाहितं केकयराजपांसने ॥ १०९ ॥

क्षुरोपमां नित्यमसत्प्रियंवदां
प्रदुष्टभावां स्वकुलोपघातिनीम् ।
न जीवितुं त्वां विषहेऽमनोरमां
दिधक्षमाणां हृदयं सबन्धनम् ॥ ११० ॥

न जीवितं मेऽस्ति कुतः पुनः सुखं
विनात्मजेनात्मवतां कुतो रतिः ।
ममाहितं देवि न कर्तुमर्हसि
स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद मे ॥ १११ ॥

बिना सूर्य के, चाहे जग के सभी कार्य चल जाएँ
और कदाचित[1] इन्द्र वज्रधर तनिक न जल बरसाएँ।
किन्तु विपिन की ओर राम को जाते देख सुनिश्चित
रह न सकेगा जीवित कोई सहकर विरह-व्यथाएँ ॥ १०४ ॥

शत्रु, विनाशक, अहितकारिणी! मैंने तुझको पाया
कोई गृह में मृत्यु बसाए, वैसे तुझे बसाया।
मोहित मैंने महाविषैली नागिन को ही अपने
अंकस्थल में धारण करके अपना मरण बुलाया ॥ १०५ ॥

मुझसे और राम, लक्ष्मण से भरत हीन हो करके
बन्धु-बान्धवों को विनष्ट कर शासक बनें नगर के।
राष्ट्र-विरोधी शत्रु वर्ग का अतिशय हर्ष बढ़े तब
केकयनन्दिनि! तब तुम करना शासन इच्छा भरके ॥ १०६ ॥

संकटग्रस्त व्यक्ति पर यह है क्रूर प्रहार तुम्हारा
निकली कठिन दुराग्रह-वार्ता, तेरे मुख के द्वारा।
गिरते क्यों न सहस्रों टुकड़े होकर दन्त तुम्हारे
(तूने केकयनन्दनि! मेरा छीन लिया सुख सारा)॥ १०७ ॥

राम कभी भी अ-प्रिय अहितकर वचन नहीं हैं कहते
कटु भाषण वे नहीं जानते, गुण-मानित हो रहते।
मृदुभाषी को दोषी कहकर, वन जाने को कहती!
बहुदोषी ही वन-निवास के कष्ट न्यायतः सहते ॥ १०८ ॥

ग्लानि-सिन्धु में डूबे! या तू पावक में जल जाये
विष खाये! या भू-सहस्रधा[2] में ही क्यों न समाये!।
किन्तु न केकय-कुल-कलक! मैं तेरे वचन अहितकर
मान सकूँगा, कभी, अभी जो तूने मुझे सुनाये ॥ १०९ ॥

मीठी, मिथ्या तथा अहितकर नित्य बात करनेवाली
दूषितहृदये! क्षुर-सम-प्रहरण[3] में न कभी डरनेवाली।
तुझ पापिनि का जीवित रहना नही देख मैं सकता
हृदय भस्म कर तू है मेरे प्राणों को हरनेवाली ॥ ११० ॥

बिना राम के, देवि! न मेरा जीवन रह पायेगा
क्योंकि आत्मविद् को भी सुत के बिन न तोष आयेगा।
तू प्रसन्न हो मुझ पर तेरे पैर आज मैं छूता
ऐसा अहित न कर, मेरा सुख ऐसे छिन जायेगा ॥ १११ ॥

---

१ किसी समय; २ सबको धारण करनेवाली पृथ्वी; ३ छुरे के समान प्रहार करने।

विना हि सूर्येण भवेत् प्रवृत्ति-
रवर्षता वज्रधरेण वापि।
रामं तु गच्छन्तमितः समीक्ष्य
जीवेन्न कश्चित्त्विति चेतना मे॥ १०४॥

विनाशकामामहिताममित्रा-
मावासयं मृत्युमिवात्मनस्त्वाम्।
चिरं बताङ्केन धृतासि सर्पी
महाविषा तेन हतोऽस्मि मोहात्॥ १०५॥

मया च रामेण सलक्ष्मणेन
प्रशास्तु हीनो भरतस्त्वया सह।
पुरं च राष्ट्रं च निहत्य बान्धवान्
ममाहितानां च भवाभिहर्षिणी॥ १०६॥

नृशंसवृत्ते व्यसनप्रहारिणि
प्रसह्य वाक्यं यदिहाद्य भाषसे।
न नाम ते तेन मुखात् पतन्त्यधो
विशीर्यमाणा दशनाः सहस्रधा॥ १०७॥

न किंचिदाहाहितमप्रियं वचो
न वेत्ति रामः परुषाणि भाषितुम्।
कथं तु रामे ह्यभिरामवादिनि
ब्रवीषि दोषान् गुणनित्यसम्मते॥ १०८॥

प्रताम्य वा प्रज्वल वा प्रणश्य वा
सहस्रशो वा स्फुटितां महीं व्रज।
न ते करिष्यामि वचः सुदारुणं
ममाहितं केकयराजपांसने॥ १०९॥

क्षुरोपमां नित्यमसत्प्रियंवदां
प्रदुष्टभावां स्वकुलोपघातिनीम्।
न जीवितुं त्वां विषहेऽमनोरमां
दिधक्षमाणां हृदयं सबन्धनम्॥ ११०॥

न जीवितं मेऽस्ति कुतः पुनः सुखं
विनात्मजेनात्मवतां कुतो रतिः।
ममाहितं देवि न कर्तुमर्हसि
स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद मे॥ १११॥

विना सूर्य के, चाहे जग के सभी कार्य चल जाएँ
और कदाचित[1] इन्द्र वज्रधर तनिक न जल बरसाएँ।
किन्तु विपिन की ओर राम को जाते देख सुनिश्चित
रह न सकेगा जीवित कोई सहकर विरह-व्यथाएँ॥ १०४॥

शत्रु, विनाशक, अहितकारिणी! मैंने तुझको पाया
कोई गृह में मृत्यु बसाए, वैसे तुझे बसाया।
मोहित मैंने महाविषैली नागिन को ही अपने
अंकस्थल में धारण करके अपना मरण बुलाया॥ १०५॥

मुझसे और राम, लक्ष्मण से भरत हीन हो करके
बन्धु-बान्धवों को विनष्ट कर शासक बनें नगर के।
राष्ट्र-विरोधी शत्रु वर्ग का अतिशय हर्ष बढ़े तब
केकयनन्दिनि! तब तुम करना शासन इच्छा भरके॥ १०६॥

संकटग्रस्त व्यक्ति पर यह है क्रूर प्रहार तुम्हारा
निकली कठिन दुराग्रह-वार्ता, तेरे मुख के द्वारा।
गिरते क्यों न सहस्रों टुकड़े होकर दन्त तुम्हारे
(तूने केकयनन्दनि! मेरा छीन लिया सुख सारा)॥ १०७॥

राम कभी भी अ-प्रिय अहितकर वचन नहीं हैं कहते
कटु भाषण वे नहीं जानते, गुण-मानित हो रहते।
मृदुभाषी को दोषी कहकर, वन जाने को कहती!
बहुदोषी ही वन-निवास के कष्ट न्यायतः सहते॥ १०८॥

ग्लानि-सिन्धु में डूबे! या तू पावक में जल जाये
विष खाये! या भू-सहस्रधा[2] में ही क्यों न समाये!।
किन्तु न केकय-कुल-कलंक! मैं तेरे वचन अहितकर
मान सकूँगा, कभी, अभी जो तूने मुझे सुनाये॥ १०९॥

मीठी, मिथ्या तथा अहितकर नित्य बात करनेवाली
दूषितहृदये! क्षुर-सम-प्रहरण[3] में न कभी डरनेवाली।
तुझ पापिनि का जीवित रहना नहीं देख मैं सकता
हृदय भस्म कर तू है मेरे प्राणों को हरनेवाली॥ ११०॥

विना राम के, देवि! न मेरा जीवन रह पायेगा
क्योंकि आत्मविद् को भी सुत के विन न तोष आयेगा।
तू प्रसन्न हो मुझ पर तेरे पैर आज मैं छूता
ऐसा अहित न कर, मेरा सुख ऐसे छिन जायेगा॥ १११॥

---

१ किसी समय; २ सबको धारण करनेवाली पृथ्वी; ३ छुरे के समान प्रहार करने।

स भूमिपालो विलपन्ननाथवत्
स्त्रिया गृहीतो हृदयेऽतिमात्रया।
पपात देव्याश्चरणौ प्रसारिता-
वुभावसम्प्राप्य यथाऽऽतुरस्तथा ॥ ११२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

राजा का विलाप और कैकेयी से अनुनय-विनय

अतदर्हं महाराजं शयानमतथोचितम्।
ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकात् परिच्युतम् ॥ १ ॥
अनर्थरूपासिद्धार्था ह्यभीता भयदर्शिनी।
पुनराकारयामास तमेव वरमङ्गना ॥ २ ॥
त्वं कत्थसे महाराज सत्यवादी दृढव्रतः।
मम चेमं वरं कस्माद् विधारयितुमिच्छसि ॥ ३ ॥
एवमुक्तस्तु कैकेय्या राजा दशरथस्तदा।
प्रत्युवाच ततः क्रुद्धो मुहूर्तं विह्वलन्निव ॥ ४ ॥
मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे।
हन्तानार्ये ममामित्रे सकामा सुखिनी भव ॥ ५ ॥
स्वर्गेऽपि खलु रामस्य कुशलं दैवतैरहम्।
प्रत्यादेशादभिहितं धारयिष्ये कथं बत ॥ ६ ॥
कैकेय्याः प्रियकामेन रामः प्रव्राजितो वनम्।
यदि सत्यं ब्रवीम्येतत् तदसत्यं भविष्यति ॥ ७ ॥
अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान्।
रामो लब्धो महातेजाः स कथं त्यज्यते मया ॥ ८ ॥
शूरश्च कृतविद्यश्च जितक्रोधः क्षमापरः।
कथं कमलपत्राक्षो मया रामो विवास्यते ॥ ९ ॥
कथमिन्दीवरश्यामं दीर्घबाहुं महाबलम्।
अभिराममहं रामं स्थापयिष्यामि दण्डकान् ॥ १० ॥
सुखानामुचितस्यैव दुःखैरनुचितस्य च।
दुःखं नामानुपश्येयं कथं रामस्य धीमतः ॥ ११ ॥
यदि दुःखमकृत्वा तु मम संक्रमणं भवेत्।
अदुःखार्हस्य रामस्य ततः सुखमवाप्नुयाम् ॥ १२ ॥

सीमा-हीन नारि-वश-विलपित[1] वे अनाथवत् नृपवर
प्रसरित[2] कैकेयी-पैरों को छूने का तब मन कर।
बढ़े, किन्तु वे हुए बीच में ही मूर्च्छित तब वैसे
छू सकता अति निर्बल रोगी वस्तु न जैसे रुचिकर॥ ११२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में बारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १२ ॥

तेरहवाँ सर्ग

राजा का विलाप और कैकेयी से अनुनय-विनय

अनुचित तथा अयोग्य अवस्था में थे नृप पृथ्वी पर वैसे।
पुण्य-विनष्ट ययाति भूप हों भू पर गिरे स्वर्ग से जैसे॥ १ ॥
विफल-प्रयोजन, भयभीता ने फिर भी नृप को भय दिखलाकर।
जड़ अनर्थ की पापिनि बोली मुझे चाहिए युगल[3] वही वर॥ २ ॥
दृढ़प्रतिज्ञ, सत्यव्रत निज को महाराज! थे आप बताते।
तब फिर आज इस समय कैसे वरदानों को भला भुलाते?॥ ३ ॥
कैकेयी के यह कहने पर रहे दो घड़ी तक नृप व्याकुल।
उत्तर देने को उससे फिर बोले वे होकर क्रोधाकुल॥ ४ ॥
मैं नरपुंगव रामचन्द्र के वन जाने पर मर जाऊँ जब।
नीच, शत्रु! तू सफल-मनोरथ हो करके सुख से रहना तब॥ ५ ॥
हाय! स्वर्ग में, देवों-द्वारा राम-कुशल पूछे जाने पर!
असहनीय धिक्कार सहूँगा! राम-वन-गमन बतलाने पर॥ ६ ॥
कैकेयी-वर-हेतु बताऊँ सत्य राम का विपिन पठाना।
तो न सत्य था अभिसिञ्चन का राम-हेतु प्रस्ताव उठाना॥ ७ ॥
पुत्र-हीन अति श्रम से मैंने महातपस्वी सुत जो पाया।
उसका परित्याग हो मुझसे, कैसे? नहीं समझ में आया॥ ८ ॥
क्षमा-परायण, शूर और विद्वान, क्रोधजित् जो हैं ऐसे।
उन्हीं राम प्रिय कमलनयन को देश-निकाला दूँगा कैसे?॥ ९ ॥
नीलकमल-सम श्याम राम जो दीर्घबाहु हैं और महाबल।
उन नयनाभिराम[4] को कैसे? भेज सकूँगा मैं दण्डकवन॥ १० ॥
जो सुख-भोग-योग्य हैं केवल, अनुपयुक्त हैं कष्ट-सहन में।
उन्हीं सुधी को देख सकूँगा कष्ट उठाते कैसे? वन में॥ ११ ॥
दुःख-सहन में अक्षम[5] मैं, यदि वन-निवास के पहले मरता।
तो अच्छा था, इसमें अतुलित सुख का ही मैं अनुभव करता॥ १२ ॥

---

१ विलाप करते हुए; २ फैले हुए; ३ दोनों; ४ सुन्दर नेत्रोंवाले; ५ असमर्थ।

नृशंसे पापसंकल्पे रामं सत्यपराक्रमम् ।
किं विप्रियेण कैकेयि प्रियं योजयसे मम ॥ १३ ॥
अकीर्तिरतुला लोके ध्रुवं परिभविष्यति ।
तथा विलपतस्तस्य परिभ्रमितचेतसः ॥ १४ ॥
अस्तमभ्यागमत् सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ।
सा त्रियामा तदार्तस्य चन्द्रमण्डलमण्डिता ॥ १५ ॥
राज्ञो विलपमानस्य न व्यभासत शर्वरी ।
सदैवोष्णं विनिःश्वस्य वृद्धो दशरथो नृपः ॥ १६ ॥
विललापार्तवद् दुःखं गगनासक्तलोचनः ।
न प्रभातं त्वयेच्छामि निशे नक्षत्रभूषिते ॥ १७ ॥
क्रियतां मे दया भद्रे मयायं रचितोऽञ्जलिः ।
अथवा गम्यतां शीघ्रं नाहमिच्छामि निर्घृणाम् ॥ १८ ॥
नृशंसां कैकयीं द्रष्टुं यत्कृते व्यसनं मम ।
एवमुक्त्वा ततो राजा कैकेयीं संयताञ्जलिः ॥ १९ ॥
प्रसादयामास पुनः कैकेयीं राजधर्मवित् ।
साधुवृत्तस्य दीनस्य त्वद्गतस्य गतायुषः ॥ २० ॥
प्रसादः क्रियतां भद्रे देवि राज्ञो विशेषतः ।
शून्ये न खलु सुश्रोणि मयेदं समुदाहृतम् ॥ २१ ॥
कुरु साधुप्रसादं मे बाले सहृदया ह्यसि ।
प्रसीद देवि रामो मे त्वद्दत्तं राज्यमव्ययम् ॥ २२ ॥
लभतामसितापाङ्गे यशः परमवाप्स्यसि ।
मम रामस्य लोकस्य गुरूणां भरतस्य च ॥ २३ ॥
प्रियमेतद् गुरुश्रोणि कुरु चारुमुखेक्षणे ।

विशुद्धभावस्य हि दुष्टभावा
दीनस्य ताम्राश्रुकलस्य राज्ञः ।
श्रुत्वा विचित्रं करुणं विलापं
भर्तुर्नृशंसा न चकार वाक्यम् ॥ २४ ॥
ततः स राजा पुनरेव मूर्च्छितः
प्रियामतुष्टां प्रतिकूलभाषिणीम् ।
समीक्ष्य पुत्रस्य विवासनं प्रति
क्षितौ विसंज्ञो निपपात दुःखितः ॥ २५ ॥

निष्ठुर पापिनि! सत्यविक्रमी राघव प्रिय हैं बहुत हमारे।
मुझसे उन्हें अलग करने को, क्यों आये ये भाव तुम्हारे? ॥ १३ ॥
तब तेरी अतुलित अकीर्ति से दूषित होगी जगती सारी।
करते रहे विलाप नृपति वे और बढ़ी व्याकुलता भारी ॥ १४ ॥
रवि अस्ताचल गये और फिर तब प्रदोष की वेला आई।
चन्द्र, चन्द्रिका-युत रजनी थी तीन प्रहर की चहुँदिशि छाई ॥ १५ ॥
किन्तु आर्त-रव[1] करते नृप को वह उल्लास न कुछ दे पाई।
वृद्ध नृपति ने ले-लेकर उच्छ्वास निरन्तर (रात्रि बिताई) ॥ १६ ॥
करते रहे विलाप नृपति वे दृष्टि गगन की ओर लगाये।
हे नक्षत्र-भूषिते! रजनी! नहीं चाहता प्रातः आये ॥ १७ ॥
मैं समक्ष में हाथ जोड़ता, भद्रे! मुझ पर दया दिखाओ।
कैकेयी को देख न पाऊँ अथवा शुभे! बीत ही जाओ ॥ १८ ॥
क्योंकि निर्दया उससे ही है मुझको यह संकट दिखलाता।
कैकेयी से हाथ जोड़कर बोले राजधर्म के ज्ञाता ॥
करने को प्रसन्न भूपति ने उसको ऐसा वचन सुनाया।
साधु-वृत्ति का दीन गतायुष[2] मैं भद्रे! आश्रित तव आया ॥
विशेषतः तुम नृपति समझकर कृपा करो सुन्दरी! सर्वथा।
मैंने राम-राज्य की वार्ता भरी सभा में कही है तथा ॥
बाले! तू मुझ पर प्रसन्न हो! तुझमें हैं सहृदय इच्छाएँ।
तुझसे दत्त राज्य यह अक्षय, श्यामलनयने![3] राघव पाएँ ॥
पृथुल-नितम्बिनि! इससे होगी उत्तम यश की प्राप्ति तुझे तब।
सुमुखि! सुनेत्रे! प्रजा, राम, मैं, भरत तथा पूजित गुरुजन सब ॥
मानेंगे अपना प्रिय इसको अतः कार्य यह पूरा कर दे।
(मरणासन्न नृपति में फिर से तू नवजीवन का रस भर दे) ॥ १९-२३ ॥
शुद्ध हृदय था उन भूपति का अश्रुपूर्ण थे अरुण नयन
करुणाजनक विलाप कर रहे थे वे कहकर दीन वचन।
फिर भी उस नृशंस ने नृप की बात न मानी तब कुछ भी
(रही देखती दूषित हृदया राजा का वह सब विलपन) ॥ २४ ॥
किसी भाँति से प्रिय कैकेयी तुष्ट न जब कुछ हो पाई
पुनःपुनः प्रतिकूल कथन में तथा न किञ्चित सकुचाई।
दुःख-मूर्च्छित सुध-बुध खोकर नृपति गिर पड़े वे भू पर
क्योंकि पुत्र-वन-वास-बात बस उनके मन में थी आई ॥ २५ ॥

---

१ करुण-क्रन्दन; २ बीती आयु वाला; ३ श्याम (काले) नेत्रोंवाली।

इतीव राज्ञो व्यथितस्य सा निशा
जगाम घोरं श्वसतो मनस्विनः ।
विबोध्यमानः प्रतिबोधनं तदा
निवारयामास स राजसत्तमः ॥ २६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

कैकेयी का राजा को सत्य पर दृढ़ रहने के लिए प्रेरणा देकर अपने वरों की पूर्ति के लिए दुराग्रह दिखाना, महर्षि वसिष्ठ का अन्तःपुर के द्वार पर आगमन और सुमन्त्र को महाराज के पास भेजना, राजा की आज्ञा से सुमन्त्र का श्रीराम को बुलाने के लिए जाना

पुत्रशोकार्दितं पापा विसंज्ञं पतितं भुवि ।
विचेष्टमानमुत्प्रेक्ष्य ऐक्ष्वाकमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
पापं कृत्वेव किमिदं मम संश्रुत्य संश्रवम् ।
शेषे क्षितितले सन्नः स्थित्यां स्थातुं त्वमर्हसि ॥ २ ॥
आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः ।
सत्यमाश्रित्य च मया त्वं धर्मं प्रतिचोदितः ॥ ३ ॥
संश्रुत्य शैब्यः श्येनाय स्वां तनुं जगतीपतिः ।
प्रदाय पक्षिणे राजा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ४ ॥
तथा ह्यलर्कस्तेजस्वी ब्राह्मणे वेदपारगे ।
याचमाने स्वके नेत्रे उद्धृत्याविमना ददौ ॥ ५ ॥
सरितां तु पतिः स्वल्पां मर्यादां सत्यमन्वितः ।
सत्यानुरोधात् समये वेलां स्वां नातिवर्तते ॥ ६ ॥
सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः ।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनावाप्यते परम् ॥ ७ ॥
सत्यं समनुवर्तस्व यदि धर्मे धृता मतिः ।
स वरः सफलो मेऽस्तु वरदो ह्यसि सत्तम ॥ ८ ॥
धर्मस्यैवाभिकामार्थं मम चैवाभिचोदनात् ।
प्रव्राजय सुतं रामं त्रिः खलु त्वां ब्रवीम्यहम् ॥ ९ ॥
समयं च ममार्येमं यदि त्वं न करिष्यसि ।
अग्रतस्ते परित्यक्ता परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ १० ॥
एवं प्रचोदितो राजा कैकेय्या निर्विशङ्कया ।
नाशकत् पाशमुन्मोक्तुं बलिरिन्द्रकृतं यथा ॥ ११ ॥

धीरे-धीरे बीती रजनी[1] मधुर प्रात अवसर आया
उच्छ्वासों में नृपति तपस्वी का वह समय बीत: पाया।
भोर[2], जगाने को नृप को, गायन-वादन जब शुरू हुआ
बन्द कराया नृपसत्तम ने उन्हें, न उनको कुछ भाया ॥ २६ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १३ ॥

चौदहवाँ सर्ग

कैकेयी का राजा को सत्य पर दृढ़ रहने के लिए प्रेरणा देकर अपने वरों की पूर्ति के लिए दुराग्रह दिखाना; महर्षि वसिष्ठ का अन्तःपुर के द्वार पर आगमन और सुमन्त्र को महाराज के पास भेजना, राजा की आज्ञा से सुमन्त्र का श्रीराम को बुलाने के लिए जाना

वे इक्ष्वाकुज[3] नृपति पड़े थे पुत्र-शोक-पीड़ित हो, भू पर।
ऐसा देख उन्हे कैकेयी पापिनि बोली उत्तर कटुतर ॥ १ ॥
देने को वर युगल आपने कहा! माँगने पर भूपति फिर।
गिरे, पाप-स्मृति-भीत[4] व्यक्ति-सम अतः रहें! मर्यादा में स्थिर ॥ २ ॥
सभी धर्मविद् जिस सु-सत्य को उत्तम धर्म बताते न्यारा।
लिया आपको प्रेरित करने में मैंने भी वही सहारा ॥ ३ ॥
नृपति शैव्य ने कभी प्रतिज्ञा बाज, कबूतर - मध्य निभाई।
और बाज को निज शरीर दे गति सर्वोच्च उन्होने पाई ॥ ४ ॥
ऐसे नृप अलर्क ने वेदों से पारंगत द्विज से याचित।
अपने दोनों नेत्र दे दिये खेद न लाकर मन में किञ्चित ॥ ५ ॥
सरिता-पति सागर ने भी तो सत्य-अनुसरण कर दिखलाया।
पर्वादिक समयों में भी सीमा से कभी न आगे आया ॥ ६ ॥
सत्य ब्रह्म है, सत्य धर्म है, अविनाशी है, वेद सत्य है।
(धरा टिकी है सत्य मात्र पर), ब्रह्म-सुलभ-साधन सु-सत्य है ॥ ७ ॥
अतः बुद्धि धर्मस्थित है तो सत्य-अनुसरण करें नरेश्वर!।
सन्त-शिरोमणि! सफल करें! अब दिये हुए अपने ही वे वर ॥ ८ ॥
मुझसे प्रेरित, धर्म-सिद्धि-हित आप राम को भेजें वन को।
तीन बार कह रही नरेश्वर! मैं अपने उस पूर्व कथन को ॥ ९ ॥
आर्य! न व्रत पालेंगे! तो मैं उपेक्षिता[5] निज को पाऊँगी।
और आपके ही समक्ष मैं प्राण त्याग, यमपुर जाऊँगी ॥ १० ॥
निज निःशंक प्रिया से प्रेरित, सत्य-बन्ध में जब नृप आये।
इन्द्रप्रेरित वामन-बन्धन से बलिवत् वे छूट न पाये ॥ ११ ॥

---

१ रात्रि; २ प्रातः; ३ इक्ष्वाकुवंशी; ४ किये पाप को सोचकर भयभीत; ५ तिरस्कृत।

उद्भ्रान्तहृदयश्चापि विवर्णवदनोऽभवत् ।
स धुर्यो वै परिस्पन्दन् युगचक्रान्तरं यथा ॥ १२ ॥
विकलाभ्यां च नेत्राभ्यामपश्यन्निव भूमिपः ।
कृच्छ्राद् धैर्येण संस्तभ्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥
यस्ते मन्त्रकृतः पाणिरग्नौ पापे मया धृतः ।
संत्यजामि स्वजं चैव तव पुत्रं सह त्वया ॥ १४ ॥
प्रयाता रजनी देवि सूर्यस्योदयनं प्रति ।
अभिषेकाय हि जनस्त्वरयिष्यति मां ध्रुवम् ॥ १५ ॥
रामाभिषेकसम्भारैस्तदर्थमुपकल्पितैः ।
रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम् ॥ १६ ॥
सपुत्रया त्वया नैव कर्तव्या सलिलक्रिया ।
व्याहन्तास्यशुभाचारे यदि रामाभिषेचनम् ॥ १७ ॥
न शक्तोऽद्यास्म्यहं द्रष्टुं दृष्ट्वा पूर्वं तथामुखम् ।
हतहर्षं तथानन्दं पुनर्जनमवाङ्मुखम् ॥ १८ ॥
तां तथा ब्रुवतस्तस्य भूमिपस्य महात्मनः ।
प्रभाता शर्वरी पुण्या चन्द्रनक्षत्रमालिनी ॥ १९ ॥
ततः पापसमाचारा कैकेयी पार्थिवं पुनः ।
उवाच परुषं वाक्यं वाक्यज्ञा रोषमूर्च्छिता ॥ २० ॥
किमिदं भाषसे राजन् वाक्यं गररुजोपमम् ।
आनाययितुमक्लिष्टं पुत्रं राममिहार्हसि ॥ २१ ॥
स्थाप्य राज्ये मम सुतं कृत्वा रामं वनेचरम् ।
निःसपत्नां च मां कृत्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ २२ ॥
स तुन्न इव तीक्ष्णेन प्रतोदेन हयोत्तमः ।
राजा प्रचोदितोऽभीक्ष्णं कैकेय्या वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥
धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि नष्टा च मम चेतना ।
ज्येष्ठं पुत्रं प्रियं रामं द्रष्टुमिच्छामि धार्मिकम् ॥ २४ ॥
ततः प्रभातां रजनीमुदिते च दिवाकरे ।
पुण्ये नक्षत्रयोगे च मुहूर्ते च समागते ॥ २५ ॥
वसिष्ठो गुणसम्पन्नः शिष्यैः परिवृतस्तथा ।
उपगृह्याशु सम्भारान् प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ २६ ॥
सिक्तसम्मार्जितपथां पताकोत्तमभूषिताम् ।
संहृष्टमनुजोपेतां समृद्धविपणापणाम् ॥ २७ ॥

गाड़ी के पहियों में फँसकर छूटे नहीं बैल फिर जैसे।
कान्ति-रहित मुख, भ्रान्त-हृदय वे नृप भी हुए सर्वथा वैसे॥ १२ ॥
विकल नयन, कुछ देख न पाते थे, वे किन्तु धीर कुछ धरकर।
बड़ी कठिनता से कैकेयी से बोले फिर नृपति सँभलकर॥ १३ ॥
पापिनि! अग्नि-समीप मन्त्र-सह, तेरे कर को जो स्वीकारा।
परित्याग तव और तव सुवन किया जा रहा मेरे द्वारा॥ १४ ॥
रात्रि गयी, सूर्योदय होने पर, जब लोग यहाँ आएँगे।
तो रामाभिषेक करने की मुझे शीघ्रता बतलाएँगे॥ १५ ॥
एकत्रित सामान हुआ जो राम-राज्य-सिञ्चन-हित सारा।
मरणान्तर पर अञ्जलि उससे; मुझे दिलाना राघव द्वारा॥
पापाचारिणि! अगर राम के सिञ्चन[1] में बाधा लायेगी।
भरत सुवन के साथ न तू तब तिल की अञ्जलि दे पायेगी॥ १६-१७॥
देखा जिन्हें राम-राज्योत्सव का अतिशय आनन्द मनाते।
उनको देख सकूँगा कैसे? अति उदासमुख, कष्ट उठाते॥ १८ ॥
नृप-कैकेयी-वार्ता में वह पुण्या निशा नखत, शशिवाली।
बीती फिर प्रभात आने को दिखी पूर्व में रवि की लाली॥ १९ ॥
वार्ता-मर्मज्ञा[2] कैकेयी क्रोध-मूर्च्छिता-सी क्षत्राणी।
बोली पुनः नृपति से पापिनि वह कठोरतम कलुषित वाणी॥ २० ॥
राजन्! ये हैं शूल और विष-रोगज-कष्टद[3] वचन आपके।
आप बुलाएँ! यहाँ राम को, विना किसी अब कष्ट-ताप के॥
मेरे सुत को राज्यस्थित कर और राम को विपिन पठाकर।
होंगे नृप! कृतकृत्य सर्वथा (सौत-बन्ध से मुझे छुड़ाकर)॥२१-२२॥
तीखे कोड़े के प्रहार से पीड़ित हो उत्तम हय[4] जैसे।
कैकेयी-वचनों से प्रेरित नृप ने कहे वचन तब ऐसे॥ २३ ॥
धर्म-बन्ध में बँधा हुआ हूँ मेरी होती लुप्त चेतना।
अतः चाहता ज्येष्ठ धार्मिक सु-प्रिय राम को अभी देखना॥ २४ ॥
उधर रात्रि बीती प्रभात में जबकि सूर्य-मण्डल दिखलाया।
तब सु-पुष्य नक्षत्र योगमय अभिषिञ्चन मूहूर्त शुभ आया॥ २५ ॥
फिर निज शिष्यों से घिर करके गुण-युत श्री वसिष्ठ मुनि न्यारे।
अभिषिञ्चन-सामग्री-संग्रह कर नगरी में शीघ्र पधारे॥ २६ ॥
तब थे मार्ग स्वच्छ-जल-सिञ्चित और ध्वजाएँ थीं फहराती।
थे समृद्ध बाजार सुसज्जित, थी उत्साहित प्रजा दिखाती॥ २७ ॥

---

१ अभिषेक, राजतिलक; २ बातचीत में कुशल; ३ शूल और विष-रोग से उत्पन्न तथा कष्ट देनेवाले; ४ घोड़ा।

महोत्सवसमायुक्तां राघवार्थे समुत्सुकाम् ।
चन्दनागुरुधूपैश्च सर्वतः परिधूमिताम् ॥ २८ ॥
तां पुरीं समतिक्रम्य पुरंदरपुरोपमाम् ।
ददर्शान्तःपुरं श्रीमान् नानाध्वजगणायुतम् ॥ २९ ॥
पौरजानपदाकीर्णं ब्राह्मणैरुपशोभितम् ।
यष्टिमद्भिः सुसम्पूर्णं सदश्वैः परमार्चितैः ॥ ३० ॥
तदन्तःपुरमासाद्य व्यतिचक्राम तं जनम् ।
वसिष्ठः परमप्रीतः परमर्षिभिरावृतः ॥ ३१ ॥
स त्वपश्यद् विनिष्क्रान्तं सुमन्त्रं नाम सारथिम् ।
द्वारे मनुजसिंहस्य सचिवं प्रियदर्शनम् ॥ ३२ ॥
तमुवाच महातेजाः सूतपुत्रं विशारदम् ।
वसिष्ठः क्षिप्रमाचक्ष्व नृपतेर्मामिहागतम् ॥ ३३ ॥
इमे गङ्गोदकघटाः सागरेभ्यश्च काञ्चनाः ।
औदुम्बरं भद्रपीठमभिषेकार्थमाहृतम् ॥ ३४ ॥
सर्वबीजानि गन्धाश्च रत्नानि विविधानि च ।
क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ॥ ३५ ॥
अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वरवारणः ।
चतुरश्वो रथः श्रीमान् निस्त्रिंशो धनुरुत्तमम् ॥ ३६ ॥
वाहनं नरसंयुक्तं छत्रं च शशिसंनिभम् ।
श्वेते च बालव्यजने भृङ्गारं च हिरण्मयम् ॥ ३७ ॥
हेमदामपिनद्धश्च ककुद्मान् पाण्डुरो वृषः ।
केसरी च चतुर्दंष्ट्रो हरिश्रेष्ठो महाबलः ॥ ३८ ॥
सिंहासनं व्याघ्रतनुः समिधश्च हुताशनः ।
सर्वे वादित्रसङ्घाश्च वेश्याश्चालंकृताः स्त्रियः ॥ ३९ ॥
आचार्या ब्राह्मणाः गावः पुण्याश्च मृगपक्षिणः ।
पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च गणैः सह ॥ ४० ॥
एते चान्ये च बहवः प्रीयमाणाः प्रियंवदाः ।
अभिषेकाय रामस्य सह तिष्ठन्ति पार्थिवैः ॥ ४१ ॥
त्वरयस्व महाराजं यथा समुदितेऽहनि ।
पुष्ये नक्षत्रयोगे च रामो राज्यमवाप्नुयात् ॥ ४२ ॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा सूतपुत्रो महाबलः ।
स्तुवन् नृपतिशार्दूलं प्रविवेश निवेशनम् ॥ ४३ ॥

सभी ओर श्रीराम-राज्य की उत्सव-उत्सुकता-छबि न्यारी।
और अगर-चन्दन से धूपित नगरी हुई सुगन्धित सारी ॥ २८ ॥
पार किया श्रीमत् वसिष्ठ ने इन्द्र-पुरी-सम उस नगरी को।
फिर देखा, राजा के ध्वज-युत अन्तःपुर की शुभस्थली को ॥ २९ ॥
नगर और जनपद-जन थे वहु, शोभा थे अति विप्र बढ़ाते।
सुभग दण्डधर सेवक सज्जित, सजे अश्व बहु शोभा पाते ॥ ३० ॥
अति प्रसन्न होकर वे ऋषिवर श्रेष्ठ महाऋषियों से घिरकर।
जन-समूह को लाँघ, आ गये अन्तःपुर में आगे चलकर ॥ ३१ ॥
सारथि, सचिव सुमन्त्र वहाँ थे भूपति के तब राज-द्वार स्थित।
ऋषि ने देखा उनको जो थे सत्वर अन्तःपुर से निःसृत ॥ ३२ ॥
तब वे तेजस्वी ऋषि बोले, योग्य सुमंत्र ! शीघ्र तुम जाओ।
ज़ा करके मेरे आने की महाराज को खबर बताओ ॥ ३३ ॥
गंगा और सागरों का जल कञ्चन कलशों में भरवाया।
यह गूलर का भद्रपीठ भी अतिसिञ्चन के हित है आया ॥ ३४ ॥
सकल बीज सद्रत्न[1] गन्ध, मधु, दधि, घृत, लावा[2] आदिक आये।
दुग्ध और कुश, विविध पुष्प भी मैंने एकत्रित करवाये ॥ ३५ ॥
आठ सुन्दरी कन्याएँ हैं और मत्त गज उन्नत सक्षम।
तथा चार घोड़ों का रथ है, उज्ज्वल खड्ग, धनुष अति उत्तम ॥ ३६ ॥
नर-वाहन, पालकी और हैं धवल चन्द्र-सम छत्र सु-रुचिकर।
श्वेत चँवर, सोने की झारी हैं. अभिषिञ्चन-सम्भ्रम-सुखकर ॥ ३७ ॥
श्वेत-पीत है वृषभ समुन्नत, स्वर्ण-माल्य से गया सजाया।
चार दाढ़ का सिंह यहाँ है, अतिबल श्रेष्ठ अश्व है आया ॥ ३८ ॥
सिंहासन है, व्याघ्र-चर्म है, यज्ञ-अग्नि है, हैं समिधाएँ।
वाद्य - वादकों - सँग वेश्याएँ तथा सज्जिता हैं ललनाएँ ॥ ३९ ॥
गौ, ब्राह्मण, आचार्य आदि हैं. पावन पशु, पक्षी शुभकारी।
नगर और जनपद के सज्जन, सेवक औ उत्तम व्यापारी ॥ ४० ॥
चहुँदिशि से अनेक नृप, उनके साथ प्रियंवद विपुल पधारे।
अति प्रसन्न हैं ये, देखेंगे कृत्य राज्य-सिञ्चन के सारे ॥ ४१ ॥
कहो ! नृपति से, करें शीघ्रता सूर्य उदय-गिरि पर जब आए।
तब सु-पुष्य नक्षत्र योग में, राम-राज्य-सिञ्चन हो जाए ॥ ४२ ॥
बली सूत-सुत उन सुमन्त्र ने, ऋषि से जब निदेश यह पाया।
तब आये वे राजभवन में नृपतिसिंह को स्तवन सुनाया ॥ ४३ ॥

---

१ मूल्यवान रत्न; २ खील।

तं तु पूर्वोदितं वृद्धं द्वारस्था राजसम्मताः ।
न शेकुरभिसंरोद्धुं राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ॥ ४४ ॥
स समीपस्थितो राज्ञस्तामवस्थामजज्ञिवान् ।
वाग्भिः परमतुष्टाभिरभिष्टोतुं प्रचक्रमे ॥ ४५ ॥
ततः सूतो यथापूर्वं पार्थिवस्य निवेशने ।
सुमन्त्रः प्राञ्जलिर्भूत्वा तुष्टाव जगतीपतिम् ॥ ४६ ॥
यथा नन्दति तेजस्वी सागरो भास्करोदये ।
प्रीतः प्रीतेन मनसा तथा नन्दय नस्ततः ॥ ४७ ॥
इन्द्रमस्यां तु वेलायामभितुष्टाव मातलिः ।
सोऽजयद् दानवान् सर्वांस्तथा त्वां बोधयाम्यहम् ॥ ४८ ॥
वेदाः सहाङ्गा विद्याश्च यथा ह्यात्मभुवं प्रभुम् ।
ब्रह्माणं बोधयन्त्यद्य तथा त्वां बोधयाम्यहम् ॥ ४९ ॥
आदित्यः सह चन्द्रेण यथा भूतधरां शुभाम् ।
बोधयत्यद्य पृथिवीं तथा त्वां बोधयाम्यहम् ॥ ५० ॥
उत्तिष्ठ सुमहाराज कृतकौतुकमङ्गलः ।
विराजमानो वपुषा मेरोरिव दिवाकरः ॥ ५१ ॥
सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि ।
वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते ॥ ५२ ॥
गता भगवती रात्रिः कृतं कृत्यमिदं तव ।
बुध्यस्व नृपशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम् ॥ ५३ ॥
उपतिष्ठत रामस्य समग्रमभिषेचनम् ।
पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः ॥ ५४ ॥
स्वयं वसिष्ठो भगवान् ब्राह्मणैः सह तिष्ठति ।
क्षिप्रमाज्ञाप्यतां राजन् राघवस्याभिषेचनम् ॥ ५५ ॥
यथा ह्यपालाः पशवो यथा सेना ह्यनायका ।
यथा चन्द्रं विना रात्रिर्यथा गावो विना वृषम् ॥ ५६ ॥
एवं हि भविता राष्ट्रं यत्र राजा न दृश्यते ।
एवं तस्य वचः श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमिवार्थवत् ॥ ५७ ॥
अभ्यकीर्यत शोकेन भूय एव महीपतिः ।
ततस्तु राजा तं सूतं सन्नहर्षः सुतं प्रति ॥ ५८ ॥
शोकरक्तेक्षणः श्रीमानुद्वीक्ष्योवाच धार्मिकः ।
वाक्यैस्तु खलु मर्माणि मम भूयो निकृन्तसि ॥ ५९ ॥

नृप-प्रियकर, सम्मानित मन्त्री वे सुमन्त्र जब गये द्वार पर।
उन्हें न रोका द्वार-रक्षकों ने नृप-पूर्वादेश जानकर ॥ ४४ ॥
उस स्थिति से अनभिज्ञ मन्त्रिवर नृप-समीप में खड़े हो गये।
तथा परम तोषक वचनों से करने लगे स्तवन फिर नये ॥ ४५ ॥
पहले की ही भाँति मन्त्रिवर वे सुमन्त्र उस राज-भवन में।
हाथ जोड़कर नृपति-प्रार्थना करने लगे मुदित हो मन में ॥ ४६ ॥
तेजस्वी जलनिधि सूर्योदय पर जैसे आनन्द बढ़ाता।
होकर मुदित आप! वैसे ही हमें करें आनन्दित त्राता! ॥ ४७ ॥
विजयी पहले इन्द्र हुए थे, सुर-सारथि मातलि-स्तुति सुनकर।
वैसे ही स्तुति मेरी सुनकर आप महीपति भी हों तत्पर ॥ ४८ ॥
वेदों, वेदांगों-सँग विधि को यथा जगाती हैं विद्याएँ।
उसी भाँति मैं ध्यान दिलाता, आप! उचित उद्यम अपनाएँ ॥ ४९ ॥
शशि-सँग रवि इस जीवाधारा[1] पृथ्वी को हैं यथा जगाते।
तथा आपमें जागृति लाने को ही तो हम स्तवन सुनाते ॥ ५० ॥
उठें भूप! वस्त्राभूषण-युत मंगल कौतुक-कृत्य कराएँ।
सिंहासन पर, मेरु शैल के उदित सूर्यवत् सुषमा पाएँ ॥ ५१ ॥
हे ककुत्स्थ-नन्दन! रवि, शशि, शिव, श्री कुबेर (दारिद्र्य के जयी)।
वरुण, अग्नि, इन्द्रादि बनाएँ, भूप! आपको त्रिभुवन-विजयी ॥ ५२ ॥
विदा हुई श्री रात्रि भगवती, कार्य हुआ आज्ञापित सारा।
अब आगे का अभिषेचन का कार्य पूर्ण हो श्रीमन् द्वारा ॥ ५३ ॥
हुई राम-अभिषिञ्चन की अब, भूपतिवर! पूरी तैयारी।
हाथ जोड़कर समुपस्थित, जनपद-जन-संग प्रमुख व्यापारी ॥ ५४ ॥
विप्रों के सँग खड़े द्वार पर हैं वसिष्ठ भगवान्, नृपतिवर!।
अतः राम-अभिषेक-कार्य अब, पूर्ण हेतु आज्ञा दें! सत्वर! ॥ ५५ ॥
चरवाहों के बिना यथा पशु, बिना सैन्यपति के सेनाएँ।
बिना चन्द्र के रात्रि न पाती, शोभा बिना वृषभ के गाएँ ॥ ५६ ॥
वैसे बिना नृपति-दर्शन के होता राष्ट्र अशोभित सारा।
सुनकर सार्थक तथा सान्त्वना-युत यह वचन सचिव के द्वारा ॥ ५७ ॥
पुत्र-विरह संभाव्य[2] जानकर उनका शोक बढ़ा तब भारी।
नष्ट हो गयी थी प्रसन्नता उनकी उस अवसर पर सारी ॥ ५८ ॥
धर्मात्मा नृप ने शोकारुण नयन देख, यों वचन सुनाये।
हे सुमन्त्र! मम मर्मस्थल पर घाताघात[3] हेतु क्यों आये? ॥ ५९ ॥

---

१ जीवों को आधार देनेवाली; २ सम्भव, होनी; ३ वचनों का प्रहार।

सुमन्त्रः करुणं श्रुत्वा दृष्ट्वा दीनं च पार्थिवम् ।
प्रगृहीताञ्जलिः किंचित् तस्माद् देशादपाक्रमत् ॥ ६० ॥
यदा वक्तुं स्वयं दैन्यान्न शशाक महीपतिः ।
तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह ॥ ६१ ॥
सुमन्त्र राजा रजनीं रामहर्षसमुत्सुकः ।
प्रजागरपरिश्रान्तो निद्रावशमुपागतः ॥ ६२ ॥
तद् गच्छ त्वरितं सूत राजपुत्रं यशस्विनम् ।
राममानय भद्रं ते नात्र कार्या विचारणा ॥ ६३ ॥
अश्रुत्वा राजवचनं कथं गच्छामि भामिनि ।
तच्छ्रुत्वा मन्त्रिणो वाक्यं राजा मन्त्रिणमब्रवीत् ॥ ६४ ॥
सुमन्त्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुन्दरम् ।
स मन्यमानः कल्याणं हृदयेन ननन्द च ॥ ६५ ॥
निर्जगाम च स प्रीत्या त्वरितो राजशासनात् ।
सुमन्त्रश्चिन्तयामास त्वरितं चोदितस्तया ॥ ६६ ॥
व्यक्तं रामाभिषेकार्थे इहायास्यति धर्मराट् ।
इति सूतो मतिं कृत्वा हर्षेण महता पुनः ॥ ६७ ॥
निर्जगाम महातेजा राघवस्य दिदृक्षया ।
सागरह्रदसंकाशात्सुमन्त्रोऽन्तःपुराच्छुभात् ।
निष्क्रम्य जनसम्बाधं ददर्श द्वारमग्रतः ॥ ६८ ॥
ततः पुरस्तात् सहसा विनिःसृतो
महीपतेर्द्वारगतान् विलोकयन् ।
ददर्श पौरान् विविधान् महाधना-
नुपस्थितान् द्वारमुपेत्य विष्ठितान् ॥ ६९ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः

सुमन्त्र का राजा की आज्ञा से श्रीराम को बुलाने के लिए
उनके महल में जाना

ते तु तां रजनीमुष्य ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
उपतस्थुरुपस्थानं सह राजपुरोहिताः ॥ १ ॥
अमात्या बलमुख्याश्च मुख्या ये निगमस्य च ।
राघवस्याभिषेकार्थे प्रीयमाणाः सुसंगताः ॥ २ ॥

करुण वचन सुनकर भूपति के, उनकी दीन दुर्दशा लखकर।
जोड़े हुए हाथ, कुछ पीछे हट आये मन्त्री विवेकिवर॥ ६० ॥
दुःख-दीनता के कारण जब भूपति-मुख में वचन न आया।
तब मन्त्रज्ञा[1] कैकेयी ने यों सुमन्त्र से वचन सुनाया॥ ६१ ॥
राम-राज्य-अभिषेक-हर्ष में नृप ने जगकर रात्रि बिताई।
अतः सुमन्त्र! इस समय उनको श्रम के कारण निद्रा आई॥ ६२ ॥
हो शुभ सूत! यशस्वी राघव को तुम सत्वर यहाँ बुलाओ!।
इस विचार में तुम न अन्यथा का कुछ भाव हृदय में लाओ॥ ६३ ॥
तब सुमन्त्र ने कहा कि भामिनि! बिना नृपाज्ञा जाऊँ कैसे?।
मन्त्री की वह वार्ता सुनकर, तब दशरथ नृप बोले ऐसे॥ ६४ ॥
सुन्दर राम-दरश-इच्छुक हूँ, तुम सुमन्त्र! अब लाओ उनको।
इसमें ही कल्याण समझकर हर्ष मिला कुछ भूपति-मन को॥ ६५ ॥
नृप-आज्ञा से हर्षित होकर वे सुमन्त्र तत्काल चल दिए।
किन्तु लगे सोचने, बुलाती भला राम को शीघ्र किसलिए?॥ ६६ ॥
फिर समझे, राज्याभिषेक-हित, यह राघव को शीघ्र बुलाती।
धर्मराज नृप में श्रम से ही अधिक शिथिलता है दिखलाती॥
अतः राम राघव-शुभ दर्शन की इच्छा वे मन में लाये।
और सागरान्तर्गत[2] सर-सम अन्तःपुर से बाहर आये॥
देखा तब सुमन्त्र ने द्वारे पर थी भीड़ बहुत ही भारी।
(परिजन, पुरजन और राज-जन करते थे स्वागत-तैयारी)॥६७-६८॥

सहसा नृप-अन्तःपुर से वे सचिव निकलकर बाहर आये
और द्वार पर देखा बहुजन हैं सब भीड़ लगाये।
समझ गये वे, यहाँ पुर-धनी हैं अनेक समुपस्थित
जो कि द्वार की शोभा बनकर सभी ओर हैं छाये॥ ६९ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में चौदहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १४ ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

सुमन्त्र का राजा की आज्ञा से श्रीराम को बुलाने के लिए उनके महल में आना

वे वेदज्ञ[3] विप्र एवं सब राज-पुरोहित रात बिताकर।
प्रातः सभी हुए समुपस्थित तब फिर राज-द्वार पर आकर॥ १ ॥
मन्त्री, साहूकार, सेठ सब प्रमुख-प्रमुख सेना-अधिकारी।
हुए देखने को एकत्रित राम-राज्य-सिञ्चन सुखकारी॥ २ ॥

---

१ बातचीत में चतुर; २ समुद्र के अन्दर से प्रकट हुए; ३ वेद-ज्ञाता।

उदिते विमले सूर्ये पुष्ये चाभ्यागतेऽहनि ।
लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते ॥ ३ ॥
अभिषेकाय रामस्य द्विजेन्द्रैरुपकल्पितम् ।
काञ्चना जलकुम्भाश्च भद्रपीठं स्वलंकृतम् ॥ ४ ॥
रथश्च सम्यगास्तीर्णो भास्वता व्याघ्रचर्मणा ।
गङ्गायमुनयोः पुण्यात् संगमादाहृतं जलम् ॥ ५ ॥
याश्चान्याः सरितः पुण्या ह्रदाः कूपाः सरांसि च ।
प्राग्वहाश्चोर्ध्ववाहाश्च तिर्यग्वाहाश्च क्षीरिणः ॥ ६ ॥
ताभ्यश्चैवाहृतं तोयं समुद्रेभ्यश्च सर्वशः ।
क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ॥ ७ ॥
अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वरवारणः ।
सजलाः क्षीरिभिश्छन्ना घटाः काञ्चनराजताः ॥ ८ ॥
पद्मोत्पलयुता भान्ति पूर्णाः परमवारिणा ।
चन्द्रांशुविकचप्रख्यं पाण्डुरं रत्नभूषितम् ॥ ९ ॥
सज्जं तिष्ठति रामस्य वालव्यजनमुत्तमम् ।
चन्द्रमण्डलसंकाशमातपत्रं च पाण्डुरम् ॥ १० ॥
सज्जं द्युतिकरं श्रीमदभिषेकपुरस्सरम् ।
पाण्डुरश्च वृषः सज्जः पाण्डुराश्वश्च संस्थितः ॥ ११ ॥
वादित्राणि च सर्वाणि वन्दिनश्च तथापरे ।
इक्ष्वाकूणां यथा राज्ये सम्भ्रियेताभिषेचनम् ॥ १२ ॥
तथाजातीयमादाय राजपुत्राभिषेचनम् ।
ते राजवचनात् तत्र समवेता महीपतिम् ॥ १३ ॥
अपश्यन्तोऽब्रुवन् को नु राज्ञो नः प्रतिवेदयेत् ।
न पश्यामश्च राजानमुदितश्च दिवाकरः ॥ १४ ॥
यौवराज्याभिषेकश्च सज्जो रामस्य धीमतः ।
इति तेषु ब्रुवाणेषु सर्वांस्तांश्च महीपतीन् ॥ १५ ॥
अब्रवीत् तानिदं वाक्यं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ।
रामं राज्ञो नियोगेन त्वरया प्रस्थितो ह्यहम् ॥ १६ ॥
पूज्या राज्ञो भवन्तश्च रामस्य तु विशेषतः ।
अयं पृच्छामि वचनात् सुखमायुष्मतामहम् ॥ १७ ॥
राज्ञः सम्प्रतिबुद्धस्य चानागमनकारणम् ।
इत्युक्त्वान्तःपुरद्वारमाजगाम पुराणवित् ॥ १८ ॥

निर्मल सूर्योदय होने पर पुष्यभ योग सुखद जब आया।
राम-जन्म के कर्क लग्न का शुभ मुहूर्त विप्रों ने पाया॥ ३ ॥
तब रामाभिषेक-सामग्री विप्रों ने एकत्र कराई।
भद्र पीठ-संग, जल से पूरित कनक-कलश की पंक्ति सजाई॥ ४ ॥
अति चमकीले व्याघ्र-चर्म से सजा हुआ रथ भी तब आया।
पावन गंगा-यमुना-संगम-जल भी वहाँ गया पहुँचाया॥ ५ ॥
पावन सरिता, कूप, सरोवर और जलाशय जो हैं निर्मल।
पूर्व, ऊर्ध्व, दक्षिण, उत्तर की दुग्धाभ[1] सभी नदियों का जल॥
तथा समस्त सागरों का जल निर्मल गया वहाँ पर लाया।
दूध, दही, घृत, लावा, मधु, कुश, पुष्पों से स्थल वह था छाया॥
कन्याएँ थीं आठ सुन्दरी, था मदमत्त हस्ति अपराजित।
सजल, दुग्धमय तरु-पल्लव से राजत, काञ्चन घट आच्छादित॥
शोभित होते थे पद्मोत्पल[2] से घट-युत होने के कारण।
और राम-हित शशि-किरणों-सम जो था कान्ति किये तब धारण॥
श्वेत, पीत वर्णाभ[3] रत्नमय चँवर रखा था परम सुसज्जित।
शशि-मण्डल-सा श्वेत छत्र भी सज्जित था रामाभिषेक-हित॥ ६-१० ॥
उसमें था प्रकाश अति अद्भुत और बहुत से रत्न जड़े थे।
वृषभ, अश्व भी परम सुसज्जित श्वेत वर्ण के वहाँ खड़े थे॥ ११ ॥
सब प्रकार के वाद्य वहाँ थे, स्तुति-पाठक थे बन्दीजन तब।
इक्ष्वाकुज नृप-अभिसिञ्चन के योग्य, वस्तुएँ आई थीं सब॥
राजकुमार राम-अभिषेचन-सामग्री वे सब थे लाये।
राजाज्ञा से नृप-दर्शन को, वे सब वहाँ द्वार पर आये॥ १२-१३॥
सूर्योदय पर, नृप-अनुपस्थिति देख, लगे वे सब बतलाने।
नृप को, हम सबके आने की, कौन जायगा? बात बताने॥ १४ ॥
सुधी राम-अभिषिञ्चन की हैं जुटीं यहाँ सामग्री सारी।
बातें करते थे ऐसी जब वे सब नृपति छत्र-व्रतधारी॥ १५ ॥
तभी राज-सत्कृत[4] सुमन्त्र ने उन सबको यह बात बताई।
यहाँ राम को शीघ्र बुलाने की मैंने आज्ञा है पाई॥
राम तथा नृपवर के हैं सब आप लोग संपूज्य धरणिधर।
कृते उन्हीं के पूछ रहा हूँ क्षेम-वृत्त[5] औ सकल कुशलकर॥१६-१७॥
यदपि जगे नृप, किन्तु न बाहर आने के कारण बतलाये।
अन्तःपुर के द्वार, विज्ञवर सूत सुमन्त्र लौट फिर आये॥ १८ ॥

१ दूध की-सी उज्ज्वल आभावाली; २ कमल-पत्र; ३ रंगवाले; ४ सत्कार-प्राप्त; ५ कुशल-समाचार।

सदा सक्तं च तद् वेश्म सुमन्त्रः प्रविवेश ह।
तुष्टावास्य तदा वंशं प्रविश्य स विशाम्पतेः ॥ १९ ॥
शयनीयं नरेन्द्रस्य तदासाद्य व्यतिष्ठत।
सोऽत्यासाद्य तु तद्वेश्म तिरस्करणिमन्तरा ॥ २० ॥
आशीर्भिर्गुणयुक्ताभिरभितुष्टाव राघवम्।
सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि ॥ २१ ॥
वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते।
गता भगवती रात्रिरहः शिवमुपस्थितम् ॥ २२ ॥
बुद्धयस्व राजशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम्।
ब्राह्मणा बलमुख्याश्च नैगमाश्चागतास्त्विह ॥ २३ ॥
दर्शनं तेऽभिकाङ्क्षन्ते प्रतिबुद्धयस्व राघव।
स्तुवन्तं तं तदा सूतं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥ २४ ॥
प्रतिबुद्धय ततो राजा इदं वचनमब्रवीत्।
राममानय सूतेति यदस्यभिहितो मया ॥ २५ ॥
किमिदं कारणं येन ममाज्ञा प्रतिवाह्यते।
न चैव सम्प्रसुप्तोऽहमानयेहाशु राघवम् ॥ २६ ॥
इति राजा दशरथः सूतं तत्रान्वशात् पुनः।
स राजवचनं श्रुत्वा शिरसा प्रतिपूज्य तम् ॥ २७ ॥
निर्जगाम नृपावासान्मन्यमानः प्रियं महत्।
प्रपन्नो राजमार्गं च पताकाध्वजशोभितम् ॥ २८ ॥
हृष्टः प्रमुदितः सूतो जगामाशु विलोकयन्।
स सूतस्तत्र शुश्राव रामाधिकरणाः कथाः ॥ २९ ॥
अभिषेचनसंयुक्ताः सर्वलोकस्य हृष्टवत्।
ततो ददर्श रुचिरं कैलाससदृशप्रभम् ॥ ३० ॥
रामवेश्म सुमन्त्रस्तु शक्रवेश्मसमप्रभम्।
महाकपाटपिहितं वितर्दिशतशोभितम् ॥ ३१ ॥
काञ्चनप्रतिमैकाग्रं मणिविद्रुमतोरणम्।
शारदाभ्रघनप्रख्यं दीप्तं मेरुगुहासमम् ॥ ३२ ॥
मणिभिर्वरमाल्यानां सुमहद्भिरलंकृतम्।
मुक्तामणिभिराकीर्णं चन्दनागुरुभूषितम् ॥ ३३ ॥
गन्धान् मनोज्ञान् विसृजद् दार्दुरं शिखरं यथा।
सारसैश्च मयूरैश्च विनदद्भिर्विराजितम् ॥ ३४ ॥

रोक-टोक थी नहीं, नृप-भवन-द्वार खुला रहता सुमन्त्र-हित।
राजवंश की महिमा-वर्णन करते हुए सूत-सुत प्रविशित ॥ १९ ॥
खड़े हुए, नृप-शयन-भवन के पास, सचिववर वे तदनन्तर।
तब वे नृप के अति समीप थे केवल था चिक-पट का अन्तर ॥ २० ॥
रघुकुल का गुणगान और आशिष वचनों से बहुविधि संस्तुति।
सोम, सूर्य, शिव, धन के स्वामी, श्री कुबेर, नृपवर ककुत्स्थ-सुत[1] ! ॥
विजय प्रदान करें, क्षण-प्रतिक्षण वरुण देवता, अग्नि, पुरन्दर।
निशा भगवती गई, हुआ अब मंगलमय प्रभात अति सुन्दर ॥२१-२२॥
राजसिंह ! जागें ! फिर देखें ! स्वेच्छित कार्य-व्यवस्था सारी।
आये ब्राह्मण, सेठ यहाँ पर और सभी सेना-अधिकारी ॥
वे सब दर्शन के इच्छुक हैं, जागें ! हे रघुनन्दन ! सत्वर।
ऐसे सूत सुमन्त्र मन्त्रविद् हुए नृपति-संस्तुति में तत्पर ॥२३-२४॥
राजा ने चेतना प्राप्त कर, उनसे कहा वचन फिर ऐसा।
सूत ! राम को लाओ ! तुमसे कार्य बताया पहले जैसा ॥
हुआ न क्यों आज्ञा का पालन ? इसका कारण मुझे बताओ !।
सुप्त नहीं हूँ, शीघ्र राम को जाकर यहाँ बुलाकर लाओ ! ॥२५-२६॥
नृप दशरथ ने जब सुमन्त्र को वह आदेश पुनः दुहराया।
आज्ञा पाकर, तब सुमन्त्र ने नृप-आज्ञा में शीश झुकाया ॥ २७ ॥
अब अपना प्रिय कार्य हो गया, यही समझ वे आये बाहर।
देखा, ध्वजा-पताकाएँ शोभित थीं चहुँदिशि राजमार्ग पर ॥ २८ ॥
सभी ओर देखते हुए उल्लसित शीघ्र बढ़ते जाते थे।
सुना मार्ग में तभी उन्होंने लोग विविध जो बतलाते थे ॥
राम-राज्य-अभिषेक-वचन थे वे अतिशय आनन्द-विवर्धन।
फिर कैलाश-सदृश छवि धवलित राम-महल के किये सु-दर्शन ॥२९-३०॥
उसके बड़े कपाट बन्द थे, वह था इन्द्र-भवन-सम दीपित[2]।
उसकी सुषमा बढ़ा रही थीं परम दिव्य वेदियाँ असीमित ॥ ३१ ॥
मणि, मूँगे थे जटित द्वार में, अग्रस्थल-कञ्चन-प्रतिमाएँ।
शरद-मेघ-सम कान्त-भवन में दीप्ति, मनोरम मेरु-गुफाएँ ॥ ३२ ॥
मुक्ता, मणि से व्याप्त, सुसज्जित कनक-पुष्प-मालाओं द्वारा।
वह था चन्दन-अगरु-सुगन्धित अति शोभामय अद्भुत न्यारा ॥ ३३ ॥
दुर्दुर[3] चन्दन-शैल-शिखर-सम वह था मधु सुगन्ध फैलाता।
सारस और मयूर आदि खग-कलरव से था अधिक सुहाता ॥ ३४ ॥

---

१ ककुत्स्थ-वंशी; २ प्रकाशित; ३ मलयगिरि के समीप।

सुकृतेहामृगाकीर्णमुत्कीर्णं भक्तिभिस्तथा ।
मनश्चक्षुश्च भूतानामाददत् तिग्मतेजसा ॥ ३५ ॥
चन्द्रभास्करसंकाशं कुबेरभवनोपमम् ।
महेन्द्रधामप्रतिमं नानापक्षिसमाकुलम् ॥ ३६ ॥
मेरुशृङ्गसमं सूतो रामवेश्म ददर्श ह ।
उपस्थितैः समाकीर्णं जनैरञ्जलिकारिभिः ॥ ३७ ॥
उपादाय समाक्रान्तैस्तदा जानपदैर्जनैः ।
रामाभिषेकसुमुखैरुन्मुखैः समलङ्कृतम् ॥ ३८ ॥
महामेघसमप्रख्यमुदग्रं सुविराजितम् ।
नानारत्नसमाकीर्णं कुब्जकैरपि चावृतम् ॥ ३९ ॥

स वाजियुक्तेन रथेन सारथिः
समाकुलं राजकुलं विराजयन् ।
वरूथिना राजगृहाभिपातिना
पुरस्य सर्वस्य मनांसि हर्षयन् ॥ ४० ॥
ततः समासाद्य महाधनं महत्
प्रहृष्टरोमा स बभूव सारथिः ।
मृगैर्मयूरैश्च समाकुलोल्बणं
गृहं वरार्हस्य शचीपतेरिव ॥ ४१ ॥
स तत्र कैलासनिभाः स्वलंकृताः
प्रविश्य कक्ष्यास्त्रिदशालयोपमाः ।
प्रियान् वरान् राममते स्थितान् बहून्
व्यपोह्य शुद्धान्तमुपस्थितो रथी ॥ ४२ ॥
स तत्र शुश्राव च हर्षयुक्ता
रामाभिषेकार्थकृता जनानाम् ।
नरेन्द्रसूनोरभिमङ्गलार्थाः
सर्वस्य लोकस्य गिरः प्रहृष्टाः ॥ ४३ ॥
महेन्द्रसद्मप्रतिमं च वेश्म
रामस्य रम्यं मृगपक्षिजुष्टम् ।
ददर्श मेरोरिव शृङ्गमुच्चं
विभ्राजमानं प्रभया सुमन्त्रः ॥ ४४ ॥
उपस्थितैरञ्जलिकारिभिश्च
सोपायनैर्जानपदैर्जनैश्च ।
कोटया परार्ध्यैश्च विमुक्तयानैः
समाकुलं द्वारपदं ददर्श ॥ ४५ ॥

वहाँ भेड़िये आदि बने थे कुशल शिल्पियों से कञ्चन के।
उन्हें देख आँखें औ मन आकर्षित होते थे प्रति जन के॥ ३५ ॥
था कुबेर-गृह-सम समृद्ध वह इन्द्र-धाम-सम मन को भाता।
राम-भवन में था खग-कुल का कलरव अति आनन्द बढ़ाता॥ ३६ ॥
राम-गेह को तभी सूत ने देखा शोभित मेरु-शिखर-सम।
कर जोडे असंख्य जन-गण थे रामस्तुति करने को निरुपम॥ ३७ ॥
विविध भाँति उपहार राम का अभिषिञ्चन सुनकर थे लाये।
शोभा बहुत बढ़ रही थी तब प्रमुदित, उत्कण्ठित वे छाये॥ ३८ ॥
अति विशाल वह मेरु-खण्ड-सम राजभवन था अतिशय भाता।
रत्न-जटित दीवारें थीं, सेवक-कुब्जों से भरा दिखाता॥ ३९ ॥

राम-भवन का पथ जिसमें थे जँगले बहुत लगाये
तथा समुन्नत अश्व समन्वित रथ थे सजे-सजाये।
प्रमुदित नगरवासियों से थी जिसकी शोभा बढ़ती
पास उसी के तब सुमन्त्र वे हर्षित होकर आये॥ ४० ॥

उत्तम वस्तु-प्राप्ति-अधिकारी-गृह समृद्ध था सारा
इन्द्र-भवन की भाँति सुशोभित होता था वह न्यारा।
मृगों, मयूरों से बढ़ती थी सुषमा उसकी अतिशय
अतः हुए रोमाञ्चित मन्त्री परम हर्ष के द्वारा॥ ४१ ॥

वह कैलास स्वर्ग-शोभामय था सज्जित दिखलाता
कई ड्योढ़ियाँ लाँघ, सूत वे मुदित मन्त्र के ज्ञाता।
आज्ञापालक श्रेष्ठजनों को छोड़, बीच के पथ में
रथ से अन्तःपुर द्वारे पर आये (नीति-विधाता)॥ ४२ ॥

वहाँ राम-अभिषेक-व्यस्त जन-वार्ता पड़ी सुनाई
जिसमें नृप-सुत रामचन्द्र-छबि चारों दिक् थी छाई।
इसी भाँति हर्षित लोगों की बातें सुनीं उन्होंने
अतः हृदय-सर में उनके भी लहर हर्ष की आई॥ ४३ ॥

इन्द्र-भवन-शोभा भी राघव-गृह से रही लजाती
खग, मृग से उसकी सुन्दरता थी बढ़ती ही जाती।
देखा मेरु-शिखर-सम उन्नत उसे सूत ने तब फिर
जिसकी प्रभा-प्रशंसा करके शोभा स्वयं लजाती॥ ४४ ॥

प्रजा वहाँ उपहार-वस्तुएँ विपुल लिये थी आई
सवारियों से उतर अगन्तुक सविनय पड़े दिखाई।
देखा उनको तब सुमन्त्र ने, जो थे लोग करोड़ों
और जिन्होंने हर्षित होकर थी अति भीड़ लगाई॥ ४५ ॥

ततो महामेघमहीधराभं
प्रभिन्नमत्यङ्कुशमत्यसह्यम् ।
रामोपवाह्यं रुचिरं ददर्श
शत्रुंजयं नागमुदग्रकायम् ॥ ४६ ॥
स्वलंकृतान् साश्वरथान् सकुञ्जरा-
नमात्यमुख्यांश्च ददर्श वल्लभान् ।
व्यपोह्य सूतः सहितान् समन्ततः
समृद्धमन्तःपुरमाविवेश ह ॥ ४७ ॥
ततोऽद्रिकूटाचलमेघसंनिभं
महाविमानोपमवेश्मसंयुतम् ।
अवार्यमाणः प्रविवेश सारथिः
प्रभूतरत्नं मकरो यथार्णवम् ॥ ४८ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

सुमन्त्र का श्रीराम के महल में पहुँचकर महाराज का संदेह सुनाना और श्रीराम का सीता से अनुमति ले लक्ष्मण के साथ रथ पर बैठकर गाजे-बाजे के साथ मार्ग में स्त्री-पुरुषों की बातें सुनते हुए जाना

स तदन्तःपुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम् ।
प्रविविक्तां ततः कक्ष्यामाससाद पुराणवित् ॥ १ ॥
प्रासकार्मुकबिभ्रद्भिर्युवतिभिर्मृष्टकुण्डलैः ।
अप्रमादिभिरेकाग्रैः स्वानुरक्तैरधिष्ठिताम् ॥ २ ॥
तत्र काषायिणो वृद्धान् वेत्रपाणीन् स्वलंकृतान् ।
ददर्श विष्ठितान् द्वारि स्त्र्यध्यक्षान् सुसमाहितान् ॥ ३ ॥
ते समीक्ष्य समायान्तं रामप्रियचिकीर्षवः ।
सहसोत्पतिताः सर्वे ह्यासनेभ्यः ससम्भ्रमाः ॥ ४ ॥
तानुवाच विनीतात्मा सूतपुत्रः प्रदक्षिणः ।
क्षिप्रमाख्यात रामाय सुमन्त्रो द्वारि तिष्ठति ॥ ५ ॥
ते राममुपसङ्क्रम्य भर्तुः प्रियचिकीर्षवः ।
सहभार्याय रामाय क्षिप्रमेवाचचक्षिरे ॥ ६ ॥
प्रतिवेदितमाज्ञाय सूतमभ्यन्तरं पितुः ।
तत्रैवानाययामास राघवः प्रियकाम्यया ॥ ७ ॥

देखा सुमन्त्र ने राघव का गज वाहन शत्रुञ्जय
जो कि मेघ-युत शैलकाय[1] था गण्डस्थल था मदमय।
जिसका वेग शत्रुओं को अति असहनीय था रण में
अंकुश के था अ-वश, नाम-सम था उसमें गुण सत्तम ॥ ४६ ॥

देखा नृप-प्रिय प्रमुख मन्त्रियों को जो थे समुपस्थित
जो थे मन्त्र और आभूषण से अतिशय ही सज्जित।
हाथी, घोड़े और रथादिक थे उनके सँग आये
उन्हें हटाकर सुभग महल में हुए सूत-सुत प्रविशित ॥ ४७ ॥

जैसे मगर, रत्न-सागर में विना रोक के जाये
वैसे वे गिरि-शिखर-मेघ-सम उच्च भवन में आये।
वह विमान-सम बहु कक्षाओं, रत्नों से था पूरित
उन्हें रोकने, कुछ कहने में बन्दीजन सकुचाये ॥ ४८ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १५ ॥

सोलहवाँ सर्ग

सुमन्त्र का श्रीराम के महल में पहुँचकर महाराज का सन्देश सुनाना और श्रीराम का सीता से अनुमति ले लक्ष्मण के साथ रथ पर बैठकर गाजे-बाजे के साथ स्त्री-पुरुषों की बातें सुनते हुए जाना

वे जन-पूरित अन्तःपुर का द्वार लाँघ. एकान्त कक्ष में।
आये पुरावृत्त[2] के ज्ञाता (रामचन्द्र जी के समक्ष में) ॥ १ ॥
वहाँ राम-पद-रत सतर्क थे युवक वीर भाला, धनुधारी।
उनके कानों में सुवर्ण के कुण्डल थे झिलमिल छविकारी ॥ २ ॥
वसन गेरुए, छड़ी-विभूषित वहाँ वृद्ध भी पड़े दिखाई।
अन्तःपुर - महिला - संरक्षण के अधिपति वे उत्तरदायी ॥ ३ ॥
राम-प्रियेच्छुक सबने देखा जब मंत्री सुमंत्र को आते।
तब वे सहसा निज आसन से खड़े हुए आदर के नाते ॥ ४ ॥
नृप-सेवा में कुशल, नम्र उन सूत-पुत्र ने उन्हें बताया।
कहो! द्वार पर हैं सुमन्त्र वे, जिन्हें नृपति ने यहाँ पठाया ॥ ५ ॥
राम वहाँ सीता-सँग राजित, तब प्रियेच्छु सेवक-दल आया।
उसने वह संदेश सूत का नतमस्तक हो, उन्हें सुनाया ॥ ६ ॥
द्वार - रक्षकों से राघव ने जब संदेश सूत का पाया।
पिता-प्रीति-हित, अन्तःपुर में, अन्तरंग को वहीं बुलाया ॥ ७ ॥

---

१ पर्वत के समान शरीर वाला, ऊँचा; २ प्राचीन इतिहास।

तं वैश्रवणसंकाशमुपविष्टं स्वलंकृतम् ।
ददर्श सूतः पर्यङ्के सौवर्णे सोत्तरच्छदे ॥ ८ ॥
वराहरुधिराभेण शुचिना च सुगन्धिना ।
अनुलिप्तं परार्ध्येन चन्दनेन परंतपम् ॥ ९ ॥
स्थितया पार्श्वतश्चापि वालव्यजनहस्तया ।
उपेतं सीतया भूयश्चित्रया शशिनं यथा ॥ १० ॥
तं तपन्तमिवादित्यमुपपन्नं स्वतेजसा ।
ववन्दे वरदं वन्दी विनयज्ञो विनीतवत् ॥ ११ ॥
प्राञ्जलिः सुमुखं दृष्ट्वा विहारशयनासने ।
राजपुत्रमुवाचेदं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ॥ १२ ॥
कौसल्या सुप्रजा राम पिता त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
महिष्यापि हि कैकेय्या गम्यतां तत्र मा चिरम् ॥ १३ ॥
एवमुक्तस्तु संहृष्टो नरसिंहो महाद्युतिः ।
ततः सम्मानयामास सीतामिदमुवाच ह ॥ १४ ॥
देवि देवश्च देवी च समागम्य मदन्तरे ।
मन्त्रयेते ध्रुवं किंचिदभिषेचनसंहितम् ॥ १५ ॥
लक्षयित्वा ह्यभिप्रायं प्रियकामा सुदक्षिणा ।
संचोदयति राजानं मदर्थमसितेक्षणा ॥ १६ ॥
स प्रहृष्टा महाराजं हितकामानुवर्तिनी ।
जननी चार्थकामा मे केकयाधिपतेः सुता ॥ १७ ॥
दिष्टया खलु महाराजो महिष्या प्रियया सह ।
सुमन्त्रं प्राहिणोद् दूतमर्थकामकरं मम ॥ १८ ॥
यादृशी परिषत् तत्र तादृशो दूत आगतः ।
ध्रुवमद्यैव मां राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ १९ ॥
हन्त शीघ्रमितो गत्वा द्रक्ष्यामि च महीपतिम् ।
सह त्वं परिवारेण सुखमास्स्व रमस्व च ॥ २० ॥
पतिसम्मानिता सीता भर्तारमसितेक्षणा ।
आ द्वारमनुवव्राज मङ्गलान्यभिदध्युषी ॥ २१ ॥
राज्यं द्विजातिभिर्जुष्टं राजसूयाभिषेचनम् ।
कर्तुमर्हति ते राजा वासवस्येव लोककृत् ॥ २२ ॥
दीक्षितं व्रतसम्पन्नं वराजिनधरं शुचिम् ।
कुरङ्गशृङ्गपाणिं च पश्यन्ती त्वां भजाम्यहम् ॥ २३ ॥

धनपति-सम सज्जित रघुवर के दर्शन वहाँ सूत ने पाये।
स्वर्ण-पलँग पर बिछे बिछौने बैठे राम अमित छवि छाये ॥ ८ ॥
श्यामांगों में पावन चन्दन अरुण, सुगन्धित लेप सुहाता।
वह वाराह-रक्त-जैसा ही लाल देखने में था आता ॥ ९ ॥
व्यजन[1] डुलाती थीं श्री सीता राम पास में तब थे वैसे।
चैत्र पूर्णिमा चित्रा से युत चन्द्रदेव की शोभा जैसे ॥ १० ॥
तप्त सूर्य-सम निज प्रकाश से दीप्त राम, जो वर के दाता।
उन्हें किया मन्त्री सुमन्त्र ने नमन, विनय के जो विज्ञाता ॥ ११ ॥
थे विहार-शय्या पर रघुवर, अति प्रसन्नमुख उन्हें देखकर।
दशरथ-मानित सचिव नम्र तब उनसे बोले हाथ जोड़कर ॥ १२ ॥
सुतोत्तमा रानी कौसल्या हुईं, राम! तुम-सा सुत पाकर।
चलें! बुलाया अभी पिता ने जो बैठे कैकयि-गृह आकर ॥ १३ ॥
तभी सूत के यह कहने पर नृवर राम अतिशय तेजस्वी।
सीता को सम्मानित करके बोले उनसे मुदित यशस्वी ॥ १४ ॥
मेरे अभिषिञ्चन की वार्ता पिता और कैकेयी माता।
दोनों मिलकर देवि! कर रहे, निश्चय मुझे समझ में आता ॥ १५ ॥
मेरा अभिषिञ्चन[2]-विचार वे समझ उदारा नृप-प्रिय-कामा[3]।
करतीं होंगी नृप को प्रेरित माँ कैकेयी नयनश्यामा ॥ १६ ॥
वे नृप-हित-कामानुवर्तिनी[4] होंगी मुदित वृत्त सुन सारा।
कहती होंगी, 'करो शीघ्रता', मेरा हित है उनको प्यारा ॥ १७ ॥
बैठे हैं नृप प्रिय रानी-सँग यह मेरा सौभाग्य-सुलक्षण।
मम हित सदा चाहनेवाले श्री सुमन्त्र को भेजा तत्क्षण ॥ १८ ॥
वहाँ गुप्त परिषद् है जैसी, वैसे सूत सुमन्त्र पधारे।
आज, राज-अभिषेक करेंगे निश्चय मेरा पिता हमारे ॥ १९ ॥
अतः करूँगा नृप के दर्शन शीघ्र मुदित मन अब मैं जाकर।
सुखपूर्वक तुम यहाँ विराजो! सभी परिजनों को बिठलाकर ॥ २० ॥
कज्जलनेत्री सीता ऐसे सम्मानित हो पति के द्वारा।
आईं उनके साथ दूर तक कुशल मनाते हुए उदारा ॥ २१ ॥
बोलीं, विप्रों-सहित आपका राजसूय-अभिषिञ्चन वैसे।
पिता करेंगे! किया प्रजापति[5] ने महेन्द्र-अभिषिञ्चन जैसे ॥ २२ ॥
मख-दीक्षित[6], मृग-चर्म ग्रहण कर, लें! पावन मृग-शृंग हाथ में।
इसी रूप में दर्शन एवं सेवा करती रहूँ साथ में ॥ २३ ॥

१ पंखा; २ राजतिलक; ३ प्रिय (भला) चाहनेवाली; ४ इच्छा पर चलनेवाली; ५ ब्रह्मा; ६ यज्ञ में दीक्षाप्राप्त।

पूर्वां दिशं वज्रधरो दक्षिणां पातु ते यमः।
वरुणः पश्चिमामाशां धनेशस्तूत्तरां दिशम् ॥ २४ ॥
अथ सीतामनुज्ञाप्य कृतकौतुकमङ्गलः।
निश्चक्राम सुमन्त्रेण सह रामो निवेशनात् ॥ २५ ॥
पर्वतादिव निष्क्रम्य सिंहो गिरिगुहाशयः।
लक्ष्मणं द्वारि सोऽपश्यत् प्रह्वाञ्जलिपुटं स्थितम् ॥ २६ ॥
अथ मध्यमकक्ष्यायां समागच्छत् सुहृज्जनैः।
स सर्वानर्थिनो दृष्ट्वा समेत्य प्रतिनन्द्य च ॥ २७ ॥
ततः पावकसंकाशमारुरोह रथोत्तमम्।
वैयाघ्रं पुरुषव्याघ्रो राजितं राजनन्दनः ॥ २८ ॥
मेघनादमसम्बाधं मणिहेमविभूषितम्।
मुष्णन्तमिव चक्षूंषि प्रभया मेरुवर्चसम् ॥ २९ ॥
करेणुशिशुकल्पैश्च युक्तं परमवाजिभिः।
हरियुक्तं सहस्राक्षो रथमिन्द्र इवाशुगम् ॥ ३० ॥
प्रययौ तूर्णमास्थाय राघवो ज्वलितः श्रिया।
स पर्जन्य इवाकाशे स्वनवानभिनादयन् ॥ ३१ ॥
निकेतान्निर्ययौ श्रीमान् महाभ्रादिव चन्द्रमाः।
चित्रचामरपाणिस्तु लक्ष्मणो राघवानुजः ॥ ३२ ॥
जुगोप भ्रातरं भ्राता रथमास्थाय पृष्ठतः।
ततो हलहलाशब्दस्तुमुलः समजायत ॥ ३३ ॥
तस्य निष्क्रममाणस्य जनौघस्य समन्ततः।
ततो हयवरा मुख्या नागाश्च गिरिसंनिभाः ॥ ३४ ॥
अनुजग्मुस्तथा रामं शतशोऽथ सहस्रशः।
अग्रतश्चास्य संनद्धाश्चन्दनागुरुभूषिताः ॥ ३५ ॥
खड्गचापधराः शूरा जग्मुराशंसवो जनाः।
ततो वादित्रशब्दाश्चस्तुतिशब्दाश्च वन्दिनाम् ॥ ३६ ॥
सिंहनादाश्च शूराणां ततः शुश्रुविरे पथि।
हर्म्यवातायनस्ताभिर्भूषिताभिः समन्ततः ॥ ३७ ॥
कीर्यमाणः सुपुष्पौघैर्ययौ स्त्रीभिररिंदमः।
रामं सर्वानवद्याङ्ग्यो रामपिप्रीषया ततः ॥ ३८ ॥
वचोभिरग्र्यैर्हर्म्यस्थाः क्षितिस्थाश्च ववन्दिरे।
नूनं नन्दति ते माता कौसल्या मातृनन्दन ॥ ३९ ॥

नाथ ! आपके, पूर्व दिशा में सुरपति एवं दक्षिण म. यम।
पश्चिम में हों वरुण सुरक्षक, उत्तर में कुबेर धनिकोत्तम ॥ २४ ॥
सीता-अनुमति ले, तदनन्तर सब कुछ उत्सव-मंगल करके।
आये राम-सुमन्त्र साथ, निज उच्च भवन से शीघ्र निकलकर ॥ २५ ॥
शैल-गुफा-शायी[1] केहरि[2]-सम आये राम महल से बाहर।
देखा, लक्ष्मण हैं विनम्र हो खड़े हुए करबद्ध द्वार पर ॥ २६ ॥
और बीच की ड्योढ़ी में आ, मिले मित्र औ प्रार्थि जनों से।
उन सबको संतुष्ट किया फिर (अपने सरल, सुखद वचनों से) ॥
राम नृपति-सुत पुरुषसिंह वे बैठे अग्नि-सदृश तेजोवर।
व्याघ्र-चर्म आवृत सुन्दरतर शोभाशाली उत्तम रथ पर ॥२७-२८॥
चलने में घन-गर्जन-सी ध्वनि, खुली जगह थी, स्वर्ण-विभूषित।
कान्ति मेरु-सम, चकाचौंध नयनों में, रथ की प्रभा-दीप्ति अति ॥ २९ ॥
गज-शिशुओं-सम पुष्ट अश्व, गति तीव्र राम रथ पर थे ऐसे।
हरित अश्व-युत स्यन्दन पर सुरपति का गमन हो रहा जैसे ॥ ३० ॥
फिर स्वाभाविक कान्ति-प्रकाशित राम चले आरूढ़ उसी पर।
नभ में गर्जन करनेवाले घन-सम था तेजस्वी रथ-स्वर ॥ ३१ ॥
मेरु-खण्ड से शशि-सम निकला राम-भवन से रथ वह उस क्षण।
लेकर चँवर विचित्र उसी पर बैठे राम-अनुज प्रिय लक्ष्मण ॥
पीछे से अपने भ्राता की करने लगे सुरक्षा वे तब।
बहु संख्या में सभी ओर से लगे निकलने वहाँ लोग सब ॥
जन-समूह के चलने से तब वहाँ हुआ कोलाहल भारी।
उत्तम-उत्तम अश्व राम के पीछे चले, हृदय-सुखकारी ॥
फिर विशालकाय गिरि-जैसे उत्तम हस्ति सहस्रों आये।
उनके पीछे कवच आदि से सज्जित, चन्दन, अगरु लगाये ॥
खड्ग, धनुर्धर मंगलेक्षु[3] थे वन्दी वीर शीघ्र अति चलते।
स्तवन-गान वे सब करते थे, थे वाद्यस्वर रुचिर निकलते ॥
और शूरवीरों के पथ में सुन पड़ते थे सिंहनाद तब।
महिलाएँ वस्त्राभूषण से भूषित, महल-खिड़कियों से सब ॥
छोड़ रही थीं पुष्प, राम थे ऐसी स्थिति में बढ़ते जाते।
छतों और पृथ्वी पर तब थे सुन्दरियों के स्वर अति भाते ॥
शुभ वचनों से राम-प्रियेच्छुक करने लगीं राम-स्तुति गायन।
कितना आनन्दित होगा अब, राम ! आज कौसल्या का मन ॥३२-३६॥

---

१ पर्वत की गुफा में सोनेवाले; २ सिंह; ३ कुशल चाहनेवाले।

पश्यन्ती सिद्धयात्रं त्वां पित्र्यं राज्यमुपस्थितम् ।
सर्वसीमन्तिनीभ्यश्च सीतां सीमन्तिनीं वराम् ॥ ४० ॥
अमन्यन्त हि ता नार्यो रामस्य हृदयप्रियाम् ।
तया सुचरितं देव्या पुरा नूनं महत् तपः ॥ ४१ ॥
रोहिणीव शशाङ्केन रामसंयोगमाप या ।
इति प्रासादशृङ्गेषु प्रमदाभिर्नरोत्तमः ।
शुश्राव राजमार्गस्थः प्रिया वाच उदाहृताः ॥ ४२ ॥

स राघवस्तत्र तदा प्रलापा-
ञ्शुश्राव लोकस्य समागतस्य ।
आत्माधिकारा विविधाश्च वाचः
प्रहृष्टरूपस्य पुरे जनस्य ॥ ४३ ॥
एष श्रियं गच्छति राघवोऽद्य
राजप्रसादाद् विपुलां गमिष्यन् ।
एते वयं सर्वसमृद्धकामा
येषामयं नो भविता प्रशास्ता ॥ ४४ ॥
लाभो जनस्यास्य यदेष सर्वं
प्रपत्स्यते राष्ट्रमिदं चिराय ।
न ह्यप्रियं किंचन जातु कश्चित्
पश्येन्न दुःखं मनुजाधिपेऽस्मिन् ॥ ४५ ॥
स घोषवद्भिश्च हयैः सनागः
पुरःसरैः स्वस्तिकसूतमागधैः ।
महीयमानः प्रवरैश्च वादकै-
रभिष्टुतो वैश्रवणो यथा ययौ ॥ ४६ ॥
करेणुमातङ्गरथाश्वसंकुलं
महाजनौघैः परिपूर्णचत्वरम् ।
प्रभूतरत्नं बहुपण्यसचयं
ददर्श रामो विमलं महापथम् ॥ ४७ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

यात्रा होगी सफल, पिता का राज्य आप पाएँगे सक्षम।
जगत - सुहागिनियों में सीता हैं सौभाग्यवती सर्वोत्तम ॥ ४० ॥
लगीं मानने वे आपस में राम-हृदय की प्रिया पुनीता।
पूर्व समय की तपस्विनी हैं बहुत बड़ी, निश्चय ही सीता ॥ ४१ ॥
इसीलिए रोहिणी की तरह यह संयोग इन्होंने पाया।
चन्द्र-सदृश श्री रामचन्द्र ने इनको जो निज प्रिया बनाया ॥
वे महिलाएँ अटारियों पर प्रिय बातें जो बतलाती थीं।
(पथ में, राम रथस्थित के वे सुनने में सब कुछ आती थीं) ॥ ४२ ॥

पुरी अयोध्या में सुदूर से जो मनुष्य थे आते
और उस समय रामचन्द्र - प्रति जो कुछ थे बतलाते।
भाँति-भाँति की उन बातों को, अपनी बात समझकर
ध्यानपूर्वक वहाँ राम थे सब कुछ सुनते जाते ॥ ४३ ॥

वे कहते थे, नृप दशरथ की हुई कृपा अति भारी
अतः राम अब होंगे भूपति होने के अधिकारी।
सभी कामनाएँ हम सबकी निश्चय होंगी पूरी
क्योंकि राम हम सबके होंगे शासक सत्-आचारी[1] ॥ ४४ ॥

इनके हाथों में सु-राज्य यदि बहुत समय को आये
तो समस्त जग की जनता का बड़ा लाभ हो जाये।
होगा नहीं किसी का अप्रिय, इनके नृप होने पर
सम्भव नहीं, किसी को कोई कभी दुःख मिल जाये ॥ ४५ ॥

निज-निज घोष सुनाते, तब थे हाथी-घोड़े आते
आगे चलनेवाले बन्दी, वंश - कीर्ति थे गाते।
गुण गायक, वादक-निनाद में मागधगण - सम्मानित[2]
चलते हुए राम, जन-पूजित थे कुबेर-सम भाते ॥ ४६ ॥

हथिनी, मत्त हस्ति, रथ, अश्वों से पथ था अति भाता
जन-समूह प्रति चौराहे पर तब था बढ़ता जाता।
पथ के दोनों पार्श्वों में थीं रत्नों की दूकानें
द्रव्य-राशियों से युत पथ था परम स्वच्छ दिखलाता ॥ ४७ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

---

१ उत्तम आचरण वाले। २ भाट, बन्दीजन द्वारा कीर्तिगान प्राप्त।

सप्तदशः सर्गः

श्रीराम का राजपथ की शोभा देखते और सुहृदों की बातें सुनते हुए पिता के भवन में प्रवेश

स रामो रथमास्थाय सम्प्रहृष्टसुहृज्जनः ।
पताकाध्वजसम्पन्नं महार्हागुरुधूपितम् ॥ १ ॥
अपश्यन्नगरं श्रीमान् नानाजनसमान्वितम् ।
स गृहैरभ्रसंकाशैः पाण्डुरैरुपशोभितम् ॥ २ ॥
राजमार्गं ययौ रामो मध्येनागुरुधूपितम् ।
चन्दनानां च मुख्यानामगुरूणां च संचयैः ॥ ३ ॥
उत्तमानां च गन्धानां क्षौमकौशाम्बरस्य च ।
अविद्धाभिश्च मुक्ताभिरुत्तमैः स्फाटिकैरपि ॥ ४ ॥
शोभमानमसम्बाधं तं राजपथमुत्तमम् ।
संवृतं विविधैः पुष्पैर्भक्ष्यैरुच्चावचैरपि ॥ ५ ॥
ददर्श तं राजपथं दिवि देवपतिर्यथा ।
दध्यक्षतहविर्लाजैर्धूपैरगुरुचन्दनैः ॥ ६ ॥
नानामाल्योपगन्धैश्च सदाभ्यर्चितचत्वरम् ।
आशीर्वादान् बहूञ्श्रृण्वन् सुहृद्भिः समुदीरितान् ॥ ७ ॥
यथार्हं चापि सम्पूज्य सर्वानेव नरान् ययौ ।
पितामहैराचरितं तथैव प्रपितामहैः ॥ ८ ॥
अद्योपादाय तं मार्गमभिषिक्तोऽनुपालय ।
यथा स्म पोषिताः पित्रा यथा सर्वैः पितामहैः ।
ततः सुखतरं सर्वे रामे वत्स्याम राजनि ॥ ९ ॥
अलमद्य हि भुक्तेन परमार्थैरलं च नः ।
यदि पश्याम निर्यान्तं रामं राज्ये प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥
ततो हि नः प्रियतरं नान्यत् किंचिद् भविष्यति ।
यथाभिषेको रामस्य राज्येनामिततेजसः ॥ ११ ॥
एताश्चान्याश्च सुहृदामुदासीनः शुभाः कथाः ।
आत्मसम्पूजनीः श्रृण्वन् ययौ रामो महापथम् ॥ १२ ॥
न हि तस्मान्मनः कश्चिच्चक्षुषी वा नरोत्तमात् ।
नरः शक्नोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे ॥ १३ ॥
यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति ।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते ॥ १४ ॥

सत्रहवाँ सर्ग

श्रीराम का राजपथ की शोभा देखते और सुहृदों की बातें सुनते हुए पिता के भवन में प्रवेश

मित्रों का, श्रीराम उस समय, थे अतिशय ही मोद बढ़ाते।
राजमार्ग के मध्य रथस्थित हो करके जब थे वे जाते॥
जन-जन-समूह से पूरित अगरु-सुगन्ध वहाँ थी आती।
उसमें ऊँचे महलों की थी, शुभ्र मेघ-सम छवि अति भाती॥
वहाँ पताका ध्वज-युत पथ की, राम देखते थे प्रिय सुषमा।
चन्दन, अगरु, सुगन्ध-वस्तुएँ थीं जिसमें सर्वोच्च निरुपमा॥ १-३ ॥
सूती और रेशमी वस्त्रों की थी राशि वहाँ पर भाती।
स्फटिक, रत्न, अनबेधे मोती से पथ-सुषमा बढ़ती जाती॥
वह नृप-पथ संपूर्ण व्याप्त था, भाँति-भाँति के पुष्पों द्वारा।
अधिकाधिक संभोज्य वस्तुओं से पूरित था अतिशय न्यारा॥
देख रहे थे राम, नभस्थित इन्द्र-मार्ग-सम पथ-छवि सारी।
दधि, अक्षत, हवि, लावा, चन्दन, अगरु, पुष्प-मालाएँ न्यारी॥
इनसे प्रति चौराहे के थे वहा देवता पूजे जाते।
आशिष वचन सभी मित्रों के थे तब राम-श्रवण में आते॥ ४-७ ॥
यथायोग्य सम्मान सभी का होता था रघुपति के द्वारा।
वे कहते थे राम! पितामह, प्रपितामह-शासन-वत् सारा॥
स्वीकृत कर अभिषिक्त आप नित पोषण करते रहें! हमारा।
वे कहते थे जैसा पाया पोषण, राम-पूवजों द्वारा॥
उससे कहीं अधिक अब हम सब, सभी भाँति से सुख पाएँगे।
(जब कि राम सम्मान्य नृपतिवर हम लोगों के हो जाएँगे)॥ ८-९ ॥
जनक-गेह से बाहर, भूपति राम-दरश यदि हम सब पाएँ।
तो न करें इहलोक और परलोक-सुखों की कुछ इच्छाएँ॥ १० ॥
अति तेजस्वी राम-राज्य-पद-सिञ्चन शुभ यदि हो जाता है।
तो इससे बढ़कर हम सबका कार्य न प्रिय कुछ दिखलाता है॥ ११ ॥
मित्रों एवं अन्य जनों से निज शंसा की बातें रुचिकर।
सुनते हुए राज-पथ पर वे, बढ़ते जाते थे तब रघुवर॥ १२ ॥
यद्यपि रामचन्द्र-रथ, पथ पर, चलता औ बढ़ता जाता था।
फिर भी दृष्टि और मन कोई अलग न उनसे कर पाता था॥ १३ ॥
जिसने तब न राम को देखा, देखा नहीं राम ने जिसको।
लोक-निन्द्य समझा जाता वह, स्वात्मा देती ग्लानि स्वयं को॥ १४ ॥

सर्वेषु स हि धर्मात्मा वर्णानां कुरुते दयाम्।
चतुर्णां हि वयःस्थानां तेन ते तमनुव्रताः ॥ १५ ॥
चतुष्पथान् देवपथांश्चैत्यांश्चायतनानि च।
प्रदक्षिणं परिहरञ्जगाम नृपतेः सुतः ॥ १६ ॥
स राजकुलमासाद्य मेघसङ्घोपमैः शुभैः।
प्रासादशृङ्गैर्विविधैः कैलासशिखरोपमैः ॥ १७ ॥
आवारयद्भिर्गगनं विमानैरिव पाण्डुरैः।
वर्धमानगृहैश्चापि रत्नजालपरिष्कृतैः ॥ १८ ॥
तत् पृथिव्यां गृहवरं महेन्द्रसदनोपमम्।
राजपुत्रः पितुर्वेश्म प्रविवेश श्रिया ज्वलन् ॥ १९ ॥
स कक्ष्या धन्विभिर्गुप्तास्तिस्रोऽतिक्रम्य वाजिभिः।
पदातिरपरे कक्ष्ये द्वे जगाम नरोत्तमः ॥ २० ॥
स सर्वाः समतिक्रम्य कक्ष्या दशरथात्मजः।
संनिवर्त्य जनं सर्वं शुद्धान्तःपुरमत्यगात् ॥ २१ ॥

तस्मिन् प्रविष्टे पितुरन्तिकं तदा
जनः स सर्वो मुदितो नृपात्मजे।
प्रतीक्षते तस्य पुनः स्म निर्गमं
यथोदयं चन्द्रमसः सरित्पतिः ॥ २२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

श्रीराम का कैकेयी से पिता के चिन्तित होने का कारण पूछना और कैकेयी का कठोरतापूर्वक अपने माँगे हुए वरों का वृत्तान्त बताकर श्रीराम को वनवास के लिए प्रेरित करना

स ददर्शासने रामो विषण्णं पितरं शुभे।
कैकेय्या सहितं दीनं मुखेन परिशुष्यता ॥ १ ॥
स पितुश्चरणौ पूर्वमभिवाद्य विनीतवत्।
ततो ववन्दे चरणौ कैकेय्याः सुसमाहितः ॥ २ ॥
रामेत्युक्त्वा तु वचनं बाष्पपर्याकुलेक्षणः।
शशाक नृपतिर्दीनो नेक्षितुं नाभिभाषितुम् ॥ ३ ॥
तदपूर्वं नरपतेर्दृष्ट्वा रूपं भयावहम्।
रामोऽपि भयमापन्नः तदा स्पृष्ट्वेव पन्नगम् ॥ ४ ॥

धार्मिक राम चतुर्वर्णों पर करते थे अनुकूल नित दया।
अतः भक्ति का भाव सभी में रहता था श्रीराम-प्रति नया ॥ १५ ॥
सुर-पथ, चौराहे, सुचैत्यतरु[1], देवालय जो भी आते थे।
नृप-सुत राम दाहिने अपने, उन्हें छोड़ बढ़ते जाते थे ॥ १६ ॥
मेघ-समूह-सदृश शोभित था, दशरथ-भवन-महा छविशाली।
थीं कैलास शिखर-सम ऊँची अटारियाँ बहुरंगों वाली ॥ १७ ॥
धवल विमान रूप क्रीडा-गृह रत्न-जाल से थे समलंकृत।
नभ को लाँघ रही ऊँचाई, ऐसे थे वे भवन विभूषित ॥ १८ ॥
भू पर राज-भवन की शोभा इन्द्र-सदन-सी थी तब अतुलित।
पितु-मन्दिर में हुए प्रभायुत, श्रीयुत राम रमापति प्रविशित ॥ १९ ॥
वीर-धनुर्धर रक्षित ड्योढ़ी तीन, पार की, साश्व स्व-रथ पर।
शेष ड्योढ़ियाँ पैदल ही चल पहुँचे विनयशील तब रघुवर ॥ २० ॥
सभी ड्यौढ़ियों का लंघन कर दशरथ-पुत्र पास में आकर।
आये अन्तःपुर में अपने आगत मित्रों को लौटाकर ॥ २१ ॥

अन्तःपुर में गये राम पितु के समीप जब जाने को
तब हर्षित सब लोग रुक गये, फिर से दर्शन पाने को।
महल-द्वार पर राम-आगमन, शुभा प्रतीक्षा थी वैसे
जैसे सिन्धु प्रतीक्षा करता शशि-छबि में लहराने को ॥ २२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड मे सत्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १७ ॥

अठारहवाँ सर्ग

श्रीराम का कैकेयी से पिता के चिन्तित होने का कारण पूछना और कैकेयी का कठोरतापूर्वक अपने माँगे हुए वरों का वृत्तान्त बताकर श्रीराम को वनवास के लिए प्रेरित करना

केकय सुता, पिता को देखा, एकासन पर वहाँ राम ने।
नृप-मुख सूखा अति विषाद औ दीन दशा थी दुखद सामने ॥ १ ॥
किया प्रणाम पिता-चरणों में सविनय पास राम ने जाकर।
सावधान हो फिर कैकेयी-पद-वन्दन भी शीश झुकाकर ॥ २ ॥
दीन नृपति वे 'राम' मात्र कह, अन्य न कुछ फिर तब कह पाये।
नहीं राम को देख सके वे, आँखों में आँसू भर आये ॥ ३ ॥
नृप की दीन दशा, अनहोनी, देख हुआ उनको भय भारी।
ऐसा लगा राम को, जैसे पद को छुए सर्प विषधारी ॥ ४ ॥

---

१ पीपल वृक्ष।

इन्द्रियैरप्रहृष्टैस्तं शोकसंतापकर्शितम् ।
निःश्वसन्तं महाराजं व्यथिताकुलचेतसम् ॥ ५ ॥
ऊर्मिमालिनमक्षोभ्यं क्षुभ्यन्तमिव सागरम् ।
उपप्लुतमिवादित्यमुक्तानृतमृषिं यथा ॥ ६ ॥
अचिन्त्यकल्पं नृपतेस्तं शोकमुपधारयन् ।
बभूव संरब्धतरः समुद्र इव पर्वणि ॥ ७ ॥
चिन्तयामास चतुरो रामः पितृहिते रतः ।
किंस्विदद्यैव नृपतिर्न मां प्रत्यभिनन्दति ॥ ८ ॥
अन्यदा मां पिता दृष्ट्वा कुपितोऽपि प्रसीदति ।
तस्य मामद्य सम्प्रेक्ष्य किमायासः प्रवर्तते ॥ ९ ॥
स दीन इव शोकार्तो विषण्णवदनद्युतिः ।
कैकेयीमभिवाद्यैव रामो वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥
कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद् येन मे पिता ।
कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वमेवैनं प्रसादय ॥ ११ ॥
अप्रसन्नमनाः किं नु सदा मां प्रति वत्सलः ।
विषण्णवदनो दीनः नहि मां प्रति भाषते ॥ १२ ॥
शारीरो मानसो वापि कच्चिदेनं न बाधते ।
संतापो वाभितापो वा दुर्लभं हि सदा सुखम् ॥ १३ ॥
कच्चिन्न किञ्चिद् भरते कुमारे प्रियदर्शने ।
शत्रुघ्ने वा महासत्त्वे मातॄणां वा ममाशुभम् ॥ १४ ॥
अतोषयन् महाराजमकुर्वन् वा पितुर्वचः ।
मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितुं कुपिते नृपे ॥ १५ ॥
यतोमूलं नरः पश्येत् प्रादुर्भावमिहात्मनः ।
कथं तस्मिन् न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते ॥ १६ ॥
कच्चित्ते परुषं किंचिदभिमानात् पिता मम ।
उक्तो भवत्या रोषेण येनास्य लुलितं मनः ॥ १७ ॥
एतदाचक्ष्व मे देवि तत्त्वेन परिपृच्छतः ।
किंनिमित्तमपूर्वोऽयं विकारो मनुजाधिपे ॥ १८ ॥
एवमुक्ता तु कैकेयी राघवेण महात्मना ।
उवाचेदं सुनिर्लज्जा धृष्टमात्महितं वचः ॥ १९ ॥
न राजा कुपितो राम व्यसनं नास्य किंचन ।
किंचिन्मनोगतं त्वस्य त्वद्भयान्नानुभाषते ॥ २० ॥

आकुल सब इंद्रियाँ नृपति की शोक ताप से थी दुर्बलता।
लंबी साँसें भरते थे वे, व्यथित चित्त में थी व्याकुलता॥ ५ ॥
जैसे कभी प्रशान्त सिन्धु में लहरों से हलचल मच जाये।
राहु-ग्रसित रवि हो या ऋषिवर-मुख में मिथ्या वाणी आये ॥ ६ ॥
लगे सोचने राम, नृपति के तभी अचिन्त्य शोक का कारण।
सिन्धु-पूर्णिमा का उफान, कर सके न उर से क्षोभ निवारण॥ ७ ॥
और पितृ-हित-रत ने सोचा हुई आज अनहोनी जैसी।
क्यों मुझसे बोलते नहीं नृप, अप्रसन्न यह मुद्रा कैसी?॥ ८ ॥
कुपित भले हों! किन्तु देखकर मुझे प्रसन्न सदा हो जाते।
किन्तु आज तो मुझे देखकर भी ये क्लेश अधिक क्यों पाते?॥ ९ ॥
दीन कान्ति से हीन राम तब हुए विषाद-युक्त अति कातर।
लगे पूछने उन कैकेयी से ही फिर उनको प्रणाम कर॥ १० ॥
माँ! अनजाने में मुझसे क्या कुछ अपराध हुआ? बतलाओ।
पिता रुष्ट हैं जो मुझसे अब, तथा इन्हें अब तुम्हीं मनाओ॥ ११ ॥
मुझे प्यार करते थे जो ये, दुखी और अ-प्रसन्न दिखाते।
मुझसे नहीं बोलते तक हैं, मुख पर हैं विषाद मँड़राते॥ १२ ॥
कोई कायिक[1] व्याधि या कि मानसिक कहो! क्या इन पर आया?।
माँ! न कभी संयोग कि मानव ने जीवन भर सुख ही पाया॥ १३ ॥
कहीं भरत कुमार प्रिय दर्शन या कि अनुज शत्रुघ्न महाबल।
या मेरी माताओं का कुछ कहीं हुआ तो नहीं अमंगल?॥ १४ ॥
महाराज को असंतुष्ट या क्रोधित कर आज्ञोल्लंघन से।
मोह न करता घटिकाद्वय[2] भी मैं अपने अनुचित जीवन से॥ १५ ॥
जो कि पिता प्रत्यक्ष देवता है नर-जन्म हुआ है जिससे।
उसके जीते जी न करेगा क्यों व्यवहार उचित नर उससे?॥ १६ ॥
या कि कहीं रोषाभिमान में बात तुम्हीं ने कह दी अनुचित?।
इनसे, जिससे इस प्रकार से, आज हुए हैं पिता अति दुखित॥ १७ ॥
देवि! पूछता, सत्य बताओ! क्यों संतप्त हुए भूपतिवर।
मैंने देखी नहीं अवस्था ऐसी इनकी कभी क्लेशकर॥ १८ ॥
ऐसा प्रश्न हुआ कैकेयी से जब राम महात्मा द्वारा।
तब निज स्वार्थ-वार्ता बोली ढीठ और निर्लज्जा दारा॥ १९ ॥
राम! नहीं हैं कुपित, नृपतिवर नहीं कष्ट ही ये कुछ पाते।
किन्तु बात निज मन की कहने में तुमसे भयभीत दिखाते॥ २० ॥

---

१ शारीरिक; २ दो घड़ी।

प्रियं त्वामप्रियं वक्तुं वाणी नास्य प्रवर्तते ।
तदवश्यं त्वया कार्यं यदनेनाश्रुतं मम ॥ २१ ॥
एष मह्यं वरं दत्त्वा पुरा मामभिपूज्य च ।
स पश्चात् तप्यते राजा यथान्यः प्राकृतस्तथा ॥ २२ ॥
अतिसृज्य ददानीति वरं मम विशाम्पतिः ।
स निरर्थं गतजले सेतुं बन्धितुमिच्छति ॥ २३ ॥
धर्ममूलमिदं राम विदितं च सतामपि ।
तत् सत्यं न त्यजेद् राजा कुपितस्त्वत्कृते यथा ॥ २४ ॥
यदि तद् वक्ष्यते राजा शुभं वा यदि वाशुभम् ।
करिष्यसि ततः सर्वमाख्यास्यामि पुनस्त्वहम् ॥ २५ ॥
यदि त्वभिहितं राज्ञा त्वयि तन्न विपत्स्यते ।
ततोऽहमभिधास्यामि न ह्येष त्वयि वक्ष्यति ॥ २६ ॥
एतत् तु वचनं श्रुत्वा कैकेय्या समुदाहृतम् ।
उवाच व्यथितो रामस्तां देवीं नृपसंनिधौ ॥ २७ ॥
अहो धिङ्नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः ।
अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके ॥ २८ ॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ॥ २९ ॥
तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम् ।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ॥ ३० ॥
तमार्जवसमायुक्तमनार्या सत्यवादिनम् ।
उवाच रामं कैकेयी वचनं भृशदारुणम् ॥ ३१ ॥
पुरा देवासुरे युद्धे पित्रा ते मम राघव ।
रक्षितेन वरौ दत्तौ सशल्येन महारणे ॥ ३२ ॥
तत्र मे याचितो राजा भरतस्याभिषेचनम् ।
गमनं दण्डकारण्ये तव चाद्यैव राघव ॥ ३३ ॥
यदि सत्यप्रतिज्ञं त्वं पितरं कर्तुमिच्छसि ।
आत्मानं च नरश्रेष्ठ मम वाक्यमिदं शृणु ॥ ३४ ॥
संनिदेशे पितुस्तिष्ठ यथानेन प्रतिश्रुतम् ।
त्वयारण्यं प्रवेष्टव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥ ३५ ॥
भरतश्चाभिषिच्येत यदेतदभिषेचनम् ।
त्वदर्थे विहितं राज्ञा तेन सर्वेण राघव ॥ ३६ ॥
सप्त सप्त च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ।
अभिषेकमिदं त्यक्त्वा जटाचीरधरो भव ॥ ३७ ॥

तुम प्रिय से ये नहीं कह रहे अ-प्रिय वार्ता निज मुख द्वारा।
किन्तु इन्हीं की पूर्व प्रतिज्ञा का पालन है धर्म तुम्हारा॥ २१ ॥
इच्छित वर दे दिया इन्होंने पहले मुझको, अब पछताते।
साधारण जन-सम विवेक तज, नहीं प्रतिज्ञा पर टिक पाते॥ २२ ॥
वर देने का मुझे वचन दे प्रजानाथ कर रहे निवारण।
निःसृत जल को पुनः बाँधने का करते हैं यत्न अकारण॥ २३ ॥
'सत्य धर्म का मूल', सद्वचन, तुम पर स्नेह, कोप मुझ पर कर।
तजें न सत्य, सत्य-पालन हो, करो यत्न ऐसा, हे सुतवर!॥ २४ ॥
नृप जो कहने को उत्सुक हैं, वह शुभ हो या अशुभ सर्वथा।
उसका पालन यदि कर पाओ तो बतलाऊँ तुम्हें निव्यथा॥ २५ ॥
नृप-वार्ता हो व्यर्थ न तुमसे, यदि तुम करो यथावत्-पालन।
तो तुमसे सुस्पष्ट बताऊँ नृप न करेंगे जिह्वा-चालन॥ २६ ॥
हुआ राम-मन व्यथित उस समय, कैकेयी-वार्ता सुन करके।
बोले वे तब कैकेयी से ऐसे वचन, निकट नृपवर के॥ २७ ॥
है धिक्कार मुझे, मेरे प्रति कहना देवि! न तुमको समुचित।
महाराज के मात्र कथन पर पावक में होऊँगा प्रविशित॥ २८ ॥
डूब सिन्धु में भी सकता हूँ, विष भी तीव्र विवश खाऊँगा।
क्या न भला गुरु, पिता, हितैषी-आज्ञा में मैं कर पाऊँगा?॥ २९ ॥
इससे नृपति-अभीष्ट बताओ! मैं नृप का प्रण पूर्ण करूँगा।
राम न दो-रुख बात बोलता, देवि! न प्रण से कभी टरूँगा॥ ३० ॥
सरल स्वभाव सत्यवादी उन रामचन्द्र की वार्ता सुनकर।
बोली तब अनार्य कैकेयी उनसे वचन परम दारुण-तर॥ ३१ ॥
पहले देव-असुर-रण में थे नृपति हुए शर-बिन्धित, रघुवर!।
तभी सुरक्षा करने पर थे मुझको दिये इन्होने दो वर॥ ३२ ॥
पहले वर से माँगा मैंने राघव! भरत-राज्य-अभिषिञ्चन।
और दूसरे से चाहा है करो आज तुम शीघ्र वन-गमन॥ ३३ ॥
नृवर! चाहते आज पिता को यदि तुम सत्यव्रती बनाना।
सुनो! बात, यदि चाहो निज को राम! सत्यवादी कहलाना॥ ३४ ॥
रहो पिता-आज्ञा के वश में और उन्होने जो वर माना।
है उसके अनुसार चतुर्दश वर्षो को तुमको वन जाना॥ ३५ ॥
जो कुछ हैं एकत्र वस्तुएँ तव अभिषिञ्चन को, रघुनन्दन!।
उनसे हो राज्याभिषेक अब पुत्र भरत का, है मेरा मन॥ ३६ ॥
अपना अब अभिषेक त्याग कर वर्ष चतुर्दश दण्डक वन में।
होकर राम! जटाधर अब तुम रहो सत्यव्रत चीर-वसन में॥ ३७ ॥

भरतः कोसलपतेः प्रशास्तु वसुधामिमाम् ।
नानारत्नसमाकीर्णां सवाजिरथसकुलाम् ॥ ३८ ॥
एतेन त्वां नरेन्द्रोऽयं कारुण्येन समाप्लुतः ।
शोकैः संक्लिष्टवदनो न शक्नोति निरीक्षितुम् ॥ ३९ ॥
एतत् कुरु नरेन्द्रस्य वचनं रघुनन्दन ।
सत्येन महता राम तारयस्व नरेश्वरम् ॥ ४० ॥
इतीव तस्यां परुषं वदन्त्यां
न चैव रामः प्रविवेश शोकम् ।
प्रविव्यथे चापि महानुभावो
राजा च पुत्रव्यसनाभितप्तः ॥ ४१ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

श्रीराम की कैकेयी के साथ बातचीत और वन में जाना स्वीकार करके उनका माता कौसल्या के पास आज्ञा लेने के लिए जाना

तदप्रियममित्रघ्नो वचनं मरणोपमम् ।
श्रुत्वा न विव्यथे रामः कैकेयीं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥
एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः ।
जटाचीरधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ २ ॥
इदं तु ज्ञातुमिच्छामि किमर्थं मां महीपतिः ।
नाभिनन्दति दुर्धर्षो यथापूर्वमरिंदमः ॥ ३ ॥
मन्युर्न च त्वया कार्यो देवि ब्रूमि तवाग्रतः ।
यास्यामि भव सुप्रीता वनं चीरजटाधरः ॥ ४ ॥
हितेन गुरुणा पित्रा कृतज्ञेन नृपेण च ।
नियुज्यमानो विस्रब्धः किं न कुर्यामहं प्रियम् ॥ ५ ॥
अलीकं मानसं त्वेकं हृदयं दहते मम ।
स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम् ॥ ६ ॥
अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च ।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः ॥ ७ ॥
किं पुनर्मनुजेन्द्रेण स्वयं पित्रा प्रचोदितः ।
तव च प्रियकामार्थं प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ ८ ॥

कोसल-नरपति की यह वसुधा जिसमें हैं रत्नाश्व-रथादिक।
उसके शासक भरत बनें अब यह मेरी इच्छा है हार्दिक ॥ ३८ ॥
बस इतनी ही बात! पिता को सहना होगा विरह तुम्हारा।
इसी शोक में सूख रहा मुख तुम्हें देखने में मन हारा ॥ ३९ ॥
रघुनन्दन! तुम नृप-आज्ञा का पालन करो, सत्य-व्रत धारो!।
सत्य-सुरक्षा करके, नृप को संकट से तुम शीघ्र उबारो! ॥ ४० ॥
हुआ न शोक राम के मन में कुछ इन वचनों द्वारा
यद्यपि था कठोर कैकेयी का कु-वाक्य यह सारा।
लेकिन महाभाग दशरथ को भावी पुत्र-विरह से
व्यथित हृदय को नहीं मिल रहा था सुख, शान्ति-सहारा ॥ ४१ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १८ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग

श्रीराम की कैकेयी के साथ बातचीत और वन में जाना स्वीकार करके उनका माता कौसल्या के पास आज्ञा लेने के लिए जाना

अ-प्रिय, मृत्यु-सम पीड़ादायक वार्ता सुनकर भी रघुनन्दन।
व्यथित न होकर, कैकेयी से बोले धीरज-सहित यह वचन ॥ १ ॥
अच्छा माँ! मैं नृप-आज्ञा का पूरी तरह करूँगा पालन।
जटा, चीर धारण कर निश्चय हो मैं जाऊँगा दण्डक-वन ॥ २ ॥
किन्तु जानना चाह रहा हूँ, महाराज क्यों दुखी दिखाते?।
हो करके प्रसन्न मुझसे ये भला क्यों नहीं हैं बतलाते ॥ ३ ॥
देवि! पूछता हूँ तुमसे मैं, अतः न मुझ पर क्रोध दिखाना।
जटा चीर-धर, वन जाऊँगा, यहाँ मोद[1] से समय बिताना ॥ ४ ॥
नृपति, हितैषी, पिता और गुरु अति कृतज्ञ की आज्ञा पाकर।
कौन कार्य है जिसे न कर दूँ? निज मन को निःशक बनाकर ॥ ५ ॥
किन्तु एक हार्दिक दुख ने है माता! मुझको अधिक सताया।
नृप ने क्यों न भरत-अभिसिञ्चन का मन्तव्य[2] मुझे वतलाया ॥ ६ ॥
भरत भ्रातृ हित मैं प्रसन्न मन केवल सुनकर वचन तुम्हारे।
दे सकता हूँ तुम्हें स्व-प्राणों, सीता-सँग वैभव भी सारे ॥ ७ ॥
फिर यदि स्वय पिता को आज्ञा और तुम्हें हो वह प्रियकारी।
तो वह कार्य प्रतिज्ञा-पूरक क्यों न करूँगा मैं हितकारी? ॥ ८ ॥

---

१ आनन्द; २ विचार।

तथाश्वासय ह्रीमन्तं किं त्विदं यन्महीपतिः ।
वसुधासक्तनयनो मन्दमश्रूणि मुञ्चति ॥ ९ ॥
गच्छन्तु चैवानयितुं दूताः शीघ्रजवैर्हयैः ।
भरतं मातुलकुलादद्यैव नृपशासनात् ॥ १० ॥
दण्डकारण्यमेषोऽहं गच्छाम्येव हि सत्वरः ।
अविचार्य पितुर्वाक्यं समा वस्तुं चतुर्दश ॥ ११ ॥
सा हृष्टा तस्य तद् वाक्यं श्रुत्वा रामस्य कैकयी ।
प्रस्थानं श्रद्दधाना सा त्वरयामास राघवम् ॥ १२ ॥
एवं भवतु यास्यन्ति दूताः शीघ्रजवैर्हयैः ।
भरतं मातुलकुलादिहावर्तयितुं नराः ॥ १३ ॥
तव त्वहं क्षमं मन्ये नोत्सुकस्य विलम्बनम् ।
राम तस्मादितः शीघ्रं वनं त्वं गन्तुमर्हसि ॥ १४ ॥
व्रीडान्वितः स्वयं यच्च नृपस्त्वां नाभिभाषते ।
नैतत् किंचिन्नरश्रेष्ठ मन्युरेषोऽपनीयताम् ॥ १५ ॥
यावत्त्वं न वनं यातः पुरादस्मादतित्वरम् ।
पिता तावन्न ते राम स्नास्यते भोक्ष्यतेऽपि वा ॥ १६ ॥
धिक्कष्टमिति निःश्वस्य राजा शोकपरिप्लुतः ।
मूर्च्छितो न्यपतत् तस्मिन् पर्यङ्के हेमभूषिते ॥ १७ ॥
रामोऽप्युत्थाप्य राजानं कैकेय्याभिप्रचोदितः ।
कशयेव हतो वाजी वनं गन्तुं कृतत्वरः ॥ १८ ॥
तदप्रियमनार्याया वचनं दारुणोदयम् ।
श्रुत्वा गतव्यथो रामः कैकेयीं वाक्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥
नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे ।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम् ॥ २० ॥
यत् तत्र भवतः किंचिच्छक्यं कर्तुं प्रियं मया ।
प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत् ॥ २१ ॥
न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥ २२ ॥
अनुक्तोऽप्यत्र भवता भवत्या वचनादहम् ।
वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश ॥ २३ ॥
न नूनं मयि कैकेयि किंचिदाशंससे गुणान् ।
यद् राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा सती ॥ २४ ॥

लज्जित नृप को दो आश्वासन तुम मेरा विश्वास दिलाकर।
दृष्टि लगाये क्यों पृथिवी पर नृपति नयन से अश्रु बहाकर॥ ९ ॥
और भरत-आवाहन-आज्ञा दूत आज ही नृप से पाएँ।
शीघ्र तीव्र घोड़ों पर चढ़कर मातुल-गेह[1] बुलाने जाएँ॥ १० ॥
और शीघ्र मैं पूज्य पिता की आज्ञा समुदित शिरोधार्य कर।
क्षण भर नहीं विचार, चतुर्दश वर्ष वन-गमन पर हूँ तत्पर॥ ११ ॥
कैकेयी विश्वस्त, प्रसन्ना हुई राम की वार्ता सुनकर।
अतः राम को, शीघ्र गमन हित कैकेयी बोली प्रेरित कर॥ १२ ॥
तुम कहते हो ठीक, राम! अब शीघ्र भरत प्रिय सुत आएँगे।
शीघ्र तीव्र अश्वों पर चढ़कर दूत बुलाने को जाएँगे॥ १३ ॥
किन्तु राम! तुम स्वयं वनगमन-उत्सुक हो, मुझको दिखलाते।
अतः यहाँ से यथाशीघ्र तुम वन जाओ! आज्ञा के नाते॥ १४ ॥
नृवर! न लज्जित नृप बोलेंगे, इससे कुछ विचार मत लाओ!।
और हृदय से दुःख-शोक को तुम रघुनन्दन! शीघ्र हटाओ॥ १५ ॥
किन्तु राम! अविलम्ब नगर से जब तक विपिन नहीं तुम जाते।
तब तक पिता स्नान-भोजन भी नहीं करेंगे, (शंका खाते)॥ १६ ॥
यह सुन, 'धिक् है महाकष्ट', कह लंबी साँस लेकर नृपवर।
मूर्च्छित होकर शीघ्र गिर पड़े स्वर्ण-विभूषित उसी पलँग पर॥ १७ ॥
उन्हें राम ने शीघ्र उठाया, कैकेयी-प्रेरित, न सके रुक।
चाबुक-चाप-प्रताड़ित हय[2]-सम हुए वन-गमन हेतु समुत्सुक॥ १८ ॥
अप्रिय, दारुण वचन अनार्या[3] कैकेयी के सुनकर वैसे।
व्यथित न मन में राम हुए कुछ, बोले उससे फिर वे ऐसे॥ १९ ॥
देवि! करें विश्वास, चाहता नहीं बनूँ धन-पूजक जग में।
मैं भी ऋषियों का आश्रय ले चलता रहा धर्म के मग में॥ २० ॥
पूज्य पिता का कार्य करूँगा मैं अपने प्राणों के द्वारा।
समझो! नृपति पिता-आज्ञापित कार्य हो गया मुझसे सारा॥ २१ ॥
सेवा, और पिताज्ञा-पालन धर्म श्रेष्ठ है जग में जैसा।
नहीं अन्य है धर्म-आचरण किसी भाँति से उत्तम वैसा॥ २२ ॥
स्वयं पिता ने कहा न, फिर भी श्रद्धा रख, तव[4] अम्ब! वचन मे।
चौदह वर्षों तक भूतल पर वास करूँगा निर्जन वन में॥ २३ ॥
मुझ पर है अधिकार तुम्हारा आज्ञापालक, माँ! मैं प्रतिक्षण।
फिर भी पितु से कहा, न देखा मुझमें तुमने कुछ गुण-लक्षण॥ २४ ॥

---
१ नाना के घर; २ अश्व; ३ दुष्ट स्वभाव वाली स्त्री; ४ तुम्हारी।

यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम् ।
ततोऽद्यैव गमिष्यामि दण्डकानां महद् वनम् ॥ २५ ॥
भरतः पालयेद् राज्यं शुश्रूषेच्च पितुर्यथा ।
तथा भवत्या कर्तव्यं स हि धर्मः सनातनः ॥ २६ ॥
रामस्य तु वचः श्रुत्वा भृशं दुःखगतः पिता ।
शोकादशक्नुवन् वक्तुं प्ररुरोद महास्वनम् ॥ २७ ॥
वन्दित्वा चरणौ राज्ञो विसंज्ञस्य पितुस्तदा ।
कैकेय्याश्चाप्यनार्याया निष्पपात महाद्युतिः ॥ २८ ॥
स रामः पितरं कृत्वा कैकेयीं च प्रदक्षिणम् ।
निष्क्रम्यान्तःपुरात् तस्मात् स्वं ददर्श सुहृज्जनम् ॥ २९ ॥
तं बाष्पपरिपूर्णाक्षः पृष्ठतोऽनुजगाम ह ।
लक्ष्मणः परमक्रुद्धः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ ३० ॥
अभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा रामः प्रदक्षिणम् ।
शनैर्जगाम सापेक्षो दृष्टिं तत्राविचालयन् ॥ ३१ ॥
न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति ।
लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षयः ॥ ३२ ॥
न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुंधराम् ।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥ ३३ ॥
प्रतिषिध्य शुभं छत्रं व्यजने च स्वलंकृते ।
विसर्जयित्वा स्वजनं रथं पौरांस्तथा जनान् ॥ ३४ ॥
धारयन् मनसा दुःखमिन्द्रियाणि निगृह्य च ।
प्रविवेशात्मवान् वेश्म मातुरप्रियशंसिवान् ॥ ३५ ॥
सर्वोऽप्यभिजनः श्रीमाञ्छ्रीमतः सत्यवादिनः ।
नालक्षयत रामस्य कंचिदाकारमानने ॥ ३६ ॥
उचितं च महाबाहुर्न जहौ हर्षमात्मवान् ।
शारदः समुदीर्णांशुश्चन्द्रस्तेज इवात्मजम् ॥ ३७ ॥
वाचा मधुरया रामः सर्वं सम्मानयञ्जनम् ।
मातुः समीपं धर्मात्मा प्रविवेश महायशाः ॥ ३८ ॥
तं गुणैः समतां प्राप्तो भ्राता विपुलविक्रमः ।
सौमित्रिरनुवव्राज धारयन् दुःखमात्मजम् ॥ ३९ ॥

अच्छा, माता कौसल्या-आज्ञा ले, सिय को भी समझाकर।
बस, विशाल दण्डक वन की मैं यात्रा करने पर हूँ तत्पर॥ २५ ॥
भरत पिता-सेवा-रत रहकर पालें अपना राज्य पुरातन।
ऐसा करना यत्न! क्योंकि यह ही तो है सद्धर्म सनातन॥ २६ ॥
राम-वचन सुन, पिता-हृदय में शोक लगा तब अतिशय भरने।
क्लेशातुर वे बोल न पाये, लगे करुण रोदन बस करने॥ २७ ॥
संज्ञा-शून्य पिता, कैकेयी-पदपद्मों को करके विनमन।
निकले राज्य भवन से बाहर राम शीघ्र ही अति उदात्त-मन[1]॥ २८ ॥
दशरथ पिता तथा कैकेयी माता की फिर परिक्रमा कर।
मिले राम अपने मित्रों से, अन्तःपुर के बाहर आकर॥ २९ ॥
कुपित हुए अन्याय देखकर तभी सुमित्रानन्द-विवर्धन[2]।
फिर भी बस नयनाश्रु बहाते किया शान्त हो, राम-अनुगमन॥ ३० ॥
वन-गमनेच्छु राम ने, जो थीं सिञ्चन-सामग्रियाँ सु-सञ्चित।
उनकी केवल परिक्रमा की, रखा दृष्टि को उनसे वञ्चित॥ ३१ ॥
राज्यच्युत, श्रीराम-शाश्वती[3] बुद्धि न क्षीणा कुछ हो पाई।
जैसे क्षीण चन्द्र भी नभ में सहज कान्त देता दिखलाई॥ ३२ ॥
सब पृथ्वी का राज्य त्यागकर राम विपिन यद्यपि जाते थे।
फिर भी लोकातीत महात्मा-सम सु-शान्त वे दिखलाते थे॥ ३३ ॥
छत्र हटाया रामचन्द्र ने और चँवर भी तब रुकवाये।
लौटाया रथ-सँग पुरजन को जो थे प्रथम साथ में आये॥
अ-प्रिय वृत्त माँ कौसल्या से कहने जभी भवन में आये।
उर-कलेश पर ध्यान न दे, संयम से मन को वशी बनाये॥३४-३५॥
सत्यवादि जन शोभाशाली जो थे राम-निकट के वासी।
नहीं उन्होंने भी देखी तब राघव-मुख पर तनिक उदासी॥ ३६ ॥
महाबाहु मन-वशी राम ने त्यागा नहीं मोह निज वैसे।
नहीं छोड़ता सहज तेज को किरणोद्दीप्त शरद्-शशि जैसे॥ ३७ ॥
यशी, धार्मिक ने मृदु वाणी से सबसे व्यवहार निभाये।
करते हुए मान सबका वे माता के समीप तब आये॥ ३८ ॥
गुण में राम-समान, सुमित्रा-सुत लक्ष्मण मन-व्यथा दबाये।
शान्त भाव से विक्रमवर वे, रामचन्द्र के पीछे आये॥ ३९ ॥

---

१ उदार मन से; २ लक्ष्मण; ३ सदैव समान रहनेवाली बुद्धि।

प्रविश्य वेश्मातिभृशं मुदा युतं
समीक्ष्य तां चार्थविपत्तिमागताम् ।
न चैव रामोऽत्र जगाम विक्रियां
सुहृज्जनस्यात्मविपत्तिशङ्कया ॥ ४० ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः

राजा दशरथ की अन्य रानियों का विलाप, श्रीराम का कौसल्या जी के भवन में जाना और उन्हें अपने वनवास की बात बताना, कौसल्या का अचेत होकर गिरना और श्रीराम के उठा देने पर उनकी ओर देखकर विलाप करना

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे निष्क्रामति कृताञ्जलौ ।
आर्तशब्दो महान् जज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे तदा ॥ १ ॥
कृत्येष्वचोदितः पित्रा सर्वस्यान्तःपुरस्य च ।
गतिश्च शरणं चासीत् स रामोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ २ ॥
कौसल्यायां यथा युक्तो जनन्यां वर्तते सदा ।
तथैव वर्ततेऽस्मासु जन्मप्रभृति राघवः ॥ ३ ॥
न क्रुध्यत्यभिशप्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन् ।
क्रुद्धान् प्रसादयन् सर्वान् स इतोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ ४ ॥
अबुद्धिर्बत नो राजा जीवलोकं चरत्ययम् ।
यो गतिं सर्वभूतानां परित्यजति राघवम् ॥ ५ ॥
इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः ।
पतिमाचुक्रुशुश्चापि सस्वनं चापि चुक्रुशुः ॥ ६ ॥
स हि चान्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः ।
पुत्रशोकाभिसंतप्तः श्रुत्वा व्यालीयतासने ॥ ७ ॥
रामस्तु भृशमायस्तो निःश्वसन्निव कुञ्जरः ।
जगाम सहितो भ्रात्रा मातुरन्तःपुरं वशी ॥ ८ ॥
सोऽपश्यत् पुरुषं तत्र वृद्धं परमपूजितम् ।
उपविष्टं गृहद्वारि तिष्ठतश्चापरान् बहून् ॥ ९ ॥
दृष्ट्वैव तु तदा रामं ते सर्वे समुपस्थिताः ।
जयेन जयतां श्रेष्ठं वर्धयन्ति स्म राघवम् ॥ १० ॥

राम हुए सानन्द उस समय मातृ-भवन में प्रविशित
लोक-दृष्टि से निज अभीष्ट को नष्ट देखकर अतुलित।
सुहृद्, हितैषी दुखी न हों, सुनकर यह विपति उपस्थित
अतः न निज मुख पर आने दी विकृति, न थे वे विचलित ॥ ४० ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्ष रामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १९ ॥

बीसवाँ सर्ग

राजा दशरथ की अन्य रानियों का विलाप, श्रीराम का कौसल्या जी के भवन में जाना और उन्हें अपने वनवास की बात बताना, कौसल्या का अचेत होकर गिरना और श्रीराम के उठा देने पर उनकी ओर देखकर विलाप करना

उधर नृसिंह राम, कर जोड़े लगे निकलने बाहर ज्यों ही।
अन्तःपुर की महिलाओं का हुआ आर्तस्वर अतुलित त्यों ही ॥ १ ॥
वे कहतीं, जो विना पिताग्रह अन्तःपुर के कार्य बनाते।
वही हमारे आश्रय, रक्षक वन जाएँगे, क्षण वे आते ॥ २ ॥
करते थे व्यवहार, राम वे माता कौसल्या से जैसे।
हम सबसे भी करते आये वे व्यवहार निरन्तर वैसे ॥ ३ ॥
कुपित न होते, कटु वार्ता से जो न अन्य का कोप बढ़ाते।
वन जाएँगे जो प्रकुपित को भी अब तक थे रहे मनाते ॥ ४ ॥
जगत-अहित में तुले नृपति ये हो मति-हीन, खेद है भारी।
सकल प्राणि-प्राणाश्रय[1] राघव को जो करते हैं वनचारी ॥ ५ ॥
सभी रानियाँ क्रन्दन करके लगीं कोसने पति को वैसे।
उच्चस्वर से क्रन्दन करतीं वत्स-वञ्चिता[2] गौएँ जैसे ॥ ६ ॥
जब सुत-शोक-तप्त भूपति को आर्तनाद[3] सुनने में आया।
तब बिस्तर में ही अपने को लज्जित नृप ने शीघ्र छिपाया ॥ ७ ॥
इधर जितेन्द्रिय राम, स्वजन दुख-जन्य क्लेश जब शोक न पाये।
गज-सम साँसें ले लक्ष्मण सँग माता के समीप वे आये ॥ ८ ॥
वहाँ उन्होंने गृह-द्वारे पर पूज्य वृद्ध को बैठा पाया।
तथा उपस्थित अन्य जनों का वृन्द देखने में भी आया ॥ ९ ॥
उन सबने विजयीवर राघव को जय-जय ध्वनि अमित सुनाई।
देने लगे राम-सेवा में समुपस्थित हो सभी बधाई ॥ १० ॥

---

१ जीवों को शरण देनेवाले; २ बछड़े से बिछुड़ी; ३ करुण-क्रन्दन।

प्रविश्य प्रथमां कक्ष्यां द्वितीयायां ददर्श सः।
ब्राह्मणान् वेदसम्पन्नान् वृद्धान् राज्ञाभिसत्कृतान् ॥ ११ ॥
प्रणम्य रामस्तान् वृद्धांस्तृतीयायां ददर्श सः।
स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च द्वाररक्षणतत्पराः ॥ १२ ॥
वर्धयित्वा प्रहृष्टास्ताः प्रविश्य च गृहं स्त्रियः।
न्यवेदयन्त त्वरितं राममातुः प्रियं तदा ॥ १३ ॥
कौसल्यापि तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता।
प्रभाते चाकरोत् पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी ॥ १४ ॥
सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला ॥ १५ ॥
प्रविश्य तु तदा रामो मातुरन्तःपुरं शुभम्।
ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम् ॥ १६ ॥
देवकार्यनिमित्तं च तत्रापश्यत् समुद्यतम्।
दध्यक्षतघृतं चैव मोदकान् हविषस्तथा ॥ १७ ॥
लाजान् माल्यानि शुक्लानि पायसं कृसरं तथा।
समिधः पूर्णकुम्भांश्च ददर्श रघुनन्दनः ॥ १८ ॥
तां शुक्लक्षौमसंवीतां व्रतयोगेन कर्शिताम्।
तर्पयन्तीं ददर्शाद्भिर्देवतां वरवर्णिनीम् ॥ १९ ॥
सा चिरस्यात्मजं दृष्ट्वा मातृनन्दनमागतम्।
अभिचक्राम संहृष्टा किशोरं वडवा यथा ॥ २० ॥
स मातरमुपक्रान्तामुपसंगृह्य राघवः।
परिष्वक्तश्च बाहुभ्यामवघ्रातश्च मूर्धनि ॥ २१ ॥
तमुवाच दुराधर्षं राघवं सुतमात्मनः।
कौसल्या पुत्रवात्सल्यादिदं प्रियहितं वचः ॥ २२ ॥
वृद्धानां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम्।
प्राप्नुह्यायुश्च कीर्तिं च धर्मं चाप्युचितं कुले ॥ २३ ॥
सत्यप्रतिज्ञं पितरं राजानं पश्य राघव।
अद्यैव त्वां स धर्मात्मा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २४ ॥
दत्तमासनमालभ्य भोजनेन निमन्त्रितः।
मातरं राघवः किंचित् प्रसार्याञ्जलिमब्रवीत् ॥ २५ ॥
स स्वभावविनीतश्च गौरवाच्च तथानतः।
प्रस्थितो दण्डकारण्यमाप्रष्टुमुपचक्रमे ॥ २६ ॥

पहली ड्यौढ़ी लाँघ, दूसरी में जब राम शीघ्र हो आये।
नृप से मानित विप्रों के तब दर्शन वहाँ उन्होंने पाये ॥ ११ ॥
फिर तृतीय ड्योढ़ी में पहुँचे वृद्ध ब्राह्मणों को प्रणाम कर।
देखा, तरुणी, वृद्धाएँ हैं वहाँ द्वार-रक्षा में तत्पर ॥ १२ ॥
हर्षित होकर महिलाओं ने दी राघव को मधुर बधाई।
कौसल्या माता को गृह में राम-आगमन बात बताई ॥ १३ ॥
सुत-मंगल-कांक्षिणि[1] कौसल्या भी करके तब रात्रि-जागरण।
प्रातः हरि-पूजा करती थीं एकचित्त हो करके उस क्षण ॥ १४ ॥
मुदित रेशमी वस्त्रधारिणी, व्रत-परायणा तब वे होकर।
पूर्व कृत्य कर, तब हवनाहुति देती थीं मन्त्रों को पढ़कर ॥ १५ ॥
माता-अन्तःपुर में देखा वहाँ राम ने माँ को आकर।
हवन कर रही थीं कौसल्या उस अवसर पर ध्यान लगाकर ॥ १६ ॥
देव-कार्य के लिए हुआ था वहाँ बहुत सामग्री-संग्रह।
थे दधि, अक्षत, घृत, मोदक प्रिय, परम शुद्ध रुचिकर हविष्य-सह ॥
लावा, खिचड़ी, खीर, राम ने देखीं वहाँ शुभ्र मालाएँ।
जल से भरे स्वर्ण-कलशों-सँग देखीं यज्ञ हेतु समिधाएँ ॥१७-१८॥
श्वेत, रेशमी साड़ी पहने थीं वे उत्तम कान्तिमयी थीं।
इष्टदेव-तर्पण करती थीं, व्रत से दुर्बल अब दिखती थीं ॥ १९ ॥
बहु विलम्ब पर देख पुत्र को हर्षित चलीं उधर वे वैसे।
चलती हर्षित अश्वा[2] कोई देख बछेड़े को निज जैसे ॥ २० ॥
निकट आगता[3] माँ-चरणों को किया प्रणाम, राम ने तब तक।
बाहु-मध्य कर हृदय लगाया माँ ने उन्हें, सूँघकर मस्तक ॥ २१ ॥
दुर्जय पुत्र राम से बोलीं कौसल्या फिर वचन सु-रुचिकर।
पुत्र-स्नेहवश जो अतिप्रिय थे और राम के लिए सु-हितकर ॥ २२ ॥
सुत! तुम आयुष्[4], वृद्ध महात्मा धर्मि, राजऋषियों-सम पाओ।
और कुलोचित धर्म प्राप्त कर कीर्ति असीमित सदा बढ़ाओ ॥ २३ ॥
सत्य-प्रतिज्ञ पिता राजा के जाकर राम! करो अब दर्शन।
वे धार्मिक नृप आज करेंगे सुत! तव यौवराज्य-अभिषिञ्चन ॥ २४ ॥
यह कह, माता ने आसन दे उन्हें कहा करने को भोजन।
छूकर आसन, अञ्जलि फैला कहा राम ने माँ से सु-वचन ॥ २५ ॥
थे स्वभाव से ही विनयी माँ के गौरव से थे नतमस्तक।
वे तो चाह रहे थे आज्ञा माँ से जाने को वन दण्डक ॥ २६ ॥

---

१ पुत्र की कुशलता चाहनेवाली; २ घोड़ी; ३ आयी हुई; ४ उम्र, आयु।

देवि नूनं न जानीषे महद् भयमुपस्थितम् ।
इदं तव च दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्य च ॥ २७ ॥
गमिष्ये दण्डकारण्यं किमनेनासनेन मे ।
विष्टरासनयोग्यो हि कालोऽयं मामुपस्थितः ॥ २८ ॥
चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने ।
कन्दमूलफलैर्जीवन् हित्वा मुनिवदामिषम् ॥ २९ ॥
भरताय महाराजो यौवराज्यं प्रयच्छति ।
मां पुनर्दण्डकारण्यं विवासयति तापसम् ॥ ३० ॥
स षट् चाष्टौ च वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने ।
आसेवमानो वन्यानि फलमूलैश्च वर्तयन् ॥ ३१ ॥
सा निकृत्तेव सालस्य यष्टिः परशुना वने ।
पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्च्युता ॥ ३२ ॥
तामदुःखोचितां दृष्ट्वा पतितां कदलीमिव ।
रामस्तूत्थापयामास मातरं गतचेतसम् ॥ ३३ ॥
उपावृत्योत्थितां दीनां वडवामिव वाहिताम् ।
पांसुगुण्ठितसर्वाङ्गीं विममर्श च पाणिना ॥ ३४ ॥
सा राघवमुपासीनमसुखार्ता सुखोचिता ।
उवाच पुरुषव्याघ्रमुपशृण्वति लक्ष्मणे ॥ ३५ ॥
यदि पुत्र न जायेथा मम शोकाय राघव ।
न स्म दुःखमतो भूयः पश्येयमहमप्रजाः ॥ ३६ ॥
एक एव हि वन्ध्यायाः शोको भवति मानसः ।
अप्रजास्मीति संतापो न ह्यन्यः पुत्र विद्यते ॥ ३७ ॥
न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे ।
अपि पुत्रे विपश्येयमिति रामास्थितं मया ॥ ३८ ॥
सा बहून्यमनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम् ।
अहं श्रोष्ये सपत्नीनामवराणां परा सती ॥ ३९ ॥
अतो दुःखतरं किं नु प्रमदानां भविष्यति ।
मम शोको विलापश्च यादृशोऽयमनन्तकः ॥ ४० ॥
त्वयि संनिहितेऽप्येवमहमासं निराकृता ।
किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव हि ॥ ४१ ॥
अत्यन्तं निगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यमसम्मता ।
परिवारेण कैकेय्याः समा वाप्यथवावरा ॥ ४२ ॥

कहा उन्होंने, देवि ! तुम्हें है नहीं ज्ञात, तुम पर भय छाया।
सीता-लक्ष्मण को भी दुःखद, जो मैं तुम्हें बताने आया ।। २७ ।।
दण्डक जाऊँगा, इससे माँ ! वृथा प्रयोजन है आसन का।
अवसर है आया अब तो कुश के ही आसन पर रहने का ।। २८ ।।
राजोचित वस्तुएँ त्यागकर, कन्द, मूल, फल अब खाना है।
निर्जन वन में चौदह वर्षों तक मुनि-जीवन अपनाना है ।। २९ ।।
यौवराज्य-पद देते हैं माँ ! महाराज वे पुत्र भरत को।
और भेजते हैं मुझको वे दण्डक वन में अब तप-व्रत को ।। ३० ।।
चौदह वर्षों तक वन में रह वल्कलादि जो कुछ पाऊँगा।
उन्हें पहनकर जीवन-यापन हित फल-मूल-कन्द खाऊँगा ।। ३१ ।।
यह अप्रिय सुन, वन में परशुच्छिन्न[1] शाल-शाखा हो जैसे।
तथा स्वर्ग-च्युत सुरांगना[2] हो गिरीं धरणि पर तब वे वैसे ।। ३२ ।।
कभी न दुख के दर्शन पहले, आज कटी कदली-सी भू पर।
शीघ्र उठाया उन अचेत को राघव ने अपने हाथों पर ।। ३३ ।।
भार-वहन कर अश्वा जैसे भू पर लोट, खड़ी हो उठकर।
वैसे उत्थित[3], मातृ-धूलि को कर से लगे पोंछने रघुवर ।। ३४ ।।
हुईं दुःख-कातर कौसल्या सदा जिन्होंने भोगा था सुख।
निकट सुन रहे थे लक्ष्मण जब बोलीं वे राघव के सम्मुख ।। ३५ ।।
जन्म तुम्हारा नहीं हुआ था तब था राम ! दुःख बस उतना।
वन्ध्या होने पर मुझको यह दुःख न होता कभी बहु गुना ।। ३६ ।।
वन्ध्या-मन में पुत्र-हीनता की केवल चिन्ता है आती।
इसके सिवा न उसको कोई पीड़ा है दूसरी सताती ।। ३७ ।।
पति-प्रभुत्व में ज्येष्ठा रानी का सुख मिला न मुझको समुचित।
जीवित रही सोचकर, होगा सुख जब मम सुत होगे अधिपति ।। ३८ ।।
मुख्या रानी होकर भी तो मुझको सुनने होगे, रघुवर ! ।
छोटी सौतो के अति अप्रिय वचन सर्वथा परम कष्टकर ।। ३९ ।।
इससे बढ़कर महिलाओ को अन्य जगत में दुःख नहीं है।
मेरे शोक-विलाप आदि का इसीलिए अब अन्त नही है ।। ४० ।।
तात ! तुम्हारे रहते भी मैं रही तिरस्कृत सौतों द्वारा।
जाने पर, परदेश तुम्हारे निश्चय होगा मरण हमारा ।। ४१ ।।
मान-हीन हो परम तिरस्कृत मैंने नृपति-ताड़ना पाई।
कैकेयी की दासी से भी बढ़कर मैंने आयु बिताई ।। ४२ ।।

---

१ कुल्हाड़ी से कटी; २ अप्सरा; ३ खड़ी हुईं।

यो हि मां सेवते कश्चिदपि वाप्यनुवर्तते।
कैकेय्याः पुत्रमन्वीक्ष्य स जनो नाभिभाषते ॥ ४३ ॥
नित्यक्रोधतया तस्याः कथं नु खरवादि तत्।
कैकेय्या वदनं द्रष्टुं पुत्र शक्ष्यामि दुर्गता ॥ ४४ ॥
दश सप्त च वर्षाणि जातस्य तव राघव।
अतीतानि प्रकाङ्क्षन्त्या मया दुःखपरिक्षयम् ॥ ४५ ॥
तदक्षयं महद्दुःखं नोत्सहे सहितुं चिरात्।
विप्रकारं सपत्नीनामेवं जीर्णापि राघव ॥ ४६ ॥
अपश्यन्ती तव मुखं परिपूर्णशशिप्रभम्।
कृपणा वर्तयिष्यामि कथं कृपणजीविका ॥ ४७ ॥
उपवासैश्च योगैश्च बहुभिश्च परिश्रमैः।
दुःखसंवर्धितो मोघं त्वं हि दुर्गतया मया ॥ ४८ ॥
स्थिरं नु हृदयं मन्ये ममेदं यन्न दीर्यते।
प्रावृषीव महानद्याः स्पृष्टं कूलं नवाम्भसा ॥ ४९ ॥

ममैव नूनं मरणं न विद्यते
न चावकाशोऽस्ति यमक्षये मम।
यदन्तकोऽद्यैव न मां जिहीर्षति
प्रसह्य सिंहो रुदतीं मृगीमिव ॥ ५० ॥
स्थिरं हि नूनं हृदयं ममायसं
न भिद्यते यद् भुवि नो विदीर्यते।
अनेन दुःखेन च देहमर्पितं
ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते ॥ ५१ ॥
इदं तु दुःखं यदनर्थकानि मे
व्रतानि दानानि च संयमाश्च हि।
तपश्च तप्तं यदपत्यकाम्यया
सुनिष्फलं बीजमिवोप्तमूषरे ॥ ५२ ॥
यदि ह्यकाले मरणं यदृच्छया
लभेत कश्चिद् गुरुदुःखकर्शितः।
गताहमद्यैव परेतसंसदं
विना त्वया धेनुरिवात्मजेन वै ॥ ५३ ॥
अथापि किं जीवितमद्य मे वृथा
त्वया विना चन्द्रनिभाननप्रभ।
अनुव्रजिष्यामि वनं त्वयैव गौः
सुदुर्बला वत्समिवाभिकाङ्क्षया ॥ ५४ ॥

कैकेयी-सुत को जब मेरे अनुचर कहीं देख लेते हैं।
तो मुझसे बातें करने मे ध्यान नहीं वे भी देते है॥ ४३ ॥
जो स्वभाव से ही क्रोधी है, सुत ! मैं पाकर उससे दुख को।
देख सकूँगी कैसे मैं उस कटुभाषिणि कैकेयी-सुख को॥ ४४ ॥
रघुनन्दन ! उपनयन-जन्म के वीते सत्रह वर्ष तुम्हारे।
आस लगाये बैठी थी, अब छूटेंगे मेरे दुख सारे॥ ४५ ॥
सौतों द्वारा तिरस्कार में वृद्धावस्था के मेरे दिन।
अधिक समय तक बीतें मुझसे यह है राघव बहुत अब कठिन॥ ४६ ॥
शशि-सम मोहक तव मुख-दर्शन से वञ्चित जब हो जाऊँगी।
तब मैं दीन-दुखी हो कैसे जीवन राम ! विता पाऊँगी॥ ४७ ॥
व्यर्थ गया उपवास सुरों का ध्यान आदि मेरा श्रम सारा।
व्यर्थ ! कष्ट से भाग्य-विहीना मैंने पोषण किया तुम्हारा॥ ४८ ॥
यह विछोह सुननेवाला है मेरा हृदय कठिन दिखलाता।
वर्षा-ग्रस्त महानद के कगार-सम आज नहीं फट जाता॥ ४९ ॥

मुझे मृत्यु-लक्षण है अपना नहीं समझ में आता
और न यम-गृह में ही मेरा कोई स्थान दिखाता।
जैसे रोती हुई मृगी को सिंह पकड़कर बल से
ले जाये, वैसे यम मुझको ततः न लेकर जाता॥ ५० ॥

मेरा हृदय कठोर लौह से मानों हुआ विनिर्मित
जो कि भूमि पर पड़ने पर भी होता नहीं विखण्डित।
टुकड़े-टुकड़े इसी दुःख से हुए न इस काया के
मृत्यु-काल के बिना न होता मरण किसी का निश्चित॥ ५१ ॥

अति दुख की यह वात, समझ में मेरी तनिक न आता
सुत-सुख हित व्रत-दान-सुसंयम-क्रिया व्यर्थ दिखलाता।
मैंने जो संतान-हितेच्छा से तप क्रिया, विफल वह
हुआ, जिस तरह ऊसर में है बीज नहीं उग पाता॥ ५२ ॥

यदि कोई मानव, हो करके परम दुःख से पीड़ित
असमय मे ही मृत्यु पा सके किसी भाँति से इच्छित।
तो मैं विना तुम्हारे बछड़े से बिछुड़ी गो-सदृशी
आज अभी ही यम-संसद में जाकर होऊँ संस्थित॥ ५३ ॥

चन्द्र-सदृश सत् कान्त मनोहर मुख वाले हे रघुवर !
विना तुम्हारे व्यर्थ बिताऊँ कुत्सित जीवन क्योंकर ?।
बछड़े के पीछे जाती है जैसे गौ दुर्बल भी
वैसे मैं भी वन जाऊँगी, साथ तुम्हारे चलकर॥ ५४ ॥

भृशमसुखममर्षिता तदा बहु
विललाप समीक्ष्य राघवम् ।
व्यसनमुपनिशाम्य सा महत्
सुतमिव बद्धमवेक्ष्य किंनरी ॥ ५५ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे विंशः सर्गः ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः

लक्ष्मण का रोष, उनका श्रीराम को बलपूर्वक राज्य पर अधिकार कर लेने के लिए प्रेरित करना तथा श्रीराम का पिता की आज्ञा के पालन को ही धर्म बताकर माता और लक्ष्मण को समझाना

तथा तु विलपन्तीं तां कौसल्यां राममातरम् ।
उवाच लक्ष्मणो दीनस्तत्कालसदृशं वचः ॥ १ ॥
न रोचते ममाप्येतदार्ये यद् राघवो वनम् ।
त्यक्त्वा राज्यश्रियं गच्छेत् स्त्रिया वाक्यवशंगतः ॥ २ ॥
विपरीतश्च वृद्धश्च विषयैश्च प्रधर्षितः ।
नृपः किमिव न ब्रूयाच्चोद्यमानः समन्मथः ॥ ३ ॥
नास्यापराधं पश्यामि नापि दोषं तथाविधम् ।
येन निर्वास्यते राष्ट्राद् वनवासाय राघवः ॥ ४ ॥
न तं पश्याम्यहं लोके परोक्षमपि यो नरः ।
स्वमित्रोऽपि निरस्तोऽपि योऽस्य दोषमुदाहरेत् ॥ ५ ॥
देवकल्पमृजुं दान्तं रिपूणामपि वत्सलम् ।
अवेक्षमाणः को धर्मं त्यजेत् पुत्रमकारणात् ॥ ६ ॥
तदिदं वचनं राज्ञः पुनर्बाल्यमुपेयुषः ।
पुत्रः को हृदये कुर्याद् राजवृत्तमनुस्मरन् ॥ ७ ॥
यावदेव न जानाति कश्चिदर्थमिमं नरः ।
तावदेव मया सार्धमात्मस्थं कुरु शासनम् ॥ ८ ॥
मया पार्श्वे सधनुषा तव गुप्तस्य राघव ।
कः समर्थोऽधिकं कर्तुं कृतान्तस्येव तिष्ठतः ॥ ९ ॥
निर्मनुष्यामिमां सर्वामयोध्यां मनुजर्षभ ।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैर्यदि स्थास्यति विप्रिये ॥ १० ॥
भरतस्याथ पक्ष्यो वा यो वास्य हितमिच्छति ।
सर्वांस्तांश्च वधिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते ॥ ११ ॥
प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या संतुष्टो यदि नः पिता ।
अमित्रभूतो निःसङ्गं वध्यतां वध्यतामपि ॥ १२ ॥

आगत[1] दुख सहने में अक्षम सकट का कर चिन्तन
सत्य-बन्ध में बँधे राम को देख, दुखी था अति मन।
करने लगी विलाप उस समय बहुत-बहुत कौसल्या
मानों हो किन्नरी दु.ख में देख स्व-सुत का बन्धन ॥ ५५ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्ष रामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २० ॥

इक्कीसवाँ सर्ग

लक्ष्मण का रोष, उनका श्रीराम को बलपूर्वक राज्य पर अधिकार कर लेने के लिए प्रेरित करना तथा श्रीराम का पिता की आज्ञा के पालन को ही धर्म बताकर माता और लक्ष्मण को समझाना

कौसल्या को तब विलाप बहु करती हुई देखकर, लक्ष्मण।
शोकित हो करके समयोचित वार्ता बोले तब वे तत्क्षण ॥ १ ॥
मुझको भी यह नहीं लग रहा अच्छा, आर्ये! राम-वन-गमन।
राज्यश्री को त्याग, नृपति का तो है नारी के वश में मन ॥
वृद्ध विषय के वश में हैं वे कामदेव से तथा पराजित।
क्या न करेंगे? कैकेयी के प्रेम-पाश में हो वे बन्धित ॥ २-३ ॥
मैं कोई दोषापराध हूँ नही देखता रघुनन्दन मे।
जिससे इनको राज्यच्युत[2] कर कहा जाय रहने को वन में ॥ ४ ॥
मुझे जगत् में राम-तिरस्कृत रिपु भी ऐसा नहीं दिखाता।
जो परोक्ष[3] में भी इनका हो किसी भाँति से दोष बताता ॥ ५ ॥
धर्मनिष्ठ वह नृपति कौन है, जो कि देव-सम सरल शुद्ध अति।
वशी, शत्रु-स्नेहा निज सुत को परित्याग की रक्खेगा मति ॥ ६ ॥
पुनः प्राप्त हो जाए जो नृप किसी भाँति से बालकपन में।
उसकी बात कौन सुत मानेगा, रख राजनीति को मन मे? ॥ ७ ॥
जब तक कोई मनुज, वन-गमन की न बात जाने रघुनन्दन!।
उसके पहले ही सहायता से मेरी ले लें निज शासन ॥ ८ ॥
धनुष लिये जब मैं रक्षक हूँ पास आपके रहकर, रघुवर!।
युद्धस्थित काल-सदृश तव सम्मुख कौन टिकेगा तब बलवत्तर ॥ ९ ॥
नृवर! नगर के लाग विरोधी बन करके यदि आ जाएँगे।
तब मेरे तीखे बाणों से शून्य अयोध्या को पाएगे! ॥ १० ॥
मैं मारूँगा उनको जो हैं भरत-हितैषी और पक्षधर।
क्योकि सु-कोमल नम्र व्यक्ति का तिरस्कार करते है सब नर ॥ ११ ॥
यदि कैकेयी-प्रोत्साहन से तुष्ट पिता हो रहे शत्रु-सम।
तो उनको कारागृह देना तथा मार देना भी उत्तम ॥ १२ ॥

---

१ आने वाला; २ राज्यपद से हटाकर; ३ पीठ पीछे।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥ १३ ॥
बलमेष किमाश्रित्य हेतुं वा पुरुषोत्तम ।
दातुमिच्छति कैकेय्यै उपस्थितमिदं तव ॥ १४ ॥
त्वया चैव मया चैव कृत्वा वैरमनुत्तमम् ।
कास्य शक्तिः श्रियं दातुं भरतायारिशासन ॥ १५ ॥
अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः ।
सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे ॥ १६ ॥
दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति ।
प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय ॥ १७ ॥
हरामि वीर्याद् दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः ।
देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु ॥ १८ ॥
हनिष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्यासक्तमानसम् ।
कृपणं च स्थितं बाल्ये वृद्धभावेन गर्हितम् ॥ १९ ॥
एतत् तु वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
उवाच रामं कौसल्या रुदती शोकलालसा ॥ २० ॥
भ्रातुस्ते वदतः पुत्र लक्ष्मणस्य श्रुतं त्वया ।
यदत्रानन्तरं तत्त्वं कुरुष्व यदि रोचते ॥ २१ ॥
न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपत्न्या मम भाषितम् ।
विहाय शोकसंतप्तां गन्तुमर्हसि मामितः ॥ २२ ॥
धर्मज्ञ इति धर्मिष्ठ धर्मं चरितुमिच्छसि ।
शुश्रूष मामिहस्थस्त्वं चर धर्ममनुत्तमम् ॥ २३ ॥
शुश्रूषुर्जननीं पुत्र स्वगृहे नियतो वसन् ।
परेण तपसा युक्तः काश्यपस्त्रिदिवं गतः ॥ २४ ॥
यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम् ।
त्वां साहं नानुजानामि न गन्तव्यमितो वनम् ॥ २५ ॥
त्वद्वियोगान्न मे कार्यं जीवितेन सुखेन च ।
त्वया सह मम श्रेयस्तृणानामपि भक्षणम् ॥ २६ ॥
यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम् ।
अहं प्रायमिहासिष्ये न च शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ २७ ॥
ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम् ।
ब्रह्महत्यामिवाधर्मात् समुद्रः सरितां पतिः ॥ २८ ॥

होकर गर्वित कहीं स्वगुरु भी यदि खो दे कर्तव्य-ज्ञान सत्र।
उस कुमार्ग-गामी को दण्डित करना भी आवश्यक है तब॥ १३ ॥
पुरुषोत्तम ! नृप किस बल से या किस कारण को आगे रखकर।
कैकेयी को राज्य दे रहे ? जिसे रहे थे आप प्राप्त कर॥ १४ ॥
उनकी क्या है शक्ति ? आपसे, मुझसे जो यह वर ठान कर।
शत्रुदमन ! दे दे राज्यश्री भ्रातृ भरत को टुक साहस कर॥ १५ ॥
सत्य, धनुष, मख, दान आदि की खाकर शपथ, देवि ! बतलाता।
है हार्दिक अनुराग राम में, ये हैं पूज्य सत्य मम भ्राता॥ १६ ॥
देवि ! रखें विश्वास, राम यदि पावक या वन में जाएँगे।
तो उनसे पहले, उन सबमें प्रविशित मुझे लोग पाएँगे॥ १७ ॥
अब देखें रघुनाथ, आप सब उदित सूर्य-सम मेरा विक्रम।
शीघ्र आपके दुख-तिमिर[1] को अभी मिटाऊँगा मैं सक्षम॥ १८ ॥
कैकेयी-आसक्त चित्त, जो दीन हो रहे बाल-भाव-स्थित।
उनको मैं मारूँगा निश्चय, पिता वृद्ध हैं फिर भी निन्दित॥ १९ ॥
महामनस्वी लक्ष्मण के ये ओजस्वी तब वचन श्रवण कर।
कौसल्या माँ बोलीं राघव से शोकित हो, वे रो-रोकर॥ २० ॥
बेटा ! तुमने भाई लक्ष्मण की सुन ली है कथित बात सब।
उसके बाद समझकर जो कुछ करना चाहो ! करो वही अब॥ २१ ॥
सौतन की अधर्म-युत वार्ता सुन मुझको संतप्त त्यागकर।
उचित नहीं वन-गमन तुम्हारा कभी यहाँ से है, हे रघुवर !॥ २२ ॥
हे धर्मिष्ठ ! सत्यविद् ! तुमको सदाचरण है प्रिय, तो आओ !।
मेरी सेवा करके अब तुम ! उत्तम धर्माचरण निभाओ॥ २३ ॥
वत्स ! नियम से माँ की सेवा से हैं काश्यप उच्च तपस्वी।
और स्वर्ग के सुख पा करके (हुए जगत मे परम यशस्वी)॥ २४ ॥
नृप हैं पूज्य तुम्हारे जैसे उसी भाँति से मुझको जानो !।
नहीं दे रही वन जाने की अनुमति, यह वार्ता तुम मानो॥ २५ ॥
मेरे लिए कुशलकर तुम सँग है तृण खाने की स्थिति सहना।
किन्तु विलग होने पर अप्रिय है सुखपूर्वक जीवित रहना॥ २६ ॥
शोक-मग्न यदि मुझे त्यागकर प्रिय तुम ! दण्डक वन जाओगे !।
तो उपवास-प्राणहीना तुम मुझको यथाशीघ्र पाओगे !॥ २७ ॥
तब तुम सुत ! जग-ख्यात नरक-सम होगे विप्र-हनन-दुख-भागी।
जैसे दुःखित हुआ अधार्मिक सरितापति था सिन्धु अभागी*॥ २८ ॥

---

१ दुःख रूपी अन्धकार।

* किसी कल्प में समुद्र ने अपनी माता को दुःख दिया था, उससे पिप्पलाद नामक ब्रह्मर्षि ने उस अधर्म का दण्ड देने के लिए उसके ऊपर एक कृत्या का प्रयोग किया। इससे समुद्र को नरकवास-तुल्य महान् दुःख भोगना पड़ा था।

विलपन्तीं तथा दीनां कौसल्यां जननीं ततः ।
उवाच रामो धर्मात्मा वचनं धर्मसंहितम् ॥ २९ ॥
नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥ ३० ॥
ऋषिणा च पितुर्वाक्यं कुर्वता वनचारिणा ।
गौर्हता जानताधर्मं कण्डुना च विपश्चिता ॥ ३१ ॥
अस्माकं तु कुले पूर्वं सगरस्याज्ञया पितुः ।
खनद्भिः सागरैर्भूमिमवाप्तः सुमहान् वधः ॥ ३२ ॥
जामदग्न्येन रामेण रेणुका जननी स्वयम् ।
कृत्ता परशुनारण्ये पितुर्वचनकारणात् ॥ ३३ ॥
एतैरन्यैश्च बहुभिर्देवि देवसमैः कृतम् ।
पितुर्वचनमक्लीबं करिष्यामि पितुर्हितम् ॥ ३४ ॥
न खल्वेतन्मयैकेन क्रियते पितृशासनम् ।
एतैरपि कृतं देवि ये मया परिकीर्तिताः ॥ ३५ ॥
नाहं धर्ममपूर्वं ते प्रतिकूलं प्रवर्तये ।
पूर्वैरयमभिप्रेतो गतो मार्गोऽनुगम्यते ॥ ३६ ॥
तदेतत् तु मया कार्यं क्रियते भुवि नान्यथा ।
पितुर्हि वचनं कुर्वन् न कश्चिन्नाम हीयते ॥ ३७ ॥
तामेवमुक्त्वा जननीं लक्ष्मणं पुनरब्रवीत् ।
वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ ३८ ॥
तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम् ।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम् ॥ ३९ ॥
मम मातुर्महद् दुःखमतुलं शुभलक्षण ।
अभिप्रायं न विज्ञाय सत्यस्य च शमस्य च ॥ ४० ॥
धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम् ॥ ४१ ॥
संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा ।
न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य तिष्ठता ॥ ४२ ॥
सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम् ।
पितुर्हि वचनाद् वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः ॥ ४३ ॥
तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम् ।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम् ॥ ४४ ॥

करते हुए विलाप स्वमाता कौसल्या को शोकित मन से।
बोले धार्मिक राम, धर्म-युत वचन इस तरह तब फिर उनसे।। २९ ।।
तव चरणों में शीश झुकाकर माँ! मैं तुम्हें मना पाऊँगा।
किन्तु पिता-आज्ञा-उल्लंघन-अक्षम, मैं वन ही जाऊँगा।। ३० ।।
वन-वासी विद्वान् कण्डु ने यथा पिताज्ञा को पाला था।
तथा अधर्म समझकर भी तब, अम्ब! धेनु-वध कर डाला था।। ३१ ।।
और हुए मेरे ही कुल में नृपति सगर-सुत भी ऐसे तब।
जो थे मारे गये पिता की आज्ञा से भू खनने में सब।। ३२ ।।
परशुराम श्री जामदग्न्य ने वचन पिताज्ञा का पाला था।
मातु रेणुका-कण्ठ परशु[1] से कानन-मध्य काट डाला था।। ३३ ।।
देवि! पिताज्ञापित[2] देवोपम[3] पुरुषों ने उत्साह दिखाया।
अतः क्लीवता[4]-त्याग, पिता-हित ही साधूँगा, यह मन भाया।। ३४ ।।
मैं ही नहीं पिताज्ञा-पालन करता एक, देवि! भू पर अब।
बता चुका जिनको, उन सबने अम्ब! पिताज्ञा पाली थी तब।। ३५ ।।
मैं तुमसे प्रतिकूल नहीं माँ! नया न कोई धर्म चलाता।
केवल पूर्व-धर्म-प्रिय पुरुषों का अभीष्ट पथ ही अपनाता।। ३६ ।।
जो करणीय कर्म मानव को, मैं उसके विपरीत न जाता।
नहीं पिताज्ञा-पालन में मानव है धर्म-भ्रष्ट हो पाता।। ३७ ।।
वाक्यवेत्ता[5], श्रेष्ठ धनुर्धर ने यों कह अपनी माता से।
कहा राम ने फिर तदनन्तर अपने प्रिय लक्ष्मण भ्राता से।। ३८ ।।
लक्ष्मण! तुममें मैं अपने प्रति, उत्तम, अनुपम स्नेह मानता।
और तुम्हारा धैर्य, पराक्रम तथा तेज दुर्धर्ष जानता।। ३९ ।।
सत्य और शम[6]-विषयक मेरा अभिप्राय माँ समझ न पाई।
शुभ लक्षण लक्ष्मण! इससे ये देती हैं अति दुखी दिखाई।। ४० ।।
जग में सबसे श्रेष्ठ, धर्म है, सत्य इसी पर है आधारित।
परमोत्तम यह पिता-वचन है क्योंकि धर्म के ही वह आश्रित।। ४१ ।।
माता, पिता, विप्र-वचनों के पालन का निश्चय करके फिर।
धर्माश्रित को उचित नहीं है, वीर! करे मिथ्या, हो अस्थिर।। ४२ ।।
अतः पिताज्ञा का उल्लंघन नहीं वीर! कर सकता मन में।
कैकेयी उनके कहने से आज्ञा देतीं, जाऊँ वन में।। ४३ ।।
त्यागो क्षात्र-धर्म-मति ओछी, अतः धर्म का लो तुम आश्रय।
और चलो मेरे विचार-सँग यह कठोरता छोड़ो! निश्चय।। ४४ ।।

१ फरसा; २ पिता की आज्ञा-प्राप्त; ३ देव-सदृश, दिव्य; ४ अपौरुष; ५ बात करने में कुशल; ६ संयम।

तमेवमुक्त्वा सौहार्दाद् भ्रातरं लक्ष्मणाग्रजः ।
उवाच भूयः कौसल्यां प्राञ्जलिः शिरसा नतः ॥ ४५ ॥
अनुमन्यस्व मां देवि गमिष्यन्तमितो वनम् ।
शापितासि मम प्राणैः कुरु स्वस्त्ययनानि मे ॥ ४६ ॥
तीर्णप्रतिज्ञश्च वनात् पुनरेष्याम्यहं पुरीम् ।
ययातिरिव राजर्षिः पुरा हित्वा पुनर्दिवम् ॥ ४७ ॥
शोकः संधार्यतां मातर्हृदये साधु मा शुचः ।
वनवासादिहैष्यामि पुनः कृत्वा पितुर्वचः ॥ ४८ ॥
त्वया मया च वैदेह्या लक्ष्मणेन सुमित्रया ।
पितुर्नियोगे स्थातव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ ४९ ॥
अम्ब सम्भृत्य सम्भारान् दुःखं हृदि निगृह्य च ।
वनवासकृता बुद्धिर्मम धर्म्यानुवर्त्यताम् ॥ ५० ॥

एतद् वचस्तस्य निशम्य माता
सुधर्म्यमव्यग्रमविक्लवं च ।
मृतेव संज्ञां प्रतिलभ्य देवी
समीक्ष्य रामं पुनरित्युवाच ॥ ५१ ॥
यथैव ते पुत्र पिता तथाहं
गुरुः स्वधर्मेण सुहृत्तया च ।
न त्वानुजानामि न मां विहाय
सुदुःखितामर्हसि पुत्र गन्तुम् ॥ ५२ ॥
किं जीवितेनेह विना त्वया मे
लोकेन वा किं स्वधयामृतेन ।
श्रेयो मुहूर्तं तव संनिधानं
ममैव कृत्स्नादपि जीवलोकात् ॥ ५३ ॥
नरैरिवोल्काभिरपोह्यमानो
महागजो ध्वान्तमभिप्रविष्टः ।
भूयः प्रजज्वाल विलापमेवं
निशम्य रामः करुणं जनन्याः ॥ ५४ ॥
स मातरं चैव विसंज्ञकल्पा-
मार्तं च सौमित्रिमभिप्रतप्तम् ।
धर्मे स्थितो धर्म्यमुवाच वाक्यं
यथा स एवार्हति तत्र वक्तुम् ॥ ५५ ॥

लक्ष्मण से सौहार्द पूर्ण तब, यह कहकर फिर पुनः राम ने।
कौसल्या-पद-शीश झुकाकर, हाथ जोड़कर, कहा सामने॥ ४५ ॥
वन-जाऊँगा, आज्ञा देकर, स्वस्ति-पाठ करवाओ माता!।
निज प्राणों की शपथ दिलाकर, बात तुम्हें मैं यह बतलाता॥ ४६ ॥
स्वर्ग त्यागकर भू पर आये थे ययाति राजा ऋषि जैसे।
पितु-आज्ञा पालन कर, वन से लौट अवध आऊँगा वैसे॥ ४७ ॥
करो शोक मत, माँ! धीरज धर, इसे दवाओ अपने मन में।
लौटूँगा मैं पुनः, (चतुर्दश वर्ष) बिताकर जीवन वन में॥ ४८ ॥
तुम्हें, मुझे, सीता, लक्ष्मण-सँग, अम्ब सुमित्रा को अब मन से।
उचित पिताज्ञा-पालन करना है, यह धर्म सनातनपन से॥ ४९ ॥
मन के दुख को अम्ब! दवाकर, रख दो सामग्री सिञ्चन की।
धर्म-अनुगमन करो! मुझे दो आज्ञा अब वन को जाने की॥ ५० ॥

विना व्यग्रता आकुलता की बात धर्म से संयुत
राघव की कौसल्या सुनकर, जीवित हो जैसे मृत।
मूर्च्छा तजकर संज्ञा में आ और देखकर सुत को
कहने लगीं राम से ऐसा, होकर परम समाहित॥ ५१ ॥

हैं सौहार्द धर्म से जैसे गुरुजन पिता तुम्हारे
वैसी ही आदर-योग्या हूँ, मैं भी तो सुत प्यारे!।
नही दे रही वन जाने की आज्ञा तुमको राघव!
अतः न जाओ! मुझ दुखिया को तजकर विना सहारे॥ ५२ ॥

विना तुम्हारे इस जीवन में लाभ न कुछ दिखलाता
तुम दो घड़ी पास मे हो तो, मन सारे सुख पाता।
मुझे स्वजन, सुर, पितर, अमृत से, क्या कब है कुछ लेना?
बिना तुम्हारे सकल विश्व का राज्य न मुझको भाता॥ ५३ ॥

अन्धकूप में यथा गजेश्वर ही कोई पड़ जाये
जन-समूह उल्काओं से फिर उसको अधिक सताये।
त्यों ही करुण विलाप स्वमाता का ये राघव सुनकर
और अधिक आवेश-वेग में उस अवसर पर आये॥ ५४ ॥

दृढ़तापूर्वक धर्मस्थित हो, वे अचेत माता से
तथा आर्त, संतप्त सुमित्रा-सुत अपने भ्राता से।
वात कही राघव ने, जो थी सत्य-धर्म-अनुकूला
कह सकते थे उस अवसर पर केवल राम विधाता॥ ५५ ॥

अहं हि ते लक्ष्मण नित्यमेव
जानामि भक्तिं च पराक्रमं च ।
मम त्वभिप्रायमसंनिरीक्ष्य
मात्रा सहाभ्यर्दसि मा सुदुःखम् ॥ ५६ ॥
धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु ।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा ॥ ५७ ॥
यस्मिस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा
धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत ।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता ॥ ५८ ॥
गुरुश्च राजा च पिता च वृद्धः
क्रोधात् प्रहर्षादथवापि कामात् ।
यद् व्यादिशेत् कार्यमवेक्ष्य धर्मं
कस्तं न कुर्यादनृशंसवृत्तिः ॥ ५९ ॥
न तेन शक्नोमि पितुः प्रतिज्ञा-
मिमां न कर्तुं सकलां यथावत् ।
स ह्यावयोस्तात गुरुर्नियोगे
देव्याश्च भर्ता स गतिश्च धर्मः ॥ ६० ॥
तस्मिन् पुनर्जीवति धर्मराजे
विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने ।
देवी मया सार्धमितोऽभिगच्छेत्
कथंस्विदन्या विधवेव नारी ॥ ६१ ॥
सा मानुमन्यस्व वनं व्रजन्तं
कुरुष्व नः स्वस्त्ययनानि देवि ।
यथा समाप्ते पुनराव्रजेयं
यथा हि सत्येन पुनर्ययातिः ॥ ६२ ॥
यशो ह्यहं केवलराज्यकारणा-
न्न पृष्ठतः कर्तुमलं महोदयम् ।
अदीर्घकालेन तु देवी जीविते
वृणेऽवरामद्य महीमधर्मतः ॥ ६३ ॥

समझ रहा, लक्ष्मण ! मुझमें है अतिशय भक्ति तुम्हारी
तथा तुम्हारे विक्रम की भी है निश्चय बलिहारी।
अभिप्राय पर ध्यान न देते तुम तथापि माता-सँग
ऐसा करके तुम मत डालो मुझ पर दुख अति भारी ।। ५६ ।।

धर्म, अर्थ औ काम प्राप्त होते सुधर्म के फल में
धर्मार्थ-काम की, भार्या है जैसे गृह-जीवन में।
काम प्रेम से, धर्म अतिथि-सत्कार, अर्थ है सुत दे
इसी भाँति पुरुषार्थ सुलभ हैं सभी धर्म-पालन में ।। ५७ ।।

जिसमें धर्म आदि पुरुषार्थों का है नहीं समन्वय[1]
कार्य नहीं वह करे, जहाँ है नहीं धर्म-बल अक्षय।
अर्थ-परायण पुरुष लोक में द्वेष-पात्र बन जाता
धर्म-विरुद्ध-कार्य की रुचि से निन्दा होती निश्चय ।। ५८ ।।

पिता नृपति, गुरु, वयोवृद्ध है, मान्य सभी के द्वारा
उनका हर्ष, क्रोध, कामज[2] भी काय मान्य है सारा।
है समुचित सद्धर्म समझकर उनकी आज्ञा-पालन
छोड़ क्रूर को, कौन, पिताज्ञा-पालन में है हारा ।। ५६ ।।

पिता-प्रतिज्ञा-पालन से मै नहीं मोड़ मुख सकता
हम दोनों ही के समर्थ गुरु, इसमें है सार्थकता
माता के तो वे पति, गति हैं एवं धर्म समुत्तम
(तथा नहीं मै कर्मक्षत्र में किसी भाँति थक सकता) ।। ६० ।।

महाराज वे धर्म-प्रवर्तक सकुशल हैं जो जीवित
विशेषतः सद्धर्म-मार्ग पर पूर्णतया हैं सँस्थित।
ऐसी स्थिति मे पति-हीना-सी माँ मेरे सँग चलकर
वन में रहकर कष्ट सहेंगी कैसे भला असीमित ? ।। ६१ ।।

अतः देवि ! तुम आज्ञा दो ! मैं जिससे जाऊँ वन में
और कराओ ! मंगल के हित स्वस्तिक-पाठ भवन में।
जिससे अवधि पूर्ण होने पर फिर सेवा में आऊँ
ज्यो ययाति को मिला स्वर्ग-फल, यहाँ सत्य-पालन मे ।। ६२ ।।

फलद धर्म का त्याग न होगा, धर्म-हीन शासन हित
माँ ! जीवन का समय मनुज का तो होता है परिमित।
(अतः पिताज्ञा के सुधर्म को नही त्याग मै सकता)
यह अधर्मयुत तुच्छ धरणि का राज्य न मुझको इच्छित ।। ६३ ।।

---

१ संयोग, मिलन; २ काम विकार से उत्पन्न।

प्रसादयन्नरवृषभः स मातरं
पराक्रमाज्जिगमिषुरेव दण्डकान् ।
अथानुजं भृशमनुशास्य दर्शनं
चकार तां हृदि जननीं प्रदक्षिणम् ॥ ६४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

श्रीराम का लक्ष्मण को समझाते हुए अपने वनवास में दैव को ही कारण बताना और अभिषेक की सामग्री को हटा लेने का आदेश देना

अथ तं व्यथया दीनं सविशेषममर्षितम् ।
सरोषमिव नागेन्द्रं रोषविस्फारितेक्षणम् ॥ १ ॥
आसाद्य रामः सौमित्रिं सुहृदं भ्रातरं प्रियम् ।
उवाचेदं स धैर्येण धारयन् सत्त्वमात्मवान् ॥ २ ॥
निगृह्य रोषं शोकं च धैर्यमाश्रित्य केवलम् ।
अवमानं निरस्यैनं गृहीत्वा हर्षमुत्तमम् ॥ ३ ॥
उपक्लृप्तं यदेतन्मे अभिषेकार्थमुत्तमम् ।
सर्वं निवर्तय क्षिप्रं कुरु कार्यं निरव्ययम् ॥ ४ ॥
सौमित्रे योऽभिषेकार्थे मम सम्भारसम्भ्रमः ।
अभिषेकनिवृत्त्यर्थे सोऽस्तु सम्भारसम्भ्रमः ॥ ५ ॥
यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यते ।
माता नः सा यथा न स्यात् सविशङ्का तथा कुरु ॥ ६ ॥
तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे ।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम् ॥ ७ ॥
न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन ।
मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम् ॥ ८ ॥
सत्यः सत्याभिसंधश्च नित्यं सत्यपराक्रमः ।
परलोकभयाद् भीतो निर्भयोऽस्तु पिता मम ॥ ९ ॥
तस्यापि हि भवेदस्मिन् कर्मण्यप्रतिसंहृते ।
सत्यं नेति मनस्तापस्तस्य तापस्तपेच्च माम् ॥ १० ॥
अभिषेकविधानं तु तस्मात् संहृत्य लक्ष्मण ।
अन्वगेवाहमिच्छामि वनं गन्तुमितः पुरः ॥ ११ ॥

धैर्यपूर्वक नृवर राम ने माँ को बात बताई
उन्हें मनाने के प्रयत्न में सारी बुद्धि लगाई।
लक्ष्मण को भी भलीभाँति से धर्म-रहस्य बताकर
माता की फिर परिक्रमा की मन में सुरुचि समाई॥ ६४॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त॥ २१॥

बाईसवाँ सर्ग

श्रीराम का लक्ष्मण को समझाते हुए अपने वनवास में दैव को ही कारण बताना और अभिषेक की सामग्री को हटा लेने का आदेश देना

क्रोध, अमर्ष[1], दु:ख-पूरित थे, तब सौमित्र राम के भ्राता।
उनका विस्तृत नयन क्रुद्ध मुख था गजेन्द्र-मुख-सा दिखलाता॥ १॥
निर्विकार[2], अतिधीर, संयमी, निज को वश मे रखनेवाले।
बोले, सुहृद् हितैषी भ्राता से राघव तब वचन (निराले)॥ २॥
लक्ष्मण! धैर्याश्रित होकर तुम! क्रोध, शोक सब दूर हटाओ।
त्यागो! अब अपमान-भावना, और हृदय में हर्ष बढ़ाओ॥
अभिषिञ्चन की सामग्री को यथाशीघ्र तुम दूर करो! अब।
ऐसा यत्न करो! जिससे वन-गमन हेतु हों विघ्न दूर सब॥ ३-४॥
था अभिषेक-वस्तु-सञ्चय में, लक्ष्मण! जो उत्साह तुम्हारा।
वह अभिषेक-रोकने, वन को जाने में लग जाये सारा॥ ५॥
मेरा अभिषिञ्चन है जिसके मन को अति संतप्त बनाता।
ऐसा करो! न शंकित होवे अब मेरी कैकेयी माता॥ ६॥
शंका, दु:ख न उनके मन में दो घटिका[3] को मैं लाऊँगा।
और न उनकी आज्ञा को मैं कभी उपेक्षित कर पाऊँगा॥ ७॥
पिता तथा माताओं के प्रति मुझसे कुछ अपराध कहीं है।
जाने-अनजाने में, ऐसा हुआ कभी, यह याद नहीं है॥ ८॥
पिता सत्यवादी, पराक्रमी हैं परलोक-भीति से डरते।
अत: चाहिए, उन्हें न यह भय हो, वह कार्य रहें हम करते॥ ९॥
पिता-वचन-पालन से, सिञ्चन-कार्य न यदि मम रुक पाएगा।
तो अनर्थ से उनका, मेरा मनस्ताप अति बढ़ जाएगा॥ १०॥
चाह रहा इससे लक्ष्मण! मैं सिञ्चन-कार्य शीघ्र रुकवाना।
और चाहता शीघ्र नगर से दण्डक वन को अब मै जाना॥ ११॥

---

१ क्षोभ, असहिष्णुता; २ विकार-रहित; ३ घड़ी।

मम प्रव्राजनादद्य कृतकृत्या नृपात्मजा।
सुतं भरतमव्यग्रमभिषेचयतां ततः॥ १२॥
मयि चीराजिनधरे जटामण्डलधारिणि।
गतेऽरण्यं च कैकेय्या भविष्यति मनः सुखम्॥ १३॥
बुद्धिः प्रणीता येनेयं मनश्च सुसमाहितम्।
तं नु नार्हामि संक्लेष्टुं प्रव्रजिष्यामि मा चिरम्॥ १४॥
कृतान्त एव सौमित्रे द्रष्टव्यो मत्प्रवासने।
राज्यस्य च वितीर्णस्य पुनरेव निवर्तने॥ १५॥
कैकेय्याः प्रतिपत्तिर्हि कथं स्यान्मम वेदने।
यदि तस्या न भावोऽयं कृतान्तविहितो भवेत्॥ १६॥
जानासि हि यथा सौम्य न मातृषु ममान्तरम्।
भूतपूर्वं विशेषो वा तस्या मयि सुतेऽपि वा॥ १७॥
सोऽभिषेकनिवृत्त्यर्थैः प्रवासार्थैश्च दुर्वचैः।
उग्रैर्वाक्यैरहं तस्या नान्यद् दैवात् समर्थये॥ १८॥
कथं प्रकृतिसम्पन्ना राजपुत्री तथागुणा।
ब्रूयात् सा प्राकृतेव स्त्री मत्पीड्यं भर्तृसंनिधौ॥ १९॥
यदचिन्त्यं तु तद् दैवं भूतेष्वपि न हन्यते।
व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः॥ २०॥
कश्च दैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान्।
यस्य नु ग्रहणं किंचित् कर्मणोऽन्यन्न दृश्यते॥ २१॥
सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ।
यस्य किंचित् तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्॥ २२॥
ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रचोदिताः।
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान् भ्रश्यन्ते काममन्युभिः॥ २३॥
असंकल्पितमेवेह यदकस्मात् प्रवर्तते।
निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननु दैवस्य कर्म तत्॥ २४॥
एतया तत्त्वया बुद्ध्या संस्तभ्यात्मानमात्मना।
व्याहतेऽप्यभिषेके मे परितापो न विद्यते॥ २५॥
तस्मादपरितापः संस्त्वमप्यनुविधाय माम्।
प्रतिसंहारय क्षिप्रमाभिषेचनिकीं क्रियाम्॥ २६॥
एभिरेव घटैः सर्वैरभिषेचनसम्भृतैः।
मम लक्ष्मण तापस्ये व्रतस्नानं भविष्यति॥ २७॥
अथवा किं ममैतेन राज्यद्रव्यमयेन तु।
उद्धृतं मे स्वयं तोयं व्रतादेशं करिष्यति॥ २८॥

जाने से कृतार्थ कैकेयी राज-सुता निर्भय हो जायें।
एवं हो निश्चिन्त, भरत का स्वेच्छा से अभिषेक करायें ॥ १२ ॥
मैं वल्कल, मृगचर्म, जटाधर होकर जाऊँगा जब वन में।
तब सुख होगा बहुत उस समय निश्चय कैकेयी के मन में ॥ १३ ॥
जिस विधि ने दी बुद्धि, प्रेरणा दृढ़तम कैकेयी के मन में।
समुचित नहीं, विफल कर देना, अतः उचित है जाना वन में ॥ १४ ॥
राज्यच्युत कर, पिता कर रहे जो मेरा गृह से निस्सारण।
उसमें है सौमित्र! सर्वथा, समझो! एक दैव ही कारण ॥ १५ ॥
कैकेयी-उर अशुभ भाव यह, दैव-विधान मुझे दिखलाता।
'वन-पीड़ा का भाव' कैकयी में अन्यथा भला क्यों आता ॥ १६ ॥
तुम्हें ज्ञात है, माताओं में भेद-विभेद न मुझमें आया।
तथा भरत औ मेरे प्रति ही कैकेयी उर अन्तर पाया ॥ १७ ॥
अभिषिञ्चन रोकने, वन-गमन हित नृप को करने में प्रेरित।
कहे दैव-वश ही कैकेयी ने कटु वचन क्रूर औ अनुचित ॥ १८ ॥
राजसुता सरला कैकेयी गुणवन्ती अन्यथा न करती।
सामान्य नारिवत् पति से मुझको पीड़ा देने को क्यों कहती ? ॥ १९ ॥
प्राणिमात्र औ देवों में भी नहीं दैव के खण्डन का बल।
अतः उसी से कैकेयी की प्रेरित मति भी गयी है बदल ॥ २० ॥
कर्मज दुख, सुख-फलप्राप्ति से ही जिसका निर्णय हो पाता।
ऐसे भला 'दैव' से जूझे, यह साहस किसमें दिखलाता ॥ २१ ॥
लाभ, हानि, उत्पत्ति, नाश, सुख दुःख, क्रोध, भय, जो जन पाता।
वह सब दैव-कर्म है, जिसका कारण नहीं समझ में आता ॥ २२ ॥
दैव-प्र-प्रेरित उग्र तपस्वी ऋषि भी विपथ नियम से होकर।
होते मर्यादा-विभ्रष्ट हैं काम-क्रोध के वश में आकर ॥ २३ ॥
सहसा सोच-विचार बिना चल रहे कार्य में बाधा पड़ती।
बाधा है, समझो! वह निश्चय दैवयोग से ही आ पड़ती ॥ २४ ॥
इस तात्त्विक मति से निज मन को सुस्थिर कर लेने के कारण।
अपने सिञ्चन की बाधा से करता नही शोक मैं धारण ॥ २५ ॥
ऐसे ही अपने विचार को तुम मेरे अनुकूल बनाओ!।
ताप-शून्य हो! तुम मेरे इस अभिषिञ्चन को अब रुकवाओ! ॥ २६ ॥
लक्ष्मण! इन अभिषेक-हेतु संयोजित कलशों के जल द्वारा।
मेरे तापस-व्रत-संकल्पित में होगा स्नानादिक सारा ॥ २७ ॥
सच पूछा तो व्यर्थ सकल अभिषिञ्चन-द्रव्य, कलश का यह जल।
व्रतादेश का साधक होगा मेरे द्वारा एकत्रित जल ॥ २८ ॥

मा च लक्ष्मण संतापं कार्षीर्लक्ष्म्या विपर्यये।
राज्यं वा वनवासो वा वनवासो महोदयः ॥ २९ ॥
न लक्ष्मणास्मिन् मम राज्यविघ्ने
माता यवीयस्यभिशङ्कितव्या।
दैवाभिपन्ना न पिता कथंचि-
ज्जानासि दैवं हि तथाप्रभावम् ॥ ३० ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

लक्ष्मण की ओज-भरी बातें, उनके द्वारा दैव का खण्डन और पुरुषार्थ का प्रतिपादन तथा उनका श्रीराम के अभिषेक के निमित्त विरोधियों से लोहा लेने के लिए उद्यत होना

इति ब्रुवति रामे तु लक्ष्मणोऽवाक्शिरा इव।
ध्यात्वा मध्यं जगामाशु सहसा दैन्यहर्षयोः ॥ १ ॥
तदा तु बद्ध्वा भ्रुकुटीं भ्रुवोर्मध्ये नरर्षभः।
निशश्वास महासर्पो बिलस्थ इव रोषितः ॥ २ ॥
तस्य दुष्प्रतिवीक्ष्यं तद् भ्रुकुटीसहितं तदा।
बभौ क्रुद्धस्य सिंहस्य मुखस्य सदृशं मुखम् ॥ ३ ॥
अग्रहस्तं विधुन्वंस्तु हस्ती हस्तमिवात्मनः।
तिर्यगूर्ध्वं शरीरे च पातयित्वा शिरोधराम् ॥ ४ ॥
अग्राक्ष्णा वीक्षमाणस्तु तिर्यग्भ्रातरमब्रवीत्।
अस्थाने सम्भ्रमो यस्य जातो वै सुमहानयम् ॥ ५ ॥
धर्मदोषप्रसङ्गेन लोकस्यानतिशङ्कया।
कथं ह्येतदसम्भ्रान्तस्त्वद्विधो वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥
यथा ह्येवमशौण्डीरं शौण्डीरः क्षत्रियर्षभः।
किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि ॥ ७ ॥
पापयोस्ते कथं नाम तयोः शङ्का न विद्यते।
सन्ति धर्मोपधासक्ता धर्मात्मन् किं न बुध्यसे ॥ ८ ॥
तयोः सुचरितं स्वार्थं शाठ्यात् परिजिहीर्षतोः।
यदि नैवं व्यवसितं स्याद्धि प्रागेव राघव।
तयोः प्रागेव दत्तश्च स्याद् वरः प्रकृतश्च सः ॥ ९ ॥

राज्य और वनवास बराबर हैं मेरे को निश्चय लक्ष्मण ! ।
चिन्ता छोड़ो ! मुझको प्रतीत, वनवास-अभ्युदय का लक्षण ।। २९ ।।

लक्ष्मण ! मेरे अभिषिञ्चन में सबसे छोटी माता
कारण यही, दैव का उन पर है प्रभाव दिखलाता ।
और पिता भी इन सबमें है नहीं सर्वथा कारण
तुम तो अद्‌भुत दैव-योग के स्वयं भली विधि ज्ञाता ।। ३० ।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में बाईसवाँ सर्ग समाप्त ।। २२ ।।

तेईसवाँ सर्ग

लक्ष्मण की ओज-भरी बातें, उनके द्वारा दैव का खण्डन और पुरुषार्थ का प्रतिपादन तथा उनका श्रीराम के अभिषेक के निमित्त विरोधियों से लोहा लेने के लिए उद्यत होना

राम-कथन के समय, सोचते थे लक्ष्मण कुछ शीश झुकाये ।
अकस्मात् वे शोक-हर्ष की मध्यस्थिति में सहसा आये ।। १ ।।
तब ललाट में भौंह चढ़ाकर साँसें लगे खीचने वैसे ।
बिल में बैठा सर्प भयानक क्रोधित हो फुफकारे जैसे ।। २ ।।
कुपित सिंह-सा मुख था उनका तनी हुई भौंहों से सारा ।
उन्हें देखना बहुत कठिन था, साधारण पुरुषों के द्वारा ।। ३ ।।
हस्ति-शुण्ड-सम निज दक्षिण कर तब वे इधर-उधर फड़काते ।
थे अपनी गर्दन को भी वे, अगल-बगल सब ओर घुमाते ।।
फिर बोले तरेर नयनों को वक्र दृष्टि से प्रभु रघुवर से ।
आप समझते विपिन न जाना, पूर्ण अवज्ञा पिता प्रवर से ! ।। ४-५ ।।
इस धर्मोल्लंघन से होगी, लोगों में शंका यह भारी ।
कैसे पालेंगे सुधर्म को, पितु के आप अवज्ञाकारी ? ।।
किन्तु अन्य जन भी सोचेंगे, जो होगे मेरे विचार-सम ।
दैव-प्रशंसा क्यों करते है ? जब श्रीमन् में गुण सर्वोत्तम ।। ६-७ ।।
धर्मात्मन् ! उन पापी-द्वय पर क्यों संदेह नही हैं लाते ? ।
क्या न जानते ! पापी जन हैं क्या-क्या धार्मिक ढोंग रचाते ? ।। ८ ।।
स्वार्थ, शाठ्य-वश, सच्चरित्र का त्याग कर रहे वे, रघुनन्दन ।
यदि यह सत्य न, तो पहले ही होता भरत-राज्य-अभिषिञ्चन ।।
वर-वार्ता सच्ची यदि होती, तो वह कार्य प्रथम हो जाता ।
(और आपके अभिषिञ्चन का कार्य और नाम ही न आता) ।। ९ ।।

लोकविद्विष्टमारब्धं त्वदन्यस्याभिषेचनम्।
नोत्सहे सहितुं वीर तत्र मे क्षन्तुमर्हसि ॥ १० ॥
येनैवमागता द्वैधं तव बुद्धिर्महामते।
सोऽपि धर्मो मम द्वेष्यो यत्प्रसङ्गाद् विमुह्यसि ॥ ११ ॥
कथं त्वं कर्मणा शक्तः कैकेयीवशवर्तिनः।
करिष्यसि पितुर्वाक्यमधर्मिष्ठं विगर्हितम् ॥ १२ ॥
यदयं किल्बिषाद् भेदः कृतोऽप्येवं न गृह्यते।
जायते तत्र मे दुःखं धर्मसङ्गश्च गर्हितः ॥ १३ ॥
तवायं धर्मसंयोगो लोकस्यास्य विगर्हितः।
मनसापि कथं कामं कुर्यात् त्वां कामवृत्तयोः।
तयोस्त्वहितयोर्नित्यं शत्र्वोः पित्रभिधानयोः ॥ १४ ॥
यद्यपि प्रतिपत्तिस्ते दैवी चापि तयोर्मतम्।
तथाप्युपेक्षणीयं ते न मे तदपि रोचते ॥ १५ ॥
विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते।
वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते ॥ १६ ॥
दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति ॥ १७ ॥
द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च।
दैवमानुषयोरद्य व्यक्ता व्यक्तिर्भविष्यति ॥ १८ ॥
अद्य मे पौरुषहतं दैवं द्रक्ष्यन्ति वै जनाः।
यैर्दैवादाहतं तेऽद्य दृष्टं राज्याभिषेचनम् ॥ १९ ॥
अत्यङ्कुशमिवोद्दामं गजं मदजलोद्धतम्।
प्रधावितमहं दैवं पौरुषेण निवर्तये ॥ २० ॥
लोकपालाः समस्तास्ते नाद्य रामाभिषेचनम्।
न च कृत्स्नास्त्रयो लोका विहन्युः किं पुनः पिता ॥ २१ ॥
यैर्विवासस्तवारण्ये मिथो राजन् समर्थितः।
अरण्ये ते विवत्स्यन्ति चतुर्दश समास्तथा ॥ २२ ॥
अहं तदाशां धक्ष्यामि पितुस्तस्याश्च या तव।
अभिषेकविघातेन पुत्रराज्याय वर्तते ॥ २३ ॥
मद्बलेन विरुद्धाय न स्याद् दैवबलं तथा।
प्रभविष्यति दुःखाय यथोग्रं पौरुषं मम ॥ २४ ॥
ऊर्ध्वं वर्षसहस्रान्ते प्रजापाल्यमनन्तरम्।
आर्यपुत्राः करिष्यन्ति वनवासं गते त्वयि ॥ २५ ॥

होगा लोक-विरुद्ध, आपको त्याग, अन्य का हो अभिषिञ्चन।
क्षमा करें! अन्याय इस तरह्, होगा मुझसे नहीं अब सहन ।। १० ।।
महामते! है पिता वचन से, दुविधा हुई आपकी मति में।
मैं हूँ घोर विरोधी, यह है धर्म नहीं मेरी सम्मति में ।। ११ ।।
आप स्वकीय पराक्रम से हैं, सब समर्थ जब रघुवर ऐसे।
कैकेयी-प्रेरित धर्म-विमुख नृप-आज्ञा-पालन तब कैसे? ।। १२ ।।
मिथ्या वर की चर्चा गढ़कर, किया तुम्हें अभिसिञ्चन-वर्जित।
नहीं मानते आप! दुःख है, कपट-धर्म पर श्रद्धा निन्दित ।। १३ ।।
है पाखण्डी धर्म-वृत्ति यह, जन-समुदाय-दृष्टि में गर्हित।
होगा कौन? आपको तजकर, स्वारथ के वचनों पर मोहित ।।
सुत का अहित चाहनेवाले, नाम मात्र के पितु-माता हैं।
शत्रु-सदृश, कामान्ध, भला उन पर विश्वास कौन लाता है? ।। १४ ।।
हो न आपका अभिसिञ्चन, यह आप बताते, राम! 'दैव-कृत'।
मुझे नहीं प्रिय यह विचार भी, इसको कर सर्वथा विस्मृत ।। १५ ।।
कायर, विक्रम-हीन, दीन जन, लेते सदा 'दैव' का आश्रय।
वीर, प्रतिष्ठित, शक्तिवान जन देते नहीं 'दैव' को प्रश्रय ।। १६ ।।
दैव-कोप का दमन सदा करता समर्थ पौरुष के द्वारा।
कभी न क्षुब्ध दैव के सम्मुख, उससे दैव सर्वदा हारा ।। १७ ।।
दैव और पुरुषार्थ —कौन इन दोनों में प्रचण्ड-दुर्जय है?।
दुर्बल-दीन कौन? जग-सम्मुख होना आज यही निश्चय है ।। १८ ।।
राजतिलक रुक गया, जिन्होंने देखा आज दैव के कारण।
वे ही निज नयनों से निरखें मम कर उसी दैव का मारण ।। १९ ।।
अंकुश की परवाह न बन्धन के वश में, बहती मद-धारा।
मत्त गयन्द 'दैव' को लौटा दूँगा निज पौरुष के द्वारा ।। २० ।।
त्रिभुवन-प्राणी, लोकपाल सब, आज राम-राज्याभिषेक को।
रोक न पाएँगे, फिर क्या मैं कहूँ पिता के बल-विवेक को ।। २१ ।।
आपस में जिन लोगों ने है किया तात! वनवास-समर्थन।
स्वयं वही चौदह वर्षों तक छिपे रहेंगे जा करके वन ।। २२ ।।
पिता, और जो राज्य दे रही निज सुत को, अभिषेक हटाकर।
उन दोनों की आशाओं को कर दूँगा मैं भस्म जलाकर ।। २३ ।।
जो मेरे विरोध में होगा, मम पौरुष से दुख पाएगा।
उसकी तुलना में न दैव-बल, सुख उसको पहुँचा पाएगा ।। २४ ।।
आप! अवस्था-क्रम से वर्षों बाद विपिन को जब जाएँगे।
श्रीमन् के पुत्र ही प्रजा के पालन पद पर आ जाएँगे ।। २५ ।।

पूर्वराजर्षिवृत्त्या हि वनवासोऽभिधीयते ।
प्रजा निक्षिप्य पुत्रेषु पुत्रवत् परिपालने ॥ २६ ॥
स चेद् राजन्यनेकाग्रे राज्यविभ्रमशङ्कया ।
नैवमिच्छसि धर्मात्मन् राज्यं राम त्वमात्मनि ॥ २७ ॥
प्रतिजाने च ते वीर मा भूवं वीरलोकभाक् ।
राज्यं च तव रक्षेयमहं वेलेव सागरम् ॥ २८ ॥
मङ्गलैरभिषिञ्चस्व तत्र त्वं व्यापृतो भव ।
अहमेको महीपालानलं वारयितुं बलात् ॥ २९ ॥
न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे ।
नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः ॥ ३० ॥
अमित्रमथनार्थाय सर्वमेतच्चतुष्टयम् ।
न चाहं कामयेऽत्यर्थं यः स्याच्छत्रुर्मतो मम ॥ ३१ ॥
असिना तीक्ष्णधारेण विद्युच्चलितवर्चसा ।
प्रगृहीतेन वै शत्रुं वज्रिणं वा न कल्पये ॥ ३२ ॥
खड्गनिष्पेषनिष्पिष्टैर्गहना दुश्चरा च मे ।
हस्त्यश्वरथिहस्तोरुशिरोभिर्भविता मही ॥ ३३ ॥
खड्गधाराहता मेऽद्य दीप्यमाना इवाग्नयः ।
पतिष्यन्ति द्विषो भूमौ मेघा इव सविद्युतः ॥ ३४ ॥
बद्धगोधाङ्गुलित्राणे प्रगृहीतशरासने ।
कथं पुरुषमानी स्यात् पुरुषाणां मयि स्थिते ॥ ३५ ॥
बहुभिश्चैकमत्यस्यन्नेकेन च बहूञ्जनान् ।
विनियोक्ष्याम्यहं बाणान्नृवाजिगजमर्मसु ॥ ३६ ॥
अद्य मेऽस्त्रप्रभावस्य प्रभावः प्रभविष्यति ।
राज्ञश्चाप्रभुतां कर्तुं प्रभुत्वं च तव प्रभो ॥ ३७ ॥
अद्य चन्दनसारस्य केयूरामोक्षणस्य च ।
वसूनां च विमोक्षस्य सुहृदां पालनस्य च ॥ ३८ ॥
अनुरूपाविमौ बाहू राम कर्म करिष्यतः ।
अभिषेचनविघ्नस्य कर्तॄणां ते निवारणे ॥ ३९ ॥
ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां
तवासुहृत् प्राणयशःसुहृज्जनैः ।
यथा तवेयं वसुधा वशा भवेत्
तथैव मां शाधि तवास्मि किंकरः ॥ ४० ॥

पूर्व राजऋषि-परम्परा से पुत्र प्रजा-पालन-पद पाता।
और वृद्ध नृप का वन में ही, तब निवास उत्तम कहलाता॥ २६ ॥
वानप्रस्थ न ले, पितु नृप हैं, अतः अवज्ञा में यदि है भय।
प्रजा आपकी विद्रोही हो, तो यह त्याग दीजिए संशय॥ २७ ॥
भू-तल ज्यों रोकता सिंधु को आज प्रतिज्ञा प्रभु! मैंने की।
मिले न मुझको वीरलोक, यदि रक्षा कर न सकूँ श्रीमन् की॥ २८ ॥
अतः मांगलिक सामग्री से, होने दें! अपना अभिषिञ्चन।
एक अकेला, विमुख नृपों की गति का मैं कर दूंगा भञ्जन॥ २९ ॥
धनुष नहीं आभूषण मेरा, नहीं भुजाएँ हैं शोभा-हित।
खड्ग न केवल कटि की छबि है, स्तम्भ न होंगे शर से निर्मित॥ ३० ॥
शत्रु-विनाशक हैं ये चारों, जिसको मैं निज शत्रु समझता।
उसे न जीवित मैं छोड़ूंगा अब कदापि, निश्चय प्रण करता॥ ३१ ॥
तीक्ष्ण धार वाली असि कर में होती मम विद्युत्-सी चञ्चल।
इससे होंगे शत्रु नष्ट सब, चाहे हों वे इन्द्र महाबल॥ ३२ ॥
असि-प्रहार से पिसे अश्व, गज, रथियों के कर, जंघा, मस्तक।
पृथ्वी उनसे पट जायेगी, होगा दुष्कर तव चलना तक॥ ३३ ॥
रक्त-सिक्त असि-खण्डित रिपु-गण अनल-सदृश तब दिखलायेंगे।
और सविद्युत् मेघों-सम वह गिरकर पृथ्वी पर आयेंगे॥ ३४ ॥
पहन चर्म-दस्ताने, धनु ले, जब रण हित मैं डट जाऊँगा।
तब न सामने, बल के अभिमानी रिपु को टिकता पाऊँगा॥ ३५ ॥
एक बाण से रिपु अनेक, नाना शर से रिपु एक प्रबल को।
मार गिराऊँगा, बेधूंगा हय-गज-मानव-मर्मस्थल को॥ ३६ ॥
दशरथ-राज्य-विनाश और फिर, प्रभो! आपकी राज्यस्थिति हित।
अस्त्र-बली मुझ लक्ष्मण का अब, होगा शीघ्र प्रभाव प्रकाशित॥ ३७ ॥
दान, सुहृद्-पालन, भूषण-चन्दन-विलेप हित युगल भुजाएँ।
राम! देखिये वही आज रिपु पर कैसी सामर्थ्य दिखाएँ॥
डाल रहे जो विघ्न, आपके अभिषिञ्चन में इस अवसर पर।
उन्हें रोकने-हेतु सुविक्रम दिखलाऊँगा आज प्रबलतर॥३८-३९॥

प्रभो! आपके किस रिपु को मैं प्राण-विहीन बनाऊँ
यश, सुहृदों से उसे सदा के लिए दूर पहुँचाऊँ।
किस उद्यम से पृथ्वी-शासन हाथ-आपके आये
मैं हूँ दास आपका, कहिये! क्या कर्तव्य निभाऊँ॥ ४० ॥

विमृज्य बाष्पं परिसान्त्व्य चासकृत्
स लक्ष्मणं राघववंशवर्धनः ।
उवाच पित्रोर्वचने व्यवस्थितं
निबोध मामेष हि सौम्य सत्पथः ॥ ४१ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशः सर्गः

विलाप करती हुई कौसल्या का श्रीराम से अपने को भी साथ ले चलने के लिए आग्रह करना तथा पति की सेवा ही नारी का धर्म है, यह बताकर श्रीराम का उन्हें रोकना और वन जाने के लिए उनकी अनुमति प्राप्त करना

तं समीक्ष्य व्यवसितं पितुर्निर्देशपालने ।
कौसल्या बाष्पसंरुद्धा वचो धर्मिष्ठमब्रवीत् ॥ १ ॥
अदृष्टदुःखो धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ।
मयि जातो दशरथात् कथमुञ्छेन वर्तयेत् ॥ २ ॥
यस्य भृत्याश्च दासाश्च मृष्टान्यन्नानि भुञ्जते ।
कथं स भोक्ष्यते रामो वने मूलफलान्ययम् ॥ ३ ॥
क एतच्छ्रद्दधेच्छ्रुत्वा कस्य वा न भवेद् भयम् ।
गुणवान् दयितो राज्ञः काकुत्स्थो यद् विवास्यते ॥ ४ ॥
नूनं तु बलवाँल्लोके कृतान्तः सर्वमाविशन् ।
लोके रामाभिरामस्त्वं वनं यत्र गमिष्यसि ॥ ५ ॥
अयं तु मामात्मभवस्तवादर्शनमारुतः ।
विलापदुःखसमिधो रुदिताश्रुहुताहुतिः ॥ ६ ॥
चिन्ताबाष्पमहाधूमस्तवागमनचिन्तजः ।
कर्शयित्वाधिकं पुत्र निःश्वासायाससम्भवः ॥ ७ ॥
त्वया विहीनामिह मां शोकाग्निरतुलो महान् ।
प्रधक्ष्यति यथा कक्षं चित्रभानुर्हिमात्यये ॥ ८ ॥
कथं हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तमनुगच्छति ।
अहं त्वानुगमिष्यामि यत्र वत्स गमिष्यसि ॥ ९ ॥
यथा निगदितं मात्रा तद् वाक्यं पुरुषर्षभः ।
श्रुत्वा रामोऽब्रवीद् वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥ १० ॥

वंश-वृद्धिकर राम, इस तरह लक्ष्मण-वार्ता सुनकर
उनके आँसू पोंछ, सान्त्वना देकर बोले रघुवर।
मात-पिता की आज्ञा पर ही, समझो! मुझे सुदृढ़तर
सौम्य! यही सत्पुरुषों का है पंथ समुत्तम हितकर॥ ४१ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में तेईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २३ ॥

चौबीसवाँ सर्ग

विलाप करती हुई कौसल्या का श्रीराम से अपने को भी साथ ले चलने के लिए आग्रह करना तथा पति की सेवा ही नारी का धर्म है, यह बताकर श्रीराम का उन्हें रोकना और वन जाने के लिए उनकी अनुमति प्राप्त करना

कौसल्या ने देखा जब, हैं राम पिताज्ञा-पालन-तत्पर।
अश्रु रुद्ध वाणी में बोलीं, तब वे धर्मात्मा से सत्वर॥ १ ॥
प्राणि-मात्र से प्रिय-भाषी जो कभी न देखा दुख, दशरथ-सुत!।
वन में सीला* बीन उदर की पूर्ति करेगा हा! सुधर्म-युत॥ २ ॥
जिसके दास भृत्य खाते हैं अन्न शुद्ध, स्वादिष्ट सर्वथा।
वही राम किस तरह सहेंगे? बन-फल, मूलाहार की व्यथा॥ ३ ॥
भूपप्रिय काकुत्स्थ-गुणी को बन-निवास-आज्ञा का निर्णय।
सुनकर तब विश्वास करेगा कौन? न होगा तब किसको भय?॥ ४ ॥
दैव-प्रधान! दैव-आज्ञा से सुख-दुख मिलता सबको तद्वत्।
क्योंकि लोक-प्रिय तुम-जैसा भी वन जाने को हुआ समुद्यत॥ ५ ॥
यह विछोह-शोकाग्नि मुझे सुत! किन्तु जलाएगी तब वैसे।
ग्रीष्म-समय का दावानल है समिधा[1] शुष्क जलाता जैसे॥
प्रकट हुई शोकाग्नि हृदय में औ अनदेखा भाव पवन है।
है विलाप-दुख ईंधन, घृत की आहुति रोदन-अश्रु पतन है॥
धुआँ प्रकट मेरी साँसें, कब आओगे? चिन्ताग्नि प्रबल है।
इसे बुझाने को निश्चय ही मम सुत! राम मात्र ही जल है॥ ६-८॥
सुत! अपने बछड़े के पीछे धेनु चली जाती है जैसे।
तुम जाओगे जहाँ! चलूँगी मैं भी पीछे-पीछे वसे॥ ९ ॥
सुनकर माता कौसल्या के वे रामचन्द्र दुख-भरे वचन।
बोले उनसे, डूब रहा था दु:ख-सिन्धु में तब जिनका मन॥ १० ॥

---

* खेतों से फ़सल उठ जाने के बाद बचे हुए अन्न के दाने को 'सीला' कहते हैं; 1 लकड़ी।

कैकेय्या वञ्चितो राजा मयि चारण्यमाश्रिते ।
भवत्या च परित्यक्तो न नूनं वर्तयिष्यति ॥ ११ ॥
भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः ।
स भवत्या न कर्तव्यो मनसापि विगर्हितः ॥ १२ ॥
यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः ।
शुश्रूषा क्रियतां तावत् स हि धर्मः सनातनः ॥ १३ ॥
एवमुक्ता तु रामेण कौसल्या शुभदर्शना ।
तथेत्युवाच सुप्रीता राममक्लिष्टकारिणम् ॥ १४ ॥
एवमुक्तस्तु वचनं रामो धर्मभृतां वरः ।
भूयस्तामब्रवीत् वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥ १५ ॥
मया चैव भवत्या च कर्तव्यं वचनं पितुः ।
राजा भर्ता गुरुः श्रेष्ठः सर्वेषामीश्वरः प्रभुः ॥ १६ ॥
इमानि तु महारण्ये विहृत्य नव पञ्च च ।
वर्षाणि परमप्रीत्या स्थास्यामि वचने तव ॥ १७ ॥
एवमुक्ता प्रियं पुत्रं बाष्पपूर्णानना तदा ।
उवाच परमार्ता तु कौसल्या सुतवत्सला ॥ १८ ॥
आसां राम सपत्नीनां वस्तुं मध्ये न मे क्षमम् ।
नय मामपि काकुत्स्थ वनं वन्यां मृगीमिव ॥ १९ ॥
यदि ते गमने बुद्धिः कृता पितुरपेक्षया ।
तां तथा रुदतीं रामो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥
जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवतं प्रभुरेव च ।
भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः ॥ २१ ॥
न ह्यनाथा वयं राज्ञा लोकनाथेन धीमता ।
भरतश्चापि धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ॥ २२ ॥
भवतीमनुवर्तेत स हि धर्मरतः सदा ।
यथा मयि तु निष्क्रान्ते पुत्रशोकेन पार्थिवः ॥ २३ ॥
श्रमं नावाप्नुयात् किंचिदप्रमत्ता तथा कुरु ।
दारुणश्चाप्ययं शोको यथैनं न विनाशयेत् ॥ २४ ॥
राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता ।
व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा ॥ २५ ॥
भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत् ।
भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ॥ २६ ॥
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात् ।
शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता ॥ २७ ॥

छला नृपति को कैकेयी ने, माँ! मैं भी हूँ वन को जाता।
उनको यदि त्यागोगी तुम भी तो नृप-जीवन नष्ट दिखाता॥ ११ ॥
पति का त्याग नारि द्वारा है क्रूर कर्म यह जग बतलाता।
सत्पुरुषों से निन्द्य कार्य यह मातु! न तुमको शोभा पाता॥ १२ ॥
काकुत्स्थ पिता जीवित, तब तक उनकी सेवा करना, माता!।
सेवा पति की करो, नारि को यही सनातन धर्म बताता॥ १३ ॥
शुभ-दर्शना मुदित कौसल्या राम-वचन सुन करके ऐसा।
बोल उठीं सत्कर्मि राम से, होगा सुत! कहते तुम जैसा॥ १४ ॥
अकस्मात् माता की शुभ मति, स्वीकृति उनकी ऐसे पाकर।
दु:ख-भरी कौसल्या से तब बोले वचन नम्र अति रघुवर॥ १५ ॥
अम्ब! पिताज्ञा-पालन करना हम दोनों का ही सुकृत्य है।
क्योंकि स्वामि-प्रभु, ईश्वर, गुरु, नरपति का शाश्वत स्थान नित्य है॥ १६ ॥
इन चौदह वर्षों तक वन में विचरण करके फिर आऊँगा।
और प्रेम से अम्ब! तुम्हारी सेवा करके सुख पाऊँगा॥ १७ ॥
बही अश्रु-धारा, कौसल्या पुत्र-वत्सला के फिर मुख पर।
तथा आर्त होकर वे बोली प्रिय सुत से फिर कुछ विचार कर॥ १८ ॥
राम! न मुझसे रहा जायगा, सौतों बीच कदापि भवन में।
अत: सुनिश्चय किया पिताज्ञा - पालन में जाना यदि वन में॥
तब मुझको भी साथ ले चलो वनवासिनि हरिणी-जीवन में।
माँ को रोती देख, राम भी रोकर बोले मधुर वचन में॥१९-२०॥
माँ! नारी-जीवन में उसके लिए देवता, ईश्वर पति है।
महाराज हम दोनों के प्रभु, हम दोनों की उनमें गति है॥ २१ ॥
मत अनाथ समझो! जगदीश्वर, सुधी नृपति जब तक है जीवित।
सभी प्राणियों से प्रियभाषी धर्मात्मा हैं भरत असीमित॥
अत: करेंगे वे भी सेवा और अनुसरण सदा तुम्हारा।
कष्ट न हो मेरे जाने पर नृप को पुत्र-शोक के द्वारा॥
अत: करो! अब कार्य वही तुम! सावधान हो उद्यमशीला!।
हो न समाप्त कहीं शोकातुर भूपति की यह जीवन-लीला!॥२२-२४॥
सावधान हो वृद्ध नृपति के हित-साधन में रहना तत्पर।
क्योंकि जाति, गुण से उत्तम भी, नारी-व्रत, उपवास आदि कर॥
पति-सेवा यदि कर न सकी, तो उसे पापि-गति ही का कु-मिलन।
और अन्य देवों का करती नहीं कभी जो पूजन, वन्दन॥
केवल पति-सेवा से वह नारी निश्चय करती स्वर्ग-गमन।
अत: चाहिए नारी को, वह करे सदा पति-हित-अभिनन्दन॥२५-२७॥

न शक्यसे वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम।
शीघ्रं च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे॥ २॥
यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु॥ ३॥
येभ्यः प्रणमसे पुत्र देवेष्वायतनेषु च।
ते च त्वामभिरक्षन्तु वने सह महर्षिभिः॥ ४॥
यानि दत्तानि तेऽस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता।
तानि त्वामभिरक्षन्तु गुणैः समुदितं सदा॥ ५॥
पितृशुश्रूषया पुत्र मातृशुश्रूषया तथा।
सत्येन च महाबाहो चिरं जीवाभिरक्षितः॥ ६॥
समित्कुशपवित्राणि वेद्यश्चायतनानि च।
स्थण्डिलानि च विप्राणां शैला वृक्षाः क्षुपा ह्रदाः।
पतङ्गाः पन्नगाः सिंहास्त्वां रक्षन्तु नरोत्तम॥ ७॥
स्वस्ति साध्याश्च विश्वे च मरुतश्च महर्षिभिः।
स्वस्ति धाता विधाता च स्वस्ति पूषा भगोऽर्यमा॥ ८॥
लोकपालाश्च ते सर्वे वासवप्रमुखास्तथा।
ऋतवः षट् च ते सर्वे मासाः संवत्सराः क्षपाः॥ ९॥
दिनानि च मुहूर्ताश्च स्वस्ति कुर्वन्तु ते सदा।
श्रुतिः स्मृतिश्च धर्मश्च पातु त्वां पुत्र सर्वतः॥ १०॥
स्कन्दश्च भगवान् देवः सोमश्च सबृहस्पतिः।
सप्तर्षयो नारदश्च ते त्वां रक्षन्तु सर्वतः॥ ११॥
ते चापि सर्वतः सिद्धा दिशश्च सदिगीश्वराः।
स्तुता मया वने तस्मिन् पान्तु त्वां पुत्र नित्यशः॥ १२॥
शैलाः सर्वे समुद्राश्च राजा वरुण एव च।
द्यौरन्तरिक्षं पृथिवी वायुश्च सचराचरः॥ १३॥
नक्षत्राणि च सर्वाणि ग्रहाश्च सह दैवतैः।
अहोरात्रे तथा संध्ये पान्तु त्वां वनमाश्रितम्॥ १४॥
ऋतवश्चापि षट् चान्ये मासाः संवत्सरास्तथा।
कलाश्च काष्ठाश्च तथा तव शर्म दिशन्तु ते॥ १५॥
महावनेऽपि चरतो मुनिवेषस्य धीमतः।
तथा देवाश्च दैत्याश्च भवन्तु सुखदाः सदा॥ १६॥

रोक न सकती तुम्हें रघूत्तम ! तुम इस समय विपिन को जाओ ! ।
रहो सत्पुरुष-पथ पर स्थित तुम ! शीघ्र लौटकर वन से आओ ! ॥ २ ॥
पाल रहे जो धर्म मोद से, रघुकुलसिंह ! नियम के द्वारा ।
वही धर्म हो सभी ओर से, संरक्षक सर्वथा तुम्हारा ॥ ३ ॥
सुत ! देवस्थानों में जाकर जिन्हें नमन करते ! सुखकारी ।
महर्षियों के साथ, सभी वे वन में रक्षा करें तुम्हारी ॥ ४ ॥
तुम्हें सुधी ! कौशिक ने जो-जो, अस्त्र दिये हैं सकल गुणान्वित ।
सभी ओर से रक्षक होकर, तुमको करते रहें प्रकाशित ॥ ५ ॥
मातृ-पितृ की सुश्रूषा की, और किया सत्यव्रत पालन ।
सदा इन्हीं से रहो सुरक्षित. चिरजीवी हो सुत ! आजीवन ॥ ६ ॥
मन्दिर, समिधा[1], कुशा, पवित्री और वेदियाँ मख[2] की नरवर !
वेद-देव-पूजा सम्बन्धी स्थल लघु, वृहद् वृक्ष-सँग भूधर ।
पक्षी, सर्प और सिंहादिक तथा जलाशय सब सुखकारी
(सभी भाँति से बनें सहायक और सुरक्षा करें तुम्हारी) ॥ ७ ॥
विश्वेदेव, महर्षि, मरुद्गण, पूषा, भग, अर्यमा आदि सब ।
मंगल करें विधाता, धाता, राघव ! तुम वन में जाओ जब ॥ ८ ॥
इन्द्र आदि सब लोकपाल, षड्ऋतुएँ, रात्रि, दिवस, संवत्सर ।
मास, मुहूर्त आदि मिल करके, करें तुम्हारा मंगल रघुवर ! ॥
पुत्र ! धर्म भी सभी ओर से, रक्षा करता रहे तुम्हारी ।
मंगल रक्षा करें निरन्तर शुभ श्रुतियों-संग स्मृतियाँ सारी ॥ ९-१० ॥
एवं श्री भगवान् स्कन्द जी, सोम, बृहस्पति आदिक सुरवर ।
सभी ओर से रक्षक होवें सातों ऋषि औ नारद ऋषिवर ॥ ११ ॥
सुत ! दिक्पाल, दिशाएँ एवं जग-विख्यात सिद्धगण सारा ।
मेरी स्तुति से तुष्ट सभी हो, वन में मंगल करें तुम्हारा ॥ १२ ॥
राजा वरुण, द्युलोक, शैल सब, अन्तरिक्ष, धरणी औ सागर ।
प्राणी सभी तुम्हारे रक्षक होवें पवन, अखिल सचराचर ॥
ग्रह, नक्षत्र, दिवस, रजनी-सँग सभी देवता युग संध्याएँ ।
वन में रक्षा करें तुम्हारी, और सभी मांगल्य बढ़ाएँ ॥१३-१४॥
कला और काष्ठा, छः ऋतुएं, मास सभी एवं सम्वत्सर ।
सभी तुम्हारे लिए राम ! हो कल्याणप्रद एवं सुखकर ॥ १५ ॥
तुम सम सुधी पुत्र के हित हों विस्तृत वन में विचरणकारी ।
मुनि-वेषी को दैत्य, देवता, सभी भाँति से सुख-सञ्चारी ॥ १६ ॥

---

1 हवन हेतु लकड़ियाँ; 2 यज्ञ ।

राक्षसानां पिशाचानां रौद्राणां क्रूरकर्मणाम् ।
क्रव्यादानां च सर्वेषां मा भूत् पुत्रक ते भयम् ॥ १७ ॥
प्लवगा वृश्चिका दंशा मशकाश्चैव कानने ।
सरीसृपाश्च कीटाश्च मा भूवन् गहने तव ॥ १८ ॥
महाद्विपाश्च सिंहाश्च व्याघ्रा ऋक्षाश्च दंष्ट्रिणः ।
महिषाः शृङ्गिणो रौद्रा न ते द्रुह्यन्तु पुत्रक ॥ १९ ॥
नृमांसभोजना रौद्रा ये चान्ये सर्वजातयः ।
मा च त्वां हिंसिषुः पुत्र मया सम्पूजितास्त्विह ॥ २० ॥
आगमास्ते शिवाः सन्तु सिध्यन्तु च पराक्रमाः ।
सर्वसम्पत्तयो राम स्वस्तिमान् गच्छ पुत्रक ॥ २१ ॥
स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यः पुनः पुनः ।
सर्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो ये च ते परिपन्थिनः ॥ २२ ॥
शुक्रः सोमश्च सूर्यश्च धनदोऽथ यमस्तथा ।
पान्तु त्वामर्चिता राम दण्डकारण्यवासिनम् ॥ २३ ॥
अग्निर्वायुस्तथा धूमो मन्त्राश्चर्षिमुखच्युताः ।
उपस्पर्शनकाले तु पान्तु त्वां रघुनन्दन ॥ २४ ॥
सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा भूतकर्तृ तथर्षयः ।
ये च शेषाः सुरास्ते तु रक्षन्तु वनवासिनम् ॥ २५ ॥
इति माल्यैः सुरगणान् गन्धैश्चापि यशस्विनी ।
स्तुतिभिश्चानुरूपाभिरानर्चायतलोचना ॥ २६ ॥
ज्वलनं समुपादाय ब्राह्मणेन महात्मना ।
हावयामास विधिना राममङ्गलकारणात् ॥ २७ ॥
घृतं श्वेतानि माल्यानि समिधश्चैव सर्षपान् ।
उपसम्पादयामास कौसल्या परमाङ्गना ॥ २८ ॥
उपाध्यायः स विधिना हुत्वा शान्तिमनामयम् ।
हुतहव्यावशेषेण बाह्यं बलिमकल्पयत् ॥ २९ ॥
मधुदध्यक्षतघृतैः स्वस्तिवाच्यं द्विजांस्ततः ।
वाचयामास रामस्य वने स्वस्त्ययनक्रियाम् ॥ ३० ॥
ततस्तस्मै द्विजेन्द्राय राममाता यशस्विनी ।
दक्षिणां प्रददौ काम्यां राघवं चेदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥
यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत् तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३२ ॥

बेटा ! तुम्हें भयंकर राक्षस और क्रूरकर्मा पिशाच सब।
तथा जन्तु मांसाहारी भी होवें नहीं भीति-कारी अब ॥ १७ ॥
वन में, वानर, मेढक, मच्छर, बिच्छू, डाँस आदि अति दंशक।
शैल-सर्प, कीटाणु तुम्हारे लिए न वन में होवें हिंसक ॥ १८ ॥
पुत्र ! महागज, सिंह, व्याघ्र, भल्लुक, विकराल दाढ़ के वनचर।
एवं विस्तृत शृंगों वाले महिष न होवें कभी द्रोहकर ॥ १९ ॥
नर-मांसाशी[1] सभी जाति के जो हैं पुत्र ! भयंकर प्राणी।
मुझसे यहाँ सुपूजित होकर तव प्रति रहें सदा कल्याणी[2] ॥ २० ॥
मार्ग सभी मंगलकारी हो, होवें, सफल तुम्हारे विक्रम।
विपुल तुम्हें सम्पत्ति प्राप्त हो, यात्रा करो ! कुशल से सक्षम ! ॥ २१ ॥
भूचर[3], खेचर[4] जीव-जन्तुओं, देवों से हो प्राप्त सुमंगल।
रिपुओं से भी मंगलमय हो (काम न आयें उनके छल-बल) ॥ २२ ॥
शुक्र, सोम, रवि, श्री कुबेर, यम आदिक मुझसे होकर पूजित।
दण्डक-वन-निवास-अवसर पर तत्पर रहें सुवन-मंगल हित ॥ २३ ॥
वायु, अग्नि, मख-धूम्र, पुत्रवर ! स्नान-आचमन के अवसर पर।
ऋषियों के श्रीमुख से निकले मन्त्र तुम्हारे हों रक्षाकर ॥ २४ ॥
सब लोकों के स्वामी ब्रह्मा, परब्रह्म सब जग के कारण।
ऋषिगण औ अन्यान्य देवता, करें विपिन में विघ्न निवारण ॥ २५ ॥
विस्तृतनयना, यशस्विनी तव, रानी कौसल्या ने यह कह।
गन्ध-माल्य से वन-देवों की पूजा की मंगल संस्तुति-सह ॥ २६ ॥
राम-सुमंगल-इच्छा से फिर, कौसल्या ने अग्नि मँगायी।
समिधा, सरसों आदि वस्तुओं को ब्राह्मण के पास रखायी ॥
महिलोत्तमा महारानी ने श्वेत पुष्प, घृत, माल्य[5] मँगाया।
और महात्मा ब्राह्मण द्वारा उत्तम विधि से हवन कराया ॥२७-२८॥
किया अग्नि में हवन विप्र ने, विघ्न-शांति आरोग्य-प्राप्ति-हित।
बचे हुए फिर हव्य-शेष की बलि दिक्पालों को की अर्पित ॥ २९ ॥
स्वस्ति-पाठ के लिए द्विजों को, अर्पित कर दधि, मधु, अक्षत, घृत।
विधिवत मंगलपाठ कराया कौसल्या ने, राम-कुशल-हित ॥ ३० ॥
यशस्विनी फिर राममातु ने दी सु-दक्षिणा द्विज को इच्छित।
और कही श्री रामचन्द्र से, बात मनोहर तब यह समुचित ॥ ३१ ॥
सुर-वन्दित महेन्द्र ने जो वर, वृत्र-नाश हित पाया अद्भुत।
वही तुम्हारे लिए सुमंगलकारी होवे निश्चय, प्रिय सुत ! ॥ ३२ ॥

१ मनुष्य का मांस खानेवाले; २ कल्याण करनेवाले; ३ पृथ्वी पर चलनेवाले; ४ आकाशचारी; ५ माला।

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत् पुरा।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३३ ॥
अमृतोत्पादने दैत्यान् घ्नतो वज्रधरस्य यत्।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात् तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३४ ॥
त्रिविक्रमान् प्रक्रमतो विष्णोरतुलतेजसः।
यदासीन्मङ्गलं राम तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३५ ॥
ऋषयः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु शुभमङ्गलम् ॥ ३६ ॥
इति पुत्रस्य शेषाश्च कृत्वा शिरसि भामिनी।
गन्धैश्चापि समालभ्य राममायतलोचना ॥ ३७ ॥
औषधीं च सुसिद्धार्थां विशल्यकरणीं शुभाम्।
चकार रक्षां कौसल्या मन्त्रैरभिजजाप च ॥ ३८ ॥
उवाचापि प्रहृष्टेव सा दुःखवशवर्तिनी।
वाङ्मात्रेण न भावेन वाचा संसज्जमानया ॥ ३९ ॥
आनम्य मूर्ध्नि चाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनी।
अवदत् पुत्रमिष्टार्थो गच्छ राम यथासुखम् ॥ ४० ॥
अरोगं सर्वसिद्धार्थमयोध्यां पुनरागतम्।
पश्यामि त्वां सुखं वत्स संधितं राजवर्त्मसु ॥ ४१ ॥
प्रणष्टदुःखसंकल्पा हर्षविद्योतितानना।
द्रक्ष्यामि त्वां वनात् प्राप्तं पूर्णचन्द्रमिवोदितम् ॥ ४२ ॥
भद्रासनगतं राम वनवासादिहागतम्।
द्रक्ष्यामि च पुनस्त्वां तु तीर्णवन्तं पितुर्वचः ॥ ४३ ॥
मङ्गलैरुपसम्पन्नो वनवासादिहागतः।
वध्वाश्च मम नित्यं त्वं कामान् संवर्धयाहि भोः ॥ ४४ ॥

मयार्चिता देवगणाः शिवादयो
महर्षयो भूतगणाः सुरोरगाः।
अभिप्रयातस्य वनं चिराय ते
हितानि काङ्क्षन्तु दिशश्च राघव ॥ ४५ ॥
अतीव चाश्रुप्रतिपूर्णलोचना
समाप्य च स्वस्त्ययनं यथाविधि।
प्रदक्षिणं चापि चकार राघवं
पुनः पुनश्चापि निरीक्ष्य सस्वजे ॥ ४६ ॥

अमृत-प्राप्ति-हित, सुवन गरुड़ को, विनता ने जो किया सुमंगल।
तुमको भी वर वही प्राप्त हो, और तुम्हें हो सुखमय जंगल ।। ३३ ।।
अमृतोत्पति[1] के समय, दैत्यों के संहारण-हेतु वज्रधर।
को जो आशिष मिली अदिति से वह हो सुलभ तुम्हें ! श्रेयस्कर ।। ३४ ।।
तीन पदों से तीन लोक नापे हरि ने, पायी जो शसा।
राम ! तुम्हें भी वही प्राप्त हो मंगलमय पावन अनुशंसा ।। ३५ ।।
और महाबाहो ! ऋषि, सागर, द्वीप, वेद, सब लोक, दिशाएँ।
हों शुभकारी सदा तुम्हारे लिए, नित्य मांगल्य बढ़ाएँ ।। ३६ ।।
आशिष देकर विमल-लोचना कौसल्या ने सुत-मस्तक पर।
अक्षत रखकर, चन्दन, रोली-तिलक लगाया कार्य सिद्धिकर ।। ३७ ।।
फिर विशल्यकरणी[2] ओषधि भी बाँधी रामचन्द्र के कर में।
उसका अति उत्कर्ष बढ़ाने को फिर जपा मन्त्र मृदु स्वर में ।। ३८ ।।
ऊपर से समोद मन, अन्तस् शोकित, किया मन्त्र-उच्चारण।
थी वाणी लड़खड़ा रही, गद्गद था उर विछोह के कारण ।। ३९ ।।
मस्तक-सूँघा, यशस्विनी ने, अपने सुत को हृदय-लगाकर।
कहा, वत्स ! तुम सफल मनोरथ हो ! वन जाओ आशिष पाकर ।। ४० ।।
पूर्णकाम, सकुशल, निरोग तन पुनः अयोध्या आओगे जब।
राज-मार्ग-स्थित तुम्हें देखकर, होऊँगी मैं सुखी बहुत तब ।। ४१ ।।
राम ! मिटेगा दुःख, जबकि तुम जाकर आओगे फिर वन से।
हर्ष बढ़ेगा, पूनम-रजनी-उदित चन्द्र-सम मुख-दर्शन से ।। ४२ ।।
वन से लौट, पिता-प्रण पूरित, ग्रहण करोगे तुम सिंहासन।
तब मैं पुनः प्रसन्ना होकर राम ! करूँगी तव शुभ दर्शन ।। ४३ ।।
जाओ ! वन से लौट, नृपोचित होकर वस्त्राभूषणधारी।
करते रहो ! बहू सीता की सिद्ध मनोवाञ्छाएँ सारी ।। ४४ ।।

मैंने सादर जिनकी पूजा अब तक की है रघुवर !
वे शिव, देव, महर्षि, भूतगण, नाग देवता मणिधर।
एवं सभी दिशाएँ मिलकर दण्डक वन जाने पर
करें तुम्हारे हित-साधन की कांक्षा[3] सदा कृपा कर ।। ४५ ।।

स्वस्ति-पाठ माँ ने करवाया विधिवत् धीरज धर कर
परिक्रमा की राघव की, नयनों में आँसू भरकर।
बारम्बार देखकर राघव को फिर हृदय लगाया
मंगल कार्य हुए परिपूरित यात्रा के समुचिततर ।। ४६ ।।

---

[1] अमृत की उत्पत्ति; [2] घावों को ठीक करनेवाली; [3] अभिलाषा।

तया हि देव्या च कृतप्रदक्षिणो
निपीड्य मातुश्चरणौ पुनः पुनः ।
जगाम सीतानिलयं महायशाः
स राघवः प्रज्वलितस्तया श्रिया ॥ ४७ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः

श्रीराम को उदास देखकर सीता का उनसे इसका कारण पूछना और श्रीराम का पिता की आज्ञा से वन में जाने का निश्चय बताते हुए सीता को घर में रहने के लिए समझाना

अभिवाद्य तु कौसल्यां रामः सम्प्रस्थितो वनम् ।
कृतस्वस्त्ययनो मात्रा धर्मिष्ठे वर्त्मनि स्थितः ॥ १ ॥
विराजयन् राजसुतो राजमार्गं नरैर्वृतम् ।
हृदयान्याममन्थेव जनस्य गुणवत्तया ॥ २ ॥
वैदेही चापि तत् सर्वं न शुश्राव तपस्विनी ।
तदेव हृदि तस्याश्च यौवराज्याभिषेचनम् ॥ ३ ॥
देवकार्यं स्म सा कृत्वा कृतज्ञा हृष्टचेतना ।
अभिज्ञा राजधर्माणां राजपुत्री प्रतीक्षति ॥ ४ ॥
प्रविवेशाथ रामस्तु स्ववेश्म सुविभूषितम् ।
प्रहृष्टजनसम्पूर्णं ह्रिया किंचिदवाङ्मुखः ॥ ५ ॥
अथ सीता समुत्पत्य वेपमाना च तं पतिम् ।
अपश्यच्छोकसंतप्तं चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥
तां दृष्ट्वा स हि धर्मात्मा न शशाक मनोगतम् ।
तं शोकं राघवः सोढुं ततो विवृततां गतः ॥ ७ ॥
विवर्णवदनं दृष्ट्वा तं प्रस्विन्नममर्षणम् ।
आह दुःखाभिसंतप्ता किमिदानीमिदं प्रभो ॥ ८ ॥
अद्य बार्हस्पतः श्रीमान् युक्तः पुष्येण राघव ।
प्रोच्यते ब्राह्मणैः प्राज्ञैः केन त्वमसि दुर्मनाः ॥ ९ ॥
न ते शतशलाकेन जलफेननिभेन च ।
आवृतं वदनं वल्गु च्छत्रेणाभिविराजते ॥ १० ॥
व्यजनाभ्यां च मुख्याभ्यां शतपत्रनिभेक्षणम् ।
चन्द्रहंसप्रकाशाभ्यां वीज्यते न तवाननम् ॥ ११ ॥

कौसल्या ने राम-प्रदक्षिण का सत्कृत्य निभाया
राम यशस्वी ने माता का फिर पद-युगल दबाया।
बढ़ी राम-शोभा तब अद्भुत, माँ-मंगल-वाक्यों से
सीता-सदन-मार्ग राघव ने तदनन्तर अपनाया ॥ ४७ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में पचीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २५ ॥

छब्बीसवाँ सर्ग

श्रीराम को उदास देखकर सीता का उनसे इसका कारण पूछना और श्रीराम का पिता की आज्ञा से वन में जाने का निश्चय बताते हुए सीता को घर में रहने के लिए समझाना

माता से स्वस्त्ययन-पूर्ति जब हुई, धर्म-स्थित रामचन्द्र हित।
तब कौसल्या को प्रणाम कर, वन के लिए हुए वे प्रस्थित ॥ १ ॥
करते राजमार्ग को शोभित, चले विपिन को जब रघुनन्दन।
उनके सद्गुण याद-याद कर, जन-जन का मन होता मन्थन ॥ २ ॥
तपस्विनी सीता ने अब तक नहीं सुना था हाल भयंकर।
यही धारणा थी, पति का युवराज-तिलक का है शुभ अवसर ॥ ३ ॥
वे विदेह नृप-सुता, नृपोचित धर्म-ज्ञान से थीं सम्पन्ना।
देवों की पूजा कर, रामागमन-प्रतीक्षा-रत सु-प्रसन्ना ॥ ४ ॥
राम विभूषित, मुदित जनों से पूरित अन्तःपुर में आये।
उस अवसर पर, मुख कुछ-कुछ वे लज्जा से थे किन्तु झुकाये ॥ ५ ॥
उन्हें देख, आसन से उठकर, सीता होने लगी प्रकम्पित।
चिन्ताकुल संतप्त राम को, लगीं देखने इकटक शंकित ॥ ६ ॥
सीता को वे, राम देखकर, मन का शोक न सह तब पाये।
और हो गये प्रकट भाव सब, जो अन्तस् में अब तक छाये ॥ ७ ॥
मुख उदास, स्वेदांग राम का, शोक न तब था कुछ दब पाता।
शोकाकुल सीता ने पूछा, प्रभो ! हुआ क्या ? समझ न आता ॥ ८ ॥
राघव ! है गुरु-पुष्य आज शुभ, विप्रों ने अभिषेक बताया।
इस प्रसन्नता के अवसर पर, क्यों विषाद मुख पर है छाया ॥ ९ ॥
शत तीलों का धवल छत्र जल-फेन-सदृश है नहीं शीश पर।
(यह कैसा विपरीत कि) आभाहीन मलीन हो रहे श्रीवर ॥ १० ॥
और आपके मुख पर, जिसमें कमलनयन हैं सुभग सुहाते।
चन्द्र, हंस-सम श्वेत चँवर दो क्यों हैं नहीं डुलाये जाते ॥ ११ ॥

वाग्मिनो वन्दिनश्चापि प्रहृष्टास्त्वां नरर्षभ।
स्तुवन्तो नाद्य दृश्यन्ते मङ्गलैः सूतमागधाः॥ १२॥
न ते क्षौद्रं च दधि च ब्राह्मणा वेदपारगाः।
मूर्ध्नि मूर्धाभिषिक्तस्य ददति स्म विधानतः॥ १३॥
न त्वां प्रकृतयः सर्वाः श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः।
अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तथा॥ १४॥
चतुर्भिर्वेगसम्पन्नैर्हयैः काञ्चनभूषणैः।
मुख्यः पुष्परथो युक्तः किं न गच्छति तेऽग्रतः॥ १५॥
न हस्ती चाग्रतः श्रीमान् सर्वलक्षणपूजितः।
प्रयाणे लक्ष्यते वीर कृष्णमेघगिरिप्रभः॥ १६॥
न च काञ्चनचित्रं ते पश्यामि प्रियदर्शन।
भद्रासनं पुरस्कृत्य यान्तं वीर पुरःसरम्॥ १७॥
अभिषेको यदा सज्जः किमिदानीमिदं तव।
अपूर्वो मुखवर्णश्च न प्रहर्षश्च लक्ष्यते॥ १८॥
इतीव विलपन्तीं तां प्रोवाच रघुनन्दनः।
सीते तत्रभवांस्तातः प्रव्राजयति मां वनम्॥ १९॥
कुले महति सम्भूते धर्मज्ञे धर्मचारिणि।
शृणु जानकि येनेदं क्रमेणाद्यागतं मम॥ २०॥
राज्ञा सत्यप्रतिज्ञेन पित्रा दशरथेन वै।
कैकेय्यै मम मात्रे तु पुरा दत्तौ महावरौ॥ २१॥
तयाद्य मम सज्जेऽस्मिन्नभिषेके नृपोद्यते।
प्रचोदितः स समयो धर्मेण प्रतिनिर्जितः॥ २२॥
चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यं दण्डके मया।
पित्रा मे भरतश्चापि यौवराज्ये नियोजितः॥ २३॥
सोऽहं त्वामागतो द्रष्टुं प्रस्थितो विजनं वनम्।
भरतस्य समीपे ते नाहं कथ्यः कदाचन॥ २४॥
ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम्।
तस्मान्न ते गुणाः कथ्या भरतस्याग्रतो मम॥ २५॥
अहं ते नानुवक्तव्यो विशेषेण कदाचन।
अनुकूलतया शक्यं समीपे तस्य वर्तितुम्॥ २६॥
तस्मै दत्तं नृपतिना यौवराज्यं सनातनम्।
स प्रसाद्यस्त्वया सीते नृपतिश्च विशेषतः॥ २७॥

नृवर ! न वाग्मी[1] सूत, वन्दिजन हर्षित मंगल वचन सुनाते।
करते हुए आपकी संस्तुति, वे सब क्यों न दृष्टि में आते ? ॥ १२ ॥
वेदों के पारंगत विप्रों ने न मूर्द्ध-अभिषेक कराया।
क्यों न तीर्थ-जल, मधु, दधि, घृत से श्रीमन् का मार्जन करवाया ॥ १३ ॥
नहीं नागरिक, सचिव, सैन्य-पति, मुख्य श्रेष्ठि जनपद के वासी।
वस्त्राभूषण सजे, न क्यों वे शोभायात्रा के अभिलाषी ? ॥ १४ ॥
चार वेगशाली अश्वों से जुता स्वर्णमय शोभा पाता।
वह सु-पुष्प रथ क्यों न आपके आगे चलता मुझे दिखाता ? ॥ १५ ॥
श्याम मेघ-गिरि-सम विशाल अति शुभ लक्षण जो अति शोभामय।
वीर ! न आगे गज तेजस्वी, यह कैसा है अद्भुत संशय ? ॥ १६ ॥
वीर ! सुदर्शन ! स्वर्ण-जटित वह दिखता, नहीं राज्य-सिंहासन।
लेकर वाहन नहीं चल रहे, अरे ! अरे ! कैसा अभिषिञ्चन ? ॥ १७ ॥
अभिषिञ्चन-तैयारी पर क्यों दशा-दुर्दशा यह दिखलाती ?।
कान्ति-रहित मुख हुआ आपका ! प्रसन्नता के चिह्न न पाती ॥ १८ ॥
विलपित सीता से तब बोले उस अवसर पर वे रघुनन्दन।
पूज्य पिता भेजते मुझे हैं, हे सीते ! अब तो दण्डक वन ॥ १९ ॥
उत्तम कुलजे ! धर्मरते ! हे धर्मज्ञे ! मैं तुम्हें बताता।
क्रमशः सुनो ! आज किस कारण से मैं हूँ वन भेजा जाता ॥ २० ॥
मेरे पिता नृपति दशरथ ने, जो हैं सत्य प्रतिज्ञा वाले।
पहले कोई दो महान वर कैकेयी को थे दे डाले ॥ २१ ॥
जब मेरे राज्याभिषेक की कड़ी नृपोद्यम[2] से शुभ आई।
धर्म-वद्ध नृप को रानी ने उन्हीं वरों की याद दिलाई ॥ २२ ॥
विवश पिता ने भ्रातृ भरत को यौवराज्य-पद पर बिठलाया।
और मुझे चौदह वर्षों को वन में रहने को बतलाया ॥ २३ ॥
आया हूँ तुमसे मिलने को, अब निर्जन वन को मैं जाता।
अनुपस्थिति में कभी ना शंसा[3] मेरी करना, यह बतलाता ॥
क्योंकि दूसरे की संस्तुति कुछ नहीं समृद्ध सहन कर पाते।
भरत-समीप न मेरे गुण का वर्णन करना प्रिय के नाते ॥२४-२५॥
विशेषतः उनके समक्ष सखियों से भी मत बात चलाना।
उन्हें तुष्ट कर ही सम्भव है उनके निकट तुम्हें रह पाना ॥ २६ ॥
यौवराज्य दे चुके नृपतिवर उनको भलीभाँति सब दिन को।
नृप होंगे वे भरत, ध्यान धर रखना तुष्ट सर्वथा उनको ॥ २७ ॥

---

१ बातचीत में कुशल; २ नृप के निर्णय; ३ प्रशंसा।

अहं चापि प्रतिज्ञां तां गुरोः समनुपालयन् ।
वनमद्यैव यास्यामि स्थिरीभव मनस्विनि ॥ २८ ॥
याते च मयि कल्याणि वनं मुनिनिषेवितम् ।
व्रतोपवासपरया भवितव्यं त्वयानघे ॥ २९ ॥
कल्यमुत्थाय देवानां कृत्वा पूजां यथाविधि ।
वन्दितव्यो दशरथः पिता मम जनेश्वरः ॥ ३० ॥
माता च मम कौसल्या वृद्धा संतापकर्शिता ।
धर्ममेवाग्रतः कृत्वा त्वत्तः सम्मानमर्हति ॥ ३१ ॥
वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः ।
स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः ॥ ३२ ॥
भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः ।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ॥ ३३ ॥
विप्रियं च न कर्तव्यं भरतस्य कदाचन ।
स हि राजा च वैदेहि देशस्य च कुलस्य च ॥ ३४ ॥
आराधिता हि शीलेन प्रयत्नैश्चोपसेविताः ।
राजानः सम्प्रसीदन्ति प्रकुप्यन्ति विपर्यये ॥ ३५ ॥
औरस्यानपि पुत्रान् हि त्यजन्त्यहितकारिणः ।
समर्थान् सम्प्रगृह्णन्ति जनानपि नराधिपाः ॥ ३६ ॥
सा त्वं वसेह कल्याणि राज्ञः समनुवर्तिनी ।
भरतस्य रता धर्मे सत्यव्रतपरायणा ॥ ३७ ॥
अहं गमिष्यामि महावनं प्रिये
त्वया हि वस्तव्यमिहैव भामिनि ।
यथा व्यलीकं कुरुषे न कस्यचित्
तथा त्वया कार्यमिदं वचो मम ॥ ३८ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

सप्तविंशः सर्गः

सीता की श्रीराम से अपने को भी साथ ले चलने के लिए प्रार्थना

एवमुक्ता तु वैदेही प्रियार्हा प्रियवादिनी ।
प्रणयादेव संक्रुद्धा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
किमिदं भाषसे राम वाक्यं लघुतया ध्रुवम् ।
त्वया यदपहास्यं मे श्रुत्वा नरवरोत्तम ॥ २ ॥

मैं भी पिता-प्रतिज्ञा-पालन करने को वन में जाऊँगा।
अतः मनस्विनि! यहाँ बिता ना समय धैर्य धर! (फिर आऊँगा) ॥ २८ ॥
हे अनघे! सीते! मुनि-सेवित, गहन-विपिन मेरे जाने पर।
व्रत-उपवास-नियम का पालन करती रहना सदा ध्यान धर॥ २९ ॥
तुम्हें चाहिए प्रति प्रातः उठ, व्रत-विधि-देवार्चन अपनाना।
एवं मेरे पिता नृपतिवर दशरथ जी को शीश झुकाना॥ ३० ॥
हैं संतप्त मातु कौसल्या वृद्धा, दुख-पाई औ दुर्बल।
करना सेवा-सम्मान सदा, तुम ही बनकर उनका सम्बल॥ ३१ ॥
स्नेह, प्रेम, पालन में सम हैं तथा अन्य भी जो माताएँ।
उनको भी करना प्रणाम नित, कभी भेद के भाव न आएँ॥ ३२ ॥
हैं शत्रुघ्न, भरत प्राणों से बढ़कर प्रिय अत्यन्त हमारे।
अतः भ्रातृ-सुत-सम उनसे भी निज कर्तव्य निभाना सारे॥ ३३ ॥
और भरत की इच्छा के प्रतिकूल कार्य भी कभी न करना।
क्योंकि इस समय वे स्वदेश, कुल-मानित नृप हैं, मन में धरना॥ ३४ ॥
आराधन, अनुकूल आचरण से रहते नृप तुष्ट सर्वथा।
किन्तु वही, विपरीत कार्य से, होते तत्क्षण कुपित भी तथा॥ ३५ ॥
वे अहितेच्छु सगे सुत को भी त्याग पास से दूर हटाते।
किन्तु समर्थ गैर हों, फिर भी उनको वे सहर्ष अपनाते॥ ३६ ॥
नृप भरतानुकूल व्यवहारिणि हो सीते! सद्-धर्म निभाओ।
और सत्य-व्रत-तत्पर होकर यहीं वास कर समय बिताओ!॥ ३७ ॥

मैं विशाल वन अब जाऊँगा, प्रिये! यहाँ तुम रहना
पहुँचे कष्ट किसी को, ऐसा कोई काम न करना।
समुचित व्यवहारिणि होने का ध्यान सदा ही रखना
मेरी आज्ञा मान देवि! सर्वदा इसी विधि चलना॥ ३८ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २६ ॥

सत्ताईसवाँ सर्ग

सीता की श्रीराम से अपने को भी साथ ले चलने के लिए प्रार्थना

स्वामी राम-प्रणय-लुब्धा वे यह सब सुन करके वैदेही।
होकर कुपित, राम से बोलीं, यद्यपि उर से थीं वे स्नेही॥ १ ॥
निपट अजान जानकर मुझको राघव! बातें ये समझाईं।
इस अवसर पर वे हास्यास्पद ही-सी मुझे समझ में आईं॥ २ ॥

वीराणां राजपुत्राणां शस्त्रास्त्रविदुषां नृप।
अनर्हमयशस्यं च न श्रोतव्यं त्वयेरितम्॥ ३॥
आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा।
स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते॥ ४॥
भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि॥ ५॥
न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा॥ ६॥
यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव।
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान्॥ ७॥
ईर्ष्यां रोषं बहिष्कृत्य भुक्तशेषमिवोदकम्।
नय मां वीर विस्रब्धः पापं मयि न विद्यते॥ ८॥
प्रासादाग्रे विमानैर्वा वैहायसगतेन वा।
सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छाया विशिष्यते॥ ९॥
अनुशिष्टास्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्।
नास्मि सम्प्रति वक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया॥ १०॥
अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम्।
नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलगणसेवितम्॥ ११॥
सुखं वने निवत्स्यामि यथैव भवने पितुः।
अचिन्तयन्ती त्रींल्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम्॥ १२॥
शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी।
सह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु॥ १३॥
त्वं हि कर्तुं वने शक्तो राम सम्परिपालनम्।
अन्यस्यापि जनस्येह किं पुनर्मम मानद॥ १४॥
साहं त्वया गमिष्यामि वनमद्य न संशयः।
नाहं शक्या महाभाग निवर्तयितुमुद्यता॥ १५॥
फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः।
न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती त्वया सदा॥ १६॥
अग्रतस्ते गमिष्यामि भोक्ष्ये भुक्तवति त्वयि।
इच्छामि परतः शैलान् पल्वलानि सरांसि च॥ १७॥
द्रष्टुं सर्वत्र निर्भीता त्वया नाथेन धीमता।
हंसकारण्डवाकीर्णाः पद्मिनीः साधुपुष्पिताः॥ १८॥
इच्छेयं सुखिनी द्रष्टुं त्वया वीरेण संगता।
अभिषेकं करिष्यामि तासु नित्यमनुव्रता॥ १९॥

अस्त्र-शस्त्र-ज्ञाता नृप-सुत के मुख से ऐसे वचन न समुचित।
है अपयश का टीका, ऐसे वचनों का सुनना भी अनुचित॥ ३ ॥
पुत्र-वधू, भ्राता, सुत, माता, पिता आदि कर्मज फल पाते।
और, आर्य-सुत! अपना जीवन, सभी भाग्य-अनुकूल बिताते॥ ४ ॥
केवल पत्नी ही निज पति का भाग्य-अनुसरण है कर पाती।
अतः साथ वन में चलने की आज्ञा स्वतः समझ में आती॥ ५ ॥
सखि, सुत, माता, पिता न अपना यह शरीर तक साथ निभाता।
एक मात्र परलोक, लोक में स्त्री का पति ही आश्रयदाता॥ ६ ॥
आज आप में दुर्गम वन को जाने के अवसर यदि जागे।
कुश-काँटे विनष्ट करती मैं संग चलूँगी आगे-आगे॥ ७ ॥
जल अभाव में, बचा हुआ जल, ज्यो ले जाते हैं पीने को।
ईर्ष्या, रोष, त्याग निष्पापिन को निशंक ले चलिये बन को॥ ८ ॥
उन्नत-भवन-निवास, नभ-गमन, तथा विमान-भ्रमण सुख-सारे।
नारी-हित निज पति-चरणों की, छाया-समता में है हारे॥ ९ ॥
मात-पिता ने मुझे भली विधि किससे क्या व्यवहार? सिखाया।
अतः नही उपदेश जरूरी, मुझे आपने जो बतलाया॥ १० ॥
निर्जन, दुर्गम, सिंह, व्याघ्र, वन-पशु-सेवित उस भीषण वन में।
मैं भी साथ चलूँगी, ऐसा ही निश्चय है मेरे मन में॥ ११ ॥
पितृ-गेह-सम वन का जीवन मैं सानन्द बिता पाऊँगी।
पतिव्रता रह, त्रिभुवन-सुख-तज प्रभु-सेवा में लग जाऊँगी॥ १२ ॥
नियता, ब्रह्मचर्य-व्रत-धारिणि, सेवा में रत होकर प्रति क्षण।
मधुर सुगन्धित विपिनों में अब साथ करूँगी मैं भी विचरण॥ १३ ॥
वन में अन्य जनों की रक्षा कर सकते हैं आप! ज्ञात है।
तो फिर मानद राम! न मेरी रक्षा में कुछ बड़ी बात है॥ १४ ॥
महाभाग! मैं अतः साथ ही, आज चलूँगी वन को निश्चय।
यात्रा-तत्पर मुझको, कोई रोक न पाएगा, निःसंशय!॥ १५ ॥
साथ रहूँगी, कष्ट न दूँगी वहाँ मूल, फल मैं खाऊँगी।
निःसंशय प्रत्येक परिस्थिति में मैं खरी उतर पाऊँगी॥ १६ ॥
बचा आपसे भोजन करके, प्रभु से आगे सदा चलूँगी।
प्रभो! शैल, सर, तालाबों के अभय दरस कर तृप्त रहूँगी॥
बुद्धिमान निज प्राणनाथ के साथ कमल-पुष्पों से शोभित।
सरोवरों को देखूँगी जल-पक्षि, हंस-कारण्डव-पूरित॥१७-१८॥
उनमें स्नान करूँगी प्रतिदिन, होकर अनुरक्ता चरणों में।
स्वामिन्! वीर! साथ वन में रह सुख पाऊँगी सभी क्षणों में॥ १९ ॥

सह त्वया विशालाक्ष रंस्ये परमनन्दिनी ।
एवं वर्षसहस्राणि शतं वापि त्वया सह ॥ २० ॥
व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गोऽपि हि न मे मतः ।
स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव ।
त्वया विना नरव्याघ्र नाहं तदपि रोचये ॥ २१ ॥
अहं गमिष्यामि वनं सुदुर्गमं
मृगायुतं वानरवारणैश्च ।
वने निवत्स्यामि यथा पितुर्गृहे
तवैव पादावुपगृह्य सम्मता ॥ २२ ॥
अनन्यभावामनुरक्तचेतसं
त्वया वियुक्तां मरणाय निश्चिताम् ।
नयस्व मा साधु कुरुष्व याचनां
नातो मया ते गुरुता भविष्यति ॥ २३ ॥
तथा ब्रुवाणामपि धर्मवत्सलां
न च स्म सीतां नृवरो निनीषति ।
उवाच चैनां बहु सन्निवर्तने
वने निवासस्य च दुःखितां प्रति ॥ २४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः सर्गः

श्रीराम का वनवास के कष्ट का वर्णन करते हुए सीता को वहाँ चलने से मना करना

स एवं ब्रुवतीं सीतां धर्मज्ञां धर्मवत्सलः ।
न नेतुं कुरुते बुद्धिं वने दुःखानि चिन्तयन् ॥ १ ॥
सान्त्वयित्वा ततस्तां तु बाष्पदूषितलोचनाम् ।
निवर्तनार्थे धर्मात्मा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २ ॥
सीते महाकुलीनासि धर्मे च निरता सदा ।
इहाचरस्व धर्मं त्वं यथा मे मनसः सुखम् ॥ ३ ॥
सीते यथा त्वां वक्ष्यामि तथा कार्यं त्वयाबले ।
वने दोषा हि बहवो वसतस्तान् निबोध मे ॥ ४ ॥
सीते विमुच्यतामेषा वनवासकृता मतिः ।
बहुदोषं हि कान्तारं वनमित्यभिधीयते ॥ ५ ॥

विशालाक्ष ! इस विचरण में है परमानन्द-प्राप्ति का अनुभव ।
ऐसे वर्ष सहस्रों भी हैं मुझे बिताने में प्रिय ! सम्भव ।। २० ।।
विना आपके स्वर्ग-प्राप्ति भी प्रिय है नहीं, सत्य बतलाती ।
राघव ! मुझको मिलती हो यदि विना आपके स्वर्गिक थाती ।।
तो है मुझे नहीं वह रुचिकर, तब मैं नहीं वहाँ जाऊँगी ।
(नाथ ! आपके साथ विपिन क्या ! सभी स्थलों पर सुख पाऊँगी) ।। २१ ।।

दुर्गम वन में मृग, कपि, गज हैं जहाँ असंख्य निवासी
प्राणपते ! मैं साथ चलूँगी, बन चरणों की दासी ।
चल करके अनुकूल आपके ! वहाँ रहूँगी वैसे
जैसे पितृ - गेह में थी मैं सुख - अनुभव - अभ्यासी ।।२२।।

मेरा हार्दिक प्रेम आपको ही अर्पित है सारा
विना आपके मुझे न दिखता कोई अन्य सहारा ।
नहीं गये पर, तव वियोग में, है मम मृत्यु सुनिश्चित
साथ ले चलें ! भार न होगा कोई मेरे द्वारा ।। २३ ।।

धर्मवत्सला सीता जब यह संस्तुति लगी सुनाने
नृवर राम के मन में संकट-भाव लगे तब आने ।
हुए न वे सीता को वन में ले जाने के इच्छुक
तथा सुविस्तृत कर, वन-कष्टों को फिर लगे बताने ।।२४।।

।। श्री वाल्मीक-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त ।। २७ ।।

अट्ठाइसवाँ सर्ग

श्रीराम का वनवास के कष्ट का वर्णन करते हुए सीता को वहाँ चलने से मना करना

धर्मज्ञा सीता के ये सब वचन राम को तनिक न रुचिकर ।
वन-कष्टों को समझ, साथ ले चलने को वे हुए न तत्पर ।। १ ।।
आँसू-भरे नयन सीता के, राम लगे बहुविधि समझाने ।
किसी भाँति वन-गमन न समुचित, सीता को वे लगे बताने ।। २ ।।
धर्माचारिणि ! उत्तम कुलजे ! तुम धार्मिक कर्त्तव्य निभाओ ! ।
रहकर यहीं, सवथा मेरे मानस का सन्तोष बढ़ाओ ।। ३ ।।
तुम अबला को, वन-निवासि-जन-दोषों को मैं सुनो ! बताता ।
सीते ! है कर्त्तव्य तुम्हारा वह करना, जो मै बतलाता ।। ४ ।।
छोड़ो वन-निवास के भावों को, सीते ! जो मन में आते ।
वन को हैं अनेक दोषों से व्याप्त और दुर्गम बतलाते ।। ५ ।।

हितबुद्ध्या खलु वचो मयैतदभिधीयते।
सदा सुखं न जानामि दुःखमेव सदा वनम् ॥ ६ ॥
गिरिनिर्झरसम्भूता गिरिनिर्दरिवासिनाम्।
सिंहानां निनदा दुःखाः श्रोतुं दुःखमतो वनम् ॥ ७ ॥
क्रीडमानाश्च विस्रब्धा मत्ताः शून्ये तथा मृगाः।
दृष्ट्वा समभिवर्तन्ते सीते दुःखमतो वनम् ॥ ८ ॥
सग्राहाः सरितश्चैव पङ्कवत्यस्तु दुस्तराः।
मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम् ॥ ९ ॥
लताकण्टकसंकीर्णाः कृकवाकूपनादिताः।
निरपाश्च सुदुःखाश्च मार्गा दुःखमतो वनम् ॥ १० ॥
सुप्यते पर्णशय्यासु स्वयंभग्नासु भूतले।
रात्रिषु श्रमखिन्नेन तस्माद् दुःखमतो वनम् ॥ ११ ॥
अहोरात्रं च संतोषः कर्तव्यो नियतात्मना।
फलैर्वृक्षावपतितैः सीते दुःखमतो वनम् ॥ १२ ॥
उपवासश्च कर्तव्यो यथा प्राणेन मैथिलि।
जटाभारश्च कर्तव्यो वल्कलाम्बरधारणम् ॥ १३ ॥
देवतानां पितृणां च कर्तव्यं विधिपूर्वकम्।
प्राप्तानामतिथीनां च नित्यशः प्रतिपूजनम् ॥ १४ ॥
कार्यस्त्रिरभिषेकश्च काले काले च नित्यशः।
चरतां नियमेनैव तस्माद् दुःखतरं वनम् ॥ १५ ॥
उपहारश्च कर्तव्यः कुसुमैः स्वयमाहृतैः।
आर्षेण विधिना वेद्यां सीते दुःखमतो वनम् ॥ १६ ॥
यथालब्धेन कर्तव्यः संतोषस्तेन मैथिलि।
यताहारैर्वनचरैः सीते दुःखमतो वनम् ॥ १७ ॥
अतीव वातस्तिमिरं बुभुक्षा चाति नित्यशः।
भयानि च महान्त्यत्र ततो दुःखतरं वनम् ॥ १८ ॥
सरीसृपाश्च बहवो बहुरूपाश्च भामिनि।
चरन्ति पथि ते दर्पात् ततो दुःखतरं वनम् ॥ १९ ॥
नदीनिलयनाः सर्पा नदीकुटिलगामिनः।
तिष्ठन्त्यावृत्य पन्थानमतो दुःखतरं वनम् ॥ २० ॥
पतङ्गा वृश्चिकाः कीटा दंशाश्च मशकैः सह।
बाधन्ते नित्यमबले सर्वं दुःखमतो वनम् ॥ २१ ॥

तथा तुम्हारी हित-इच्छा से ही मैं यह सब कुछ बतलाता।
कभी न सुख मिलता है वन में, वन है सदा दुःख का दाता ॥ ६ ॥
शैल-गुफा में सिंह गरजते, गिरि-निर्झर के शब्द श्रवण कर।
जिसको सुन करके दुख होता, अतः विपिन है अधिक कष्टकर ॥ ७ ॥
सीते ! शून्य विपिन में करते, वन-पशु निर्भय हो जो क्रीड़ा।
वे मनुष्य को देख, झपटते, अतः वहाँ पर है अति पीड़ा ॥ ८ ॥
पंकिल[1] ग्राहमयी[2] वन-नदियों के है पार कठिन अति जाना।
तथा दुखद वन में रहते हैं गज प्रमत्त (पशु भीषण नाना) ॥ ९ ॥
लता कण्टकाकीर्ण वन-पथों में वन-मुर्गों का स्वन[3] आता।
वहाँ दुःख होता चलने में, नहीं पास में जल मिल पाता ॥ १० ॥
भू पर गिरे शुष्क पत्रों का श्रमित व्यक्ति है विस्तर पाता।
उस पर सोकर रात्रि बिताने में वन-कष्ट घोर दिखलाता ॥ ११ ॥
वृक्ष-पतित फल से सु-तुष्ट हो, होता है दिन-रात बिताना।
सीते ! मन को वश में करके, पड़ता है अति कष्ट उठाना ॥ १२ ॥
यथाशक्ति उपवास सहन कर मैथिलि ! पड़ती जटा रखानी।
वल्कल वसन पहनने की है जीवन-शैली वहाँ पुरानी ॥ १३ ॥
देवों, पितरों और अतिथियों की पूजा का कार्य निभाना।
है कर्तव्य विपिन-वासी का (शास्त्र-विधा से समय बिताना) ॥ १४ ॥
तीनों समय नियम से करना पड़ता स्नान विपिन में जन को।
इसीलिए बतलाता तुमको हे सीते ! कष्टप्रद वन को ॥ १५ ॥
वेदी पर देवों की पूजा होती वेद-विधा से वन में।
कष्ट उठाने होते सीते ! निज हाथों से पुष्प-चयन में ॥ १६ ॥
मैथिलि ! वन-वासी को, जो जब मिलता, वह पड़ता है खाना।
होकर उससे तुष्ट सर्वथा, पड़ता है अति कष्ट उठाना ॥ १७ ॥
आँधी आती अति प्रचण्ड है, अन्धकार फट पड़ता वन में।
क्षुधा आदि के नाना दुख, भय आते रहते सदा विपिन में ॥ १८ ॥
भामिनि ! शैल-सर्प वन-पथ में गर्वित होकर सदा विचरते।
जिनके विविध रूप होते हैं, अतः विपिन से सब हैं डरते ॥ १९ ॥
नदी-सरीखी गति के एवं रहनेवाले भी नदियों में।
बहुसंख्यक (जल-) सर्प वहाँ पर नित्य लोटते हैं गलियों में ॥ २० ॥
डाँस, पतंगे, बिच्छू, मच्छर कष्ट वहाँ पर है पहुँचाते।
इसीलिए तो सभी लोग हैं वन को दुःख-रूप बतलाते ॥ २१ ॥

---

१ कीचड़ से भरा; २ मगर आदि जल-जन्तुओं से युक्त; ३ स्वर, शब्द।

द्रुमाः कण्टकिनश्चैव कुशाः काशाश्च भामिनि।
वने व्याकुलशाखाग्रास्तेन दुःखमतो वनम्॥ २२॥
कायक्लेशाश्च बहवो भयानि विविधानि च।
अरण्यवासे वसतो दुःखमेव सदा वनम्॥ २३॥
क्रोधलोभौ विमोक्तव्यौ कर्तव्या तपसे मतिः।
न भेतव्यं च भेतव्ये दुःखं नित्यमतो वनम्॥ २४॥
तदलं ते वनं गत्वा क्षेमं नहि वनं तव।
विमृशन्निव पश्यामि बहुदोषकरं वनम्॥ २५॥
वनं तु नेतुं न कृता मतिर्यदा
बभूव रामेण तदा महात्मना।
न तस्य सीता वचनं चकार तं
ततोऽब्रवीद् राममिदं सुदुःखिता॥ २६॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः॥ २८॥

एकोनत्रिंशः सर्गः

सीता का श्रीराम के समक्ष उनके साथ अपने वनगमन का औचित्य बताना

एतत् तु वचनं श्रुत्वा सीता रामस्य दुःखिता।
प्रसक्ताश्रुमुखी मन्दमिदं वचनमब्रवीत्॥ १॥
ये त्वया कीर्तिता दोषा वने वस्तव्यतां प्रति।
गुणानित्येव तान् विद्धि तव स्नेहपुरस्कृता॥ २॥
मृगाः सिंहा गजाश्चैव शार्दूलाः शरभास्तथा।
चमराः सृमराश्चैव ये चान्ये वनचारिणः॥ ३॥
अदृष्टपूर्वरूपत्वात् सर्वे ते तव राघव।
रूपं दृष्ट्वापसर्पेयुस्तव सर्वे हि बिभ्यति॥ ४॥
त्वया च सह गन्तव्यं मया गुरुजनाज्ञया।
त्वद्वियोगेन मे राम त्यक्तव्यमिह जीवितम्॥ ५॥
नहि मां त्वत्समीपस्थामपि शक्तोऽपि राघव।
सुराणामीश्वरः शक्तः प्रधर्षयितुमोजसा॥ ६॥
पतिहीना तु या नारी न सा शक्ष्यति जीवितुम्।
काममेवंविधं राम त्वया मम निदर्शितम्॥ ७॥
अथापि च महाप्राज्ञ ब्राह्मणानां मया श्रुतम्।
पुरा पितृगृहे सत्यं वस्तव्यं किल मे वने॥ ८॥

वृक्ष कँटीले, कुशा, कास की दुखद नुकीली हैं शाखाएँ।
भामिनि ! होतीं इस कारण से वन में बहुत-बहुत बाधाएँ ॥ २२ ॥
हैं शारीरिक क्लेश, विविध भय वन-वासी के आगे आते।
वैदेही ! हम इसीलिए तो वन को कण्टकमय बतलाते ॥ २३ ॥
क्रोध, लोभ को त्याग, तपस्या में पड़ता है चित्त लगाना।
भय में भी निर्भय हो करके वहाँ उचित है समय बिताना ॥ २४ ॥
अत: न जाना वहाँ ठीक है, वहाँ कठिन है सकुशल रहना।
सोच-समझकर कहता, वन में कष्ट दुसह अतिशय है सहना ॥ २५ ॥

राम महात्मा के विचार ये सब अनुकूल न आये
जिससे सीता को भी वन में सँग ले जाया जाये।
तब सीता ने भी राघव की बात न कुछ भी मानी
तथा उन्होंने परम दुःख से मन के भाव बताये ॥ २६ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २८ ॥

उन्तीसवाँ सर्ग

सीता का श्रीराम के समक्ष उनके साथ अपने वन-गमन का औचित्य बताना

सीता को अत्यन्त दुख हुआ, सुनकर राम-कथन यह सारा।
मन्द-मन्द बोलीं वे, उनके मुख पर बही अश्रु की धारा ॥ १ ॥
जो-जो दोष आपने ! वन में रहने के हैं नाथ ! बताये।
वे सब गुण में बदल जायँगे, स्नेह आपका यदि मिल जाये ॥ २ ॥
वन में हाथी, शेर, सिंह, मृग, नीलगाय, पशुगण भयकारी।
वन-गौ, शरभ दूर जाएँगे देख आपको सब वन-चारी ॥ ३ ॥
देखा होगा रूप आप-सा नहीं, उन्होंने यह निश्चय है।
वे न डरेंगे क्यों न, आपसे ? (भला) राम से कब निर्भय है ! ॥ ४ ॥
राम ! गुरुजनों की आज्ञा से साथ मुझे भी चलना है अब।
या वियोग में अपना जीवन त्यागूँगी, वन जायेंगे जब ! ॥ ५ ॥
राम ! आपके पास मुझे यदि देवराज भी मन लायेंगे।
मुझको तब न तिरस्कृत करने का वे भी साहस पायेंगे ॥ ६ ॥
पतिव्रता स्त्री पति-वियोग में राम ! नहीं जीवित रह पाती।
ऐसा कथन आपका भी है, याद भली विधि मुझको आती ॥ ७ ॥
पिता-गेह में भी विप्रों से ऐसा ही मैं सुनती आई।
'जाना होगा मुझको वन में', वह स्थिति भी देती दिखलाई ॥ ८ ॥

लक्षणिभ्यो द्विजातिभ्यः श्रुत्वाहं वचनं गृहे।
वनवासकृतोत्साहा नित्यमेव महाबल ॥ ९ ॥
आदेशो वनवासस्य प्राप्तव्यः स मया किल।
सा त्वया सह भर्त्राहं यास्यामि प्रिय नान्यथा ॥ १० ॥
कृतादेशा भविष्यामि गमिष्यामि त्वया सह।
कालश्चायं समुत्पन्नः सत्यवान् भवतु द्विजः ॥ ११ ॥
वनवासे हि जानामि दुःखानि बहुधा किल।
प्राप्यन्ते नियतं वीर पुरुषैरकृतात्मभिः ॥ १२ ॥
कन्यया च पितुर्गेहे वनवासः श्रुतो मया।
भिक्षिण्याः शमवृत्ताया मम मातुरिहाग्रतः ॥ १३ ॥
प्रसादितश्च वै पूर्वं त्वं मे बहुतिथं प्रभो।
गमनं वनवासस्य काङ्क्षितं हि सह त्वया ॥ १४ ॥
कृतक्षणाहं भद्रं ते गमनं प्रति राघव।
वनवासस्य शूरस्य मम चर्या हि रोचते ॥ १५ ॥
शुद्धात्मन् प्रेमभावाद्धि भविष्यामि विकल्मषा।
भर्तारमनुगच्छन्ती भर्ता हि परदैवतम् ॥ १६ ॥
प्रेत्यभावे हि कल्याणः संगमो मे सदा त्वया।
श्रुतिर्हि श्रूयते पुण्या ब्राह्मणानां यशस्विनाम् ॥ १७ ॥
इहलोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महाबल।
अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा ॥ १८ ॥
एवमस्मात् स्वकां नारीं सुवृत्तां हि पतिव्रताम्।
नाभिरोचयसे नेतुं त्वं मां केनेह हेतुना ॥ १९ ॥
भक्तां पतिव्रतां दीनां मां समां सुखदुःखयोः।
नेतुमर्हसि काकुत्स्थ समानसुखदुःखिनीम् ॥ २० ॥
यदि मां दुःखितामेवं वनं नेतुं न चेच्छसि।
विषमग्निं जलं वाहमास्थास्ये मृत्युकारणात् ॥ २१ ॥
एवं बहुविधं तं सा याचते गमनं प्रति।
नानुमेने महाबाहुस्तां नेतुं विजनं वनम् ॥ २२ ॥
एवमुक्ता तु सा चिन्तां मैथिली समुपागता।
स्नापयन्तीव गामुष्णैरश्रुभिर्नयनच्युतैः ॥ २३ ॥
चिन्तयन्तीं तदा तां तु निवर्तयितुमात्मवान्।
क्रोधाविष्टां तु वैदेहीं काकुत्स्थो बह्वसान्त्वयत् ॥ २४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

सामुद्रिक-विद्वानों की, प्रभु ! भविष्यवाणी सदा स्मरण कर।
मम उर में उत्साह सर्वदा, बन जाने को रहती तत्पर ! ॥ ९ ॥
विप्र-कथित आदेश एक दिन, प्रियतम ! होगा मुझे निभाना।
वह न टलेगा अतः आप सँग होगा वन में निश्चय जाना ॥ १० ॥
ऐसा होने से, मैं अपना भाग्य - भोग - अवसर पाऊँगी।
द्विज-वार्ता भी झूठ न होगी, पति के संग विपिन जाऊँगी ॥ ११ ॥
वन में घोर कष्ट, फिर भी वह नाथ ! उन्हीं को सदा सताता।
नहीं इन्द्रियाँ वश में जिनके और न मन वश में रह पाता ॥ १२ ॥
सुनी कुमारावस्था में यह वार्ता शान्त भिक्षुकी द्वारा।
पिता-गेह में माँ के सम्मुख उसने वृत्त बताया सारा ॥
वन-क्रीड़ा-हित सुरुचि प्रथम ही प्रभु से की थी, बात पुरानी।
अवसर प्राप्त, करें स्वीकृत मम विपिन-गमन की निश्चित बानी ॥१३-१४॥
राघव ! मंगल हो ! मैंने है अनुमति तो पहले ही पाई।
शूर, विपिनचारी पति-सेवा ही रुचिकर देती दिखलाई ॥ १५ ॥
शुद्धात्मन् ! वन में सेवा कर पाप-मुक्त मैं हो जाऊँगी।
क्योंकि देवता नारी का है पति ही, इससे सुख पाऊँगी ॥ १६ ॥
यहाँ नाथ का साथ सुखद, परलोक-पुण्य का 'साथ' प्रदाता।
यही यशस्वी विप्रों द्वारा, सूक्ति वचन सुनने में आता ॥ १७ ॥
वीर ! पिता से जिसको कन्या, संकल्पित कर दी जाती है।
वह मरने पर स्वर्गलोक में, उसको ही पति-स्वरूप पाती है ॥ १८ ॥
मैं सु-धर्मपत्नी, व्रतपालिनि, पतिव्रता हूँ, फिर किस कारण ?।
आप मुझे वन-सँग ले चलने का करते क्यों नाथ ! निवारण ? ॥ १९ ॥
भक्त, पति-व्रता, दीन, नाथ का दुख-सुख निज सुख-दुक्ख मानती।
साथ ले चलें ! शोक, हर्ष का भेद नाथ-सँग नहीं जानती ॥ २० ॥
मुझ दुखिता को ले न चलेंगे संग, आपके उर यदि संशय।
विष खा, जल मे कूद, अग्नि में फाँद मरूँगी तब मैं निश्चय ॥ २१ ॥
महाबाहु से जनक-सुता ने समझाया, बहु-बहु विनती की।
किन्तु वन-गमन-हेतु राम ने फिर भी अनुमति उन्हें नहीं दी ॥ २२ ॥
तथा मैथिली अस्वीकृति से चिन्तित-दुखित लगीं तब होने।
नेत्रों से उष्णाश्रु बहाकर वे पृथ्वी को लगीं भिगोने ॥ २३ ॥
राम संयमी ने सीता को जब कुपिता, दुखिता अति पाया।
तब वन-गमन-निवारण के हित उन्हें दुबारा फिर समझाया ॥ २४ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २९ ॥

त्रिंशः सर्गः

सीता का वन में चलने के लिए अधिक आग्रह, विलाप और घबराहट देखकर श्रीराम का उन्हें साथ ले चलने की स्वीकृति देना, पिता-माता और गुरुजनों की सेवा का महत्त्व बताना तथा सीता को वन मे चलने की तैयारी के लिए घर की वस्तुओं का दान करने की आज्ञा देना

सान्त्व्यमाना तु रामेण मैथिली जनकात्मजा ।
वनवासनिमित्तार्थं भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
सा तमुत्तमसंविग्ना सीता विपुलवक्षसम् ।
प्रणयाच्चाभिमानाच्च परिचिक्षेप राघवम् ॥ २ ॥
किं त्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः ।
राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम् ॥ ३ ॥
अनृतं बत लोकोऽयमज्ञानाद् यदि वक्ष्यति ।
तेजो नास्ति परं रामे तपतीव दिवाकरे ॥ ४ ॥
किं हि कृत्वा विषण्णस्त्वं कुतो वा भयमस्ति ते ।
यत् परित्यक्तुकामस्त्वं मामनन्यपरायणाम् ॥ ५ ॥
द्युमत्सेनसुतं वीरं सत्यवन्तमनुव्रताम् ।
सावित्रीमिव मां विद्धि त्वमात्मवशवर्तिनीम् ॥ ६ ॥
न त्वहं मनसा त्वन्यं द्रष्टास्मि त्वदृतेऽनघ ।
त्वया राघव गच्छेयं यथान्या कुलपांसनी ॥ ७ ॥
स्वयं तु भार्यां कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम् ।
शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि ॥ ८ ॥
यस्य पथ्यंचरामात्थ यस्य चार्थेऽवरुध्यसे ।
त्वं तस्य भव वश्यश्च विधेयश्च सदानघ ॥ ९ ॥
स मामनादाय वनं न त्वं प्रस्थितुमर्हसि ।
तपो वा यदि वारण्यं स्वर्गो वा स्यात् त्वया सह ॥ १० ॥
न च मे भविता तत्र कश्चित् पथि परिश्रमः ।
पृष्ठतस्तव गच्छन्त्या विहारशयनेष्विव ॥ ११ ॥
कुशकाशशरेषीका ये च कण्टकिनो द्रुमाः ।
तूलाजिनसमस्पर्शा मार्गे मम सह त्वया ॥ १२ ॥
महावातसमुद्भूतं यन्मामवकरिष्यति ।
रजो रमण तन्मन्ये परार्ध्यमिव चन्दनम् ॥ १३ ॥

तीसवाँ सर्ग

सीता का वन में चलने के लिए अधिक आग्रह, विलाप और घबराहट देखकर श्रीराम का उन्हें साथ ले चलने की स्वीकृति देना, पिता-माता और गुरुजनों की सेवा का महत्त्व बताना तथा सीता को वन में चलने की तैयारी के लिए घर की वस्तुओं का दान करने की आज्ञा देना

कहा राम ने जब सीता से, समझाकर, न विपिन जाने को।
तब सिय बोलीं पुनः स्व-पति से, वन-निवास-आज्ञा पाने को॥ १ ॥
स्वाभिमान, सत्प्रेम-विवश हो, विपुलवक्ष राघव से डरके।
बोलीं सीता उस अवसर पर, तब आक्षेप-सदृश स्वर करके॥ २ ॥
राम! पिता ने क्या जामाता[1] केवल पुरुषाकृति[2] में पाया?।
और आपका नारी-लक्षण नहीं समझ मे उनके आया॥ ३ ॥
'नहीं भास्कर रामचन्द्र में तेज-पराक्रम', लोग कहेंगे।
सुन उनके ये मूढ़वचन, दुखिता के कैसे प्राण रहेंगे॥ ४ ॥
किस विषाद में आप पड़े हैं, अथवा हैं किससे फिर डरते?।
अपनी आश्रित पत्नी सीता का जो त्याग आप हैं करते?॥ ५ ॥
थी सावित्री द्युमत्सेन-सुत सत्यवान-अनुगामिन जैसे।
आप! मुझे भी आज्ञा-पालिनि अपनी समझें! प्रभुवर! वैसे॥ ६ ॥
अनघ! नहीं हूँ कुल-कलंकिनी, मन तक में न पर-पुरुष-दर्शन।
अतः चलूँगी साथ, आपके राघव! मम जीवन तव अर्पन॥ ७ ॥
कौमार्य विवाहित, चिरसंगिनि सती नारि का परित्याग कर।
नट सौंपता नटी को जैसे, चले मुझे अन्याश्रय तजकर॥ ८ ॥
जिसके अनुगत चलना कहते! जिसके लिए रुका अभिषिञ्चन।
उन्हीं भरत के वश में रहिये आप! धन्य! निष्पाप! दास बन॥ ९ ॥
इससे, मेरे बिना आपका वन-प्रस्थान नही है समुचित।
तप, वन-वास, स्वर्ग को भी मैं साथ चलूँगी होकर प्रमुदित॥ १० ॥
शय्या-शयन, वाटिका-विचरण में है नही कष्ट कुछ जैसे।
वन-पथ-अनुगामिनि होने पर होगा नहीं परिश्रम वैसे॥ ११ ॥
कण्टक-तरु, कुश, कास, सींक, सरकंडे जो पथ में आएंगे।
साथ आपके, रुई और मृग चर्म-सदृश वे हो जाएंगे॥ १२ ॥
आँधी में उड़कर, शरीर पर धूलि प्राण-प्रिय! जो आएगी।
वह मुझको उत्तम चन्दन-सम सुखद उस समय में भाएगी॥ १३ ॥

---

१ दामाद; २ मनुष्य के रूप वाला।

शार्दूलेषु यदा शिश्ये वनान्तर्वनगोचरा।
कुथास्तरणयुक्तेषु किं स्यात् सुखतरं ततः॥ १४॥
पत्रं मूलं फलं यत्तु अल्पं वा यदि वा बहु।
दास्यसे स्वयमाहृत्य तन्मेऽमृतरसोपमम्॥ १५॥
न मातुर्न पितुस्तत्र स्मरिष्यामि न वेश्मनः।
आर्तवान्युपभुञ्जाना पुष्पाणि च फलानि च॥ १६॥
न च तत्र ततः किंचिद् द्रष्टुमर्हसि विप्रियम्।
मत्कृते न च ते शोको न भविष्यामि दुर्भरा॥ १७॥
यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना।
इति जानन् परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह॥ १८॥
अथ मामेवमव्यग्रां वनं नैव नयिष्यसे।
विषमद्यैव पास्यामि मां वशं द्विषतां गमम्॥ १९॥
पश्चादपि हि दुःखेन मम नैवास्ति जीवितम्।
उज्झितायास्त्वया नाथ तदैव मरणं वरम्॥ २०॥
इमं हि सहितुं शोकं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
किं पुनर्दश वर्षाणि त्रीणि चैकं च दुःखिता॥ २१॥
इति सा शोकसंतप्ता विलप्य करुणं बहु।
चुक्रोश पतिमायस्ता भृशमालिङ्ग्य सस्वरम्॥ २२॥
सा विद्धा बहुभिर्वाक्यैर्दिग्धैरिव गजाङ्गना।
चिरसंनियतं बाष्पं मुमोचाग्निमिवारणिः॥ २३॥
तस्याः स्फटिकसंकाशं वारि संतापसम्भवम्।
नेत्राभ्यां परिसुस्राव पङ्कजाभ्यामिवोदकम्॥ २४॥
तत्सितामलचन्द्राभं मुखमायतलोचनम्।
पर्यशुष्यत बाष्पेण जलोद्धृत मिवाम्बुजम्॥ २५॥
तां परिष्वज्य बाहुभ्यां विसंज्ञामिव दुःखिताम्।
उवाच वचनं रामः परिविश्वासयंस्तदा॥ २६॥
न देवि तव दुःखेन स्वर्गमप्यभिरोचये।
नहि मेऽस्ति भयं किंचित् स्वयम्भोरिव सर्वतः॥ २७॥
तव सर्वमभिप्रायमविज्ञाय शुभानने।
वासं न रोचयेऽरण्ये शक्तिमानपि रक्षणे॥ २८॥
यत् सृष्टासि मया साधं वनवासाय मैथिलि।
न विहातुं मया शक्या प्रीतिरात्मवता यथा॥ २९॥

साथ आपके ! वन में घासों पर सोकर जो सुख पाऊँगी।
तो शय्या, चित्रित कालीनों के सुख सभी भूल जाऊँगी ।। १४ ।।
पत्र, मूल, फल स्वल्प, अधिक वा, निज कर से देंगे ! जो लाकर।
मुझे अमृत-रस-सम होगा वह, तृप्ति मिलेगी उसको खाकर ।। १५ ।।
ऋतु-अनुकूल फूल-फल जो कुछ होंगे प्राप्त उन्हें खाऊँगी।
माता, पिता, महल को तब मैं नहीं कभी स्मृति में लाऊँगी ।। १६ ।।
देखेंगे व्यवहार न अनुचित, कष्ट न होगा मेरे द्वारा।
किसी भाँति निर्वाह न दूभर होगा राघव ! कभी हमारा ।। १७ ।।
साथ आप हैं जहाँ, स्वर्ग वह; आप विना स्थल मुझे नरक-सम।
यह निश्चय कर राम ! साथ में मेरे वन को चलें नरोत्तम ! ।। १८ ।।
कष्ट न होगा मुझे, न फिर भी यदि ले जाएँगे कानन में।
तो विष-पान आज कर लूँगी, नहीं रुकूँगी रिपु-बन्धन में ।। १६ ।।
मुझे त्याग कर यदि जाएँगे ! तो है जीवित रहना दुष्कर।
अतः परित्यक्ता को अच्छा, प्राण त्यागना इस अवसर पर ।। २० ।।
सहना विरह कठिन मुझको तो दो घड़ियों का भी दिखलाता।
फिर कैसे चौदह वर्षों का कष्ट सहूँगी ? समझ न आता ।। २१ ।।
बहुत समय करुणा-विलाप कर, सीता लगीं शिथिल जब होने।
तब पति का गाढ़ालिंगन कर, रुदन किया अत्यन्त उन्होंने ।। २२ ।।
राम-वचन-विष-शर से आहत हथिनी-सदृश लगीं दुख पाने।
अर्णि[1]-अग्नि-सम, बहुत देर के रोके आँसू लगीं गिराने ।। २३ ।।
उनके नेत्रों से गिरता था, स्फटिकोपम[2] निर्मल जल वैसे।
दो कमलों से जल की धारा लगातार झरती हो जैसे ।। २४ ।।
तथा पूर्णिमा-शशि-सम जो मुख था विस्तृत नेत्रों से भाता।
जल-निष्कासित कमलों जैसे सूखा वह संतप्त दिखाता ।। २५ ।।
फिर अचेत सीता को अपने हाथों से सहसा सम्हालकर।
हृदय-लगा सान्त्वना-वचन में उनसे फिर बोले वे रघुवर ।। २६ ।।
चाहूँगा मैं नहीं दुःख दे, तुम्हें देवि ! स्वर्गिक सुख निश्चय।
मुझे स्वयं भू ब्रह्मा-सम है नहीं किसी से किञ्चित् भी भय ।। २७ ।।
शक्तिमान हूँ शुभानने ! मैं वन में रक्षा-हेतु तुम्हारे।
किन्तु चाहता था, जानूँ मैं, सही-सही मन्तव्य[3] तुम्हारे ।। २८ ।।
मैथिलि ! मेरे सँग वन चलने को प्रकटी ! समझा मैं निश्चय।
आत्मज्ञानी की प्रसन्नता-सम, अ-त्याज्य हो तुम निःसंशय ।। २६ ।।

---

१ सूर्यमुखी पुष्प, सूर्य की पत्नी; २ स्फटिक के समान; ३ विचार।

धर्मस्तु गजनासोरु सद्भिराचरितः पुरा।
तं चाहमनुवर्तिष्ये यथा सूर्यं सुवर्चला ॥ ३० ॥
न खल्वहं न गच्छेयं वनं जनकनन्दिनि।
वचनं तन्नयति मां पितुः सत्योपबृंहितम् ॥ ३१ ॥
एष धर्मश्च सुश्रोणि पितुर्मातुश्च वश्यता।
आज्ञां चाहं व्यतिक्रम्य नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ३२ ॥
अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते।
स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम् ॥ ३३ ॥
यत्र त्रयं त्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि।
नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते ॥ ३४ ॥
न सत्यं दानमानौ वा यज्ञो वाप्याप्तदक्षिणाः।
तथा बलकराः सीते यथा सेवा पितुर्मता ॥ ३५ ॥
स्वर्गो धनं वा धान्यं वा विद्या पुत्राः सुखानि च।
गुरुवृत्यनुरोधेन न किंचिदपि दुर्लभम् ॥ ३६ ॥
देवगन्धर्वगोलोकान् ब्रह्मलोकांस्तथापरान्।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः ॥ ३७ ॥
स मा पिता यथा शास्ति सत्यधर्मपथे स्थितः।
तथा वर्तितुमिच्छामि स हि धर्मः सनातनः ॥ ३८ ॥
मम सन्ना मतिः सीते नेतुं त्वां दण्डकावनम्।
वसिष्यामीति सा त्वं मामनुयातुं सुनिश्चिता ॥ ३९ ॥
सा हि दिष्टानवद्याङ्गि वनाय मदिरेक्षणे।
अनुगच्छस्व मां भीरु सहधर्मचरी भव ॥ ४० ॥
सर्वथा सदृशं सीते मम स्वस्य कुलस्य च।
व्यवसायमनुक्रान्ता कान्ते त्वमतिशोभनम् ॥ ४१ ॥
आरभस्व शुभश्रोणि वनवासक्षमाः क्रियाः।
नेदानीं त्वदृते सीते स्वर्गोऽपि मम रोचते ॥ ४२ ॥
ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि भिक्षुकेभ्यश्च भोजनम्।
देहि चाशंसमानेभ्यः संत्वरस्व च मा चिरम् ॥ ४३ ॥
भूषणानि महार्हाणि वरवस्त्राणि यानि च।
रमणीयाश्च ये केचित् क्रीडार्थाश्चाप्युपस्कराः ॥ ४४ ॥
शयनीयानि यानानि मम चान्यानि यानि च।
देहि स्वभृत्यवर्गस्य ब्राह्मणानामनन्तरम् ॥ ४५ ॥

हस्ति-शुण्ड-जंघे![1] सुजनों ने पत्नी-सँग जो धर्म निभाया।
वही करूँगा, अतः चलो तुम! सुवर्चला[2] ज्यों रवि की छाया ॥ ३० ॥
विपिन न जाऊँ, जनक-सुते! यह कभी न सम्भव मेरे द्वारा।
क्योंकि पिता का सत्य वचन ही पालन है कर्तव्य हमारा ॥ ३१ ॥
हे सुश्रोणि[3] पिता, माताज्ञा-पालन धर्म-पुत्र का निश्चित।
इससे उनका आज्ञोल्लंघन कर, न रहूँगा मैं भी जीवित ॥ ३२ ॥
जो करता प्रत्यक्ष देव, गुरु, माता, पिता शुभाज्ञा-लंघन।
वह फिर अप्रत्यक्ष[4] दैव का कर पाएगा कैसे वन्दन ॥ ३३ ॥
है त्रिलोक-धर्मार्थ-काम की प्राप्ति-हेतु केवल जो साधन।
अतः सकल जन, अनुपम इन तीनों ही का करते आराधन ॥ ३४ ॥
माना गया पिता-सेवा को सीते! कल्याणप्रद जैसा।
मान, दान, दक्षिणा, यज्ञ सब, सत्य न इनमें कोई वैसा ॥ ३५ ॥
जो गुरु जन-सेवानुसरण का भलीभाँति कर्तव्य निभाता।
स्वर्ग, धान्य, धन, सुत, विद्या, सुख उसे नहीं दुर्लभ हो पाता ॥ ३६ ॥
माता और पिता-सेवा का जो अपना कर्तव्य निभाते।
देव, ब्रह्म, गन्धर्व और गोलोक आदि तक वे हैं पाते ॥ ३७ ॥
सत्य, धर्म-स्थित पूज्य पिता जी से मैंने आज्ञा जो पाई।
वैसा ही बर्ताव करूँगा, यही सनातन प्रथा कहाई ॥ ३८ ॥
'मैं सँग में वन-वास करूँगी', सीते! तुमने कहे दृढ़ वचन।
बन ले चलने के विचार में इससे हुआ निपट परिवर्तन ॥ ३९ ॥
अरुणिमनयनि! तुम्हें वन चलने की अनुमति देता हूँ मैं! अब।
भीरु! अनुचरी बनो, साथ में धर्माचार निभाओ! वे सब ॥ ४० ॥
प्राण-प्रिये! सीते मेरे सँग, वन चलने का उत्तम निर्णय।
तुमने जो है किया, सर्वथा मम-तव कुल के योग्य सु निश्चय ॥ ४१ ॥
अब वनवास योग्य दानादिक सीते! करो, समय वह आता।
तव वन-गमन सुनिश्चय सम्मुख, मुझे स्वर्ग-सुख नही सुहाता ॥ ४२ ॥
विप्रों को रत्नादि वस्तुएँ दो! क्षुधितों को उत्तम भोजन।
करो शीघ्रता, अब विलम्ब की गुंजाइश है नहीं एक क्षण ॥ ४३ ॥
अति सुन्दर बहुमूल्य विभूषण जो हैं उत्तम वस्त्र तुम्हारे।
हैं रमणीय और क्रीडार्थक जो पदार्थ मन-रञ्जक सारे ॥
हम दोनों की उपयोगी हैं जो अतिशय सुन्दर शय्याएँ।
वाहनादि विप्रों को देकर, शेष बचे को सेवक पाएँ ॥४४-४५॥

---

१ हाथी की सूँड़ के समान जंघा वाली; २ यज्ञ का एक यन्त्र जिससे यज्ञ हेतु अग्नि उत्पन्न की जाती है; ३ सुन्दर नितम्बों वाली; ४ दिखाई न देनेवाले।

अनुकूलं तु सा भर्तुर्ज्ञात्वा गमनमात्मनः।
क्षिप्रं प्रमुदिता देवी दातुमेव प्रचक्रमे॥ ४६॥
अतः प्रहृष्टा प्रतिपूर्णमानसा
यशस्विनी भर्तुरवेक्ष्य भाषितम्।
धनानि रत्नानि च दातुमङ्गना
प्रचक्रमे धर्मभृतां मनस्विनी॥ ४७॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिंशः सर्गः॥ ३०॥

एकत्रिंशः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मण का संवाद श्रीराम की आज्ञा से लक्ष्मण का सुहृदों से पूछकर और दिव्य आयुध लाकर वनगमन के लिए तैयार होना, श्रीराम का उनसे ब्राह्मणों को धन बाँटने का विचार व्यक्त करना

एवं श्रुत्वा स संवादं लक्ष्मणः पूर्वमागतः।
बाष्पपर्याकुलमुखः शोकं सोढुमशक्नुवन्॥ १॥
स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः।
सीतामुवाचातियशां राघवं च महाव्रतम्॥ २॥
यदि गन्तुं कृता बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम्।
अहं त्वानुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः॥ ३॥
मया समेतोऽरण्यानि रम्याणि विचरिष्यसि।
पक्षिभिर्मृगयूथैश्च संघुष्टानि समन्ततः॥ ४॥
न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना॥ ५॥
एवं ब्रुवाणः सौमित्रिर्वनवासाय निश्चितः।
रामेण बहुभिः सान्त्वैर्निषिद्धः पुनरब्रवीत्॥ ६॥
अनुज्ञातस्तु भवता पूर्वमेव यदस्म्यहम्।
किमिदानीं पुनरपि क्रियते मे निवारणम्॥ ७॥
यदर्थं प्रतिषेधो मे क्रियते गन्तुमिच्छतः।
एतदिच्छामि विज्ञातुं संशयो हि ममानघ॥ ८॥
ततोऽब्रवीन्महातेजा रामो लक्ष्मणमग्रतः।
स्थितं प्राग्गामिनं धीरं याचमानं कृताञ्जलिम्॥ ९॥
स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विजेयश्च सखा च मे॥ १०॥
मयाद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम्।
को भजिष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम्॥ ११॥

सीता ने जाना जब पति से प्रमुदित विपिन-वार्ता सारी।
मानी, तब सहर्ष वह करने लगी दान की सब तैयारी ॥ ४६ ॥
यशस्विनी सीता ने अपना, सिद्ध मनोरथ जाना
पति-आदेशों को विचार कर, मनस्विनी ने माना।
हुई धर्मविद् विप्रों को धन-रत्न-दान को उद्यत
तब था नहीं अपार हर्ष का उनके वहाँ ठिकाना ॥ ४७ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३० ॥

इकतीसवाँ सर्ग

श्रीराम और लक्ष्मण का संवाद, श्रीराम की आज्ञा से लक्ष्मण का सुहृदों से पूछकर और दिव्य आयुध लाकर वन-गमन के लिए तैयार होना, श्रीराम का उनसे ब्राह्मणों को धन बांटने का विचार व्यक्त करना

लखन बीच ही में आ पहुँचे, सुनी राम-सीता-वार्ता जब।
हुए दुःख सहने में अक्षम, हुआ अश्रु-युत मुख उनका तब ॥ १ ॥
जोरों से कर ग्रहण, स्वभ्राता-चरणों को रघुनन्दन लक्ष्मण।
यशस्विनी सीता, व्रतधारी राघव से बोले वे तत्क्षण ॥ २ ॥
आर्य ! वन्य पशु, गज-युत वन में जाने का विचार यदि दृढ़तर।
धनुष हाथ ले, साथ चलूँगा आगे-आगे मैं ज्यों अनुचर ॥ ३ ॥
वहाँ करेंगे विचरण, अतिशय रम्य वनों में सँग मैं मेरे।
जहाँ भ्रमर-गुञ्जन होता है, कलरव करते खग वहुतेरे ॥ ४ ॥
विना आपके, मुझे अमरता तथा न स्वर्गस्थिति है प्यारी।
त्रिभुवन के ऐश्वर्य न होंगे, मुझको कुछ सुख के सञ्चारी ॥ ५ ॥
विपिन-वास-लक्ष्मण की वार्ता निश्चित सुन, राघव ने तत्क्षण।
रोका उन्हें सान्त्वना देकर, किन्तु पुनः बोले वे लक्ष्मण ॥ ६ ॥
भैया ! मुझे आपने आज्ञा दी पहले, मैं साथ निभाऊँ।
तो फिर क्यों कह रहे आप अब, साथ आपके विपिन न जाऊँ ? ॥ ७ ॥
मुझे अनघ ! वन-गमनेच्छुक को, रोक रहे क्यों ? यह बतलाएँ।
क्योंकि विना कारण समझे कुछ, आती हैं मन में शंकाएँ ॥ ८ ॥
हाथ जोड़कर धीर, राम के आगे लगे याचना करने।
कहा लखन-तत्पर से उस क्षण, ऐसा तेजस्वी रघुवर नें ॥ ९ ॥
तुम स्नेही, सन्मार्गी, धार्मिक, धीर, प्राण-प्रिय हो मम लक्ष्मण ! ।
सखा तथा आज्ञा-पालक हो, मेरे वश में रहते प्रतिक्षण ॥ १० ॥
यदि सौमित्र ! चलोगे तुम भी, विपिन-मध्य मेरे सँग ऐसे।
तब कौसल्या और सुमित्रा-सेवा होगी किससे ? कैसे ? ॥ ११ ॥

अभिवर्षति कामैर्यः पर्जन्यः पृथिवीमिव ।
स कामपाशपर्यस्तो महातेजा महीपतिः ॥ १२ ॥
सा हि राज्यमिदं प्राप्य नृपस्याश्वपतेः सुता ।
दुःखितानां सपत्नीनां न करिष्यति शोभनम् ॥ १३ ॥
न भरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां च सुदुःखिताम् ।
भरतो राज्यमासाद्य कैकेय्यां पर्यवस्थितः ॥ १४ ॥
तामार्यां स्वयमेवेह राजानुग्रहणेन वा ।
सौमित्रे भर कौसल्यामुक्तमर्थममुं चर ॥ १५ ॥
एवं मयि च ते भक्तिर्भविष्यति सुदर्शिता ।
धर्मज्ञगुरुपूजायां धर्मश्चाप्यतुलो महान् ॥ १६ ॥
एवं कुरुष्व सौमित्रे मत्कृते रघुनन्दन ।
अस्माभिर्विप्रहीणाया मातुर्नो न भवेत् सुखम् ॥ १७ ॥
एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः श्लक्ष्णया गिरा ।
प्रत्युवाच तदा रामं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥ १८ ॥
तवैव तेजसा वीर भरतः पूजयिष्यति ।
कौसल्यां च सुमित्रां च प्रयतो नास्ति संशयः ॥ १९ ॥
यदि दुःस्थो न रक्षेत भरतो राज्यमुत्तमम् ।
प्राप्य दुर्मनसा वीर गर्वेण च विशेषतः ॥ २० ॥
तमहं दुर्मतिं क्रूरं वधिष्यामि न संशयः ।
तत्पक्षानपि तान् सर्वांस्त्रैलोक्यमपि किं तु सा ॥ २१ ॥
कौसल्या बिभृयादार्या सहस्रं मद्विधानपि ।
यस्याः सहस्रं ग्रामाणां सम्प्राप्तमुपजीविनाम् ॥ २२ ॥
तदात्मभरणे चैव मम मातुस्तथैव च ।
पर्याप्ता मद्विधानां च भरणाय मनस्विनी ॥ २३ ॥
कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते ।
कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्प्यते ॥ २४ ॥
धनुरादाय सगुणं खनित्रपिटकाधरः ।
अग्रतस्ते गमिष्यामि पन्थानं तव दर्शयन् ॥ २५ ॥
आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च ।
वन्यानि च तथान्यानि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम् ॥ २६ ॥
भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यसे ।
अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते ॥ २७ ॥

जो सबके कामना-प्रपूरक भू पर जल-वर्षक वारिद-सम।
वे कैकेयी-प्रेम-बन्ध में हैं तेजस्वी भूपति सत्तम ॥ १२ ॥
होगी नृप कैकय की कन्या, दशरथ-राज्य-क्षेत्र-अधिकारिणि।
तब अपनी दुखिया सौतों-सँग, होगी अति कुत्सित व्यवहारिणि ॥ १३ ॥
भरत राज्य पा, कैकेयी के अधीनस्थ जब हो जाएँगे।
तब न सुमित्रा-कौसल्या का पालन वे भी कर पाएँगे ॥ १४ ॥
अत: यहीं रह, निज प्रभाव से, अथवा पिता-कृपा के द्वारा।
कौसल्या-प्रतिपाल-प्रयोजन सिद्ध करो मेरा अब सारा ॥ १५ ॥
होगी प्रकट धर्मविद्! ऐसे, मेरे प्रति सद्भक्ति तुम्हारी।
एवं गुरुजन-पूजा-धार्मिक फलप्राप्ति भी होगी सारी ॥ १६ ॥
हे सौमित्र! करो तुम मेरे हित में वही कहूँ मैं जैसे।
मुझसे-तुमसे क्योंकि वियोगिनि माँ को सौख्य न होगा वैसे ॥ १७ ॥
रामचन्द्र के यह कहने पर, वार्ता-मर्म-विज्ञ[1] वे लक्ष्मण।
बोले वार्ता-तत्त्व-विज्ञ[1] से, मधुर वचन उत्तर में तत्क्षण ॥ १८ ॥
वीर! आपके ही प्रभाव से, पूत-भाव से तब वे भ्राता।
भरत, सुमित्रा, कौसल्या को, पूजेंगे निःसंशय, भ्राता! ॥ १९ ॥
उत्तम राज्य प्राप्त कर तब वे, भरत कुपथ पर यदि जाएँगे।
और गर्व-वश माताओं की, वीर! न सेवा कर पाएँगे ॥ २० ॥
तो होगा निश्चय वध, दुर्मति, क्रूर भरत का मेरे द्वारा।
और समर्थन में उनके तब, होगा नष्ट लोक-त्रय सारा ॥ २१ ॥
मुझ-सम व्यक्ति सहस्रों की है कौसल्या में पालन-क्षमता।
ग्राम सहस्र मिले हैं उनको, अतः न होगी कहीं विषमता ॥ २२ ॥
मुझ सम बहुजन-पालन-सक्षम मनस्विनी[2] कौसल्या आप्ता[3]।
मम माता औ निज प्रतिपालन को वे हैं निश्चय पर्याप्ता ॥ २३ ॥
अनुचर अतः बनाएँ! मुझको होगी नहीं धर्म-क्षति इससे।
मुझसे होंगे सिद्ध प्रयोजन तब, सुधन्य होऊँ मैं उससे ॥ २४ ॥
प्रत्यञ्चा-सह धनुष ग्रहण कर, लेकर खंती और पिटारी।
पन्थ आपको दिखलाऊँगा, होकर तब अग्रिम सञ्चारी ॥ २५ ॥
तब तपस्विजन-प्राप्य, विपिन-फल, मूल आपको नित लाऊँगा।
तथा हवन की सामग्री भी वहाँ आपको पहुँचाऊँगा ॥ २६ ॥
वैदेही-सँग आप करेंगे पर्वत-शिखरों पर तब विचरण।
वहाँ आपके सोते-जगते कार्य करूँगा पूर्ण प्रतिक्षण ॥ २७ ॥

१ बात करने की कला के ज्ञाता; २ ऊँचे विचारवाली स्त्री; ३ योग्य।

रामस्त्वनेन वाक्येन सुप्रीतः प्रत्युवाच तम्।
व्रजापृच्छस्व सौमित्रे सर्वमेव सुहृज्जनम्॥ २८॥
ये च राज्ञो ददौ दिव्ये महात्मा वरुणः स्वयम्।
जनकस्य महायज्ञे धनुषी रौद्रदर्शने॥ २९॥
अभेद्ये कवचे दिव्ये तूणी चाक्षय्यसायकौ।
आदित्यविमलाभौ द्वौ खड्गौ हेमपरिष्कृतौ॥ ३०॥
सत्कृत्य निहितं सर्वमेतदाचार्यसद्मनि।
सर्वमायुधमादाय क्षिप्रमाव्रज लक्ष्मण॥ ३१॥
स सुहृज्जनमामन्त्र्य वनवासाय निश्चितः।
इक्ष्वाकुगुरुमागम्य जग्राहायुधमुत्तमम्॥ ३२॥
तद् दिव्यं राजशार्दूलः सत्कृतं माल्यभूषितम्।
रामाय दर्शयामास सौमित्रिः सर्वमायुधम्॥ ३३॥
तमुवाचात्मवान् रामः प्रीत्या लक्ष्मणमागतम्।
काले त्वमागतः सौम्य काङ्क्षिते मम लक्ष्मण॥ ३४॥
अहं प्रदातुमिच्छामि यदिदं मामकं धनम्।
ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यस्त्वया सह परंतप॥ ३५॥
वसन्तीह दृढं भक्त्या गुरुषु द्विजसत्तमाः।
तेषामपि च मे भूयः सर्वेषां चोपजीविनाम्॥ ३६॥
वसिष्ठपुत्रं तु सुयज्ञमार्यं
त्वमानयाशु प्रवरं द्विजानाम्।
अपि प्रयास्यामि वनं समस्ता-
नभ्यर्च्य शिष्टानपरान् द्विजातीन्॥ ३७॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः॥ ३१॥

द्वात्रिंशः सर्गः

सीता-सहित श्रीराम का वसिष्ठ-पुत्र सुयज्ञ को बुलाकर उनके तथा उनकी पत्नी के लिए बहुमूल्य आभूषण, रत्न और धन आदि का दान तथा लक्ष्मण-सहित श्रीराम द्वारा ब्राह्मणों, ब्रह्मचारियों, सेवकों, त्रिजट ब्राह्मण और सुहृज्जनों को धन का वितरण

ततः शासनमाज्ञाय भ्रातुः प्रियकरं हितम्।
गत्वा स प्रविवेशाशु सुयज्ञस्य निवेशनम्॥ १॥

लक्ष्मण-वार्ता से प्रसन्न हो, बोले राम, आर्य ! तुम जाओ ! ।
वन-यात्राज्ञा, माता, सुहृदों से लेकर लक्ष्मण ! तब आओ ॥ २८ ॥
स्वयं महात्मा वरुण-दत्त, नृप जनक-महामख के अवसर पर ।
उन्हें प्राप्त, दो धनुष दिव्य जो दर्शन में हैं परम भयंकर ॥ २९ ॥
एवं दिव्य अभेद्य[1] कवच दो, दो तरकस अक्षय-शर-संयुत[2] ।
रवि-सम निर्मल दीप्त स्वर्णमय जो हैं, वे दो खड्ग तेजयुत ॥
उन सबको आचार्य-गेह में, रक्खा गया उस समय सादर ।
लौटो लक्ष्मण ! सभी आयुधों को इस स्थल पर सत्वर लाकर ॥३०-३१॥
लेकर सुहृज्जनों की अनुमति, विपिन-वास करने को तत्पर ।
ग्रहण किये लक्ष्मण ने आयुध, गुरु वशिष्ठ के गृह से, जाकर ॥ ३२ ॥
सादर रक्षित, माल्य-विभूषित सभी आयुधों को अपनाया ।
क्षात्र-शिरोमणि लक्ष्मण ने तब, लाकर राघव को दिखलाया ॥ ३३ ॥
बोले, आगत लक्ष्मण से फिर, सुप्रसन्न हो राम मनस्वी ।
सौम्य ! लौटने का था मुझको यही सुअवसर इष्ट, यशस्वी ! ॥ ३४ ॥
तथा परंतप ! वीर ! यहाँ पर जो कुछ है मेरा सारा धन ।
उसे, तुम्हारे साथ, द्विजों को कर दूँ दान यही मेरा मन ॥ ३५ ॥
गुरुजन, श्रेष्ठ भक्तिवाले हैं जो द्विज मेरे निकट-निवासी ।
उन्हें, और आश्रितों-सकल को हूँ धन देने का अभिलाषी ॥ ३६ ॥

आर्य सुयज्ञ वसिष्ठ-पुत्र जो विप्रोत्तम कहलाते
उनको यहाँ बुलाकर लाओ, लक्ष्मण ! गुरु के नाते ।
ऐसे ही जो शेष रह गये हैं ब्राह्मण सर्वोत्तम
उनका आदर कर, वन जाने में ही हम सुख पाते ॥ ३७ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
इकतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३१ ॥

बत्तीसवाँ सर्ग

सीता-सहित श्रीराम का वसिष्ठ पुत्र सुयज्ञ को बुलाकर उनके तथा उनकी पत्नी के लिए बहुमूल्य आभूषण, रत्न और धन आदि का दान तथा लक्ष्मण सहित श्रीराम द्वारा ब्राह्मणों, ब्रह्मचारियों, सेवकों, त्रिजट ब्राह्मणों और सुहृज्जनों को धन का वितरण

रामाज्ञा प्रियकरी, सुहितकर, पाकर लक्ष्मण चले वहाँ से ।
तथा शीघ्र गुरु-सुत-गृह जाकर भेंटे प्रमुदित मुनि सुयज्ञ से ॥ १ ॥

१ जिसका भेदन न हो सके; २ समाप्त न होनेवाले बाणों से युक्त ।

तं विप्रमग्न्यगारस्थं वन्दित्वा लक्ष्मणोऽब्रवीत् ।
सखेऽभ्यागच्छ पश्य त्वं वेश्म दुष्करकारिणः ॥ २ ॥
ततः संध्यामुपास्थाय गत्वा सौमित्रिणा सह ।
ऋद्धं स प्राविशल्लक्ष्म्या रम्यं रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥
तमागतं वेदविदं प्राञ्जलिः सीतया सह ।
सुयज्ञमभिचक्राम राघवोऽग्निमिवार्चितम् ॥ ४ ॥
जातरूपमयैर्मुख्यैरङ्गदैः कुण्डलैः शुभैः ।
सहेमसूत्रैर्मणिभिः केयूरैर्वलयैरपि ॥ ५ ॥
अन्यैश्च रत्नैर्बहुभिः काकुत्स्थः प्रत्यपूजयत् ।
सुयज्ञं स तदोवाच रामः सीताप्रचोदितः ॥ ६ ॥
हारं च हेमसूत्रं च भार्यायै सौम्य हारय ।
रशनां चाथ स सीता दातुमिच्छति ते सखी ॥ ७ ॥
अङ्गदानि च चित्राणि केयूराणि शुभानि च ।
प्रयच्छति सखी तुभ्यं भार्यायै गच्छती वनम् ॥ ८ ॥
पर्यङ्कमग्र्यास्तरणं नानारत्नविभूषितम् ।
तमपीच्छति वैदेही प्रतिष्ठापयितुं त्वयि ॥ ९ ॥
नागः शत्रुंजयो नाम मातुलोऽयं ददौ मम ।
तं ते निष्कसहस्रेण ददामि द्विजपुङ्गव ॥ १० ॥
इत्युक्तः स तु रामेण सुयज्ञः प्रतिगृह्य तत् ।
रामलक्ष्मणसीतानां प्रयुयोजाशिषः शिवाः ॥ ११ ॥
अथ भ्रातरमव्यग्रं प्रियं रामः प्रियंवदम् ।
सौमित्रिं तमुवाचेदं ब्रह्मेव त्रिदशेश्वरम् ॥ १२ ॥
अगस्त्यं कौशिकं चैव तावुभौ ब्राह्मणोत्तमौ ।
अर्चयाहूय सौमित्रे रत्नैः सस्यमिवाम्बुभिः ॥ १३ ॥
तर्पयस्व महाबाहो गोसहस्रेण राघव ।
सुवर्णरजतैश्चैव मणिभिश्च महाधनैः ॥ १४ ॥
कौसल्यां च य आशीर्भिर्भक्तः पर्युपतिष्ठति ।
आचार्यस्तैत्तिरीयाणामभिरूपश्च वेदवित् ॥ १५ ॥
तस्य यानं च दासीश्च सौमित्रे सम्प्रदापय ।
कौशेयानि च वस्त्राणि यावत् तुष्यति स द्विजः ॥ १६ ॥
सूतश्चित्ररथश्चार्यः सचिवः सुचिरोषितः ।
तोषयैनं महार्हैश्च रत्नैर्वस्त्रैर्धनैस्तथा ॥ १७ ॥

तब मख-शाला-स्थित सुयज्ञ को उन लक्ष्मण ने शीश झुकाया।
कहा, सखे! दुर्धर्ष राम ने कार्य-निरीक्षण हेतु बुलाया॥ २ ॥
फिर सुयज्ञ ने मध्य दिवस के संध्या-वन्दन कार्य निभाये।
लक्ष्मी से सम्पन्न, राम के गृह में वे लक्ष्मण-सँग आये॥ ३ ॥
जब हवनाग्नि-सुदीप्त वेदविद्-शुभागमन की वार्ता जानी।
तब सीता के सहित राम ने हाथ जोड़कर की अगवानी॥ ४ ॥
अंगद[1], कुण्डल, हेमसूत्र-मणि[2], वलयों[3], केयूरों[4] के द्वारा।
उन ककुत्स्थ-कुल-रत्न राम ने, गुरु-सुत-पूजा-साज सँवारा॥
अन्य बहुत से रत्नों द्वारा उनका पूजन कर रघुनन्दन।
सीता-प्रेरित हो सुयज्ञ से तब फिर बोले मधुर यह वचन॥ ५-६ ॥
सौम्य! आपकी पत्नी की सखि सीता अपने हार समुत्तम।
स्वर्ण-सूत्र करधनी दे रहीं, उन्हें, अतः उनको लें सक्षम!॥ ७ ॥
चित्रांगद, सुन्दर केयूरक देंगी, श्रीमद् की भार्या-हित।
ये सीता दे रहीं, हो रहीं जो दण्डक वन को अब प्रस्थित[5]॥ ८ ॥
रत्न-विभूषित ये शय्याएँ, अत्युत्तम विस्तर सबके ही।
भेजूँ शीघ्र आपके गृह में, यह इच्छा करतीं वैदेही॥ ९ ॥
मेरे मामा ने मुझको जो भेंट किया शत्रुञ्जय गजपति।
उसे सहस्र हेम-मुद्राओं सँग दूँगा मैं भगवन्! सम्प्रति[6]॥ १० ॥
तथा राम के यह कहने पर, उन सुयज्ञ ने सब स्वीकारा।
दिया राम, सीता, लक्ष्मण को, आशिष् शुभ वचनों के द्वारा॥ ११ ॥
शान्त, सुभाषी, भ्राता लक्ष्मण से फिर कहा राम ने वैसे।
कहते देवेश्वर महेन्द्र से स्वयं प्रजापति ब्रह्मा जैसे॥ १२ ॥
विश्वामित्र, अगस्त्य द्विजोत्तम को भी यहाँ, सुमित्रानन्दन!।
लाओ और करो रत्नों से उनका भी पूजन, अभिवन्दन॥ १३ ॥
लक्ष्मण! मेघ, वृष्टि[7] से खेती को करता है तोषित[8] जैसे।
स्वर्ण, रत्न, मुद्रा, गौ, मणि से, उनको करो! तुष्ट तुम वैसे॥ १४ ॥
लक्ष्मण! तैत्तरीय शाखा के ब्राह्मण वेदों के विज्ञाता।
दान-योग्य, जिनसे पाती हैं आशिष् नित कौसल्या माता॥
उन्हें रेशमी वसन, सवारी, दास-दान के हेतु बुलाओ!।
तथा तुष्ट हों वे जितने से, उन्हें कोष से धन दिलवाओ॥१५-१६॥
और चित्ररथ सूत, रहे जो सचिव राज-सेवा में तत्पर।
रत्न, वसन, धन देकर उनको भी सन्तुष्ट करो! अब सत्वर॥

१ बाजूबंद; २ मणियों से पिरोहा स्वर्णहार विशेष; ३ कंकण; ४ भुजबंद; ५ रवाना; ६ इस समय; ७ वर्षा; ८ तृप्त।

पशुकामिश्च सर्वाभिर्गवां दशशतेन च ।
ये चेमे कठकालापा बहवो दण्डमाणवाः ॥ १८ ॥
नित्यस्वाध्यायशीलत्वान्नान्यत् कुर्वन्ति किंचन ।
अलसाः स्वादुकामाश्च महतां चापि सम्मताः ॥ १९ ॥
तेषामशीतियानानि रत्नपूर्णानि दापय ।
शालिवाहसहस्रं च द्वे शते भद्रकांस्तथा ॥ २० ॥
व्यञ्जनार्थं च सौमित्रे गोसहस्रमुपाकुरु ।
मेखलीनां महासङ्घः कौसल्यां समुपस्थितः ।
तेषां सहस्रं सौमित्रे प्रत्येकं सम्प्रदापय ॥ २१ ॥
अम्बा यथा नो नन्देच्च कौसल्या मम दक्षिणाम् ।
तथा द्विजातींस्तान् सर्वाँल्लक्ष्मणार्चय सर्वशः ॥ २२ ॥
ततः पुरुषशार्दूलस्तद् धनं लक्ष्मणः स्वयम् ।
यथोक्तं ब्राह्मणेन्द्राणामददाद् धनदो यथा ॥ २३ ॥
अथाब्रवीद् बाष्पकलांस्तिष्ठतश्चोपजीविनः ।
स प्रदाय बहुद्रव्यमेकैकस्योपजीवनम् ॥ २४ ॥
लक्ष्मणस्य च यद् वेश्म गृहं च यदिदं मम ।
अशून्यं कार्यमेकैकं यावदागमनं मम ॥ २५ ॥
इत्युक्त्वा दुःखितं सर्वं जनं तमुपजीविनम् ।
उवाचेदं धनाध्यक्षं धनमानीयतां मम ॥ २६ ॥
ततोऽस्य धनमाजह्रुः सर्व एवोपजीविनः ।
स राशिः सुमहांस्तत्र दर्शनीयो ह्यदृश्यत ॥ २७ ॥
ततः स पुरुषव्याघ्रस्तद् धनं सहलक्ष्मणः ।
द्विजेभ्यो बालवृद्धेभ्यः कृपणेभ्यो ह्यदापयत् ॥ २८ ॥
तत्रासीत् पिङ्गलो गार्ग्यस्त्रिजटो नाम वै द्विजः ।
क्षतवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्दाललाङ्गली ॥ २९ ॥
तं वृद्धं तरुणी भार्या बालानादाय दारकान् ।
अब्रवीद् ब्राह्मणं वाक्यं स्त्रीणां भर्ता हि देवता ॥ ३० ॥
अपास्य फालं कुद्दालं कुरुष्व वचनं मम ।
रामं दर्शय धर्मज्ञं यदि किंचिदवाप्स्यसि ॥ ३१ ॥
स भार्याया वचः श्रुत्वा शाटीमाच्छाद्य दुश्छदाम् ।
स प्रातिष्ठत पन्थानं यत्र रामनिवेशनम् ॥ ३२ ॥

उत्तम गो सहस्र, अज आदिक उन्हें बहुत पशु करो समर्पित।
कठ-कलाप शाखा सु-दण्डधर यहाँ ब्रह्मचारी हैं अगणित॥
स्वाध्यायी वे, कार्य दूसरा भिक्षा आदि नहीं कर पाते।
सम्मानित हैं सत्पुरुषों से, तथा स्वादु अन्नादिक खाते॥
उनको अस्सी ऊँट रत्न दो, चावल एक सहस्र वृषों[1] पर।
भद्रक, मूँग, चने से संयुत द्वि शत बैल दिलवाओ! सत्वर॥१७-२०॥
उनको दधि, घृत हेतु सहस गौएँ भी अब हँकवाओ लक्ष्मण!।
और ब्रह्मचारी जो आते कौसल्या के पास विलक्षण॥
उनमें एक-एक को तुम दो! दश शत हेममयी मुद्राएँ।
(ऐसे उन मेखलाधारियों की परिपूर्ण करो! इच्छाएँ)॥ २१ ॥
मुझसे प्राप्त दक्षिणा वाले ब्रह्मचारियों को कर अर्पण।
हों कौसल्या अति आनन्दित, लक्ष्मण! करो उसी विधि पूजन॥ २२ ॥
रामाज्ञा पाकर कुबेर-सम पुरुष-सिंह उन लक्ष्मण द्वारा।
राम-कथन-अनुसार दान-क्रम पूर्ण हुआ विप्रों को सारा॥ २३ ॥
अश्रु-रुद्ध थे कण्ठ सभी के जो सेवक थे वहाँ उपस्थित।
उन्हें राम ने द्रव्य दिया, जो चौदह वर्षों को हो समुचित॥
बोले, मेरे और सुमित्रा-सुत-गृह में ही समय बिताना।
इन्हें लौटने तक न शून्य कर, अन्यस्थल को कभी न जाना॥२४-२५॥
दुखी सेवकों से यह कर फिर कोषाधिप को वहाँ बुलाकर।
उनसे बोले राम, कोष का धन सब यहीं धरो तुम लाकर॥ २६ ॥
यह सुन, सेवक सभी उठाकर लगे वहाँ पर सब धन लाने।
बहुत बड़ी धन-राशि वहाँ पर दर्शनीय तब लगी दिखाने॥ २७ ॥
बाल, वृद्ध, विप्रों में कोई वञ्चित वहाँ न तब रह पाया।
नृवर राम ने लक्ष्मण के संग दुखियों को भी धन दिलवाया॥ २८ ॥
तभी त्रिजट नामी ब्राह्मण थे गर्ग गोत्र के अवध-निवासी।
उपवासों से पीत वर्ण, जीविका न, वन के फल-मूलाशी[2]॥
वे थे वृद्ध, तरुणि पत्नी थीं, बोलीं वे बच्चों को लेकर।
आप देवता हैं, प्राणप्रिय! अतः न कहती आज्ञा देकर॥
मानें मेरी बात, फाल-संग यह कुदाल अब दूर हटाएँ!।
मिलें! राम धर्मज्ञ भूप से, तथा यथोचित धन तब पाएँ!॥२९-३१॥
यह सुन धोती फटी पहन कर द्विज ने अपना वदन छिपाया।
तथा स्वपत्नी से प्रेरित हो, राम-भवन का पथ अपनाया॥ ३२ ॥

१ बैलों; २ फल-मूल खानेवाले।

भृग्वङ्गिरःसमं दीप्त्या त्रिजटं जनसंसदि ।
आपञ्चमायाः कक्ष्याया नैतं कश्चिदवारयत् ॥ ३३ ॥
स राममासाद्य तदा त्रिजटो वाक्यमब्रवीत् ।
निर्धनो बहुपुत्रोऽस्मि राजपुत्र महाबल ॥ ३४ ॥
क्षतवृत्तिर्वने नित्यं प्रत्यवेक्षस्व मामिति ।
तमुवाच ततो रामः परिहाससमन्वितम् ॥ ३५ ॥
गवां सहस्रमप्येकं न च विश्राणितं मया ।
परिक्षिपसि दण्डेन यावत्तावदवाप्स्यसे ॥ ३६ ॥
स शाटीं परितः कट्यां सम्भ्रान्तः परिवेष्ट्य ताम् ।
आविध्य दण्डं चिक्षेप सर्वप्राणेन वेगतः ॥ ३७ ॥
स तीर्त्वा सरयूपारं दण्डस्तस्य कराच्च्युतः ।
गोव्रजे बहुसाहस्रे पपातोक्षणसंनिधौ ॥ ३८ ॥
तं परिष्वज्य धर्मात्मा आ तस्मात् सरयूतटात् ।
आनयामास ता गावस्त्रिजटस्याश्रमं प्रति ॥ ३९ ॥
उवाच च तदा रामस्तं गार्ग्यमभिसान्त्वयन् ।
मन्युर्न खलु कर्तव्यः परिहासो ह्ययं मम ॥ ४० ॥

इदं हि तेजस्तव यद् दुरत्ययं
तदेव जिज्ञासितुमिच्छता मया ।
इमं भवानर्थमभिप्रचोदितो
वृणीष्व किं चेदपरं व्यवस्यसि ॥ ४१ ॥
ब्रवीमि सत्येन न ते स्म यन्त्रणां
धनं हि यद्यन्मम विप्रकारणात् ।
भवत्सु सम्यक्प्रतिपादनेन
मयार्जितं चैव यशस्करं भवेत् ॥ ४२ ॥
ततः सभार्यस्त्रिजटो महामुनि-
र्गवामनीकं प्रतिगृह्य मोदितः ।
यशोबलप्रीतिसुखोपबृंहिणी-
स्तदाशिषः प्रत्यवदन्महात्मनः ॥ ४३ ॥
स चापि रामः प्रतिपूर्णपौरुषो
महाधनं धर्मबलैरुपार्जितम् ।
नियोजयामास सुहृज्जने चिराद्
यथार्हसम्मानवचःप्रचोदितः ॥ ४४ ॥

भृगु-अंगिरा-तेज-वत् द्विज वे जन-समुदाय लाँघते आये।
आये भवन-पाँचवीं ड्योढ़ी, टोंक न उनको कोई पाये ॥ ३३ ॥
राम-निकट जा, कहा त्रिजट ने महाबली हे महाराज-सुत !।
बहुत पुत्र हैं मेरे, मैं हूँ निर्धन तथा जीविका से च्युत ॥
करें कृपा की दृष्टि आप ! अब मुझ पर, मैं रहता हूँ वन में ॥
तब विनोद[1] में कहा राम ने उनसे अतिशय मधुर वचन में ॥३४-३५॥
ब्रह्मन् ! मेरे पास अदत्ता[2] हैं अब भी असंख्य बहु गाएँ।
अर्पित हैं उतनी ही गौएँ दण्ड जहाँ तक आप चलाएँ ! ॥ ३६ ॥
यह सुन, द्विजवर ने धोती को बाँधा, अपनी कटि में लाकर।
तथा वेग से अपने बल भर, फेंका डण्डा शीघ्र घुमाकर ॥ ३७ ॥
ब्राह्मण-कर से मुक्त दण्ड सरयू के पार गिरा वह जाकर।
झुण्ड सहस्रों गो-वृषभों के पार गिरी लाठी टकराकर ॥ ३८ ॥
धर्मात्मा राघव ने तब फिर उन्हें हृदय से शीघ्र लगाया।
और वहाँ तक की गौओं को, उनके आश्रम में पहुँचाया ॥ ३९ ॥
पुनः राम ने त्रिजट गार्ग्य[3] को सहित सान्त्वना यह बतलाया।
बुरा न मानें ब्रह्मन् ! मैंने यह विनोद में कार्य कराया ॥ ४० ॥

है दुर्लंघ्य तेज द्विजवर का, मुझे समझ में आया
यही देखने को मैंने था यह डण्डा फिकवाया।
और चाहते हो ! जो कुछ भी, कृपया मुझे बताएँ !
(आप सरीखा तेज न मैंने अन्य किसी में पाया) ॥ ४१ ॥

है संकोच नहीं कुछ इसमें, मैं हूँ सत्य बताता
यह सब धन विप्रों के हित है, जो कुछ भी दिखलाता।
मेरे द्वारा एकत्रित धन शास्त्र विधा से द्विजवर
आप सदृश को देने में है, यश ही अधिक बढ़ाता ॥ ४२ ॥

गौओं के समूह को पाकर, पत्नी-सहित द्विजेश्वर
हुए प्रसन्न त्रिजट ब्राह्मण वे, अतिशय उन रघुवर पर।
तथा राम को यश, बल एवं प्रीति बढ़ानेवाले
आशीर्वाद दिये बहुतेरे, उत्तम, अनुपम, सुखकर ॥ ४३ ॥

धर्मार्जित धन, महाविक्रमी उन राघव के द्वारा
बाँटा गया मानपूर्वक फिर वह विप्रों को सारा।
सम्मानित वचनों से प्रेरित हो वे राम नरोत्तम
रहे चलाते बहुत देर तक (बाँट दिया धन सारा) ॥ ४४ ॥

---

१ मनोविनोद; २ जिनका दान अभी नहीं हुआ है; ३ गर्गगोत्री।

द्विजः सुहृद् भृत्यजनोऽथवा तदा
दरिद्रभिक्षाचरणश्च यो भवेत्।
न तत्र कश्चिन्न बभूव तर्पितो
यथार्हसम्माननदानसम्भ्रमैः ॥ ४५ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

सीता और लक्ष्मण-सहित श्रीराम का दुखी नगरवासियों के मुख से तरह-तरह की बातें सुनते हुए पिता के दर्शन के लिए कैकेयी के महल में जाना

दत्त्वा तु सह वैदेह्या ब्राह्मणेभ्यो धनं बहु।
जग्मतुः पितरं द्रष्टुं सीतया सह राघवौ ॥ १ ॥
ततो गृहीते प्रेष्याभ्यामशोभेतां तदायुधे।
मालादामभिरासक्ते सीतया समलंकृते ॥ २ ॥
ततः प्रासादहर्म्याणि विमानशिखराणि च।
अभिरुह्य जनः श्रीमानुदासीनो व्यलोकयत् ॥ ३ ॥
न हि रथ्याः सुशक्यन्ते गन्तुं बहुजनाकुलाः।
आरुह्य तस्मात् प्रासादाद् दीनाः पश्यन्ति राघवम् ॥ ४ ॥
पदातिं सानुजं दृष्ट्वा ससीतं च जनास्तदा।
ऊचुर्बहुजना वाचः शोकोपहतचेतसः ॥ ५ ॥
यं यान्तमनुयाति स्म चतुरङ्गबलं महत्।
तमेकं सीतया सार्धमनुयाति स्म लक्ष्मणः ॥ ६ ॥
ऐश्वर्यस्य रसज्ञः सन् कामानां चाकरो महान्।
नेच्छत्येवानृतं कर्तुं वचनं धर्मगौरवात् ॥ ७ ॥
या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः ॥ ८ ॥
अङ्गरागोचितां सीतां रक्तचन्दनसेविनीम्।
वर्षमुष्णं च शीतं च नेष्यत्याशु विवर्णताम् ॥ ९ ॥
अद्य नूनं दशरथः सत्त्वमाविश्य भाषते।
नहि राजा प्रियं पुत्रं विवासयितुमर्हति ॥ १० ॥
निर्गुणस्यापि पुत्रस्य कथं स्याद् विनिवासनम्।
किं पुनर्यस्य लोकोऽयं जितो वृत्तेन केवलम् ॥ ११ ॥

यथा योग्य सम्मान सभी ने उस अवसर पर पाया
सेवक, सुहृद्, दरिद्र, भिक्षुकों ने पाई बहु माया।
तुष्ट हुए अतिशय निश्चय ही उस अवसर पर ब्राह्मण
और सभी के मुख पर था तब मोद[1] असीमित छाया ।। ४५ ।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ।। ३२ ।।

तेंतीसवाँ सर्ग

सीता और लक्ष्मण-सहित श्रीराम का दुखी नगरवासियों के मुख से तरह-तरह की बातें सुनते हुए पिता के दर्शन के लिए कैकेयी के महल में जाना

वैदेही, लक्ष्मण-सँग, विप्रों को बहु दान दिये रघुवर ने।
फिर वन-गमन-समुद्यत हो, वे गये पिता के दर्शन करने ।। १ ।।
सेवक भी दो चले, सुशोभित आयुध उनके साथ उठाकर।
पूजा था सीता ने जिनको चन्दन-माला पुष्प चढ़ाकर ।। २ ।।
तब विमान, प्रासाद[2], हर्म्य[3] की उच्च छतों के ऊपर चढ़कर।
देख रही थी इनको जनता अतिशय खेद हृदय में भरकर ।। ३ ।।
जन संकुल[4] पथ होने से जब कठिन हो गये इनके दर्शन।
तब प्रासादों पर चढ़ करके लगे देखने सब उदास मन ।। ४ ।।
जाते हुए राम को पैदल, पत्नी, भ्राता-सँग जब सबने।
देखा, तब अति खेदपूर्वक लगे परस्पर में यह कहने ।। ५ ।।
हा ! चतुरंगिणि सेना, यात्रा में जिनके पीछे थी चलती।
लक्ष्मण-सीता-संग अकेले चलते राम (अलौकिक जगती !) ।। ६ ।।
जो ऐश्वर्य - भोगि, करते थे पूरी सबकी ही इच्छाएँ।
मिथ्या करना नहीं चाहते, पूज्य पिता की वे वार्ताएँ ।। ७ ।।
हा ! जिसको नभ-चर प्राणी भी नहीं देखने तब थे पाते।
पथ पर देख, उसी सीता को, सभी लोग हैं (दुखी दिखाते) ।। ८ ।।
अंगराग[5], अरुणिम चन्दन से सज्जित सीता का तन सारा।
फीका होगा बहुत शीघ्र वह, वर्षा, सर्दी, गर्मी द्वारा ।। ९ ।।
निश्चय दशरथ हैं पिशाच-वश, जो बातें करते हैं अनुचित।
क्योंकि स्वस्थ नृप कोई प्रिय सुत को न करेगा यों वन-वासित ।। १० ।।
गुण-विहीन सुत को भी कैसे ? कौन करेगा बाहर घर से ?।
फिर जग जिसके चरित्र के वश, वे रघुवर निष्कासित कैसे ? ।। ११ ।।

---

१ आनन्द; २ राजभवन; ३ महल; ४ घना, संकीर्ण; ५ उबटन, सुगंधित लेप।

आनृशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं शीलं दमः शमः ।
राघवं शोभयन्त्येते षड्गुणाः पुरुषर्षभम् ॥ १२ ॥
तस्मात् तस्योपघातेन प्रजाः परमपीडिताः ।
औदकानीव सत्त्वानि ग्रीष्मे सलिलसंक्षयात् ॥ १३ ॥
पीडया पीडितं सर्वं जगदस्य जगत्पतेः ।
मूलस्येवोपघातेन वृक्षः पुष्पफलोपगः ॥ १४ ॥
मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः ।
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरे जनाः ॥ १५ ॥
ते लक्ष्मण इव क्षिप्रं सपत्न्यः सहबान्धवाः ।
गच्छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति राघवः ॥ १६ ॥
उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च ।
एकदुःखसुखा राममनुगच्छाम धार्मिकम् ॥ १७ ॥
समुद्धृतनिधानानि परिध्वस्ताजिराणि च ।
उपात्तधनधान्यानि हृतसाराणि सर्वशः ॥ १८ ॥
रजसाभ्यवकीर्णानि परित्यक्तानि दैवतैः ।
मूषकैः परिधावद्भिरुद्बिलैरावृतानि च ॥ १९ ॥
अपेतोदकधूमानि हीनसम्मार्जनानि च ।
प्रणष्टबलिकर्मेज्यामन्त्रहोमजपानि च ॥ २० ॥
दुष्कालेनेव भग्नानि भिन्नभाजनवन्ति च ।
अस्मत्त्यक्तानि कैकेयी वेश्मानि प्रतिपद्यताम् ॥ २१ ॥
वनं नगरमेवास्तु येन गच्छति राघवः ।
अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं सम्पद्यतां वनम् ॥ २२ ॥
बिलानि दंष्ट्रिणः सर्वे सानूनि मृगपक्षिणः ।
त्यजन्त्वस्मद्भयाद्भीता गजाः सिंहा वनान्यपि ॥ २३ ॥
अस्मत्त्यक्तं प्रपद्यन्तु सेव्यमानं त्यजन्तु च ।
तृणमांसफलादानां देशं व्यालमृगद्विजम् ॥ २४ ॥
प्रपद्यतां हि कैकेयी सपुत्रा सह बान्धवैः ।
राघवेण वयं सर्वे वने वत्स्याम निर्वृताः ॥ २५ ॥
इत्येवं विविधा वाचो नानाजनसमीरिताः ।
शुश्राव राघवः श्रुत्वा न विचक्रेऽस्य मानसम् ॥ २६ ॥
स तु वेश्म पुनर्मातुः कैलासशिखरप्रभम् ।
अभिचक्राम धर्मात्मा मत्तमातङ्गविक्रमः ॥ २७ ॥
विनीतवीरपुरुषं प्रविश्य तु नृपालयम् ।
ददर्शावस्थितं दीनं सुमन्त्रमविदूरतः ॥ २८ ॥

अक्रूरता, दया, दम, विद्या, शील और शम गुण कहलाते।
जो छः, उनसे राम दयामय नित्य सुशोभित हैं दिखलाते॥ १२॥
ग्रीष्म-जलाशय-जल-शोषण से जलचर उसके पीड़ा पाते।
वैसे ही अभिषेक-विघ्न से सकल प्रजाजन दुखी दिखाते॥ १३॥
जैसे कटा हुआ तरु, सूखा, फल औ पुष्प-रहित हो जाता।
जगदीश्वर श्रीराम-व्यथा से पीड़ित सारा जग दिखलाता॥ १४॥
मानवता की मूल! राम तेजस्वी हैं, सुधर्म उनका बल।
जग के प्राणी, पत्र, मूल, फल एवं हैं शाखाएँ पुष्कल॥ १५॥
पत्नी, बान्धव-सहित चलें हम सभी, चल रहे जैसे लक्ष्मण।
जिस पथ से श्रीराम जा रहे, करें उसी का सभी अनुकरण॥ १६॥
बाग, बगीचे, खेती, बारी (नश्वर) तजकर हम सब जाएँ।
धर्मात्मा श्रीराम-अनुगमन कर, उनका सुख-दुःख बटाएँ॥ १७॥
गड़ी हुई निधि को निकाल लें, आँगन सकल खोदकर जाएँ।
ले लें साथ धान्य-धन सब कुछ, आवश्यक वस्तुएँ हटाएँ॥ १८॥
बिल से निकले और दौड़ते चूहों से सब घर भर जाएँ।
झाड़ू लगे न पानी ही हो, चूल्हे अग्निस्पर्श न पाएँ॥ १९॥
और न हो बलिवैश्व, हवन, मख, जाप, न मन्त्र-पाठ हो पाए।
गृह ढह जाएँ ऐसे, जैसे वृहद अकाल कहीं पड़ जाए॥
बिखरित छिन्न पात्र हों सबमें, छोड़ें हम सब शीघ्र भवन को।
ऐसे भवनों पर शासन कर, मुदित करें कैकेयी मन को॥२०-२१॥
जाते राम जहाँ, वह वन ही नगर-रूप में हो परिवर्तित।
जिसे त्यागते राम, नगर वह, वन-स्वरूप में होवे दर्शित॥ २२॥
शैल-शिखर छोड़ें खग, मृग सब, त्यागें सब गज, सिंह वनों को।
भय से छोड़ें सर्प बिलों को, देख-देखकर हम-मनुजों को॥ २३॥
जिन स्थानों को त्याग रहे हम, सर्प आदि सब उनमें आएँ।
तृण-चर, मांसाशी, फल-भक्षी, पशु, खग इस स्थल को अपनाएँ॥
हम राघव-सँग मुदित रहेंगे और यहाँ कैकेयी आएँ।
सुत, बान्धव-सँग शासन करके अपना मानस-मोद बढ़ाएँ॥२४-२५॥
ऐसी बातें सुनीं राम ने नगर-जनों के मुख से निःसृत।
किन्तु न उनका निर्विकार मुख, ये सब बातें सुनकर विचलित॥ २६॥
विक्रमी मत्त गज-सम, धार्मिक, राम गये कैकेयि-भवन में।
जो कैलास-शिखर-सम उत्तम शुभ्र लग रहा था दर्शन में॥ २७॥
विनयशील पुरुषों से संयुत राम हुए जब उसमें प्रविशित।
देखा वहाँ सुमन्त्र, पास में खड़े हुए हैं होकर दुःखित॥ २८॥

प्रतीक्षमाणोऽभिजनं तदार्त-
मनार्तरूपः प्रहसन्निवाथ ।
जगाम रामः पितरं दिदृक्षुः
पितुर्निदेशं विधिवच्चिकीर्षुः ॥ २९ ॥
तत्पूर्वमैक्ष्वाकसुतो महात्मा
रामो गमिष्यन् नृपमार्तरूपम् ।
व्यतिष्ठत प्रेक्ष्य तदा सुमन्त्रं
पितुर्महात्मा प्रतिहारणार्थम् ॥ ३० ॥
पितुर्निदेशेन तु धर्मवत्सलो
वनप्रवेशे कृतबुद्धिनिश्चयः ।
स राघवः प्रेक्ष्य सुमन्त्रमब्रवी-
न्निवेदयस्वागमनं नृपाय मे ॥ ३१ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

सीता और लक्ष्मण-सहित श्रीराम का रानियों-सहित राजा दशरथ के पास जाकर वनवास के लिए विदा माँगना, राजा का शोक और मूर्च्छा, श्रीराम का उन्हें समझाना तथा राजा का श्रीराम को हृदय से लगाकर पुनः मूर्च्छित हो जाना

ततः कमलपत्राक्षः श्यामो निरुपमो महान् ।
उवाच रामस्तं सूतं पितुराख्याहि मामिति ॥ १ ॥
स रामप्रेषितः क्षिप्रं संतापकलुषेन्द्रियम् ।
प्रविश्य नृपतिं सूतो निःश्वसन्तं ददर्श ह ॥ २ ॥
उपरक्तमिवादित्यं भस्मच्छन्नमिवानलम् ।
तटाकमिव निस्तोयमपश्यज्जगतीपतिम् ॥ ३ ॥
आबोध्य च महाप्राज्ञः परमाकुलचेतनम् ।
राममेवानुशोचन्तं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४ ॥
तं वर्धयित्वा राजानं पूर्वं सूतो जयाशिषा ।
भयविक्लवया वाचा मन्दया श्लक्ष्णयाब्रवीत् ॥ ५ ॥
अयं स पुरुषव्याघ्रो द्वारि तिष्ठति ते सुतः ।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा सर्वं चैवोपजीविनाम् ॥ ६ ॥
स त्वां पश्यतु भद्रं ते रामः सत्यपराक्रमः ।
सर्वान् सुहृद आपृच्छ्य त्वां हीदानीं दिदृक्षते ॥ ७ ॥

अवध-निवासी खिन्न वहाँ थे दुखी पुरुष समुपस्थित
किन्तु देखकर उन्हें, राम प्रभु हुए न किञ्चित् विचलित।
विधिवत् तथा पिताज्ञा-पालन करने की इच्छा से
उनके दर्शन-हेतु बढ़े वे, आगे होकर सस्मित[1] ॥ २९ ॥
शोकाकुल नृप के समीप में जाने को तब तत्पर
राम महात्मा ने देखा, हैं वहाँ सुमन्त्र सचिव वर।
उनके द्वारा निजागमन-सूचना महल में भेजी
पितु-अनुमति आने तक रघुपति ठहरे रहे वहीं पर ॥ ३० ॥
विपिन-गमन पर दृढ़ निश्चय की उर में रख इच्छाएँ
राम, पिता की सभी पालने को विधिवत् आज्ञाएँ।
उन सुमन्त्र की ओर देखकर बोले धर्म-प्रवत्सल
महाराज को मेरे आने का संदेश पठाएँ! ॥ ३१ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में तेंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३३ ॥

चौंतीसवाँ सर्ग

सीता और लक्ष्मण-सहित श्रीराम का रानियों-सहित राजा दशरथ के पास जाकर वनवास के लिए विदा माँगना, राजा का शोक और मूर्च्छा, श्रीराम का उन्हें समझाना तथा राजा का श्रीराम को हृदय से लगाकर पुनः मूर्च्छित हो जाना

कमल-नयन, निरुपम सु-श्याम तनु, राम महात्मन् उस अवसर पर।
बोले उन सुमन्त्र से, कह दें! पूज्य पिता से, आये रघुवर ॥ १ ॥
राम-प्र-प्रेरित, नृप-दर्शन को गये सचिव तब शीघ्र वहाँ से।
देखा, तप्त-कलुष[2] इन्द्रिय-वश, नृप लेते हैं गहरी साँसें ॥ २ ॥
राहु-ग्रसित रवि, जल-विहीन सर, भस्मावृत-पावक[3] हो जैसे।
श्री-विहीन दशरथ भूपति को तब सुमन्त्र ने देखा वैसे ॥ ३ ॥
व्याकुल होकर वे करते थे रामचन्द्र का ही तब चिन्तन।
कहा सूत ने सम्बोधित कर, हाथ जोड़, उनका कर वन्दन ॥ ४ ॥
प्रथम सूत ने जय-आशिष् के महाराज को वचन सुनाये।
फिर भय-व्याकुल, मन्द मधुर कुछ वाक्य-कथन साहस कर पाये ॥ ५ ॥
भूप! ब्राह्मणाश्रितों, सेवकों को अपना सारा धन देकर।
सत्यविक्रमी नृवर राम हैं खड़े द्वार का आश्रय लेकर ॥ ६ ॥
हो कल्याण आपका! वे अब अपने सब मित्रों से मिलकर।
चाह रहे है दर्शन करना नाथ! आपका इस अवसर पर ॥ ७ ॥

---

1 प्रसन्न मुद्रा में; 2 सन्ताप से कलुषित; 3 राख में छिपी अग्नि।

गमिष्यति महारण्यं तं पश्य जगतीपते ।
वृतं राजगुणैः सर्वैरादित्यमिव रश्मिभिः ॥ ८ ॥
स सत्यवाक्यो धर्मात्मा गाम्भीर्यात् सागरोपमः ।
आकाश इव निष्पङ्को नरेन्द्रः प्रत्युवाच तम् ॥ ९ ॥
सुमन्त्रानय मे दारान् ये केचिदिह मामकाः ।
दारैः परिवृतः सर्वैर्द्रष्टुमिच्छामि राघवम् ॥ १० ॥
सोऽन्तःपुरमतीत्यैव स्त्रियस्ता वाक्यमब्रवीत् ।
आर्यो ह्वयति वो राजा गम्यतां तत्र मा चिरम् ॥ ११ ॥
एवमुक्ताः स्त्रियः सर्वाः सुमन्त्रेण नृपाज्ञया ।
प्रचक्रमुस्तद् भवनं भर्तुराज्ञाय शासनम् ॥ १२ ॥
अर्धसप्तशतास्तत्र प्रमदास्ताम्रलोचनाः ।
कौसल्यां परिवार्याथ शनैर्जग्मुर्धृतव्रताः ॥ १३ ॥
आगतेषु च दारेषु समवेक्ष्य महीपतिः ।
उवाच राजा तं सूतं सुमन्त्रानय मे सुतम् ॥ १४ ॥
स सूतो राममादाय लक्ष्मणं मैथिलीं तथा ।
जगामाभिमुखस्तूर्णं सकाशं जगतीपतेः ॥ १५ ॥
स राजा पुत्रमायान्तं दृष्ट्वा चारात् कृताञ्जलिम् ।
उत्पपातासनात् तूर्णमार्तः स्त्रीजनसंवृतः ॥ १६ ॥
सोऽभिदुद्राव वेगेन रामं दृष्ट्वा विशाम्पतिः ।
तमसम्प्राप्य दुःखार्तः पपात भुवि मूर्च्छितः ॥ १७ ॥
तं रामोऽभ्यपतत् क्षिप्रं लक्ष्मणश्च महारथः ।
विसंज्ञमिव दुःखेन सशोकं नृपतिं तथा ॥ १८ ॥
स्त्रीसहस्रनिनादश्च संजज्ञे राजवेश्मनि ।
हा हा रामेति सहसा भूषणध्वनिमिश्रितः ॥ १९ ॥
तं परिष्वज्य बाहुभ्यां तावभौ रामलक्ष्मणौ ।
पर्यङ्के सीतया सार्धं रुदन्तः समवेशयन् ॥ २० ॥
अथ रामो मुहूर्तस्य लब्धसंज्ञं महीपतिम् ।
उवाच प्राञ्जलिर्बाष्पशोकार्णवपरिप्लुतम् ॥ २१ ॥
आपृच्छे त्वां महाराज सर्वेषामीश्वरोऽसि नः ।
प्रस्थितं दण्डकारण्यं पश्य त्वं कुशलेन माम् ॥ २२ ॥
लक्ष्मणं चानुजानीहि सीता चान्वेतु मां वनम् ।
कारणैर्बहुभिस्तथ्यैर्वार्यमाणौ न चेच्छतः ॥ २३ ॥

राज-गुणों से किरणान्वित रवि-सम वे महारण्य[1] जाएँगे।
अतः आप भी उन्हें देखकर मन में तोष अधिक पाएँगे॥ ८ ॥
सिन्धु-सदृश गम्भीर, गगन-सम निर्मल सत्य-व्रती वे नृपवर।
बोले दशरथ धर्मात्मा तब उनको देते हुए समुत्तर॥ ९ ॥
प्रस्तुत सभी रानियों को तुम शीघ्र बुलाओ! अब इस स्थल पर।
चाह रहा, देखूँ राघव को, उन सबके सँग आज, मन्त्रिवर!॥ १० ॥
तब सुमन्त्र ने कहा रानियों से उस अन्तःपुर में जाकर।
बुला रहे हैं नृपति, देवियो! शीघ्र आप सब मिल लें आकर॥ ११ ॥
राजा की आज्ञा से तब फिर उन सुमन्त्र के यह कहने पर।
सभी रानियाँ चलीं भवन को स्वाम्यादेश[2] मानकर सत्वर॥ १२ ॥
सार्द्ध तीन शत[3] अरुणिम-नयना पतिव्रताएँ उत्सुक मन में।
कौसल्या को घेर, गईं वे धीरे-धीरे राज-भवन में॥ १३ ॥
कहा सूत से तब दशरथ ने, सभी रानियों के आने पर।
अब सुमन्त्र! तुम शीघ्र बुलाओ! मेरे सुत को शीघ्र यहाँ पर॥ १४ ॥
गये शीघ्र ही वे सुमन्त्र फिर, नृप दशरथ की आज्ञा पाकर।
लौटे, सीता, राम-सग में, लक्ष्मण भ्राता को भी लाकर॥ १५ ॥
खड़े हुए, कर-बद्ध पुत्र को देख, नृपति आसन से उठकर।
घिरे हुए थे महिलाओं से, वे थे शोकित उस अवसर पर॥ १६ ॥
दौड़े प्रजा-पाल नृप अपने सुत को देख, वेग से सत्वर।
किन्तु निकट आने के पहले, गिरे शोक-मूर्च्छित हो भू पर॥ १७ ॥
देखा राम वीर लक्ष्मण ने, जब नृप गिरे शोक में आकर।
तब भूपति के पास शीघ्र दोनों सवेग ही पहुँचे जाकर॥ १८ ॥
भूषण-ध्वनि-सँग भवन-मध्य में महिला-आर्त-घोर ध्वनि छाई।
सभी ओर 'हा राम! राम हा' पड़ता था यह शब्द सुनाई॥ १९ ॥
सीता, राम, लखन—तीनों ने भूपति को तत्काल उठाया।
रोते हुए, उन्हें तत्क्षण ही उनकी शय्या पर बिठलाया॥ २० ॥
शोक-मग्न भूपति दो घड़ियों में जब हुए यथोचित सुस्थिर।
हाथ जोड़कर कहा राम ने नृप दशरथ से तब ऐसे फिर॥ २१ ॥
आज्ञा लेने मैं आया हूँ. महाराज! दण्डक वन-गामी।
देखें मगल-कृपा-दृष्टि से मुझ, आप हम सबके स्वामी॥ २२ ॥
सीता, लक्ष्मण का भी स्वीकृत करें! साथ ही वन में रहना।
सत्य कारणों के कहने पर भी वे नहीं मानते कहना॥

1 घोर वन; 2 स्वामी (पति) दशरथ का आदेश; 3 साढ़े तीन सौ।

अनुजानीहि सर्वान् नः शोकमुत्सृज्य मानद ।
लक्ष्मणं मां च सीतां च प्रजापतिरिवात्मजान् ॥ २४ ॥
प्रतीक्षमाणमव्यग्रमनुज्ञां जगतीपतेः ।
उवाच राजा सम्प्रेक्ष्य वनवासाय राघवम् ॥ २५ ॥
अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः ।
अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम् ॥ २६ ॥
एवमुक्तो नृपतिना रामो धर्मभृतां वरः ।
प्रत्युवाचाञ्जलिं कृत्वा पितरं वाक्यकोविदः ॥ २७ ॥
भवान् वर्षसहस्राय पृथिव्या नृपते पतिः ।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे राज्यस्य काङ्क्षिता ॥ २८ ॥
नव पञ्च च वर्षाणि वनवासे विहृत्य ते ।
पुनः पादौ ग्रहीष्यामि प्रतिज्ञान्ते नराधिप ॥ २९ ॥
रुदन्नार्तः प्रियं पुत्रं सत्यपाशेन संयुतः ।
कैकेय्या चोद्यमानस्तु मिथो राजा तमब्रवीत् ॥ ३० ॥
श्रेयसे वृद्धये तात पुनरागमनाय च ।
गच्छस्वारिष्टमव्यग्रः पन्थानमकुतोभयम् ॥ ३१ ॥
न हि सत्यात्मनस्तात धर्माभिमनसस्तव ।
संनिवर्तयितुं बुद्धिः शक्यते रघुनन्दन ॥ ३२ ॥
अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा ।
एकाहं दर्शनेनापि साधु तावच्चराम्यहम् ॥ ३३ ॥
मातरं मां च सम्पश्यन् वसेमामद्य शर्वरीम् ।
तर्पितः सर्वकामैस्त्वं श्वः काल्ये साधयिष्यसि ॥ ३४ ॥
दुष्करं क्रियते पुत्र सर्वथा राघव प्रिय ।
त्वया हि मत्प्रियार्थं तु वनमेवमुपाश्रितम् ॥ ३५ ॥
न चैतन्मे प्रियं पुत्र शपे सत्येन राघव ।
छन्नया चलितस्त्वस्मि स्त्रिया भस्माग्निकल्पया ॥ ३६ ॥
वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि ।
अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याभिप्रचोदितः ॥ ३७ ॥
न चैतदाश्चर्यतमं यत् त्वं ज्येष्ठः सुतो मम ।
अपानृतकथं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि ॥ ३८ ॥
अथ रामस्तदा श्रुत्वा पितुरार्तस्य भाषितम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा दीनो वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

मानद[१] ! हों निःशोक ! सभी को विपिन-गमन-आज्ञा दें ! वैसे ।
ब्रह्मा ने सनकादि सुतों को, वन-तप की अनुमति दी जैसे ।।२३-२४।।
शान्त राम, वन-वास-नृपाज्ञा-प्राप्ति-प्रतीक्षा में थे रत जब ।
महाराज ने देख राम की ओर, कहा उनसे ऐसा तब ।। २५ ।।
कैकेयी - वर - पाश - मोह में बँधा हुआ हूँ मैं रघुनन्दन ।
राज्य सँभालो ! पुरी अयोध्या का, मुझको दे ! कारा-बन्धन[२] ।। २६ ।।
वार्ता - कुशल, राम धर्मात्मा महाराज के यह कहने पर ।
उत्तर में जब नृपति पिता से बोले, फिर जोड़े अपने कर ।। २७ ।।
आप सहस्रों वर्ष धरा के बने रहें ! भूपतिवर ! स्वामी ।
अब वन में मैं वास करूँगा, मैं हूँ नहीं राज्य का कामी[३] ।। २८ ।।
तथा आपकी पूर्ण प्रतिज्ञा कर, चौदह वर्षों-वन रहकर ।
पुनः आपके श्रीचरणों पर शीश झुकाऊँगा भूपतिवर ! ।। २९ ।।
सत्य-बन्ध में बँधे तथा फिर कैकेयी से बाधित होकर ।
प्रिय सुत रामचन्द्र से बोले वे नृप आर्त-भाव से रोकर ।। ३० ।।
शान्त-भाव से तात ! वृद्धि, शुभ और लौटने को फिर जाओ ! ।
मार्ग तुम्हारा विघ्न-हीन हो, निर्भयता से समय बिताओ ! ।। ३१ ।।
राम पुत्र ! तुम सत्य-रूप हो, धार्मिकता तुममें मैं पाता ।
तव विचार को परिवर्तित अब करना मुझको कठिन दिखाता ।।
किन्तु एक निशि यात्रा रोको मम समीप दिन एक बिताओ ।
एक दिवस मैं तुम्हें ठीक से देखूँ सुखद, आज रुक जाओ ।। ३२-३३।।
मेरी, अपनी माँ की स्थिति को देख, रात्रि में तुम रह जाओ ! ।
साध मिटा लूँ आज, सुवन ! फिर प्रातः यात्रा-पथ अपनाओ ।। ३४ ।।
प्रियवर राम ! कर रहे हो तुम, मेरे लिए सर्वथा दुष्कर ।
मेरा प्रिय करने पर तत्पर, वन-निवास के दृढ़ निश्चय पर ।। ३५ ।।
सत्य-शपथ लेकर मैं कहता, मुझे नहीं प्रिय गमन तुम्हारा ।
यह भस्मावृत गुप्त अग्नि-सम, हुआ मूर्ख कैकेयी द्वारा ।।
वर के मिस[४] इस कुलांगारिणी कैकेयी ने मुझे छला है ।
उसे पार करने का रघुपति तुम पर कैसे भार भला है ? ।। ३६-३७।।
मेरी सत्यवादिता के हित बात नहीं है यह कुछ अद्भुत ।
क्योंकि अवस्था और गुणों में तुम मेरे हो राम ! ज्येष्ठ सुत ।। ३८ ।।
अपने शोकाकुल दशरथ नृप पिता-वचन को कर श्रुति-गोचर[५] ।
अनुज लखन-सँग, राघव ने तब कहा पिता से शोकित होकर ।। ३९ ।।

---

१ दूसरों को मान देनेवाले; २ कारागार; ३ इच्छुक; ४ बहाना; ५ सुनकर ।

प्राप्स्यामि यानद्य गुणान् को मे श्वस्तान् प्रदास्यति।
अपक्रमणमेवातः सर्वकामैरहं वृणे ॥ ४० ॥
इयं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला।
मया विसृष्टा वसुधा भरताय प्रदीयताम् ॥ ४१ ॥
वनवासकृता बुद्धिर्न च मेऽद्य चलिष्यति।
यस्तु युद्धे वरो दत्तः कैकेय्यै वरद त्वया ॥ ४२ ॥
दीयतां निखिलेनैव सत्यस्त्वं भव पार्थिव।
अहं निदेशं भवतो यथोक्तमनुपालयन् ॥ ४३ ॥
चतुर्दश समा वत्स्ये वने वनचरैः सह।
मा विमर्शो वसुमती भरताय प्रदीयताम् ॥ ४४ ॥
नहि मे काङ्क्षितं राज्यं सुखमात्मनि वा प्रियम्।
यथानिदेशं कर्तुं वै तवैव रघुनन्दन ॥ ४५ ॥
अपगच्छतु ते दुःखं मा भूर्बाष्पपरिप्लुतः।
नहि क्षुभ्यति दुर्धर्षः समुद्रः सरितां पतिः ॥ ४६ ॥
नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मेदिनीम्।
नैव सर्वानिमान् कामान् न स्वर्गं न च जीवितुम् ॥ ४७ ॥
त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ।
प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे ॥ ४८ ॥
न च शक्यं मया तात स्थातुं क्षणमपि प्रभो।
स शोकं धारयस्वेमं नहि मेऽस्ति विपर्ययः ॥ ४९ ॥
अर्थितो ह्यस्मि कैकेय्या वनं गच्छेति राघव।
मया चोक्तं व्रजामीति तत्सत्यमनुपालये ॥ ५० ॥
मा चोत्कण्ठां कृथा देव वने रंस्यामहे वयम्।
प्रशान्तहरिणाकीर्णे नानाशकुनिनादिते ॥ ५१ ॥
पिता हि दैवतं तात देवतानामपि स्मृतम्।
तस्माद् दैवतमित्येव करिष्यामि पितुर्वचः ॥ ५२ ॥
चतुर्दशसु वर्षेषु गतेषु नृपसत्तम।
पुनर्द्रक्ष्यसि मां प्राप्तं संतापोऽयं विमुच्यताम् ॥ ५३ ॥
येन संस्तम्भनीयोऽयं सर्वो बाष्पकलो जनः।
स त्वं पुरुषशार्दूल किमर्थं विक्रियां गतः ॥ ५४ ॥

पुरं च राष्ट्रं च मही च केवला
मया विसृष्टा भरताय दीयताम्।
अहं निदेशं भवतोऽनुपालयन्
वनं गमिष्यामि चिराय सेवितुम् ॥ ५५ ॥

यात्रा के फल आज गँवाकर, कल न उन्हें, प्रभु ! फिर पाऊँगा ।
अतः अन्य सुख तज, दृढ़ हूँ, मैं चला आज ही वन जाऊँगा ॥ ४० ॥
त्याग रहा मैं राष्ट्र-जनों सँग यह पृथ्वी धन-धान्य-समन्वित ।
अतः इन्हें अब महाराज ! मम अनुज भरत को कर दें अर्पित ॥ ४१ ॥
मेरा वन-निवास का निश्चय बदल न पाएगा, नृप ! निश्चित ।
रण में प्रण ज्यों दिया कैकयी को अर्पण करना है समुचित ॥
उसे पूर्ण कर, बनें आप ! अब सत्यवादिवर (निखिल भुवन में) ।
करता हुआ आपकी आज्ञा का पालन मैं निवसूँ[1] वन में ॥४२-४३॥
मैं वन-चारि प्राणियों के सँग वास करूँगा वर्ष चतुर्दश ।
देवें विना विमर्ष[2] भूमि यह, आप ! भरत को शीघ्र, महायश ! ॥ ४४ ॥
मुझे नहीं थी राज्य-ग्रहण में, स्वजन तथा निज सुख-पिपासा ।
अपितु, आपकी आज्ञा-पालन को थी राज्य-ग्रहण-अभिलाषा ॥ ४५ ॥
ऐसे हो दुख दूर आपका तथा न आँसू आप बहाएँ ।
प्रबल सरित्पति[3] नहीं छोड़ता दुःखित हो अपनी सीमाएँ ॥ ४६ ॥
मुझे राज्य-सुख, स्वर्ग, धरणि की नहीं भूप ! है कुछ अभिलाषा ।
तथा न भोगों की लिप्सा है, जीवन की है नहीं पिपासा ॥ ४७ ॥
इच्छा है, हो वचन न मिथ्या, आप सत्यवादी कहलाएँ ।
लेकर शपथ, सत्य, शुभकर्मों की करता मैं ये वार्ताएँ ॥ ४८ ॥
तात ! प्रभो ! मैं किसी भाँति भी अब न यहाँ क्षण भर रुक सकता ।
निश्चय के विपरीत कठिन प्रभु ! आप दबाएँ ! निज व्याकुलता ॥ ४९ ॥
'वन को जाओ, राम !' कैकयी-आज्ञा थी, मैंने की स्वीकृति ।
उसी सत्य-पालन-हित तत्पर, (पितुवर ! मुझे दीजिए अनुमति) ॥ ५० ॥
देव ! बीच में आप न होवें बिलकुल व्यग्र और उत्कण्ठित ।
शान्त मृगों, खग-कलरव-वन में हम सब होंगे अति आनन्दित ॥ ५१ ॥
तात ! पिता को, देवों का भी, हैं सज्जन देवता बताते ।
अतः करूँगा आज्ञा - पालन मैं अब पिता - देवता - नाते ॥ ५२ ॥
नृपवर ! यह सन्ताप तजें, जब चौदह वर्ष बीत जाएंगे ।
तब नृप ! आप मुझे निश्चित फिर आया हुआ यहाँ पाएँगे ॥ ५३ ॥
पुरुषसिंह रोते पुरुषों में क्यों न धैर्य-बल आप बढ़ाते ।
निज कर्तव्य त्यागकर कैसे ? आप स्वयं व्याकुल दिखलाते ॥ ५४ ॥

छोड़ा मैंने नगर, राज्य यह, छोड़ी पृथ्वी सारी
इनको देकर आप ! भरत को करें राज्य-अधिकारी ! ।
बहुत समय तक पिता-प्रतिज्ञा-पालन का व्रत लेकर
मैं अब विपिन-वास-यात्रा की करता हूँ तैयारी ॥ ५५ ॥

---

1 निवास करूँ, रहूँ; 2 क्षोभ; 3 नदियों का स्वामी समुद्र ।

मया विसृष्टां भरतो महीमिमां
सशैलखण्डां सपुरोपकाननाम् ।
शिवासु सीमास्वनुशास्तु केवलं
त्वया यदुक्तं नृपते तथास्तु तत् ॥ ५६ ॥

न मे तथा पार्थिव धीयते मनो
महत्सु कामेषु न चात्मनः प्रिये ।
यथा निदेशे तव शिष्टसम्मते
व्यपैतु दुःखं तव मत्कृतेऽनघ ॥ ५७ ॥

तदद्य नैवानघ राज्यमव्ययं
न सर्वकामान् वसुधां न मैथिलीम् ।
न चिन्तितं त्वामनृतेन योजयन्
वृणीय सत्यं व्रतमस्तु ते तथा ॥ ५८ ॥

फलानि मूलानि च भक्षयन् वने
गिरींश्च पश्यन् सरितः सरांसि च ।
वनं प्रविश्यैव विचित्रपादपं
सुखी भविष्यामि तवास्तु निर्वृतिः ॥ ५९ ॥

एवं स राजा व्यसनाभिपन्न-
स्तापेन दुःखेन च पीड्यमानः ।
आलिङ्ग्य पुत्रं सुविनष्टसंज्ञो
भूमिं गतो नैव विचेष्ट किंचित् ॥ ६० ॥

देव्यः समस्ता रुरुदुः समेता-
स्तां वर्जयित्वा नरदेवपत्नीम् ।
रुदन् सुमन्त्रोऽपि जगाम मूर्च्छां
हाहाकृतं तत्र बभूव सर्वम् ॥ ६१ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

सुमन्त्र के समझाने और फटकारने पर भी कैकेयी का टस-से-मस न होना

ततो निधूय सहसा शिरो निःश्वस्य चासकृत् ।
पाणिं पाणौ विनिष्पिष्य दन्तान् कटकटाय्य च ॥ १ ॥

लोचने कोपसंरक्ते वर्णं पूर्वोचितं जहत् ।
कोपाभिभूतः सहसा संतापमशुभं गतः ॥ २ ॥

शैल, नगर, उपवनों-सहित यह पृथ्वी मैंने त्यागी
कल्याणी मर्यादा-स्थित हो इसे भरत बड़भागी।
पालें; होवें वचन आपके सत्य, नरेश्वर! निश्चय
यही भावना मेरे मन में भलीभाँति है जागी ॥ ५६ ॥

अनुमोदित है अनघ[1] भूप! जो कर्म सज्जनों द्वारा
उस आज्ञा-पालन में मेरा मानस-सुख है न्यारा।
बड़े-बड़े सद्भोग-पदार्थों में न प्रीति है मेरी
त्यागें! मेरा विरह-शोक अब, आग्रह यही हमारा ॥ ५७ ॥

अवधनरेश! आपको मिथ्यावादी आज बना के
नहीं चाहता, मैं यह अक्षय राज्य-भोग वसुधा के।
तथा न मैथिलि सीता को ही कर सकता हूँ स्वीकृत
इच्छा है बस आप रह सकें, सत्यप्रतिज्ञ कहा के[2] ॥ ५८ ॥

मैं विचित्र तरु-युत वन में जा, फल, मूलादिक खाकर
नदी, पर्वतों, सरोवरों के दर्शन के सुख पाकर।
अति प्रसन्न हो, दण्डक वन में रह लूँगा तब निश्चय
अतः रहें निःशोक, आप अब मन को शान्त बनाकर ॥ ५९ ॥

सुत-विछोह-संकट में थे वे जो दशरथ भूपति वर
पीड़ित हुए राम के ऐसा निज निश्चय कहने पर।
तथा राम को हृदय लगाकर हुए अचेत पुनः वे
जड़ की भाँति गिरे पृथ्वी पर मिला न चेष्टा-अवसर ॥ ६० ॥

रोने लगीं रानियाँ तब सब भर नेत्रों में पानी
केवल रोई नहीं वहाँ पर वह कैकेयी रानी।
हाहाकार मच गया तब फिर उत्तम राज-भवन में
रोते-रोते हुए विमूर्च्छित वे सुमन्त्र भी ज्ञानी ॥ ६१ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३४ ॥

पैंतीसवाँ सर्ग

सुमन्त्र के समझाने और फटकारने पर भी कैकेयी का टस-से-मस न होना

सारथि सहसा खड़े हो गये, उन्हें चेतना जब कुछ आई।
उनके उर सन्ताप अमंगलकारी देता था दिखलाई॥
गहरी साँसें ले, वे अपने हाथ मींजते अरुण-नयन थे।
दाँत कटकटाकर कम्पित वे, स्वाभाविक निष्कान्त-वदन[3] थे॥

---

१ निष्पाप; २ कहे जाकर, प्रसिद्धि प्राप्त करके; ३ तेज-रहित मुखवाले।

मनः समीक्षमाणश्च सूतो दशरथस्य च।
कम्पयन्निव कैकेय्या हृदयं वाक्शरैः शितैः॥ ३॥
वाक्यवज्रैरनुपमैर्निर्भिन्दन्निव चाशुभैः।
कैकेय्याः सर्वमर्माणि सुमन्त्रः प्रत्यभाषत॥ ४॥
यस्यास्तव पतिस्त्यक्तो राजा दशरथः स्वयम्।
भर्ता सर्वस्य जगतः स्थावरस्य चरस्य च॥ ५॥
न ह्यकार्यतमं किंचित्तव देवीह विद्यते।
पतिघ्नीं त्वामहं मन्ये कुलघ्नीमपि चान्ततः॥ ६॥
यन्महेन्द्रमिवाजय्यं दुष्प्रकम्प्यमिवाचलम्।
महोदधिमिवाक्षोभ्यं संतापयसि कर्मभिः॥ ७॥
मावमंस्था दशरथं भर्तारं वरदं पतिम्।
भर्तुरिच्छा हि नारीणां पुत्रकोट्या विशिष्यते॥ ८॥
यथावयो हि राज्यानि प्राप्नुवन्ति नृपक्षये।
इक्ष्वाकुकुलनाथेऽस्मिंस्तं लोपयितुमिच्छसि॥ ९॥
राजा भवतु ते पुत्रो भरतः शास्तु मेदिनीम्।
वयं तत्र गमिष्यामो यत्र रामो गमिष्यति॥ १०॥
न च ते विषये कश्चिद् ब्राह्मणो वस्तुमर्हति।
तादृशं त्वममर्यादमद्य कर्म करिष्यसि॥ ११॥
नूनं सर्वे गमिष्यामो मार्गं रामनिषेवितम्।
त्यक्ता या बान्धवैः सर्वैर्ब्राह्मणैः साधुभिः सदा॥ १२॥
का प्रीती राज्यलाभेन तव देवि भविष्यति।
तादृशं त्वममर्यादं कर्म कर्तुं चिकीर्षसि॥ १३॥
आश्चर्यमिव पश्यामि यस्यास्ते वृत्तमीदृशम्।
आचरन्त्या न विवृता सद्यो भवति मेदिनी॥ १४॥
महाब्रह्मर्षिसृष्टा वा ज्वलन्तो भीमदर्शनाः।
धिग्वाग्दण्डा न हिंसन्ति रामप्रव्राजने स्थिताम्॥ १५॥
आम्रं छित्त्वा कुठारेण निम्बं परिचरेत् तु कः।
यश्चैनं पयसा सिञ्चेन्नैवास्य मधुरो भवेत्॥ १६॥
आभिजात्यं हि ते मन्ये यथा मातुस्तथैव च।
न हि निम्बात् स्रवेत् क्षौद्रं लोके निगदितं वचः॥ १७॥
तव मातुरसद्ग्राहं विद्म पूर्वं यथा श्रुतम्।
पितुस्ते वरदः कश्चिद् ददौ वरमनुत्तमम्॥ १८॥
सर्वभूतरुतं तस्मात् संजज्ञे वसुधाधिपः।
तेन तिर्यग्गतानां च भूतानां विदितं वचः॥ १९॥

दशरथ-मन-सन्ताप देख, निज शीश पीटते थे वे कर से।
फिर कैकेयी-हृदय प्रकम्पित करने लगे वचन के शर से ॥ १-३ ॥
कैकेयी - मर्मस्थानों का करते हुए सुमन्त्र विदारण।
वचन अशुभ, अनुपम वे बोले, वज्राघात-सदृश तब उस क्षण ॥ ४ ॥
सकल चराचर जग-पति दशरथ पति का ही कर परित्याग अब।
सिद्ध कर दिया तुमने ! तुमसे हो सकते जग के कुकर्म सब ॥
पति-हत्यारिणि तो हो ही तुम ! किन्तु समझ में यह भी आया।
रचा रही हो ! इस अवसर पर तुम कुल-घातिनि कुत्सित माया ॥ ५-६ ॥
जो अजेय, अक्षोभ, अकम्पन, हैं महेन्द्र, वारिधि, गिरि-जैसे।
उन दशरथ को निज कर्मों से किया तप्त तुमने अब ऐसे ? ॥ ७ ॥
नृप, पति, पालक, वरदाता हैं, उनका तुम मत मान नशाओ।
पति-इच्छा है कोटि सुतों से बढ़कर, बात ध्यान में लाओ ॥ ८ ॥
नृप के मरने पर इस कुल में ज्येष्ठ पुत्र शासन है पाता।
दशरथ के जीते जी यह सब नियम मिटा दोगी ! दिखलाता ॥ ९ ॥
पुत्र तुम्हारे भरत, भूप हों, शासन करें, धरणि का अक्षय।
जहाँ जायँगे राम, हम सभी किन्तु वहीं जायेंगे निश्चय ॥ १० ॥
नहीं तुम्हारे राज्यस्थल में वास करेगा कोई ब्राह्मण।
यदि मर्यादाहीन करोगी ! कार्य आज तुम ! भरे कुलक्षण ॥
तो हम सभी राम से सेवित पथ को ही बस अपनाएँगे।
बन्धु-बान्धव, विप्र सदाचारी तुमको तजकर जायेंगे ॥११-१२॥
तब तुम देवि ! राज्य पा करके भी पाओगी भला कौन सुख ?।
आह ! अधम ऐसा मर्यादा-हीन कर्म करने को उन्मुख ! ॥ १३ ॥
मुझको तो आश्चर्य हो रहा, नहीं समझ में वार्ता आती।
जो कि तुम्हारे अत्याचारों से न तुरत पृथिवी फट जाती ॥ १४ ॥
अथवा वे ब्रह्मर्षि, पापि-जन जिनसे शीघ्र भस्म हो जाते।
वे तुम, राम-गेह-निष्कासिनि को क्यों नष्ट नहीं कर पाते ॥ १५ ॥
भला, आम्र-तरु-काट कुल्हाड़ी से, कोई क्या निम्ब लगाता ?।
और दूध से उसे सींच क्या उससे है मीठा फल पाता ? ॥ १६ ॥
निज माता के तद्वत ही, कैकेयी ! दुष्ट स्वभाव तुम्हारा।
सत्य कहावत है, न निम्ब से कभी निकलती मधु की धारा ॥ १७ ॥
मुझे तुम्हारी मातृ-दुराग्रह का भी वृत्त ज्ञात है सारा।
पिता तुम्हारे ने पाया था वर, शुभ साधु व्यक्ति के द्वारा ॥ १८ ॥
लगे समझने केकय नृप वे, प्राणिमात्र-वार्ता उस वर से।
खग-पशुओं की भी वार्ता वे लगे समझने बुद्धि प्रखर से ॥ १९ ॥

ततो जृम्भस्य शयने विरुताद् भूरिवर्चसः।
पितुस्ते विदितो भावः स तत्र बहुधाहसत् ॥ २० ॥
तत्र ते जननी क्रुद्धा मृत्युपाशमभीप्शती।
हासं ते नृपते सौम्य जिज्ञाशामीति चाब्रवीत् ॥ २१ ॥
नृपश्चोवाच तां देवीं हासं शंसामि ते यदि।
ततो मे मरणं सद्यो भविष्यति न संशयः ॥ २२ ॥
माता ते पितरं देवि पुनः केकयमब्रवीत्।
शंस मे जीव वा मा वा न मां त्वं प्रहसिष्यसि ॥ २३ ॥
प्रियया च तथोक्तः स केकयः पृथिवीपतिः।
तस्मै तं वरदायार्थं कथयामास तत्त्वतः ॥ २४ ॥
ततः स वरदः साधू राजानं प्रत्यभाषत।
म्रियतां ध्वंसतां वेयं मा शंसीस्त्वं महीपते ॥ २५ ॥
स तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य प्रसन्नमनसो नृपः।
मातरं ते निरस्याशु विजहार कुबेरवत् ॥ २६ ॥
तथा त्वमपि राजानं दुर्जनाचरिते पथि।
असद्ग्राहमिमं मोहात् कुरुषे पापदर्शिनी ॥ २७ ॥
सत्यश्चात्र प्रवादोऽयं लौकिकः प्रतिभाति माम्।
पितॄन् समनुजायन्ते नरा मातरमङ्गनाः ॥ २८ ॥
नैवं भव गृहाणेदं यदाह वसुधाधिपः।
भर्तुरिच्छामुपास्वेह जनस्यास्य गतिर्भव ॥ २९ ॥
मा त्वं प्रोत्साहिता पापैर्देवराजसमप्रभम्।
भर्तारं लोकभर्तारमसद्धर्ममुपादध ॥ ३० ॥
नहि मिथ्या प्रतिज्ञातं करिष्यति तवानघः।
श्रीमान् दशरथो राजा देवि राजीवलोचनः ॥ ३१ ॥
ज्येष्ठो वदान्यः कर्मण्यः स्वधर्मस्यापि रक्षिता।
रक्षिता जीवलोकस्य बली रामोऽभिषिच्यताम् ॥ ३२ ॥
परिवादो हि ते देवि महाँल्लोके चरिष्यति।
यदि रामो वनं याति विहाय पितरं नृपम् ॥ ३३ ॥
स्वराज्यं राघवः पातु भव त्वं विगतज्वरा।
नहि ते राघवादन्यः क्षमः पुरवरे वसन् ॥ ३४ ॥
रामे हि यौवराज्यस्थे राजा दशरथो वनम्।
प्रवेक्ष्यति महेष्वासः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥ ३५ ॥

तथा जृम्भ[1] खग-शब्द एक दिन शय्यास्थित नृप ने सुन पाया।
और हँसे वह कई बार, जब वह तात्पर्य समझ में आया॥ २० ॥
कुपित मातु तब वहाँ तुम्हारी, समझी हँसी उड़ाते नृपवर।
सौम्य! बतायें कारण, बोली, मृत्यु-फाँस को मन में धरकर॥ २१ ॥
नृप बोले, यदि देवि! बता दूँ, हँसने का कारण सुविलक्षण।
इसमें संशय नहीं, मृत्यु तब हो जाएगी, मेरी तत्क्षण॥ २२ ॥
देवि! तुम्हारी माँ फिर बोली, 'जियो या मरो, मुझे बताओ!
जिससे मेरा फिर भविष्य में तुम उपहास नहीं कर पाओ'॥ २३ ॥
रानी के ऐसा कहने पर, नृप ने वरद[2] साधु तक जाकर।
अपनी बात बताई सारी, उन्हें ठीक से तब समझाकर॥ २४ ॥
मरे, या कि गृह-बाहर जाए, महाराज! वह दुष्टा जाया[3]।
किन्तु न उसको कभी बताना! उन्हें साधु ने यह बतलाया॥ २५ ॥
मुदित साधु से यह सुन, नृप ने उसे निकाला गृह से तत्क्षण।
स्वयं कुबेर-सदृश तदनन्तर करने लगे मोदमय विहरण॥ २६ ॥
ऐसे ही, दुर्जन-पथ-रत तुम! अपनी पाप-दृष्टि अब रखकर।
मोहित, नृप से आग्रह करती हो! अनुचित ऐसे अवसर पर॥ २७ ॥
सोलह आने सत्य, मुझे यह देवि! आज लोकोक्ति दिखाती।
पुत्र पिता-जैसे होते हैं, पुत्री माता-समता पाती॥ २८ ॥
किन्तु न ऐसी बनो देवि! नृप जो कहते, उसको स्वीकारो!।
जन-समूह की बनो शरणदा[4] सबको दुख से देवि! उबारो!॥ २९ ॥
पाप-विचारक पुरुषों के तुम! बहकावे में कभी न आओ!।
इन्द्र-तुल्य प्रतिपालक नृप को, इस अधर्म में तुम न लगाओ!॥ ३० ॥
रहते दूर, पाप से प्रति-क्षण, कमलनयन, श्रीमान् नृपतिवर।
मिथ्या नहीं प्रतिज्ञा अपनी कभी करेंगे वे भूपतिवर॥ ३१ ॥
ज्येष्ठ, उदार, धर्मव्रत, कर्मठ, बली, जीव-रक्षक हैं रघुवर।
होने दो अभिषेक राम का, होने दो अधिकार राज्य पर॥ ३२ ॥
अपने नृपति पिता को तज यदि, होंगे देवि! राम वन-चारी।
तो इस धरती पर होवेगी, अतिशय निन्दा सदा तुम्हारी॥ ३३ ॥
राम, राज्य का करें प्रपालन, तुम बैठो निज क्लेश दूर कर।
अन्य नहीं अनुकूल तुम्हारे, होगा श्रेष्ठ नगर में नृपवर॥ ३४ ॥
यौवराज्य के पद पर जब ये राम प्रतिष्ठित हो पाएंगे।
कुल-पूर्वज-अनुरूप धनुर्धर दशरथ स्वयं विपिन जाएँगे॥ ३५ ॥

---

१ जृम्भ नामक पक्षी; २ वर देनेवाले; ३ पत्नी; ४ शरण देनेवाली।

इति सान्त्वैश्च तीक्ष्णैश्च कैकेयीं राजसंसदि ।
भूयः संक्षोभयामास सुमन्त्रस्तु कृताञ्जलिः ॥ ३६ ॥
नैव सा क्षुभ्यते देवी न च स्म परिदूयते ।
न चास्या मुखवर्णस्य लक्ष्यते विक्रिया तदा ॥ ३७ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

राजा दशरथ का श्रीराम के साथ सेना और खजाना भेजने का आदेश, कैकेयी द्वारा इसका विरोध, सिद्धार्थ का कैकेयी को समझाना तथा राजा का श्रीराम के साथ जाने की इच्छा प्रकट करना

ततः सुमन्त्रमैक्ष्वाकः पीडितोऽत्र प्रतिज्ञया ।
सबाष्पमतिनिःश्वस्य जगादेदं पुनर्वचः ॥ १ ॥
सूत रत्नसुसम्पूर्णा चतुर्विधबला चमूः ।
राघवस्यानुयात्रार्थं क्षिप्रं प्रतिविधीयताम् ॥ २ ॥
रूपाजीवाश्च वादिन्यो वणिजश्च महाधनाः ।
शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनीः सुप्रसारिताः ॥ ३ ॥
ये चैनमुपजीवन्ति रमते यैश्च वीर्यतः ।
तेषां बहुविधं दत्त्वा तानप्यत्र नियोजय ॥ ४ ॥
आयुधानि च मुख्यानि नागराः शकटानि च ।
अनुगच्छन्तु काकुत्स्थं व्याधाश्चारण्यकोविदाः ॥ ५ ॥
निघ्नन् मृगान् कुञ्जरांश्च पिबंश्चारण्यकं मधु ।
नदीश्च विविधाः पश्यन् न राज्यं संस्मरिष्यति ॥ ६ ॥
धान्यकोशश्च यः कश्चिद् धनकोशश्च मामकः ।
तौ राममनुगच्छेतां वसन्तं निर्जने वने ॥ ७ ॥
यजन् पुण्येषु देशेषु विसृजंश्चाप्तदक्षिणाः ।
ऋषिभिश्चापि संगम्य प्रवत्स्यति सुखं वने ॥ ८ ॥
भरतश्च महाबाहुरयोध्यां पालयिष्यति ।
सर्वकामैः पुनः श्रीमान् रामः संसाध्यतामिति ॥ ९ ॥
एवं ब्रुवति काकुत्स्थे कैकेय्या भयमागतम् ।
मुखं चाप्यगमच्छोषं स्वरश्चापि व्यरुध्यत ॥ १० ॥
सा विषण्णा च संत्रस्ता मुखेन परिशुष्यता ।
राजानमेवाभिमुखी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥

विचलित करने को, कैकेयी को, सुमन्त्र वे राज-भवन में।
सहित सान्त्वना हाथ जोड़कर, तथा कहा फिर तीक्ष्ण वचन में ॥ ३६ ॥
किन्तु न दुःख, न क्षोभ उस समय कैकेयी के मन में आया।
और न देवी का विवर्ण[1] मुख ही कुछ परिवर्तित हो पाया ॥ ३७ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३५ ॥

छत्तीसवाँ सर्ग

राजा दशरथ का श्रीराम के साथ सेना और खजाना भेजने का आदेश, कैकेयी द्वारा इसका विरोध, सिद्धार्थ का कैकेयी को समझाना तथा राजा का श्रीराम के साथ जाने की इच्छा प्रकट करना

वे दशरथ ऐक्ष्वाक[2], प्रतिज्ञा-पीड़ा से तब अश्रु बहाकर।
लंबी साँस खींचकर बोले, उन सुमन्त्र से अवसर पाकर ॥ १ ॥
सूत्र! शीघ्र रत्नों से पूरित सेना चतुरंगिणी बुलाओ!
और राम के पीछे-पीछे चलने का आदेश सुनाओ ॥ २ ॥
सरसवादिनी महिलाएँ जो निज सुरूप पर रहतीं जीवित।
वैश्य, महाजन, व्यापारी, रघुपति-सेना को करें सुशोभित ॥ ३ ॥
मल्ल, राम-सेवा में रहकर, जो विक्रम से मोद बढ़ाते।
उनको धन दे, कहो! चलें वे, जो उनसे जीविका चलाते ॥ ४ ॥
मुख्यायुध सब, नगर-निवासी, छकड़े एकत्रित हो आएँ।
वन-रहस्य के विज्ञ व्याध भी, सब काकुत्स्थ-साथ में जाएँ ॥ ५ ॥
वे वन-गज, मृग को वश में कर, वन-मधु को पीकर विचरेंगे।
नदियों को देखते हुए वे नहीं राज्य का स्मरण करेंगे ॥ ६ ॥
निर्जन वन में रहने को हैं, जाते अब ये राम हमारे।
अतः अन्न-भण्डार, खजाने, साथ इन्हीं के जायें! सारे ॥ ७ ॥
पुण्य-थलों पर यज्ञ करेंगे आचार्यों को धन दे, रघुवर।
और रहेंगे, सुख से वन में, वहाँ सभी ऋषियों से मिलकर ॥ ८ ॥
अब श्रीमान् राम को भेजें! वाञ्छित भोगों से कर अन्वित[3]।
और अयोध्या महाबाहु उन भरत नृपति से होगी पालित ॥ ९ ॥
महाराज के यह कहने पर, कैकेयी ने भय अति पाया।
सूख गया मुख, स्वर भी उसका, रुँधने की स्थिति में तब आया ॥ १० ॥
हो विषाद से ग्रस्त, त्रस्त वह, तब केकय की राजकुमारी।
नृप की ओर शुष्क मुख करके, बोली (हृदय-दग्ध वह) नारी ॥ ११ ॥

---
१ बदरंग; २ इक्ष्वाकुवंशी; ३ सम्पन्न, भरा-पूरा।

राज्यं गतधनं साधो पीतमण्डां सुरामिव ।
निरास्वाद्यतमं शून्यं भरतो नाभिपत्स्यते ॥ १२ ॥
कैकेय्यां मुक्तलज्जायां वदन्त्यामतिदारुणम् ।
राजा दशरथो वाक्यमुवाचायतलोचनाम् ॥ १३ ॥
वहन्तं किं तुदसि मां नियुज्य धुरि माहिते ।
अनार्ये कृत्यमारब्धं किं न पूर्वमुपारुधः ॥ १४ ॥
तस्यैतत् क्रोधसंयुक्तमुक्तं श्रुत्वा वराङ्गना ।
कैकेयी द्विगुणं क्रुद्धा राजानमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥
तवैव वंशे सगरो ज्येष्ठपुत्रमुपारुधत् ।
असमञ्ज इति ख्यातं तथायं गन्तुमर्हति ॥ १६ ॥
एवमुक्तो धिगित्येव राजा दशरथोऽब्रवीत् ।
व्रीडितश्च जनः सर्वः सा च तन्नावबुध्यत ॥ १७ ॥
तत्र वृद्धो महामात्रः सिद्धार्थो नाम नामतः ।
शुचिर्बहुमतो राज्ञः कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥
असमञ्जो गृहीत्वा तु क्रीडतः पथि दारकान् ।
सरय्वां प्रक्षिपन्नप्सु रमते तेन दुर्मतिः ॥ १९ ॥
तं दृष्ट्वा नागराः सर्वे क्रुद्धा राजानमब्रुवन् ।
असमञ्जं वृणीष्वैकमस्मान् वा राष्ट्रवर्धन ॥ २० ॥
तानुवाच ततो राजा किंनिमित्तमिदं भयम् ।
ताश्चापि राज्ञा सम्पृष्टा वाक्यं प्रकृतयोऽब्रुवन् ॥ २१ ॥
क्रीडतस्त्वेष नः पुत्रान् बालानुद्भ्रान्तचेतसः ।
सरय्वां प्रक्षिपन्मौर्ख्यादतुलां प्रीतिमश्नुते ॥ २२ ॥
स तासां वचनं श्रुत्वा प्रकृतीनां नराधिपः ।
तं तत्याजाहितं पुत्रं तासां प्रियचिकीर्षया ॥ २३ ॥
तं यानं शीघ्रमारोप्य सभार्यं सपरिच्छदम् ।
यावज्जीवं विवास्योऽयमिति तानन्वशात् पिता ॥ २४ ॥
स फालपिटकं गृह्य गिरिदुर्गाण्यलोकयत् ।
दिशः सर्वास्त्वनुचरन् स यथा पापकर्मकृत् ॥ २५ ॥
इत्येनमत्यजद् राजा सगरो वै सुधार्मिकः ।
रामः किमकरोत् पापं येनैवमुपरुध्यते ॥ २६ ॥
नहि कंचन पश्यामो राघवस्यागुणं वयम् ।
दुर्लभो ह्यस्य निरयः शशाङ्कस्येव कल्मषम् ॥ २७ ॥

नृपवर ! स्वाद, सार से वञ्चित, सुरा न पीते मद्यपि[1] जैसे।
भरत न लेंगे धन-विहीन, अति शून्य राज्य जर्जर को वैसे ॥ १२ ॥
दारुण वचन कहे, कैकेयी ने जब होकर लज्जा - हीना।
तब विस्तृतनयना से बोले, नृप दशरथ अति वाणी दीना ॥ १३ ॥
चाबुक से क्यों घात कर रही ! मैंने जब यह भार उठाया।
(सेना भी न जायगी संग में) पहले से ही क्यों न बताया ? ॥ १४ ॥
सुनकर ऐसे वचन, सुन्दरी कैकेयी ने, नृप के क्रोधित।
उनसे द्विगुणित क्रुद्धा होकर, बोली उनसे (मूढ़ विमोहित) ॥ १५ ॥
ज्येष्ठ पुत्र असमञ्ज, राज्य-च्युत हुए सगर-वंशज थे जैसे।
विपिन चाहिए जाना, गृह से निकल, राम को नृपवर ! वैसे ॥ १६ ॥
'धिक् कैकयी !' कहा नृप ने बैठे सब जन अति वहाँ लजाये।
किन्तु न वे धिक्कार-लाज, रानी पर कुछ प्रभाव कर पाये ॥ १७ ॥
शुद्ध हृदय सिद्धार्थ वहाँ थे, वयोवृद्ध, नृप से सम्मानित।
सचिव-प्रमुख वे कैकेयी से बोले, (पुनि बातें उसके हित) ॥ १८ ॥
दुर्मति था असमञ्ज, मार्ग-स्थित शिशुओं को वह देवि ! पकड़कर।
सरयू-जल में फेंक मनोरञ्जन करता था वह दुर्मतिवर ॥ १९ ॥
उसका देख कुकृत्य नागरिक बोले जा करके नृपवर से।
आप रहें असमञ्ज-साथ या हमें निकालें भूप ! नगर से ॥ २० ॥
नृप ने पूछा, क्या सबने भय, सुत असमञ्ज-कुमति से पाया।
प्रजाजनों ने पूछे जाने पर, नृप से वृत्तान्त बताया ॥ २१ ॥
नृपति ! खेलते शिशुओं को, धर-पकड़ा, जब वे डर जाते हैं।
तब सरयू में फेंक उन्हें ये मूर्ख बहुत ही सुख पाते हैं ॥ २२ ॥
प्रजा-हितेच्छु नृपति ने उनकी वार्ता को जब समझ, सुन लिया।
तब पुर-जन का शुभ करने को, उस कुपूत का त्याग कर दिया ॥ २३ ॥
आवश्यक सामान उसे दे, सपत्नीक रथ पर बिठलाकर।
कहा पिता नें, जीवन भर को करो सेवको ! इसको बाहर ॥ २४ ॥
दुर्गम शैल-गुफा में वह असमञ्ज लिये बस फाल[2] पिटारी[3]।
सभी ओर घूमा करता था कन्द-मूल-हित पापाचारी ॥
पापी सुत का त्याग, सगर धार्मिक ने किया, सभी बतलाते।
किया राम ने पाप कौन ? जो अभिषिञ्चन से रोके जाते ॥२५-२६॥
शशि में कभी मलिनता-दर्शन दुर्लभ है लोगों को जैसे।
अवगुण कोई, कभी न पाते, रामचन्द्र में हम सब वैसे ॥ २७ ॥

---

१ शराबी; २ कुदाल, लोहे के फलवाला खोदने का औजार; ३ सामान का बक्स।

अथवा देवि त्वं कंचिद् दोषं पश्यसि राघवे।
तमद्य ब्रूहि तत्त्वेन तदा रामो विवास्यते ॥ २८ ॥
अदुष्टस्य हि संत्यागः सत्पथे निरतस्य च।
निर्दहेदपि शक्रस्य द्युतिं धर्मविरोधवान् ॥ २९ ॥
तदलं देवि रामस्य श्रिया विहृतया त्वया।
लोकतोऽपि हि ते रक्ष्यः परिवादः शुभानने ॥ ३० ॥
श्रुत्वा तु सिद्धार्थवचो राजा श्रान्ततरस्वरः।
शोकोपहतया वाचा कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥
एतद्वचो नेच्छसि पापरूपे
हितं न जानासि ममात्मनोऽथवा।
आस्थाय मार्गं कृपणं कुचेष्टा
चेष्टा हि ते साधुपथादपेता ॥ ३२ ॥
अनुव्रजिष्याम्यहमद्य रामं
राज्यं परित्यज्य सुखं धनं च।
सर्वे च राज्ञा भरतेन च त्वं
यथासुखं भुङ्क्ष्व चिराय राज्यम् ॥ ३३ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

श्रीराम आदि का वल्कल-वस्त्र-धारण, सीता के वल्कल-धारण से रनिवास की स्त्रियों को खेद तथा गुरु वसिष्ठ का कैकेयी को फटकारते हुए सीता के वल्कल-धारण का अनौचित्य बताना

महामात्रवचः श्रुत्वा रामो दशरथं तदा।
अभ्यभाषत वाक्यं तु विनयज्ञो विनीतवत् ॥ १ ॥
त्यक्तभोगस्य मे राजन् वने वन्येन जीवतः।
किं कार्यमनुयात्रेण त्यक्तसङ्गस्य सर्वतः ॥ २ ॥
यो हि दत्त्वा द्विपश्रेष्ठं कक्ष्यायां कुरुते मनः।
रज्जुस्नेहेन किं तस्य त्यजतः कुञ्जरोत्तमम् ॥ ३ ॥
तथा मम सतां श्रेष्ठ किं ध्वजिन्या जगत्पते।
सर्वाण्येवानुजानामि चीराण्येवानयन्तु मे ॥ ४ ॥
खनित्रपिटके चोभे समानयत गच्छत।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वसतो मम ॥ ५ ॥

अथवा ठीक बताओ ! तुमने देखा दोष राम में कैसा ? ।
तभी राम के निष्कासन का कार्य किया जा सकता वैसा ॥ २८ ॥
दोष-हीन सत्पथ-चारी का त्याग, धर्म-विपरीत कहाता ।
ऐसे धर्म - विरुद्ध कर्म से इन्द्र - तेज भी है जल जाता ॥ २९ ॥
अतः राम-अभिषेक-विघ्न से देवि ! न होगी तुम ! लाभान्वित ।
अपितु[1] तुम्हें चाहिए, सुवदने ! रहो लोक-निन्दा से वञ्चित ॥ ३० ॥
थके हुए तब क्लान्त नृपति बोले सिद्धार्थ-कथन को सुनकर ।
कैकेयी से तब शोकाकुल वाणी में (उसको लज्जित कर) ॥ ३१ ॥

पापिनि ! तू क्या इस वार्ता में, नहीं रुचिरता पाती ?
मेरी, अपनी हित-इच्छा क्या तनिक न तुझको भाती ? ।
दुखद मार्ग का आश्रय लेकर करती सदा कुचेष्टा
साधुजनों के पथ के है विपरीत दुःख की थाती[2] ॥ ३२ ॥

राम - संग यह राज्य - सम्पदा - सुख तजकर है जाना
मुझको और सकल जनता को भी यह ही मन-माना ।
यहाँ अकेली, नृपति भरत के सँग चिर समय ठहरकर
सुखपूर्वक तुम राज्य भोगकर अपना समय बिताना ॥ ३३ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३६ ॥

सैंतीसवाँ सर्ग

श्रीराम आदि का वल्कल-वस्त्र-धारण, सीता के वल्कल-धारण से रनिवास की स्त्रियों को खेद तथा गुरु वसिष्ठ का कैकेयी को फटकारते हुए सीता के वल्कल-धारण का अनौचित्य बताना

विनय-विज्ञ श्रीराम उस समय मुख्य सचिव की वार्ता सुनकर ।
बोले, महाराज दशरथ से अतिशय विनम्रता से झुककर ॥ १ ॥
भोगों में आसक्ति न अब वन-मूल-फलों पर जीवन-यापन ।
सकल वैभवों से क्या मतलब, सेना से क्या मुझे प्रयोजन ? ॥ २ ॥
दान गजोत्तम करके, उसकी रस्सी में रुचि, वृथा मोह है ।
वन-तप-पुण्य ग्रहण कर मिथ्या भोगों के प्रति वृथा लोभ है ॥ ३ ॥
वही दशा मम, आप भरत को दें वैभव सब औ सेनाएं ।
मुझको इनसे क्या ? सज्जनवर ! वल्कल वस्त्र मुझे मंगवायें ॥ ४ ॥
दें आदेश ! कुदारी, खन्ती तथा पिटारी मुझको लायें ।
चौदह वर्ष-विपिन-उपयोगी, यही वस्तुएँ शीघ्र मँगायें ॥ ५ ॥

---

१ बल्कि; २ पूंजी, धरोहर ।

अथ चीराणि कैकेयी स्वयमाहृत्य राघवम्।
उवाच परिधत्स्वेति जनौघे निरपत्रपा॥ ६॥
स चीरे पुरुषव्याघ्रः कैकेय्याः प्रतिगृह्य ते।
सूक्ष्मवस्त्रमवक्षिप्य मुनिवस्त्राण्यवस्त ह॥ ७॥
लक्ष्मणश्चापि तत्रैव विहाय वसने शुभे।
तापसाच्छादने चैव जग्राह पितुरग्रतः॥ ८॥
अथात्मपरिधानार्थं सीता कौशेयवासिनी।
सम्प्रेक्ष्य चीरं संत्रस्ता पृषती वागुरामिव॥ ९॥
सा व्यपत्रपमाणेव प्रगृह्य च सुदुर्मनाः।
कैकेय्याः कुशचीरे ते जानकी शुभलक्षणा॥ १०॥
अश्रुसम्पूर्णनेत्रा च धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी।
गन्धर्वराजप्रतिमं भर्तारमिदमब्रवीत्॥ ११॥
कथं नु चीरं बध्नन्ति मुनयो वनवासिनः।
इति ह्यकुशला सीता सा मुमोह मुहुर्मुहुः॥ १२॥
कृत्वा कण्ठे स्म सा चीरमेकमादाय पाणिना।
तस्थौ ह्यकुशला तत्र व्रीडिता जनकात्मजा॥ १३॥
तस्यास्तत् क्षिप्रमागत्य रामो धर्मभृतां वरः।
चीरं बबन्ध सीतायाः कौशेयस्योपरि स्वयम्॥ १४॥
रामं प्रेक्ष्य तु सीताया बध्नन्तं चीरमुत्तमम्।
अन्तःपुरचरा नार्यो मुमुचुर्वारि नेत्रजम्॥ १५॥
ऊचुश्च परमायत्ता रामं ज्वलिततेजसम्।
वत्स नैवं नियुक्तेयं वनवासे मनस्विनी॥ १६॥
पितुर्वाक्यानुरोधेन गतस्य विजनं वनम्।
तावद् दर्शनमस्या नः सफलं भवतु प्रभो॥ १७॥
लक्ष्मणेन सहायेन वनं गच्छस्व पुत्रक।
नेयमर्हति कल्याणी वस्तुं तापसवद् वने॥ १८॥
कुरु नो याचनां पुत्र सीता तिष्ठतु भामिनी।
धर्मनित्यः स्वयं स्थातुं न हीदानीं त्वमिच्छसि॥ १९॥
तासामेवंविधा वाचः शृण्वन् दशरथात्मजः।
बबन्धैव तथा चीरं सीतया तुल्यशीलया॥ २०॥
चीरे गृहीते तु तया सबाष्पो नृपतेर्गुरुः।
निवार्य सीतां कैकेयीं वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत्॥ २१॥

लाज छोड़कर कैकेयी तब, लाई चीर स्वयं ही जाकर।
लो यह पहनो! कहा राम से, जन-समूह में उसने आकर॥ ६ ॥
पुरुष-सिंह ने कैकेयी के कर से फिर दो चीर ले लिये।
पहने मुनि के वसन, और बहुमूल्य वसन सब, वहीं रख दिये॥ ७ ॥
लक्ष्मण ने भी अपने सुन्दर वस्त्र वहाँ पर तत्क्षण त्यागे।
तपस्वियों-सम वल्कल पहने अपने नृपति पिता के आगे॥ ८ ॥
आये देख, चीर अपने हित, रेशम वसन-धारिणी सीता।
हुई उस तरह, मृगी जिस तरह जाल देख होती भयभीता॥ ९ ॥
फिर धर्मज्ञा सु-लक्षणा ने कैकेयी-कर से स्वीकारा।
चीर वसन ले लिये, दुखित मन, लज्जित था उनका मुख सारा॥
जनक-सुता का हुआ दुखित मन, आँखों में आँसू भर आये।
गन्धर्व-सदृश पति रामचन्द्र से सीता ने ये वचन सुनाये॥
वनवासी मुनि चीर बाँधते कैसे? नाथ! समझ ना पाती।
अकुशल! यह कह धारण करती पुनि-पुनि किन्तु भूल थी जाती॥१०-१२॥
डाल एक को गले, दूसरा कर में वे ले करके वल्कल।
शान्त और लज्जित हो सीता खड़ी रहीं, जैसी थीं अकुशल॥ १३ ॥
निज कर से रेशमी वसन पर राम स्वयं वे धर्मात्मा-वर।
लगे बाँधने वल्कल तब फिर उनके पास शीघ्र ही आकर॥ १४ ॥
देखा जब, सीता को राघव उत्तम चीर लगे पहनाने।
तब रनिवास-रानियाँ आँसू निज नयनों से लगीं बहाने॥ १५ ॥
ज्वलित तेज राघव से बोलीं वे सब होकर परम खेद-युत।
विपिन-वास-हित मनस्विनी को मिली नहीं आज्ञा ऐसी, सुत!॥ १६ ॥
प्रभो! पिताज्ञा-पालन को तुम वास करोगे वन में जब तक।
यहीं रहें, इनके दर्शन से सफल करें जीवन हम तब तक॥ १७ ॥
सुत! तुम लक्ष्मण को ले करके करो विपिन की अब तैयारी।
मुनियों-सम वन के न योग्य है सीता कल्याणी सुकुमारी॥ १८ ॥
नहीं रुकोगे यहाँ पुत्र! तुम धर्म-परायण हो दृढ़ निश्चय।
भामिनि सीता रुकें यहीं पर, पूरी करो! हमारी अनुनय॥ १९ ॥
दशरथ-सुत में मातृ-वार्ता सुनते हुए न अन्तर आया।
और राम ने उन सीता को वल्कल वसन शीघ्र पहनाया॥ २० ॥
पति-सम शीलवती सीता के वल्कल धारण कर लेने पर।
बोले कैकेयी से, नृप-कुल-गुरु वसिष्ठ फिर आँसू भरकर॥ २१ ॥

अतिप्रवृत्ते दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि ।
वञ्चयित्वा तु राजानं न प्रमाणेऽवतिष्ठसि ॥ २२ ॥
न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते ।
अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम् ॥ २३ ॥
आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम् ।
आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम् ॥ २४ ॥
अथ यास्यति वैदेही वनं रामेण संगता ।
वयमत्रानुयास्यामः पुरं चेदं गमिष्यति ॥ २५ ॥
अन्तपालाश्च यास्यन्ति सदारो यत्र राघवः ।
सहोपजीव्यं राष्ट्रं च पुरं च सपरिच्छदम् ॥ २६ ॥
भरतश्च सशत्रुघ्नश्चीरवासा वनेचरः ।
वने वसन्तं काकुत्स्थमनुवत्स्यति पूर्वजम् ॥ २७ ॥
ततः शून्यां गतजनां वसुधां पादपैः सह ।
त्वमेका शाधि दुर्वृत्ता प्रजानामहिते स्थिता ॥ २८ ॥
न हि तद् भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः ।
तद् वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति ॥ २९ ॥
न ह्यदत्तां महीं पित्रा भरतः शास्तुमिच्छति ।
त्वयि वा पुत्रवद् वस्तुं यदि जातो महीपतेः ॥ ३० ॥
यद्यपि त्वं क्षितितलाद् गगनं चोत्पतिष्यसि ।
पितृवंशचरित्रज्ञः सोऽन्यथा न करिष्यति ॥ ३१ ॥
तत् त्वया पुत्रगर्धिन्या पुत्रस्य कृतमप्रियम् ।
लोके नहि स विद्येत यो न राममनुव्रतः ॥ ३२ ॥
द्रक्ष्यस्यद्यैव कैकेयि पशुव्यालमृगद्विजान् ।
गच्छतः सह रामेण पादपांश्च तदुन्मुखान् ॥ ३३ ॥
अथोत्तमान्याभरणानि देवि
देहि स्नुषायै व्यपनीय चीरम् ।
न चीरमस्याः प्रविधीयतेति
न्यवारयत् तद् वसनं वसिष्ठः ॥ ३४ ॥
एकस्य रामस्य वने निवास-
स्त्वया वृतः केकयराजपुत्रि ।
विभूषितेयं प्रतिकर्मनित्या
वसत्वरण्ये सह राघवेण ॥ ३५ ॥

तू दुर्बुद्धे ! अमर्यादिते[1] ! हे कैकेयि ! स्व - कुल - कलंकिनी ।
नृप को छल, सीमा-बाहर की तू प्रवृत्ति रखती है अपनी ।। २२ ।।
शील-त्यागिनी ! दुष्टे ! देवी सीता विपिन नहीं जाएँगी ।
राम-हेतु प्रस्तुत सिंहासन का स्वामित्व वही पाएँगी ।। २३ ।।
पत्नी है गृहस्थ - अर्द्धांगिनि, अतः राम - आत्मा वैदेही ।
रामस्थल पर राज्य करेंगी, इसकी अधिकारिणि हैं वे ही ।। २४ ।।
यदि सीता का राम-संग में विपिन-गमन-अवसर आएगा ।
तो हम सब भी होंगे इनके अनुचर, साथ नगर जाएगा ।। २५ ।।
सपत्नीक श्रीराम-वास-स्थल पर अन्तःपुर-रक्षक भी सब ।
सहित नागरिक, साथ चलेंगे, अपनी धन-वसुधा लेकर तब ।। २६ ।।
भरत और शत्रुघ्न चीर धारण कर होंगे विपिन-निवासी ।
और वहाँ निज ज्येष्ठ भ्रातृ की सेवा के होंगे अभिलाषी ।। २७ ।।
फिर तू ! तरु-सँग रहकर, जन से शून्य धरणि का करना शासन ।
प्रजा अहित - संलग्ना तू है, दुराचारमय है तेरा मन ।। २८ ।।
नृपति जहाँ के राम न होंगे, राज्य न फिर वह रह पायेगा ।
राम-वास-स्थल ही स्वतन्त्र शुभ उच्च राष्ट्र तब बन जायेगा ।। २९ ।।
नृपज भरत निज पिता-मोद के विना न राज्य कभी चाहेंगे ।
तथा न रहकर यहाँ, मातृ-प्रति पुत्र-प्रथा को निर्वाहेंगे ।। ३० ।।
तू पृथ्वी को त्याग, गगन में ही उड़ जाये, मन चाहे जब ।
नहीं करेंगे भरत, पितृ-कुल-सदाचार-विपरीत कार्य तब ।। ३१ ।।
सुत-प्रिय करने की इच्छा से, क्रिया वस्तुतः अप्रिय उसका ।
क्योंकि कौन है ? नहीं रमा हो, राम-भक्ति में ही मन जिसका ।। ३२ ।।
देखेगी कैकेयि ! राम-सँग पशु, मृग, अहि, खग भी जाते हैं ।
औरों की क्या बात ? सकल तरु सँग जाने को अकुलाते हैं ।। ३३ ।।

पुत्रवधू सीता के तन से, वल्कल देवि ! हटाओ !
इन्हें पहनने को सर्वोत्तम वस्त्राभूषण लाओ ! ।
मना किया यह कह, वसिष्ठ ने, कहा, 'नहीं यह समुचित'
बात न इनको वल्कल देने की मन में तुम लाओ ! ।। ३४ ।।

बोले फिर वे गुरु वसिष्ठ जी, केकय-राजकुमारी !
हो वनवास राम का, यह वर-वाञ्छा रही तुम्हारी ।
अतः राम-सँग नृपति-कुमारी सीता भी यह निश्चय
वन में रहें, वस्त्र, भूषण सब धारण कर सुखकारी ।। ३५ ।।

१ मर्यादाहीन ।

यानश्च मुख्यैः परिचारकैश्च
सुसंवृता गच्छतु राजपुत्री ।
वस्त्रैश्च सर्वैः सहितैर्विधानै-
र्नेयं वृता ते वरसम्प्रदाने ॥ ३६ ॥
तस्मिंस्तथा जल्पति विप्रमुख्ये
गुरौ नृपस्याप्रतिमप्रभावे ।
नैव स्म सीता विनिवृत्तभावा
प्रियस्य भर्तुः प्रतिकारकामा ॥ ३७ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ।

अष्टात्रिंशः सर्गः

राजा दशरथ का सीता को वल्कल धारण कराना अनुचित बताकर कैकेयी को फटकारना और श्रीराम का उनसे कौसल्या पर कृपादृष्टि रखने के लिए अनुरोध करना

तस्यां चीरं वसानायां नाथवत्यामनाथवत् ।
प्रचुक्रोश जनः सर्वो धिक् त्वां दशरथं त्विति ॥ १ ॥
तेन तत्र प्रणादेन दुःखितः स महीपतिः ।
चिच्छेद जीविते श्रद्धां धर्मे यशसि चात्मनः ॥ २ ॥
स निःश्वस्योष्णमैक्ष्वाकस्तां भार्यामिदमब्रवीत् ।
कैकेयि कुशचीरेण न सीता गन्तुमर्हति ॥ ३ ॥
सुकुमारी च बाला च सततं च सुखोचिता ।
नेयं वनस्य योग्येति सत्यमाह गुरुर्मम ॥ ४ ॥
इयं हि कस्यापि करोति किंचित्
तपस्विनी राजवरस्य पुत्री ।
या चीरमासाद्य जनस्य मध्ये
स्थिता विसंज्ञा श्रमणीव काचित् ॥ ५ ॥
चीराण्यपास्याज्जनकस्य कन्या
नेयं प्रतिज्ञा मम दत्तपूर्वा ।
यथासुखं गच्छतु राजपुत्री
वनं समग्रा सह सर्वरत्नैः ॥ ६ ॥
अजीवनार्हेण मया नृशंसा
कृता प्रतिज्ञा नियमेन तावत् ।
त्वया हि बाल्यात् प्रतिपन्नमेतत्
तन्मा दहेद् वेणुमिवात्मपुष्पम् ॥ ७ ॥

मुख्य सेवकों, सवारियों-सँग सीता वन को जाएँ
वस्त्राभूषण अन्य उपकरण[1] आवश्यक वे पाएँ।
राजकुमारी को वन जाने का न मिला तुझको वर
क्योंकि न तूने पहले ऐसी की थीं कुछ वार्ताएँ॥ ३६ ॥

द्विज-मणि[2], अमितप्रभावि[3] राजगुरु ऋषि वसिष्ठ के द्वारा
कथित वचन सुन चुकीं सर्वथा वे श्री सीता सारा।
किन्तु वेषभूषा में उनकी हुआ न कुछ परिवर्तन
और उन्होंने प्रिय पति जैसा वल्कल वसन सँवारा॥ ३७ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्ष रामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त॥ ३७ ॥

अड़तीसवाँ सर्ग

राजा दशरथ का सीता को वल्कल धारण कराना अनुचित बताकर कैकेयी को फटकारना और श्रीराम का उनसे कौसल्या पर कृपावृष्टि रखने के लिए अनुरोध करना

जब सनाथ सीता ने वल्कल-वसन, अनाथ-सदृश वे पहने।
'दशरथ ! है धिक्कार तुम्हें', जन-जन तब लगा घोष यह करने॥ १ ॥
कोलाहल इक्ष्वाकु-वंशि ने सुना दुखी हो, जनता द्वारा।
त्यागा, जीवन, धर्म और यश का विचार उत्कट तब सारा॥ २ ॥
उष्णोच्छ्वास[4] खींचकर बोले भार्या कैकेयी से ऐसे।
वल्कल वसन अयोग्य जानकी वन को गमन करेगी कैसे ?॥ ३ ॥
यह सुकुमारि बालिका केवल सुख में अब तक पलती आई।
नहीं योग्य है वन जाने के, गुरु ने समुचित बात बताई॥ ४ ॥

नृपवर जनक-सुता तपवन्ती अहित कर रही किसका ?
किंकर्तव्य-विमूढ़ सभा में रूप दिख रहा जिसका।
तथा भिक्षुकी जैसी, करके चीर वसन यह धारण
जन-समूह में खड़ी हुई है, कौन दोष है उसका॥ ५ ॥

जनक-नन्दिनी, चीर वसन ये, अपने सभी उतारे
राज-सुता, भूषण, वसनों से, निज को शीघ्र सँवारे।
की न प्रतिज्ञा तथा कुछ वचन दिया न मैंने ऐसा
वन जा सकती है वह, अपने सुख-साधन ले सारे॥ ६ ॥

जीवित रहने योग्य नही मैं, वचन-बन्ध में आकर
क्रूर प्रतिज्ञा को, तू दूनी करती, चीर पिन्हाकर।
अतः बाँस का फूल, बाँस को ही है यथा जलाता
तथा प्रतिज्ञा यह रक्खेगी मेरी, मुझे जलाकर॥ ७ ॥

---

१ सामग्री; २ ब्राह्मणों में श्रेष्ठ; ३ अति प्रभावशाली; ४ गरम साँस।

रामेण यदि ते पापे किंचित्कृतमशोभनम्।
अपकारः क इह ते वैदेह्या दर्शितोऽधमे॥ ८॥
मृगीवोत्फुल्लनयना मृदुशीला मनस्विनी।
अपकारं कमिव ते करोति जनकात्मजा॥ ९॥
ननु पर्याप्तमेवं ते पापे रामविवासनम्।
किमेभिः कृपणैर्भूयः पातकैरपि ते कृतैः॥ १०॥
प्रतिज्ञातं मया तावत् त्वयोक्तं देवि शृण्वता।
रामं यदभिषेकाय त्वमिहागतमब्रवीः॥ ११॥
तत्त्वेतत् समतिक्रम्य निरयं गन्तुमिच्छसि।
मैथिलीमपि या हि त्वमीक्षसे चीरवासिनीम्॥ १२॥
एवं ब्रुवन्तं पितरं रामः सम्प्रस्थितो वनम्।
अवाक्शिरसमासीनमिदं वचनमब्रवीत्॥ १३॥
इयं धार्मिक कौसल्या मम माता यशस्विनी।
वृद्धा चाक्षुद्रशीला च न च त्वां देव गर्हते॥ १४॥
मया विहीनां वरद प्रपन्नां शोकसागरम्।
अदृष्टपूर्वव्यसनां भूयः सम्मन्तुमर्हसि॥ १५॥
पुत्रशोकं यथा नर्च्छेत् त्वया पूज्येन पूजिता।
मां हि संचिन्तयन्ती सा त्वयि जीवेत् तपस्विनी॥ १६॥
इमां महेन्द्रोपम जातगर्धिनीं
तथा विधातुं जननीं ममार्हसि।
यथा वनस्थे मयि शोककर्शिता
न जीवितं न्यस्य यमक्षयं व्रजेत्॥ १७॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः॥ ३८॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

राजा दशरथ का विलाप, उनकी आज्ञा से सुमन्त्र का राम के लिए रथ जोतकर लाना, कोषाध्यक्ष का सीता को बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण देना, कौसल्या का सीता को पति-सेवा का उपदेश, सीता के द्वारा उसकी स्वीकृति तथा श्रीराम का अपनी माता से पिता के प्रति दोषदृष्टि न रखने का अनुरोध करके अन्य माताओं से भी विदा मांगना

रामस्य तु वचः श्रुत्वा मुनिवेषधरं च तम्।
समीक्ष्य सह भार्याभी राजा विगतचेतनः॥ १॥

पापिनि ! नीच ! राम ने कोई कर डाला अपराध तुम्हारा।
किन्तु दण्ड वैदेही को यह, मिलता किस अपकृति[1] के द्वारा ? ॥ ८ ॥
विकसित मृग-नेत्री स्वभाव से कोमल मृदुभाषिणि यह सीता।
करके क्या अपराध ? पा रही दण्ड, मनस्विनि. परम पुनीता ॥ ९ ॥
तूने दे वनवास राम को, पापिनि ! पूरा पाप कमाया।
अब सीता को चीर पिन्हाकर, किस पातक-हित मन ललचाया ॥ १० ॥
देवि ! राम अभिषेक-हेतु जब आये यहाँ, कहा तुमने तब।
जितना, उतना माना मैंने (क्यों उसके आगे बढ़ती अब) ? ॥ ११ ॥
वचनोलंघन कर, मिथिलेश्वर-पुत्री को जो चीर पिन्हाती।
इससे लगता, महानरक में जाने को है तू ! अकुलाती ॥ १२ ॥
नृप दशरथ निज शीश झुकाकर, यह कहते थे जिस अवसर पर।
बोले राम विपिन को जाते हुए, पिता से तब यों मृदुतर ॥ १३ ॥
धार्मिक ! मेरी यशस्विनी माँ कौसल्या वृद्धा हो आयीं।
देव ! उदार, श्रेष्ठ, तव निन्दा उर में भी वे कभी न लाईं ॥ १४ ॥
कष्ट न देखा पहले ऐसा, होगी बहुत विरह में शोकित।
अतः वरद ! भूपेश ! सर्वथा मान करें ! इनका समयोचित ॥ १५ ॥
पा सम्मान पूज्य पति से, सुत-ताप तपस्विनि[2] कम कर पाएँ।
करें यत्न, तव आश्रय में रह, यथासाध्य मम याद भुलाएँ ॥ १६ ॥

इन्द्र-सदृश तेजस्वि भूपते ! ये कौसल्या माता
मुझ बिछुड़े को याद करेंगी, यह प्रत्यक्ष दिखाता।
मम वनबास-शोक-कातर हो, यमपुर वे न सिधाएँ
इससे, इनका ध्यान रखें नित. आप प्रजा के त्राता ! ॥ १७ ॥

॥ श्री वाल्मीक-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३८ ॥

उन्तालीसवाँ सर्ग

राजा दशरथ का विलाप, उनकी आज्ञा से सुमन्त्र का राम के लिए रथ जोतकर लाना, कोषाध्यक्ष का सीता को बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण देना, कौसल्या का सीता को पति-सेवा का उपदेश, सीता के द्वारा उसकी स्वीकृति तथा श्रीराम का अपनी माता से पिता के प्रति दोषदृष्टि न रखने का अनुरोध करके अन्य माताओं से भी विदा माँगना

सुनकर राम-वार्ता एवं उनका मुनि-सम वेष देखकर।
भार्याओं-सँग हुए शोक से तब अचेत, वे दशरथ नृपवर ॥ १ ॥

1 अपराध, बुराई; 2 मेरी तपस्विनी माता।

नैनं दुःखेन संतप्तः प्रत्यवैक्षत राघवम् ।
न चैनमभिसम्प्रेक्ष्य प्रत्यभाषत दुर्मनाः ॥ २ ॥

स मुहूर्तमिवासंज्ञो दुःखितश्च महीपतिः ।
विललाप महाबाहू राममेवानुचिन्तयन् ॥ ३ ॥

मन्ये खलु मया पूर्वं विवत्सा बहवः कृताः ।
प्राणिनो हिंसिता वापि तन्मामिदमुपस्थितम् ॥ ४ ॥

न त्वेवानागते काले देहाच्च्यवति जीवितम् ।
कैकेय्या क्लिश्यमानस्य मृत्युर्मम न विद्यते ॥ ५ ॥

योऽहं पावकसंकाशं पश्यामि पुरतः स्थितम् ।
विहाय वसने सूक्ष्मे तापसाच्छादमात्मजम् ॥ ६ ॥

एकस्याः खलु कैकेय्याः कृतेऽयं खिद्यते जनः ।
स्वार्थे प्रयतमानायाः संश्रित्य निकृतिं त्विमाम् ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा तु वचनं बाष्पेण विहतेन्द्रियः ।
रामेति सकृदेवोक्त्वा व्याहर्तुं न शशाक सः ॥ ८ ॥

संज्ञां तु प्रतिलभ्यैव मुहूर्तात् स महीपतिः ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

औपवाह्यं रथं युक्त्वा त्वमायाहि हयोत्तमैः ।
प्रापयैनं महाभागमितो जनपदात् परम् ॥ १० ॥

एवं मन्ये गुणवतां गुणानां फलमुच्यते ।
पित्रा मात्रा च यत्साधुर्वीरो निर्वास्यते वनम् ॥ ११ ॥

राज्ञो वचनमाज्ञाय सुमन्त्रः शीघ्रविक्रमः ।
योजयित्वा ययौ तत्र रथमश्वैरलंकृतम् ॥ १२ ॥

तं रथं राजपुत्राय सूतः कनकभूषितम् ।
आचचक्षेऽञ्जलिं कृत्वा युक्तं परमवाजिभिः ॥ १३ ॥

राजा सत्वरमाहूय व्यापृतं वित्तसंचये ।
उवाच देशकालज्ञो निश्चितं सर्वतः शुचिः ॥ १४ ॥

वासांसि च वरार्हाणि भूषणानि महान्ति च ।
वर्षाण्येतानि संख्याय वैदेह्याः क्षिप्रमानय ॥ १५ ॥

नरेन्द्रेणैवमुक्तस्तु गत्वा कोशगृहं ततः ।
प्रायच्छत् सर्वमाहृत्य सीतायै क्षिप्रमेव तत् ॥ १६ ॥

सा सुजाता सुजातानि वैदेही प्रस्थिता वनम् ।
भूषयामास गात्राणि तैर्विचित्रैर्विभूषणैः ॥ १७ ॥

वे दुख से संतप्त, राम को भर-नयनों से देख न पाये।
उन्हें देखकर भी, उत्तर में वचन न उनके मुख में आये॥ २ ॥
फिर मुहूर्त भर वे अचेत रह, संज्ञा में जब हुए महीपति।
करने लगे विलाप, राम का चिन्तन करके महाबाहु अति॥ ३ ॥
समझा, मैंने पूर्व जन्म में, बहु गौ-वत्स-विछोह कराया।
या कि जीव-हिंसा की, जिससे मुझ पर यह संकट है आया॥ ४ ॥
समय-पूर्ति के विना, देह से प्राण किसी के निकल न पाते।
इससे ही, कैकेयी-पीड़ित, मेरे प्राण न अब भी जाते॥ ५ ॥
अग्नि-सदृश तेजस्वि पुत्र का सूक्ष्म वसन तज वल्कल धारण।
देख रहा प्रत्यक्ष, आह! फिर भी प्राणों का नहीं निवारण[1]॥ ६ ॥
करती! स्वार्थ-सिद्धि जो, शठता-वश, वर का ले करके आश्रय।
एक उसी कैकेयी-कारण, पड़े कष्ट में बहुजन निश्चय॥ ७ ॥
यह कहनेवाले, शिथिलेन्द्रिय नृप-नयनों में आँसू आये।
एक बार 'हे राम!' कहा, फिर मूर्च्छित हुए, न कुछ कह पाये॥ ८ ॥
महाराज दो घड़ी बाद, जब किसी भाँति संज्ञा[2] में आये।
साश्रु-नयन[3] देखते हुए वे उन सुमन्त्र से यह कह पाये॥ ९ ॥
उत्तम अश्वों से संयुत, तुम! वाहन-योग्य— एक रथ[4] लाओ।
उस पर राम सु-महाभाग को, जनपद-बाहर तक पहुँचाओ॥ १० ॥
निज प्रवीर-सुत को जब माता-पिता भेजते गृह से वन को।
तो लगता है, शास्त्र बताते, यह ही भाग्य लिखा गुणिजन को॥ ११ ॥
गये शीघ्रगामी सुमन्त्र वे, नृप-आज्ञा को रख मस्तक पर।
और सुशोभित रथ ले आये, उसको उत्तमाश्व-सयुत[4] कर॥ १२ ॥
महाराज से फिर सुमन्त्र ने हाथ जोड़ करके बतलाया।
नृप-सुत राम-हेतु अश्वान्वित[4] स्वर्ण-विभूषित रथ है आया॥ १३ ॥
देश, काल-विद्, शुद्ध सर्वथा, नृप ने जब वार्ता सुन पाई।
तब कोषाधिप का आवाहन[5] कर, उनको यह बात बताई॥ १४ ॥
तुम! वैदेही-योग्य विभूषण अति बहुमूल्य शीघ्र मँगवाओ।
चौदह वर्ष चल सकें जितने, उतने गिन करके ले आओ॥ १५ ॥
कोषाधिप ने महाराज की वार्ता सुन, कोषस्थल[6] जाकर।
सब चीजें सीता को अर्पित कर दीं बहुत शीघ्र ही लाकर॥ १६ ॥
उत्तम कुलजा, अयोनिजा थीं, जो वैदेही वन को प्रस्थित[7]।
उनसे अपने सुलक्षणान्वित अंगों[8] को कर लिया विभूषित॥ १७ ॥

१ दूर नहीं कर पाता; २ होश; ३ आँसू से भरी आँख से; ४ अच्छे घोड़े जोतकर; ५ बुलाना; ६ खजाना; ७ प्रस्थान कर रही; ८ सुन्दर लक्षणवाले अंगों।

नैनं दुःखेन संतप्तः प्रत्यवैक्षत राघवम् ।
न चैनमभिसम्प्रेक्ष्य प्रत्यभाषत दुर्मनाः ॥ २ ॥
स मुहूर्तमिवासंज्ञो दुःखितश्च महीपतिः ।
विललाप महाबाहू राममेवानुचिन्तयन् ॥ ३ ॥
मन्ये खलु मया पूर्वं विवत्सा बहवः कृताः ।
प्राणिनो हिंसिता वापि तन्मामिदमुपस्थितम् ॥ ४ ॥
न त्वेवानागते काले देहाच्च्यवति जीवितम् ।
कैकेय्या क्लिश्यमानस्य मृत्युर्मम न विद्यते ॥ ५ ॥
योऽहं पावकसंकाशं पश्यामि पुरतः स्थितम् ।
विहाय वसने सूक्ष्मे तापसाच्छादमात्मजम् ॥ ६ ॥
एकस्याः खलु कैकेय्याः कृतेऽयं खिद्यते जनः ।
स्वार्थे प्रयतमानायाः संश्रित्य निकृतिं त्विमाम् ॥ ७ ॥
एवमुक्त्वा तु वचनं बाष्पेण विहतेन्द्रियः ।
रामेति सकृदेवोक्त्वा व्याहर्तुं न शशाक सः ॥ ८ ॥
संज्ञां तु प्रतिलभ्यैव मुहूर्तात् स महीपतिः ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥
औपवाह्यं रथं युक्त्वा त्वमायाहि हयोत्तमैः ।
प्रापयैनं महाभागमितो जनपदात् परम् ॥ १० ॥
एवं मन्ये गुणवतां गुणानां फलमुच्यते ।
पित्रा मात्रा च यत्साधुर्वीरो निर्वास्यते वनम् ॥ ११ ॥
राज्ञो वचनमाज्ञाय सुमन्त्रः शीघ्रविक्रमः ।
योजयित्वा ययौ तत्र रथमश्वैरलंकृतम् ॥ १२ ॥
तं रथं राजपुत्राय सूतः कनकभूषितम् ।
आचचक्षेऽञ्जलिं कृत्वा युक्तं परमवाजिभिः ॥ १३ ॥
राजा सत्वरमाहूय व्यापृतं वित्तसंचये ।
उवाच देशकालज्ञो निश्चितं सर्वतः शुचिः ॥ १४ ॥
वासांसि च वरार्हाणि भूषणानि महान्ति च ।
वर्षाण्येतानि संख्याय वैदेह्याः क्षिप्रमानय ॥ १५ ॥
नरेन्द्रेणैवमुक्तस्तु गत्वा कोशगृहं ततः ।
प्रायच्छत् सर्वमाहृत्य सीतायै क्षिप्रमेव तत् ॥ १६ ॥
सा सुजाता सुजातानि वैदेही प्रस्थिता वनम् ।
भूषयामास गात्राणि तैर्विचित्रैर्विभूषणैः ॥ १७ ॥

वे दुख से संतप्त, राम को भर-नयनों से देख न पाये।
उन्हें देखकर भी, उत्तर में वचन न उनके मुख में आये॥ २ ॥
फिर मुहूर्त भर वे अचेत रह, संज्ञा में जब हुए महीपति।
करने लगे विलाप, राम का चिन्तन करके महाबाहु अति॥ ३ ॥
समझा, मैंने पूर्व जन्म में, बहु गौ-वत्स-विछोह कराया।
या कि जीव-हिंसा की, जिससे मुझ पर यह संकट है आया॥ ४ ॥
समय-पूर्ति के विना, देह से प्राण किसी के निकल न पाते।
इससे ही, कैकेयी-पीड़ित, मेरे प्राण न अब भी जाते॥ ५ ॥
अग्नि-सदृश तेजस्वि पुत्र का सूक्ष्म वसन तज वल्कल धारण।
देख रहा प्रत्यक्ष, आह! फिर भी प्राणों का नहीं निवारण[१]॥ ६ ॥
करती! स्वार्थ-सिद्धि जो, शठता-वश, वर का ले करके आश्रय।
एक उसी कैकेयी-कारण, पड़े कष्ट में बहुजन निश्चय॥ ७ ॥
यह कहनेवाले, शिथिलेन्द्रिय नृप-नयनों में आँसू आये।
एक बार 'हे राम!' कहा, फिर मूर्च्छित हुए, न कुछ कह पाये॥ ८ ॥
महाराज दो घड़ी बाद, जब किसी भाँति संज्ञा[२] में आये।
साश्रु-नयन[३] देखते हुए वे उन सुमन्त्र से यह कह पाये॥ ९ ॥
उत्तम अश्वों से संयुत, तुम! वाहन-योग्य— एक रथ[४] लाओ।
उस पर राम सु-महाभाग को, जनपद-बाहर तक पहुँचाओ॥ १० ॥
निज प्रवीर-सुत को जब माता-पिता भेजते गृह से वन को।
तो लगता है, शास्त्र बताते, यह ही भाग्य लिखा गुणिजन को॥ ११ ॥
गये शीघ्रगामी सुमन्त्र वे, नृप-आज्ञा को रख मस्तक पर।
और सुशोभित रथ ले आये, उसको उत्तमाश्व-सयुत[४] कर॥ १२ ॥
महाराज से फिर सुमन्त्र ने हाथ जोड़ करके बतलाया।
नृप-सुत राम-हेतु अश्वान्वित[४] स्वर्ण-विभूषित रथ है आया॥ १३ ॥
देश, काल-विद्, शुद्ध सर्वथा, नृप ने जब वार्ता सुन पाई।
तब कोषाधिप का आवाहन[५] कर, उनको यह बात बताई॥ १४ ॥
तुम! वैदेही-योग्य विभूषण अति बहुमूल्य शीघ्र मँगवाओ।
चौदह वर्ष चल सकें जितने, उतने गिन करके ले आओ॥ १५ ॥
कोषाधिप ने महाराज की वार्ता सुन, कोषस्थल[६] जाकर।
सब चीज़ें सीता को अर्पित कर दीं बहुत शीघ्र ही लाकर॥ १६ ॥
उत्तम कुलजा, अयोनिजा थीं, जो वैदेही वन को प्रस्थित[७]।
उनसे अपने सुलक्षणान्वित अंगों[८] को कर लिया विभूषित॥ १७ ॥

१ दूर नहीं कर पाता; २ होश; ३ आँसू से भरी आँख से; ४ अच्छे घोड़े जोतकर; ५ बुलाना; ६ खजाना; ७ प्रस्थान कर रही; ८ सुन्दर लक्षणवाले अंगों।

अराजयत वैदेही वेश्म तत् सुविभूषिता ।
उद्यतोंऽशुमतः काले खं प्रभेव विवस्वतः ॥ १८ ॥
तां भुजाभ्यां परिष्वज्य श्वश्रूर्वचनमब्रवीत् ।
अनाचरन्तीं कृपणं मूर्ध्न्युपाघ्राय मैथिलीम् ॥ १९ ॥
असत्यः सर्वलोकेऽस्मिन् सततं सत्कृताः प्रियैः ।
भर्तारं नानुमन्यन्ते विनिपातगतं स्त्रियः ॥ २० ॥
एष स्वभावो नारीणामनुभूय पुरा सुखम् ।
अल्पामप्यापदं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहत्यपि ॥ २१ ॥
असत्यशीला विकृता दुर्गा अहृदयाः सदा ।
असत्यः पापसंकल्पाः क्षणमात्रविरागिणः ॥ २२ ॥
न कुलं न कृतं विद्या न दत्तं नापि संग्रहः ।
स्त्रीणां गृह्णाति हृदयमनित्यहृदया हि ताः ॥ २३ ॥
साध्वीनां तु स्थितानां तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते ।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते ॥ २४ ॥
स त्वया नावमन्तव्यः पुत्रः प्रव्राजितो वनम् ।
तव देवसमस्त्वेष निर्धनः सधनोऽपि वा ॥ २५ ॥
विज्ञाय वचनं सीता तस्या धर्मार्थसंहितम् ।
कृत्वाञ्जलिमुवाचेदं श्वश्रूमभिमुखे स्थिता ॥ २६ ॥
करिष्ये सर्वमेवाहमार्या यदनुशास्ति माम् ।
अभिज्ञास्मि यथा भर्तुर्वर्तितव्यं श्रुतं च मे ॥ २७ ॥
न मामसज्जनेनार्या समानयितुमर्हति ।
धर्माद् विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा ॥ २८ ॥
नातन्त्री वाद्यते वीणा नाचक्रो विद्यते रथः ।
नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा ॥ २९ ॥
मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥ ३० ॥
साहमेवंगता श्रेष्ठा श्रुतधर्मपरावरा ।
आर्ये किमवमन्येयं स्त्रिया भर्ता हि दैवतम् ॥ ३१ ॥
सीताया वचनं श्रुत्वा कौसल्या हृदयङ्गमम् ।
शुद्धसत्त्वा मुमोचाश्रु सहसा दुःखहर्षजम् ॥ ३२ ॥
तां प्राञ्जलिरभिप्रेक्ष्य मातृमध्येऽतिसत्कृताम् ।
रामः परमधर्मात्मा मातरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ३३ ॥
अम्ब मा दुःखिता भूत्वा पश्येस्त्वं पितरं मम ।
क्षयोऽपि वनवासस्य क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ ३४ ॥

भूषण - भूषित वैदेही से, गेह हुआ वह भूषित वैसे।
प्रातः उदित सूर्य-किरणों से होता गगन प्रकाशित जैसे॥ १८ ॥
बाहु युगल से कौसल्या ने फिर सीता को हृदय लगाया।
सुख व्यवहारिणि वैदेही का मस्तक सूँघा और बताया॥ १६ ॥
पति-मानित जो स्त्री, संकट में पति का नहीं समादर करती।
वह जगती की भारस्वरूपा, 'असती' कहलाकर है रहती॥ २० ॥
दुष्ट-स्वभावा, पहले पति से यथायोग्य इच्छित सुख पातीं।
किन्तु स्वल्प-संकट में, उसको दोषी कह, सम्बन्ध मिटातीं॥ २१ ॥
पति-प्रति हृदय-विहीना, मिथ्यावादिनि, दुष्ट-विचारिणि नारी।
क्षण में पति-त्यागिनि, परगामिनि को दुष्टा कहते संसारी॥ २२ ॥
उत्तमकुल, उपकार, विभूषण, दानादिक, विद्या, धन-संग्रह।
नहीं व्यवस्था-हीन दुष्ट स्त्री-मानस को वश में लाते यह॥ २३ ॥
शास्त्र, कुलोचित-मर्यादास्थित, सत्य, सदाचारिणि सन्नारी।
का पति ही है परम देवता (पति ही परम दिव्य अधिकारी)॥ २४ ॥
अतः राम सुत, जिन्हें नृपाज्ञा मिली, रहें वन में अब जाकर।
वे हों धनी, निर्धनी कुछ भी, करना उनका सुर-सम आदर॥ २५ ॥
धर्म-अर्थ-युत सास-कथन जब सीता के सुनने में आये।
हाथ जोड़कर तब सीता ने उनसे सविनय वचन सुनाये॥ २६ ॥
आर्ये! जो उपदेश दे रहीं प्रतिपालित वे हो पाएँगे।
पति के प्रति व्यवहार-ज्ञान जो मिले प्रथम ही, निभ पाएँगे॥ २७ ॥
पूज्य अम्बिके! दुष्ट नहीं मैं, मुझे न समझें! अ-सती जैसी।
यथा प्रभा शशि के सँग रहती, साथ रहूँगी मैं भी वैसी॥ २८ ॥
विना तार वीणा, पहियों के बिन रथ, यथा अचल रह जाता।
वैसे पति को छोड़, नहीं हैं शत सुत भी स्त्री के सुख-दाता॥ २६ ॥
स्वल्प सुखद हैं, पिता, भ्रातृ, सुत, किन्तु स्वपति अतिशय सुखदाता।
कौन न पूजेगी पति को, (जो लोकद्वय - मांगल्य बढ़ाता)॥ ३० ॥
आर्ये! धर्म सुना है मैंने, आर्याओं, जननी के द्वारा।
पति है स्त्री का परम देवता, पातिव्रत्य पुण्य है न्यारा॥ ३१ ॥
शुद्धान्तःकरणा कौसल्या सीता - वचन मनोहर सुनकर।
हुईं प्रसन्न और नयनों से बहे दुःख - हर्षाश्रु सुनिर्झर॥ ३२ ॥
माताओं में मान्य, स्वमाता कौसल्या की ओर देखकर।
बोले उनसे हाथ जोड़कर, राम धार्मिक वे विशेषकर॥ ३३ ॥
कारण इनको समझ, दुःख से नहीं देखना नृप को, माता!।
क्योंकि शीघ्र वन-वास-अवधि यह होगी पूर्ण (समझ में आता)॥ ३४ ॥

सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नव वर्षाणि पञ्च च ।
समग्रमिह सम्प्राप्तं मां द्रक्ष्यसि सुहृद्वृतम् ॥ ३५ ॥
एतावदभिनीतार्थमुक्त्वा स जननीं वचः ।
त्रयः शतशतार्धा हि ददर्शावेक्ष्य मातरः ॥ ३६ ॥
ताश्चापि स तथैवार्ता मातृर्दशरथात्मजः ।
धर्मयुक्तमिदं वाक्यं निजगाद कृताञ्जलिः ॥ ३७ ॥
संवासात् परुषं किंचिदज्ञानादपि यत् कृतम् ।
तन्मे समुपजानीत सर्वाश्चामन्त्रयामि वः ॥ ३८ ॥
वचनं राघवस्यैतद् धर्मयुक्तं समाहितम् ।
शुश्रुवुस्ताः स्त्रियः सर्वाः शोकोपहतचेतसः ॥ ३९ ॥
जज्ञेऽथ तासां संनादः क्रौञ्चीनामिव निःस्वनः ।
मानवेन्द्रस्य भार्याणामेवं वदति राघवे ॥ ४० ॥
मुरजपणवमेघघोषवद्
दशरथवेश्म बभूव यत् पुरा ।
विलपितपरिदेवनाकुलं
व्यसनगतं तदभूत् सुदुःखितम् ॥ ४१ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥३९॥

चत्वारिंशः सर्गः

सीता, राम और लक्ष्मण का दशरथ की परिक्रमा करके कौसल्या आदि को प्रणाम करना, सुमित्रा का लक्ष्मण को उपदेश, सीता-सहित श्रीराम और लक्ष्मण का रथ में बैठकर वन की ओर प्रस्थान, पुरवासियों तथा रानियों-सहित महाराज दशरथ की शोकाकुल अवस्था

अथ रामश्च सीता च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः ।
उपसंगृह्य राजानं चक्रुर्दीनाः प्रदक्षिणम् ॥ १ ॥
तं चापि समनुज्ञाप्य धर्मज्ञः सह सीतया ।
राघवः शोकसम्मूढो जननीमभ्यवादयत् ॥ २ ॥
अन्वक्षं लक्ष्मणो भ्रातुः कौसल्यामभ्यवादयत् ।
अपि मातुः सुमित्राया जग्राह चरणौ पुनः ॥ ३ ॥
तं वन्दमानं रुदती माता सौमित्रिमब्रवीत् ।
हितकामा महाबाहुं मूर्ध्न्युपाघ्राय लक्ष्मणम् ॥ ४ ॥

चौदह वर्ष बीत जायेंगे, निसि-निद्रा-सम माता! सोकर।
दूर नहीं दिन, देखोगी मैं सुहृदों सँग प्रस्तुत वन होकर॥ ३५ ॥
अपनी माता कौसल्या को इस प्रकार की बात बताकर।
देखा सार्ध त्रिशत[1] माताओं को राघव ने दृष्टि घुमाकर॥ ३६ ॥
तथा राम ने कौसल्या-सम, दुःखित उन सबको भी पाया।
सबको सविनय हाथ जोड़कर, तब राघव ने यह बतलाया॥ ३७ ॥
माताओ! अज्ञात, ज्ञात सब, जो अपराध हुए हों अब तक।
क्षमा करें, उनको! मैं आया यात्राज्ञा[2] पाने को तब तक॥ ३८ ॥
दशरथ की उन सभी नारियों ने यह सुने धर्ममय सु-वचन।
बड़े ध्यान से, अतः हुआ तव उन सबका भी परम दुखित मन॥ ३९ ॥
कुररी[3] जैसी लगीं विलपनें, नृपति-रानियाँ राम-वचन सुन।
इस अवसर पर राजभवन में आर्तनाद की गूँज उठी धुन॥ ४० ॥
नृप दशरथ का भवन, प्रथम जो बहुवाद्यों से सारा
गूँज रहा था, मेघ मुरज-सँग पणवादिक के द्वारा।
रुदन, विलाप और क्रन्दन से व्याप्त हो गया वह ही
और बह चली तभी वहाँ पर, अति करुणा की धारा॥ ४१ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में उन्तालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३९ ॥

चालीसवाँ सर्ग

सीता, राम और लक्ष्मण का दशरथ की परिक्रमा करके कौसल्या आदि को प्रणाम करना, सुमित्रा का लक्ष्मण को उपदेश, सीता-सहित श्रीराम और लक्ष्मण का रथ में बैठकर वन की ओर प्रस्थान, पुरवासियों तथा रानियों-सहित महाराज दशरथ की शोकाकुल अवस्था

राम तथा सीता, लक्ष्मण ने हाथ जोड़कर, होकर विनमित।
दशरथ-चरणस्पर्श किया, फिर परिक्रमा की उनकी नियमित॥ १ ॥
उनसे विदा माँगकर, सीता-सहित धर्म-विद् दुखी राम ने।
चरण छुए दुखिता माता कौसल्या के, जा शीघ्र सामने॥ २ ॥
कौसल्या का किया राम के बाद वीर लक्ष्मण ने वन्दन।
पकड़े दोनों चरण सुमित्रा माता के (जो अति उदास मन)॥ ३ ॥
महाबाहु निज सुत लक्ष्मण को करते हुए प्रणाम देखकर।
मस्तक सूँघ सुमित्रा उनका, उनसे बोलीं फिर विशेषकर॥ ४ ॥

---

१ साढ़े तीन सौ; २ वन-गमन के लिए आज्ञा; ३ क्रौञ्ची पक्षिणी (रत्नाकर द्वारा आहत क्रौञ्च की भार्या के समान विलाप)।

सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने ।
रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति ॥ ५ ॥
व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ ।
एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत् ॥ ६ ॥
इदं हि वृत्तमुचितं कुलस्यास्य सनातनम् ।
दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु हि ॥ ७ ॥
लक्ष्मणं त्वेवमुक्त्वासौ संसिद्धं प्रियराघवम् ।
सुमित्रा गच्छ गच्छेति पुनः पुनरुवाच तम् ॥ ८ ॥
रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ॥ ९ ॥
ततः सुमन्त्रः काकुत्स्थं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
विनीतो विनयज्ञश्च मातलिर्वासवं यथा ॥ १० ॥
रथमारोह भद्रं ते राजपुत्र महायशः ।
क्षिप्रं त्वां प्रापयिष्यामि यत्र मां राम वक्ष्यसे ॥ ११ ॥
चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यानि वने त्वया ।
तान्युपक्रमितव्यानि यानि देव्या प्रचोदितः ॥ १२ ॥
तं रथं सूर्यसंकाशं सीता हृष्टेन चेतसा ।
आरुरोह वरारोहा कृत्वालंकारमात्मनः ॥ १३ ॥
वनवासं हि संख्याय वासांस्याभरणानि च ।
भर्तारमनुगच्छन्त्यै सीतायै श्वशुरो ददौ ॥ १४ ॥
तथैवायुधजातानि भ्रातृभ्यां कवचानि च ।
रथोपस्थे प्रविन्यस्य सचर्म कठिनं च यत् ॥ १५ ॥
अथो ज्वलनसंकाशं चामीकरविभूषितम् ।
तमारुरुहतुस्तूर्णं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १६ ॥
सीतातृतीयानारूढान् दृष्ट्वा रथमचोदयत् ।
सुमन्त्रः सम्मतानश्वान् वायुवेगसमाञ्जवे ॥ १७ ॥
प्रयाते तु महारण्यं चिररात्राय राघवे ।
बभूव नगरे मूर्च्छा बलमूर्च्छा जनस्य च ॥ १८ ॥
तत् समाकुलसम्भ्रान्तं मत्तसंकुपितद्विपम् ।
हयसिञ्जितनिर्घोषं पुरमासीन्महास्वनम् ॥ १९ ॥
ततः सबालवृद्धा सा पुरी परमपीडिता ।
राममेवाभिदुद्राव घर्मार्तः सलिलं यथा ॥ २० ॥
पार्श्वतः पृष्ठतश्चापि लम्बमानास्तदुन्मुखाः ।
बाष्पपूर्णमुखाः सर्वे तमूचुर्भृशनिःस्वनाः ॥ २१ ॥

सुहृद, राम-अनुरागी हो तुम ! अतः भेजती तुमको सुतवर !
वन में इधर-उधर जाने पर, रहना भ्राता-सेवा-तत्पर ॥ ५ ॥
अनघ ! रहें संकट, समृद्धि में, वे ही गति हैं परम तुम्हारी ।
ज्येष्ठ भ्रातृ-आज्ञा-पालन को, धर्म बताता है (सुखकारी) ॥ ६ ॥
दान, यज्ञ-दीक्षा में दीक्षित, निज शरीर का रण में त्यागन ।
यही रहा है अपने कुल का सदाचार सर्वथा पुरातन ॥ ७ ॥
वन-निवास-निश्चयी राम से, कहा 'पुनः जाओ ! जाओ ! वन' ।
इसके बाद सुमित्रा बोली सुत लक्ष्मण से पुनः यह वचन ॥ ८ ॥
'दशरथ नृपति' राम को समझो ! 'जनक-सुता' को अपनी माता ।
वन को पुरी 'अयोध्या' जानो ! सुख से गमन करो ! सँग भ्राता ॥ ९ ॥
कहते मातलि यथा इन्द्र से कोई वार्ता किसी काम से ।
उसी भाँति सविनय कर जोड़े, बोले सूत सुमन्त्र राम से ॥ १० ॥
नृप-सुत राम ! महायश होवे मंगल ! अब बैठें इस रथ पर ।
जहाँ कहेंगे आप वहाँ पर मैं पहुँचाऊँगा उस पथ पर ॥ ११ ॥
वन-निवास चौदह वर्षों का गणनारम्भ आज से माने ! ।
क्योंकि आज ही वन जाने को कहा देवि कैकेयी माँ ने ॥ १२ ॥
अलंकार - धारिणी सुन्दरी सीता परम मुदित हो मन में ।
बैठीं सूर्य-सदृश तेजस्वी रथ पर फिर, जाने को वन में ॥ १३ ॥
पति-अनुगामिनि उन सीता को, विविध भाँति के वस्त्राभूषण ।
वर्ष चतुर्दश तक चलने के योग्य श्वसुर ने किये समर्पण ॥ १४ ॥
अस्त्र, शस्त्र, कवचादि नृपति ने दोनों भ्राता के हितकारी ।
रखवा दीं वस्तुएं पृष्ठ में खन्ती एवं चर्म - पिटारी ॥ १५ ॥
देता था जो अग्नि-प्रभा-सम दीप्त स्वर्ण-सम रथ दिखलाई ।
उस पर बैठे राम, सुमित्रा-नन्दन दोनों ही प्रिय भाई ॥ १६ ॥
रथ पर (राम-लखन दो भाई) क्रम तृतीय देखा सीता का ।
श्रेष्ठ पवनगति अश्वों से युत उस रथ को सुमन्त्र ने हाँका ॥ १७ ॥
दीर्घ समय के लिए राम जब, हुए विपिन के लिए सु-प्रस्थित ।
तब दूरागत दर्शक, सैनिक तथा पौरजन हुए विमूर्च्छित ॥ १८ ॥
कोलाहल मच गया पुरी में, व्याकुल हुए वहाँ के जन सब ।
कुपित गजाश्वों, उनकी भूषण-खनखन ध्वनि छा गई वहाँ तब ॥ १९ ॥
और राम के पीछे दौड़े, बालक, युवक, वृद्ध सब वैसे ।
धूप - प्रपीड़ित प्राणी, जल की ओर भागने लगते जैसे ॥ २० ॥
रथ के पीछे, अगल-बगल में, लगा वहाँ तब जन-गण सारा ।
दृष्टि राम पर लगी, कह रहे मुख पर थी आँसू की धारा ॥ २१ ॥

संयच्छ वाजिनां रश्मीन् सूत याहि शनैःशनैः।
मुखं द्रक्ष्याम रामस्य दुर्दर्शं नो भविष्यति ॥ २२ ॥
आयसं हृदयं नूनं राममातुरसंशयम्।
यद् देवगर्भप्रतिमे वनं याति न भिद्यते ॥ २३ ॥
कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम्।
न जहाति रता धर्मे मेरुमर्कप्रभा यथा ॥ २४ ॥
अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम्।
भ्रातरं देवसकाशं यस्त्वं परिचरिष्यसि ॥ २५ ॥
महत्येषा हि ते बुद्धिरेष चाभ्युदयो महान्।
एष स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि ॥ २६ ॥
एवं वदन्तस्ते सोढुं न शेकुर्बाष्पमागतम्।
नरास्तमनुगच्छन्ति प्रियमिक्ष्वाकुनन्दनम् ॥ २७ ॥
अथ राजा वृतः स्त्रीभिर्दीनाभिर्दीनचेतनः।
निर्जगाम प्रियं पुत्रं द्रक्ष्यामीति ब्रुवन् गृहात् ॥ २८ ॥
शुश्रुवे चाग्रतः स्त्रीणां रुदतीनां महास्वनः।
यथा नादः करेणूनां बद्धे महति कुञ्जरे ॥ २९ ॥
पिता हि राजा काकुत्स्थः श्रीमान् सन्नस्तदा बभौ।
परिपूर्णः शशी काले ग्रहेणोपप्लुतो यथा ॥ ३० ॥
स च श्रीमानचिन्त्यात्मा रामो दशरथात्मजः।
सूतं संचोदयामास त्वरितं वाह्यतामिति ॥ ३१ ॥
रामो याहीति तं सूतं तिष्ठेति च जनस्तथा।
उभयं नाशकत् सूतः कर्तुमध्वनि चोदितः ॥ ३२ ॥
निर्गच्छति महाबाहौ रामे पौरजनाश्रुभिः।
पतितैरभ्यवहितं प्रणनाश महीरजः ॥ ३३ ॥
रुदिताश्रुपरिद्यूनं हाहाकृतमचेतनम्।
प्रयाणे राघवस्यासीत् पुरं परमपीडितम् ॥ ३४ ॥
सुस्राव नयनैः स्त्रीणामस्रमायाससम्भवम्।
मीनसंक्षोभचलितैः सलिलं पङ्कजैरिव ॥ ३५ ॥
दृष्ट्वा तु नृपतिः श्रीमानेकचित्तगतं पुरम्।
निपपातेव दुःखेन कृत्तमूल इव द्रुमः ॥ ३६ ॥
ततो हलहलाशब्दो जज्ञे रामस्य पृष्ठतः।
नराणां प्रेक्ष्य राजानं सीदन्तं भृशदुःखितम् ॥ ३७ ॥

खींचो घोड़ों की लगाम तुम! धीरे-धीरे चलो सूत! अब।
रघुपति-मुख दर्शन हम कर लें क्योंकि यही होगा दुर्लभ तब॥ २२ ॥
निश्चय हमें राम-माता का हृदय लौह-निर्मित[1] दिखलाता।
देव-सदृश तेजस्वी सुत को जो वन-भेज, नहीं फट जाता॥ २३ ॥
पति-व्रत-धर्मा, छाया जैसी, पति-पीछे वैदेही जातीं।
हैं कृतार्थ, रवि-किरणें जैसे पति सुमेरु को छोड़ न पातीं॥ २४ ॥
अहो! कृतार्थ हुए लक्ष्मण तुम देव-तुल्य भ्राता-सँग जाकर।
वहाँ करोगे वन में सेवा प्रियवादी की अवसर पाकर॥ २५ ॥
बुद्धि विशाला है लक्ष्मण तव महा अभ्युदय-अवसर आया।
क्योकि राम-अनुसरण-पुण्य से तुमने स्वर्ग-माग है पाया॥ २६ ॥
यह सब कहते हुए नागरिक अश्रु-वेग थे रोक न पाते।
प्रिय इक्ष्वाकुज रामचन्द्र के, पीछे-पीछे वे थे जाते॥ २७ ॥
तब अपनी रानियों-सहित वे दशरथ दीन चले मन्दिर से।
कहते हुए, 'राम प्रिय सुत को, देखूँगा मैं तो अब फिर से'॥ २८ ॥
रुदिता महिला-आर्तनाद तब, उनको लगा उस समय ऐसा।
प्रमुख हस्ति के बँध जाने पर, नाद हथिनियों का हो जैसा॥ २९ ॥
राम-पिता श्रीमान् नृपति वे थे काकुत्स्थ खिन्न मन वैसे।
राहु-ग्रस्त, छवि-हीन, पर्व में पूर्ण चन्द्रमा लगता जैसे॥ ३० ॥
बोले तब अचिन्त्य वे श्रीमत् राम शीघ्र ही दशरथनन्दन।
उन सुमन्त्र को प्रेरित करते हुए, शीघ्र ही हाँकें! स्यन्दन[2]॥ ३१ ॥
राम कह रहे शीघ्र चलो तुम! जनता कहती रथ रुक जाये।
इस दुबिधा में वे सुमन्त्र तब, रुके न कुछ आगे बढ़ पाये॥ ३२ ॥
राम-नगर-निष्कासन-अवसर पर पुर-वासि-आँसुओं द्वारा।
बैठ गयी, जो धूलि उड़ रही थी (भीगा पृथ्वी-तल सारा)॥ ३३ ॥
और राम-प्रस्थान-प्रपीड़ा से बिगड़ी नागरिक व्यवस्था।
अश्रु बहाकर हा-हा करने से थी सबकी मूर्च्छावस्था॥ ३४ ॥
और नारियों के नेत्रों से खेद-अश्रु झरते थे ऐसे।
कभी मछलियों की छलाँग से, जल-कण गिरें कमल से जैसे॥ ३५ ॥
श्रीमन्नृप दशरथ ने देखा, व्याकुल हुई अयोध्या सारी।
तब वे कटे हुए तरु-जैसे, भू पर गिरे, हुआ दुख भारी॥ ३६ ॥
राम-अनुगमन-कारि[3] जनों ने दुःख-मग्न नृप को देखा जब।
गूँज गया अतिशय कोलाहल, फिर से उन सब लोगों का तब॥ ३७ ॥

१ लोहे से बना, कठोर; २ रथ; ३ पीछे चल रही जनता।

हा रामेति जनाः केचिद् राममातेति चापरे।
अन्तःपुरसमृद्धं च क्रोशन्तं पर्यदेवयन् ॥ ३८ ॥
अन्वीक्षमाणो रामस्तु विषण्णं भ्रान्तचेतसम्।
राजानं मातरं चैव ददर्शानुगतौ पथि ॥ ३९ ॥
स बद्ध इव पाशेन किशोरो मातरं यथा।
धर्मपाशेन संयुक्तः प्रकाशं नाभ्युदैक्षत ॥ ४० ॥
पदातिनौ च यानार्हावदुःखार्हौ सुखोचितौ।
दृष्ट्वा संचोदयामास शीघ्रं याहीति सारथिम् ॥ ४१ ॥
नहि तत् पुरुषव्याघ्रो दुःखजं दर्शनं पितुः।
मातुश्च सहितुं शक्तस्तोत्त्रैर्नुन्न इव द्विपः ॥ ४२ ॥
प्रत्यगारमिवायान्ती सवत्सा वत्सकारणात्।
बद्धवत्सा यथा धेनू राममाताभ्यधावत ॥ ४३ ॥
तथा रुदन्तीं कौसल्यां रथं तमनुधावतीम्।
क्रोशन्तीं राम रामेति हा सीते लक्ष्मणेति च ॥ ४४ ॥
रामलक्ष्मणसीतार्थं स्रवन्तीं वारि नेत्रजम्।
असकृत् प्रैक्षत स तां नृत्यन्तीमिव मातरम् ॥ ४५ ॥
तिष्ठेति राजा चुक्रोश याहि याहीति राघवः।
सुमन्त्रस्य बभूवात्मा चक्रयोरिव चान्तरा ॥ ४६ ॥
नाश्रौषमिति राजानमुपालब्धोऽपि वक्ष्यसि।
चिरं दुःखस्य पापिष्ठमिति रामस्तमब्रवीत् ॥ ४७ ॥
स रामस्य वचः कुर्वन्ननुज्ञाप्य च तं जनम्।
व्रजतोऽपि हयाञ्शीघ्रं चोदयामास सारथिः ॥ ४८ ॥
न्यवर्तत जनो राज्ञो रामं कृत्वा प्रदक्षिणम्।
मनसाप्याशुवेगेन न न्यवर्तत मानुषम् ॥ ४९ ॥
यमिच्छेत् पुनरायातं नैनं दूरमनुव्रजेत्।
इत्यमात्या महाराजमूचुर्दशरथं वचः ॥ ५० ॥
तेषां वचः सर्वगुणोपपन्नः
प्रस्विन्नगात्रः प्रविषण्णरूपः।
निशम्य राजा कृपणः सभार्यो
व्यवस्थितस्तं सुतमीक्षमाणः ॥ ५१ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

देखा, हैं करते विलाप ये सभी रानियों-सहित नृपतिं जब।
कह करके हा राम ! तथा हा रामाम्बा[1] ! जन अति विलपे[2] तब ॥ ३८ ॥
रामचन्द्र जी ने पीछे को जब फिर अपनी दृष्टि घुमाई।
तब शोकातुर पिता और माँ कौसल्या दीं उन्हें दिखाई ॥ ३९ ॥
नहीं देख पाता माता को घोड़े का शिशु बधकर जैसे।
धर्म - बन्ध में बँधे राम भी देख न पाये, माँ को वैसे ॥ ४० ॥
सदा सवारी, सुखी, न दुख का भान, आज पैदल हैं पथ पर।
देख, राम ने कहा, वेग से रथ को हाँको ! तुम सारथिवर ! ॥ ४१ ॥
अंकुश-पीड़ित गजपति, अतिशय कष्ट न सह पाता है जैसे।
दुखद पिता-माता-दुरवस्था हुई असह्य राम को वैसे ॥ ४२ ॥
बँधे वत्स के पीछे सायं गौएँ जैसे गृह को जातीं।
वैसे ही कौसल्या भी थीं उनकी ओर दौड़ती आतीं ॥ ४३ ॥
हा सीते ! हा राम ! तथा हा लक्ष्मण ! वे कहती थीं जाती।
और बहुत रोकर कौसल्या माँ थीं रथ के पीछे आती ॥
राम और लक्ष्मण, सीता-हित रहीं अश्रु पर अश्रु बहाती।
तथा राम ने देखा, वे थीं तव पथ में चक्कर-सी खाती ॥४४-४५॥
नृप कहते, 'ठहरो सुमन्त्र !' औ 'चलिये' कहते रघुपति ऐसे।
तब सुमन्त्र को लगा, फँसे हों मानो दो चाकों में जैसे ॥ ४६ ॥
बोले राम, विलम्ब सभी के लिए बहुत होगा दुखदायी।
अतः लौटकर कहियेगा ! मैं सुन न सका (जन-रव ध्वनि छायी) ॥ ४७ ॥
सारथि को रामाज्ञा-पालन ही तब ठीक समझ में आया।
अतः पूछकर अनुगत लोगों से अश्वों को वेग बढ़ाया ॥ ४८ ॥
मानस - परिक्रमा करके फिर दशरथ - संगी आये तन से[3]।
पीछे चलती रही साथ कुछ जनता तब भी तन से, मन से ॥ ४९ ॥
बोले सचिव— पुनः लौटे, जब ऐसी अभिलाषा की जाती।
अधिक दूर पहुँचाना समुचित, नहीं सनातन रीति बताती ॥ ५० ॥
सकल गुणान्वित नृप-शरीर था स्वेद-सिक्त[4] दिखलाता
था विषाद का मूर्तिमान वस रूप सामने आता।
खड़े हो गये नृपति वहीं पर, सचिवों से यह सुनकर
सुत-दर्शन, रानियों-सहित था तब भी उन्हें सुहाता ॥ ५१ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में चालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४० ॥

---

१ राम की माता; २ विलाप करने लगे; ३ मन राम में ही लगा; ४ पसीने से तराबोर।

एकचत्वारिंशः सर्गः

श्रीराम के वनगमन से रनिवास की स्त्रियों का विलाप तथा नगरनिवासियों की शोकाकुल अवस्था

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे निष्क्रामति कृताञ्जलौ ।
आर्तशब्दो हि संजज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे महान् ॥ १ ॥
अनाथस्य जनस्यास्य दुर्बलस्य तपस्विनः ।
यो गतिः शरणं चासीत् स नाथः क्व नु गच्छति ॥ २ ॥
न क्रुध्यत्यभिशस्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन् ।
क्रुद्धान् प्रसादयन् सर्वान् समदुःखः क्व गच्छति ॥ ३ ॥
कौसल्यायां महातेजा यथा मातरि वर्तते ।
तथा यो वर्ततेऽस्मासु महात्मा क्व नु गच्छति ॥ ४ ॥
कैकेय्या क्लिश्यमानेन राज्ञा संचोदितो वनम् ।
परित्राता जनस्यास्य जगतः क्व नु गच्छति ॥ ५ ॥
अहो निश्चेतनो राजा जीवलोकस्य संक्षयम् ।
धर्म्यं सत्यव्रतं रामं वनवासे प्रवत्स्यति ॥ ६ ॥
इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः ।
रुरुदुश्चैव दुःखार्ताः सस्वरं च विचुक्रुशुः ॥ ७ ॥
स तमन्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः ।
पुत्रशोकाभिसंतप्तः श्रुत्वा चासीत् सुदुःखितः ॥ ८ ॥
नाग्निहोत्राण्यहूयन्त नापचन् गृहमेधिनः ।
अकुर्वन् न प्रजाः कार्यं सूर्यश्चान्तरधीयत ॥ ९ ॥
व्यसृजन् कवलान् नागा गावो वत्सान् न पाययन् ।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत ॥ १० ॥
त्रिशङ्कुर्लोहिताङ्गश्च बृहस्पतिबुधावपि ।
दारुणाः सोममभ्येत्य ग्रहाः सर्वे व्यवस्थिताः ॥ ११ ॥
नक्षत्राणि गतार्चींषि ग्रहाश्च गततेजसः ।
विशाखाश्च सधूमाश्च नभसि प्रचकाशिरे ॥ १२ ॥
कालिकानिलवेगेन महोदधिरिवोत्थितः ।
रामे वनं प्रव्रजिते नगरं प्रचचाल तत् ॥ १३ ॥
दिशः पर्याकुलाः सर्वास्तिमिरेणेव संवृताः ।
न ग्रहो नापि नक्षत्रं प्रचकाशे न किंचन ॥ १४ ॥
अकस्मान्नागरः सर्वो जनो दैन्यमुपागमत् ।
आहारे वा विहारे वा न कश्चिदकरोन्मनः ॥ १५ ॥

एकतालीसवाँ सर्ग

श्रीराम के वन-गमन से रनिवास की स्त्रियों का विलाप तथा नगर-निवासियों की शोकाकुल अवस्था

राम नृवर, करबद्ध रथस्थित, निकले जब कुछ दूर नगर से।
तब गूँजा रनिवास, रानियों के शोकातुर हा-हा स्वर से॥ १ ॥
वे बोलीं, जो दीन, अनाथों, तपस्वियों की गति कहलाते।
एवं शरण, नाथ हैं सबके, वे श्रीराम कहाँ हैं जाते?॥ २ ॥
मिथ्या दोष लगाने पर भी जो न क्रोध किञ्चित उर लाते।
वे सुरुष्ट-मोदक, संवेदनशील राम जाते दिखलाते॥ ३ ॥
हम सबसे भी, जो निज माता-सम उत्तम व्यवहार निभाते।
महा-महा तेजस्वि महात्मा वे श्रीराम कहाँ हैं जाते?॥ ४ ॥
कैकेयी-क्लेशित नृप द्वारा राम-वनगमन-हित कहने पर।
हम सबके, एवं सब जग के रक्षक कहाँ जा रहे रघुवर?॥ ५ ॥
अहो! बुद्धि से हीन नृपति हैं, जो जगदाश्रय औ सुधर्मरत।
देश-निकाला की आज्ञा पा, विपिन जा रहे हैं सत्यव्रत॥ ६ ॥
बछड़ों से बिछुड़ी गौओं-सी हुई रानियाँ दुखित बहुत तब।
आर्ता, क्रन्दन-उच्चस्वर से रोने लगीं वहाँ पर वे सब॥ ७ ॥
पुत्र-शोक-संतप्त नृपति वे, आर्तनाद सुन, अन्तःपुर का।
हुए और भी अधिक दुखी तब, बढ़ा ताप अति उनके उर का॥ ८ ॥
नहीं गृहस्थों में गृह-भोजन बना, न अग्निहोत्र हो पाया।
किया प्रजा ने कार्य न कुछ भी, ढला सूर्य अस्ताचल आया॥ ९ ॥
चारा त्यागा सभी गजों ने, नहीं धेनु ने वत्स पिलाया।
प्रथम पुत्र-प्रसवा माता ने भी कुछ उत्सव नहीं मनाया॥ १० ॥
शुक्र-त्रिशंकु-भौम-बुध-गुरु-शनि-ग्रह आदिक गति बक्र, समिटकर।
क्रूरदृष्टि-युत, क्षीण कान्ति से पहुँचे नभ में, जहाँ सुधाकर॥ ११ ॥
कान्ति-क्षीण नक्षत्र हो गये, सब ग्रह थे निस्तेज दिखाते।
होकर धूमाच्छन्न सभी विपरीत मार्ग पर उलटे जाते॥ १२ ॥
नभ में, उमड़े हुए सिन्धु सी, वायु-प्रेरिता थी घन-माला।
राम-वन-गमन, कम्प नगर में, डगमग-डगमग डोला-हाला॥ १३ ॥
सभी दिशाएँ थीं व्याकुल तब, उनमें अन्धकार था छाया।
कोई तब नक्षत्र न ग्रह ही प्रभा-युक्त किञ्चित् हो पाया॥ १४ ॥
सहसा नागरिकों का मन तब, अतिशय दीन दशा में आया।
तब आहार, विहार आदि में नहीं किसी ने चित्त लगाया॥ १५ ॥

शोकपर्यायसंतप्तः सततं दीर्घमुच्छ्वसन् ।
अयोध्यायां जनः सर्वश्चुक्रोश जगतीपतिम् ॥ १६ ॥
बाष्पपर्याकुलमुखो राजमार्गगतो जनः ।
न हृष्टो लक्ष्यते कश्चित् सर्वः शोकपरायणः ॥ १७ ॥
न वाति पवनः शीतो न शशी सौम्यदर्शनः ।
न सूर्यस्तपते लोकं सर्वं पर्याकुलं जगत् ॥ १८ ॥
अनर्थिनः सुताः स्त्रीणां भर्तारो भ्रातरस्तथा ।
सर्वे सर्वं परित्यज्य राममेवान्वचिन्तयन् ॥ १९ ॥
ये तु रामस्य सुहृदः सर्वे ते मूढचेतसः ।
शोकभारेण चाक्रान्ताः शयनं नैव भेजिरे ॥ २० ॥
ततस्त्वयोध्या रहिता महात्मना
पुरंदरेणेव मही सपर्वता ।
चचाल घोरं भयशोकदीपिता
सनागयोधाश्वगणा ननाद च ॥ २१ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

राजा दशरथ का पृथ्वी पर गिरना, श्रीराम के लिए विलाप करना, कैकेयी को अपने पास आने से मना करना और उसे त्याग देना, कौसल्या और सेवकों की सहायता से उनका कौसल्या के भवन में आना और वहाँ भी श्रीराम के लिए दुःख का ही अनुभव करना

यावत् तु निर्यतस्तस्य रजोरूपमदृश्यत ।
नैवेक्ष्वाकुवरस्तावत् संजहारात्मचक्षुषी ॥ १ ॥
यावद् राजा प्रियं पुत्रं पश्यत्यत्यन्तधार्मिकम् ।
तावद् व्यवर्धतेवास्य धरण्यां पुत्रदर्शने ॥ २ ॥
न पश्यति रजोऽप्यस्य यदा रामस्य भूमिपः ।
तदार्तश्च निषण्णश्च पपात धरणीतले ॥ ३ ॥
तस्य दक्षिणमन्वागात् कौसल्या बाहुमङ्गना ।
परं चास्यान्वगात् पार्श्वं कैकेयी सा सुमध्यमा ॥ ४ ॥
तां नयेन च सम्पन्नो धर्मेण विनयेन च ।
उवाच राजा कैकेयीं समीक्ष्य व्यथितेन्द्रियः ॥ ५ ॥
कैकेयि मामकाङ्गानि मा स्प्राक्षीः पापनिश्चये ।
नहि त्वां द्रष्टुमिच्छामि न भार्या न च बान्धवी ॥ ६ ॥

शोकक्रम से तप्त निरन्तर, लंबी साँसें ले करके तब।
नृप दशरथ को लगे कोसने, पुरी अयोध्या के वासी सब ॥ १६ ॥
पथ पर निकला हुआ व्यक्ति तब, मुदित न कोई था मिल पाता।
शोक-मग्न उन सबका मुख था, आँसू से भीगा दिखलाता ॥ १७ ॥
तब न सौम्यता थी शशि में कुछ, नहीं पवन में थी शीतलता।
जग को रवि न प्रकाशित करते, सब जग में छायी व्याकुलता ॥ १८ ॥
बालक भूले मात-पिता को, न थी नारियों को सुधि पति को।
भूला भाई को भाई भी, सभी ध्या[1] रहे थे रघुपति को ॥ १९ ॥
रामचन्द्र के सुहृद मित्र सब, सुध-बुध खो बैठे थे अपनी।
शोकाक्रान्त[2] सभी ने तब थी, निद्रा-विना बिताई रजनी ॥ २० ॥

शोकभयान्वित[3] अवधपुरी थी, राम-विना दिखलाती
इन्द्र-विहीन मेरु-सह धरती ज्यों कम्पित हो जाती।
हाथी, घोड़ों और सैनिकों का था अति कोलाहल
सभी ओर से आर्तनाद-ध्वनि ही सुनने में आती ॥ २१ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४१ ॥

बयालीसवाँ सर्ग

राजा दशरथ का पृथ्वी पर गिरना, श्रीराम के लिए विलाप करना, कैकेयी को अपने पास आने से मना करना और उसे त्याग देना, कौसल्या और सेवकों की सहायता से उनका कौसल्या के भवन में आना और वहाँ भी श्रीराम के लिए दुःख का ही अनुभव करना

जब तक देती रही दिखाई, धूलि राम-वनगामी रथ की।
तब तक दृष्टि न हटी, उधर से उन ऐक्ष्वाकु-प्रवर दशरथ की ॥ १ ॥
जब तक नृप निज धार्मिक सुत को रहे देखते ऊँचे उठकर।
तब तक मानो तन बढ़ता था उनका पृथ्वी पर रह-रहकर ॥ २ ॥
नहीं राम-रथ-धूलि नृपति को, किसी भाँति जब पड़ी दिखाई।
तब अत्यन्त विषाद-ग्रस्त हो, गिरे धरणि पर मूर्च्छा आई ॥ ३ ॥
नृपांगना कौसल्या दक्षिण बाहु पकड़ने उनकी आईं।
कैकेयी ने वाम बाहु के लिए बाहुएँ स्वयं बढ़ाईं ॥ ४ ॥
विनय और नय-धर्म-युक्त नृप ने कैकेयी को जब देखा।
तब बोले, विकलेन्द्रिय होकर, मुख पर खिंची व्यथा की रेखा ॥ ५ ॥
तू कैकेयि! न मेरे अंगों को छू! तू पापिनी, अनार्या!।
तुझे देखना नहीं चाहता, तू न बान्धवी, नहीं भार्या! ॥ ६ ॥

१ स्मरण कर; २ शोक से दुखी; ३ शोक और भय में डूबे हुए।

ये च त्वामनुजीवन्ति नाहं तेषां न ते मम।
केवलार्थपरां हि त्वां त्यक्तधर्मां त्यजाम्यहम् ॥ ७ ॥
अगृह्णां यच्च ते पाणिमग्निं पर्यणयं च यत्।
अनुजानामि तत् सर्वमस्मिँल्लोके परत्र च ॥ ८ ॥
भरतश्चेत् प्रतीतः स्याद् राज्यं प्राप्यैतदव्ययम्।
यन्मे स दद्यात् पित्रर्थं मा मां तद्दत्तमागमत् ॥ ९ ॥
अथ रेणुसमुद्ध्वस्तं समुत्थाप्य नराधिपम्।
न्यवर्तत तदा देवी कौसल्या शोककर्शिता ॥ १० ॥
हत्वेव ब्राह्मणं कामात् स्पृष्ट्वाग्निमिव पाणिना।
अन्वतप्यत धर्मात्मा पुत्रं संचिन्त्य राघवम् ॥ ११ ॥
निवृत्यैव निवृत्यैव सीदतो रथवर्त्मसु।
राज्ञो नातिबभौ रूपं ग्रस्तस्यांशुमतो यथा ॥ १२ ॥
विललाप स दुःखार्तः प्रियं पुत्रमनुस्मरन्।
नगरान्तमनुप्राप्तं बुद्ध्वा पुत्रमथाब्रवीत् ॥ १३ ॥
वाहनानां च मुख्यानां वहतां तं ममात्मजम्।
पदानि पथि दृश्यन्ते स महात्मा न दृश्यते ॥ १४ ॥
यः सुखेनोपधानेषु शेते चन्दनरूषितः।
वीज्यमानो महार्हाभिः स्त्रीभिर्मम सुतोत्तमः ॥ १५ ॥
स नूनं क्वचिदेवाद्य वृक्षमूलमुपाश्रितः।
काष्ठं वा यदि वाश्मानमुपधाय शयिष्यते ॥ १६ ॥
उत्थास्यति च मेदिन्याः कृपणः पांसुगुण्ठितः।
विनिःश्वसन् प्रस्रवणात् करेणूनामिवर्षभः ॥ १७ ॥
द्रक्ष्यन्ति नूनं पुरुषा दीर्घबाहुं वनेचराः।
राममुत्थाय गच्छन्तं लोकनाथमनाथवत् ॥ १८ ॥
सा नूनं जनकस्येष्टा सुता सुखसदोचिता।
कण्टकाक्रमणक्लान्ता वनमद्य गमिष्यति ॥ १९ ॥
अनभिज्ञा वनानां सा नूनं भयमुपैष्यति।
श्वपदानर्दितं श्रुत्वा गम्भीरं रोमहर्षणम् ॥ २० ॥
सकामा भव कैकेयि विधवा राज्यमावस।
नहि तं पुरुषव्याघ्रं विना जीवितुमुत्सहे ॥ २१ ॥

तव आश्रित मम कभी न परिजन, और न मैं उनका अधिपति हूँ।
धन-प्रलोभ में धर्म-त्यागिनी! मुझसे त्यक्त सर्वथा है तू ॥ ७ ॥
अग्नि-प्रदक्षिण, पाणि-ग्रहण के त्याग रहा सम्बन्ध सभी अब।
अपने, तेरे उभयलोक के त्याग रहा सम्बन्ध आज सब ॥ ८ ॥
विघ्न-हीन यदि राज्य प्राप्त कर, भरत पुत्र हर्षित हो जायें।
तो भी उनसे दत्त पिण्ड, जल, दान न वे मुझको मिल पायें ॥ ९ ॥
देखा नृप को धूल-धूसरित शोकमग्न कौसल्या ने जब।
उन्हें उठाकर, उनके सँग ही राज-भवन को वे लौटीं तब ॥ १० ॥
कोई स्वेच्छित द्विज-हत्यारा या ज्वलिताग्नि-स्पर्शि[1] हो जैसे।
स्वयं दिये वर से वनगामी राम! भूप चिन्तित थे वैसे ॥ ११ ॥
घूम-घूम नृप, जो रथ-पथ के दर्शन को थे कष्ट उठाते।
राहु ग्रस्त रवि-सदृश उस समय वे न वस्तुतः शोभा पाते ॥ १२ ॥
करने लगे विलाप, पुत्र का दुख से करके स्मरण सर्वथा।
पुर-सीमा तक गये राम, यह समझ, उन्होंने कहा यह तथा ॥ १३ ॥
हा! वन-यात्रिक मेरे सुत-पथ-वाहन के पद-चिह्न दिखाते।
किन्तु महात्मा रामचन्द्र के दर्शन नहीं मुझे हो पाते ॥ १४ ॥
चन्दन-चर्चित ज्येष्ठ पुत्र, जो शय्याओं पर तव थे सोते।
जिन पर अलंकृता सुन्दरियों के व्यजनान्वित[2] कर थे होते ॥
वे तरु-मूलाश्रित[3] होकर अब, काष्ठ वा शिला पर सिर रखकर।
शयन करेंगे राम, सु निश्चित किसी भाँति से विपिन-धरणि पर ॥१५-१६॥
तथा धूसरित अंग, दीन-सम, लंबी साँस खींचकर वैसे।
उठा करेंगे, गजपति निर्झर के समीप से उठता जैसे ॥ १७ ॥
लोक-नाथ उन महाबाहु श्रीरामचन्द्र को वनवासी तब।
समझेंगे अनाथ-सम उनको, उठ करके चलते होंगे जब ॥ १८ ॥
जो सुख-भोग्या है सदैव की, जनकराज-प्रिय पुत्री सीता।
वह वन-कण्टक पर पद पड़ने से, होगी तब व्यथा-विभीता[4] ॥
व्याघ्रादिक पशु-गर्जन-ध्वनि जब होगी रोमाञ्चक गम्भीरा।
तब वन-कष्ट-अविज्ञा[5] होगी उसको सुनकर भीताधीरा[6] ॥१९-२०॥
कर ले! सफल कामना अपनी, री कैकेयी! विधवा होकर।
रह न सकूँगा जीवित अब मैं, नृवर राम प्रिय सुत को खोकर ॥ २१ ॥

---

१ जलती आग छू लेनेवाला; २ पंखा झुलाते हुए; ३ वृक्ष की जड़ के सहारे;
४ पीड़ा से डरी हुई; ५ जंगली दुःखों से अनजान; ६ डर कर व्याकुल।

इत्येवं विलपन् राजा जनौघेनाभिसंवृतः ।
अपस्नात इवारिष्टं प्रविवेश गृहोत्तमम् ॥ २२ ॥
शून्यचत्वरवेश्मान्तां संवृतापणवेदिकाम् ।
क्लान्तदुर्बलदुःखार्तां नात्याकीर्णमहापथाम् ॥ २३ ॥
तामवेक्ष्य पुरीं सर्वां राममेवानुचिन्तयन् ।
विलपन् प्राविशद् राजा गृहं सूर्य इवाम्बुदम् ॥ २४ ॥
महाह्रदमिवाक्षोभ्यं सुपर्णेन हृतोरगम् ।
रामेण रहितं वेश्म वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥ २५ ॥
अथ गद्गदशब्दस्तु विलपन् वसुधाधिपः ।
उवाच मृदु मन्दार्थं वचनं दीनमस्वरम् ॥ २६ ॥
कौसल्याया गृहं शीघ्रं राममातुर्नयन्तु माम् ।
नह्यन्यत्र ममाश्वासो हृदयस्य भविष्यति ॥ २७ ॥
इति ब्रुवन्तं राजानमनयन् द्वारदर्शिनः ।
कौसल्याया गृहं तत्र न्यवेशयत विनीतवत् ॥ २८ ॥
ततस्तत्र प्रविष्टस्य कौसल्याया निवेशनम् ।
अधिरुह्यापि शयनं बभूव लुलितं मनः ॥ २९ ॥
पुत्रद्वयविहीनं च स्नुषया च विवर्जितम् ।
अपश्यद् भवनं राजा नष्टचन्द्रमिवाम्बरम् ॥ ३० ॥
तच्च दृष्ट्वा महाराजो भुजमुद्यम्य वीर्यवान् ।
उच्चैःस्वरेण प्राक्रोशद्धा राम विजहासि नौ ॥ ३१ ॥
सुखिता बत तं कालं जीविष्यन्ति नरोत्तमाः ।
परिष्वजन्तो ये रामं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥ ३२ ॥
अथ रात्र्यां प्रपन्नायां कालरात्र्यामिवात्मनः ।
अर्धरात्रे दशरथः कौसल्यामिदमब्रवीत् ॥ ३३ ॥
न त्वां पश्यामि कौसल्ये साधु मां पाणिना स्पृश ।
रामं मेऽनुगता दृष्टिरद्यापि न निवर्तते ॥ ३४ ॥
तं राममेवानुविचिन्तयन्तं
समीक्ष्य देवी शयने नरेन्द्रम् ।
उपोपविश्याधिकमार्तरूपा
विनिःश्वसन्तं विललाप कृच्छ्रम् ॥ ३५ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

जन-समूह से घिरकर जैसे, मरघट-स्नापित[1] गृह हैं आते।
वैसे दशरथ हुए भवन में प्रविशित, अतिशय शोक मनाते॥ २२ ॥
नृप को पुरी-गृहों के प्रांगण, हाट[2], द्वार थे शून्य दिखाते।
दुर्बल, क्लान्त मनुज मार्गों पर, कहीं नहीं थे आते, जाते॥
देख, नगर-स्थिति, चिन्तित, विलपित, भूपति गये भवन में ऐसे।
मेघ-घटा में छिप जाते है, किसी समय पर दिनकर जैसे॥२३-२४॥
सीता, राम और लक्ष्मण से, रहित राज-गृह लगता वैसा।
गरुड़-गृहीत नाग से वञ्चित हो अति क्षुब्ध सरोवर जैसा॥ २५ ॥
द्वार-रक्षकों से वे गद्गद वाणी में अतिशय विलाप कर।
दीनाऽस्पष्ट[3] मधुर स्वाभाविक वचनों में बोले भूपतिवर॥ २६ ॥
मुझे राम-माता कौसल्या के गृह में पहुँचाओ! सत्वर[4]।
क्योंकि शान्ति पाएगा, मेरा हृदय वहीं पर अब कुछ जाकर॥ २७ ॥
द्वार-रक्षकों ने विनम्र हो, कौसल्या-गृह में पहुँचाया।
और नृपति दशरथ को शय्या पर ले जाकर शीघ्र सुलाया॥ २८ ॥
कौसल्या-गृह में, शय्या पर भी (न नृपति निद्रा में आये)।
और न चञ्चल मलिन भाव भी उनके मन के तब मिट पाये॥ २९ ॥
दोनों सुत, सुत-वधू जानकी-रहित गृह लगा नृप को वैसे।
विना चन्द्रमा के लगता है; श्री-विहीन अम्बर यह जैसे॥ ३० ॥
उसे देख, करके विलाप, भुज एक उठा, विक्रमी नृपति ने।
कहा, राम! तुम त्याग रहे हो, वृद्ध पिता-माता को अपने॥
चौदह वर्ष अवधि तक जीवित पुरुष-प्रवर जो रह जायेंगे।
वे नगरागत[5] राम-दर्शनों संग आलिंगन-सुख पायेंगे॥ ३१-३२॥
नृप को कालरात्रि-सदृशी वह, रात्रि समझ में तब फिर आई।
कौसल्या को अर्ध-रात्रि में, (दर्द-भरी यह) बात बताई॥ ३३ ॥
मेरी दृष्टि राम-सँग जाकर, कौसल्ये! फिर लौट न पाई।
स्पर्श करो! मेरे शरीर का, तुम न मुझे देतीं दिखलाई॥ ३४ ॥

शय्यास्थित नृपवर करते थे सतत[6] राम का चिन्तन
लंबी साँसें खींच रहे थे, होकर परम अकिञ्चन।
उन्हें देख, देवी कौसल्या व्यथित हुई तब अतिशय
बैठीं उनके पास, दुःख से किया उन्होंने क्रन्दन॥ ३५ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में बयालीसवाँ सर्ग समाप्त॥ ४२ ॥

---

१ श्मशान से लौटकर स्नान किये हुए; २ बाजार; ३ करुण और समझ में न आनेवाली; ४ शीघ्र ही; ५ नगर में आये; ६ निरन्तर।

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

महारानी कौसल्या का विलाप

ततः समीक्ष्य शयने सन्नं शोकेन पार्थिवम् ।
कौसल्या पुत्रशोकार्ता तमुवाच महीपतिम् ॥ १ ॥
राघवे नरशार्दूले विषं मुक्त्वाहिजिह्मगा ।
विचरिष्यति कैकेयी निर्मुक्तेव हि पन्नगी ॥ २ ॥
विवास्य रामं सुभगा लब्धकामा समाहिता ।
त्रासयिष्यति मां भूयो दुष्टाहिरिव वेश्मनि ॥ ३ ॥
अथास्मिन् नगरे रामश्चरन् भैक्षं गृहे वसेत् ।
कामकारो वरं दातुमपि दासं ममात्मजम् ॥ ४ ॥
पातयित्वा तु कैकेय्या रामं स्थानाद् यथेष्टतः ।
प्रविद्धो रक्षसां भागः पर्वणीवाहिताग्निना ॥ ५ ॥
नागराजगतिर्वीरो महाबाहुर्धनुर्धरः ।
वनमाविशते नूनं सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ६ ॥
वने त्वदृष्टदुःखानां कैकेय्यनुमते त्वया ।
त्यक्तानां वनवासाय कान्यावस्था भविष्यति ॥ ७ ॥
ते रत्नहीनास्तरुणाः फलकाले विवासिताः ।
कथं वत्स्यन्ति कृपणाः फलमूलैः कृताशनाः ॥ ८ ॥
अपीदानीं स कालः स्यान्मम शोकक्षयः शिवः ।
सहभार्यं सह भ्रात्रा पश्येयमिह राघवम् ॥ ९ ॥
श्रुत्वैवोपस्थितौ वीरौ कदायोध्या भविष्यति ।
यशस्विनी हृष्टजना सूच्छ्रितध्वजमालिनी ॥ १० ॥
कदा प्रेक्ष्य नरव्याघ्रावरण्यात् पुनरागतौ ।
भविष्यति पुरी हृष्टा समुद्र इव पर्वणि ॥ ११ ॥
कदायोध्यां महाबाहुः पुरीं वीरः प्रवेक्ष्यति ।
पुरस्कृत्य रथे सीतां वृषभो गोवधूमिव ॥ १२ ॥
कदा प्राणिसहस्राणि राजमार्गे ममात्मजौ ।
लाजरवकरिष्यन्ति प्रविशन्तावरिंदमौ ॥ १३ ॥
प्रविशन्तौ कदायोध्यां द्रक्ष्यामि शुभकुण्डलौ ।
उदग्रायुधनिस्त्रिंशौ सशृङ्गाविव पर्वतौ ॥ १४ ॥
कदा सुमनसः कन्या द्विजातीनां फलानि च ।
प्रदिशन्त्यः पुरीं हृष्टाः करिष्यन्ति प्रदक्षिणम् ॥ १५ ॥

तैंतालीसवाँ सर्ग

महारानी कौसल्या का विलाप

राजा को शय्या पर व्याकुल, पुत्र-शोक में जब अति पाया।
उनसे, पुत्र-शोक में पीड़ित कौसल्या ने तब बतलाया॥ १ ॥
नृवर! राम पर विष उँड़ेल कर, कैकेयी कुटिला गति वाली।
केंचुल-हीन, नवीना तनु से सर्पिणि विचरेगी मतवाली॥ २ ॥
दुष्ट सर्प भय देता, गृह में रहकर बार-बार है जैसे।
सुभगा, सफल-कामना. देगी त्रास मुझे कैकेयी वैसे॥ ३ ॥
राम, नगर-भिक्षुक हो, रहते गृह में कैकेयी-सेवक बन।
तो वैसा वर भी अभीष्ट हो, रखता मेरा स्वल्प शान्त मन॥ ४ ॥
कैकेयी ने स्थान-भ्रष्ट कर, किया राम को वञ्चित वैसे।
पर्व-दिवस, देवांश, राक्षसों को याज्ञिक ही दे दे जैसे॥ ५ ॥
महाबाहु वे राम धनुर्धर, गजपति जैसे मन्द गमन में।
पत्नी, लक्ष्मण-सहित आ रहे होंगे, इस वन से उस वन में॥ ६ ॥
उन अदृष्ट दुख[1] को, कैकेयी के कहने से विपिन पठाया!।
भला बताएँ! बेचारों पर, होगा क्या वन-संकट आया?॥ ७ ॥
रत्न-हीन वे तरुण, सुख-समय, गृह से गये निकाले ऐसे।
वे बेचारे कन्द-मूल खा, वन में रह पायेंगे कैसे?॥ ८ ॥
मेरा शोक-विनाशक अब क्या शुभ अवसर फिर से आयेगा?।
जो वन-आगत, सीता, लक्ष्मण, राम-दरश-सुख दे पायेगा॥ ९ ॥
पुरी यशस्विनि-वासि[2] सभी कब, 'राम आ गये', सुन पायेंगे।
और परम हर्षोत्कण्ठित हो, ऊँचे ध्वज वे फहरायेंगे?॥ १० ॥
वन से आये, नृवर राम के दर्शन जन-गण कब पायेगा?।
तथा पूर्णिमा-सिन्धु सदृश कब, हर्ष पुरी का बढ़ जायेगा?॥ ११ ॥
महाबाहु श्रीराम रथस्थित सीता को आगे कर, वैसे।
नगर-प्रवेश करेंगे, नन्दी, गौ को आगे रखता जैसे॥ १२ ॥
मेरे शत्रु-दमन पुत्रों को राजमार्ग पर कब पायेंगे?।
लोग सहस्रों उन पर लावा हर्षित हो, कब बरसायेंगे?॥ १३ ॥
लिये हुए खड्गायुध उत्तम, शृंग-शिखर-गिरि-सम, कुण्डलधर।
पुर-प्रवेश के समय दिखेंगे, मुझको कब वे दोनों सुत वर?॥ १४ ॥
पुरी अयोध्या-परिक्रमा कब भला करेंगी द्विज-बालाएँ।
अर्पित करती हुई हर्ष से, बहु फल, पुष्पादिक मालाएँ॥ १५ ॥

---

1 वे दुःख जिनके कभी दर्शन न हुए थे; 2 यशवाली नगरी अयोध्या के निवासी।

कदा परिणतो बुद्ध्या वयसा चामरप्रभः ।
अभ्युपैष्यति धर्मात्मा सुवर्ष इव लालयन् ॥ १६ ॥
निःसंशयं मया मन्ये पुरा वीर कदर्यया ।
पातुकामेषु वत्सेषु मातॄणां शातिताः स्तनाः ॥ १७ ॥
साहं गौरिव सिंहेन विवत्सा वत्सला कृता ।
कैकेय्या पुरुषव्याघ्र बालवत्सेव गौर्बलात् ॥ १८ ॥
नहि तावद्गुणैर्जुष्टं सर्वशास्त्रविशारदम् ।
एकपुत्रा विना पुत्रमहं जीवितुमुत्सहे ॥ १९ ॥
न हि मे जीविते किंचित् सामर्थ्यमिह कल्प्यते ।
अपश्यन्त्याः प्रियं पुत्रं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ २० ॥
अयं हि मां दीपयतेऽद्य वह्नि-
स्तनूजशोकप्रभवो महाहितः ।
महीमिमां रश्मिभिरुत्तमप्रभो
यथा निदाघे भगवान् दिवाकरः ॥ २१ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

सुमित्रा का कौसल्या को आश्वासन देना

विलपन्तीं तथा तां तु कौसल्यां प्रमदोत्तमाम् ।
इदं धर्मे स्थिता धर्म्यं सुमित्रा वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥
तवार्ये सद्गुणैर्युक्तः स पुत्रः पुरुषोत्तमः ।
किं ते विलपितेनैवं कृपणं रुदितेन वा ॥ २ ॥
यस्तवार्ये गतः पुत्रस्त्यक्त्वा राज्यं महाबलः ।
साधु कुर्वन् महात्मानं पितरं सत्यवादिनम् ॥ ३ ॥
शिष्टैराचरिते सम्यक्शश्वत् प्रेत्य फलोदये ।
रामो धर्मे स्थितः श्रेष्ठो न स शोच्यः कदाचन ॥ ४ ॥
वर्तते चोत्तमां वृत्तिं लक्ष्मणोऽस्मिन् सदानघः ।
दयावान् सर्वभूतेषु लाभस्तस्य महात्मनः ॥ ५ ॥
अरण्यवासे यद् दुःखं जानन्त्येव सुखोचिता ।
अनुगच्छति वैदेही धर्मात्मानं तवात्मजम् ॥ ६ ॥

ज्ञानि-प्रवर. देवों-सम वय[1] में, धार्मिक तेजस्वी सुत द्वारा।
उत्तम वर्षा-सदृश सु-लालित होगा जन-समूह कब सारा?॥ १६ ॥
पहले दुर्व्यवहारिणि मैंने, काटे होंगे माँओं के स्तन।
जब उनके बछड़ों का होता होगा, दुग्ध-पान को अति मन॥ १७ ॥
किसी सिंह से वत्स-विहीना, पुरुषसिंह! होवे गौ जैसे।
मुझे पुत्र से अलग कर दिया, कैकेयी ने बल से वैसे॥ १८ ॥
सब शास्त्रों में जो प्रवीण हैं, जिनमें हैं गुण उच्च समुत्तम।
इकलौते सुत राम-विना मैं हो न सकूँगी जीवन-सक्षम॥ १९ ॥
प्रिय सुत राम, महाबल लक्ष्मण, के न हो सकें मुझको दर्शन।
यदि, तो फिर जीवित रहने की शक्ति न रखता है मेरा मन॥ २० ॥
यथा ग्रीष्म में परम उष्णता है निश्चय बढ़ जाती
और सूर्य की किरणों से भू अधिक ताप है पाती।
वैसे अहितकारिणी मुझको पुत्र-शोक से उपजी
व्यथा-अग्नि है इस अवसर पर सबसे अधिक जलाती॥ २१ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४३ ॥

चौवालीसवाँ सर्ग

सुमित्रा का कौसल्या को आश्वासन देना

उन महिला-प्रवरा[2] कौसल्या को विलपिता[3] देखकर वैसी।
बोलीं धर्मस्थिता[4] सुमित्रा, उनसे धार्मिक वार्ता ऐसी॥ १ ॥
उत्तम गुण-संयुक्त, पुरुष-वर, सुत हैं राम तुम्हारे।
लाभ भला क्या? रुदन दीन बन, आर्ये! शोक विफल हैं सारे॥ २ ॥
राज्य-त्याग, वन गये, महात्मा राम आर्ये! पिता का सत्य निभाने।
महाबली वे धर्मस्थित हैं पुत्र तुम्हारे जाने-माने।
सज्जन-पालित पथ, जिससे, परलोक पुण्य-फल है मिल पाता।
उसमें प्रविशित[5] धर्मात्मा के लिए, शोक अनुचित दिखलाता॥ ३-४ ॥
जो समस्त के प्रति दयालु हैं, और राम-संग शुभ-व्यवहारी।
अनघ[6] महात्मा उन लक्ष्मण को, है यह बात लाभ शुभ-कारी॥ ५ ॥
सुखभोग्या वैदेही को वन-व्यथा समझ में यद्यपि आती।
फिर भी बहन! तुम्हारे धार्मिक सुत के पीछे हैं वे जाती॥ ६ ॥

---

१ आयु में; २ नारियों में श्रेष्ठ; ३ रोती हुई; ४ धर्मपरायणा;
५ उस धर्म में प्रवेश करनेवाले (राम); ६ निष्पाप।

कीर्तिभूतां पताकां यो लोके भ्रमयति प्रभुः ।
धर्मः सत्यव्रतपरः किं न प्राप्तस्तवात्मजः ॥ ७ ॥
व्यक्तं रामस्य विज्ञाय शौचं माहात्म्यमुत्तमम् ।
न गात्रमंशुभिः सूर्यः संतापयितुमर्हति ॥ ८ ॥
शिवः सर्वेषु कालेषु काननेभ्यो विनिःसृतः ।
राघवं युक्तशीतोष्णः सेविष्यति सुखोऽनिलः ॥ ९ ॥
शयानमनघं रात्रौ पितेवाभिपरिष्वजन् ।
घर्मघ्नः संस्पृशञ्छीतश्चन्द्रमा ह्लादयिष्यति ॥ १० ॥
ददौ चास्त्राणि दिव्यानि यस्मै ब्रह्मा महौजसे ।
दानवेन्द्रं हतं दृष्ट्वा तिमिध्वजसुतं रणे ॥ ११ ॥
स शूरः पुरुषव्याघ्रः स्वबाहुबलमाश्रितः ।
असंत्रस्तो ह्यरण्येऽसौ वेश्मनीव निवत्स्यते ॥ १२ ॥
यस्येषुपथमासाद्य विनाशं यान्ति शत्रवः ।
कथं न पृथिवी तस्य शासने स्थातुमर्हति ॥ १३ ॥
या श्रीः शौर्यं च रामस्य या च कल्याणसत्त्वता ।
निवृत्तारण्यवासः स्वं क्षिप्रं राज्यमवाप्स्यति ॥ १४ ॥
सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः ।
श्रियाः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा ॥ १५ ॥
दैवतं देवतानां च भूतानां भूतसत्तमः ।
तस्य के ह्यगुणा देवि वने वाप्यथवा पुरे ॥ १६ ॥
पृथिव्या सह वैदेह्या श्रिया च पुरुषर्षभः ।
क्षिप्रं तिसृभिरेताभिः सह रामोऽभिषेक्ष्यते ॥ १७ ॥
दुःखजं विसृजत्यश्रु निष्क्रामन्तमुदीक्ष्य यम् ।
अयोध्यायां जनः सर्वः शोकवेगसमाहतः ॥ १८ ॥
कुशचीरधरं वीरं गच्छन्तमपराजितम् ।
सीतेवानुगता लक्ष्मीस्तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ १९ ॥
धनुर्ग्रहवरो यस्य बाणखड्गास्त्रभृत् स्वयम् ।
लक्ष्मणो व्रजति ह्यग्रे तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ २० ॥
निवृत्तवनवासं तं द्रष्टासि पुनरागतम् ।
जहि शोकं च मोहं च देवि सत्यं ब्रवीमि ते ॥ २१ ॥
शिरसा चरणावेतौ वन्दमानमनिन्दिते ।
पुनर्द्रक्ष्यसि कल्याणि पुत्रं चन्द्रमिवोदितम् ॥ २२ ॥

सत्यव्रत-पालक जग के प्रभु हैं जो कीर्ति-ध्वजा फहराते।
धर्मरूप सुत राम तुम्हारे, सुयश न कौन भला वे पाते?॥ ७ ॥
तथा राम-माहात्म्य जानकर, उनके लखकर गुण अति पावन।
रवि की तप्त रश्मियाँ[1] भी उनके प्रति होंगी ताप-नसावन॥ ८ ॥
उचित रूप से, गरमी, सरदी में सुख-पवन सदैव बहेगा।
मंगलमय वह रामचन्द्र की, सेवा निशि-दिन किया करेगा॥ ९ ॥
शयन-समय में, धूप-कष्ट-हर शीतल शशि भी तब आएँगे।
अनघ[2] राम को निज किरणों से छूकर प्रमुदित कर जाएंगे॥ १० ॥
दानवेन्द्र, शम्बर-सुत-वध जब हुआ राम तेजस्वी द्वारा।
किया समर्पित तब कौशिक ने उनको दिव्य अस्त्र-बल सारा॥ ११ ॥
निज भुजबल-आश्रित रह रघुपति महलों में रहते थे जैसे।
वन में भी वे निर्भय होकर, निश्चय वीर रहेंगे वैसे॥ १२ ॥
जिनके बाण-लक्ष्य बन करके, शत्रु मृत्यु हैं निश्चय पाते।
उनके शासन को मानेगी, क्यों न भूमि अनुशासन-नाते॥ १३ ॥
राम-मांगलिक शक्ति, पराक्रम, शारीरिक सुषमा अति सुन्दर।
बता रहीं, बन से आकर वे प्राप्त करेंगे शासन सत्वर[3]॥ १४ ॥
श्री के श्री[4], रवि के रवि, प्रभु के प्रभु हैं राम अग्नि के पावक[5]।
तथा क्षमा के क्षमा रूप हैं, वे इस त्रिभुवन के अभिभावक॥
वे देवों के देव, और हैं भूतों के भी भूत समुत्तम।
विपिन, नगर में, उन्हें न होगा, कोई दुख देने में सक्षम॥१५-१६॥
पुरुषशिरोमणि राम शीघ्र ही आएंगे, कहता मेरा मन।
पृथ्वी, सीता, लक्ष्मी के सँग, होगा पुनः राज्य-अभिषिञ्चन्॥ १७ ॥
जिन्हें अयोध्या के निवासि जन, देख नगर से बाहर जाते।
शोक-वेग से आहत होकर, आँखों से हैं अश्रु बहाते॥
जिन कुश, वल्कल-धर, अपराजित, नित्य-जयी के पीछे मग में।
सीता रूपा लक्ष्मी चलतीं, उनको क्या दुर्लभ है जग में॥१८-१९॥
जिनके आगे वीर धनुर्धर लक्ष्मण, शर, असि[6] लेकर जाते।
उनके लिए न जगती के ये सब पदार्थ दुर्लभ दिखलाते॥ २० ॥
सत्य बताती, अवधि-पूर्ति पर, राम लौटकर फिर आयेंगे।
शोक, मोह छोड़ो! तुमको फिर इनके दर्शन मिल पायेंगे॥ २१ ॥
शुभे! अनिन्द्ये! पुनः नव उदित शशि-सम राम पुत्र आयेंगे।
निज चरणों पर देखोगी! वे नतमस्तक शोभा पायेंगे॥ २२ ॥

---

१ किरणें; २ निष्पाप; ३ शीघ्र ही; ४ लक्ष्मी; ५ अग्नि; ६ तलवार।

पुनः प्रविष्टं दृष्ट्वा तमभिषिक्तं महाश्रियम् ।
समुत्स्रक्ष्यसि नेत्राभ्यां शीघ्रमानन्दजं जलम् ॥ २३ ॥
मा शोको देवि दुःखं वा न रामे दृश्यतेऽशिवम् ।
क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पुत्रं त्वं ससीतं सहलक्ष्मणम् ॥ २४ ॥
त्वयाशेषो जनश्चायं समाश्वास्यो यतोऽनघे ।
किमिदानीमिदं देवि करोषि हृदि विक्लवम् ॥ २५ ॥
नार्हा त्वं शोचितुं देवि यस्यास्ते राघवः सुतः ।
नहि रामात् परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः ॥ २६ ॥
अभिवादयमानं तं दृष्ट्वा ससुहृदं सुतम् ।
मुदाश्रु मोक्ष्यसे क्षिप्रं मेघरेखेव वार्षिकी ॥ २७ ॥
पुत्रस्ते वरदः क्षिप्रमयोध्यां पुनरागतः ।
कराभ्यां मृदुपीनाभ्यां चरणौ पीडयिष्यति ॥ २८ ॥
अभिवाद्य नमस्यन्तं शूरं ससुहृदं सुतम् ।
मुदास्रैः प्रोक्षसे पुत्रं मेघराजिरिवाचलम् ॥ २९ ॥

आश्वासयन्ती विविधैश्च वाक्यै-
र्वाक्योपचारे कुशलानवद्या ।
रामस्य तां मातरमेवमुक्त्वा
देवी सुमित्रा विरराम रामा ॥ ३० ॥
निशम्य तल्लक्ष्मणमातृवाक्यं
रामस्य मातुर्नरदेवपत्न्याः ।
सद्यः शरीरे विननाश शोकः
शरद्गतो मेघ इवाल्पतोयः ॥ ३१ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

श्रीराम का पुरवासियों से भरत और महाराज दशरथ के प्रति प्रेम-भाव रखने का अनुरोध करते हुए लौट जाने के लिए कहना; नगर के वृद्ध ब्राह्मणों का श्रीराम से लौट चलने के लिए आग्रह करना तथा उन सबके साथ श्रीराम का तमसा तट पर पहुँचना

अनुरक्ता महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।
अनुजग्मुः प्रयान्तं तं वनवासाय मानवाः ॥ १ ॥

महाराज-लक्ष्मी-युत, सुत को, राज-पदस्थित जब पाओगी।
तब तुम राज-भवन में, नेत्रों से सुख-आँसू बरसाओगी॥ २३ ॥
देवि! न शोकित हो, न राम में शोक, दु:ख या अशुभ दिखाता।
देखोगी! सीता, लक्ष्मण-संग, उनको, मेरा मन बतलाता॥ २४ ॥
अनघे[1]! तुम्हें चाहिए, इन सब लोगों को अब धैर्य बंधाओ।
किन्तु स्वयं तुम शोक कर रहीं, अतः हृदय से इसे हटाओ॥ २५ ॥
तुम्हें शोक क्या? तुमने रघुकुल-नन्दन राम पुत्र जब पाया।
इन सम सन्मार्गी इस जग में अन्य नहीं सुनने में आया॥ २६ ॥
सुहृदों-सह, निज पद पर, प्रिय सुत को विनमित होते पाओगी।
तब वर्षा-घन-घटा-सदृश तुम! अश्रु हर्ष से बरसाओगी॥ २७ ॥
पुनः तुम्हारे वरदायक सुत, पुरी अयोध्या में आयेंगे।
अपने कोमल स्थूल करों से, तव पद दबा, विभव पायेंगे॥ २८ ॥
नयन-अश्रु-अभिषेक करोगी! स-सुहृद्[2] नमित[3] पुत्र का वैसे।
घन-माला, जल-धारा से है गिरिवर को नहलाती जैसे॥ २९ ॥

बातचीत में कुशल सुमित्रा, लखनलाल की जननी
दोषरहित, गुण-रूप अनूपा, अति सुरम्य मनहरनी।
कौसल्या को विविध भाँति समझाते और बुझाते
धैर्य बँधा कर, (स्वयं धैर्य धर), शांत हुईं शुभकरनी॥ ३० ॥

लक्ष्मण की माता के ये सब, वचन सर्वथा सुनकर
जो थे, राम-मात कौसल्या हेतु अत्यधिक हित कर।
शीघ्र हुआ कौसल्या का दुख लीन, उन्हीं के तन में
स्वल्प वारि के शरद् मेघ हैं जाते, जैसे हटकर॥ ३१ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त॥ ४४॥

पैंतालीसवाँ सर्ग

श्रीराम का पुरवासियों से भरत और महाराजा दशरथ के प्रति प्रेम-भाव रखने का अनुरोध करते हुए लौट जाने के लिए कहना; नगर के वृद्ध ब्राह्मणों का श्रीराम से लौट चलने के लिए आग्रह करना तथा उन सबके साथ श्रीराम का तमसा-तट पर पहुँचना

राम महात्मा सत्यविक्रमी चले विपिन, तब अवध-निवासी।
जो उन पर अनुरक्त, झुंड के झुंड चले होने वनवासी॥ १ ॥

---

१ पापरहित; २ सुहृदों (स्वजनों) सहित; ३ प्रणाम करते हुए।

निवर्तितेऽतीव बलात् सुहृद्धर्मेण राजनि।
नैव ते संन्यवर्तन्त रामस्यानुगता रथम्॥ २॥
अयोध्यानिलयानां हि पुरुषाणां महायशाः।
बभूव गुणसम्पन्नः पूर्णचन्द्र इव प्रियः॥ ३॥
स याच्यमानः काकुत्स्थस्ताभिः प्रकृतिभिस्तदा।
कुर्वाणः पितरं सत्यं वनमेवान्वपद्यत॥ ४॥
अवेक्षमाणः सस्नेहं चक्षुषा प्रपिबन्निव।
उवाच रामः सस्नेहं ताः प्रजाः स्वाः प्रजा इव॥ ५॥
या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम्।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयताम्॥ ६॥
स हि कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः।
करिष्यति यथावद् वः प्रियाणि च हितानि च॥ ७॥
ज्ञानवृद्धो वयोबालो मृदुर्वीर्यगुणान्वितः।
अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः॥ ८॥
स हि राजगुणैर्युक्तो युवराजः समीक्षितः।
अपि चापि मया शिष्टैः कार्यं वो भर्तृशासनम्॥ ९॥
न संतप्येद् यथा चासौ वनवासं गते मयि।
महाराजस्तथा कार्यो मम प्रियचिकीर्षया॥ १०॥
यथा यथा दाशरथिर्धर्ममेवाश्रितो भवेत्।
तथा तथा प्रकृतयो रामं पतिमकामयन्॥ ११॥
बाष्पेण पिहितं दीनं रामः सौमित्रिणा सह।
चकर्षेव गुणैर्बद्धं जनं पुरनिवासिनम्॥ १२॥
ते द्विजास्त्रिविधं वृद्धा ज्ञानेन वयसौजसा।
वयःप्रकम्पशिरसो दूरादूचुरिदं वचः॥ १३॥
वहन्तो जवना रामं भो भो जात्यास्तुरंगमाः।
निवर्तध्वं न गन्तव्यं हिता भवत भर्तरि॥ १४॥
कर्णवन्ति हि भूतानि विशेषेण तुरङ्गमाः।
यूयं तस्मान्निवर्तध्वं याचनां प्रतिवेदिताः॥ १५॥
धर्मतः स विशुद्धात्मा वीरः शुभदृढव्रतः।
उपवाह्यस्तु वो भर्ता नापवाह्यः पुराद् वनम्॥ १६॥
एवमार्तप्रलापांस्तान् वृद्धान् प्रलपतो द्विजान्।
अवेक्ष्य सहसा रामो रथादवततार ह॥ १७॥
पद्भ्यामेव जगामाथ ससीतः सहलक्ष्मणः।
संनिकृष्टपदन्यासो रामो वनपरायणः॥ १८॥

'दूर न जाना शुभ', कहकर नृप सुहृदों सहित गये लौटाये।
किन्तु राम के अनुरागी वे, अवध न लौटे, वन को धाये।। २ ।।
राम यशस्वी और सद्‌गुणी, अवध-जनों के प्रिय थे ऐसे।
चन्द्र पूर्णिमा का लगता है, सबको मोहक प्रियकर जैसे।। ३ ।।
सभी प्रजा-जन गृह चलने के लिए राम को रहे मनाते।
किन्तु पितृ-सत्यव्रत-रक्षा-हेतु राम रथ रहे बढ़ाते।। ४ ।।
स्नेह दृष्टि कर तृप्त हो रहे देख, प्रजा से कहा राम ने।
वैसे, जैसे कोई कहता है अपनी सन्तान सामने।। ५ ।।
मुझसे है जो प्रेम, अयोध्या-निवासियों का यह सादर अति।
उसको मेरी प्रसन्नता-हित आप करें सब! प्रकट भरत-प्रति।। ६ ।।
उनका है चरित्र अति सुन्दर सब लोगों का मंगलकारी।
वे कैकेयी को प्रमुदित कर, होंगे जनता-प्रिय हितकारी।। ७ ।।
और विक्रमोचित गुण-संयुत, ज्ञान-वृद्ध पर मृदुल-विचारी।
आप सभी के, योग्य नृपति वे होंगे, सकल प्रजा-भय-हारी।। ८ ।।
मुझसे अधिक नृपोचित गुण-युत देख, पिता ने नृपति बनाया।
अतः भरत नृप की आज्ञा में रहें आप! शुभ अवसर आया।। ९ ।।
चेष्टा करें! न दुख पितुवर को हो, मेरे जाने पर वन में।
इसे प्रार्थना मेरी, एवं परम प्रियेच्छा समझें! मन में।। १० ।।
दशरथ-नन्दन नें धर्माश्रय में जितनी दृढ़ता समझाई।
'नृप हों राम', प्रजा के मन में त्यों-त्यों अधिक प्रबलता आई।। ११ ।।
सब पुर-वासी परम दीन हो, थे नयनों से अश्रु बहाते।
उन्हें लखन-सह राम, निज गुणों में थे बाँध, खींचते जाते।। १२ ।।
उनमें ज्ञान, अवस्था, तप से, वयोवृद्ध कुछ ब्राह्मण जन थे।
वे सुदूर से बोले, उनके सिर कम्पित, वे निर्बल तन थे।। १३ ।।
श्रेष्ठ, तेज अश्वो! सुवेग से, तुम न राम को वन ले जाओ।
नहीं चाहिए वन को जाना! उनके हित में वापिस आओ।। १४ ।।
होते सबके कर्ण, किन्तु हैं वृहद्, तुम्हारे अश्वो! सबसे।
अतः याचना सुनो! हमारी, लौटो गृह को, कहते कब से!।। १५ ।।
शुद्धात्मा, वर वीर, दृढ़व्रत को है उचित नगर में लाओ।
अ:त न अश्वो! इन्हें नगर से, कहीं विपिन में तुम ले जाओ।। १६ ।।
जब देखा, आ रहे वृद्ध द्विज, करते बहु विलाप, उस पथ से।
उतर पड़े तब सहसा नीचे रामचन्द्र जी अपने रथ से।। १७ ।।
सीता-लक्ष्मण-सँग पैदल चल, ये थे धीरे पैर बढ़ाते।
ताकि वृद्ध जन थकें नहीं, पर रहे राम वन ही को जाते।। १८ ।।

द्विजातीन् हि पदातींस्तान् रामश्चारित्रवत्सलः ।
न शशाक घृणाचक्षुः परिमोक्तुं रथेन सः ॥ १९ ॥
गच्छन्तमेव तं दृष्ट्वा रामं सम्भ्रान्तमानसाः ।
ऊचुः परमसंतप्ता रामं वाक्यमिदं द्विजाः ॥ २० ॥
ब्राह्मण्यं कृत्स्नमेतत् त्वां ब्रह्मण्यमनुगच्छति ।
द्विजस्कन्धाधिरूढास्त्वामग्नयोऽप्यनुयान्त्वमी ॥ २१ ॥
वाजपेयसमुत्थानि च्छत्राण्येतानि पश्य नः ।
पृष्ठतोऽनुप्रयातानि मेघानिव जलात्यये ॥ २२ ॥
अनवाप्तातपत्रस्य रश्मिसंतापितस्य ते ।
एभिश्छायां करिष्यामः स्वैश्छत्रैर्वाजपेयकैः ॥ २३ ॥
या हि नः सततं बुद्धिर्वेदमन्त्रानुसारिणी ।
त्वत्कृते सा कृता वत्स वनवासानुसारिणी ॥ २४ ॥
हृदयेष्ववतिष्ठन्ते वेदा ये नः परं धनम् ।
वत्स्यन्त्यपि गृहेष्वेव दाराश्चारित्ररक्षिताः ॥ २५ ॥
पुनर्न निश्चयः कार्यस्त्वद्गतौ सुकृता मतिः ।
त्वयि धर्मव्यपेक्षे तु किं स्याद् धर्मपथे स्थितम् ॥ २६ ॥
याचितो नो निवर्तस्व हंसशुक्लशिरोरुहैः ।
शिरोभिर्निभृताचार महीपतनपांसुलैः ॥ २७ ॥
बहूनां वितता यज्ञा द्विजानां य इहागताः ।
तेषां समाप्तिरायत्ता तव वत्स निवर्तने ॥ २८ ॥
भक्तिमन्तीह भूतानि जङ्गमाजङ्गमानि च ।
याचमानेषु तेषु त्वं भक्तिं भक्तेषु दर्शय ॥ २९ ॥
अनुगन्तुमशक्तास्त्वां मूलैरुद्धतवेगिनः ।
उन्नता वायुवेगेन विक्रोशन्तीव पादपाः ॥ ३० ॥
निश्चेष्टाहारसंचारा वृक्षैकस्थाननिश्चिताः ।
पक्षिणोऽपि प्रयाचन्ते सर्वभूतानुकम्पिनम् ॥ ३१ ॥
एवं विक्रोशतां तेषां द्विजातीनां निवर्तने ।
ददृशे तमसा तत्र वारयन्तीव राघवम् ॥ ३२ ॥

सदाचार में प्रेम राम का, दयादृष्टि थी उनकी न्यारी।
वे कर सके न साहस, जिससे पिछड़ें वृद्ध विप्र पद-चारी॥ १९ ॥
देख द्विजों ने रामचन्द्र को, फिर भी वन-पथ पर ही जाते।
कहा राम से, उस अवसर पर वे सब थे मन में घबराते॥ २० ॥
विप्र-हितैषी राम! तुम्हारे पीछे हम द्विज-गण हैं आते।
अग्निदेव को भी निज कन्धों पर बैठा कर सँग में लाते॥ २१ ॥
देखो! वर्षा के जाने पर शरद्-मेघ-सम जो दिखलाते।
वाजपेय मख-प्राप्त छत्र हैं, राम! तुम्हारे पीछे आते॥ २२ ॥
राज्य-छत्र के विना, तप्त हो तुम रवि की किरणों के द्वारा।
इससे, छाया देगा तुमको! वाजपेय-मख-छत्र हमारा॥ २३ ॥
वेद-मन्त्र-अनुचिन्तन में जो वत्स! बुद्धि रत रही हमारी।
वही तुम्हारे लिए हो गयी वन-निवास-अनुगामिनि सारी॥ २४ ॥
हम सबके हृदयों में स्थित हैं, उत्तम वैदिक निधियाँ सारी।
निज चरित्र से रक्षित, गृह में वास करेंगी स्त्रियाँ हमारी॥ २५ ॥
संग तुम्हारे वन चलना ही, है निश्चित कर्तव्य हमारा।
द्विज-वचनादर[1] धर्म, न तुमसे होकर, होगा किसके द्वारा?॥ २६ ॥
केश हंस-सम श्वेत, हो गये धूल-धूसरित मस्तक धरते।
सदाचारि वर राम! लौट चलिये, हम विनती पुनि-पुनि करते॥ २७ ॥
वत्स! यहाँ आये विप्रों में हैं बहुतों के यज्ञ अधूरे।
लौट चलें, अन्यथा आपके विना न मख होंगे वे पूरे॥ २८ ॥
स्थावर[2], जंगम[3] भक्त तुम्हारे, कहते, राम! लौटकर आओ।
अतः सु-प्रार्थी अपने भक्तों पर अपनी अब कृपा दिखाओ॥ २९ ॥
जड़ें बँधीं, गति-हीन, न तरु ये पीछे-पीछे हैं चल पाते।
फिर भी मानो, पवन-सन्सनी ध्वनि से हैं सब तुम्हें बुलाते॥ ३० ॥
निराहारि[4], निश्चेष्ट[5], तरुस्थित[6] पक्षी जो ये कहीं न जाते।
वे भी कहते, चलो लौट प्रभु! तुम सब पर हो दया दिखाते॥ ३१ ॥
प्रार्थी द्विजगण की सहायता में सरिता तमसा तब आई।
जो कि राम को, तिरछी गति से, राह रोकती पड़ी दिखाई॥ ३२ ॥

---

१ ब्राह्मणों के वचनों का आदर; २ अचल; ३ चल; ४ बिना दाना-चारा; ५ बिना हिले-डुले; ६ वृक्षों पर ही बैठे।

ततः सुमन्त्रोऽपि रथाद् विमुच्य
श्रान्तान् हयान् सम्परिवर्त्य शीघ्रम्।
पीतोदकांस्तोयपरिप्लुताङ्गा-
नचारयद् वै तमसाविदूरे॥ ३३॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः॥४५॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः

सीता और लक्ष्मण-सहित श्रीराम का रात्रि में तमसा-तट पर निवास, माता-पिता और अयोध्या के लिए चिन्ता तथा पुरवासियों को सोते छोड़कर वन की ओर जाना

ततस्तु तमसातीरं रम्यमाश्रित्य राघवः।
सीतामुद्वीक्ष्य सौमित्रिमिदं वचनमब्रवीत्॥ १॥
इयमद्य निशा पूर्वा सौमित्रे प्रहिता वनम्।
वनवासस्य भद्रं ते न चोत्कण्ठितुमर्हसि॥ २॥
पश्य शून्यान्यरण्यानि रुदन्तीव समन्ततः।
यथा निलयमायद्भिर्निलीनानि मृगद्विजैः॥ ३॥
अद्यायोध्या तु नगरी राजधानी पितुर्मम।
सस्त्रीपुंसा गतानस्माञ्शोचिष्यति न संशयः॥ ४॥
अनुरक्ता हि मनुजा राजानं बहुभिर्गुणैः।
त्वां च मां च नरव्याघ्र शत्रुघ्नभरतौ तथा॥ ५॥
पितरं चानुशोचामि मातरं च यशस्विनीम्।
अपि नान्धौ भवेतां नौ रुदन्तौ तावभीक्ष्णशः॥ ६॥
भरतः खलु धर्मात्मा पितरं मातरं च मे।
धर्मार्थकामसहितैर्वाक्यैराश्वासयिष्यति॥ ७॥
भरतस्यानृशंसत्वं संचिन्त्याहं पुनः पुनः।
नानुशोचामि पितरं मातरं च महाभुज॥ ८॥
त्वया कार्यं नरव्याघ्र मामनुव्रजता कृतम्।
अन्वेष्टव्या हि वैदेह्या रक्षणार्थं सहायता॥ ९॥
अद्भिरेव हि सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम्।
एतद्धि रोचते मह्यं वन्येऽपि विविधे सति॥ १०॥
एवमुक्त्वा तु सौमित्रिं सुमन्त्रमपि राघवः।
अप्रमत्तस्त्वमश्वेषु भव सौम्येत्युवाच ह॥ ११॥

तमसा-तट पर जब सुमन्त्र ने, विश्रामस्थल पाया
कर थके हुए घोड़ों को रथ से मुक्त, उन्हें टहलाया।
और पिलाकर जल अश्वों को भलीभाँति नहलाया
चरने के हित छोड़ दिया तमसा-तट उन्हें सुहाया ॥ ३३ ॥

॥ श्री वाल्मीक-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४५ ॥

छियालीसवाँ सर्ग

सीता और लक्ष्मण-सहित श्रीराम का रात्रि में तमसा-तट पर निवास, माता-पिता और अयोध्या के लिए चिन्ता तथा पुरवासियों को सोते छोड़कर वन की ओर जाना

आश्रय जब रमणीया तमसा-तट का रामचन्द्र ने पाया।
तब सीता की ओर देखकर, प्रिय लक्ष्मण को यह बतलाया ॥ १ ॥
यह सौमित्र ! निशा है पहली, जब से हुए विपिन को प्रस्थित[1]।
अतः न होना तुम्हें चाहिए, कभी नगर के हित उत्कण्ठित ॥ २ ॥
शून्य विपिन में निज स्थानों पर, बोल रहे हैं पशु-पक्षी अब।
देख मुझे, इस स्थिति में मानो, खिन्न रो रहे खग, पशु, वन सब ॥ ३ ॥
पुरुषसिंह ! पुरुषों, महिलाओं-सँग होगी अब अतिशय शोकित।
पिता-राजधानी सु-अयोध्या, निश्चित हम सब लोगों के हित ॥
महाराज, शत्रुघ्न भरत-सँग तुममें, मुझमें जो गुण पाते।
सभी लोग, उनसे[2], वे सब हैं, हम सब पर अनुरक्त दिखाते ॥ ४-५ ॥
यशस्विनी माँ और पिता के हेतु शोक है बढ़ता जाता।
कहीं निरन्तर रोते-रोते, नयन न खो दें, यह भय आता ॥
किन्तु सान्त्वना देंगे उनको, धर्मात्मावर भरत हमारे।
धर्म, अर्थ, कामानुकूल अति, कहकर वचन सर्वथा प्यारे ॥ ६-७ ॥
अनुज भरत के मृदु स्वभाव की मुझे महाबाहो ! स्मृति आती।
तब उन माता और पिता की, चिन्ता है कुछ कम हो जाती ॥ ८ ॥
नृवर ! किया है महत् कार्य यह, तुमने मेरे सँग वन आकर।
नहीं, ढूँढ़ता मैं, वैदेही-रक्षक अन्य सहायक जाकर ॥ ९ ॥
है, सौमित्र ! यहाँ पर मिलना यद्यपि फल, मूलादिक नाना।
किन्तु आज मुझको रुचिकर है, जल पीकर ही रात्रि बिताना ॥ १० ॥
यह कह लक्ष्मण से, बोले वे उन सुमन्त्र से राम फिर तथा।
सौम्य ! आप घोड़ों की रक्षा का रक्खें ! अब ध्यान सर्वथा ॥ ११ ॥

---

१ रवाना; २ उन गुणों के कारण।

सोऽश्वान् सुमन्त्रः संयम्य सूर्येऽस्तं समुपागते।
प्रभूतयवसान् कृत्वा बभूव प्रत्यनन्तरः॥ १२॥
उपास्य तु शिवां संध्यां दृष्ट्वा रात्रिमुपागताम्।
रामस्य शयनं चक्रे सूतः सौमित्रिणा सह॥ १३॥
तां शय्यां तमसातीरे वीक्ष्य वृक्षदलैर्वृताम्।
रामः सौमित्रिणा सार्धं सभार्यः संविवेश ह॥ १४॥
सभार्यं सम्प्रसुप्तं तु श्रान्तं सम्प्रेक्ष्य लक्ष्मणः।
कथयामास सूताय रामस्य विविधान् गुणान्॥ १५॥
जाग्रतोरेव तां रात्रिं सौमित्रेरुदितो रविः।
सूतस्य तमसातीरे रामस्य ब्रुवतो गुणान्॥ १६॥
गोकुलाकुलतीरायास्तमसाया विदूरतः।
अवसत् तत्र तां रात्रिं रामः प्रकृतिभिः सह॥ १७॥
उत्थाय च महातेजाः प्रकृतीस्ता निशाम्य च।
अब्रवीद् भ्रातरं रामो लक्ष्मणं पुण्यलक्षणम्॥ १८॥
अस्मद्व्यपेक्षान् सौमित्रे निर्व्यपेक्षान् गृहेष्वपि।
वृक्षमूलेषु संसक्तान् पश्य लक्ष्मण साम्प्रतम्॥ १९॥
यथैते नियमं पौराः कुर्वन्त्यस्मन्निवर्तने।
अपि प्राणान् न्यसिष्यन्ति न तु त्यक्ष्यन्ति निश्चयम्॥ २०॥
यावदेव तु संसुप्तास्तावदेव वयं लघु।
रथमारुह्य गच्छामः पन्थानमकुतोभयम्॥ २१॥
अतो भूयोऽपि नेदानीमिक्ष्वाकुपुरवासिनः।
स्वपेयुरनुरक्ता मा वृक्षमूलेषु संश्रिताः॥ २२॥
पौरा ह्यात्मकृताद् दुःखाद् विप्रमोच्या नृपात्मजैः।
न तु खल्वात्मना योज्या दुःखेन पुरवासिनः॥ २३॥
अब्रवील्लक्ष्मणो रामं साक्षाद् धर्ममिव स्थितम्।
रोचते मे तथा प्राज्ञ क्षिप्रमारुह्यतामिति॥ २४॥
अथ रामोऽब्रवीत् सूतं शीघ्रं संयुज्यतां रथः।
गमिष्यामि ततोऽरण्यं गच्छ शीघ्रमितः प्रभो॥ २५॥
सूतस्ततः संत्वरितः स्यन्दनं तैर्हयोत्तमैः।
योजयित्वा तु रामस्य प्राञ्जलिः प्रत्यवेदयत्॥ २६॥
अयं युक्तो महाबाहो रथस्ते रथिनां वर।
त्वरयाऽऽरोह भद्रं ते ससीतः सहलक्ष्मणः॥ २७॥

सूर्य-अस्त पर, उन घोड़ों को, बाँध, उन्हें देकर बहु चारा।
वे सुमन्त्र श्रीरामचन्द्र के पास आ गये वहाँ दुबारा॥ १२ ॥
आती देख रात्रि, उन सबने, किया सुमंगल संध्योपासन।
ठीक किया, लक्ष्मण, सुमन्त्र ने, राम-शयन का समुचित आसन॥ १३ ॥
तमसा-तट पर तरु-पत्रों से. सारथि ने आसन जब साजे।
तब उस पर श्रीरामचन्द्र जी,, सीता, लक्ष्मण-सहित विराजे॥ १४ ॥
श्रमित[1] राम, सीता को सोया, देख सुमित्रा-सुत ने फिर तब।
लगे बताने, राम-गुणों को, उन सुमन्त्र से वे प्रमुदित जब॥ १५ ॥
तमसा-तट पर, राम-गुणावलि कह, दोनों ने रात्रि बिताई।
तथा जागते रहे, समय पर सूर्योदय की वेला आई॥ १६ ॥
गौ-समूह से संयुत था तमसा-तट-वासस्थल वह रुचिकर।
प्रजा-जनों से कुछ दूरी पर, सोये राम, नदी के तट पर॥ १७ ॥
प्रजा-जनों को सोते देखा, तड़के ही पहले से उठकर।
भावविवश तब बोले शुचि लक्षण-युत लक्ष्मण से वे रघुवर॥ १८ ॥
सौमित्रे, लक्ष्मण! देखो, ये पुर-वासी पेड़ों से सटकर।
मुझमें रख अनुरक्ति सो रहे, निज गेहों की चिन्ता तजकर॥ १९ ॥
मुझको लौटाने के, ये जो उद्यम करते, उसे देखकर।
ऐसा लगता, प्राण-मोह तज, डटे रहेंगे दृढ़ निश्चय पर॥ २० ॥
इनके सोते तक ही, हम सब, रथ-स्थित होकर, हो लें प्रस्थित[2]।
फिर न मार्ग में इनके आने का भय होगा वहाँ उपस्थित॥ २१ ॥
निकल् चलेंगे हम सब जब, तब नगर-निवासी ये अनुरागी।
नहीं करेंगे शयन, वृक्ष के नीचे हो करके गृह-त्यागी॥ २२ ॥
है कर्तव्य नृपति-पुत्रों का, जनता को दुख-मुक्त करायें।
अपितु न[3] अपने ही दुख देकर उसको अतिशय दुखी बनायें॥ २३ ॥
बोले शाश्वत धर्म-सदृश उन रामचन्द्र से लक्ष्मण यों तब।
सुधी! आपकी बात ठीक है, अतः शीघ्र ही हों रथ पर अब॥ २४ ॥
फिर सुमन्त्र से कहा राम ने, प्रभो! शीघ्र ही रथ जुतवाएँ।
जिससे हम सब इस सुस्थल से आगे वन-पथ को अपनाएँ॥ २५ ॥
जोत दिया घोड़ों को रथ में, उन सुमन्त्र ने आज्ञा पाकर।
हाथ जोड़कर किया निवेदन, राम-समीप शीघ्र ही आकर॥ २६ ॥
रथिवर! वीर महाबाहो! हो मंगल, है रथ की तैयारी।
सीता, लक्ष्मण-सहित शीघ्र ही, आप करें श्रीराम! सवारी॥ २७ ॥

---

१ थके हुए; २ प्रस्थान कर दें, चल दें; ३ न कि, यह कि।

तं स्यन्दनमधिष्ठाय राघवः सपरिच्छदः ।
शीघ्रगामाकुलावर्तां तमसामतरन्नदीम् ॥ २८ ॥
स संतीर्य महाबाहुः श्रीमाञ्शिवमकण्टकम् ।
प्रापद्यत महामार्गमभयं भयदर्शिनाम् ॥ २९ ॥
मोहनार्थं तु पौराणां सूतं रामोऽब्रवीद् वचः ।
उदङ्मुखः प्रयाहि त्वं रथमारुह्य सारथे ॥ ३० ॥
मुहूर्तं त्वरितं गत्वा निवर्तय रथं पुनः ।
यथा न विद्युः पौरा मां तथा कुरु समाहितः ॥ ३१ ॥
रामस्य तु वचः श्रुत्वा तथा चक्रे च सारथिः ।
प्रत्यागम्य च रामस्य स्यन्दनं प्रत्यवेदयत् ॥ ३२ ॥
तौ सम्प्रयुक्तं तु रथं समास्थितौ
तदा ससीतौ रघुवंशवर्धनौ ।
प्रचोदयामास ततस्तुरंगमान्
स सारथिर्येन पथा तपोवनम् ॥ ३३ ॥
ततः समास्थाय रथं महारथः
ससारथिर्दाशरथिर्वनं ययौ ।
उदङ्मुखं तं तु रथं चकार
प्रयाणमाङ्गल्यनिमित्तदर्शनात् ॥ ३४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

प्रातःकाल उठने पर पुरवासियों का विलाप करना और निराश होकर नगर को लौटना

प्रभातायां तु शर्वर्यां पौरास्ते राघवं विना ।
शोकोपहतनिश्चेष्टा बभूवुर्हतचेतसः ॥ १ ॥
शोकजाश्रुपरिद्यूना वीक्षमाणास्ततस्ततः ।
आलोकमपि रामस्य न पश्यन्ति स्म दुःखिताः ॥ २ ॥
ते विषादार्तवदना रहितास्तेन धीमता ।
कृपणाः करुणा वाचो वदन्ति स्म मनीषिणः ॥ ३ ॥
धिगस्तु खलु निद्रां तां ययापहृतचेतसः ।
नाद्य पश्यामहे रामं पृथूरस्कं महाभुजम् ॥ ४ ॥
कथं रामो महाबाहुः स तथावितथक्रियः ।
भक्तं जनमभित्यज्य प्रवासं तापसो गतः ॥ ५ ॥

यह सुनकर उस रथ पर बैठे, सीता, राम और लक्ष्मण सब।
तीव्र प्रवाहिनि, भँवरों वाली, तमसा के फिर पार गये तब ॥ २८ ॥
महाबाहु श्रीराम पा गये, वह पथ, जो था मंगलकारी।
कण्टक-रहित, पार तमसा के, भीरु जनों का भी भय-हारी ॥ २९ ॥
पौर-जनों को भ्रम में लाने को, सुमन्त्र से कहा राम नें।
आप सारथे! रथारूढ़ हो! जायें उत्तर-दिशा-सामने ॥
फिर मुहूर्त के बाद, शीघ्रता से रथ को लौटाकर लायें!।
पता न पायें, पुर-वासी जन सावधान हो, कार्य बनायें ॥३०-३१॥
राम-वचन सुनकर सुमन्त्र वे, उसी दिशा को हुए सु-प्रस्थित।
और रथ-सहित पुनः राम की सेवा में हो गये उपस्थित ॥ ३२ ॥
फिर रघुवंश-विवर्धक, सीता, राम और श्री लक्ष्मण
चढ़े, लौटकर आये रथ पर, (जो था परम सुलक्षण)।
फिर सारथि ने उसी मार्ग पर, घोड़े शीघ्र बढ़ाये
ताकि तपोवन में पहुँचा दे, उन सबको ही तत्क्षण ॥ ३३ ॥
राम-हृदय में शकुन देखने का विचार फिर आया
इससे मंगल-उत्तर मुख कर, उस रथ को ठहराया।
पुनः हुए आरूढ़ राम वे सह सीता - लक्ष्मण के
तथा उसे सारथि ने फिर से वन की ओर बढ़ाया ॥ ३४ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में छियालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४६ ॥

सैंतालीसवाँ सर्ग

प्रातःकाल उठने पर पुरवासियों का विलाप करना और निराश होकर नगर को लौटना

बीती रात, सबेरे पुर-जन रामचन्द्र को वहाँ न पाकर।
हुए अचेत, न चेष्टा कोई कर पाये अतिशय घबराकर ॥ १ ॥
लगे खोजने अश्रु बहाकर, खिन्न हृदय से, दिशि-दिशि जाकर।
दुखी हुए, रथ के जाने का चिह्न न कोई भी तब पाकर ॥ २ ॥
सुधी राम से विलग जनों के मुख पर था विषाद दिखलाता।
उन मनीषियों का करुणामय था विलाप सुनने में आता ॥ ३ ॥
धिक् उस निद्रा को, हा! जिसने हमें अचेत विमूढ़ बनाया।
राम महाभुज, विपुल वक्ष के दर्शन से वञ्चित करवाया ॥ ४ ॥
क्रिया न कोई निष्फल होती जिनकी, जो तापस हैं ऐसे।
महाबाहु वे भक्त जनों को गये छोड़कर वन में कैसे? ॥ ५ ॥

योनः सदा पालयति पिता पुत्रानिवौरसान्।
कथं रघूणां स श्रेष्ठस्त्यक्त्वा नो विपिनं गतः॥ ६॥
इहैव निधनं याम महाप्रस्थानमेव वा।
रामेण रहितानां नो किमर्थं जीवितं हितम्॥ ७॥
सन्ति शुष्काणि काष्ठानि प्रभूतानि महान्ति च।
तैः प्रज्वाल्य चितां सर्वे प्रविशामोऽथवा वयम्॥ ८॥
किं वक्ष्यामो महाबाहुरनसूयः प्रियंवदः।
नीतः स राघवोऽस्माभिरिति वक्तुं कथं क्षमम्॥ ९॥
सा नूनं नगरी दीना दृष्ट्वास्मान् राघवं विना।
भविष्यति निरानन्दा सस्त्रीबालवयोऽधिका॥ १०॥
निर्यातास्तेन वीरेण सह नित्यं महात्मना।
विहीनास्तेन च पुनः कथं द्रक्ष्याम तां पुरीम्॥ ११॥
इतीव बहुधा वाचो बाहुमुद्यम्य ते जनाः।
विलपन्ति स्म दुःखार्ता हृतवत्सा इवाग्र्यगाः॥ १२॥
ततो मार्गानुसारेण गत्वा किंचित् ततः क्षणम्।
मार्गनाशाद् विषादेन महता समभिप्लुताः॥ १३॥
रथमार्गानुसारेण न्यवर्तन्त मनस्विनः।
किमिदं किं करिष्यामो दैवेनोपहता इति॥ १४॥
तदा यथागतेनैव मार्गेण क्लान्तचेतसः।
अयोध्यामगमन् सर्वे पुरीं व्यथितसज्जनाम्॥ १५॥
आलोक्य नगरीं तां च क्षयव्याकुलमानसाः।
आवर्तयन्त तेऽश्रूणि नयनैः शोकपीडितैः॥ १६॥
एषा रामेण नगरी रहिता नातिशोभते।
आपगा गरुडेनेव ह्रदादुद्धृतपन्नगा॥ १७॥
चन्द्रहीनमिवाकाशं तोयहीनमिवार्णवम्।
अपश्यन् निहतानन्दं नगरं ते विचेतसः॥ १८॥

ते तानि वेश्मानि महाधनानि
दुःखेन दुःखोपहता विशन्तः।
नैव प्रजग्मुः स्वजनं परं वा
निरीक्ष्यमाणाः प्रविनष्टहर्षाः॥ १९॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः॥ ४७॥

पिता-सदृश औरस[१] पुत्रों के रक्षक राम सदैव हमारे।
रघुकुल-प्रवर छोड़ कर हमको, भला आज क्यों विपिन पधारे ?॥ ६ ॥
यहीं प्राण दें, या मरने का निश्चय कर, हों उत्तर-चारी।
क्योंकि राम के बिना न होगा, हम सबका जीवन हितकारी॥ ७ ॥
सूखे काष्ठ यहाँ हैं अतिशय, या उनकी ही चिता बनाकर।
प्रविशित होवें, उसमें हम सब, बहुत शीघ्र ही उसे जलाकर॥ ८ ॥
जो न किसी के दोष देखते, प्रियवादी हैं तथा सर्वथा।
कहाँ गये ? किस दिशा गये ? किस भाँति कहेंगे सत्य वन-कथा ?॥ ९ ॥
राम-बिना, हम सबको लौटे देख, अयोध्या के नर-नारी।
बालक, वृद्ध सभी को होगी, नष्ट प्रमुदता[२] मन की सारी॥ १० ॥
वीर महात्मा राम-साथ नित, विपिन-वास को निकले, ऐसे।
देखेंगे उनसे वञ्चित हो, हम सब भला अयोध्या कैसे ?॥ ११ ॥
यह कह, किया विलाप सभी ने, अपनी-अपनी भुजा उठाकर।
वत्स-वञ्चिता[३], अग्रग[४] गौएँ, चलती हैं जैसे अकुलाकर॥ १२ ॥
रथ की लीक देखते, पथ पर गये दूर तक वे सबके सब।
क्षण में रथ का चिह्न न मिलने से, वे हुए शोक-रत फिर तब॥ १३ ॥
यह क्या हुआ ? दैव ने मारा, क्या अब करें ? मनस्वी कह कर।
लौट पड़े, रथ-लीक-पकड़ कर पुनः अयोध्या के वे पथ पर॥ १४ ॥
जिस पथ से थे गये, लौटकर, उस पथ से ही वे सब आये।
देखा, अवधपुरी के सज्जन राम-व्यथा में सकल सताये॥ १५ ॥
नगरी देख, दुःख से व्याकुल, हुआ वहाँ पर जन-गण सारा।
लगा बहाने, शोकित होकर, आँखों से आँसू की धारा॥ १६ ॥
गरुड़ाकर्षित[५] नाग-विहीना[६], नदी न शोभा पाती जैसे।
राम-विहीना, नहीं अयोध्या भी शोभित होती थी वैसे॥ १७ ॥
शशि बिन गगन, वारि बिन वारिधि-सदृश नगर था मोद से रहित।
यह दुरवस्था देख, हो गये वे अतिशोकित होकर मूर्च्छित॥ १८ ॥

नष्ट हो गया था उन सबका ही उल्लास मनःस्थित
वे पीड़ित, सम्पन्न गृहों में, हुए क्लेश से प्रविशित।
और देखते हुए सभी को भी वैसे अवसर पर
अपने और पराये की पहचान न, ऐसे भरमित॥ १९ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त॥ ४७॥

---

१ विवाहिता पत्नी से उत्पन्न; २ प्रसन्नता; ३ बछड़े से बिछड़ी; ४ आगे जानेवाली; ५ गरुड़ द्वारा हरण कर लिये गये; ६ नाग से रहित।

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

नगरनिवासिनी स्त्रियों का विलाप करना

तेषामेवं विषण्णानां पीडितानामतीव च ।
बाष्पविप्लुतनेत्राणां सशोकानां मुमूर्षया ॥ १ ॥
अभिगम्य निवृत्तानां रामं नगरवासिनाम् ।
उद्गतानीव सत्त्वानि बभूवुरमनस्विनाम् ॥ २ ॥
स्वं स्वं निलयमागम्य पुत्रदारैः समावृताः ।
अश्रूणि मुमुचुः सर्वे बाष्पेण पिहिताननाः ॥ ३ ॥
न चाहृष्यन् न चामोदन् वणिजो न प्रसारयन् ।
न चाशोभन्त पण्यानि नापचन् गृहमेधिनः ॥ ४ ॥
नष्टं दृष्ट्वा नाभ्यनन्दन् विपुलं वा धनागमम् ।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाप्यनन्दत ॥ ५ ॥
गृहे गृहे रुदत्यश्च भर्तारं गृहमागतम् ।
व्यगर्हयन्त दुःखार्ता वाग्भिस्तोत्रैरिव द्विपान् ॥ ६ ॥
किं नु तेषां गृहैः कार्यं किं दारैः किं धनेन वा ।
पुत्रैर्वापि सुखैर्वापि ये न पश्यन्ति राघवम् ॥ ७ ॥
एकः सत्पुरुषो लोके लक्ष्मणः सह सीतया ।
योऽनुगच्छति काकुत्स्थं रामं परिचरन् वने ॥ ८ ॥
आपगाः कृतपुण्यास्ताः पद्मिन्यश्च सरांसि च ।
येषु यास्यति काकुत्स्थो विगाह्य सलिलं शुचि ॥ ९ ॥
शोभयिष्यन्ति काकुत्स्थमटव्यो रम्यकाननाः ।
आपगाश्च महानूपाः सानुमन्तश्च पर्वताः ॥ १० ॥
काननं वापि शैलं वा यं रामोऽनुगमिष्यति ।
प्रियातिथिमिव प्राप्तं नैनं शक्ष्यन्त्यनर्चितुम् ॥ ११ ॥
विचित्रकुसुमापीडा बहुमञ्जरिधारिणः ।
राघवं दर्शयिष्यन्ति नगा भ्रमरशालिनः ॥ १२ ॥
अकाले चापि मुख्यानि पुष्पाणि च फलानि च ।
दर्शयिष्यन्त्यनुक्रोशाद् गिरयो राममागतम् ॥ १३ ॥
प्रस्रविष्यन्ति तोयानि विमलानि महीधराः ।
विदर्शयन्तो विविधान् भूयश्चित्रांश्च निर्झरान् ॥ १४ ॥
पादपाः पर्वताग्रेषु रमयिष्यन्ति राघवम् ।
यत्र रामो भयं नात्र नास्ति तत्र पराभवः ॥ १५ ॥
स हि शूरो महाबाहुः पुत्रो दशरथस्य च ।
पुरा भवति नोऽदूरादनुगच्छाम राघवम् ॥ १६ ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग

नगरनिवासिनी स्त्रियों का विलाप करना

ऐसे वे पीड़ा, विषाद, अतिशोक-मग्न सब थे दिखलाते।
एवं प्राण-त्याग के इच्छुक, थे आँखों से अश्रु बहाते॥
राम-साथ जाकर भी वे सब, उन्हें न लौटाकर फिर लाये।
अतः हुए वे, प्राण-हीन-सम, तथा हृदय से अति अकुलाये॥ १-२ ॥
पत्नी-पुत्रों-सह, निज-निज गृह में वे आँसू लगे बहाने।
उन सबका मुख अश्रु-धार से छादित अतिशय लगा दिखाने॥ ३ ॥
हर्ष-चिह्न से रिक्त-काय[1] थे वे, मन में आनन्द नहीं था।
श्री-विहीन बाजार सभी थे, बना न भोजन वहाँ कहीं था॥ ४ ॥
नष्ट वस्तु, अति विभव-प्राप्ति का, हुआ न स्वागत उनके द्वारा।
प्रथम पुत्र का जन्म-दिवस तक, उत्सव-हीन रहा तब सारा॥ ५ ॥
राम-विना लौटे, निज पति को, पत्नी लगीं सुनाने बातें।
करने लगे महावत मानो, निजी गजों पर अंकुश-घातें॥ ६ ॥
वे बोलीं, 'जो जन-समूह है, नहीं राम के दर्शन पाता।
उसको गृह, स्त्री, धन-सुख-भोगों से न प्रयोजन है दिखलाता'॥ ७ ॥
जग में एक मात्र लक्ष्मण ही, हमें सत्पुरुष हैं दिखलाते।
जो कि राम, सीता के पीछे सेवा करने, वन में जाते॥ ८ ॥
वे नदियाँ, पंकज-बावड़ियाँ तथा सरोवर पुण्यवान हैं।
आगे जाते, जिनके पावन जल में करके राम, स्नान हैं॥ ९ ॥
रम्य-वृक्ष-वन, बड़े कछारों की नदियों, शैलों पर जाकर।
राम करेंगे धन्य सभी को, उनकी शोभा बहुत बढ़ाकर॥ १० ॥
जहाँ-जहाँ, जिस वन, पर्वत पर, राम अतिथि होकर जायेंगे।
वे वन, पर्वत, विना राम की पूजा किये न रह पायेंगे॥ ११ ॥
पुष्प-मुकुट, मञ्जरी-धारि तरु, जिन पर भँवरे मँड़रायेंगे।
वे वन, रामचन्द्र को अपनी अनुपम शोभा दिखलायेंगे॥ १२ ॥
गिरिवर अपने यहाँ पधारे, वहाँ राम को जब पायेंगे।
आदर-वश असमय[2] में भी सब, फल, पुष्पादिक दिखलायेंगे॥ १३ ॥
वे गिरि बारम्बार राम को, झरने अति विचित्र दिखलाकर।
होंगे तुष्ट, राम के हित में, निर्मल जल के स्रोत बहाकर॥ १४ ॥
गिरि-शिखरों पर लहलाते तरु, होंगे राम-हृदय-मुद-दाता।
जहाँ राम हैं, वहाँ पराभव तथा न कोई भय है आता॥ १५ ॥
महाबाहु दशरथ-ज[3] विक्रमी, दूर न जब तक हमसे जाते।
अच्छा है, इसके पहले ही, उनके पास पहुँच हम जाते॥ १६ ॥

---

१ हर्ष के चिह्न से विहीन शरीर वाले; २ बिना ऋतु के भी; ३ दशरथ-पुत्र।

पादच्छाया सुखं भर्तुस्तादृशस्य महात्मनः।
स हि नाथो जनस्यास्य स गतिः स परायणम् ॥ १७ ॥
वयं परिचरिष्यामः सीतां यूयं च राघवम्।
इति पौरस्त्रियो भर्तॄन् दुःखार्तास्तत्तदब्रुवन् ॥ १८ ॥
युष्माकं राघवोऽरण्ये योगक्षेमं विधास्यति।
सीता नारीजनस्यास्य योगक्षेमं करिष्यति ॥ १९ ॥
को न्वनेनाप्रतीतेन सोत्कण्ठितजनेन च।
सम्प्रीयेतामनोज्ञेन वासेन हृतचेतसा ॥ २० ॥
कैकेय्या यदि चेद् राज्यं स्यादधर्म्यमनाथवत्।
न हि नो जीवितेनार्थः कुतः पुत्रैः कुतो धनैः ॥ २१ ॥
यया पुत्रश्च भर्ता च त्यक्तावैश्वर्यकारणात्।
कं सा परिहरेदन्यं कैकेयी कुलपांसनी ॥ २२ ॥
कैकेय्या न वयं राज्ये भृतका हि वसेमहि।
जीवन्त्या जातु जीवन्त्यः पुत्रैरपि शपामहे ॥ २३ ॥
या पुत्रं पार्थिवेन्द्रस्य प्रवासयति निर्घृणा।
कस्तां प्राप्य सुखं जीवेदधर्म्यां दुष्टचारिणीम् ॥ २४ ॥
उपद्रुतमिदं सर्वमनालम्भमनायकम्।
कैकेय्यास्तु कृते सर्वं विनाशमुपयास्यति ॥ २५ ॥
नहि प्रव्रजिते रामे जीविष्यति महीपतिः।
मृते दशरथे व्यक्तं विलोपस्तदनन्तरम् ॥ २६ ॥
ते विषं पिबतालोड्य क्षीणपुण्याः सुदुःखिताः।
राघवं वानुगच्छध्वमश्रुतिं वापि गच्छत ॥ २७ ॥
मिथ्याप्रव्राजितो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः।
भरते संनिबद्धाः स्मः सौनिके पशवो यथा ॥ २८ ॥
पूर्णचन्द्राननः श्यामो गूढजत्रुररिंदमः।
आजानुबाहुः पद्माक्षो रामो लक्ष्मणपूर्वजः ॥ २९ ॥
पूर्वाभिभाषी मधुरः सत्यवादी महाबलः।
सौम्यश्च सर्वलोकस्य चन्द्रवत् प्रियदर्शनः ॥ ३० ॥
नूनं पुरुषशार्दूलो मत्तमातङ्गविक्रमः।
शोभयिष्यत्यरण्यानि विचरन् स महारथः ॥ ३१ ॥
तास्तथा विलपन्त्यस्तु नगरे नागरस्त्रियः।
चुक्रुशुर्दुःखसंतप्ता मृत्योरिव भयागमे ॥ ३२ ॥

उन्हीं महात्मा, स्वामि-पदों की छाया है सुखदा दिखलाती।
हम सबकी गति, रक्षक, आश्रय वे हैं, बात समझ में आती॥ १७ ॥
सीता-सेवा स्त्रियाँ करेंगी, करें पुरुष रघुपति-परिचर्या।
पुरुषों को इस विधि समझाने लगीं विकल सब उनकी भार्या॥ १८ ॥
योगक्षेम-निर्वाह[1] करेंगे राम, आप लोगों का वन में।
सीता द्वारा योगक्षेम से, होगा तोष स्त्रियों के मन में॥ १९ ॥
प्रीति, भरोसा विन हम सब हैं, यहाँ राम-दर्शन-उत्कण्ठित।
सुध, बुध, प्रसन्नता भूले हम, होकर रामचन्द्र से वञ्चित॥ २० ॥
कैकेयी-शासित, अनाथ यह होगा राज्य अधार्मिक सारा।
यहाँ लाभ क्या धन-पुत्रों से ? उचित न जीवन यहाँ हमारा॥ २१ ॥
जिसने राज्य, विभव-हित अपने, पुत्र और पति को भी त्यागा।
उस कुल-कलंकिनी से तब फिर, त्यक्त न होगा कौन अभागा॥ २२ ॥
जीवित, कैकेयी-शासन में, पुत्र-शपथ, हम रह न सकेंगी।
चाहे वे पालन-पोषण, का भार हमारा वहन करेंगी॥ २३ ॥
निर्दय नारी ने, नृप-सुत को दिया राज्यसे देश-निकाला।
उस दुष्टा-शासन में होगा, कौन सुखी हो, जीनेवाला ?॥ २४ ॥
कैकेयी-शासित प्रदेश में विविध उपद्रव, विना सहारा।
अतः एक दिन यह लगता है निश्चित होगा नाश हमारा॥ २५ ॥
नृपति न जीवित रह पाएँगे, होंगे राम, विपिन-वासी जब।
और बाद ही नृपति-मृत्यु के, राज्य लुप्त हो जाएगा तब॥ २६ ॥
विष पी लें, या चलें राम-सँग, पुण्य नष्ट होने को आये।
या फिर चलें, जहाँ कैकेयी का न नाम सुनने में आये॥ २७ ॥
मिथ्या वर से, पत्नी, लक्ष्मण-सहित राम को देश-निकाला।
और कसाई के गृह-पशु-सम, हमें भरत-बन्धन में डाला॥ २८ ॥
लक्ष्मण-पूर्वज राम चन्द्र-मुख, श्याम-गात, हँसली के मांसल।
हैं आजानुबाहु, प्रियवादी, कमलनयन, सुषमा में प्राञ्जल[2]॥
आगत जन से, वे पहले ही, राम बोलते सत्य मृदु वचन।
जग को शशि-सम प्रियदर्शी हैं, महाबली सर्वथा रिपु-दमन॥२९-३०॥
मत्त गज-सदृश, प्रबल विक्रमी, पुरुषसिंह करके भू-विचरण।
महारथी, श्रीमान्, बढ़ाएँगे, वन-सुषमा, राघव प्रति-क्षण॥ ३१ ॥
दुख-संतप्ता, नगर-नारियों का विलाप सुनने में आया।
ऐसे रोने लगीं सभी वे, मानों मृत्यु-सदृश भय छाया॥ ३२ ॥

---

१ कल्याण करना। २ कोमल स्वभाव वाले।

इत्येवं विलपन्तीनां स्त्रीणां वेश्मसु राघवम्।
जगामास्तं दिनकरो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ ३३ ॥
नष्टज्वलनसंतापा प्रशान्ताध्यायसत्कथा।
तिमिरेणानुलिप्तेव तदा सा नगरी बभौ ॥ ३४ ॥
उपशान्तवणिक्पण्या नष्टहर्षा निराश्रया।
अयोध्या नगरी चासीन्नष्टतारमिवाम्बरम् ॥ ३५ ॥
तदा स्त्रियो रामनिमित्तमातुरा
यथा सुते भ्रातरि वा विवासिते।
विलप्य दीना रुरुदुर्विचेतसः
सुतैर्हि तासामधिकोऽपि सोऽभवत् ॥ ३६ ॥
प्रशान्तगीतोत्सवनृत्यवादना
विभ्रष्टहर्षा पिहितापणोदया।
तदा ह्ययोध्या नगरी बभूव सा
महार्णवः संक्षपितोदको यथा ॥ ३७ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

ग्रामवासियों की बातें सुनते हुए श्रीराम का कोसल जनपद को लाँघते हुए आगे जाना और वेदश्रुति, गोमती एवं स्यन्दिका नदियों को पार करके सुमन्त्र से कुछ कहना

रामोऽपि रात्रिशेषेण तेनैव महदन्तरम्।
जगाम पुरुषव्याघ्रः पितुराज्ञामनुस्मरन् ॥ १ ॥
तथैव गच्छतस्तस्य व्यपायाद् रजनी शिवा।
उपास्य तु शिवां संध्यां विषयानत्यगाहत ॥ २ ॥
ग्रामान् विकृष्टसीमान्तान् पुष्पितानि वनानि च।
पश्यन्नतिययौ शीघ्रं शनैरिव हयोत्तमैः ॥ ३ ॥
शृण्वन् वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम्।
राजानं धिग् दशरथं कामस्य वशमास्थितम् ॥ ४ ॥
हा नृशंसाद्य कैकेयी पापा पापानुबन्धिनी।
तीक्ष्णा सम्भिन्नमर्यादा तीक्ष्णकर्मणि वर्तते ॥ ५ ॥

करती रहीं विलाप नारियाँ, दिन भर निज-निज गृह में हो स्थिर।
अस्ताचल को गये दिवाकर, धीरे से आ गई निशा फिर॥ ३३ ॥
अग्निहोत्र, स्वाध्याय न तब फिर कथा, सु-वार्ता कुछ हो पाई।
पुरी अयोध्या ऐसी थी, हो मानो तम से गई पुताई॥ ३४ ॥
लगता था निःशब्द दुकानों का है मोद किसी ने छीना।
तारक-लुप्त[1] गगन-सम नगरी, हुई मोद, श्री से छबि-हीना॥ ३५ ॥
नगर-नारियाँ राम-हेतु थीं, तब शोकातुर ऐसे
उनके सगे भ्रातृ, सुत का हो देश-निकाला जैसे।
वे दीना रोकर, विलाप कर, हुई शीघ्र ही मूर्च्छित
निज सुपुत्र होते हैं जैसे, उन्हें राम थे वैसे॥ ३६ ॥
गायन, वादन, नृत्योत्सव से, नगरी हुई विहीना
और विना उत्साह हो गईं बाजारें सब दीना।
इन्हीं कारणों से उस अवसर पर वह पुरी अयोध्या
उस सागर-सी हुई कि जिसका वारि गया हो छीना॥ ३७ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४८ ॥

उनचासवाँ सर्ग

ग्रामवासियों की बातें सुनते हुए श्रीराम का कोसल जनपद को लाँघते हुए आगे जाना और वेदश्रुति, गोमती एवं स्यन्दिका नदियों को पार करके सुमन्त्र से कुछ कहना

बारम्बार पिता की आज्ञा को अपनी शुचि[2] स्मृति में लाकर।
शेष रात्रि में रामचन्द्र जी बहुत दूर पहुँचे तब जाकर॥ १ ॥
बीती शुभा निशा, चलने में, मंगल संध्या-वेला आई।
प्रातः हो निवृत्त, बहु जनपद चले लाँघते श्री रघुराई॥ २ ॥
जुती ग्राम, भू-पुष्प देखते, यद्यपि द्रुत हय[3] भागे जाते।
मग्न सु-दृश्य देखने में, रथ-गति, मानो धीमी-सी पाते॥ ३ ॥
छोटे, बड़े ग्राम-पुरुषों की बातें थे वे सुनते जाते।
अहो! नृपति दशरथ को धिक् है, काम-विवश जो हैं मदमाते॥ ४ ॥
हा! कैकेयी क्रूर, पाप-रत, मर्यादा-हीना दिखलाती।
निष्ठुर-कर्मिणि[4] को है निश्चित, दया न किञ्चित् भी छू पाती॥ ५ ॥

---

१ छिपे तारों से; २ पवित्र; ३ घोड़े; ४ निर्दय काम करनेवाली।

या पुत्रमीदृशं राज्ञः प्रवासयति धार्मिकम् ।
वनवासे महाप्राज्ञं सानुक्रोशं जितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥
कथं नाम महाभागा सीता जनकनन्दिनी ।
सदा सुखेष्वभिरता दुःखान्यनुभविष्यति ॥ ७ ॥
अहो दशरथो राजा निःस्नेहः स्वसुतं प्रति ।
प्रजानामनघं रामं परित्यक्तुमिहेच्छति ॥ ८ ॥
एता वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम् ।
शृण्वन्नतिययौ वीरः कोसलान् कोसलेश्वरः ॥ ९ ॥
ततो वेदश्रुतिं नाम शिववारिवहां नदीम् ।
उत्तीर्याभिमुखः प्रायादगस्त्याध्युषितां दिशम् ॥ १० ॥
गत्वा तु सुचिरं कालं ततः शीतवहां नदीम् ।
गोमतीं गोयुतानूपामतरत् सागरङ्गमाम् ॥ ११ ॥
गोमतीं चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगैर्हयैः ।
मयूरहंसाभिरुतां ततार स्यन्दिकां नदीम् ॥ १२ ॥
स महीं मनुना राज्ञा दत्तामिक्ष्वाकवे पुरा ।
स्फीतां राष्ट्रवृतां रामो वैदेहीमन्वदर्शयत् ॥ १३ ॥
सूत इत्येव चाभाष्य सारथिं तमभीक्ष्णशः ।
हंसमत्तस्वरः श्रीमानुवाच पुरुषोत्तमः ॥ १४ ॥
कदाहं पुनरागम्य सरय्वाः पुष्पिते वने ।
मृगयां पर्यटिष्यामि मात्रा पित्रा च संगतः ॥ १५ ॥
नात्यर्थमभिकाङ्क्षामि मृगयां सरयूवने ।
रतिर्ह्येषातुला लोके राजर्षिगणसम्मता ॥ १६ ॥
राजर्षीणां हि लोकेऽस्मिन् रत्यर्थं मृगया वने ।
काले कृतां तां मनुजैर्धन्विनामभिकाङ्क्षिताम् ॥ १७ ॥
स तमध्वानमैक्ष्वाकः सूतं मधुरया गिरा ।
तं तमर्थमभिप्रेत्य ययौ वाक्यमुदीरयन् ॥ १८ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

धार्मिक, वशी[1], सु-प्राज्ञ[2], दयामय, नृप-सुत-सँग की जिसने माया।
तथा गेह से निर्वासित कर, विपिन वास के लिए पठाया॥ ६ ॥
और महाभागा सीता, जो सदा सुखी, वे जनक-नन्दिनी।
विपिन-वास की व्यथा भला अब, भोग सकेंगी कैसे? कितनी?॥ ७ ॥
अहो! प्रजा-प्रति निरपराध सुत के हित स्नेह-हीन यों नृपवर।
जो दशरथ श्रीरामचन्द्र को हुए त्यागने में हैं तत्पर॥ ८ ॥
छोटे, बड़े ग्राम्य पुरुषों की बातें सुनते हुए निरन्तर।
कोसल-सीमा-लाँघ, बढ़ गये, राम कोसलाधिप तदनन्तर॥ ९ ॥
सुखद, सु-शीतल जल वाली वेदश्रुति सरिता-पार उतर कर।
राम बढ़े दक्षिण को, जो थी दिशा अगस्त्य-सेविता सुखकर॥ १० ॥
बहुत समय चल, शीतल जल की किया गोमती नदी-संतरण।
जो कि सिन्धुगा[3] है, जिसके तट बहु गौएँ करती थीं विचरण॥ ११ ॥
करके पार गोमती को फिर, वे शीघ्रग[4] अश्वों के द्वारा।
गये स्यन्दिका पार, जहाँ था हंस, मयूरों का रव[5] प्यारा॥ १२ ॥
घिरी जनपदों से, धन-धान्या भू सीता को फिर दिखलाई।
बोले राम, इसे इक्ष्वाकु-ज पूर्व नृपों ने मनु से पाई॥ १३ ॥
मत्त हंस-सम मृदु वाणी में, सारथि को कह सूत! समादृत।
पुरुषोत्तम श्रीमान् राम ने बारम्बार किया आवाहित॥ १४ ॥
सूत! पुनः मैं जननि-जनक से मिलने कब नगरी आऊँगा।
सरयू-तट-पुष्पित उपवन में, मृगया-विचरण-सुख पाऊँगा॥ १५ ॥
मैं सरयू-वन में, मृगया का बहुत नहीं अभिलाषी रहता।
पर राजर्षि-वृन्द से मानित, यह क्रीड़ा, ऐसा जग कहता॥ १६ ॥
इसे राजऋषियों ने जाकर, वन में था आरम्भ तब किया।
मनु-पुत्रों-कृत, तब की क्रीड़ा, धनुर्धरों को हुई अति प्रिया॥ १७ ॥
मृदु वाणी में राम सूत से ये बातें करते आते थे।
एवं वे ऐक्ष्वाक[6], मार्ग में द्रुत गति से बढ़ते जाते थे॥ १८ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्ष रामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में उनचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४९ ॥

१ संयमी, जितेन्द्रिय; २ अत्यन्त ज्ञानवान्; ३ समुद्र-गामिनी; ४ तेज दौड़नेवाले; ५ शब्द, कूजना; ६ इक्ष्वाकुवंशी राम।

पञ्चाशः सर्गः

श्रीराम का मार्ग में अयोध्यापुरी से वनवास की आज्ञा माँगना और शृङ्गवेरपुर में गङ्गातट पर पहुँचकर रात्रि में निवास करना, वहाँ निषादराज गुह द्वारा उनका सत्कार

विशालान् कोसलान् रम्यान् यात्वा लक्ष्मणपूर्वजः।
अयोध्यामुन्मुखो धीमान् प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्॥ १॥
आपृच्छे त्वां पुरिश्रेष्ठे काकुत्स्थपरिपालिते।
दैवतानि च यानि त्वां पालयन्त्यावसन्ति च॥ २॥
निवृत्तवनवासस्त्वामनृणो जगतीपतेः।
पुनर्द्रक्ष्यामि मात्रा च पित्रा च सह संगतः॥ ३॥
ततो रुचिरताम्राक्षो भुजमुद्यम्य दक्षिणम्।
अश्रुपूर्णमुखो दीनोऽब्रवीज्जानपदं जनम्॥ ४॥
अनुक्रोशो दया चैव यथार्हं मयि वः कृतः।
चिरं दुःखस्य पापीयो गम्यतामर्थसिद्धये॥ ५॥
तेऽभिवाद्य महात्मानं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
विलपन्तो नरा घोरं व्यतिष्ठंश्च क्वचित् क्वचित्॥ ६॥
तथा विलपतां तेषामतृप्तानां च राघवः।
अचक्षुर्विषयं प्रायाद् यथार्कः क्षणदामुखे॥ ७॥
ततो धान्यधनोपेतान् दानशीलजनाञ्शिवान्।
अकुतश्चिद्भयान् रम्यांश्चैत्ययूपसमावृतान्॥ ८॥
उद्यानाम्रवणोपेतान् सम्पन्नसलिलाशयान्।
तुष्टपुष्टजनाकीर्णान् गोकुलाकुलसेवितान्॥ ९॥
रक्षणीयान् नरेन्द्राणां ब्रह्मघोषाभिनादितान्।
रथेन पुरुषव्याघ्रः कोसलानत्यवर्तत॥ १०॥
मध्येन मुदितं स्फीतं रम्योद्यानसमाकुलम्।
राज्यं भोज्यं नरेन्द्राणां ययौ धृतिमतां वरः॥ ११॥
तत्र त्रिपथगां दिव्यां शीततोयामशैवलाम्।
ददर्श राघवो गङ्गां रम्यामृषिनिषेविताम्॥ १२॥
आश्रमैरविदूरस्थैः श्रीमद्भिः समलंकृताम्।
कालेऽप्सरोभिर्हृष्टाभिः सेविताम्भो ह्रदां शिवाम्॥ १३॥

पचासवाँ सर्ग

श्रीराम का मार्ग में अयोध्यापुरी से वनवास की आज्ञा माँगना और शृंगवेरपुर में गंगा-तट पर पहुँचकर रात्रि में निवास करना, वहाँ निषादराज गुह द्वारा उनका सत्कार

अग्रज-लखन राम जब पहुँचे सीमा-पार देश कोसल के।
रम्य, विशाल, अयोध्या को कर जोड़ कहा यों बुद्धि-प्रबल ने ॥ १ ॥
पुरी-शिरोमणि शुभे अयोध्ये ! हे काकुत्स्थ-नृपों से पालित।
तुमसे ! और तुम्हारे देवों से, वन-यात्रा है संयाचित[१] ॥ २ ॥
विपिन-वास की अवधि-पूर्ण कर, नृप-ऋण से हो उऋण फिर तथा।
आकर, तुम-सँग मातृ-पितृ को, फिर देखूँगा शीघ्र सर्वथा ॥ ३ ॥
रुचिर-अरुण नयनाभ[२] राम ने कहा, दाहिनी भुजा उठाकर।
जनपद के लोगों से, होके दुखी नेत्र से अश्रु बहाकर ॥ ४ ॥
आप सभी ने कष्ट सहन कर, बहुत कृपा की मुझ पर समुचित।
अब गृह जाकर, कार्य करें निज, बहुत दुःख सहना है अनुचित ॥ ५ ॥
यह सुन, राम महात्मा को फिर, सबने किया प्रणाम, सविलपन[३]।
जहाँ-तहाँ वे खड़े रह गये, प्रदक्षिणा करके उदास मन ॥ ६ ॥
उन विलपित[४] को, राम-दर्शनों से न तृप्ति तब तक हो पाई।
अस्ताचल-रवि-सदृश, चला रथ वेग, हुए ओझल रघुराई ॥ ७ ॥
कोसल सीमा-लाँघ, गये फिर, रामचन्द्र स्यन्दन के द्वारा।
आम्रवनों, धन-धान्य, चैत्रतरु से कोसल परिपूरित सारा ॥
दानशील जन, निर्भय स्थल में थे उद्यान, सरोवर प्रियतम।
उस मख[५] यूपान्वित[६] के वासी, हृष्ट-पुष्ट दिखते थे अनुपम ॥
गौ-समूह से व्याप्त ग्राम्य-भू, बहु नृप-रक्षित थी दिखलाती।
यत्र-तत्र वैदिक घोषध्वनि थी निरुपम आनन्द बढ़ाती ॥८-१०॥
कोसल से, सामन्त प्रशासित चले भूमि से होकर रघुवर।
सम्पन्न और धन-धान्यपूर्ण उद्यानों से था अति रुचिकर ॥ ११ ॥
वहाँ राम ने दिव्य त्रिपथगा रम्या गंगा-दर्शन पाये।
वह ऋषि-सेवित, शीतल जल-युत, जल में नहीं सिवार[७] दिखाये ॥ १२ ॥
सर्वमंगला - तट - समीप पर, आश्रम थे सौन्दर्य बढ़ाते।
हर्षित हो, अप्सरा-वृन्द भी, स्नान-हेतु जब-तब थे आते ॥ १३ ॥

---

१ आज्ञा माँग रहा हूँ; २ शोभा से युक्त नेत्र वाले; ३ विलाप करते हुए; ४ रोते हुओं; ५ यज्ञ; ६ यूपों (स्तम्भों) से युक्त; ७ शैवाल, जल में बिना जड़ का पौधा।

देवदानवगन्धर्वैः किन्नरैरुपशोभिताम् ।
नागगन्धर्वपत्नीभिः सेवितां सततं शिवाम् ॥ १४ ॥
देवाक्रीडशताकीर्णां देवोद्यानयुतां नदीम् ।
देवार्थमाकाशगतां विख्यातां देवपद्मिनीम् ॥ १५ ॥
जलाघाताट्टहासोग्रां फेननिर्मलहासिनीम् ।
क्वचिद् वेणीकृतजलां क्वचिदावर्तशोभिताम् ॥ १६ ॥
क्वचित् स्तिमितगम्भीरां क्वचिद् वेगसमाकुलाम् ।
क्वचिद् गम्भीरनिर्घोषां क्वचिद् भैरवनिःस्वनाम् ॥ १७ ॥
देवसंघाप्लुतजलां निर्मलोत्पलसंकुलाम् ।
क्वचिदाभोगपुलिनां क्वचिन्निर्मलवालुकाम् ॥ १८ ॥
हंससारससंघुष्टां चक्रवाकोपशोभिताम् ।
सदामत्तैश्च विहगैरभिपन्नामनिन्दिताम् ॥ १९ ॥
क्वचित् तीररुहैर्वृक्षैर्मालाभिरिव शोभिताम् ।
क्वचित् फुल्लोत्पलच्छन्नां क्वचित् पद्मवनाकुलाम् ॥ २० ॥
क्वचित् कुमुदखण्डैश्च कुड्मलैरुपशोभिताम् ।
नानापुष्परजोध्वस्तां समदामिव च क्वचित् ॥ २१ ॥
व्यपेतमलसंघातां मणिनिर्मलदर्शनाम् ।
दिशागजैर्वनगजैर्मत्तैश्च वरवारणैः ॥ २२ ॥
देवराजोपवाह्यैश्च संनादितवनान्तराम् ।
प्रमदामिव यत्नेन भूषितां भूषणोत्तमैः ॥ २३ ॥
फलपुष्पैः किसलयैर्वृतां गुल्मैर्द्विजैस्तथा ।
विष्णुपादच्युतां दिव्यामपापां पापनाशिनीम् ॥ २४ ॥
शिशुमारैश्च नक्रैश्च भुजंगैश्च समन्विताम् ।
शंकरस्य जटाजूटाद् भ्रष्टां सागरतेजसा ॥ २५ ॥
समुद्रमहिषीं गङ्गां सारसक्रौञ्चनादिताम् ।
आससाद महाबाहुः शृङ्गवेरपुरं प्रति ॥ २६ ॥
तामूर्मिकलिलावर्तामन्ववेक्ष्य महारथः ।
सुमन्त्रमब्रवीत् सूतमिहैवाद्य वसामहे ॥ २७ ॥
अविदूरादयं नद्या बहुपुष्पप्रवालवान् ।
सुमहानिङ्गुदीवृक्षो वसामोऽत्रैव सारथे ॥ २८ ॥

वे शोभित हैं, असुर, देवता, किन्नर, गन्धर्वों के द्वारा।
है गन्धर्व, सु नाग-पत्नियों से सेवित उनकी शिव-धारा ॥ १४ ॥
देवों के गिरि - क्रीडा - स्थल, दोनों तट पर उद्यान सुहाते।
वे नभ में भी विद्यमान हैं, देव-पद्मिनी[1] उन्हें बताते ॥ १५ ॥
अट्टहास, प्रस्तर संघर्षण, सुरसरि-फेन हास-सम भाता।
भँवरों वाला उनका जल है, कहीं सु-वेणी-सम दिखलाता ॥ १६ ॥
उनका जल निश्चल गहरा है, कहीं वेग से है उफनाता।
है जल-नाद वज्र-सम भीषण, कही मृदंग-सदृश ध्वनि-दाता ॥ १७ ॥
सुरगण करता स्नान, कहीं जलछादित कुमुदेन्दीवर[2] द्वारा।
कहीं विशाल पुलिन[3] दिखता है, कहीं वालुका-निर्मल सारा[4] ॥ १८ ॥
सारस, हंसों के कलरव सँग, चकवों से शोभा वे पातीं।
कहीं मत्त जल-विहंगमों[5] की, मण्डलियाँ उन पर मँड़रातीं ॥ १९ ॥
उनके तट पर मालाकारित, तरु-समूह है कहीं दिखाता।
सुन्दर जल उत्पल[6]-छादित है, कहीं कमल-वन से है भाता ॥ २० ॥
कहीं कुमुद - कलिकाएँ विविधा हैं उत्तम श्रृंगार सजातीं।
पुष्प परागान्विता[7] कहीं वे स-मदा, प्रमदा-सी दिखलातीं ॥ २१ ॥
मल-समूह-नाशिनि-जल, निर्मल स्वच्छ सु-मणि-जैसा दिखलाता।
उनके तटवर्ती विपिनों में, दिग्गज-नाद अत्यधिक भाता ॥
वन में देवराज-वाहन-सम, मत्त गजों की ध्वनि है आती।
है फल, फूल, गुल्म, खग-छादित, उनकी जल-सुषमा दिखलाती ॥
वे विविधाभूषण से भूषित, नवयुवती - सी हैं दिखलाती।
विष्णु - चरण से आनेवाली, पाप - नाशिनी वे कहलातीं ॥२२-२४॥
हुआ भगीरथ - दिव्य तेज से, शम्भु-जटा में उनका आना।
सूँस, सर्प, घड़ियाल आदि हैं जन्तु उन्हीं में रहते नाना ॥
सारस, क्रौंच, खगों का कलरव होता देव-नदी के तट पर।
महाबाहु श्रीराम आ गये, श्रृंगवेरपुर में फिर चलकर ॥२५-२६॥
भँवरमयी लहरों की गंगा के दर्शन कर राम, वहीं पर।
बोले, उन सारथि सुमन्त्र से, सूत! रहेंगे आज यहीं पर ॥ २७ ॥
तट पर वृहद् इंगुदी-तरु[8], जो पुष्प-पल्लवान्वित दिखलाता।
उसके नीचे रहें रात्रि में, मुझे सारथे! यही सुहाता ॥ २८ ॥

---

१ आकाशमार्गी गंगा देवपद्मिनी या सुवर्णकमलिनी; २ रक्तकमल; ३ नदी का रेतीला किनारा; ४ बालू ही बालू; ५ पक्षियों; ६ नीलकमल; ७ पुष्प-पराग से सुगन्धित (वे गंगा); ८ मालकांगनी का वृक्ष।

प्रेक्षामि सरितां श्रेष्ठां सम्मान्यसलिलां शिवाम्।
देवमानवगन्धर्वमृगपन्नगपक्षिणाम् ॥ २९ ॥
लक्ष्मणश्च सुमन्त्रश्च बाढमित्येव राघवम्।
उक्त्वा तमिङ्गुदीवृक्षं तदोपययतुर्हयैः ॥ ३० ॥
रामोऽभियाय तं रम्यं वृक्षमिक्ष्वाकुनन्दनः।
रथादवतरत् तस्मात् सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ३१ ॥
सुमन्त्रोऽप्यवतीर्याथ मोचयित्वा हयोत्तमान्।
वृक्षमूलगतं राममुपतस्थे कृताञ्जलिः ॥ ३२ ॥
तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः सखा।
निषादजात्यो बलवान् स्थपतिश्चेति विश्रुतः ॥ ३३ ॥
स श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं रामं विषयमागतम्।
वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैर्ज्ञातिभिश्चाप्युपागतः ॥ ३४ ॥
ततो निषादाधिपतिं दृष्ट्वा दूरादुपस्थितम्।
सह सौमित्रिणा रामः समागच्छद् गुहेन सः ॥ ३५ ॥
तमार्तः सम्परिष्वज्य गुहो राघवमब्रवीत्।
यथायोध्या तथेदं ते राम किं करवाणि ते ॥ ३६ ॥
ईदृशं हि महाबाहो कः प्राप्स्यत्यतिथिं प्रियम्।
ततो गुणवदन्नाद्यमुपादाय पृथग्विधम् ॥ ३७ ॥
अर्घ्यं चोपानयच्छीघ्रं वाक्यं चेदमुवाच ह।
स्वागतं ते महाबाहो तवेयमखिला मही ॥ ३८ ॥
वयं प्रेष्या भवान् भर्ता साधु राज्यं प्रशाधि नः।
भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च लेह्यं चैतदुपस्थितम्।
शयनानि च मुख्यानि वाजिनां खादनं च ते ॥ ३९ ॥
गुहमेवं ब्रुवाणं तु राघवः प्रत्युवाच ह।
अर्चिताश्चैव हृष्टाश्च भवता सर्वदा वयम् ॥ ४० ॥
पद्भ्यामभिगमाच्चैव स्नेहसंदर्शनेन च।
भुजाभ्यां साधुवृत्ताभ्यां पीडयन् वाक्यमब्रवीत् ॥ ४१ ॥
दिष्ट्या त्वां गुह पश्यामि ह्यरोगं सह बान्धवैः।
अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च वनेषु च ॥ ४२ ॥
यत् त्विदं भवता किंचित् प्रीत्या समुपकल्पितम्।
सर्वं तदनुजानामि नहि वर्ते प्रतिग्रहे ॥ ४३ ॥

हैं आदृत गन्धर्व, नाग, सुर, जो खग, मनुजों, पशुओं द्वारा।
सरित्-वरा कल्याणी-दर्शन-सुख होगा, इस स्थल पर प्यारा।। २९ ।।
अच्छा कह, लक्ष्मण, सुमन्त्र नें, राम-कथन का किया समर्थन।
अश्वों से, इंगुदी-वृक्ष के नीचे आये, फिर प्रसन्न-मन।। ३० ।।
फिर इक्ष्वाकु-वंश-नन्दन वे राम, रम्य तरु-पास पहुँचकर।
आये सीता, लक्ष्मण के संग, अपने रथ से शीघ्र उतरकर।। ३१ ।।
फिर सुमन्त्र ने उत्तम घोड़ों को खोला उस स्थल पर जाकर।
खड़े हुए, कर-बद्ध, मूल-स्थित[1], राम-समीप पुनः वे आकर।। ३२ ।।
था गुह नामक, राम-परमप्रिय, वहाँ निषादज नृप अति उत्तम।
जो शारीरिक, सैन्य-शक्ति-युत, था विश्रुत निषाद-पति सक्षम।। ३३ ।।
पुरुषसिंह श्रीराम, राज्य में मेरे आये, जब सुन पाया।
तब वह, वहाँ बान्धवों एवं वृद्ध मन्त्रियों के सँग आया।। ३४ ।।
उस निषादपति को सुदूर से आया देखा जभी राम ने।
तभी गये वे, स्वयं स-लक्ष्मण, उस निषाद के शीघ्र सामने।। ३५ ।।
वल्कल-धर को देख, दुखी हो, उसने तब फिर हृदय लगाया।
यथा अयोध्या, तथा राज्य यह, रघुपति को यह वचन सुनाया।।
कहें! क्या करूँ? अतिथि कहाँ, कोई पाएगा महाबाहु-सम।
यह कहकर, सेवा में लाया, भाँति-भाँति के भोजन उत्तम।।३६-३७।।
करके अर्घ्य निवेदित उनको, कहा महाबाहो! स्वागत है।
है यह भूमि आपकी! जो भी मेरी अधिकृत सीमा-गत है।।
मैं सेवक हूँ, आप स्वामिजन, शासन करें! राज्य पर मेरे।
भक्ष्य, भोज्य है पेय, लेह्य ये, मधु पदार्थ प्रस्तुत बहुतेरे।।
ये उत्तम शय्याएँ भी हैं, आप सभी के लिए समर्पित।
(घास तथा) चारे अनेक है, नाथ! आपके घोड़ों के हित।।३८-३९।।
तब गुह के ऐसा कहने पर, बोले राम, वचन यह न्यारे।
अति प्रसन्न हूँ, सखे! हो चुके, पूजन, अर्चन कृत्य तुम्हारे।।
पैदल ही आकर तुमने जो मेरे प्रति है स्नेह दिखाया।
यह कह गाढ़ालिंगन करके, उसे राम ने फिर बतलाया।।४०-४१।।
तुम्हें स-बान्धव स्वस्थ देखता, यह है गुह सौभाग्य हमारा।
कहो! राज्य-विपिनों, तव मित्रों मे सर्वत्र कुशल है सारा।। ४२ ।।
प्रेम-वस्तुओं को स्वीकृत कर, आज्ञा देकर मैं लौटाता।
क्योंकि अन्य-प्रद वस्तु न कोई, वन में मैं प्रयोग में लाता।। ४३ ।।

१ वृक्ष की जड़ के समीप।

कुशचीराजिनधरं फलमूलाशनं च माम्।
विद्धि प्रणिहितं धर्मे तापसं वनगोचरम् ॥ ४४ ॥
अश्वानां खादनेनाहमर्थी नान्येन केनचित्।
एतावतात्र भवता भविष्यामि सुपूजितः ॥ ४५ ॥
एते हि दयिता राज्ञः पितुर्दशरथस्य मे।
एतैः सुविहितैरश्वैर्भविष्याम्यहमर्चितः ॥ ४६ ॥
अश्वानां प्रतिपानं च खादनं चैव सोऽन्वशात्।
गुहस्तत्रैव पुरुषांस्त्वरितं दीयतामिति ॥ ४७ ॥
ततश्चीरोत्तरासङ्गः संध्यामन्वास्य पश्चिमाम्।
जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम् ॥ ४८ ॥
तस्य भूमौ शयानस्य पादौ प्रक्षाल्य लक्ष्मणः।
सभार्यस्य ततोऽभ्येत्य तस्थौ वृक्षमुपाश्रितः ॥ ४९ ॥
गुहोऽपि सह सूतेन सौमित्रिमनुभाषयन्।
अन्वजाग्रत् ततो राममप्रमत्तो धनुर्धरः ॥ ५० ॥
तथा शयानस्य ततो यशस्विनो
मनस्विनो दाशरथेर्महात्मनः।
अदृष्टदुःखस्य सुखोचितस्य सा
तदा व्यतीता सुचिरेण शर्वरी ॥ ५१ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

निषादराज गुह के समक्ष लक्ष्मण का विलाप

तं जाग्रतमदम्भेन भ्रातुरर्थाय लक्ष्मणम्।
गुहः संतापसंतप्तो राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥
इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता।
प्रत्याश्वसिहि साध्वस्यां राजपुत्र यथासुखम् ॥ २ ॥
उचितोऽयं जनः सर्वः क्लेशानां त्वं सुखोचितः।
गुप्त्यर्थं जागरिष्यामः काकुत्स्थस्य वयं निशाम् ॥ ३ ॥
नहि रामात् प्रियतमो ममास्ते भुवि कश्चन।
ब्रवीम्येव च ते सत्यं सत्येनैव च ते शपे ॥ ४ ॥
अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन् सुमहद् यशः।
धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थकामौ च पुष्कलौ ॥ ५ ॥

हरिण - चर्म वल्कल - धारी मैं, फल - मूलादिक केवल खाता।
तापस वेषि, विपिन-विचरण, तुम समझो! मैं यह नियम निभाता ॥ ४४ ॥
इनमें है आवश्यक मुझको, अश्वों के खाने का चारा।
प्रिय! समझा सत्कार हमारा पूरा हुआ तुम्हारे द्वारा ॥ ४५ ॥
पिता नृपति दशरथ के ये हैं, घोड़े सभी बहुत ही प्यारे।
इनके खान - पान के उद्यम, समझो पूजन - कार्य हमारे ॥ ४६ ॥
तब गुह ने सत्वर[1] आज्ञा दी, सभी सेवकों को बुलवाकर।
घोड़ों के खाने - पीने के, दो! सामान सभी तुम लाकर ॥ ४७ ॥
की रघुवर ने सायं - संध्या, जो थे वल्कल - उत्तरीय - धर।
फिर भोजन की जगह जल पिया, दिया जिसे लक्ष्मण ने लाकर ॥ ४८ ॥
पत्नी - सहित भूमि पर तृण की शय्या पर लेटे वे रघुवर।
उनके पद धो, वृक्षाश्रय ले, बैठे लक्ष्मण, तब फिर हटकर ॥ ४९ ॥
गुह सतर्क हो, धनुष हाथ ले, हुआ राम - रक्षा में तत्पर।
और सुमन्त्र, सुमित्रा - सुत से, बातें कर जागा रजनी भर ॥ ५० ॥

वे दशरथ - सुत! नहीं, जिन्होंने दुःख कभी भी पाया
तथा मनस्वि यशस्वी ने था, सुख में समय बिताया।
ऐसे राम महात्मा को थी, नींद देर में आई
रजनी बीती तृण-शय्या पर शुभ प्रभात फिर आया ॥ ५१ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में पचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५० ॥

इक्यावनवाँ सर्ग

निषादराज गुह के समक्ष लक्ष्मण का विलाप

लक्ष्मण को भ्रातानुराग से, देख जागते गुह[2], रजनी भर।
बोला रघुनन्दन लक्ष्मण से, मन में ताप बहुत ही भर कर ॥ १ ॥
शय्या है तैयार श्रम-हरी, तात! तुम्हारे लिए नृप-कुँअर।
इस पर कर विश्राम सर्वथा, करो शयन सब विधि से सुखतर ॥ २ ॥
मुझ सेवक-सँग मेरे साथी, वन के कष्ट सभी सह पाते।
सुख के योग्य! आप सो जायें, जाग रहा मैं, रक्षक-नाते ॥ ३ ॥
खाकर शपथ सत्य की, अब मैं सत्य आपसे हूँ बतलाता।
नहीं राम से बढ़कर कोई, अन्य व्यक्ति प्रिय मुझे दिखाता ॥ ४ ॥
इन्हीं राम के ही प्रसाद से, विपुल धर्म, यश मैं पाऊँगा।
प्रचुर अर्थ, सद्भोग्य वस्तुएँ पा, उत्तम नृप कहलाऊँगा ॥ ५ ॥

---
१ शीघ्र ही; २ निषादराज।

सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया।
रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वथा ज्ञातिभिः सह॥ ६॥
न मेऽस्त्यविदितं किंचिद् वनेऽस्मिंश्चरतः सदा।
चतुरङ्गं ह्यतिबलं सुमहत् संतरेमहि॥ ७॥
लक्ष्मणस्तु तदोवाच रक्ष्यमाणास्त्वयानघ।
नात्र भीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता॥ ८॥
कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा॥ ९॥
यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि।
तं पश्य सुखसंसुप्तं तृणेषु सह सीतया॥ १०॥
यो मन्त्रतपसा लब्धो विविधैश्च पराक्रमैः।
एको दशरथस्यैष पुत्रः सदृशलक्षणः॥ ११॥
अस्मिन् प्रव्रजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति।
विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति॥ १२॥
विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः।
निर्घोषोपरतं तात मन्ये राजनिवेशनम्॥ १३॥
कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम।
नाशंसे यदि जीवन्ति सर्वे ते शर्वरीमिमाम्॥ १४॥
जीवेदपि हि मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया।
तद् दुःखं यदि कौसल्या वीरसूर्विनशिष्यति॥ १५॥
अनुरक्तजनाकीर्णा सुखालोकप्रियावहा।
राजव्यसनसंसृष्टा सा पुरी विनशिष्यति॥ १६॥
कथं पुत्रं महात्मानं ज्येष्ठपुत्रमपश्यतः।
शरीरं धारयिष्यन्ति प्राणा राज्ञो महात्मनः॥ १७॥
विनष्टे नृपतौ पश्चात् कौसल्या विनशिष्यति।
अनन्तरं च मातापि मम नाशमुपैष्यति॥ १८॥
अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम्।
राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति॥ १९॥
सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन् काले ह्युपस्थिते।
प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति राघवम्॥ २०॥
रम्यचत्वरसंस्थानां संविभक्तमहापथाम्।
हर्म्यप्रासादसम्पन्नां गणिकावरशोभिताम्॥ २१॥

सपत्नीक सोते राघव की, रक्षा सब विधि यहाँ करूँगा।
बन्धु-बान्धवों सहित धनुष ले, मैं सतर्क होकर विचरूँगा॥ ६ ॥
वन-रहस्य कुछ छिपा न मुझसे, क्योंकि यहाँ मैं करता विचरण।
रिपु-चतुरंग सैन्य-नाशन में, मुझको लगते हैं कुछ ही क्षण॥ ७ ॥
बोले लक्ष्मण, अनघ! तुम्ही हो, जब निषाद-पति धार्मिक त्राता।
तब न हमें है यहाँ कहीं भी, किसी भाँति का भय दिखलाता॥ ८ ॥
किन्तु दाशरथि राम, स-सीता जब भू पर सोएँगे ऐसे।
तब मैं खान, पान, निद्रा-सुख भोग, जिऊँगा बोले कैसे?॥ ९ ॥
रण में जिनके वेग-सहन को, नहीं असुर-सुर सक्षम होते।
देखो! वे ही तृण-शय्या पर, सीता-सँग पृथ्वी पर सोते॥ १० ॥
मन्त्र, मखादिक[1]-विक्रम, नृपवर दशरथ ने है जब करवाया।
उत्तम लक्षण-युत तब अपने, राम ज्येष्ठ सुत को है पाया॥ ११ ॥
उनके वन जाने से, जीवन-शक्ति नृपति की घट जाएगी।
ऐसा लगता यह पृथ्वी दशरथपति-हीना हो जाएगी॥ १२ ॥
अब रनिवास-नारियाँ, करके आर्तनाद होंगी चुप थक कर।
होगा हाहाकार शान्त अब, राजभवन का अतिशय दुखकर॥ १३ ॥
कौसल्या, नृप, मेरी माँ के प्राण बचेंगे आज निशा में।
निश्चय नहीं, समझ सकता मैं, इस संशय से युक्त दिशा में॥ १४ ॥
सम्भव है शत्रुघ्न-प्रतीक्षा में माँ मेरी जी पाएँगी।
वीर राम-माँ, विरह-नष्ट हो, अति दुख-प्रद स्थिति लाएँगी॥ १५ ॥
हैं रामानुरागि[2] जिसमें जन, जो दर्शन-सुख दे पाती है।
नृपति-मृत्यु से वही अयोध्या, क्या नाशस्थिति में आती है॥ १६ ॥
ज्येष्ठ, महात्मा पुत्र राम जब, नहीं देखने में आएँगे।
कैसे महामना दशरथ में, प्राण भला तब टिक पाएँगे॥ १७ ॥
होंगे नष्ट नृपतिवर जब, तब कौसल्या भी मर जाएँगी।
तथा सुमित्रा माँ भी मेरी, नहीं सुजीवित रह पाएँगी॥ १८ ॥
विफल मनोरथ, बिना राम को राज्यस्थित वे किये, नृपतिवर।
प्राणों को त्यागेंगे, 'मेरा सब कुछ नष्ट हुआ', यह कहकर॥ १९ ॥
उनकी मृत्यु-समय में जो भी लोग वहाँ पर आ जाएँगे।
वे ही नृप के प्रेत-कृत्य कर, सुभग मनोरथ को पाएँगे॥ २० ॥
जीवित रहे पिता, तो नगरी में शुभ बाजे बज जायेंगे।
मनिक अटारी, राजमार्ग, औ चबूतरे शोभा पायेंगे॥

---

१ यज्ञ आदि; २ राम में भक्ति रखनेवाले।

रथाश्वगजसम्बाधां तूर्यनादनिनादिताम् ।
सर्वकल्याणसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥ २२ ॥
आरामोद्यानसम्पन्नां समाजोत्सवशालिनीम् ।
सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥ २३ ॥
अपि जीवेद् दशरथो वनवासात् पुनर्वयम् ।
प्रत्यागम्य महात्मानमपि पश्याम सुव्रतम् ॥ २४ ॥
अपिसत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिना वयम् ।
निवृत्ते वनवासेऽस्मिन्नयोध्यां प्रविशेमहि ॥ २५ ॥
परिदेवयमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः ।
तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत ॥ २६ ॥
तथा हि सत्यं ब्रुवति प्रजाहिते
नरेन्द्रसूनौ गुरुसौहृदाद् गुहः ।
मुमोच बाष्पं व्यसनाभिपीडितो
ज्वरातुरो नाग इव व्यथातुरः ॥ २७ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम की आज्ञा से गुह का नाव मँगाना, श्रीराम का सुमन्त्र को समझा-बुझाकर अयोध्यापुरी लौट जाने के लिए आज्ञा देना और माता-पिता आदि से कहने के लिए संदेश सुनाना, सुमन्त्र के वन में ही चलने के लिए आग्रह करने पर श्रीराम का उन्हें युक्तिपूर्वक समझाकर लौटने के लिए विवश करना, फिर तीनों का नाव पर बैठना, सीता की गङ्गाजी से प्रार्थना, नाव से पार उतरकर श्रीराम आदि का वत्सदेश में पहुँचना और सायंकाल में एक वृक्ष के नीचे रहने के लिए जाना

प्रभातायां तु शर्वर्यां पृथुवक्षा महायशाः ।
उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ॥ १ ॥
भास्करोदयकालोऽसौ गता भगवती निशा ।
असौ सुकृष्णो विहगः कोकिलस्तात कूजति ॥ २ ॥
बर्हिणानां च निर्घोषः श्रूयते नदतां वने ।
तराम जाह्नवीं सौम्य शीघ्रगां सागरङ्गमाम् ॥ ३ ॥

होंगे वारांगना - सुशोभित, राजभवन, उद्यान, देव-स्थल।
पिता राजधानी में होगा, गजों, रथाश्वों का मधु कल-कल॥
चौराहों पर पुष्पपुरी में, होंगे सामाजिक उत्सव तब।
स्वस्थ, सुखी होकर विचरेंगे, पुरी अयोध्या के नागर[1] सब॥२१-२३॥
मेरे पिता, लौटकर जाने तक क्या जीवित रह जाएँगे?।
सु-व्रत महात्मा के श्री दर्शन फिर क्या हम सब कर पाएँगे?॥ २४॥
वन-निवास की अवधि-पूर्ति का शुभ अवसर क्या हम पाएँगे?।
सकुशल सत्यप्रतिज्ञ राम-सँग पुरी अयोध्या में आएँगे॥ २५॥
करते रहे विलाप, आर्त हो, महामना वे लक्ष्मण नृप-सुत।
बीती सारी रात्रि, किन्तु वे हुए न कुछ भी निद्रा से युत॥ २६॥

प्रजा-हितैषी, नृप-सुत लक्ष्मण जब यह लगे बताने
लगे भ्रातृ सौहार्द-वशी वे, सत्यस्थिति दिखलाने।
तब निषाद-पति, दुःखप्रपीड़ा से होकर अति व्याकुल
ज्वर-पीड़ित गज-सम, आँखों से आँसू लगा बहाने॥ २७॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त॥ ५१॥

बावनवाँ सर्ग

श्रीराम की आज्ञा से गुह का नाव मँगाना, श्रीराम का सुमन्त्र को समझा-बुझाकर अयोध्यापुरी लौट जाने के लिए आज्ञा देना और माता-पिता आदि से कहने के लिए संदेश सुनाना, सुमन्त्र के वन में ही चलने के लिए आग्रह करने पर श्रीराम का उन्हें युक्तिपूर्वक समझाकर लौटने के लिए विवश करना, फिर तीनों का नाव पर बैठना, सीता की गंगाजी से प्रार्थना, नाव से पार उतरकर श्रीराम आदि का वत्स देश में पहुँचना और सायंकाल में एक वृक्ष के नीचे रहने के लिए आना

बीती रात्रि, और फिर आया, मंगलमय उत्तम प्रभात जब।
बोले राम वृहद् वक्षःस्थल, शुभ लक्षण प्रिय लक्ष्मण से तब॥ १॥
गई भगवती निशा, तात! अब सूर्योदय की वेला आई।
श्यामवर्ण यह कोकिल पक्षी करता है कूजन सुखदाई॥ २॥
केका ध्वनि हो रहीं मयूरों की अव्यक्ता विविधा नाना।
अतः सौम्य! सिन्धु-ग[2] गंगा के पार चाहिए हमको जाना॥ ३॥

---

१ नागरिक जन; २ समुद्र की ओर बहनेवाली।

विज्ञाय रामस्य वचः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः ।
गुहमामन्त्र्य सूतं च सोऽतिष्ठद् भ्रातुरग्रतः ॥ ४ ॥
स तु रामस्य वचनं निशम्य प्रतिगृह्य च ।
स्थपतिस्तूर्णमाहूय सचिवानिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥
अस्यवाहनसंयुक्तां कर्णग्राहवतीं शुभाम् ।
सुप्रतारां दृढां तीर्थे शीघ्रं नावमुपाहर ॥ ६ ॥
तं निशम्य गुहादेशं गुहामात्यो गतो महान् ।
उपोह्य रुचिरां नावं गुहाय प्रत्यवेदयत् ॥ ७ ॥
ततः स प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो राघवमब्रवीत् ।
उपस्थितेयं नौर्देव भूयः किं करवाणि ते ॥ ८ ॥
तवामरसुतप्रख्य तर्तुं सागरगामिनीम् ।
नौरियं पुरुषव्याघ्र शीघ्रमारोह सुव्रत ॥ ९ ॥
अथोवाच महातेजा रामो गुहमिदं वचः ।
कृतकामोऽस्मि भवता शीघ्रमारोप्यतामिति ॥ १० ॥
ततः कलापान् संनह्य खड्गौ बध्वा च धन्विनौ ।
जग्मतुर्येन तां गङ्गां सीतया सह राघवौ ॥ ११ ॥
राममेवं तु धर्मज्ञमुपागत्य विनीतवत् ।
किमहं करवाणीति सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ १२ ॥
ततोऽब्रवीद् दाशरथिः सुमन्त्रं
स्पृशन् करेणोत्तमदक्षिणेन ।
सुमन्त्र शीघ्रं पुनरेव याहि
राज्ञः सकाशे भव चाप्रमत्तः ॥ १३ ॥
निवर्तस्वेत्युवाचैनमेतावद्धि कृतं मम ।
रथं विहाय पद्भ्यां तु गमिष्यामो महावनम् ॥ १४ ॥
आत्मानं त्वभ्यनुज्ञातमवेक्ष्यार्तः स सारथिः ।
सुमन्त्रः पुरुषव्याघ्रमैक्ष्वाकमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥
नातिक्रान्तमिदं लोके पुरुषेणेह केनचित् ।
तव सभ्रातृभार्यस्य वासः प्राकृतवद् वने ॥ १६ ॥
न मन्ये ब्रह्मचर्यं वा स्वधीते वा फलोदयः ।
मार्दवार्जवयोर्वापि त्वां चेद् व्यसनमागतम् ॥ १७ ॥
सह राघव वैदेह्या भ्रात्रा चैव वने वसन् ।
त्वं गतिं प्राप्स्यसे वीर त्रींल्लोकांस्तु जयन्निव ॥ १८ ॥

मित्रानन्दद[1] श्री लक्ष्मण नें, राम-कथन को समझा समुचित ।
कह कर गुह, सुमन्त्र से यह सब, हुए राम-सेवा में संस्थित ॥ ४ ॥
रामाज्ञा को शिरोधार्य कर, और ध्यान में उसको लाकर ।
उस निषाद-पति ने, सचिवों से कहा, शीघ्र ही उन्हें बुलाकर ॥ ५ ॥
सुन्दर, पुष्ट, सुगम खेने में, डाँड़-सहित नौका तुम लाओ ।
जिस पर कर्णधार बैठा हो, उसे घाट पर अब ठहराओ ॥ ६ ॥
तब निषादपति गुह के मन्त्री गये शीघ्र ही आज्ञा पाकर ।
सुन्दर नाव घाट पर लाकर, सूचित किया उन्हें फिर आकर ॥ ७ ॥
हो कर-बद्ध, राम से बोला गुह, नौका है देव ! आ गई ।
अब क्या करूँ ? बताएँ ! कृपया अपनी सेवा और कुछ नई ॥ ८ ॥
देवकुमार - सदृश तेजस्वी, उत्तम व्रतधर राम ! पुरुष-वर ! ।
सिन्धु-ग गंगा-तरण हेतु है नौका आई, बैठें ! इस पर ॥ ९ ॥
कहा, राम अति तेजस्वी ने, हुआ मनोरथ पूर्ण हमारा ।
हे गुह सखे ! शीघ्र उस पर तुम ! अब सामान चढ़ाओ सारा ॥ १० ॥
कवच पहन, दोनों भ्राताओं ने असि, तरकस, धनुष उठाये ।
नियमित पथ से, फिर सीता-सँग, गंगा जी के तट पर आये ॥ ११ ॥
धर्मज्ञाता, राम-पास में, प्रिय सुमन्त्र सारथि आये तब ।
हो विनम्र, कर - बद्ध, राम से पूछा, सेवा बतलाएँ अब ॥ १२ ॥
दशरथ-सुत ने अपने उत्तम, दक्ष[2] हस्त के द्वारा
छू करके उनके शरीर को, यों मृदु वचन उचारा ।
महाराज के पास शीघ्र ही, अब सुमन्त्र जी जाएं
सतर्कता से वहाँ वास कर, समय बिताएँ ! सारा ॥ १३ ॥
बोले— अब तक रथ पर आये केवल पितु-आज्ञा-पालन में ।
जायँ सुमन्त्र ! अवध अब कृपया, पैदल ही जाऊँगा वन में ॥ १४ ॥
सारथि व्याकुल हुए शोक से, गृह जाने की आज्ञा पाकर ।
पुरुषसिंह ऐक्ष्वाक राम से, बोले तब वे शीश झुकाकर ॥ १५ ॥
प्रेरित कर, दैव ने आपको, सानुज-सतिय[3] अरण्य पठाया ।
उसका लंघन, व्यक्ति न कोई, जगती में अब तक कर पाया ॥ १६ ॥
समझ रहा मैं, आप सदृश पर, जब ऐसी संकट-स्थिति आती ।
तब वेदार्जन, दया, सरलता, ब्रह्मचारिता व्यर्थ दिखाती ॥ १७ ॥
सीता, लक्ष्मण-सहित विपिन में, वीर ! व्यतीत दिवस जायेंगे ।
तब त्रैलोक्य-जयी हरि जैसा, अत्युत्कर्ष सुभग पायेंगे ॥ १८ ॥

१ मित्रों को आनन्द देनेवाले; २ दाहिने; ३ छोटे भाई और पत्नी-सहित ।

वयं खलु हता राम ये त्वया ह्युपवञ्चिताः।
कैकेय्या वशमेष्यामः पापाया दुःखभागिनः॥ १९॥
इति ब्रुवन्नात्मसमं सुमन्त्रः सारथिस्तदा।
दृष्ट्वा दूरगतं रामं दुःखार्तो रुरुदे चिरम्॥ २०॥
ततस्तु विगते बाष्पे सूतं स्पृष्टोदकं शुचिम्।
रामस्तु मधुरं वाक्यं पुनः पुनरुवाच तम्॥ २१॥
इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये।
यथा दशरथो राजा मां न शोचेत् तथा कुरु॥ २२॥
शोकोपहतचेताश्च वृद्धश्च जगतीपतिः।
कामभारावसन्नश्च तस्मादेतद् ब्रवीमि ते॥ २३॥
यद् यथा ज्ञापयेत् किंचित् स महात्मा महीपतिः।
कैकेय्याः प्रियकामार्थं कार्यं तदविकाङ्क्षया॥ २४॥
एतदर्थं हि राज्यानि प्रशासति नराधिपाः।
यदेषां सर्वकृत्येषु मनो न प्रतिहन्यते॥ २५॥
यद् यथा स महाराजो नालीकमधिगच्छति।
न च ताम्यति शोकेन सुमन्त्र कुरु तत् तथा॥ २६॥
अदृष्टदुःखं राजानं वृद्धमार्यं जितेन्द्रियम्।
ब्रूयास्त्वमभिवाद्यैव मम हेतोरिदं वचः॥ २७॥
न चाहमनुशोचामि लक्ष्मणो न च शोचति।
अयोध्यायाश्च्युताश्चेति वने वत्स्यामहेति वा॥ २८॥
चतुर्दशसु वर्षेषु निवृत्तेषु पुनः पुनः।
लक्ष्मणं मां च सीतां च द्रक्ष्यसे शीघ्रमागतान्॥ २९॥
एवमुक्त्वा तु राजानं मातरं च सुमन्त्र मे।
अन्याश्च देवीः सहिताः कैकेयीं च पुनः पुनः॥ ३०॥
आरोग्यं ब्रूहि कौसल्यामथ पादाभिवन्दनम्।
सीताया मम चार्यस्य वचनाल्लक्ष्मणस्य च॥ ३१॥
ब्रूयाश्चापि महाराजं भरतं क्षिप्रमानय।
आगतश्चापि भरतः स्थाप्यो नृपमते पदे॥ ३२॥
भरतं च परिष्वज्य यौवराज्येऽभिषिच्य च।
अस्मत्संतापजं दुःखं न त्वामभिभविष्यति॥ ३३॥
भरतश्चापि वक्तव्यो यथा राजनि वर्तसे।
तथा मातृषु वर्तेथाः सर्वास्वेवाविशेषतः॥ ३४॥

राम ! गये मारे हम सब अब, दर्शन-वञ्चित हुए सर्वथा ।
अब कैकेयी-वश में होकर, जाने क्या-क्या सहेंगे व्यथा ॥ १६ ॥
यह कह, आत्म-समान राम को, देख दूर पथ-उद्यत होते ।
सारथि वे सुमन्त्र दुःखाकुल होकर रहे देर तक रोते ॥ २० ॥
रुका आँसुओं का प्रवाह जब, वे सुमन्त्र कर चुके आचमन ।
तब सारथि से मृदुवाणी में, कहा राम ने पुनः यह वचन ॥ २१ ॥
अतुल हितू-ऐक्ष्वाकु, आप ही मुझे देखने में हैं आये ।
ऐसा यत्न करें ! जिससे कुछ, नृप को शोक न होने पाये ॥ २२ ॥
वृद्ध, मनोरथ-चूर्ण नृपति का, हृदय शोक-पीड़ित मैं पाता ।
अतः आपको ! उनको सुस्थिर रखने की मैं बात बताता ॥ २३ ॥
कैकेयी-प्रिय-इच्छा-हित, वे महाराज जो दें आज्ञाएँ ।
मेरा है अनुरोध, आप उन सबका पालन करते जाएं ॥ २४ ॥
इसीलिए नृप राज्य पालने में तत्पर होते हैं आए ।
इच्छा-पूरक किसी कार्य में, विघ्न न उनके डाला जाए ॥ २५ ॥
जिस अप्रिय वार्ता से होकर खिन्न, नृपति दुबले हो जाएँ ।
ध्यान रखें ! ऐसे सुमन्त्र जी ! अवसर कही न आने पाएँ ॥ २६ ॥
उन अदृष्ट-दुख[1], आर्य, जितेन्द्रिय, नृपति-समीप आप जब जाएँ ।
तब उन वृद्ध महीपति को फिर, मेरा नम्र प्रणाम बताएँ ॥ २७ ॥
हम सब हुए अयोध्या-निःसृत, या वन-वासस्थिति है आई ।
इसका शोक न मुझको, एवं नहीं दुखित हैं लक्ष्मण भाई ॥ २८ ॥
चौदह वर्ष पूर्ण होने पर, शीघ्र लौट, हम सब आएँगे ।
तब सीता, लक्ष्मण-संग मुझको, आप देखकर सुख पाएँगे ॥ २६ ॥
महाराज, माता-समीप में, अन्य सभी जो हों माताएँ ।
एवं कैकेयी से मेरा, हे सुमन्त्र जी ! कुशल बताएं ! ॥ ३० ॥
माँ कौसल्या से कहियेगा ! हैं सुत स्वस्थ मुदित रघुनन्दन ।
मेरे सँग, सीता-लक्ष्मण का, कहियेगा ! माँ से पद-वन्दन ॥ ३१ ॥
महाराज से मेरा अभिमत कहें ! भरत को शीघ्र बुलाएँ ।
आने पर, जैसा अभीष्ट, बस शीघ्र राज्य-अभिषेक कराएँ ॥ ३२ ॥
हृदयालिंगन-युत उनको जब, यौवराज्य-पद मिल जायेगा ।
तब न आपको, हम लोगों का विरह-ज[2] दुःख दबा पायेगा ॥ ३३ ॥
कहें ! भरत से, महाराज-प्रति, हो व्यवहार तुम्हारा जैसा ।
तुम्हें चाहिए माताओं के प्रति भी हो, समता में वैसा ॥ ३४ ॥

1 जिन्होंने कभी दुःख नहीं देखा; 2 वियोग से उत्पन्न ।

यथा च तव कैकेयी सुमित्रा चाविशेषतः।
तथैव देवी कौसल्या मम माता विशेषतः॥ ३५॥
तातस्य प्रियकामेन यौवराज्यमवेक्षता।
लोकयोरुभयोः शक्य नित्यदा सुखमेधितुम्॥ ३६॥
निवर्त्यमानो रामेण सुमन्त्रः प्रतिबोधितः।
तत्सर्वं वचनं श्रुत्वा स्नेहात् काकुत्स्थमब्रवीत्॥ ३७॥
यदहं नोपचारेण ब्रूयां स्नेहादविक्लवम्।
भक्तिमानिति तत् तावद् वाक्यं त्वं क्षन्तुमर्हसि॥ ३८॥
कथं हि त्वद्विहीनोऽहं प्रतियास्यामि तां पुरीम्।
तव तात वियोगेन पुत्रशोकातुरामिव॥ ३९॥
सराममपि तावन्मे रथं दृष्ट्वा तदा जनः।
विना रामं रथं दृष्ट्वा विदीर्येतापि सा पुरी॥ ४०॥
दैन्यं हि नगरी गच्छेद् दृष्ट्वा शून्यमिमं रथम्।
सूतावशेषं स्वं सैन्यं हतवीरमिवाहवे॥ ४१॥
दूरेऽपि निवसन्तं त्वां मानसेनाग्रतः स्थितम्।
चिन्तयन्तोऽद्य नूनं त्वां निराहाराः कृताः प्रजाः॥ ४२॥
दृष्टं तद् वै त्वया राम यादृशं त्वत्प्रवासने।
प्रजानां संकुलं वृत्तं त्वच्छोकक्लान्तचेतसाम्॥ ४३॥
आर्तनादो हि यः पौरैरुन्मुक्तस्त्वत्प्रवासने।
सरथं मां निशाम्यैव कुर्युः शतगुणं ततः॥ ४४॥
अहं किं चापि वक्ष्यामि देवीं तव सुतो मया।
नीतोऽसौ मातुलकुलं संतापं मा कृथा इति॥ ४५॥
असत्यमपि नैवाहं ब्रूयां वचनमीदृशम्।
कथमप्रियमेवाहं ब्रूयां सत्यमिदं वचः॥ ४६॥
मम तावन्नियोगस्थास्त्वद्बन्धुजनवाहिनः।
कथं रथं त्वया हीनं प्रवाक्ष्यन्ति हयोत्तमाः॥ ४७॥
तन्न शक्ष्याम्यहं गन्तुमयोध्यां त्वदृतेऽनघ।
वनवासानुयानाय मामनुज्ञातुमर्हसि॥ ४८॥
यदि मे याचमानस्य त्यागमेव करिष्यसि।
सरथोऽग्निं प्रवेक्ष्यामि त्यक्तमात्र इह त्वया॥ ४९॥

निज माता कैकेयी का जो स्थान समक्ष में तुमको आता।
वही सुमित्रा, कौसल्या को भी देना! यह उचित दिखाता॥ ३५ ॥
यौवराज्य स्वीकृत करके तुम! पूज्य-पिता-प्रिय इच्छा द्वारा।
राज्य सँभालोगे तो होगा, तुमको लोकद्वय-सुख सारा॥ ३६ ॥
जब सुमन्त्र से राम, इस तरह कह कर लगे उन्हें लौटाने।
सुनकर तब सुमन्त्र रघुवर को, बड़े स्नेह से लगे बताने॥ ३७ ॥
स्वामी-प्रति, सत्कृत वार्ता जो होती सेवक से अवसर पर।
उसे स्नेह-वश कर न सकूँ तो, तात! क्षमें[1] निज भक्त समझकर॥ ३८ ॥
पुत्र-वियोगिनि माता जैसी, पुरी अयोध्या जो दुख पाती।
उसमें लौटूँ, विना आपके, शक्ति न मुझमें है दिखलाती॥ ३९ ॥
आते समय राम-राजित[2] रथ, देख चुके हैं जो नागर[3] सब।
आप-रहित, वह पुरी, पौरजन-हृदय-विदारक ही होगा तब॥ ४० ॥
सूत शेष[4]! हत रथी[5]! देख रथ, होती दुखिता सेना जैसे।
पुरी अयोध्या दीना होगी, विना आपके, रथ से वैसे॥ ४१ ॥
आप प्रजा के हृदयस्थित[6] हैं, अतः दूर भी पास दिखाते।
पौर[7] आपका चिन्तन करते हुए न होगे कुछ अब खाते॥ ४२ ॥
राम! आपके वन आने के समय प्रजा का क्रन्दन सारा।
जो कुछ हुआ, उसे तो निश्चित देखा गया आपके द्वारा॥ ४३ ॥
पौर जनों से, पुरक्रमण[8] के समय हुआ जो क्रन्दन सारा।
वही सौ गुना होगा, रथ को देख, आपसे रहित दुबारा?॥ ४४ ॥
क्या कौसल्या से कह दूँगा, प्रभु को मामा-गृह पहुँचाया।
अतः न हों संतप्त, प्रिय कथन में नितान्त मिथ्या की छाया॥ ४५ ॥
सुत को विपिन भेज कर आया, यह कटु अप्रिय सत्य दिखाता।
अतः कहूँगा क्या? जाकर मैं, नहीं समझ में मेरे आता॥ ४६ ॥
जो कि आपके बन्धुजनों का, करते वहन ममाज्ञा पाकर।
उत्तमाश्व वे कब जाएँगे? पुरी. आपको विना बिठाकर॥ ४७ ॥
अनघ[9]! आपके विना, अयोध्या में जाने का हो न रहा मन।
अतः मुझे भी वन चलने की आज्ञा दें! कृपया रघुनन्दन!॥ ४८ ॥
मुझे याचना करने पर भी, यदि त्यागेंगे, आप पुरुष-वर!।
तो रथ-सहित, अग्नि में प्रविशित होऊँगा, परित्यक्त[10] समझकर॥ ४९ ॥

---

१ क्षमा करें; २ श्रीराम से सुशोभित; ३ नागरिक; ४ केवल सारथी बचा हो; ५ रथ के स्वामी के मारे जाने पर; ६ हृदय में सर्वदा वास करनेवाले; ७ अयोध्या-नगर-निवासी; ८ नगर से निकलते समय; ९ निष्पाप; १० अपने को त्यागा हुआ समझकर।

भविष्यन्ति वने यानि तपोविघ्नकराणि ते ।
रथेन प्रतिबाधिष्ये तानि सर्वाणि राघव ॥ ५० ॥
त्वत्कृतेन मया प्राप्तं रथचर्याकृतं सुखम् ।
आशंसे त्वत्कृतेनाहं वनवासकृतं सुखम् ॥ ५१ ॥
प्रसीदेच्छामि तेऽरण्ये भवितुं प्रत्यनन्तरः ।
प्रीत्याभिहितमिच्छामि भव मे प्रत्यनन्तरः ॥ ५२ ॥
इमेऽपि च हया वीर यदि ते वनवासिनः ।
परिचर्यां करिष्यन्ति प्राप्स्यन्ति परमां गतिम् ॥ ५३ ॥
तव शुश्रूषणं मूर्ध्ना करिष्यामि वने वसन् ।
अयोध्यां देवलोकं वा सर्वथा प्रजहाम्यहम् ॥ ५४ ॥
नहि शक्या प्रवेष्टुं सा मयायोध्या त्वया विना ।
राजधानी महेन्द्रस्य यथा दुष्कृतकर्मणा ॥ ५५ ॥
वनवासे क्षयं प्राप्ते ममैष हि मनोरथः ।
यदनेन रथेनैव त्वां वहेयं पुरीं पुनः ॥ ५६ ॥
चतुर्दश हि वर्षाणि सहितस्य त्वया वने ।
क्षणभूतानि यास्यन्ति शतसङ्ख्यानि चान्यथा ॥ ५७ ॥
भृत्यवत्सल तिष्ठन्तं भर्तृपुत्रगते पथि ।
भक्तं भृत्यं स्थितं स्थित्या न मा त्वं हातुमर्हसि ॥ ५८ ॥
एवं बहुविधं दीनं याचमानं पुनः पुनः ।
रामो भृत्यानुकम्पी तु सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ ५९ ॥
जानामि परमां भक्तिमहं ते भर्तृवत्सल ।
शृणु चापि यदर्थं त्वां प्रेषयामि पुरीमितः ॥ ६० ॥
नगरीं त्वां गतं दृष्ट्वा जननी मे यवीयसी ।
कैकेयी प्रत्ययं गच्छेदिति रामो वनं गतः ॥ ६१ ॥
विपरीते तुष्टिहीना वनवासं गते मयि ।
राजानं नातिशङ्केत मिथ्यावादीति धार्मिकम् ॥ ६२ ॥
एष मे प्रथमः कल्पो यदम्बा मे यवीयसी ।
भरतारक्षितं स्फीतं पुत्रराज्यमवाप्स्यते ॥ ६३ ॥
मम प्रियार्थं राज्ञश्च सुमन्त्र त्वं पुरीं व्रज ।
संदिष्टश्चापि यानर्थांस्तांस्तान् ब्रूयास्तथा तथा ॥ ६४ ॥
इत्युक्त्वा वचनं सूतं सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ।
गुहं वचनमक्लीबो रामो हेतुमदब्रवीत् ॥ ६५ ॥

तप में विघ्न डालने को जो आएँगे, वन-जन्तु विलक्षण।
राम! उन्हें मैं दूर करूँगा, अपने इस रथ से ही तत्क्षण॥ ५० ॥
सुखी हुआ, पा कृपा आपकी, राम! आपको वन में लाकर।
आशा करता, पुनः अनुग्रह-सुख पाऊँगा, वन संग जाकर॥ ५१ ॥
सँग, वन-रहने की इच्छा है, सुप्रसन्न हो, आज्ञा दे दें।
कह दें! वन में रहो साथ तुम (तथा साथ में मुझको ले लें)॥ ५२ ॥
वीर! अश्व ये, सेवा करने को विपिनों में यदि जाएँगे।
तो मेरा विश्वास अटल है, दिव्य परम गति ये पाएँगे॥ ५३ ॥
प्रभो! आपकी वन में सेवा नित्य करूँगा तन-मन द्वारा।
तथा अयोध्या, देव-लोक का भी त्यागूँगा मैं सुख सारा॥ ५४ ॥
नहीं राजधानी महेन्द्र की, अ-सदाचारी[1] पाता जैसे।
जा न सकूँगा पुरी अयोध्या में मैं भी बस राघव वैसे॥ ५५ ॥
अभिलाषा है वन-निवास की. अवधि बिताऊँ, वन-सँग जाकर।
और ले चलूँ, पुनः अयोध्या, नाथ! आपको रथ-बिठलाकर॥ ५६ ॥
होगी चौदह क्षणों-सदृश ही चौदह वर्ष-अवधि तब सारी।
किन्तु आपके विना चतुर्दश-सौ वर्षों-सी होगी भारी॥ ५७ ॥
आप, भक्त-प्रिय मम स्वामी-सुत! तव पथ पर चलने को तत्पर।
मैं मर्यादित भक्त, भृत्य[2] हूँ, अतः न त्यागें मुझको, रघुवर!॥ ५८ ॥
बार-बार अति दीन वचन जब, वे सुमन्त्र जी रहे सुनाते।
तब बोले श्रीराम, सेवकों पर सदैव जो कृपा दिखाते॥ ५९ ॥
स्वामि-भक्ति, मुझ पर सनेह तव, भलीभाँति मैं इनका ज्ञाता।
फिर भी अवध-गमन तव क्यों? यह हे सुमन्त्र! मैं हूँ बतलाता॥ ६० ॥
आप नगर में जब जाएँगे, तब माता कैकेयी-मन को।
होगा दृढ़ विश्वास, राम अब चले गये हैं निश्चय वन को॥ ६१ ॥
अथवा, मेरे वन जाने पर भी न तुष्ट वह हो पाएँगी।
सशंकिता वह, धार्मिक नृप को, मिथ्यावादी बतलाएँगी॥ ६२ ॥
है उद्देश्य यही, छोटी माँ कैकेयी, रक्षित सुत द्वारा।
वैभवशाली भरत-राज्य को, करें हस्तगत निश्चय सारा॥ ६३ ॥
हे सुमन्त्र! नृप-प्रिय करने को आप अवश्य अयोध्या जायें।
एवं जिसके हेतु कहा जो, उसको वह सन्देश सुनायें॥ ६४ ॥
दी सुमन्त्र को बहुत सान्त्वना, रामचन्द्र ने ऐसा कहकर।
युक्ति-युक्त वार्ता बोले फिर, स-उत्साह गुह से वे रघुवर॥ ६५ ॥

---

१ सदाचारहीन; २ सेवक।

नेदानीं गुह योग्योऽयं वासो मे सजने वने ।
अवश्यमाश्रमे वासः कर्तव्यस्तद्गतो विधिः ॥ ६६ ॥
सोऽहं गृहीत्वा नियमं तपस्विजनभूषणम् ।
हितकामः पितुर्भूयः सीताया लक्ष्मणस्य च ॥ ६७ ॥
जटाः कृत्वा गमिष्यामि न्यग्रोधक्षीरमानय ।
तत्क्षीरं राजपुत्राय गुहः क्षिप्रमुपाहरत् ॥ ६८ ॥
लक्ष्मणस्यात्मनश्चैव रामस्तेनाकरोज्जटाः ।
दीर्घबाहुर्नरव्याघ्रो जटिलत्वमधारयत् ॥ ६९ ॥
तौ तदा चीरसम्पन्नौ जटामण्डलधारिणौ ।
अशोभेतामृषिसमौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ७० ॥
ततो वैखानसं मार्गमास्थितः सहलक्ष्मणः ।
व्रतमादिष्टवान् रामः सहायं गुहमब्रवीत् ॥ ७१ ॥
अप्रमत्तो बले कोशे दुर्गे जनपदे तथा ।
भवेथा गुह राज्यं हि दुरारक्षतमं मतम् ॥ ७२ ॥
ततस्तं समनुज्ञाप्य गुहमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
जगाम तूर्णमव्यग्रः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ७३ ॥
स तु दृष्ट्वा नदीतीरे नावमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
तितीर्षुः शीघ्रगां गङ्गामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७४ ॥
आरोह त्वं नरव्याघ्र स्थितां नावमिमां शनैः ।
सीतां चारोपयान्वक्षं परिगृह्य मनस्विनीम् ॥ ७५ ॥
स भ्रातुः शासनं श्रुत्वा सर्वमप्रतिकूलयन् ।
आरोप्य मैथिलीं पूर्वमारुरोहात्मवांस्ततः ॥ ७६ ॥
अथारुरोह तेजस्वी स्वयं लक्ष्मणपूर्वजः ।
ततो निषादाधिपतिर्गुहो ज्ञातीनचोदयत् ॥ ७७ ॥
राघवोऽपि महातेजा नावमारुह्य तां ततः ।
ब्रह्मवत्क्षत्रवच्चैव जजाप हितमात्मनः ॥ ७८ ॥
आचम्य च यथाशास्त्रं नदीं तां सह सीतया ।
प्रणमत्प्रीतिसंतुष्टो लक्ष्मणश्च महारथः ॥ ७९ ॥
अनुज्ञाय सुमन्त्रं च सबलं चैव तं गुहम् ।
आस्थाय नावं रामस्तु चोदयामास नाविकान् ॥ ८० ॥
ततस्तैश्चालिता नौका कर्णधारसमाहिता ।
शुभस्पयवेगाभिहता शीघ्रं सलिलमत्यगात् ॥ ८१ ॥
मध्यं तु समनुप्राप्य भागीरथ्यास्त्वनिन्दिता ।
वैदेही प्राञ्जलिर्भूत्वा तां नदीमिदमब्रवीत् ॥ ८२ ॥

नित जनपद-जन आना-जाना, यह वनवास न मुझे सुहाता।
जटा-शीश-धर, निर्जन वन में अब रहना स-युक्ति दिखलाता ॥ ६६ ॥
पिता-हितेच्छा से है मुझको, तापस जन का नियम निभाना।
सीता-लक्ष्मण की अनुमति से, तप-आभूषण केश रखाना॥
केश हो सकें जटा-रूप में, बड़ का दूध अतः दो! लाकर।
दिया राम को, गुह ने बड़ का दूध, शीघ्र ही आज्ञा पाकर ॥६७-६८॥
लक्ष्मण सहित राम ने तब कीं निर्मित, दिव्य जटाएँ उससे।
हुए जटाधारी पुरुषोत्तम महाबाहु (ऋषियों-सम) जिससे ॥ ६९ ॥
किया राम-लक्ष्मण ने वल्कल वसन, जटामण्डल धारण जब।
पाने लगे महा ऋषियों-सम शोभा दोनों ही भाई तब ॥ ७० ॥
वान-प्रस्थ-मार्गाश्रय उत्तम, लिया राम-लक्ष्मण ने हितकर।
और सहायक गुह से बोले, वानप्रस्थ-व्रती, श्री रघुवर ॥ ७१ ॥
राज्य, कोष, सेना, दुर्गादिक-प्रति सतर्क हो! कार्य चलाना।
क्योंकि, निषादाधिप! इन सबका रक्षण कठिन गया है माना ॥ ७२ ॥
वे इक्ष्वाकु-मोह-प्रद, गुह से विदा माँग, आज्ञा यह देकर।
विना व्यग्रता शीघ्र चल पड़े सीता, लक्ष्मण को सँग लेकर ॥ ७३ ॥
नदी-तीर, इक्ष्वाकु राम ने नौका लगी देख, समयोचित।
बोले फिर वे रामचन्द्र प्रभु, लक्ष्मण को करके सम्बोधित ॥ ७४ ॥
नृवर! मनस्विनि सीता को तुम! धीरे से इस पर बिठलाओ।
तदनन्तर तुम स्वयं शीघ्र ही, नौका पर सवार हो जाओ! ॥ ७५ ॥
सुनकर भ्रातादेश, वशी[1] उन लक्ष्मण ने कर्तव्य निभाया।
पहले सिय को आरूढ़ किया[2] फिर निज आसन वहाँ जमाया ॥ ७६ ॥
सबके बाद, राम तेजस्वी लक्ष्मण के भ्राता बैठे तब।
बन्धुजनों से कहा, निषादाधिप ने फिर, नौका खेओ अब! ॥ ७७ ॥
तत्पश्चात् महातेजस्वी राम, नाव पर तब विराजकर।
ब्राह्मण, क्षत्रिय-योग्य, वेद के 'नौकारोहण मंत्र' जपे फिर ॥ ७८ ॥
किया आचमन, शास्त्र-विधा से, सीता-सह होकर प्रसन्न मन।
और महारथ लक्ष्मण-सँग फिर, किया भक्ति से गंगा-विनमन ॥ ७९ ॥
कहा राम ने फिर, सुमन्त्र, गुह, सेना इन सबसे, तुम जाओ।
भलीभाँति फिर बैठ, स्वयं भी, मल्लाहों से कहा, चलाओ ॥ ८० ॥
कर्णधार-सञ्चालन[3] में फिर मल्लाहों ने नाव चलाई।
सुन्दर डाँड़ों से नौका वह, जल पर, तीव्रा गति से धाई ॥ ८१ ॥
वैदेही सीता ने गंगा-मध्य धार में तब फिर आकर।
हाथ जोड़कर, गंगा-स्तुति की, भक्ति-भावना मन में लाकर ॥ ८२ ॥

१ मन को वश में रखनेवाले; २ सवार कराया; ३ कुशल नाविक की देखरेख।

पुत्रो दशरथस्यायं महाराजस्य धीमतः।
निदेशं पालयत्वेनं गङ्गे त्वदभिरक्षितः॥ ८३॥
चतुर्दश हि वर्षाणि समग्राण्युष्य कानने।
भ्रात्रा सह मया चैव पुनः प्रत्यागमिष्यति॥ ८४॥
ततस्त्वां देवि सुभगे क्षेमेण पुनरागता।
यक्ष्ये प्रमुदिता गङ्गे सर्वकामसमृद्धिनी॥ ८५॥
त्वं हि त्रिपथगे देवि ब्रह्मलोकं समक्षसे।
भार्या चोदधिराजस्य लोकेऽस्मिन् सम्प्रदृश्यसे॥ ८६॥
सा त्वां देवि नमस्यामि प्रशंसामि च शोभने।
प्राप्तराज्ये नरव्याघ्रे शिवेन पुनरागते॥ ८७॥
गवां शतसहस्रं च वस्त्राण्यन्नं च पेशलम्।
ब्राह्मणेभ्यः प्रदास्यामि तव प्रियचिकीर्षया॥ ८८॥
सुराघटसहस्रेण मांसभूतौदनेन च*।
यक्ष्ये त्वां प्रीयतां देवि पुरीं पुनरुपागता॥ ८९॥
यानि त्वत्तीरवासीनि दैवतानि च सन्ति हि।
तानि सर्वाणि यक्ष्यामि तीर्थान्यायतनानि च॥ ९०॥
पुनरेव महाबाहुर्मया भ्रात्रा च संगतः।
अयोध्यां वनवासात् तु प्रविशत्वनघोऽनघे॥ ९१॥
तथा सम्भाषमाणा सा सीता गङ्गामनिन्दिता।
दक्षिणा दक्षिणं तीरं क्षिप्रमेवाभ्युपागमत्॥ ९२॥
तीरं तु समनुप्राप्य नावं हित्वा नरर्षभः।
प्रातिष्ठत सह भ्रात्रा वैदेह्या च परंतपः॥ ९३॥
अथाब्रवीन्महाबाहुः सुमित्रानन्दवर्धनम्।
भव संरक्षणार्थाय सजने विजनेऽपि वा॥ ९४॥
अवश्यं रक्षणं कार्यं मद्विधैर्विजने वने।
अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु॥ ९५॥
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सीतां त्वां चानुपालयन्।
अन्योन्यस्य हि नो रक्षा कर्तव्या पुरुषर्षभ॥ ९६॥

---

* इस श्लोक में आये हुए 'सुराघटसहस्रेण' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—सुरेषु देवेषु न घटन्ते न सन्तीत्यर्थः, तेषां सहस्रं तेन सहस्रसंख्याकसुरदुर्लभपदार्थेनेत्यर्थः। 'मांसभूतौदनेन' की व्युत्पत्ति इस प्रकार समझनी चाहिए—मांसभूतौदनेन मा नास्ति अंसो राजभागो यस्यां सा एव भूः पृथ्वी च क्षतं वस्त्रं च ओदनं च एतेषां समाहारः, तेन च त्वां यक्ष्ये।

गंगे! सुधी, नृपति दशरथ-सुत, पिताऽऽदेश से वन को जाते।
कृपा करें! ये रहें सुरक्षित तथा पिताज्ञा रहें निभाते॥ ८३ ॥
विपिन-वास करने के चौदह वर्ष पूर्ण जब हो जाएँगे।
तब ये, मेरे तथा भ्रातृ-सँग, पुनः अयोध्या में आएँगे॥ ८४ ॥
सुभगे! गंगे! वन से जब ये, लौटेंगे सकुशल रघुनन्दन।
तब मैं सफल मनोरथ वाली, होकर मुदित करूंगी पूजन॥ ८५ ॥
स्वर्ग, धरा, पाताल तथा है ब्रह्मलोक में गमन तुम्हारा।
सिन्धु-राज-पत्नी-स्वरूप में, देख रहा तुमको जग सारा॥ ८६ ॥
लेंगे राज्य, पुरुषवर जब ये, राम, शोभने! वन से आकर।
तब मैं सीता, स्तवन करूँगी, पुनः आपको शीश झुकाकर॥ ८७ ॥
गौएँ एक लक्ष मैं दूँगी, विप्रों को, तव प्रसन्नता-हित।
उत्तम अन्न-वस्त्र भी दूँगी यथाशक्ति संख्या में अगणित॥ ८८ ॥
हो प्रसन्न तुम देवि! तुम्हें मैं, राज्य-भाग से रहित सवथा।
दूँगी, सुर-दुर्लभ पदार्थ, भू, वसन, अन्न, पुर लौट के तथा[1]॥ ८९ ॥
जो हैं तीर्थ, देवता-मन्दिर, उत्तम तट पर देवि! तुम्हारे।
पूजे जाएँगे, पुर आने पर, मेरे द्वारा वे सारे॥ ९० ॥
अनघे[2]! गंगे! कृपा करो अब, सकुशल वन का समय बितायें।
महाबाहु श्रीराम, भ्रातृ औ मेरे सहित अवध को आयें॥ ९१ ॥
पत्यनुकूला साध्वी सु-सती, सीता गंगा-स्तुति विनम्र कर।
बहुत शीघ्र ही दक्षिण-तट पर रामादिक-सँग पहुँचीं आकर॥ ९२ ॥
शत्रु ताप-प्रद, नृवर राम ने, नाव छोड़ दी तट पर आकर।
फिर लक्ष्मण-सीता के सँग वे, आगे चले, सु-अवसर पाकर॥ ९३ ॥
तथा सुमित्रा-सुत लक्ष्मण से बोले महाबाहु रघुनन्दन।
सीता-रक्षण-तत्पर रहना! वन जन-युत हो अथवा निर्जन॥ ९४ ॥
हमें चाहिए, निर्जन वन में, नारी-रक्षा कार्य निभायें।
अतः तुम चलो आगे-आगे, पीछे-पीछे सीता आयें॥ ९५ ॥
मैं, सीता के सहित तुम्हारी रक्षा करने, पीछे आता।
सदा सचेत परस्पर रक्षा, यह उपाय समुचित दिखलाता॥ ९६ ॥

---

१ गीताप्रेस ने इस प्रकार टिप्पणी दी है— "इस श्लोक···यक्ष्ये"। परन्तु मेरी समझ में यह भ्रष्टमार्ग के किसी मांसाहारी पथभ्रष्ट द्वारा प्रक्षिप्त श्लोक है। प्रमाण मे इसी सर्ग का अन्तिम श्लोक संख्या १०२ देखिये। आखेट में अनेक जन्तु प्राप्त होने पर भी राम ने कन्द-मूल का ही आहार किया। गीताप्रेस पृष्ठ ३३८, सर्ग ५५, श्लोक १९ भी अवलोकनीय है। वहाँ यमुना का पूजन करते समय सीता ने ऐसी अवाञ्छनीय भेटों की चर्चा नहीं की; २ पापहारिणी, निष्पाप।

न हि तावदतिक्रान्तासुकरा काचन क्रिया ।
अद्य दुःखं तु वैदेही वनवासस्य वेत्स्यति ॥ ९७ ॥
प्रणष्टजनसम्बाधं क्षेत्रारामविवर्जितम् ।
विषमं च प्रपातं च वनमद्य प्रवेक्ष्यति ॥ ९८ ॥
श्रुत्वा रामस्य वचनं प्रतस्थे लक्ष्मणोऽग्रतः ।
अनन्तरं च सीताया राघवो रघुनन्दनः ॥ ९९ ॥

गतं तु गङ्गापरपारमाशु
रामं सुमन्त्रः सततं निरीक्ष्य ।
अध्वप्रकर्षाद् विनिवृत्तदृष्टि-
र्मुमोच बाष्पं व्यथितस्तपस्वी ॥ १०० ॥
स लोकपालप्रतिमप्रभाव-
स्तीर्त्वा महात्मा वरदो महानदीम् ।
ततः समृद्धाञ्छुभसस्यमालिनः
क्रमेण वत्सान् मुदितानुपागमत् ॥ १०१ ॥
तौ तत्र हत्वा चतुरो महामृगान्
वराहमृश्यं पृषतं महारुरुम् ।
आदाय मेध्यं त्वरितं बुभुक्षितौ
वासाय काले ययतुर्वनस्पतिम् ॥ १०२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम का राजा को उपालम्भ देते हुए कैकेयी से कौसल्या आदि के अनिष्ट की आशङ्का बताकर लक्ष्मण को अयोध्या लौटाने के लिए प्रयत्न करना, लक्ष्मण का श्रीराम के बिना अपना जीवन असम्भव बताकर वहां जाने से इनकार करना, फिर श्रीराम का उन्हें वनवास की अनुमति देना

स तं वृक्षं समासाद्य संध्यामन्वास्य पश्चिमाम् ।
रामो रमयतां श्रेष्ठ इति होवाच लक्ष्मणम् ॥ १ ॥
अद्येयं प्रथमा रात्रिर्याता जनपदाद् बहिः ।
या सुमन्त्रेण रहिता तां नोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २ ॥
जागर्तव्यमतन्द्रिभ्यामद्यप्रभृति रात्रिषु ।
योगक्षेमौ हि सीताया वर्तेते लक्ष्मणावयोः ॥ ३ ॥

हुआ न दुष्कर कार्य अभी तक, होंगे कष्ट प्राप्त अब अभिनव।
अब वैदेही को होगा, वन-कष्टों का वास्तव में अनुभव ॥ ९७ ॥
अब न मिलेंगे खेत, बगीचे, जन-पद-चिह्न कहीं भी वन में।
ऊँची, नीची, गड्ढोंवाली, भू पर होगा भय निर्जन में ॥ ९८ ॥
सीता के आगे लक्ष्मण तब, राम-वार्ता सुनकर आये।
दोनों के पीछे तब रघुकुलनन्दन ने निज चरण बढ़ाये ॥ ९९ ॥

गंगा-पार, देखने में वे, राम जहाँ तक आये
थे सुमन्त्र तब तक, उनकी ही ओर सु-दृष्टि लगाये।
वन-पथ-दूर गमन से, ओझल हुए दृष्टि से जब वे
तब सुमन्त्र अति व्यथित तपस्वी ने नयनाश्रु बहाये ॥ १०० ॥

राम महात्मा लोकपाल-सम, सुप्रभावि[1] वरदाता
नदी पार, जनपद समृद्ध था वत्स (प्रयाग) दिखाता।
उसमें आये, जिसकी पृथ्वी थी धन-धान्याच्छन्ना[2]
एवं जिसमें जन-समूह था, हृष्ट-पुष्ट-अति भाता ॥ १०१ ॥

भ्राताओं ने, मृगया-रञ्जन में जो वन-मृग पाये
पृषत, वराह, महारुरु, ऋष्यों-ऊपर बाण चलाये।
क्षुधा-शान्ति-हित, कन्द, मूल, फल, फिर सायं ले करके
सीता के सँग, तरु के नीचे वे विराम-हित आये ॥ १०२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
बावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५२ ॥

तिरपनवाँ सर्ग

श्रीराम का राजा को उपालम्भ देते हुए कैकेयी से कौसल्या आदि के अनिष्ट की आशङ्का बताकर लक्ष्मण को अयोध्या लौटाने के लिए प्रयत्न करना, लक्ष्मण का श्रीराम के बिना अपना जीवन असम्भव बताकर वहाँ जाने से इनकार करना, फिर श्रीराम का उन्हे वनवास की अनुमति देना

लोकाभिराम श्रीराम, वृक्ष के नीचे कर संध्या-वन्दन।
बोले श्री लक्ष्मण से ऐसे, उस अवसर पर श्री रघुनन्दन ॥ १ ॥
जनपद से बाहर सुमन्त्र से रहित रात्रि यह पहली आई।
यहाँ न नागर[3] सुख-सुविधा की चिन्ता करना, लक्ष्मण भाई ! ॥ २ ॥
दोनों भ्राताओं को होकर निरालस्य अद्यावधि[4] प्रति क्षण।
रात्रि-जागरण कर, सीता का योगक्षेम उचित है, लक्ष्मण ! ॥ ३ ॥

---

1 प्रभावशाली; 2 धन-धान्य से भरी-पूरी; 3 नागरिक जीवन की; 4 आज से।

रात्रिं कथंचिदेवेमां सौमित्रे वर्तयामहे ।
अपवर्तामहे भूमावास्तीर्य स्वयमर्जितः ॥ ४ ॥
स तु संविश्य मेदिन्यां महार्हशयनोचितः ।
इमाः सौमित्रये रामो व्याजहार कथाः शुभाः ॥ ५ ॥
ध्रुवमद्य महाराजो दुःखं स्वपिति लक्ष्मण ।
कृतकामा तु कैकेयी तुष्टा भवितुमर्हति ॥ ६ ॥
सा हि देवी महाराजं कैकेयी राज्यकारणात् ।
अपि न च्यावयेत् प्राणान् दृष्ट्वा भरतमागतम् ॥ ७ ॥
अनाथश्च हि वृद्धश्च मया चैव विना कृतः ।
किं करिष्यति कामात्मा कैकेय्या वशमागतः ॥ ८ ॥
इदं व्यसनमालोक्य राज्ञश्च मतिविभ्रमम् ।
काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः ॥ ९ ॥
को ह्यविद्वानपि पुमान् प्रमदायाः कृते त्यजेत् ।
छन्दानुवर्तिनं पुत्रं तातो मामिव लक्ष्मण ॥ १० ॥
सुखी बत सुभार्यश्च भरतः केकयीसुतः ।
मुदितान् कोसलानेको यो भोक्ष्यत्यधिराजवत् ॥ ११ ॥
स हि राज्यस्य सर्वस्य सुखमेकं भविष्यति ।
ताते तु वयसातीते मयि चारण्यमाश्रिते ॥ १२ ॥
अर्थधर्मौ परित्यज्य यः काममनुवर्तते ।
एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा ॥ १३ ॥
मन्ये दशरथान्ताय मम प्रव्राजनाय च ।
कैकेयी सौम्य सम्प्राप्ता राज्याय भरतस्य च ॥ १४ ॥
अपीदानीं तु कैकेयी सौभाग्यमदमोहिता ।
कौसल्यां च सुमित्रां च सा प्रबाधेत मत्कृते ॥ १५ ॥
मातास्मत्कारणाद् देवी सुमित्रा दुःखमावसेत् ।
अयोध्यामित एव त्वं काले प्रविश लक्ष्मण ॥ १६ ॥
अहमेको गमिष्यामि सीतया सह दण्डकान् ।
अनाथाया हि नाथस्त्वं कौसल्याया भविष्यसि ॥ १७ ॥
क्षुद्रकर्मा हि कैकेयी द्वेषादन्यायमाचरेत् ।
परिदद्याद्धि धर्मज्ञ गरं ते मम मातरम् ॥ १८ ॥
नूनं जात्यन्तरे तात स्त्रियः पुत्रैर्वियोजिताः ।
जनन्या मम सौमित्रे तदद्यैतदुपस्थितम् ॥ १९ ॥

संग्रह करके स्वयं पत्र, तृण, भू-शय्या पर हम सोवेंगे।
सौमित्रे! निशि आज हम सभी किसी भाँति पूरी कर लेंगे॥ ४ ॥
बहुमूल्या शय्या पर जो थे पहले सदा बिताते रातें।
वे लक्ष्मण से भू-स्थित होकर, राम कर रहे थे शुभ बातें॥ ५ ॥
आज बिताते होंगे नृपवर, निश्चय लक्ष्मण! दुख से सोकर।
कैकेयी सन्तुष्टा होगी, निश्चय सफल मनोरथ होकर॥ ६ ॥
ऐसा हो न कहीं, कैकेयी देख, भरत निज सुत को आया।
राज्य-हेतु प्राणों से वंचित कर दे नृप को (कुटिला जाया)॥ ७ ॥
रक्षक-हीन, अनाथ नृपति हैं, वृद्ध, विरह से कष्टित मेरे।
कैकेयी के वशी नृपतिवर होंगे अति असमर्थ घनेरे[1]॥ ८ ॥
देखी नृप-मति-भ्रान्ति तथा जो संकट है मुझ पर यह आया।
उससे, मैंने धर्म, अर्थ से, गौरव अधिक काम का पाया॥ ९ ॥
लक्ष्मण! त्याग किया है मेरा, आज पिता जी ने यह जैसे।
अज्ञ[2] कौन होगा? आज्ञा कर सुत का त्याग करे जो ऐसे॥ १० ॥
कैकेयी-सुत भरत सुखी हैं और सुभाग्या पत्नीवाले।
जो सु-हृष्ट जन-युत कौसल के होंगे नृपति तथा रखवाले॥ ११ ॥
वृद्ध पिता जी हुए, और अब मैं भी हूँ इस वन में आया।
एक मात्र अति श्रेष्ठ राज्य का भोग भरत ही ने अब पाया॥ १२ ॥
सच है, अर्थ, धर्म-त्यागी जब काम-फन्द के पीछे जाता।
वह भूपतिवत् संकट में पड़, अतिशय कष्ट सुनिश्चित पाता॥ १३ ॥
करके नृप का अन्त, सौम्यवर! मुझे भेजकर ऐसे वन में।
आई, भरत-राज्य देने को, कैकेयी बस राजभवन में॥ १४ ॥
सम्भव है, अब वह कैकेयी, निज सौभाग्य-दर्प में आये।
मेरे विना सुमित्रा एवं कौसल्या को दुख पहुँचाये॥ १५ ॥
रहना होगा अम्ब सुमित्रा को पीड़ित हो मेरे द्वारा।
इससे पुरी अयोध्या, प्रातः लक्ष्मण शुभ है गमन तुम्हारा॥ १६ ॥
निःसहाय कौसल्या के तुम होगे वहाँ सहायक उत्तम।
होऊँगा मैं अब एकाकी, सीता-सँग, वन-यात्रा-सक्षम॥ १७ ॥
कैकेयी, धर्मज्ञ! क्षुद्र है, जो कि द्वेष-वश, सब कर लेगी।
मेरी और तुम्हारी माँ को अवसर पर वह विष भी देगी॥ १८ ॥
लक्ष्मण! मम माता ने पहले, होगा, पुत्र-वियोग कराया।
उसी पाप से पुत्र-विरह का उन पर यह अवसर है आया॥ १९ ॥

---

१ अत्यधिक; २ नासमझ।

मया हि चिरपुष्टेन दुःखसंवर्धितेन च।
विप्रयुज्यत कौसल्या फलकाले धिगस्तु माम् ॥ २० ॥
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम्।
सौमित्रे योऽहमम्बाया दद्मि शोकमनन्तकम् ॥ २१ ॥
मन्ये प्रीतिविशिष्टा सा मत्तो लक्ष्मण सारिका।
यत्तस्याः श्रूयते वाक्यं शुक पादमरेर्दश ॥ २२ ॥
शोचन्त्याश्चाल्पभाग्याया न किंचिदुपकुर्वता।
पुत्रेण किमपुत्राया मया कार्यमरिंदम ॥ २३ ॥
अल्पभाग्या हि मे माता कौसल्या रहिता मया।
शेते परमदुःखार्ता पतिता शोकसागरे ॥ २४ ॥
एको ह्यहमयोध्यां च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
तरेयमिषुभिः क्रुद्धो ननु वीर्यमकारणम् ॥ २५ ॥
अधर्मभयभीतश्च परलोकस्य चानघ।
तेन लक्ष्मण नाद्याहमात्मानमभिषेचये ॥ २६ ॥
एतदन्यच्च करुणं विलप्य विजने बहु।
अश्रुपूर्णमुखो दीनो निशि तूष्णीमुपाविशत् ॥ २७ ॥
विलापोपरतं रामं गतार्चिषमिवानलम्।
समुद्रमिव निर्वेगमाश्वासयत लक्ष्मणः ॥ २८ ॥
ध्रुवमद्य पुरी राम अयोध्याऽऽयुधिनां वर।
निष्प्रभा त्वयि निष्क्रान्ते गतचन्द्रेव शर्वरी ॥ २९ ॥
नैतदौपयिकं राम यदिदं परितप्यसे।
विषादयसि सीतां च मां चैव पुरुषर्षभ ॥ ३० ॥
न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ ॥ ३१ ॥
नहि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परंतप।
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं चापि त्वया विना ॥ ३२ ॥
ततस्तत्र समासीनौ नातिदूरे निरीक्ष्य ताम्।
न्यग्रोधे सुकृतां शय्यां भेजाते धर्मवत्सलौ ॥ ३३ ॥

स लक्ष्मणस्योत्तमपुष्कलं वचो
निशम्य चैवं वनवासमादरात्।
समाः समस्ता विदधे परंतपः
प्रपद्य धर्मं सुचिराय राघवः ॥ ३४ ॥

दुख से पालित, मुझ सुत से जब, सुख पाने का अवसर आया।
धिक् मुझको तब मैंने माँ को, अपने से है अलग हटाया॥ २० ॥
लक्ष्मण! मेरे जैसे सुत को, जन्म न दे, सद्भाग्या माता।
क्योंकि आज मैं अपनी माँ का अमित-अमित हूँ कष्ट-प्रदाता॥ २१ ॥
लक्ष्मण! मुझको है, कौसल्या-प्रियकर्त्री[1] सारिका[2] दिखाती।
'तोते! रिपु-पद-काट', शब्द यह, माँ जिसके मुख से सुन पाती॥ २२ ॥
शत्रु-दमन! दुखिता, दुर्भाग्या, सुत-सुख-हीन, अ-सुत-सी माता।
को मुझ सम, उपकार-हीन सुत से न प्रयोजन कुछ दिखलाता॥ २३ ॥
मुझसे बिछड़ी मन्दभागिनी, माँ कौसल्या दुखिता होतीं।
शोक-सिन्धु में ही वे मानों, आतुर हो करके हैं सोतीं॥ २४ ॥
लक्ष्मण! मैं तो कुपित, शरों से, पुरी, धरणि को निजी बनाता।
किन्तु पारलौकिक साधन में, यह विक्रम है व्यर्थ दिखाता॥ २५ ॥
मैं परलोक, अधर्म आदि से, लक्ष्मण अनघ! सदा भय खाता।
इसीलिए मैं नहीं अयोध्या में अपना अभिषेक कराता॥ २६ ॥
निर्जन वन में बहु बातें कह, किया राम ने करुणा-विलपन।
तथा रात्रि में शान्त हो गये, दीन, साश्रु था उनका सु-वदन[3]॥ २७ ॥
ज्वाला-विना अग्नि एवं हो वेग-विना सागर तब जैसे।
शान्त राम को आश्वासन दे, बोले श्री लक्ष्मण फिर ऐसे॥ २८ ॥
अस्त्र-धारि-वर! आज आपके बाहर आ जाने से ऐसे।
पुरी अयोध्या हुई इस तरह, चन्द्र-हीन रजनी हो जैसे॥ २९ ॥
नृवर राम! यह उचित नहीं है, जो कि आप सतप्त दिखाते।
इससे सीता-सँग मेरा भी, आप अधिक है खेद बढ़ाते॥ ३० ॥
सीता, एवं मैं न जिऊँगा, विना आपके राघव! वैसे।
जल से गये निकाले, जीते नहीं मत्स्य निश्चय ही जैसे॥ ३१ ॥
पिता, स्वर्ग, शत्रुघ्न, सुमित्रा के मैं नहीं चाहता दर्शन।
विना आपके जी न सकूँगा कभी, परंतप, हे रघुनन्दन!॥ ३२ ॥
सीता, राम धर्मवत्सल वे, वट-तरु-निकट वहाँ से जाकर।
शय्या पर सोये, रक्खा था श्री लक्ष्मण ने जिसे बनाकर॥ ३३ ॥

आदरपूर्वक वन जाने को जो लक्ष्मण थे तत्पर
उनकी, राम परंतप ने तब उत्तम बातें सुनकर।
दीर्घ समय तक स्वयं विपिन में रहने का कर निश्चय
अनुमति दे दी, संग चलने को, प्रिय लक्ष्मण को सत्वर॥ ३४ ॥

---

१ भला चाहनेवाली; २ मैना पक्षी; ३ सुन्दर मुखड़ा।

ततस्तु तस्मिन् विजने महाबलौ
महावने राघववंशवर्धनौ।
न तौ भयं सम्भ्रममभ्युपेयतु-
र्यथैव सिंहौ गिरिसानुगोचरौ ॥ ३५ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः

लक्ष्मण और सीता-सहित श्रीराम का प्रयाग में गङ्गा-यमुना-संगम के समीप भरद्वाज-आश्रम में जाना, मुनि के द्वारा उनका अतिथि-सत्कार, उन्हें चित्रकूट पर्वत पर ठहरने का आदेश तथा चित्रकूट की महत्ता एवं शोभा का वर्णन

ते तु तस्मिन् महावृक्षे उषित्वा रजनीं शुभाम्।
विमलेऽभ्युदिते सूर्ये तस्माद् देशात् प्रतस्थिरे ॥ १ ॥
यत्र भागीरथीं गङ्गां यमुनाभिप्रवर्तते।
जग्मुस्तं देशमुद्दिश्य विगाह्य सुमहद् वनम् ॥ २ ॥
ते भूमिभागान् विविधान् देशांश्चापि मनोहरान्।
अदृष्टपूर्वान् पश्यन्तस्तत्र तत्र यशस्विनः ॥ ३ ॥
यथा क्षेमेण सम्पश्यन् पुष्पितान् विविधान् द्रुमान्।
निवृत्तमात्रे दिवसे रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ४ ॥
प्रयागमभितः पश्य सौमित्रे धूममुत्तमम्।
अग्नेर्भगवतः केतुं मन्ये संनिहितो मुनिः ॥ ५ ॥
नूनं प्राप्ताः स्म सम्भेदं गङ्गायमुनयोर्वयम्।
तथाहि श्रूयते शब्दो वारिणोर्वारिघर्षजः ॥ ६ ॥
दारूणि परिभिन्नानि वनजैरुपजीविभिः।
छिन्नाश्चाप्याश्रमे चैते दृश्यन्ते विविधा द्रुमाः ॥ ७ ॥
धन्विनौ तौ सुखं गत्वा लम्बमाने दिवाकरे।
गङ्गायमुनयोः संधौ प्रापतुर्निलयं मुनेः ॥ ८ ॥
रामस्त्वाश्रममासाद्य त्रासयन् मृगपक्षिणः।
गत्वा मुहूर्तमध्वानं भरद्वाजमुपागमत् ॥ ९ ॥
ततस्त्वाश्रममासाद्य मुनेर्दर्शनकाङ्क्षिणौ।
सीतयानुगतौ वीरौ दूरादेवावतस्थतुः ॥ १० ॥
स प्रविश्य महात्मानमृषिं शिष्यगणैर्वृतम्।
संशितव्रतमेकाग्रं तपसा लब्धचक्षुषम् ॥ ११ ॥

शैल-शिखर पर विचरक सिंहों जैसे दोनों भ्राता
वे रघुवंश - विवर्धक, अद्भुत महाबली सुखदाता।
निर्जन वन में निर्भय होकर, रहे साहसी विधिवत्
भय एवं उद्योग, न उनके मन को कभी सताता ॥ ३५ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
तिरपनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५३ ॥

चौवनवाँ सर्ग

लक्ष्मण और सीता-सहित श्रीराम का प्रयाग में गंगा-यमुना-संगम के समीप भरद्वाज-आश्रम में जाना, मुनि के द्वारा उनका अतिथि-सत्कार, उन्हें चित्रकूट पर्वत पर ठहरने का आदेश तथा चित्रकूट की महत्ता एवं शोभा का वर्णन

उस विशाल वट के नीचे ही, वे सब सुन्दर रात्रि बिताकर।
आगे को फिर चले, सु-निर्मल सूर्योदय की वेला पाकर ॥ १ ॥
यमुना मिलतीं जहाँ, त्रिपथगा भागीरथी शुभा गंगा से।
वृहद् विपिन के बीच चल पड़े, उस स्थल को ही पुनः वहाँ से ॥ २ ॥
पहले जो भू-भाग मनोहर नहीं देखने में थे आये।
उन्हें देखते यशी तीन ने धीरे-धीरे पैग बढ़ाये ॥ ३ ॥
कभी बैठते, उठते, चलते, दर्शन तरु, पुष्पों के पाकर।
दिन बीते पर कहा राम ने, प्रिय लक्ष्मण को फिर समझाकर ॥ ४ ॥
सौमित्रे ! यह अग्निदेव का ध्वजवत् अब है धूम्र दिखाता।
यह प्रयाग के पास, लग रहा भरद्वाज ऋषि-आश्रम आता ॥ ५ ॥
निश्चय गंगा-यमुना-संगम-शुभस्थली हम सबने पाई।
सरिताद्वय-जल टकराने का नाद सुनो ! दे रहा सुनाई ॥ ६ ॥
वनज, फूल, फल, काष्ठ-जीविजन[1] द्वारा काटी गईं लकड़ियाँ।
एवं दिखतीं कटी लकड़ियों की आश्रम-ढिग वृक्षावलियाँ[2] ॥ ७ ॥
इस प्रकार बातें करते वे उभय धनुर्धर कुछ चल पाये।
फिर गंगा - यमुना - सगम ढिग भरद्वाज आश्रम पर आये ॥ ८ ॥
आश्रम-सीमा के समीप खग-पशु थे भीत निरख धनुधर को।
घटिका-द्वय पथ, चलकर पहुँचे, भरद्वाज मुनि के आश्रम को ॥ ९ ॥
ऋषि-दर्शन-इच्छुक, जब सिय सँग युगल बन्धु आश्रम पर आये।
खड़े हो गये, कुछ दूरी पर, मुनि-दशन-इच्छा मन लाये ॥ १० ॥
प्रविशित होकर देखा, तप से तीनों कालों के विज्ञाता।
हैं एकाग्रचित्त, व्रतधारी, भरद्वाज ऋषिवर मुनित्राता ॥ ११ ॥

1 लकड़ी आदि से जीविका चलानेवाले; 2 पेड़ों की कतारें।

हुताग्निहोत्रं दृष्ट्वैव महाभागः कृताञ्जलिः।
रामः सौमित्रिणा सार्धं सीतया चाभ्यवादयत् ॥ १२ ॥
न्यवेदयत चात्मानं तस्मै लक्ष्मणपूर्वजः।
पुत्रौ दशरथस्यावां भगवन् रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥
भार्या ममेयं कल्याणी वैदेही जनकात्मजा।
मां चानुयाता विजनं तपोवनमनिन्दिता ॥ १४ ॥
पित्रा प्रव्राज्यमानं मां सौमित्रिरनुजः प्रियः।
अयमन्वगमद् भ्राता वनमेव धृतव्रतः ॥ १५ ॥
पित्रा नियुक्ता भगवन् प्रवेक्ष्यामस्तपोवनम्।
धर्ममेवाचरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः ॥ १६ ॥
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः।
उपानयत धर्मात्मा गामर्घ्यमुदकं ततः ॥ १७ ॥
नानाविधानन्नरसान् वन्यमूलफलाश्रयान्।
तेभ्यो ददौ तप्ततपा वासं चैवाभ्यकल्पयत् ॥ १८ ॥
मृगपक्षिभिरासीनो मुनिभिश्च समन्ततः।
राममागतमभ्यर्च्य स्वागतेनागतं मुनिः ॥ १९ ॥
प्रतिगृह्य तु तामर्चामुपविष्टं स राघवम्।
भरद्वाजोऽब्रवीद् वाक्यं धर्मयुक्तमिदं तदा ॥ २० ॥
चिरस्य खलु काकुत्स्थ पश्याम्यहमुपागतम्।
श्रुतं तव मया चैव विवासनमकारणम् ॥ २१ ॥
अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्योः समागमे।
पुण्यश्च रमणीयश्च वसत्विह भवान् सुखम् ॥ २२ ॥
एवमुक्तस्तु वचनं भरद्वाजेन राघवः।
प्रत्युवाच शुभं वाक्यं रामः सर्वहिते रतः ॥ २३ ॥
भगवन्नित आसन्नः पौरजानपदो जनः।
सुदर्शमिह मां प्रेक्ष्य मन्येऽहमिममाश्रमम् ॥ २४ ॥
आगमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षको जनः।
अनेन कारणेनाहमिह वासं न रोचये ॥ २५ ॥
एकान्ते पश्य भगवन्नाश्रमस्थानमुत्तमम्।
रमते यत्र वैदेही सुखार्हा जनकात्मजा ॥ २६ ॥
एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरद्वाजो महामुनिः।
राघवस्य तु तद् वाक्यमर्थग्राहकमब्रवीत् ॥ २७ ॥

अग्निहोत्र कर, शिष्यावृत[1] हो, बैठे थे आसन पर अपने।
हाथ जोड़ करके प्रणाम तब, उनको किया वहाँ पर सबने॥ १२॥
लक्ष्मण-अग्रज[2] ने ऋषिवर को निज परिचय की बात बताई।
कहा, राम-लक्ष्मण हूँ भगवन्! दशरथ-सुत हम दोनों भाई॥
ये विदेहजा कल्याणी हैं साध्वी पत्नी संग सुहाई।
वे सीता, निर्जन वन में भी, मेरा साथ निभाने आईं॥१३-१४॥
मुझे पिता-आज्ञा-पालन को, वन की ओर देखकर आता।
हुए अनुज वन-व्रती सुमित्रा-सुत भी अनुगामी प्रिय भ्राता॥ १५॥
भगवन्! अतः पिताज्ञा से अब, हम तीनों वन को जाएँगे।
एवं धर्माचारी होकर, वन-फल, मूलादिक खाएँगे॥ १६॥
परम सुधी श्रीराम-वचन सुन, धर्मात्मा मुनिवर के द्वारा।
किया गया आतिथ्य-समादर, गौ, जल अर्घ्यादिक से सारा॥ १७॥
अन्न, वन्य फल, मूल, रसादिक, किये तपस्वी ने फिर अर्पित।
स्थान-व्यवस्था भी तब कर दी, उन तीनों को रुकने के हित॥ १८॥
खग-मृग, ऋषि, मुनि-मध्यस्थित थे वे महर्षिवर आसन-संस्थित।
आश्रम-आगत अतिथि राम को, किया उन्होंने आदृत, सत्कृत॥ १९॥
बैठे रामचन्द्र आसन पर, स्वीकृत कर, स्वागत-क्रम सारा।
कहे गये फिर धर्म वचन ये, भरद्वाज ऋषिवर के द्वारा॥ २०॥
मैं काकुत्स्थ! तुम्हारे आने की कर रहा प्रतीक्षा कब से।
विपिन-वास यह तुम्हें अकारण दिया गया, सुनता हूँ सबसे॥ २१॥
गंगा-यमुना-संगम का है यह एकान्त, पूत[3], स्थल भाता।
सुख से यहाँ रहो! इसमें है दृश्य प्राकृतिक रम्य सुहाता॥ २२॥
सर्व प्राणि-हित-रत्त राघव ने, सुन ऋषि-कथन मधुर यह सारा।
कहा समुत्तर में ऋषिवर से, अपने मृदु वचनों के द्वारा॥ २३॥
भगवन्! नगर और जनपद-जन मुझे पास में जब पाएंगे।
तब वे सब मुझसे मिलने को, बहु संख्या में नित आएँगे॥
स्त्री-समूह भी सीता-दर्शन हेतु रहेगा प्रतिदिन आता।
इस कारण से वास यहाँ का, मुझे न समुचित प्रभो! दिखाता॥२४-२५॥
भगवन्! अब एकान्तस्थल में, कोई वासस्थान बताएँ।
जिसमें सुख-भोग्या वैदेही, प्रसन्नतापूर्वक रह पाएँ॥ २६॥
राम उक्ति शुभ, भरद्वाज मुनि को जब ठीक समझ में आई।
उन्हें रुचिर उद्देश्य-प्राप्ति की राह राम को यों बतलाई॥ २७॥

1 शिष्यों से घिरे हुए; 2 बड़े भाई, राम; 3 पवित्र।

दशक्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन् निवत्स्यसि ।
महर्षिसेवितः पुण्यः पर्वतः शुभदर्शनः ॥ २८ ॥
गोलाङ्गूलानुचरितो वानरर्क्षनिषेवितः ।
चित्रकूट इति ख्यातो गन्धमादनसंनिभः ॥ २९ ॥
यावता चित्रकूटस्य नरः शृङ्गाण्यवेक्षते ।
कल्याणानि समाधत्ते न पापे कुरुते मनः ॥ ३० ॥
ऋषयस्तत्र बहवो विहृत्य शरदां शतम् ।
तपसा दिवमारूढाः कपालशिरसा सह ॥ ३१ ॥
प्रविविक्तमहं मन्ये तं वासं भवतः सुखम् ।
इह वा वनवासाय वस राम मया सह ॥ ३२ ॥
स रामं सर्वकामैस्तं भरद्वाजः प्रियातिथिम् ।
सभार्यं सह च भ्रात्रा प्रतिजग्राह हर्षयन् ॥ ३३ ॥
तस्य प्रयागे रामस्य तं महर्षिमुपेयुषः ।
प्रपन्ना रजनी पुण्या चित्राः कथयतः कथाः ॥ ३४ ॥
सीतातृतीयः काकुत्स्थः परिश्रान्तः सुखोचितः ।
भरद्वाजाश्रमे रम्ये तां रात्रिमवसत् सुखम् ॥ ३५ ॥
प्रभातायां तु शर्वर्यां भरद्वाजमुपागमत् ।
उवाच नरशार्दूलो मुनिं ज्वलिततेजसम् ॥ ३६ ॥
शर्वरीं भगवन्नद्य सत्यशील तवाश्रमे ।
उषिताः स्मोऽह वसतिमनुजानातु नो भवान् ॥ ३७ ॥
रात्र्यां तु तस्यां व्युष्टायां भरद्वाजोऽब्रवीदिदम् ।
मधुमूलफलोपेतं चित्रकूटं व्रजेति ह ॥ ३८ ॥
वासमौपयिकं मन्ये तव राम महाबल ।
नानानगगणोपेतः किंनरोरगसेवितः ॥ ३९ ॥
मयूरनादाभिरतो गजराजनिषेवितः ।
गम्यतां भवता शैलश्चित्रकूटः स विश्रुतः ॥ ४० ॥
पुण्यश्च रमणीयश्च बहुमूलफलायुतः ।
तत्र कुञ्जरयूथानि मृगयूथानि चैव हि ॥ ४१ ॥
विचरन्ति वनान्तेषु तानि द्रक्ष्यसि राघव ।
सरित्प्रस्रवणप्रस्थान् दरीकन्दरनिर्झरान् ।
चरतः सीतया सार्धं नन्दिष्यति मनस्तव ॥ ४२ ॥

तात ! यहाँ से दशक्रोस[1] की दूरी पर है गिरि ऋषि-शोभित।
अति पवित्र, उस पर ही रहना, तुमको होगा, राम ! यथोचित ।। २८ ।।
उस गिरि पर लंगूर, रीछ हैं रहकर विचरण का सुख पाते।
तथा गन्धमादन गिरि जैसा, उसका चित्रकूट बतलाते ।। २९ ।।
चित्रकूट के शिखर-दरस से, पुण्य कर्म-फल मानव पाता।
तदनन्तर वह कभी पाप में, अपना मन है नहीं लगाता ।। ३० ।।
महातपस्वी, केश श्वेत-युत थे कपाल वृद्धों के वैसे।
वहाँ सैकड़ों वर्ष वास कर, गये स्वर्ग को ऋषिवर ऐसे ।। ३१ ।।
मान रहा एकान्त वास-सुख के उसमें हैं गुण बहुतेरे।
उस पर, या फिर विपिन-वास हित, यहीं रहो ! आश्रम में मेरे ।। ३२ ।।
पत्नी, भ्राता - सहित, राम का भरद्वाज ने हर्ष बढ़ाकर।
दीं वाञ्छित आतिश्य वस्तुएँ सभी भाँति की सत्वर लाकर ।। ३३ ।।
ऋषि-समीप, बातें विचित्र बहु, रामचन्द्र ने तब बतलाईं।
इतने में ही, उस प्रयाग में पुण्यमयी श्री रजनी आईं ।। ३४ ।।
परिश्रान्त[2] थे बहुत उस समय, वे काकुत्स्थ वहाँ आश्रम पर।
अतः सहित सीता-लक्ष्मण के सोये निशि में वे जी भर कर ।। ३५ ।।
इस प्रकार वह रात्रि बिताकर, शुभ प्रभात का अवसर पाकर।
ज्वलित तेज, उन भरद्वाज से, नृवर राम बोले फिर आकर ।। ३६ ।।
भगवन् ! आप सत्यवादी हैं, सुख से बीती निशा हमारी।
आज्ञा दें ! गन्तव्य स्थान की, करें हम सभी फिर तैयारी ।। ३७ ।।
निशा-बाद प्रातः ऋषिवर से यह कहने पर राघव द्वारा।
बोले ऋषि वे, बली राम ! है गिरि वह फल-पुष्पान्वित सारा ।। ३८ ।।
राम ! तुम्हारे रहने के उपयुक्त समझ में वह ही आता।
चित्रकूट विख्यात शैल वह, बहु वृक्षों से हरा दिखाता ।।
गजपति करते उसका सेवन, मधु मयूर-कलरव है भाता।
उसमें हैं गन्धर्व, नाग, प्रिय ! जाओ वहीं राम ! सह भ्राता ।।३९-४०।।
है पवित्र, रमणीय, वहाँ पर फल-मूलादिक मिलते प्रति क्षण।
वहाँ हरिण, गज-यूथ सर्वदा, विपिनों में करता है विचरण ।।
रघुनन्दन ! उन सब ही को तुम देखोगे जब भी जाओगे।
मन्दाकिनी, शैल-शिखरों, जल स्रोतों के दर्शन पाओगे ।।
गुफा, कन्दरा एवं झरने तुम्हें देखने में आएँगे।
सीता, लक्ष्मण और तुम्हारे मन को वे सब हर्षाएँगे ।।४१-४२।।

1 बीस मील; 2 थके हुए।

प्रहृष्टकोयष्टिभकोकिलस्वनै-
विनोदयन्तं च सुखं परं शिवम् ।
मृगैश्च मत्तैर्बहुभिश्च कुञ्जरैः
सुरम्यमासाद्य समावसाश्रयम् ॥ ४३ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

भरद्वाज जी का श्रीराम आदि के लिए स्वस्तिवाचन करके उन्हें चित्रकूट का मार्ग बताना, उन सबका अपने ही बनाये हुए बेड़े से यमुना जी को पार करना, सीता की यमुना और श्यामवट से प्रार्थना, तीनों का यमुना के किनारे के मार्ग से एक कोस तक जाकर वन में घूमना-फिरना, यमुना जी के समतल तट पर रात्रि में निवास करना

उषित्वा रजनीं तत्र राजपुत्रावरिंदमौ ।
महर्षिमभिवाद्याथ जग्मतुस्तं गिरिं प्रति ॥ १ ॥
तेषां स्वस्त्ययनं चैव महर्षिः स चकार ह ।
प्रस्थितान् प्रेक्ष्य तांश्चैव पिता पुत्रानिवौरसान् ॥ २ ॥
ततः प्रचक्रमे वक्तुं वचनं स महामुनिः ।
भरद्वाजो महातेजा रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ३ ॥
गङ्गायमुनयोः संधिमासाद्य मनुजर्षभौ ।
कालिन्दीमनुगच्छेतां नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम् ॥ ४ ॥
अथासाद्य तु कालिन्दीं प्रतिस्रोतःसमागताम् ।
तस्यास्तीर्थं प्रचरितं प्रकामं प्रेक्ष्य राघव ।
तत्र यूयं प्लवं कृत्वा तरतांशुमतीं नदीम् ॥ ५ ॥
ततो न्यग्रोधमासाद्य महान्तं हरितच्छदम् ।
परीतं बहुभिर्वृक्षैः श्यामं सिद्धोपसेवितम् ॥ ६ ॥
तस्मिन् सीताञ्जलिं कृत्वा प्रयुञ्जीताशिषां क्रियाम् ।
समासाद्य च तं वृक्षं वसेद् वातिक्रमेत वा ॥ ७ ॥
क्रोशमात्रं ततो गत्वा नीलं प्रेक्ष्य च काननम् ।
सल्लकीबदरीमिश्रं रम्यं वंशैश्च यामुनैः ॥ ८ ॥
स पन्थाश्चित्रकूटस्य गतस्य बहुशो मया ।
रम्यो मार्दवयुक्तश्च दावैश्चैव विवर्जितः ॥ ९ ॥

शैल मनोरञ्जन करता है, यात्रि-जनों का न्यारा
हर्षित टिट्टिभ और कोकिलों के कलरव के द्वारा।
शुभ सुखकर मद-मत्त गज, मृगों से सुरम्यता बढ़ती
उस गिरि पर जाओ! रहकर अब समय बिताओ सारा ॥ ४३ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में चौवनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५४ ॥

पचपनवाँ सर्ग

भरद्वाज जी का श्रीराम आदि के लिए स्वस्तिवाचन करके उन्हें चित्रकूट का मार्ग बताना, उन सबका अपने ही बनाये हुए बेड़े से यमुना जी को पार करना, सीता की यमुना और श्यामवट से प्रार्थना, तीनों का यमुना के किनारे के मार्ग से एक कोस तक जाकर वन में घूमना-फिरना, यमुना जी के समतल तट पर रात्रि में निवास करना

आश्रम में फिर रात्रि बिताकर, शत्रुदमन वे दोनों नृप-सुत।
उन महर्षिवर को प्रणाम कर, चित्रकूट गिरि-ओर चले द्रुत ॥ १ ॥
किया स्वस्तिवाचन महर्षि ने प्रस्थित देख उन्हें फिर वैसे।
औरस सुत - यात्रा - अवसर पर, पिता शुभाशिष् देता जैसे ॥ २ ॥
महातपस्वी तेजवान अति, भरद्वाज जी वे तदनन्तर।
सत्यविक्रमी रामचन्द्र से कहने लगे मनोहर अक्षर ॥ ३ ॥
नृवर! जहाँ संगम पर गंगा मिलती हैं पश्चिम मुख आकर।
पहुँचो यमुना-निकट, वहाँ अब, तुम दोनों ही भाई जाकर ॥ ४ ॥
गंगा - जल - प्रवेग से यमुना विमुख दिशा में बहनेवाली।
जो है, उसके पास देखना! यात्रिक - यातायात[1] प्रणाली ॥
समझ-बूझकर, वहाँ राम! तुम बेड़ा उत्तम एक बनाना।
उससे, रवि-तनया[2] यमुना के पार सुगमता से फिर जाना ॥ ५ ॥
आगे वट-तरु हरित पत्र का बहु तरु-मण्डित है मिल जाता।
सिद्ध पुरुष-सेवित, वह वट-तरु, राम! श्यामवट है कहलाता ॥ ६ ॥
सीता आशीर्वाद - याचना, साञ्जलि करें, वहाँ तरुवर से।
यात्री चाहे तो कुछ रुककर, आगे चले, पुनः उस स्थल से ॥ ७ ॥
उससे एक कोस चलने पर, तुम देखोगे सौम्य! नील वन।
चीड़, बेर-तरु यमुना-तट के, वंश-विपिन[3] से हरता वह मन ॥ ८ ॥
मुझसे बहु प्रयुक्त वह पथ ही, चित्रकूट गिरि को है जाता।
दावानल-भय-हीन, भूमि-तल कोमल अतिशय रम्य दिखाता ॥ ९ ॥

---

१ यात्रियों के आर-पार जाने के घाट आदि की व्यवस्था; २ सूर्य की कन्या; ३ बाँस का वन।

इति पन्थानमादिश्य महर्षिः संन्यवर्तत ।
अभिवाद्य तथेत्युक्त्वा रामेण विनिवर्तितः ॥ १० ॥
उपावृत्ते मुनौ तस्मिन् रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
कृतपुण्याः स्म भद्रं ते मुनिर्यन्नोऽनुकम्पते ॥ ११ ॥
इति तौ पुरुषव्याघ्रौ मन्त्रयित्वा मनस्विनौ ।
सीतामेवाग्रतः कृत्वा कालिन्दीं जग्मतुर्नदीम् ॥ १२ ॥
अथासाद्य तु कालिन्दीं शीघ्रस्रोतस्विनीं नदीम् ।
चिन्तामापेदिरे सद्यो नदीजलतितीर्षवः ॥ १३ ॥
तौ काष्ठसंघाटमथो चक्रतुः सुमहाप्लवम् ।
शुष्कैर्वंशैः समाकीर्णमुशीरैश्च समावृतम् ॥ १४ ॥
ततो वेतसशाखाश्च जम्बुशाखाश्च वीर्यवान् ।
चकार लक्ष्मणश्छित्त्वा सीतायाः सुखमासनम् ॥ १५ ॥
तत्र श्रियमिवाचिन्त्यां रामो दाशरथिः प्रियाम् ।
ईषत्स लज्जमानां तामध्यारोपयत प्लवम् ॥ १६ ॥
पार्श्वे तत्र च वैदेह्या वसने भूषणानि च ।
प्लवे कठिनकाजं च रामश्चक्रे समाहितः ॥ १७ ॥
आरोप्य सीतां प्रथमं संघाटं परिगृह्य तौ ।
ततः प्रतेरतुर्यत्तौ प्रीतौ दशरथात्मजौ ॥ १८ ॥
कालिन्दीमध्यमायाता सीता त्वेनामवन्दत ।
स्वस्ति देवि तरामि त्वां पारयेन्मे पतिर्व्रतम् ॥ १९ ॥
यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च ।
स्वस्ति प्रत्यागते रामे पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम् ॥ २० ॥
कालिन्दीमथ सीता तु याचमाना कृताञ्जलिः ।
तीरमेवाभिसम्प्राप्ता दक्षिणं वरवर्णिनी ॥ २१ ॥
ततः प्लवेनांशुमतीं शीघ्रगामूर्मिमालिनीम् ।
तीरजैर्बहुभिर्वृक्षैः संतेरुर्यमुनां नदीम् ॥ २२ ॥
ते तीर्णाः प्लवमुत्सृज्य प्रस्थाय यमुनावनात् ।
श्यामं न्यग्रोधमासेदुः शीतलं हरितच्छदम् ॥ २३ ॥
न्यग्रोधं समुपागम्य वैदेही चाभ्यवन्दत ।
नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पारयेन्मे पतिर्व्रतम् ॥ २४ ॥
कौसल्यां चैव पश्येम सुमित्रां च यशस्विनीम् ।
इति सीताञ्जलिं कृत्वा पर्यगच्छन्मनस्विनी ॥ २५ ॥

जब महर्षि वे लगे लौटने अपने आश्रम, मार्ग बताकर।
'जाएँ आप!' राम यों बोले, ऋषि-चरणों में शीश झुकाकर॥ १० ॥
कहा राम ने, लखन! कुशल तव! आज कृपालु मुनीश्वर द्वारा।
कृपा हुई अति, इसमें निश्चय संचित है कुछ पुण्य हमारा॥ ११ ॥
बातें करते हुए यशस्वी, इस प्रकार से उभय पुरुष-वर।
सीता जी को आगे करके, गये वहाँ फिर यमुना-तट पर॥ १२ ॥
तीव्र-प्रवाहिनि यमुना-तट पर हुए राम, लक्ष्मण फिर चिन्तित।
क्योंकि विलम्ब पार जाने मे, नही चाहते थे वे किञ्चित॥ १३ ॥
दोनो भ्राताओं ने वन के, सूखे काष्ठ किये एकत्रित।
एवं सूखे बाँस, खसों से, किया उन्होंने बेड़ा निर्मित॥ १४ ॥
जामुन, बेत-टहनियाँ काटी, वहाँ वीर लक्ष्मण ने तब फिर।
तथा बनाया श्री सीता के स्थित होने को आसन सुरुचिर॥ १५ ॥
प्रिय सीता लक्ष्मी-सी, जिनमें लज्जा-भाव मधुर-सा छाया।
उनको ही श्री रामचन्द्र ने उस बेड़े पर प्रथम चढ़ाया॥ १६ ॥
उनके वस्त्राभूषण आदिक, रखी वस्तुएँ उस पर सारी।
सावधान हो खन्ती[1] रक्खी, अज-चमड़े की बनी पिटारी॥ १७ ॥
खेने लगे बिठा सीता को, वे दशरथ-सुत दोनों भाई।
करने लगे पार यमुना को, थी प्रसन्नता उन पर छाई॥ १८ ॥
यमुना-मध्य प्रार्थना की सीता ने, 'जाती पार तुम्हारे।
देवि! स-पति, लक्ष्मण मैं लौटूँ सकुशल, हों व्रत पूर्ण हमारे॥ १९ ॥
इक्ष्वाकुज-पालिता[2] अयोध्या सकुशल लौटेंगे रघुनन्दन।
तब सहस्र गौ, शत घट-सिञ्चन से होगा पूजन, तव वन्दन'॥ २० ॥
करती हुई प्रार्थना सविनय यमुना जी की, हाथ जोड़कर।
परम सुन्दरी सीता पहुँची आकर यमुना-दक्षिण तट पर॥ २१ ॥
तीनों ने यमुना में खेते हुए उसी बेड़े के द्वारा।
तट-तरु-रुचिरा, तरंगिता की कर ली पार तीव्रगा[3] धारा॥ २२ ॥
उस बेड़े को छोड़, नदी-तट-वन को चले वहाँ से रघुवर।
हरित पत्र, शीतल छायायुत, मिला श्यामवट उन्हें मनोहर॥ २३ ॥
फिर सीता ने शीश झुकाकर, किया महत्तम वट का वन्दन।
कहा, कृपा करिये, पति जिससे पूर्ण करे, वन-व्रत रघुनन्दन॥ २४ ॥
साञ्जलि परिक्रमा की वट की, सीता ने यह स्तवन सुनाकर।
कौसल्याम्बा[4] और सुमित्रा यशस्विनी को देखूँ आकर॥ २५ ॥

---

१ कुदाल, खोदने का औजार; २ इक्ष्वाकुवंशी राजाओं द्वारा प्रतिपालित; ३ तेज बहनेवाली; ४ कौसल्या माता।

अवलोक्य ततः सीतामायान्तीमनिन्दिताम् ।
दयितां च विधेयां च रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २६ ॥
सीतामादाय गच्छ त्वमग्रतो भरतानुज ।
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सायुधो द्विपदां वर ॥ २७ ॥
यद् यत् फलं प्रार्थयते पुष्पं वा जनकात्मजा ।
तत् तत् प्रयच्छ वैदेह्या यत्रास्या रमते मनः ॥ २८ ॥
एकैकं पादपं गुल्मं लतां वा पुष्पशालिनीम् ।
अदृष्टरूपां पश्यन्ती रामं पप्रच्छ साबला ॥ २९ ॥
रमणीयान् बहुविधान् पादपान् कुसुमोत्करान् ।
सीतावचनसंरब्ध आनयामास लक्ष्मणः ॥ ३० ॥
विचित्रवालुकजलां हंससारसनादिताम् ।
रेमे जनकराजस्य सुता प्रेक्ष्य तदा नदीम् ॥ ३१ ॥
क्रोशमात्रं ततो गत्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
बहून् मेध्यान् मृगान् हत्वा चेरतुर्यमुनावने ॥ ३२ ॥
विहृत्य ते बर्हिणपूगनादिते
शुभे वने वारणवानरायुते ।
समं नदीवप्रमुपेत्य सत्वरं
निवासमाजग्मुरदीनदर्शनाः ॥ ३३ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

वन की शोभा देखते-दिखाते हुए श्रीराम आदि का चित्रकूट में पहुँचना, वाल्मीकि जी का दर्शन करके श्रीराम की आज्ञा से लक्ष्मण द्वारा पर्णशाला का निर्माण तथा उसकी वास्तुशान्ति करके उन सबका कुटी में प्रवेश

अथ रात्र्यां व्यतीतायामवसुप्तमनन्तरम् ।
प्रबोधयामास शनैर्लक्ष्मणं रघुपुङ्गवः ॥ १ ॥
सौमित्रे शृणु वन्यानां वल्गु व्याहरतां स्वनम् ।
सम्प्रतिष्ठामहे कालः प्रस्थानस्य परंतप ॥ २ ॥
प्रसुप्तस्तु ततो भ्रात्रा समये प्रतिबोधितः ।
जहौ निद्रां च तन्द्रां च प्रसक्तं च परिश्रमम् ॥ ३ ॥
तत उत्थाय ते सर्वे स्पृष्ट्वा नद्याः शिवं जलम् ।
पन्थानमृषिभिर्जुष्टं चित्रकूटस्य तं ययुः ॥ ४ ॥

सती, साध्वी, आज्ञाधीना, प्राण - प्रिया का तरुवर - वन्दन।
तथाऽऽशीष - याचना देखकर, लक्ष्मण से बोले रघुनन्दन ॥ २६ ॥
तुम सीता को आगे लेकर चलो भरत के छोटे भ्राता ! ।
मैं तुम लोगों की रक्षा को, धनुष हाथ ले पीछे आता ॥ २७ ॥
वैदेही जो फूल और फल आदि वस्तुएँ माँगें तुमसे।
उनको देते रहो मुदित कर, तात ! सर्वथा प्रमुदित मन से ॥ २८ ॥
नहीं देखने में आईं जो, झाड़ी, तरुवर, लता पुनीता।
पूछ रही थीं उन सबको वे, रामचन्द्र से अबला सीता ॥ २९ ॥
एवं लक्ष्मण उनसे, जो कुछ लाने की आज्ञा सुन लेते।
उन शाखाओं, पुष्पों, गुच्छों को थे वे लाकर के देते ॥ ३० ॥
सारस-हंसों की कलकल ध्वनि, वालुक[1] औ जलमयी पुनीता।
यमुना के दर्शन सुरम्य थीं जनकसुता कर रहीं सप्रीता ॥ ३१ ॥
हिंसक पशु-वध (पथ में करते) राम, लखन-सँग एक कोस चल।
विचरण किया नदी-तट-विपिनों में भ्राताओं ने फिर सकुशल ॥ ३२ ॥
वे उदार-द्रष्टा, श्री सीता, राम, लखन प्रिय भ्राता
वानर, गज-दल औ मयूर-मृदु कलरव मधुर सुहाता।
उस सुन्दर वन में विचरण कर, यमुना-तट पर आये
वहाँ मिला स्थल समतल उनको, रात्रि-शयन सुख-दाता ॥ ३३ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
पचपनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५५ ॥

छप्पनवाँ सर्ग

वन की शोभा देखते-दिखाते हुए श्रीराम आदि का चित्रकूट में पहुँचना, वाल्मीकि जी का दर्शन करके श्रीराम की आज्ञा से लक्ष्मण द्वारा पर्णशाला का निर्माण तथा उसकी वास्तुशान्ति करके उन सबका कुटी में प्रवेश

श्री रघुकुल-मणि राम जगे जब निशा-पूर्ति पर प्रातः आया।
तब धीरे से श्री लक्ष्मण को, शीघ्र उन्होंने समुद[2] जगाया ॥ १ ॥
सुनो, परंतप सौमित्रे ! शुक - पिक - वनखग - कलरव है छाया।
तात ! करें प्रस्थान यहाँ से अब समुचित अवसर है आया ॥ २ ॥
ठीक समय पर गये जगाये, श्री लक्ष्मण जब अग्रज द्वारा।
तब निद्रा, आलस्य-संग ही मिटा मार्ग-श्रम उनका सारा ॥ ३ ॥
यमुना-शीतल जल में सबने, पुण्य-स्नान का नियम निभाया।
एवं ऋषि, मुनियों से सेवित चित्रकूट का पथ अपनाया ॥ ४ ॥

---

१ बालू, रेत; २ आनन्द-सहित।

ततः सम्प्रस्थितः काले रामः सौमित्रिणा सह।
सीतां कमलपत्राक्षीमिदं वचनमब्रवीत्॥ ५॥
आदीप्तानिव वैदेहि सर्वतः पुष्पितान् नगान्।
स्वैः पुष्पैः किंशुकान् पश्य मालिनः शिशिरात्यये॥ ६॥
पश्य भल्लातकान् बिल्वान् नरैरनुपसेवितान्।
फलपुष्पैरवनतान् नूनं शक्ष्याम जीवितुम्॥ ७॥
पश्य द्रोणप्रमाणानि लम्बमानानि लक्ष्मण।
मधूनि मधुकारीभिः सम्भृतानि नगे नगे॥ ८॥
एष क्रोशति नत्यूहस्तं शिखी प्रतिकूजति।
रमणीये वनोद्देशे पुष्पसंस्तरसंकटे॥ ९॥
मातङ्गयूथानुसृतं पक्षिसंघानुनादितम्।
चित्रकूटमिमं पश्य प्रवृद्धशिखरं गिरिम्॥ १०॥
समभूमितले रम्ये द्रुमैर्बहुभिरावृते।
पुण्ये रंस्यामहे तात चित्रकूटस्य कानने॥ ११॥
ततस्तौ पादचारेण गच्छन्तौ सह सीतया।
रम्यमासेदतुः शैलं चित्रकूटं मनोरमम्॥ १२॥
तं तु पर्वतमासाद्य नानापक्षिगणायुतम्।
बहुमूलफलं रम्यं सम्पन्नसरसोदकम्॥ १३॥
मनोज्ञोऽयं गिरिः सौम्य नानाद्रुमलतायुतः।
बहुमूलफलो रम्यः स्वाजीवः प्रतिभाति मे॥ १४॥
मुनयश्च महात्मानो वसन्त्यस्मिञ्छिलोच्चये।
अयं वासो भवेत् तात वयमत्र वसेमहि॥ १५॥
इति सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः।
अभिगम्याश्रमं सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन्॥ १६॥
तान् महर्षिः प्रमुदितः पूजयामास धर्मवित्।
आस्यतामिति चोवाच स्वागतं तं निवेद्य च॥ १७॥
ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्लक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजः।
संनिवेद्य यथान्यायमात्मानमृषये प्रभुः॥ १८॥
लक्ष्मणानय दारूणि दृढानि च वराणि च।
कुरुष्वावसथं सौम्य वासे मेऽभिरतं मनः॥ १९॥
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सौमित्रिर्विविधान् द्रुमान्।
आजहार ततश्चक्रे पर्णशालामरिंदमः॥ २०॥

श्री लक्ष्मण के साथ वहाँ से हुए राम रघुमणि प्रस्थित[1] जब।
निज पंकज-पत्राक्षि[2] प्रिया श्री सीता जी से बोले वे तब ॥ ५ ॥
ये वसन्त के ढाक प्रफुल्लित वैदेही! जो वृक्ष दिखाते।
वे सब अपने पुष्प-माल्य से लाल, प्रज्वलित स्वयं सुहाते ॥ ६ ॥
निज फल, फूलो से विनमित[3] है, बेल, भिलावे का वन सारा।
जन न पहुँचते, अतः लदे इनसे होगा निर्वाह हमारा ॥ ७ ॥
विटपों पर, मधुमक्खी-पोषित, लटके मधु-छत्ते दिखलाते।
एक-एक से लगभग सोलह सेर शहद इनसे जन पाते ॥ ८ ॥
फूलों-ढकी हुई वन-धरती, सुमनों की वर्षा हो जैसे।
चातक[4] के 'पी-पी' का उत्तर केकारव[5] देता हो, वैसे ॥ ९ ॥
देखो! उन्नत शिखरों वाला चित्रकूट पर्वत यह आया।
गज-समूह जा रहा उधर ही, मधुरिम खग-कलरव हैं छाया ॥ १० ॥
तात! जहाँ की भू समतल है, और जहाँ हैं तरुवर छाये।
चित्रकूट वन में, निवास-विचरण के लक्षण सकल सुहाये ॥ ११ ॥
सीता के सँग, राम और श्री लक्ष्मण पैदल ही चल करके।
यथासमय ऊपर आ पहुँचे, मनहर चित्रकूट गिरिवर के ॥ १२ ॥
थे उसमें स्वादिष्ट जलाशय, फल, मूलान्वित सुखद सुहाता।
उसमें खग-कुल-मोहक कलरव था मंजुल सुनने में आता ॥ १३ ॥
कहा राम ने, सौम्य! तरु, लता से गिरि-सुषमा बढ़ती जाती।
बहु फल, मूलों से जीवन की सुविधा यहाँ समझ में आती ॥ १४ ॥
महामहात्मा, मुनिगण-निवसित अतुलित पुण्यधाम है न्यारा।
है निवास के योग्य, यही अब समुचित वासस्थान हमारा ॥ १५ ॥
सीता, राम और श्री लक्ष्मण, वाल्मीकि-आश्रम में आये।
तथा सभी ने सविनय अपने, ऋषि-चरणों में शीश झुकाये ॥ १६ ॥
वे धर्मज्ञ महर्षि, राम के शुभागमन से हुए सु-प्रमुदित।
और कहा, 'आइये! बैठिये!' तथा किया स्वागत भी समुचित ॥ १७ ॥
महाबाहु श्री रामचन्द्र ने ऋषि को निज परिचय बतलाया।
तथा यथोचित ज्ञापन देकर प्रिय लक्ष्मण को यह समझाया ॥ १८ ॥
वन से सुन्दर पुष्ट लकड़ियाँ लक्ष्मण सौम्य! यहाँ पर लाओ।
मन रहने का यहीं हो रहा, अतः यहाँ पर कुटी बनाओ ॥ १९ ॥
शत्रुदमन लक्ष्मण ने तब फिर रामचन्द्र की वार्ता सुनकर।
तरु-शाखायें काट, बनायी एक पर्णशाला अति सुखकर ॥ २० ॥

१ प्रस्थान किया, चले; २ कमलनयनी; ३ झुके हुए; ४ पपीहा; ५ मोरों की कुहुकन।

तां निष्ठितां बद्धकटां दृष्ट्वा रामः सुदर्शनाम्।
शुश्रूषमाणमेकाग्रमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥
ऐणेयं मांसमाहृत्य शालां यक्ष्यामहे वयम्।
कर्तव्यं वास्तुशमनं सौमित्रे चिरजीविभिः ॥ २२ ॥
मृगं हत्वाऽऽनय क्षिप्रं लक्ष्मणेह शुभेक्षण।
कर्तव्यः शास्त्रदृष्टो हि विधिर्धर्ममनुस्मर ॥ २३ ॥
भ्रातुर्वचनमाज्ञाय लक्ष्मणः परवीरहा।
चकार च यथोक्तं हि तं रामः पुनरब्रवीत् ॥ २४ ॥
ऐणेयं श्रपयस्वैतच्छालां यक्ष्यामहे वयम्।
त्वर सौम्यमुहूर्तोऽयं ध्रुवश्च दिवसो ह्ययम् ॥ २५ ॥
स लक्ष्मणः कृष्णमृगं हत्वा मेध्यं प्रतापवान्।
अथ चिक्षेप सौमित्रिः समिद्धे जातवेदसि ॥ २६ ॥
तत् तु पक्वं समाज्ञाय निष्टप्तं छिन्नशोणितम्।
लक्ष्मणः पुरुषव्याघ्रमथ राघवमब्रवीत् ॥ २७ ॥
अयं सर्वः समस्ताङ्गः शृतः कृष्णमृगो मया।
देवता देवसंकाश यजस्व कुशलो ह्यसि ॥ २८ ॥
रामः स्नात्वा तु नियतो गुणवाञ्जपकोविदः।
संग्रहेणाकरोत् सर्वान् मन्त्रान् सत्रावसानिकान् ॥ २९ ॥
इष्ट्वा देवगणान् सर्वान् विवेशावसथं शुचिः।
बभूव च मनोह्लादो रामस्यामिततेजसः ॥ ३० ॥
वैश्वदेवबलिं कृत्वा रौद्रं वैष्णवमेव च।
वास्तुसंशमनीयानि मङ्गलानि प्रवर्तयन् ॥ ३१ ॥
जपं च न्यायतः कृत्वा स्नात्वा नद्यां यथाविधि।
पापसंशमनं रामश्चकार बलिमुत्तमम् ॥ ३२ ॥
वेदिस्थलविधानानि चैत्यान्यायतनानि च।
आश्रमस्यानुरूपाणि स्थापयामास राघवः ॥ ३३ ॥
तां वृक्षपर्णच्छदनां मनोज्ञां
यथाप्रदेशं सुकृतां निवाताम्।
वासाय सर्वे विविशुः समेताः
सभां यथा देवगणाः सुधर्माम् ॥ ३४ ॥

वर्षादिक-भय हरी, छादिता[1], काष्ठ-भीतिका[2], वह थी रुचिकर।
उसे देख, निज आज्ञापालक लक्ष्मण से बोले श्री रघुवर॥ २१॥
सौमित्रे! गजकन्द-अर्चना, करनी है शाला-देवों-प्रति।
दीर्घ जीवनेच्छुक[3] को करनी है आवश्यक वास्तु-शान्ति[4] अति॥ २२॥
शुभदर्शिन्! गजकन्द खोजकर शीघ्र यहाँ पर अब तुम लाओ।
शास्त्र-विहित धार्मिक कृत्यों के चिन्तन में मन सदा लगाओ॥ २३॥
भ्रातृ-वचन सुन, उन रिपुहर ने कार्य किया तब सत्वर वैसा।
तथा राम ने उन लक्ष्मण से कहा वचन तदनन्तर ऐसा॥ २४॥
लक्ष्मण! शाला-पति देवों के पूजन-हित अब इसे पकाओ।
ध्रुव नक्षत्र-मुहूर्त चल रहा, अतः न इसको सौम्य! बिताओ॥ २५॥
कृष्ण छाल-गजकन्द खोदकर लाये पूत, प्रतापी लक्ष्मण।
और उसे प्रज्वलित अग्नि में डाल दिया विधिपूर्वक तत्क्षण॥ २६॥
रक्त-विकार-विनाशक, उसको भलीभाँति से पका देखकर।
पुरुषसिंह उन रामचन्द्र से लक्ष्मण बोले, मस्तक नत कर॥ २७॥
देवोपम तेजस्वि! राम! यह है विकृतांग-सुधारक[5] उत्तम।
देव-यजन अब करें! आप हैं देव-कार्य में सु-कुशल सक्षम॥ २८॥
शौच-तोष-पालक, स्नापित[6] हो, गुणी राम जप-विधि के ज्ञाता।
करने लगे मन्त्र-जप, जिससे वास्तु यज्ञ[7] पूरा हो पाता॥ २९॥
देवार्चन कर, पूत[8] भाव से, राम हुए कुटिया में प्रविशित।
अति तेजस्वी राम हृदय था उस अवसर पर अतिशय प्रमुदित॥ ३०॥
वैश्वदेव-बलि, रुद्र-याग फिर, वैष्णव मख करके अति उत्तम।
वास्तु-दोष-शान्त्यर्थ राम ने किया मांगलिक पाठ यथाक्रम॥ ३१॥
नदी-स्नान, न्यायतः जाप कर, किया पञ्चसूनादि-शान्तिहित।
रामचन्द्र ने शास्त्र विधा से बलि-सुकृत्य होकर अति प्रमुदित॥ ३२॥
कुटी-स्थान-अनुरूप राम ने कई वेदियाँ कर लीं निर्मित।
एवं चैत्य (गणेशस्थल) सँग, दिव्य आयतन, हरि-निवास-हित॥ ३३॥

उचित स्थान पर वह कुटिया थी छादित पत्तों द्वारा
उस मनोज्ञ में वायु-वेग-हर था प्रबन्ध सब न्यारा।
वास-हेतु रामादिक उसमें हुए उस तरह प्रविशित
यथा सुधर्मा सभा-मध्य है जाता सुर-गण सारा॥ ३४॥

---

१ छायी हुई; २ काठ की दीवारें बनी हुई; ३ अधिक निवास कर जीवन बितानेवाला; ४ गृह-प्रवेश-पूजन; ५ विकृत (बिगड़े) अंगो को सुधारनेवाला; ६ स्नान कर; ७ गृह-प्रवेश कर्म; ८ पवित्र।

सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं
नदीं च तां माल्यवतीं सुतीर्थाम्।
ननन्द हृष्टो मृगपक्षिजुष्टां
जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात्॥ ३५॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः॥ ५६॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

सुमन्त्र का अयोध्या को लौटना, उनके मुख से श्रीराम का संदेश सुनकर पुरवासियों का विलाप, राजा दशरथ और कौसल्या की मूर्च्छा तथा अन्तःपुर की रानियों का आर्तनाद

कथयित्वा तु दुःखार्तः सुमन्त्रेण चिरं सह।
रामे दक्षिणकूलस्थे जगाम स्वगृहं गुहः॥ १॥
भरद्वाजाभिगमनं प्रयागे च सभाजनम्।
आ गिरेर्गमनं तेषां तत्रस्थैरभिलक्षितम्॥ २॥
अनुज्ञातः सुमन्त्रोऽथ योजयित्वा हयोत्तमान्।
अयोध्यामेव नगरीं प्रययौ गाढदुर्मनाः॥ ३॥
स वनानि सुगन्धीनि सरितश्च सरांसि च।
पश्यन् यत्तो ययौ शीघ्रं ग्रामाणि नगराणि च॥ ४॥
ततः सायाह्नसमये द्वितीयेऽहनि सारथिः।
अयोध्यां समनुप्राप्य निरानन्दां ददर्श ह॥ ५॥
स शून्यामिव निःशब्दां दृष्ट्वा परमदुर्मनाः।
सुमन्त्रश्चिन्तयामास शोकवेगसमाहतः॥ ६॥
कच्चिन्न सगजा साश्वा सजना सजनाधिपा।
रामसंतापदुःखेन दग्धा शोकाग्निना पुरी॥ ७॥
इति चिन्तापरः सूतो वाजिभिः शीघ्रयायिभिः।
नगरद्वारमासाद्य त्वरितः प्रविवेश ह॥ ८॥
सुमन्त्रमभिधावन्तः शतशोऽथ सहस्रशः।
क्व राम इति पृच्छन्तः सूतमभ्यद्रवन् नराः॥ ९॥
तेषां शशंस गङ्गायामहमापृच्छ्य राघवम्।
अनुज्ञातो निवृत्तोऽस्मि धार्मिकेण महात्मना॥ १०॥

तीर्थोंवाली माल्यवती[1] से चित्रकूट था भाता
जिसके सेवन को, खग, पशुगण नित्य वहाँ था आता।
गिरि, सरिता-सान्निध्य प्राप्त कर, राम हुए तब प्रमुदित
वे भूले, पुर-विरह कष्ट को (सह सीता, सह भ्राता) ॥३५॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में छप्पनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५६ ॥

सत्तावनवाँ सर्ग

सुमन्त्र का अयोध्या को लौटना, उनके मुख से श्रीराम का संदेश सुनकर पुरवासियों का विलाप, राजा दशरथ और कौसल्या की मूर्च्छा तथा अन्तःपुर की रानियों का आर्तनाद

गंगा जी के दक्षिण तट पर रामचन्द्र जी के जाने पर।
आकुल गुह, सुमन्त्र से बातें करता चला दुखित अपने घर॥ १ ॥
भरद्वाज - आदृत[2] प्रयाग से राघव पहुँचे चित्रकूट तब।
शृंगवेर के गुप्तचरों ने गुह से बतलाया आकर सब॥ २ ॥
यह सुन, गुह से विदा माँगकर, घोड़ों को जोता निज रथ में।
और विवश, आकुल सुमन्त्र वे, चले अयोध्या के ही पथ में॥ ३ ॥
विपिन सुगन्धित, सरित्, सरोवर, ग्राम, नगर पथ में जो आते।
उन्हें देखते हुए सारथी, सावधान होकर थे जाते॥ ४ ॥
शृंगवेर -'यात्रा - द्वितीय दिन, सायं, पुरी अयोध्या आके।
देखा वहाँ, उन्होंने, पुर-जन हर्ष-शून्य हैं सभी वहाँ के॥ ५ ॥
नीरव[3], मानो मनुज-शून्य सी, उस नगरी को तब वे पाके।
चिन्ता करने लगे दुखी हो, देख कष्टमय दृश्य वहाँ के॥ ६ ॥
कहीं राम के विरह-दुःख में, पाकर के पीड़ा अति भारी।
कहीं न दग्ध हुई हो, नृप, गज, अश्व, नरों सँग नगरी सारी॥ ७ ॥
द्रुतगामी[4] अश्वों से पहुँचे, वे सुमन्त्र होकर अति चिन्तित।
नगर-द्वार पर और हुए फिर पुरी अयोध्या में तब प्रविशित[5]॥ ८ ॥
देख सुमन्त्रागमन[6], सहस्रों की संख्या में दौड़े पुर - जन।
रथ-सँग चलते हुए सभी वे लगे पूछने, हो चिन्तित मन॥ ९ ॥
वे बोले, गंगा-तट तक ही, राघव धार्मिक-संग जा पाया।
पुनः महात्माज्ञा से पुरुषो! पाकर विदा यहाँ पर आया॥ १० ॥

१ मन्दाकिनी; २ मुनि से सत्कार पाकर; ३ शब्द नहीं सुनाई देता था; ४ अति वेग से चलनेवाले; ५ प्रवेश किया; ६ सुमंत्र को आया देख।

ते तीर्णा इति विज्ञाय बाष्पपूर्णमुखा नराः ।
अहो धिगिति निःश्वस्य हा रामेति विचुक्रुशुः ॥ ११ ॥
शुश्राव च वचस्तेषां वृन्दं वृन्दं च तिष्ठताम् ।
हताः स्म खलु ये नेह पश्याम इति राघवम् ॥ १२ ॥
दानयज्ञविवाहेषु समाजेषु महत्सु च ।
न द्रक्ष्यामः पुनर्जातु धार्मिकं राममन्तरा ॥ १३ ॥
किं समर्थं जनस्यास्य किं प्रियं किं सुखावहम् ।
इति रामेण नगरं पित्रेव परिपालितम् ॥ १४ ॥
वातायनगतानां च स्त्रीणामन्वन्तरापणम् ।
राममेवाभितप्तानां शुश्राव परिदेवनाम् ॥ १५ ॥
स राजमार्गमध्येन सुमन्त्रः पिहिताननः ।
यत्र राजा दशरथस्तदेवोपययौ गृहम् ॥ १६ ॥
सोऽवतीर्य रथाच्छीघ्रं राजवेश्म प्रविश्य च ।
कक्ष्याः सप्ताभिचक्राम महाजनसमाकुलाः ॥ १७ ॥
हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्याथ समागतम् ।
हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्शिताः ॥ १८ ॥
आयतैर्विमलैर्नेत्रैरश्रुवेगपरिप्लुतैः ।
अन्योन्यमभिवीक्षन्तेऽव्यक्तमार्ततराः स्त्रियः ॥ १९ ॥
ततो दशरथस्त्रीणां प्रासादेभ्यस्ततस्ततः ।
रामशोकाभितप्तानां मन्दं शुश्राव जल्पितम् ॥ २० ॥
सह रामेण निर्यातो विना राममिहागतः ।
सूतः किं नाम कौसल्यां क्रोशन्तीं प्रतिवक्ष्यति ॥ २१ ॥
यथा च मन्ये दुर्जीवमेवं न सुकरं ध्रुवम् ।
आच्छिद्य पुत्रे निर्याते कौसल्या यत्र जीवति ॥ २२ ॥
सत्यरूपं तु तद् वाक्यं राजस्त्रीणां निशामयन् ।
प्रदीप्त इव शोकेन विवेश सहसा गृहम् ॥ २३ ॥
स प्रविश्याष्टमीं कक्ष्यां राजानं दीनमातुरम् ।
पुत्रशोकपरिद्यूनमपश्यत् पाण्डुरे गृहे ॥ २४ ॥
अभिगम्य तमासीनं राजानमभिवाद्य च ।
सुमन्त्रो रामवचनं यथोक्तं प्रत्यवेदयत् ॥ २५ ॥
स तूष्णीमेव तच्छ्रुत्वा राजा विद्रुतमानसः ।
मूर्च्छितो न्यपतद् भूमौ रामशोकाभिपीडितः ॥ २६ ॥

गंगा-पार गये वे तीनों, यह सुन हुए साश्रुमुख[1] वे सब।
कहकर धिक् हा राम! साँस भर, करने लगे सभी क्रन्दन तब॥ ११॥
उन सुमन्त्र ने सुना, कह रहे थे, समूह-स्थित हो वे सारे।
नहीं राम के दर्शन होंगे, अतः गये अब हम सब मारे॥ १२॥
अब विवाह, मख[2], दान, वृहत्तम सामाजिक उत्सव होंगे जब।
देख न पाएँगे हम अपने मध्य राम-सम धार्मिक को तब॥ १३॥
किसको, प्रिय, सुखकरी वस्तु, उपयोगी? यह सदैव उर में धर।
राम, पिता के सदृश, प्रजा के पालन में रहते थे तत्पर॥ १४॥
महलों में महिला-क्रन्दन-ध्वनि, राम-हेतु थी तब जो छाई।
बाज़ारों में वह सुमन्त्र के चलते समय श्रवण[3] में आई॥ १५॥
तथा राज-पथ में सुमन्त्र वे, कपड़े से अपना मुख ढककर।
उसी भवन की ओर चले फिर रथ ले, जिसमें थे भूपतिवर॥ १६॥
पास पहुँचकर, राज-महल में, रथ से उतर हुए वे प्रविशित।
और उन्होंने सात ड्योढ़ियाँ लाँघीं, जो थीं बहुजन-पूरित॥ १७॥
सतमँजिलों में, राम-अदर्शन-कृश[4] बैठी थीं जो महिलाएँ।
वे सारथि को देख, कर रही थीं क्रन्दन हो अति दुखिताएँ॥ १८॥
उनके वृहन्नयन आँसू में डूबे थे कज्जल-विहीन तब।
देख रही थीं, एक दूसरी को, वे आर्ताऽव्यक्ता[5] हो, सब॥ १९॥
भूपति की रानियाँ, भवन में, जो थीं शोक-पीड़िता अति, सब।
यत्र-तत्र उनकी कराह के मन्द शब्द सुन पड़ते थे तब॥ २०॥
राम-साथ जो निकले, वे जब राम-विना सारथि जाएँगे।
नृप-मन्दिर में, तो क्या विलपित कौसल्या को बतलाएँगे॥ २१॥
निश्चय ही दुखिया-जीवन का, कठिन नाश भी है दिखलाता।
तभी सुवन-अभिषेक-विच्युता, जीवित हैं कौसल्या माता॥ २२॥
राजरानियों के वचनों ने, उन सुमन्त्र के शोक बढ़ाये।
दग्ध हृदय होकर, वे सहसा राज-भवन में तब फिर आये॥ २३॥
तथा आठवीं ड्योढ़ी में आ, श्वेत भवन में नृप को पाया।
नृप-मुख, मलिन, दीन, अति आतुर, उन्हें देखने में तब आया॥ २४॥
फिर सुमन्त्र ने नृप को विनमन किया, पास में उनके जाकर।
राम-वचन पूर्वोक्त यथावत्, उनसे कहे सभी समझाकर॥ २५॥
सुनी, शान्त होकर, सुमन्त्र की वार्ता नृप ने व्याकुल मन से।
राम-शोक-सन्तप्त, धरणि पर गिरे (तथा वे जर्जर तन से)॥ २६॥

---

१ आँसुओं से भरे; २ यज्ञ; ३ कानों; ४ राम के दर्शन न होने से दुर्बल;
५ दुखी और मुख से बोल नहीं निकलता था।

ततोऽन्तःपुरमाविद्धं मूर्च्छिते पृथिवीपतौ ।
उच्छ्रित्य बाहू चुक्रोश नृपतौ पतिते क्षितौ ॥ २७ ॥
सुमित्रया तु सहिता कौसल्या पतितं पतिम् ।
उत्थापयामास तदा वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २८ ॥
इमं तस्य महाभाग दूतं दुष्करकारिणः ।
वनवासादनुप्राप्तं कस्मान्न प्रतिभाषसे ॥ २९ ॥
अद्येममनयं कृत्वा व्यपत्रपसि राघव ।
उत्तिष्ठ सुकृतं तेऽस्तु शोके न स्यात् सहायता ॥ ३० ॥
देव यस्या भयाद् रामं नानुपृच्छसि सारथिम् ।
नेह तिष्ठति कैकेयी विश्रब्धं प्रतिभाष्यताम् ॥ ३१ ॥
सा तथोक्त्वा महाराजं कौसल्या शोकलालसा ।
धरण्यां निपपाताशु बाष्पविप्लुतभाषिणी ॥ ३२ ॥
विलपन्तीं तथा दृष्ट्वा कौसल्यां पतितां भुवि ।
पतिं चावेक्ष्य ताः सर्वाः समन्ताद् रुरुदुः स्त्रियः ॥ ३३ ॥
ततस्तमन्तःपुरनादमुत्थितं
समीक्ष्य वृद्धास्तरुणाश्च मानवाः ।
स्त्रियश्च सर्वा रुरुदुः समन्ततः
पुरं तदासीत् पुनरेव संकुलम् ॥ ३४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः

महाराज दशरथ की आज्ञा से सुमन्त्र का श्रीराम और लक्ष्मण के संदेश सुनाना

प्रत्याश्वस्तो यदा राजा मोहात् प्रत्यागतस्मृतिः ।
तदाजुहाव तं सूतं रामवृत्तान्तकारणात् ॥ १ ॥
तदा सूतो महाराजं कृताञ्जलिरुपस्थितः ।
राममेवानुशोचन्तं दुःखशोकसमन्वितम् ॥ २ ॥
वृद्धं परमसंतप्तं नवग्रहमिव द्विपम् ।
विनिःश्वसन्तं ध्यायन्तमस्वस्थमिव कुञ्जरम् ॥ ३ ॥
राजा तु रजसा सूतं ध्वस्ताङ्गं समुपस्थितम् ।
अश्रुपूर्णमुखं दीनमुवाच परमार्तवत् ॥ ४ ॥
क्व नु वत्स्यति धर्मात्मा वृक्षमूलमुपाश्रितः ।
सोऽत्यन्तसुखितः सूत किमशिष्यति राघवः ॥ ५ ॥

नृप-मूर्च्छा से, दुःख-व्यथित तब हुआ वहाँ अन्तःपुर सारा।
गिरते ही चीत्कार हुआ अति, ऊर्ध्वबाहु[1] पुरुषों के द्वारा ॥ २७ ॥
और सुमित्रा-सहायता से, अपने पति को शीघ्र उठाकर।
राम-मातु कौसल्या बोलीं, महाराज से यह समझाकर ॥ २८ ॥
राम-दूत हो, दुष्कर-कर्मा, ये सुमन्त्र आये हैं वन से।
क्यों न वार्ता इनसे करते आप! नृपतिवर! सुस्थिर मन से ॥ २९ ॥
उठिये! सुत को विपिन-वास दे लज्जित क्यों होते हैं? नृपवर!।
लब्ध पुण्य तव दुख से होगे नष्ट सहायक भी निश्चयकर ॥ ३० ॥
राम-वृत्त[2], सारथि से सुनने में है, देव! आपको जो भय।
वह कैकेयी यहाँ नहीं है, अतः सुनें निर्भय हो निश्चय ॥ ३१ ॥
कौसल्या का कण्ठ, अश्रु-अवरुद्ध हुआ, फिर बोल न पाईं।
और शोक से व्याकुल हो वे, गिरकर शीघ्र धरणि पर आईं ॥ ३२ ॥
विलपित, मूर्च्छित, पतित भूमि पर, कौसल्या को देख उस समय।
पति मूर्च्छित लख, सभी रानियाँ रोने लगीं दुखित हो अतिशय ॥ ३३ ॥

अन्तःपुर के आर्तनाद को इस प्रकार से सुनकर
वहाँ रो पड़े, नगर-वृद्ध सब, एवं सभी युवक वर।
चारों ओर नारियाँ भी तब, रोने लगीं नगर की
सारा नगर शोक से व्याकुल था अति, उस अवसर पर ॥ ३४ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५७ ॥

अट्ठावनवाँ सर्ग

महाराज दशरथ की आज्ञा से सुमन्त्र का श्रीराम और लक्ष्मण के संदेश सुनाना

मूर्च्छा विगत, सचेष्ट, सुस्थ[3], मन, जब भूपति ने निज को पाया।
सुनने को वृत्तान्त राम का तब सुमन्त्र को पास बुलाया ॥ १ ॥
राम-शोक-चिन्ता नितान्त में विकल सर्वथा जो दशरथ अब।
हाथ जोड़, उनके समीप में, खड़े हो गये वे सुमन्त्र तब ॥ २ ॥
वन-गज, शीघ्र गृहीत[4] यूथपति-चिन्ता[5] से निःश्वसित हो यथा।
वृद्ध नृपति अस्वस्थ. निःश्वसित[6], तप्त हृदय थे, राम-प्रति तथा ॥ ३ ॥
देखा, सारथि धूल-धूसरित, हैं समक्ष में अश्रु बहाते।
तब नृप ने पूछा उनसे, जो दीन आर्त थे अधिक दिखाते ॥ ४ ॥
तरु-मूलाश्रित राम धार्मिक, वास करेंगे कहाँ? सूत अब।
सुख-पालित, मेरे अति प्यारे, राम भला खायेंगे क्या, कब? ॥ ५ ॥

---

१ दोनों हाथ उठाये हुए; २ राम का हाल-चाल; ३ शांत, सम्हला हुआ; ४ पकड़ लाया गया; ५ अपने झुण्ड के प्रमुख; ६ दुख की साँसें लेते हुए।

दुःखस्यानुचितो दुःखं सुमन्त्र शयनोचितः ।
भूमिपालात्मजो भूमौ शेते कथमनाथवत् ॥ ६ ॥
यं यान्तमनुयान्ति स्म पदातिरथकुञ्जराः ।
स वत्स्यति कथं रामो विजनं वनमाश्रितः ॥ ७ ॥
व्यालैर्मृगैराचरितं कृष्णसर्पनिषेवितम् ।
कथं कुमारौ वैदेह्या सार्धं वनमुपाश्रितौ ॥ ८ ॥
सुकुमार्या तपस्विन्या सुमन्त्र सह सीतया ।
राजपुत्रौ कथं पादैरवरुह्य रथाद् गतौ ॥ ९ ॥
सिद्धार्थः खलु सूत त्वं येन दृष्टौ ममात्मजौ ।
वनान्तं प्रविशन्तौ तावश्विनाविव मन्दरम् ॥ १० ॥
किमुवाच वचो रामः किमुवाच च लक्ष्मणः ।
सुमन्त्र वनमासाद्य किमुवाच च मैथिली ॥ ११ ॥
आसितं शयितं भुक्तं सूत रामस्य कीर्तय ।
जीविष्याम्यहमेतेन ययातिरिव साधुषु ॥ १२ ॥
इति सूतो नरेन्द्रेण चोदितः सज्जमानया ।
उवाच वाचा राजानं स बाष्पपरिबद्धया ॥ १३ ॥
अब्रवीन्मे महाराज धर्ममेवानुपालयन् ।
अञ्जलिं राघवः कृत्वा शिरसाभिप्रणम्य च ॥ १४ ॥
सूत मद्वचनात् तस्य तातस्य विदितात्मनः ।
शिरसा वन्दनीयस्य वन्द्यौ पादौ महात्मनः ॥ १५ ॥
सर्वमन्तःपुरं वाच्यं सूत मद्वचनात् त्वया ।
आरोग्यमविशेषेण यथार्हमभिवादनम् ॥ १६ ॥
माता च मम कौसल्या कुशलं चाभिवादनम् ।
अप्रमादं च वक्तव्या ब्रूयाश्चैनामिदं वचः ॥ १७ ॥
धर्मनित्या यथाकालमग्न्यगारपरा भव ।
देवि देवस्य पादौ च देववत् परिपालय ॥ १८ ॥
अभिमानं च मानं च त्यक्त्वा वर्तस्व मातृषु ।
अनुराजानमार्यां च कैकेयीमम्ब कारय ॥ १९ ॥
कुमारे भरते वृत्तिर्वर्तितव्या च राजवत् ।
अर्थज्येष्ठा हि राजानो राजधर्ममनुस्मर ॥ २० ॥
भरतः कुशलं वाच्यो वाच्यो मद्वचनेन च ।
सर्वास्वेव यथान्यायं वृत्तिं वर्तस्व मातृषु ॥ २१ ॥

दुख-अयोग्य, नृप-शय्या-शायी ने सुमन्त्र! दुख पाया ऐसे।
अब अनाथ-सम, राम नृपति-सुत पृथ्वी पर सोएँगे कैसे?॥ ६ ॥
गज, रथ, पैदल-सेना, जिनकी यात्रा में पीछे थी जाती।
राम, शून्य वन-वासी होंगे कैसे? बात न मति में आती॥ ७ ॥
कृष्ण सर्प-सेवित हिंसक हैं व्याघ्र, सिंह, भीषण वन ऐसे।
उस वन में, दोनों कुमार वे, सीता-संग रहेंगे कैसे?॥ ८ ॥
हे सुमन्त्र! सुकुमारि तपस्विनि सीता-संग वे सुत भूपति के।
रथ से उतर, चले फिर पैदल, वन में कैसे कोमल गात के?॥ ९ ॥
मन्दरगिरि-वन जाते, अश्विनि-पुत्रों[1]-सम, जाते तब वन में।
पुत्रों को तुम देख, सारथे! हुए कृतार्थ परम जीवन में॥ १० ॥
कहा, राम-लक्ष्मण ने तुमसे क्या सुमन्त्र वन में? बतलाओ।
और मैथिली सीता ने सन्देश दिया क्या? मुझे सुनाओ॥ ११ ॥
सूत! कहो, वे राम बैठते, सोते, खाते वन में कैसे?।
यह सुन, जी पाऊँगा, सन्तों में ययाति[2] जीवित थे जैसे॥ १२ ॥
सारथि ने पूछे जाने पर, इस प्रकार भूपति के द्वारा।
कहा, रुँधी वाणी में उनसे, बही नयन से जल की धारा॥ १३ ॥
हे नृप! बोले राम, सदा जो धर्म-पालने में है तत्पर।
दोनों हाथ जोड़ श्रद्धायुत, नतमस्तक होकर, प्रणाम कर॥ १४ ॥
वन्द्य, महात्मा, आत्म-विज्ञ, उन पिता-समीप सूत! जब जाना।
तब उनके सस्तुत्य[3] पदों में, मेरा उन्हें प्रणाम बताना॥ १५ ॥
अन्तःपुर की सब माताओं को मेरा आरोग्य बताकर।
विशेषतः समुचित प्रणाम मम उन सबसे कह देना जाकर॥ १६ ॥
माँ कौसल्या को प्रणाम कह, उनको मेरा कुशल सुनाना।
धर्म-पालने में सतर्क हूँ मैं, उनसे यह भी बतलाना॥ १७ ॥
कहना! रहें धर्म में तत्पर, अग्न्यागार[4] समय से जायें।
नृप को मानें देवि, देवता, उनकी पद-सेवा अपनायें॥ १८ ॥
त्यज मानाभिमान, माताओं से, व्यवहार करें, वे अब सम[5]।
नृप-अनुरागिनि कैकेयी को श्रेष्ठ मान, आदर दें निरुपम॥ १९ ॥
भरतकुमार-संग राजोचित आदर-युत व्यवहार निभायें।
स्वल्पावस्था के भी नृप हैं आदर-योग्य, ध्यान में लायें॥ २० ॥
कहना कुशल भरत से मेरा, फिर मेरा सन्देश सुनाना।
भैया! सब माताओं के प्रति तुम समुचित व्यवहार निभाना॥ २१ ॥

---

१ अश्विनीकुमारों; २ जिस प्रकार राजा ययाति स्वर्ग से आकर सत्संग से पुनः सुखी हुए; ३ वन्दनीय; ४ अग्निहोत्र-स्थल; ५ एक समान।

वक्तव्यश्च महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ।
पितरं यौवराज्यस्थो राज्यस्थमनुपालय ॥ २२ ॥
अतिक्रान्तवया राजा मा स्मैनं व्यपरोरुधः ।
कुमारराज्ये जीवस्व तस्यैवाज्ञाप्रवर्तनात् ॥ २३ ॥
अब्रवीच्चापि मां भूयो भृशमश्रूणि वर्तयन् ।
मातेव मम माता ते दृष्टव्या पुत्रगर्धिनी ॥ २४ ॥
इत्येवं मां महाबाहुब्रुवन्नेव महायशाः ।
रामो राजीवपत्राक्षो भृशमश्रूण्यवर्तयत् ॥ २५ ॥
लक्ष्मणस्तु सुसंक्रुद्धो निःश्वसन् वाक्यमब्रवीत् ।
केनायमपराधेन राजपुत्रो विवासितः ॥ २६ ॥
राज्ञा तु खलु कैकेय्या लघु चाश्रुत्य शासनम् ।
कृतं कार्यमकार्यं वा वयं येनाभिपीडिताः ॥ २७ ॥
यदि प्रव्राजितो रामो लोभकारणकारितम् ।
वरदाननिमित्तं वा सर्वथा दुष्कृतं कृतम् ॥ २८ ॥
इदं तावद् यथाकाममीश्वरस्य कृते कृतम् ।
रामस्य तु परित्यागे न हेतुमुपलक्षये ॥ २९ ॥
असमीक्ष्य समारब्धं विरुद्धं बुद्धिलाघवात् ।
जनयिष्यति संक्रोशं राघवस्य विवासनम् ॥ ३० ॥
अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये ।
भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः ॥ ३१ ॥
सर्वलोकप्रियं त्यक्त्वा सर्वलोकहिते रतम् ।
सर्वलोकोऽनुरज्येत कथं चानेन कर्मणा ॥ ३२ ॥
सर्वप्रजाभिरामं हि रामं प्रव्राज्य धार्मिकम् ।
सर्वलोकविरोधेन कथं राजा भविष्यति ॥ ३३ ॥
जानकी तु महाराज निःश्वसन्ती तपस्विनी ।
भूतोपहतचित्तेव विष्ठिता विस्मृता स्थिता ॥ ३४ ॥
अदृष्टपूर्वव्यसना राजपुत्री यशस्विनी ।
तेन दुःखेन रुदती नैव मां किंचिदब्रवीत् ॥ ३५ ॥
उद्वीक्षमाणा भर्तारं मुखेन परिशुष्यता ।
मुमोच सहसा बाष्पं प्रयान्तमुपवीक्ष्य सा ॥ ३६ ॥

महाबाहु, इक्ष्वाकु-मोद-प्रद भरतराज से यह कहना है।
यौवराज्य-स्थित[1] तुम्हें! पिता नृप-आज्ञा का पालन करना है॥ २२॥
करना नहीं विरोध, वृद्ध नृप का, न राज्य से उन्हें हटाना।
रहकर ही युवराज, नृपति-आज्ञा-पालन कर समय बिताना॥ २३॥
अश्रु बहाकर, मुझे भरत से कहने को सन्देश दिया फिर।
भरत! स्वमाता जैसी, मेरी वत्सल माँ में मति रखना स्थिर॥ २४॥
महाबाहु तब महायशस्वी कमलनयन यह मुझे बताकर।
करने लगे, राम नयनों से अश्रु-वृष्टि अति दुख में आकर॥ २५॥
किन्तु सुमित्रानन्दन ने यह कहा, साँस भरकर (क्रोधित मन)।
क्या अपराध हुआ? किस कारण हुआ राम का यों निष्कासन॥ २६॥
पूर्ण प्रतिज्ञा, नृप ने कर ली, कैकेयी-आदेश-श्रवण कर।
हो अनुचित या उचित, किन्तु यह, हम लोगों को हुआ कष्टकर॥ २७॥
कैकेयी के लोभ, या कि फिर, हो भूपति के वर के द्वारा।
समझ रहा मैं, राम-वनगमन, पाप-कृत्य है निश्चय सारा॥ २८॥
नृप-स्वेच्छाचारिता[2], या कि हो राम-त्याग ईश्वर से प्रेरित।
देता नहीं दिखाई इसमें, मुझको कुछ भी कारण समुचित॥ २९॥
बुद्धि-स्वल्पता-वश[3], विचार-च्युत[4], कार्य राम-वनवास सर्वथा।
है अति निन्दाजनक बढ़ेगी इससे सबमें बहुत ही व्यथा॥ ३०॥
नृप में पिता-भाव अब मुझको नहीं देखने में है आता।
अब मेरे हैं राम, पिता, सद्बन्धु तथा स्वामी, प्रिय त्राता॥ ३१॥
सकल लोक-हित-रत, लोकप्रिय राम-त्याग, यह कार्य नृपति का।
पापयुक्त; कैसे पायेंगे नृप आदर, अनुराग प्रजा का?॥ ३२॥
धार्मिकजन, अभिराम, राम को देश-निकाला देकर ऐसे।
सब लोगों से पा विरोध वे पिता, रहेंगे नृप अब कैसे?॥ ३३॥
थीं सीता निश्चेष्ट, निःश्वसित, तपस्विनीप्रवरा[5] तब ऐसे।
महाराज! वे भूत-ग्रस्त-सी, मानो भूल गईं हों जैसे॥ ३४॥
उन नृप-पुत्री यशस्विनी पर संकट पूर्व न ऐसा आया।
पति-दुख-दुखिता, रुदिता,[6] मुझसे नहीं उन्होंने कुछ बतलाया॥ ३५॥
देखा मुझको वैदेही ने तब, जब लगा यहाँ मैं आने।
सूखा मुख! पति को निहारती सहसा आँसू लगीं बहाने॥ ३६॥

---

१ युवराज पद पर होते हुए; २ राजा की मनमानी; ३ बुद्धि की कमी के कारण; ४ विना विचार किये; ५ श्रेष्ठ तपस्विनी; ६ रोती हुई।

तथैव रामोऽश्रुमुखः कृताञ्जलिः
स्थितोऽब्रवील्लक्ष्मणबाहुपालितः ।
तथैव सीता रुदती तपस्विनी
निरीक्षते राजरथं तथैव माम् ॥ ३७ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

सुमन्त्र द्वारा श्रीराम के शोक से जड़-चेतन एवं अयोध्यापुरी की दुरवस्था का वर्णन तथा राजा दशरथ का विलाप

मम त्वश्वा निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त वर्त्मनि ।
उष्णमश्रु विमुञ्चन्तो रामे सम्प्रस्थिते वनम् ॥ १ ॥
उभाभ्यां राजपुत्राभ्यामथ कृत्वाहमञ्जलिम् ।
प्रस्थितो रथमास्थाय तद्दुःखमपि धारयन् ॥ २ ॥
गुहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवसान् बहून् ।
आशया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति ॥ ३ ॥
विषये ते महाराज महाव्यसनकर्शिताः ।
अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः ॥ ४ ॥
उपतप्तोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च ।
परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च ॥ ५ ॥
न च सर्पन्ति सत्त्वानि व्याला न प्रचरन्ति च ।
रामशोकाभिभूतं तन्निष्कूजमभवद् वनम् ॥ ६ ॥
लीनपुष्करपत्राश्च नद्यश्च कलुषोदकाः ।
संतप्तपद्माः पद्मिन्यो लीनमीनविहंगमाः ॥ ७ ॥
जलजानि च पुष्पाणि माल्यानि स्थलजानि च ।
नातिभान्त्यल्पगन्धीनि फलानि च यथापुरम् ॥ ८ ॥
अत्रोद्यानानि शून्यानि प्रलीनविहगानि च ।
न चाभिरामानारामान् पश्यामि मनुजर्षभ ॥ ९ ॥
प्रविशन्तमयोध्यायां न कश्चिदभिनन्दति ।
नरा राममपश्यन्तो निःश्वसन्ति मुहुर्मुहुः ॥ १० ॥
देव राजरथं दृष्ट्वा विना राममिहागतम् ।
दूरादश्रुमुखः सर्वो राजमार्गे गतो जनः ॥ ११ ॥

राम, कृताञ्जलि[1] बोले यह सब, लक्ष्मण-भुजा-सुरक्षित
अश्रुधार बहती थी उनके मुख पर अमित अपरिमित।
मनस्विनी सीता भी रोती हुई, दुखी नृप-रथ को
कभी देखती थी एवं फिर, कभी मुझे तब प्रस्थित[2] ॥ ३७ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५८ ॥

उनसठवाँ सर्ग

सुमन्त्र द्वारा श्रीराम के शोक से जड़-चेतन एवं अयोध्यापुरी की दुरवस्था का वर्णन तथा राजा दशरथ का विलाप

राघव को वन भेज, लौटकर जब मेरे घोड़े थे आते।
बहा रहे थे उष्ण अश्रु तब और न गति में थे रुचि लाते ॥ १ ॥
प्रस्थित देख, नृपति-पुत्रों को मैंने साञ्जलि[3] शीश झुकाया।
और वियोग-दुःख अति मन में धारण करके रथ पर आया ॥ २ ॥
गुह के साथ कई दिवसों तक बीता समय वहाँ पर रहकर।
इस आशा से, सम्भव है यह मुझको पास बुलायें रघुवर ॥ ३ ॥
महाराज! संकट-वश शासन-तरु, दुर्बल दे रहे दिखाई।
पुष्पांकुर सब म्लान हो रहे, कलियाँ भी लगतीं मुरझाई ॥ ४ ॥
छोटे, बड़े सरोवर, नदियों का पानी हो उठा गरम अब।
सूख गये हैं, वनों-उपवनों के पत्ते भी यहाँ आज सब ॥ ५ ॥
अजगर, सर्प न हटते स्थल से, वन्य-जीव अन्यत्र न जाते।
छोड़ दिया भोजन इन सबने, शब्द-हीन वन सभी दिखाते ॥ ६ ॥
नदियों का जल मलिन हो गया, गले सरोवर-कमल-पत्र अब।
उनके सूखे कमल, निवासी मत्स्य और खग मरते हैं सब ॥ ७ ॥
स्वल्पगन्ध[4] से, स्थल-जल के सब पुष्प न कुछ भी शोभा पाते।
एवं पहले जैसे फल भी नहीं देखने में हैं आते ॥ ८ ॥
शून्य पुरी-उद्यान हो गये, नृवर! छिप गये पक्षी जैसे।
नहीं पूर्व की भाँति मनोहर बाग-बगीचे लगते वैसे ॥ ९ ॥
बोला नहीं, अयोध्या-प्रविशित होने पर मुझसे कोई जन।
पुनः-पुनः निःश्वसित, राम को देखे विना हो रहे अनमन[5] ॥ १० ॥
राम-विना, नृप-रथ को लौटे, पथ के मनुजों ने जब जाना।
तब प्रारम्भ कर दिया सबने बहुत दूर से अश्रु बहाना ॥ ११ ॥

---

१ हाथ जोड़े; २ प्रस्थान करते हुए; ३ हाथ जोड़कर; ४ कम सुगन्धवाले; ५ बेचैन।

हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्य रथमागतम् ।
हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्शिताः ॥ १२ ॥
आयतैर्विमलैर्नेत्रैरश्रुवेगपरिप्लुतैः ।
अन्योन्यमभिवीक्षन्तेऽव्यक्तमार्ततराः स्त्रियः ॥ १३ ॥
नामित्राणां न मित्राणामुदासीनजनस्य च ।
अहमार्ततया कंचिद् विशेषं नोपलक्षये ॥ १४ ॥
अप्रहृष्टमनुष्या च दीननागतुरंगमा ।
आर्तस्वरपरिम्लाना विनिःश्वसितनिःस्वना ॥ १५ ॥
निरानन्दा महाराज रामप्रव्राजनातुरा ।
कौसल्या पुत्रहीनेव अयोध्या प्रतिभाति मे ॥ १६ ॥
सूतस्य वचनं श्रुत्वा वाचा परमदीनया ।
बाष्पोपहतया सूतमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥
कैकेय्या विनियुक्तेन पापाभिजनभावया ।
मया न मन्त्रकुशलैर्वृद्धैः सह समर्थितम् ॥ १८ ॥
न सुहृद्भिर्न चामात्यैर्मन्त्रयित्वा सनैगमैः ।
मयायमर्थः सम्मोहात् स्त्रीहेतोः सहसा कृतः ॥ १९ ॥
भवितव्यतया नूनमिदं वा व्यसनं महत् ।
कुलस्यास्य विनाशाय प्राप्तं सूत यदृच्छया ॥ २० ॥
सूत यद्यस्ति ते किंचिन्मयापि सुकृतं कृतम् ।
त्वं प्रापयाशु मां रामं प्राणाः संत्वरयन्ति माम् ॥ २१ ॥
यद्यद्यापि ममैवाज्ञा निवर्तयतु राघवम् ।
न शक्ष्यामि विना रामं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥ २२ ॥
अथवापि महाबाहुर्गतो दूरं भविष्यति ।
मामेव रथमारोप्य शीघ्रं रामाय दर्शय ॥ २३ ॥
वृत्तदंष्ट्रो महेष्वासः क्वासौ लक्ष्मणपूर्वजः ।
यदि जीवामि साध्वेनं पश्येयं सीतया सह ॥ २४ ॥
लोहिताक्षं महाबाहुमामुक्तमणिकुण्डलम् ।
रामं यदि न पश्येयं गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ २५ ॥
अतो नु किं दुःखतरं योऽहमिक्ष्वाकुनन्दनम् ।
इमामवस्थामापन्नो नेह पश्यामि राघवम् ॥ २६ ॥
हा राम रामानुज हा हा वैदेहि तपस्विनि ।
न मां जानीत दुःखेन म्रियमाणमनाथवत् ॥ २७ ॥

लौटे रथ को शून्य देखकर, तव विमान, प्रासाद-ऊर्ध्व-स्थित।
महिलाएँ हा! हा! करती थीं, विना राम-दर्शन के शोकित॥ १२॥
उनके कज्जल-रहित नयन थे अश्रु-वेग में डूबे-से तब।
देख रही थीं एक-दूसरे को, अव्यक्त[1]-आर्त[2] होकर सब॥ १३॥
उदासीन[3] रिपु, मित्रों में है शोक एक-सा मैंने पाया।
अन्तर नहीं किसी के दुख का मुझे देखने में है आया॥ १४॥
महाराज! हैं मोद-हीन नर, दुखी अश्व, गज अतिशय हैं सब।
आर्तनाद, निःश्वास-मलिन है, शब्द-विहीना यह नगरी अब॥ १५॥
हुई राम-वन-वास-व्याकुला, मोद-विहीना नगरी वैसे।
पुत्र-वियोगिनि माँ कौसल्या हैं आनन्द-हीन अब जैसे॥ १६॥
उन सुमन्त्र के वचन इस तरह भलीभाँति से तब फिर सुनकर।
दीन, अश्रु से गद्गद वाणी में बोले उनसे वे नृपवर॥ १७॥
पाप-देश-कुलजा, पापिनि के पाप-वचन केवल स्वीकारे।
मैंने, सूत! कुशल वृद्धों के साथ बैठकर विना विचारे॥ १८॥
सुहृद, सचिव, वेदज्ञ जनों सँग मैंने प्रथम न करके निश्चय।
किया मोह-वश, नारी-इच्छा-पूर्ति-कार्य, सहसा अनर्थमय॥ १९॥
होनहार-वश, भारी विपदा निश्चय सूत! आज है आई।
अकस्मात् कुल के विनाश की स्थिति इसमें दे रही दिखाई॥ २०॥
हुआ सूत! यदि सुकृत[4] तुम्हारे लिए कभी भी मेरे द्वारा।
मेरे प्राण राम-दर्शन को प्रेरित करते मुझे दुबारा॥ २१॥
राघव को लौटाकर लाओ यदि मेरा अब भी है शासन।
क्योंकि राम के विना, एक क्षण रह न सकेगा मेरा जीवन॥ २२॥
महाबाहु पहुँचे सुदूर हों तो अब रथ पर मुझे बिठाओ।
और विपिन ले चलो! राम के दर्शन मुझको शीघ्र कराओ॥ २३॥
कुन्ददन्त[5] लक्ष्मण के अग्रज, राम कहाँ हैं महाधनुर्धर?।
भलीभाँति सीता-सँग उनको देखूँ, तब हो जीवन सुखकर॥ २४॥
अरुण-नयन हैं महाबाहु जो राम हमारे मणि-कुण्डल-धर।
उनको देखे विना, सूत! मैं जाऊँगा अब शीघ्र, यम-नगर॥ २५॥
मैं इक्ष्वाकु-मोद-वर्धन को मरणासन्नस्थिति में पड़कर।
भी न देखता, शोक-वार्ता क्या होगी? अब इससे बढ़कर?॥ २६॥
हा-हा राम! अनुज लक्ष्मण हा! हा वैदेहि! तपस्विनि-वर हा!।
तुम्हें नहीं मालूम, दुःख से, मैं अनाथ की भाँति मर रहा॥ २७॥

१ मूक, अनबोल; २ दुखित; ३ तटस्थ, न मित्र न शत्रु; ४ उपकार; ५ कुन्दकली के समान दाँतवाले।

स तेन राजा दुःखेन भृशमर्पितचेतनः ।
अवगाढः सुदुष्पारं शोकसागरमब्रवीत् ॥ २८ ॥

रामशोकमहावेगः सीताविरहपारगः ।
श्वसितोर्मिमहावर्तो बाष्पवेगजलाविलः ॥ २९ ॥

बाहुविक्षेपमीनोऽसौ विक्रन्दितमहास्वनः ।
प्रकीर्णकेशशैवालः कैकेयीवडवामुखः ॥ ३० ॥

ममाश्रुवेगप्रभवः कुब्जावाक्यमहाग्रहः ।
वरवेलो नृशंसाया रामप्रव्राजनायतः ॥ ३१ ॥

यस्मिन् बत निमग्नोऽहं कौसल्ये राघवं विना ।
दुस्तरो जीवता देवि मयायं शोकसागरः ॥ ३२ ॥

अशोभनं योऽहमिहाद्य राघवं
दिदृक्षमाणो न लभे सलक्ष्मणम् ।
इतीव राजा विलपन् महायशाः
पपात तूर्णं शयने स मूर्च्छितः ॥ ३३ ॥

इति विलपति पार्थिवे प्रणष्टे
करुणतरं द्विगुणं च रामहेतोः ।
वचनमनुनिशम्य तस्य देवी
भयमगमत् पुनरेव राममाता ॥ ३४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः

कौसल्या का विलाप और सारथि सुमन्त्र का उन्हें समझाना

ततो भूतोपसृष्टेव वेपमाना पुनः पुनः ।
धरण्यां गतसत्त्वेव कौसल्या सूतमब्रवीत् ॥ १ ॥

नय मां यत्र काकुत्स्थः सीता यत्र च लक्ष्मणः ।
तान् विना क्षणमप्यद्य जीवितुं नोत्सहे ह्यहम् ॥ २ ॥

निवर्तय रथं शीघ्रं दण्डकान् नय मामपि ।
अथ तान् नानुगच्छामि गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ ३ ॥

बाष्पवेगोपहतया स वाचा सज्जमानया ।
इदमाश्वासयन् देवीं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४ ॥

हो निश्चेष्ट, दुःख में डूबे अतिशय वे दशरथ तब नृपवर।
बोले फिर, दुर्लंघ्य शोक के महा-महासागर में पड़कर ॥ २८ ॥
राम-शोक है वेग सिन्धु का, सीता-विरह दूसरा तट है।
लंबी साँसें लहर, भँवर हैं, अश्रु-वेग जल मलिन प्रकट है ॥ २९ ॥
मीन-विलास[1], बाहु-विक्षेपण[2], क्रन्दन है उसका गर्जन अति।
विखरित केश संवार-सदृश हैं, बाडवाग्नि[3] कैकेयी दुर्मति ॥ ३० ॥
है शोकाब्धि[4] अश्रु का कारण और ग्राह हैं कुब्जा-कुवचन।
तथा नृशंसा[5]-वर तट द्वय हैं, है विस्तार[6] राम-वन प्रगमन ॥ ३१ ॥
अतः देवि ! कौसल्ये ! इसमें राम-विना मैं डूबा जाता।
इसे पार करना जीते जी मुझको अतिशय कठिन दिखाता ॥ ३२ ॥

लक्ष्मण-सहित, राम-दर्शन का मन है हुआ दुबारा
उन्हें यहाँ मैं देख न सकता इन नयनों के द्वारा।
यह है मेरा वृहत् पाप-फल, यह कह, करके विलपन[7]
मूर्च्छित नृप ने लिया स्वशय्या का तब शीघ्र सहारा ॥ ३३ ॥

राम-हेतु ऐसे विलाप कर, वे दशरथ जन-त्राता
जब मूर्च्छित हो गये, शोक था उनका बढ़ता जाता।
तब देवी कौसल्या उनके करुण-वचन को सुनकर
दुगुनी भीता[8] हुई उस समय, रामचन्द्र की माता ॥ ३४ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्ष रामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में उनसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५९ ॥

साठवाँ सर्ग

कौसल्या का विलाप और सारथि सुमन्त्र का उन्हें समझाना

भूतावेशित[9]-सी कौसल्या लगीं काँपने बार-बार फिर।
हो अचेत-सी कहा सूत से, तभी उन्होंने हो भू-पर स्थिर ॥ १ ॥
जहाँ राम, सीता, लक्ष्मण हैं, वहाँ मुझे पहुँचाओ ! सत्वर[10]।
मैं न किसी विधि जी पाऊँगी उनके विना, सूत ! अब क्षण भर ॥ २ ॥
जल्दी रथ लौटाओ ! मुझको सूत ! ले चलो ! दण्डक वन में।
पास न उनके जाने पर मैं जाऊँगी यमराज-सदन में ॥ ३ ॥
कहा सूत ने उन देवी से, साञ्जलि उनका कथन श्रवण कर।
वाष्प-युक्त[11] गद्गद वाणी में देते हुए सान्त्वना रुचिकर ॥ ४ ॥

---

१ मछलियों की क्रीड़ा; २ (मेरा) हाथों का पटकना; ३ (उस शोक-) सिन्धु का बड़वानल; ४ शोक-सागर; ५ क्रूर (कैकेयी के दो वर); ६ फैलाव; ७ रोना; ८ भयभीत; ९ भूत-प्रेत-ग्रस्त; १० शीघ्र ही; ११ आँसुओं से भरे।

त्यज शोकं च मोहं च सम्भ्रमं दुःखजं तथा।
व्यवधय च संतापं वने वत्स्यति राघवः॥ ५ ॥
लक्ष्मणश्चापि रामस्य पादौ परिचरन् वने।
आराधयति धर्मज्ञः परलोकं जितेन्द्रियः॥ ६ ॥
विजनेऽपि वने सीता वासं प्राप्य गृहेष्विव।
विस्रम्भं लभतेऽभीता रामे विन्यस्तमानसा॥ ७ ॥
नास्या दैन्यं कृतं किंचित् सुसूक्ष्ममपि लक्ष्यते।
उचितेव प्रवासानां वैदेही प्रतिभाति मे॥ ८ ॥
नगरोपवनं गत्वा यथा स्म रमते पुरा।
तथैव रमते सीता निर्जनेषु वनेष्वपि॥ ९ ॥
बालेव रमते सीता बालचन्द्रनिभानना।
रामा रामे ह्यदीनात्मा विजनेऽपि वने सती॥ १० ॥
तद्गतं हृदयं यस्यास्तदधीनं च जीवितम्।
अयोध्या हि भवेदस्या रामहीना तथा वनम्॥ ११ ॥
परिपृच्छति वैदेही ग्रामांश्च नगराणि च।
गतिं दृष्ट्वा नदीनां च पादपान् विविधानपि॥ १२ ॥
रामं वा लक्ष्मणं वापि दृष्ट्वा जानाति जानकी।
अयोध्या क्रोशमात्रे तु विहारमिव साश्रिता॥ १३ ॥
इदमेव स्मराम्यस्याः सहसैवोपजल्पितम्।
कैकेयीसंश्रितं जल्पं नेदानीं प्रतिभाति माम्॥ १४ ॥
ध्वंसयित्वा तु तद् वाक्यं प्रमादात् पर्युपस्थितम्।
ह्लादनं वचनं सूतो देव्या मधुरमब्रवीत्॥ १५ ॥
अध्वना वातवेगेन सम्भ्रमेणातपेन च।
न विगच्छति वैदेह्याश्चन्द्रांशुसदृशी प्रभा॥ १६ ॥
सदृशं शतपत्रस्य पूर्णचन्द्रोपमप्रभम्।
वदनं तद् वदान्याया वैदेह्या न विकम्पते॥ १७ ॥
अलक्तरसरक्ताभावलक्तरसवर्जितौ।
अद्यापि चरणौ तस्याः पद्मकोशसमप्रभौ॥ १८ ॥
नूपुरोत्कृष्टलीलेव खेलं गच्छति भामिनी।
इदानीमपि वैदेही तद्रागान्न्यस्तभूषणा॥ १९ ॥
गजं वा वीक्ष्य सिंहं वा व्याघ्रं वा वनमाश्रिता।
नाहारयति संत्रासं बाहू रामस्य संश्रिता॥ २० ॥

शोक, मोह, दुःखज व्याकुलता, देवि न लाओ ! अपने मन में।
राम, सभी सन्ताप भूलकर, हैं रह रहे इस समय वन में ॥ ५ ॥
वन में राम-चरण-सेवा कर, लक्ष्मण अपना समय बिताते।
वे धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय विधिवत् हैं अपना परलोक बनाते ॥ ६ ॥
निर्भय सीता, रामचन्द्र में अपना मन हैं सदा रमातीं।
इससे, निर्जन वन में भी वे, प्रेम, मोद गृह-सम हैं पातीं ॥ ७ ॥
पहले से प्रवास-अभ्यस्ता[1] वैदेही हैं, मुझे दिखाता।
थोड़ा सा भी दुःख न उनके मन में, वहाँ विपिन में आता ॥ ८ ॥
यहाँ नगर-उपवन में जाकर, वे विचरण करती थीं जैसे।
निर्जन वन में भी, समोद अब नित्य विचरतीं सीता वैसे ॥ ९ ॥
बाल-चन्द्रमुखि, सती उदारा, साध्वी निर्जन वन में वैसे।
राम-समीप मुदित रहती हैं, वे सीता, बाला हो जैसे ॥ १० ॥
उनका जीवन राम-वशी है, मन है सदा राम में रमता।
बिना राम के उन्हें अयोध्या नगरी की वन से है समता ॥ ११ ॥
पथ में ग्राम, नगर, सरिता-गति, जिन तरुओं के दर्शन पातीं।
उनका परिचय वैदेही हैं क्रमशः वहाँ पूछती जातीं ॥ १२ ॥
समझ रहीं जानकी, पास में राम और लक्ष्मण को पाकर।
विचर रही, बस एक कोस मैं दूर अयोध्या से ही आकर ॥ १३ ॥
सीता से सम्बन्धित हूँ मैं, बस इतनी बातों का ज्ञाता।
कैकेयी-प्रति कहा वचन जो सहसा, वह न स्मरण में आता ॥ १४ ॥
भ्रम-वश, कैकेयी-विषयक उस वार्ता को करके परिवर्तित।
सारथि ने कौसल्या-मन को मधुर वचन से किया प्रहर्षित[2] ॥ १५ ॥
पथ-श्रम, वायु-वेग, आतप-सँग[3] भयद[4] भाव मन में जो आते।
चन्द्र-किरण-सम वैदेही की कान्ति नहीं वे मुरझा पाते ॥ १६ ॥
खिले कमल, पूर्णिमा-चन्द्र-सम, सुन्दर जो करता आनन्दित।
वह उदार-हृदया सीता का मुख न कभी होता है कम्पित ॥ १७ ॥
बिना महावर, जो कि महावर-सज्जित सम हैं अरुण दिखाते।
कमल-कोश-सम वे सीता के कान्त चरण हैं अतिशय भाते ॥ १८ ॥
नहीं जिन्होंने भूषण त्यागे, राम-राग-वश, राम-प्रीति-हित।
वैदेही चलकर, हंसस्वन[5]-सम नूपुर करती हैं झंकृत ॥ १९ ॥
राम-बाहु-बल आश्रित होकर, वे वन में रहती हैं सीता।
और व्याघ्र, गज, सिंह आदि को भी न देखकर होतीं भीता[6] ॥ २० ॥

---

१ परदेस में रहने की अभ्यस्त; २ प्रसन्न; ३ धूप की गर्मी; ४ भयकारी; ५ हंस का शब्द; ६ डरी हुई।

न शोच्यास्ते न चात्मा ते शोच्यो नापि जनाधिपः।
इदं हि चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम् ॥ २१ ॥

विधूय शोकं परिहृष्टमानसा
महर्षियाते पथि सुव्यवस्थिताः।
वने रता वन्यफलाशनाः पितुः
शुभां प्रतिज्ञां प्रतिपालयन्ति ते ॥ २२ ॥

तथापि सूतेन सुयुक्तवादिना
निवार्यमाणा सुतशोककर्शिता।
न चैव देवी विरराम कूजितात्
प्रियेति पुत्रेति च राघवेति च ॥ २३ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

कौसल्या का विलापपूर्वक राजा दशरथ को उपालम्भ देना

वनं गते धर्मरते रामे रमयतां वरे।
कौसल्या रुदती चार्ता भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
यद्यपि त्रिषु लोकेषु प्रथितं ते महद् यशः।
सानुक्रोशो वदान्यश्च प्रियवादी च राघवः ॥ २ ॥
कथं नरवरश्रेष्ठ पुत्रौ तौ सह सीतया।
दुःखितौ सुखसंवृद्धौ वने दुःखं सहिष्यतः ॥ ३ ॥
सा नूनं तरुणी श्यामा सुकुमारी सुखोचिता।
कथमुष्णं च शीतं च मैथिली विसहिष्यते ॥ ४ ॥
भुक्त्वाशनं विशालाक्षी सूपदंशान्वितं शुभम्।
वन्यं नैवारमाहारं कथं सीतोपभोक्ष्यते ॥ ५ ॥
गीतवादित्रनिर्घोषं श्रुत्वा शुभसमन्विता।
कथं क्रव्यादसिंहानां शब्दं श्रोष्यत्यशोभनम् ॥ ६ ॥
महेन्द्रध्वजसंकाशः क्व नु शेते महाभुजः।
भुजं परिघसंकाशमुपाधाय महाबलः ॥ ७ ॥
पद्मवर्णं सुकेशान्तं पद्मनिःश्वासमुत्तमम्।
कदा द्रक्ष्यामि रामस्य वदनं पुष्करेक्षणम् ॥ ८ ॥
वज्रसारमयं नूनं हृदयं मे न संशयः।
अपश्यन्त्या न तं यद् वै फलतीदं सहस्रधा ॥ ९ ॥

अतः न हों संतप्त राम, सीता, लक्ष्मण, निज या भूपति-प्रति।
राम-चरित यह अमर रहेगा, इस जगती-तल पर पावन अति॥ २१॥
वे तीनों ही अति प्रसन्न हैं शोक न मन में लाते
महर्षियों के चले मार्ग को, दृढ़ता से अपनाते।
वन में रहकर, फल-मूलादिक का ही सेवन करते
उत्तम पिता-प्रतिज्ञा-पालन व्रत को नहीं भुलाते॥ २२॥
युक्ति-युक्त बातों से, सारथि ने बहुविधि समझाया
चिन्ता एवं रुदन न करने को तब उन्हें बताया।
पुत्र-शोक-कर्षित कौसल्या हुईं न फिर भी विरमित[1]
हा प्रिय सुत राघव! क्रन्दन था तब भी उनका छाया॥ २३॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्ष रामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
साठवाँ सर्ग समाप्त॥ ६०॥

इकसठवाँ सर्ग

कौसल्या का विलापपूर्वक राजा दशरथ को उपालम्भ देना

जनानन्दप्रद, नृवर, धर्मरत रामचन्द्र के वन जाने पर।
आर्ता कौसल्या निज पति से इस प्रकार बोलीं फिर रोकर॥ १॥
त्रिभुवन में है व्याप्त आपका भूप! महायश सभी जानते।
श्रीमन् हैं उदार प्रियवादी अति दयालु, हैं सकल मानते॥ २॥
फिर भी नहीं विचार किया कुछ, नृपतिप्रवर! आपने ऐसे।
सीता-सँग वन-वास-कष्ट को, दोनों पुत्र सहेंगे कैसे?॥ ३॥
और मैथिली तरुणी श्यामा, सुख-भोग्या सीता सुकुमारी।
वन में सहन करेगी कैसे ग्रीष्म, शीत-कष्टों को भारी?॥ ४॥
जो विशाल-नयना, खाती थी स्वादु अन्न-व्यञ्जन शुभ वैसे।
वन-तिन्नी के चावल का वह, रुक्ष भात खायेगी कैसे?॥ ५॥
मंगल वस्तु-युता, सुनती थी, मधुर वाद्य जो गीतों के सह।
अशुभ मांस-भक्षी सिंहों का नाद सुनेगी कैसे? अब वह॥ ६॥
महाबाहु! इन्द्रध्वज-सम जो उत्सव सुखद यहाँ थे होते।
बली राम वे कहाँ परिघ[2]-सम बाह्वाश्रित[3] हो, होंगे सोते॥ ७॥
पद्म-कान्त, सुन्दर केशान्वित, पद्मगन्ध-निःश्वास-प्रवर्तक।
राम-सुविकसित कमलनयन मुख, कब देखूंगी, सूत! प्रहर्षक[4]?॥ ८॥
मेरा हृदय लौह-निर्मित है निश्चय तथा लौह से मंडित।
जो कि राम-दर्शन-विहीन भी, हुआ न दशशत-संख्या-खण्डित॥ ९॥

---

[1] रुकीं; [2] वज्र; [3] बाँह को तकिया बनाकर; [4] आनन्द देनेवाला।

यत् त्वया करुणं कर्म व्यपोह्य मम बान्धवाः ।
निरस्ताः परिधावन्ति सुखार्हाः कृपणा वने ॥ १० ॥
यदि पञ्चदशे वर्षे राघवः पुनरेष्यति ।
जह्याद् राज्यं च कोशं च भरतो नोपलक्ष्यते ॥ ११ ॥
भोजयन्ति किल श्राद्धे केचित् स्वानेव बान्धवान् ।
ततः पश्चात् समीक्षन्ते कृतकार्या द्विजोत्तमान् ॥ १२ ॥
तत्र ये गुणवन्तश्च विद्वांसश्च द्विजातयः ।
न पश्चात् तेऽभिमन्यन्ते सुधामपि सुरोपमाः ॥ १३ ॥
ब्राह्मणेष्वपि तृप्तेषु भुक्तशेषं द्विजोत्तमाः ।
नाभ्युपेतुमलं प्राज्ञाः शृङ्गच्छेदमिवर्षभाः ॥ १४ ॥
एवं कनीयसा भ्रात्रा भुक्तं राज्यं विशाम्पते ।
भ्राता ज्येष्ठो वरिष्ठश्च किमर्थं नावमन्यते ॥ १५ ॥
न परेणाहृतं भक्ष्यं व्याघ्रः खादितुमिच्छति ।
एवमेव नरव्याघ्रः परलीढं न मंस्यते ॥ १६ ॥
हविराज्यं पुरोडाशः कुशा यूपाश्च खादिराः ।
नैतानि यातयामानि कुर्वन्ति पुनरध्वरे ॥ १७ ॥
तथा ह्यात्तमिदं राज्यं हृतसारां सुरामिव ।
नाभिमन्तुमलं रामो नष्टसोममिवाध्वरम् ॥ १८ ॥
नैवंविधमसत्कारं राघवो मर्षयिष्यति ।
बलवानिव शार्दूलो वालधेरभिमर्शनम् ॥ १९ ॥
नैतस्य सहिता लोका भयं कुर्युर्महामृधे ।
अधर्मं त्विह धर्मात्मा लोकं धर्मेण योजयेत् ॥ २० ॥
नन्वसौ काञ्चनैर्बाणैर्महावीर्यो महाभुजः ।
युगान्त इव भूतानि सागरानपि निर्दहेत् ॥ २१ ॥
स तादृशः सिंहबलो वृषभाक्षो नरर्षभः ।
स्वयमेव हतः पित्रा जलजेनात्मजो यथा ॥ २२ ॥
द्विजातिचरितो धर्मः शास्त्रे दृष्टः सनातनैः ।
यदि ते धर्मनिरते त्वया पुत्रे विवासिते ॥ २३ ॥
गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः ।
तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नैव विद्यते ॥ २४ ॥
तत्र त्वं मम नैवासि रामश्च वनमाहितः ।
न वनं गन्तुमिच्छामि सर्वथा हा हता त्वया ॥ २५ ॥

देश-निकाला, करुण कार्य यह करते समय न सोचा मन में।
जो कि सूत! सुख-भोगी मेरे नन्दन दीन, विचरते वन में ॥ १० ॥
पन्द्रहवें वत्सर लौटेंगे, जब वन से राघव सह-भ्राता।
तब छोड़ेंगे, राज्य, कोष को भरत, न सम्भव मुझे दिखाता ॥ ११ ॥
कहते हैं, कुछ लोग श्राद्ध में बन्धुजनों को प्रथम खिलाते।
हो कृतार्थ, फिर विप्र-भोज की ओर बाद में ध्यान लगाते ॥ १२ ॥
किन्तु गुणी, विद्वान् देव-सम उत्तम जो ब्राह्मण कहलाते।
वे न अमृत-सम भी उस भोजन की स्वीकृति में रुचि हैं लाते ॥ १३ ॥
विप्र-भक्त-शेषान्न[1] न खाते तथा अवज्ञा-वश ब्राह्मण-वर।
श्रेष्ठ वृषभ निज शृंगच्छेदन[2] को न यथा होते हैं तत्पर ॥ १४ ॥
लघु भ्राता से भुक्त राज्य को ज्येष्ठ श्रेष्ठ भ्राता वे रघुवर।
क्यों न तिरस्कृत तब कर देंगे उसी भाँति श्रीराम नृपतिवर ॥ १५ ॥
नहीं चाहता व्याघ्र, गीदड़ों के लाये खाने को जैसे।
नहीं नृसिंह राम चाहेंगे, पर से भुक्त[3] राज्य भी वैसे ॥ १६ ॥
मख-प्रयुक्त[4], हवि, पुरोडाश[5], घृत, कुशा, खदिर के यूप[6] भी तथा।
यातयाम[7] हो, पुनः यज्ञ के योग्य न रहते कभी सर्वथा ॥ १७ ॥
सार-विहीना सुरा, सोमरस, भुक्त-शेष[8] हो मख का जैसे।
वैसे भोगे हुए राज्य को, राम करेंगे स्वीकृत कैसे? ॥ १८ ॥
सिंह न पुच्छग्रहण जिस तरह अन्य किसी से है सह पाता।
सहन करेंगे राम अवज्ञा अपनी, नहीं समझ में आता ॥ १९ ॥
रण में, जग से अभय राम ने, राज्य न छीना लख अधर्म-युत।
जग को धार्मिक करनेवाले होंगे कैसे भला धर्म-च्युत? ॥ २० ॥
कञ्चन शर से वीर महाभुज, सिन्धु-दहन-सक्षम हैं वैसे।
प्रलय-अग्नि संवर्तक[9] सब जग को भस्मित करता है जैसे ॥ २१ ॥
बली सिंह-सम, वृषभनयन-सुत, मारा गया पिता से वैसे।
मत्स्य पिता से खाया जाता, अपना कभी मत्स्य शिशु जैसे ॥ २२ ॥
देश-निकाला दिया आपने, जब कि धर्म-रत सुत को भूपति!।
तब बोलें! द्विज-दृष्ट[10], आचरित, धर्म सत्य है, या मिथ्या अति ॥ २३ ॥
नृप! नारी को पति, सुत, बान्धव, ये आश्रय हैं तीन दिखाते।
इन्हें छोड़कर चौथा आश्रय, उसे न विद्वद्वर बतलाते ॥ २४ ॥
प्रथमाश्रय न आप हैं मेरे! किया सुवन को भी वन-प्रेषित।
दूर तीसरा, तजूँ तुम्हें किमि[11], सब विधि मरी आपसे निश्चित ॥ २५ ॥

---

१ पहली पंक्ति के भोजन कर लेने के बाद; २ सींग कटाने; ३ भोगे हुए; ४ यज्ञ में प्रयोग किये जा चुके; ५ हवन के लिए चावल आदि की टिकियाँ; ६ यज्ञ-स्तंभ; ७ उपयोग में आ जाने के बाद दुबारा; ८ सेवन के बाद बचा हुआ; ९ विनाशकारी; १० ब्राह्मणों-ऋषियों द्वारा साक्षात् किया हुआ; ११ कैसे।

हतं त्वया राष्ट्रमिदं सराज्यं
हताः स्म सर्वाः सह मन्त्रिभिश्च।
हता सपुत्रास्मि हताश्च पौराः
सुतश्च भार्या च तव प्रहृष्टौ॥ २६॥
इमां गिरं दारुणशब्दसंहितां
निशम्य रामेति मुमोह दुःखितः।
ततः स शोकं प्रविवेश पार्थिवः
स्वदुष्कृतं चापि पुनस्तथास्मरत्॥ २७॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः॥ ६१॥

द्विषष्टितमः सर्गः

दुखी हुए राजा दशरथ का कौसल्या को हाथ जोड़कर मनाना और कौसल्या का उनके चरणों में पड़कर क्षमा माँगना

एवं तु क्रुद्धया राजा राममात्रा सशोकया।
श्रावितः परुषं वाक्यं चिन्तयामास दुःखितः॥ १॥
चिन्तयित्वा स च नृपो मोहव्याकुलितेन्द्रियः।
अथ दीर्घेण कालेन संज्ञामाप परंतपः॥ २॥
स संज्ञामुपलभ्यैव दीर्घमुष्णं च निःश्वसन्।
कौसल्यां पार्श्वतो दृष्ट्वा ततश्चिन्तामुपागमत्॥ ३॥
तस्य चिन्तयमानस्य प्रत्यभात् कर्म दुष्कृतम्।
यदनेन कृतं पूर्वमज्ञानाच्छब्दवेधिना॥ ४॥
अमनास्तेन शोकेन रामशोकेन च प्रभुः।
द्वाभ्यामपि महाराजः शोकाभ्यामभितप्यते॥ ५॥
दह्यमानस्तु शोकाभ्यां कौसल्यामाह दुःखितः।
वेपमानोऽञ्जलिं कृत्वा प्रसादार्थमवाङ्मुखः॥ ६॥
प्रसादये त्वां कौसल्ये रचितोऽयं मयाञ्जलिः।
वत्सला चानृशंसा च त्वं हि नित्यं परेष्वपि॥ ७॥
भर्ता तु खलु नारीणां गुणवान् निर्गुणोऽपि वा।
धर्मं विमृशमानानां प्रत्यक्षं देवि दैवतम्॥ ८॥
सा त्वं धर्मपरा नित्यं दृष्टलोकपरावरा।
नार्हसे विप्रियं वक्तुं दुःखितापि सुदुःखितम्॥ ९॥

राज्य, राष्ट्र-मण्डल विनष्ट हैं, आज आपके द्वारा
और आपने सहसचिवों को, प्रजा-वर्ग को मारा।
सुत-हीना मैं मरी आपसे, हैं नागर[1] भी हत-वत्
बस सुत भरत, प्रिया कैकेयी में प्रमोद है सारा ॥ २६ ॥

दुखी हुए दशरथ, कौसल्या-दारुण वाणी सुनकर
डूबे, कह 'हा राम !' विमूर्च्छित, शोक-सिन्धु में सत्वर।
एक पुराना दुष्कृत[2] अपना, उन्हें स्मरण हो आया
जिससे दुःख हो गया उनका कई गुना फिर बढ़कर ॥ २७ ॥

॥ श्री वाल्मीक-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में इकसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६१ ॥

बासठवाँ सर्ग

दुखी हुए राजा दशरथ का कौसल्या को हाथ जोड़कर मनाना और कौसल्या का उनके चरणों में पड़कर क्षमा माँगना

क्रुद्धा, शोकित राम-मातु ने जब नृप को यह वचन सुनाया।
तब वे चिन्तित हुए और दुख कई गुना उनका हो आया ॥ १ ॥
चिन्ता-वश तब मोहाच्छन्ना[3] हुईं इन्द्रियाँ उन नृप की फिर।
दीर्घ समय के बाद परंतप हुए सचेत और कुछ सुस्थिर ॥ २ ॥
गरम-गरम लंबी साँसें लीं, नृप ने फिर संज्ञा[4] में आकर।
डूब गये वे तब चिन्ता में, निकटस्था[5] कौसल्या को पाकर ॥ ३ ॥
चिन्त्यमान उन नृप को अपना दुष्कृत एक स्मरण हो आया।
शब्द-वेधि-वाणज्ञ नृपति से, अनजाने में जो हो पाया ॥ ४ ॥
उससे, एवं राम-शोक से भूपति-मन-वेदना बढ़ी अब।
उन दोनों शोकों से दशरथ बहुत-बहुत संतप्त हुए तब ॥ ५ ॥
लगे काँपने, नीचे मुख कर शोकद्वय से दुखी नृपति-वर।
साञ्जलि[6] बोले कौसल्या से उन्हें मनाने का निश्चय कर ॥ ६ ॥
होओ अब प्रसन्न कौसल्ये ! साञ्जलि मैं हूँ तुम्हें मनाता।
तुम तो हो वत्सला सकल-प्रति दया-भाव की तुम हो धाता[7] ॥ ७ ॥
देवि ! नारियाँ वे, जिनकी है धर्म-विवेकिनि अति शुद्धामति।
उनका तो प्रत्यक्ष देवता है 'गुण-हीन, गुणी वा' निज पति ॥ ८ ॥
यद्यपि हो दुखिता तुम फिर भी, हो समुचित. अनुचित-विज्ञाता।
अतः तुम्हें, अति दुखो स्वपति से कहना अ-प्रिय नहीं है भाता ॥ ९ ॥

---

१ नगर-निवासी; २ पाप; ३ मोह से ग्रसित; ४ होश; ५ पास ही बैठी; ६ हाथ जोड़कर; ७ धारण करनेवाली।

तद् वाक्यं करुणं राज्ञः श्रुत्वा दीनस्य भाषितम् ।
कौसल्या व्यसृजद् बाष्पं प्रणालीव नवोदकम् ॥ १० ॥
सा मूर्ध्नि बद्ध्वा रुदती राज्ञः पद्ममिवाञ्जलिम् ।
सम्भ्रमादब्रवीत् त्रस्ता त्वरमाणाक्षरं वचः ॥ ११ ॥
प्रसीद शिरसा याचे भूमौ निपतितास्मि ते ।
याचितास्मि हता देव क्षन्तव्याहं नहि त्वया ॥ १२ ॥
नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता ।
उभयोर्लोकयोर्लोके पत्या या सम्प्रसाद्यते ॥ १३ ॥
जानामि धर्मं धर्मज्ञ त्वां जाने सत्यवादिनम् ।
पुत्रशोकार्तया तत्तु मया किमपि भाषितम् ॥ १४ ॥
शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम् ।
शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः ॥ १५ ॥
शक्यमापतितः सोढुं प्रहारो रिपुहस्ततः ।
सोढुमापतितः शोकः सुसूक्ष्मोऽपि न शक्यते ॥ १६ ॥
वनवासाय रामस्य पञ्चरात्रोऽत्र गण्यते ।
यः शोकहतहर्षायाः पञ्चवर्षोपमो मम ॥ १७ ॥
तं हि चिन्तयमानायाः शोकोऽयं हृदि वर्धते ।
नदीनामिव वेगेन समुद्रसलिलं महत् ॥ १८ ॥
एवं हि कथयन्त्यास्तु कौसल्यायाः शुभं वचः ।
मन्दरश्मिरभूत् सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ १९ ॥
अथ प्रह्लादितो वाक्यैर्देव्या कौसल्यया नृपः ।
शोकेन च समाक्रान्तो निद्राया वशमेयिवान् ॥ २० ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमः सर्गः

राजा दशरथ का शोक और उनका कौसल्या से अपने द्वारा मुनिकुमार के मारे जाने का प्रसंग सुनाना

प्रतिबुद्धो मुहूर्तेन शोकोपहतचेतनः ।
अथ राजा दशरथः स चिन्तामभ्यपद्यत ॥ १ ॥
रामलक्ष्मणयोश्चैव विवासाद् वासवोपमम् ।
आविवेशोपसर्गस्तं तमः सूर्यमिवासुरम् ॥ २ ॥

दुखी नृपति-मुख से करुणात्मक सुने वचन जब कौसल्या ने।
नव जल-स्राविणि-नलिका[1]-सम तब नयनों से जल लगीं बहाने ॥ १० ॥
वे अधर्म-भीता, रोकर, निज सिर से नृप-कर-कमल हटाकर।
त्रस्ता बोलीं वचन सम्भ्रमित, एक-एक अक्षर अलगाकर ॥ ११ ॥
नाथ-याचिता, हता, भू-स्थिता, क्षम्या, देव ! याचना करती।
मुझ अदण्ड्य पर हों प्रसन्न ! मैं पद-कमलों पर सिर हूँ धरती ॥ १२ ॥
हैं प्रशंस्य पति, निज पत्नी-हित लोक और परलोक हर जगह।
किन्तु, सुधी पति-प्रार्थित[2] होकर नहीं कुल-वधू है सार्थक वह ॥ १३ ॥
धर्मज्ञा मैं जान रही, धर्मज्ञ ! आप हैं सत्यवादि वर।
पुत्र - शोक - पीड़ित मैने ये कहे अवाञ्छित[3] वचन परुष[4] तर ॥ १४ ॥
शोक, शास्त्र के ज्ञान, धैर्य को, अन्य सभी कुछ शीघ्र मिटाता।
अतः शोक - सा शत्रु दूसरा नहीं देखने में है आता ॥ १५ ॥
शस्त्र-प्रहार सहा जा सकता है, जो होवे रिपु के कर से।
किन्तु दैव - वश स्वल्प - शोक भी, सहना असम्भाव्य है नर से ॥ १६ ॥
राम वन गये, पाँच रात्रियाँ बीतीं, मैं करती हूँ गणना।
पाँच वर्ष-सम समय लग रहा, हर्ष शोक-हत है अब अपना ॥ १७ ॥
तथा राम-चिन्तन के कारण, हृदय-शोक है बढ़ता जाता।
नदियों के प्रवाह से जैसे सिंधु वृद्धि जल की है पाता ॥ १८ ॥
इस प्रकार से कौसल्या जब शुभ वार्ता कहती थीं अपनी।
तब रवि-किरणें मन्द हो गयीं और आ गयी क्रमशः रजनी ॥ १९ ॥
देवी कौसल्या - वार्ता से हुए सुवन - शोकार्त नृप मुदित।
शोक-हर्ष-मिश्रित इस स्थिति में वे हो गये तथा फिर निद्रित ॥ २० ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में बासठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६२ ॥

तिरसठवाँ सर्ग

राजा दशरथ का शोक और उनका कौसल्या से अपने द्वारा मुनिकुमार के मारे जाने का प्रसंग सुनाना

बीता था मुहूर्त भर केवल, वैं भूपति दशरथ जागे जब।
शोकाकुल होकर मन ही मन, चिन्ता करने लगे पुनः तब ॥ १ ॥
गये राम, लक्ष्मण जब वन को, इन्द्रोपम दशरथ को वैसे।
महा शोक ने घेरा, रवि को राहु असुर ढकता है जैसे ॥ २ ॥

---

१ नाली से वर्षा के जल के समान; २ पति द्वारा मनाये जाकर; ३ न कहने योग्य; ४ कठोर।

सभार्ये हि गते रामे कौसल्यां कौसलेश्वरः ।
विवक्षुरसितापाङ्गीं स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः ॥ ३ ॥
स राजा रजनीं षष्ठीं रामे प्रव्राजिते वनम् ।
अर्धरात्रे दशरथः सोऽस्मरद् दुष्कृतं कृतम् ॥ ४ ॥
स राजा पुत्रशोकार्तः स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः ।
कौसल्यां पुत्रशोकार्तामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥
यदाचरति कल्याणि शुभं वा यदि वाशुभम् ।
तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजमात्मनः ॥ ६ ॥
गुरुलाघवमर्थानामारम्भे कर्मणां फलम् ।
दोषं वा यो न जानाति स बाल इति ह्युच्यते ॥ ७ ॥
कश्चिदाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च निषिञ्चति ।
पुष्पं दृष्ट्वा फले गृध्नुः स शोचति फलागमे ॥ ८ ॥
अविज्ञाय फलं यो हि कर्म त्वेवानुधावति ।
स शोचेत् फलवेलायां यथा किंशुकसेचकः ॥ ९ ॥
सोऽहमाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च न्यषेचयम् ।
रामं फलागमे त्यक्त्वा पश्चाच्छोचामि दुर्मतिः ॥ १० ॥
लब्धशब्देन कौसल्ये कुमारेण धनुष्मता ।
कुमारः शब्दवेधीति मया पापमिदं कृतम् ॥ ११ ॥
तदिदं मेऽनुसम्प्राप्तं देवि दुःखं स्वयंकृतम् ।
सम्मोहादिह बालेन यथा स्याद् भक्षितं विषम् ॥ १२ ॥
यथान्यः पुरुषः कश्चित् पलाशैर्मोहितो भवेत् ।
एवं मयाप्यविज्ञातं शब्दवेध्यमिदं फलम् ॥ १३ ॥
देव्यनूढा त्वमभवो युवराजो भवाम्यहम् ।
ततः प्रावृडनुप्राप्ता मम कामविवर्धिनी ॥ १४ ॥
अपास्य हि रसान् भौमांस्तप्त्वा च जगदंशुभिः ।
परेताचरितां भीमां रविराचरते दिशम् ॥ १५ ॥
उष्णमन्तर्दधे सद्यः स्निग्धा ददृशिरे घनाः ।
ततो जहृषिरे सर्वे भेकसारङ्गबर्हिणः ॥ १६ ॥
क्लिन्नपक्षोत्तराः स्नाताः कृच्छ्रादिव पतत्रिणः ।
वृष्टिवातावधूताग्रान् पादपानभिपेदिरे ॥ १७ ॥
पतितेनाम्भसाऽऽच्छन्नः पतमानेन चासकृत् ।
आबभौ मत्तसारङ्गस्तोयराशिरिवाचलः ॥ १८ ॥

राम सभार्य[1] गये जब, तब निज, उस दुष्कृत का पूर्ण स्मरण कर।
श्यामलनयना कौसल्या से कथनेच्छुक तब हुए नृपतिवर॥ ३ ॥
राम-वन-गमन बाद, रात्रि वह छठी बीतती थी क्रमशः जब।
किया संस्मरण पूर्व पाप निज, अर्धरात्रि में दशरथ ने तब॥ ४ ॥
पुत्र-शोक-पीड़ित भूपति ने, वह दुष्कृत जब ध्यान में लिया।
तब सुत-शोकार्ता कौसल्या से कहना प्रारम्भ कर दिया॥ ५ ॥
हे कल्याणि! शुभाशुभ जो भी कार्य सभी मानव करते हैं।
भद्रे! उनके फल-स्वरूप ही, सुख-दुख उन्हें सदा मिलते हैं॥ ६ ॥
कर्मारम्भ-समय, जो उसकी लघुता, गुरुता नहीं जानता।
और दोष-गुण-ज्ञान-हीन है, उसको बालक[2] जगत मानता॥ ७ ॥
ढाक-पुष्प को रुचिर देखकर, आम्र-काट तरु ढाक लगाता।
और सींचता, वह नर उसके फल आने पर है पछताता॥ ८ ॥
विगत कर्म-फल भूल, कर्म के पीछे है जो दौड़ लगाता।
फल पाने पर, ठीक सींचनेवाले-जैसा है पछताता॥ ९ ॥
मैंने भी तो काट आम्र वन, ढाकों को है तब सींचा अति।
राम-त्याग का फल पाकर अब, पछताता हूँ, मैं हूँ दुर्मति॥ १० ॥
कौसल्ये! कौमार्य-समय मैं, शब्दवेधि था ख्यात[3] धनुर्धर।
कर्म-फलाज्ञ[4], प्रशंसा-लोभी, मैंने डाला पाप एक कर॥ ११ ॥
देवि! स्वयं के उस कुकृत्य का, प्राप्त हुआ फल मुझको वैसे।
शिशु अबोध भी विष खाने पर, फल-स्वरूप मर जाता जैसे॥ १२ ॥
ज्यों पलाश-फल-कटुता जाने बिना पुष्प पर मोहित हो जन।
कीर्ति-शब्दवेधी से मोहित त्यों न समझ पाया मेरा मन॥ १३ ॥
ब्याह नहीं था हुआ तुम्हारा, मैं भी था युवराज देवि! जब।
काम-वेग-वर्धिनी आ गयी, उन्हीं दिनों ऋतु वर्षा की तब॥ १४ ॥
जब कि सुखाकर भूमि-रसों को, किरणों से जग-तापक भारी।
रवि था, प्रेत-विहारिणि भीषण यम-दक्षिण दिशि में सञ्चारी[5]॥ १५ ॥
दिखने लगे मेघ, जल-संयुत, शीघ्र मिट गई गर्मी सारी।
मेढक, चातक और मयूरों में भी हर्ष छा गया भारी॥ १६ ॥
आर्द्र-पंख[6] खग, उन वृक्षों तक कठिनाई से थे जा पाते।
जिनके शाखा-अग्रभाग थे, वर्षा-पवनों से लहराते॥ १७ ॥
और मत्त गज तब लगता था, गिरते जल से छादित वैसे।
शान्त तरंग-रहित सागर, या भीगा हुआ शैल हो जैसे॥ १८ ॥

---

१ पत्नी (सीता)-सहित; २ अज्ञानी; ३ लोकप्रसिद्ध; ४ कर्मफल को न समझते हुए; ५ भ्रमण करनेवाला; ६ भीगे पंख वाले।

पाण्डुरारुणवर्णानि स्रोतांसि विमलान्यपि ।
सुस्रुवुर्गिरिधातुभ्यः सभस्मानि भुजंगवत् ॥ १९ ॥
तस्मिन्नतिसुखे काले धनुष्मानिषुमान् रथी ।
व्यायामकृतसंकल्पः सरयूमन्वगां नदीम् ॥ २० ॥
निपाने महिषं रात्रौ गजं वाभ्यागतं मृगम् ।
अन्यद् वा श्वापदं किंचिज्जिघांसुरजितेन्द्रियः ॥ २१ ॥
अथान्धकारे त्वश्रौषं जले कुम्भस्य पूर्यतः ।
अचक्षुर्विषये घोषं वारणस्येव नर्दतः ॥ २२ ॥
ततोऽहं शरमुद्धृत्य दीप्तमाशीविषोपमम् ।
शब्दं प्रति गजप्रेप्सुरभिलक्ष्यमपातयम् ॥ २३ ॥
अमुञ्चं निशितं बाणमहमाशीविषोपमम् ।
तत्र वागुषसि व्यक्ता प्रादुरासीद् वनौकसः ॥ २४ ॥
हा हेति पततस्तोये बाणाद् व्यथितमर्मणः ।
तस्मिन्निपतिते भूमौ वागभूत् तत्र मानुषी ॥ २५ ॥
कथमस्मद्विधे शस्त्रं निपतेच्च तपस्विनि ।
प्रविविक्तां नदीं रात्रावुदाहारोऽहमागतः ॥ २६ ॥
इषुणाभिहतः केन कस्य वापकृतं मया ।
ऋषेर्हि न्यस्तदण्डस्य वने वन्येन जीवतः ॥ २७ ॥
कथं नु शस्त्रेण वधो मद्विधस्य विधीयते ।
जटाभारधरस्यैव वल्कलाजिनवाससः ॥ २८ ॥
को वधेन ममार्थी स्यात् किं वास्यापकृतं मया ।
एवं निष्फलमारब्धं केवलानर्थसंहितम् ॥ २९ ॥
न क्वचित् साधु मन्येत यथैव गुरुतल्पगम् ।
नेमं तथानुशोचामि जीवितक्षयमात्मनः ॥ ३० ॥
मातरं पितरं चोभावनुशोचामि मद्वधे ।
तदेतन्मिथुनं वृद्धं चिरकालभृतं मया ॥ ३१ ॥
मयि पञ्चत्वमापन्ने कां वृत्तिं वर्तयिष्यति ।
वृद्धौ च मातापितरावहं चैकेषुणा हतः ॥ ३२ ॥
केन स्म निहताः सर्वे सुबालेनाकृतात्मना ।
तां गिरं करुणां श्रुत्वा मम धर्मानुकाङ्क्षिणः ॥ ३३ ॥
कराभ्यां सशरं चापं व्यथितस्यापतद् भुवि ।
तस्याहं करुणं श्रुत्वा ऋषेर्विलपतो निशि ॥ ३४ ॥

अति निर्मल भी, धातु-संग से, गिरि-निर्झर अरुणाभ[1], श्वेत तब।
धातु-युता कुटिला गति से थे बहते, मानो हों भुजंग सब ॥ १९ ॥
धनुष-बाण ले, वर्षा के अति सुखद सुहाने उस अवसर पर।
मैं पहुँचा सरयू के तट पर, मृगया[2] करने, रथ पर चढ़कर ॥ २० ॥
अवशी[3] मैंने सोचा, निशि में, जल-पीने सरिता-तट पर जब।
महिष, सिंह, व्याघ्रादि, मत्तगज आयेगा यदि, मारूंगा तब ॥ २१ ॥
अन्धकार में जल भरने की, सहसा घट-ध्वनि पड़ी सुनाई।
वह, जल पीते समय, हस्ति-ध्वनि, देखे विना, समझ में आई ॥ २२ ॥
तब तरकस से, दीप्त विषैला सर्प-सदृश शर एक निकाला।
और बनाकर लक्ष्य हस्ति-ध्वनि को, मैंने उस दिशि को डाला ॥ २३ ॥
उषः[4] समय में विषधर अहि[5]-सम शर सुतीक्ष्ण मैंने छोड़ा जब।
किसी जल-पतित वनवासी का, 'हा-हा' रव सुस्पष्ट सुना तब ॥ २४ ॥
मेरे शर से मर्माहत हो, पीड़ा उसने अतिशय पाई।
फिर उसके भू पर गिरने पर, नर-वाणी सुनने में आई ॥ २५ ॥
मुझ जैसे तापस के ऊपर, किसका शस्त्र प्रहार भा गया[6]।
मैं तो इस एकान्त घाट पर, निशाकाल जल हेतु आ गया ॥ २६ ॥
मैं हूँ किसका, क्या अपकारी तथा हुआ मैं किससे शर-हत।
वन्य जीवि[7], दण्डत्यागी मैं, मेरा जीवन है ऋषि-सम्मत ॥ २७ ॥
भला शस्त्र से मुझ जैसे का, किया गया यह क्यों वध निर्मम।
मैं वल्कल, मृग-चर्म पहनता, जटा रखाता तापस जन-सम ॥ २८ ॥
वध-कर्ता-अपकृत[8] क्या मुझसे हुआ ? लाभ क्या समझ रहा वह ?।
मेरे वध का यत्न व्यर्थ है, अति अनर्थप्रद ही होगा यह ॥ २९ ॥
गुरु-तल्पग-सम[9] समझ, न जग में कोई भी मानेगा सज्जन।
अपने इस जीवन-विनाश से, दुखित नहीं किञ्चित मेरा मन ॥ ३० ॥
वृद्ध पिता-माता को होगा कष्ट, सोचता यह ही बहुशः।
इस दम्पति का पालन-पोषण करता रहा आज तक क्रमशः ॥ ३१ ॥
मेरे मरने पर वे अपना, जीवन-वहन करेंगे कैसे ?।
वृद्ध-युगल का किया वधिक ने वध, मम सहित एक ही कर से ॥ ३२ ॥
किस अविवेकी अजितेन्द्रिय से, मरे एक सँग ऐसे हम सब।
मुझ धर्माकांक्षी[10] का मानस, ऐसे करुण वचन सुन कर तब ॥
व्यथित हुआ अति, और करों से धनुष, बाण गिर गये धरणि पर।
विलपित होते हुए रात्रि में, करुण वचन वह ऋषि का सुनकर ॥

---

१ लाली लिये हुए; २ शिकार, आखेट; ३ मन वश में नहीं; ४ तड़के; ५ सर्प; ६ अच्छा लगा; ७ (सामान्य) वनवासी; ८ मारनेवाले के साथ बुराई; ९ गुरुपत्नी के पास गमन करनेवाले के समान; १० धर्म की अभिलाषा रखनेवाला।

सम्भ्रान्तः शोकवेगेन भृशमासं विचेतनः ।
तं देशमहमागम्य दीनसत्त्वः सुदुर्मनाः ॥ ३५ ॥
अपश्यमिषुणा तीरे सरय्वास्तापसं हतम् ।
अवकीर्णजटाभारं प्रविद्धकलशोदकम् ॥ ३६ ॥
पांसुशोणितदिग्धाङ्गं शयानं शल्यवेधितम् ।
स मामुद्वीक्ष्य नेत्राभ्यां त्रस्तमस्वस्थचेतनम् ॥ ३७ ॥
इत्युवाच वचः क्रूरं दिधक्षन्निव तेजसा ।
किं तवापकृतं राजन् वने निवसता मया ॥ ३८ ॥
जिहीर्षुरम्भो गुर्वर्थं यदहं ताडितस्त्वया ।
एकेन खलु बाणेन मर्मण्यभिहते मयि ॥ ३९ ॥
द्वावन्धौ निहतौ वृद्धौ माता जनयिता च मे ।
तौ नूनं दुर्बलावन्धौ मत्प्रतीक्षौ पिपासितौ ॥ ४० ॥
चिरमाशां कृतां कष्टां तृष्णां संधारयिष्यतः ।
न नूनं तपसो वास्ति फलयोगः श्रुतस्य वा ॥ ४१ ॥
पिता यन्मां न जानीते शयानं पतितं भुवि ।
जानन्नपि च किं कुर्यादशक्तश्चापरिक्रमः ॥ ४२ ॥
भिद्यमानमिवाशक्तस्त्रातुमन्यो नगो नगम् ।
पितुस्त्वमेव मे गत्वा शीघ्रमाचक्ष्व राघव ॥ ४३ ॥
न त्वामनुदहेत् क्रुद्धो वनमग्निरिवैधितः ।
इयमेकपदी राजन् यतो मे पितुराश्रमः ॥ ४४ ॥
तं प्रसादय गत्वा त्वं न त्वा संकुपितः शपेत् ।
विशल्यं कुरु मां राजन् मर्म मे निशितः शरः ॥ ४५ ॥
रुणद्धि मृदु सोत्सेधं तीरमम्बुरयो यथा ।
सशल्यः क्लिश्यते प्राणैर्विशल्यो विनशिष्यति ॥ ४६ ॥
इति मामविशच्चिन्ता तस्य शल्यापकर्षणे ।
दुःखितस्य च दीनस्य मम शोकातुरस्य च ॥ ४७ ॥
लक्षयामास स ऋषिश्चिन्तां मुनिसुतस्तदा ।
ताम्यमानं स मां कृच्छ्रादुवाच परमार्थवित् ॥ ४८ ॥
सीदमानो निवृत्ताङ्गोऽचेष्टमानो गतः क्षयम् ।
संस्तभ्य शोकं धैर्येण स्थिरचित्तो भवाम्यहम् ॥ ४९ ॥
ब्रह्महत्याकृतं तापं हृदयादपनीयताम् ।
न द्विजातिरहं राजन् मा भूत् ते मनसो व्यथा ॥ ५० ॥

हुआ सम्भ्रमित शोक-वेग से, मैं क्रमशः हो गया अचेतन।
फिर उस स्थल पर जाकर मेरा हुआ बहुत ही दीन दुखी मन ॥३३-३५॥
देखा, सरयू-तट पर, तापस एक पड़े हैं शर-आहत तब।
उनका घट-जल गिरा धरणि पर, शीश-जटाएँ बिखर रहीं सब ॥ ३६ ॥
बाण-विद्ध वे पड़े हुए थे, रक्त, धूलिमय था सारा तन।
मुझे उन्होंने दोनों नयनों से देखा, मैं हुआ त्रस्त-मन ॥ ३७ ॥
मानो, कर दे भस्म ! क्रोध में मुझसे बोला क्रूर वचन वह।
राजन ! कहो तुम्हारे प्रति मुझसे अपराध हुआ कैसे, कब ? ॥ ३८ ॥
माता - पिता हेतु जल लेते, मुझको जो मारा तुमने शर।
ऐसे मेरा मर्म विदारण, एक बाण के ही द्वारा कर ॥
मेरे उन वृद्धान्ध पिता प्रिय माता को भी तुमने मारा।
देख रहे होंगे वे दुर्बल, प्यासे मेरा अभी सहारा ॥३९-४०॥
दुखद प्यास-युत, मेरे आने की रक्खेंगे वे चिर[1] आशा।
मेरे शास्त्र-तपस्या का फल, नहीं मिल रहा मुझे जरा-सा ॥ ४१ ॥
क्योंकि न माता-पिता, मुझे हैं भू-स्थित मरणासन्न समझते।
चलने में असमर्थ, जानकर भी, वे हैं अब क्या कर सकते ॥ ४२ ॥
तरु टूटते हुए को जैसे बचा न सकता है तरु आकर।
वैसे ही उन असमर्थों को, दो संवाद तुम्हीं नृप ! जाकर ॥ ४३ ॥
भस्म अन्यथा कर देंगे वे क्रुद्ध तुम्हें वन के पावक-सम।
राजन् ! यह पथ वहीं जा रहा जहाँ पिता जी का है आश्रम ॥ ४४ ॥
उन्हें प्रसन्न करो तुम जाकर, जिससे वे न शाप दें प्रकुपित।
बाहर करो ! तीक्ष्ण शर, इससे मर्म हो रहा मेरा पीड़ित ॥
यथा नदी-जल-वेग मृदुल बालू तट को करता विच्छिन्नित।
मैंने सोचा, शरबिधा क्लेशमय, शर खींचे पर मरण सुनिश्चित ॥
शर निकालने की दुबिधा मेरे मन में तब थी अति छाई।
दुखी, दीन, शोकातुर मम गति, मुनिकुमार के मन में आई ॥
बात यथार्थ समझकर मुनि-सुत ऋषि ने मुझे उपाय बताया।
मुझे, ग्लानि में पड़े देखकर, कष्टपूर्वक यह समझाया ॥
राजन् ! दुखी अचेष्ट हुआ मैं, अंगों में होती है तड़पन।
मृत्यु-समीप, क्लेशयुत, फिर भी कथन सधैर्य सुनो देकर मन ॥४५-४९॥
'मैंने की द्विज-हत्या', ऐसा ताप हृदय से सभी हटाओ !।
मैं ब्राह्मण हूँ नहीं, अतः नृप ! व्यथा न मन में इसकी लाओ ॥ ५० ॥

---

[1] देर तक।

शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो नरवराधिप।
इतीव वदतः कृच्छ्राद् बाणाभिहतमर्मणः ॥ ५१ ॥
विघूर्णतो विचेष्टस्य वेपमानस्य भूतले।
तस्य त्वाताम्यमानस्य तं बाणमहमुद्धरम्।
स मामुद्वीक्ष्य संत्रस्तो जहौ प्राणांस्तपोधनः ॥ ५२ ॥
जलार्द्रगात्रं तु विलप्य कृच्छ्रं
मर्मव्रणं संततमुच्छ्वसन्तम्।
ततः सरय्वां तमहं शयानं
समीक्ष्य भद्रे सुभृशं विषण्णः ॥ ५३ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमः सर्गः

राजा दशरथ का अपने द्वारा मुनिकुमार के वध से दुखी हुए उनके माता-पिता के विलाप और उनके दिये हुए शाप का प्रसंग सुनाकर कौसल्या के समीप रोते-बिलखते हुए आधी रात के समय अपने प्राणों को त्याग देना

वधमप्रतिरूपं तु महर्षेस्तस्य राघवः।
विलपन्नेव धर्मात्मा कौसल्यामिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
तदज्ञानान्महत्पापं कृत्वा संकुलितेन्द्रियः।
एकस्त्वचिन्तयं बुद्ध्या कथं नु सुकृतं भवेत् ॥ २ ॥
ततस्तं घटमादाय पूर्णं परमवारिणा।
आश्रमं तमहं प्राप्य यथाख्यातपथं गतः ॥ ३ ॥
तत्राहं दुर्बलावन्धौ वृद्धावपरिणायकौ।
अपश्यं तस्य पितरौ लूनपक्षाविव द्विजौ ॥ ४ ॥
तन्निमित्ताभिरासीनौ कथाभिरपरिश्रमौ।
तामाशां मत्कृते हीनावुपासीनावनाथवत् ॥ ५ ॥
शोकोपहतचित्तश्च भयसंत्रस्तचेतनः।
तच्चाश्रमपदं गत्वा भूयः शोकमहं गतः ॥ ६ ॥
पदशब्दं तु मे श्रुत्वा मुनिर्वाक्यमभाषत।
किं चिरायसि मे पुत्र पानीयं क्षिप्रमानय ॥ ७ ॥

शूद्रा माँ औ वैश्य पिता से जन्म, अतः मैं विप्र कहाँ से ? ॥
शर-मर्माहत बड़े कष्ट से, वे इतना कह, रुके वहाँ से ॥ ५१ ॥
उनकी आँखें घूम रही थीं, थे अचेष्ट वे होते जाते
धरणी पर छटपटा रहे थे, जीवनान्त का दुख थे पाते।
उनकी दुखदा स्थिति में मैंने, अतः निकाला शर को तन से
मुझे देख, वे त्रस्त तपोधन, विमुख हुए अपने जीवन से ॥ ५२ ॥
जल में भीगे, बड़े कष्ट से वे करते थे विलपन
लेते थे उच्छ्वास[1], मर्म-व्रण[2] से पीड़ित था तब तन।
भद्रे ! अपने प्राण उन्होंने सरयू-तट पर त्यागे
मुनि-सुत को तब देख बहुत ही मैं हो गया दुखित मन ॥ ५३ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में तिरसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६३ ॥

चौंसठवाँ सर्ग

राजा दशरथ का अपने द्वारा मुनिकुमार के वध से दुखी हुए उनके माता-पिता के विलाप और उनके दिये हुए शाप का प्रसंग सुनाकर कौसल्या के समीप रोते-बिलखते हुए आधी रात के समय अपने प्राणों को त्याग देना

अनुचित वह महर्षि-वध धार्मिक दशरथ अपने मन में लाकर।
निज सुत-हित विलपन कर, बोले कौसल्या से यह, अकुलाकर ॥ १ ॥
देवि ! अजाना[3] महापाप कर, मैं हो व्यथितेन्द्रिय शोकित मन।
वहाँ अकेला निजक्षेम[4] का करने लगा बुद्धि से चिन्तन ॥ २ ॥
मैंने वह घट उठा, भर लिया, उसमें सरयू का जल उत्तम।
और उसे ले, मुनि-सुत-दर्शित, पथ से पहुँचा उनके आश्रम ॥ ३ ॥
कृश[5], वृद्धान्ध[6] पिता, माता को उनके, देखा वहाँ पहुँचकर।
निःसहाय वे थे, जैसे हों खग के कटे हुए दोनों पर ॥ ४ ॥
सुत-आगमन-प्रतीक्षा में थे, उन्हें नहीं था श्रम का अनुभव।
यद्यपि थे अनाथ, मम-कारण एवं आशा-नष्ट बहुत तब ॥ ५ ॥
मैं शोकाकुल था पहले से, था अति भय-वश तथा अचेतन।
मुनि-आश्रम पर पहुँच और भी होने लगा शोक-संवर्धन ॥ ६ ॥
मेरे पग की आहट सुनकर तब मुनिवर वे बोले ऐसे।
लाओ जल ! अति शीघ्र पुत्र तुम ! हुआ विलम्ब इस तरह कैसे ? ॥ ७ ॥

---

१ गरम साँस; २ मर्मस्थल के घाव; ३ अज्ञान में; ४ अपने कल्याण का; ५ दुबले; ६ बूढ़े और अंधे।

यन्निमित्तमिदं तात सलिले क्रीडितं त्वया।
उत्कण्ठिता ते मातेयं प्रविश क्षिप्रमाश्रमम्॥ ८॥
यद् व्यलीकं कृतं पुत्र मात्रा ते यदि वा मया।
न तन्मनसि कर्तव्यं त्वया तात तपस्विना॥ ९॥
त्वं गतिस्त्वगतीनां च चक्षुस्त्वं हीनचक्षुषाम्।
समासक्तास्त्वयि प्राणाः कथं त्वं नाभिभाषसे॥ १०॥
मुनिमव्यक्तया वाचा तमहं सज्जमानया।
हीनव्यञ्जनया प्रेक्ष्य भीतचित्त इवाब्रुवम्॥ ११॥
मनसः कर्म चेष्टाभिरभिसंस्तभ्य वाग्बलम्।
आचचक्षे त्वहं तस्मै पुत्रव्यसनजं भयम्॥ १२॥
क्षत्रियोऽहं दशरथो नाहं पुत्रो महात्मनः।
सज्जनावमतं दुःखमिदं प्राप्तं स्वकर्मजम्॥ १३॥
भगवंश्चापहस्तोऽहं सरयूतीरमागतः।
जिघांसुः श्वापदं किंचिन्निपाने वागतं गजम्॥ १४॥
ततः श्रुतो मया शब्दो जले कुम्भस्य पूर्यतः।
द्विपोऽयमिति मत्वाहं बाणेनाभिहतो मया॥ १५॥
गत्वा तस्यास्ततस्तीरमपश्यमिषुणा हृदि।
विनिर्भिन्नं गतप्राणं शयानं भुवि तापसम्॥ १६॥
ततस्तस्यैव वचनादुपेत्य परितप्यतः।
स मया सहसा बाण उद्धृतो मर्मतस्तदा॥ १७॥
स चोद्धृतेन बाणेन सहसा स्वर्गमास्थितः।
भगवन्तावुभौ शोचन्नन्धाविति विलप्य च॥ १८॥
अज्ञानाद् भवतः पुत्रः सहसाभिहतो मया।
शेषमेवं गते यत् स्यात् तत् प्रसीदतु मे मुनिः॥ १९॥
स तच्छ्रुत्वा वचः क्रूरं मया तदघशंसिना।
नाशकत् तीव्रमायासं स कर्तुं भगवानृषिः॥ २०॥
स बाष्पपूर्णवदनो निःश्वसञ्छोकमूर्च्छितः।
मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम्॥ २१॥
यद्येतदशुभं कर्म न स्म मे कथयेः स्वयम्।
फलेन्मूर्धा स्म ते राजन् सद्यः शतसहस्रधा॥ २२॥
क्षत्रियेण वधो राजन् वानप्रस्थे विशेषतः।
ज्ञानपूर्वं कृतः स्थानाच्च्यावयेदपि वज्रिणम्॥ २३॥

जिस कारण से की जल-क्रीड़ा, तात! देर तक वह बतलाओ।
उत्कण्ठिता[1] तुम्हारी माँ हैं अतः शीघ्र आश्रम में आओ॥ ८ ॥
यदि मैंने या माँ ने कोई अप्रिय किया हो, पुत्र तुम्हारा।
उसे चाहिए तात! भुलाना, तुम जैसे तापस के द्वारा॥ ९ ॥
हो आश्रय, हम निःसहाय के, नयन-हीन के तुम्हीं नयन हो।
हैं तुममें ही प्राण हमारे, क्यों न बोलते वचन कुछ, कहो॥ १० ॥
मुनि-दर्शन से हुआ भीत[2] लड़खड़ा रही थी जिह्वा मेरी।
बोला मैं अस्पष्ट वचन, कर यत्न, न होने पाई देरी॥ ११ ॥
मन के भय को दबा यत्न से, कुछ कहने का सम्बल[3] पाया।
पुत्र-मरण-संकट जो मुनि पर आया था, वह उन्हें बताया॥ १२ ॥
मैं सुत नहीं आपका, मैं हूँ एक महात्मन्! दशरथ क्षत्रिय।
मैंने कर्मज[4] दुख पाया वह, जो है सज्जन-निन्दित अप्रिय॥ १३ ॥
भगवन्! चाप-हस्त[5] मैं, सरयू-तट आया था यह विचार कर।
मारूं उसको, जो जल पीने, आये गज या वन पशु दुर्धर॥ १४ ॥
जल में घट भरने का मुझको, शब्द वहाँ सुनने में आया।
गज जल पीता है, मैंने यह समझ, उधर ही बाण चलाया॥ १५ ॥
जा सरयू-तट, देखा वह शर लगा तपस्वी-हृदयस्थल पर।
और विमूर्च्छित मृतप्राय वे, पड़े हुए हैं भू पर गिरकर॥ १६ ॥
पीड़ित होते हुए बाण से, कहा उन्होंने ही मुझसे जब।
मैंने दिया निकाल बाण को, उनके मर्मस्थल से फिर तब॥ १७ ॥
शर-निष्कासन-सँग[6] ही सहसा, गये स्वर्ग वे होकर विलपित[7]।
उन्हें, आप निज अन्धे माता, पिता हेतु अति दुख था निश्चित॥ १८ ॥
हुआ आपके सुत का वध, मुझ अज्ञानी से सहसा मुनिवर!।
शापित करें, क्षमा या चाहें जो! वह करें आप निश्चयकर॥ १९ ॥
मेरे मुख से ही, तब मेरे क्रूर पाप की वार्ता सुनकर।
दे न सके अभिशाप मुझे वे, भस्मसात् होने का ऋषिवर॥ २० ॥
हुआ अश्रु-युत उनका मुख, वे हुए शोक-निःश्वसित विमूर्च्छित।
मैं साञ्जलि[8] समक्ष था उनके, तब बोले तेजस्वि अपरिमित॥ २१ ॥
राजन्! तुम यदि स्वयं न आकर, पापकर्म अपना बतलाते।
तो अति शीघ्र तुम्हारे मस्तक के सहस्र टुकड़े हो जाते॥ २२ ॥
क्षत्रिय करता वान-प्रस्थि-वध, यदि विशेषतः, भूप! ज्ञान-स्थित।
तो उस वज्री[9]-सम को भी वह पाप स्थान-च्युत करता निश्चित॥ २३ ॥

---

१ अधीर; २ डरा हुआ; ३ सहारा; ४ अपने कर्म से; ५ हाथ में धनुष लिये; ६ बाण निकालते ही; ७ रोते हुए; ८ हाथ जोड़े; ९ वज्रधर इन्द्र।

सप्तधा तु भवेन्मूर्धा मुनौ तपसि तिष्ठति।
ज्ञानाद् विसृजतः शस्त्रं तादृशे ब्रह्मवादिनि ॥ २४ ॥
अज्ञानाद्धि कृतं यस्मादिदं ते तेन जीवसे।
अपि ह्यकुशलं न स्याद् राघवाणां कुतो भवान् ॥ २५ ॥
नय नौ नृप तं देशमिति मां चाभ्यभाषत।
अद्य तं द्रष्टुमिच्छावः पुत्रं पश्चिमदर्शनम् ॥ २६ ॥
रुधिरेणावसिक्ताङ्गं प्रकीर्णाजिनवाससम्।
शयानं भुवि निःसंज्ञं धर्मराजवशं गतम् ॥ २७ ॥
अथाहमेकस्तं देशं नीत्वा तौ भृशदुःखितौ।
अस्पर्शयमहं पुत्रं तं मुनिं सह भार्यया ॥ २८ ॥
तौ पुत्रमात्मनः स्पृष्ट्वा तमासाद्य तपस्विनौ।
निपेततुः शरीरेऽस्य पिता चैनमुवाच ह ॥ २९ ॥
नाभिवादयसे माद्य न च मामभिभाषसे।
किं च शेषे तु भूमौ त्वं वत्स किं कुपितो ह्यसि ॥ ३० ॥
नन्वहं तेऽप्रियः पुत्र मातरं पश्य धार्मिकीम्।
किं च नालिङ्गसे पुत्र सुकुमार वचो वद ॥ ३१ ॥
कस्य वा पररात्रेऽहं श्रोष्यामि हृदयङ्गमम्।
अधीयानस्य मधुरं शास्त्रं वान्यद् विशेषतः ॥ ३२ ॥
को मां संध्यामुपास्यैव स्नात्वा हुतहुताशनः।
श्लाघयिष्यत्युपासीनः पुत्रशोकभयार्दितम् ॥ ३३ ॥
कन्दमूलफलं हृत्वा यो मां प्रियमिवातिथिम्।
भोजयिष्यत्यकर्मण्यमप्रग्रहमनायकम् ॥ ३४ ॥
इमामन्धां च वृद्धां च मातरं ते तपस्विनीम्।
कथं पुत्र भरिष्यामि कृपणां पुत्रगर्धिनीम् ॥ ३५ ॥
तिष्ठ मा मा गमः पुत्र यमस्य सदनं प्रति।
श्वो मया सह गन्तासि जनन्या च समेधितः ॥ ३६ ॥
उभावपि च शोकार्तावनाथौ कृपणौ वने।
क्षिप्रमेव गमिष्यावस्त्वया हीनौ यमक्षयम् ॥ ३७ ॥
ततो वैवस्वतं दृष्ट्वा तं प्रवक्ष्यामि भारतीम्।
क्षमतां धर्मराजो मे बिभृयात् पितरावयम् ॥ ३८ ॥
दातुमर्हति धर्मात्मा लोकपालो महायशाः।
ईदृशस्य ममाक्षय्यामेकामभयदक्षिणाम् ॥ ३९ ॥

ब्रह्मवादि, तप-रत मुनि पर जो शस्त्र छोड़ता जान-बूझकर।
होते हैं, उसके मस्तक के सात खण्ड, वैसे तो सत्वर[1] ॥ २४ ॥
जीवित हो, अज्ञात[2] पाप कर, यदि करते! ज्ञानस्थ[3] अन्यथा।
तो क्या बात तुम्हारी केवल, होता रघु-कुल नष्ट सर्वथा ॥ २५ ॥
वहाँ ले चलो! हम दोनों को, भूप! जहाँ है मेरा मृत सुत।
दर्शनार्थि हम आज देख बस, फिर तो होंगे दर्शन से च्युत ॥ २६ ॥
रक्त-सना[4] मुनि-सुत अचेत तन क्रूरकाल-वश, पड़े धरणि पर।
उनके बिखरे केश, वसन, मृग-चर्म आदि फैले करुणाकर ॥ २७ ॥
वहाँ अकेले मैंने ही तब दुखी दम्पती को पहुँचाया।
सपत्नीक उन मुनि को, उनके सुत-शरीर का स्पर्श कराया ॥ २८ ॥
जाकर निकट तपस्वी दोनों, अपने सुत का तभी स्पर्श कर।
गिरे सुवन पर तथा कलपते बोले तब वे पिता मुनीश्वर ॥ २९ ॥
नहीं कर रहे आज नमन तुम! तथा न मुख से बोल ही रहे।
क्या मुझसे तुम रुष्ट हो गये? मौन धरणि पर शयन कर रहे ॥ ३० ॥
सुत सुकुमार! धार्मिकी माँ को, देखो यदि मैं अ-प्रिय तुम्हारा।
लगते क्यों न हृदय से इनके? बोलो पुत्र! वचन कुछ प्यारा ॥ ३१ ॥
अगली रजनी में मधु स्वर से, करते हुए शास्त्र का सु-पठन।
भला सुनूँगा किसके मुख से, विशेषतः ग्रन्थों के सु-वचन ॥ ३२ ॥
सेवा और सान्त्वना बूढ़े पुत्र-शोक-भय-पीड़ित की अब।
कृतस्नान, संध्या, हवनादिक, कौन करेगा, पास बैठ कब? ॥ ३३ ॥
नान्न-संग्रही[5], कर्माश्रय से हीन, मुझे प्रिय अतिथि-सदृश फिर।
कन्द, मूल, फल लाकर भोजन कौन करायेगा अब सुरुचिर ॥ ३४ ॥
सुतोत्कण्ठिता[6] वृद्धा अन्धी, पुत्र! तुम्हारी दीना माता।
मैं उसका पोषण अब कैसे कर पाऊँगा? समझ न पाता ॥ ३५ ॥
ठहरो पुत्र! आज मत जाओ! तुम ऐसे ही अभी यम-सदन।
मेरे एवं निज माता के सँग, कल चलना! है ऐसा मन ॥ ३६ ॥
हम दोनों ही अब अनाथ हैं, और शोक से आर्त अधिकतर।
इससे, बिना तुम्हारे रहने पर, हम भी जायेंगे यम-घर ॥ ३७ ॥
धर्मराज को देख, कहूँगा छोड़ें! सुत को आप क्षमा कर।
जिससे माता और पिता की सेवा का, पाये यह अवसर ॥ ३८ ॥
वे धर्मात्मा, लोकपाल हैं, महायशस्वी, त्रिभुवन-सुविदित।
दे सकते हैं मुझ अनाथ को एक बार वे अभय सु-निश्चित ॥ ३९ ॥

---

१ तत्काल; २ अनजान में; ३ जान-बूझकर; ४ खून में लथपथ;
५ अन्न-संग्रह से असमर्थ; ६ पुत्र के लिए आकुल।

अपापोऽसि यथा पुत्र निहतः पापकर्मणा।
तेन सत्येन गच्छाशु ये लोकास्त्वस्त्रयोधिनाम् ॥ ४० ॥
यां हि शूरा गतिं यान्ति संग्रामेष्वनिर्वर्तिनः।
हतास्त्वभिमुखाः पुत्र गतिं तां परमां व्रज ॥ ४१ ॥
यां गतिं सगरः शैब्यो दिलीपो जनमेजयः।
नहुषो धुन्धुमारश्च प्राप्तास्तां गच्छ पुत्रक ॥ ४२ ॥
या गतिः सर्वभूतानां स्वाध्यायात् तपसश्च या।
भूमिदस्याहिताग्नेश्च एकपत्नीव्रतस्य च ॥ ४३ ॥
गोसहस्रप्रदातॄणां गुरुसेवाभृतामपि।
देहन्यासकृतां या च तां गतिं गच्छ पुत्रक ॥ ४४ ॥
न हि त्वस्मिन् कुले जातो गच्छत्यकुशलां गतिम्।
स तु यास्यति येन त्वं निहतो मम बान्धवः ॥ ४५ ॥
एवं स कृपणं तत्र पर्यदेवयतासकृत्।
ततोऽस्मै कर्तुमुदकं प्रवृत्तः सह भार्यया ॥ ४६ ॥
स तु दिव्येन रूपेण मुनिपुत्रः स्वकर्मभिः।
स्वर्गमध्यारुहत् क्षिप्रं शक्रेण सह धर्मवित् ॥ ४७ ॥
आबभाषे च तौ वृद्धौ शक्रेण सह तापसः।
आश्वस्य च मुहूर्तं तु पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४८ ॥
स्थानमस्मि महत् प्राप्तो भवतोः परिचारणात्।
भवन्तावपि च क्षिप्रं मम मूलमुपैष्यथः ॥ ४९ ॥
एवमुक्त्वा तु दिव्येन विमानेन वपुष्मता।
आरुरोह दिवं क्षिप्रं मुनिपुत्रो जितेन्द्रियः ॥ ५० ॥
स कृत्वाथोदकं तूर्णं तापसः सह भार्यया।
मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥ ५१ ॥
अद्यैव जहि मां राजन् मरणे नास्ति मे व्यथा।
यः शरेणैकपुत्रं मां त्वमकार्षीरपुत्रकम् ॥ ५२ ॥
त्वयापि च यदज्ञानान्निहतो मे स बालकः।
तेन त्वामपि शप्स्येऽहं सुदुःखमतिदारुणम् ॥ ५३ ॥
पुत्रव्यसनजं दुःखं यदेतन्मम साम्प्रतम्।
एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन् कालं करिष्यसि ॥ ५४ ॥
अज्ञानात्तु हतो यस्मात् क्षत्रियेण त्वया मुनिः।
तस्मात् त्वां नाविशत्याशु ब्रह्महत्या नराधिप ॥ ५५ ॥

तुम हो अनघ[1], किन्तु तुमको है एक पापि क्षत्रिय ने मारा।
इससे, अस्त्र-योधि-लोकों में, जाओ! मेरे सत् के द्वारा ॥ ४० ॥
रण-अनिवर्तित[2] शूर, युद्ध में सम्मुख मरकर पाता जो गति।
पुत्र! उसी अति उत्तम गति को निश्चय जाओ! तुम भी सम्प्रति ॥ ४१ ॥
सगर, दिलीप, शैव्य, जनमेजय, नृपति नहुष, सुत! धुन्धुमार सब।
प्राप्त कर चुके हैं जो सद्गति, उसको ही तुम प्राप्त करो! अब ॥ ४२ ॥
तप, स्वाध्याय-निरत, भू-दाता तथा एकपत्नी-व्रत-धारी।
इसी भाँति से अग्निहोत्रि जन, होते हैं जिसके अधिकारी ॥ ४३ ॥
गौ सहस्र-दानी, गुरु-सेवक और महाप्रस्थानिक[3] त्यागी।
जो गति पाते, पुत्र! सर्वदा, तुम भी हो उस गति के भागी ॥ ४४ ॥
मेरे तापस-कुल में जन्मा पुरुष, नहीं दुर्गति पाएगा।
उसमें, तुम सम मेरे आत्मज का हत्यारा ही जाएगा ॥ ४५ ॥
करने लगे विलाप, दीन हो निज पत्नी सह वे फिर मुनिवर।
एवं निज सुत को जल-अञ्जलि देने हेतु हुए वे तत्पर ॥ ४६ ॥
फिर मुनि-सुत अपने पुण्यों से होकर परम दिव्य तन-धारी।
साथ इन्द्र के स्वर्ग-गमन की करने लगे शीघ्र तैयारी ॥ ४७ ॥
इन्द्र-सहित तपसी ने अपने वृद्ध पिता, माता से कुछ क्षण।
बातें करके, आश्वासन दे, बोला पूज्य पिता से तत्क्षण ॥ ४८ ॥
हुआ आप दोनों की सेवा से मैं महास्थान का प्रापक[4]।
मेरे पास आप दोनों भी आ जाएँगे शीघ्र वहाँ तक ॥ ४९ ॥
एवं विजितेन्द्रिय मुनि-सुत वे, शीघ्र वचन ऐसा तब कहकर।
गये स्वर्ग को दिव्याकृति के सुन्दरतम विमान पर चढ़कर ॥ ५० ॥
महातेज तापस सभार्य[5] वे जल-अञ्जलि देकर निज सुत हित।
हाथ जोड़कर, बोले मुझसे, जो कि वहाँ पर था समुपस्थित ॥ ५१ ॥
भूप! आज ही मारो मुझको, मुझे नहीं नृप! मरण की व्यथा।
एक मात्र सुत-वध से तुमने! मुझको किया अपुत्र सर्वथा ॥ ५२ ॥
तुमने अज्ञानावस्था[6] में मेरे सुत का वध कर डाला।
इससे दारुण शाप तुम्हें मैं दूँगा, दुर्गति देनेवाला ॥ ५३ ॥
कष्ट हो रहा सुत-वियोग में मुझको इस अवसर पर जैसा।
होगा भूप! तुम्हें भी सुत का कष्ट, मृत्यु-प्रद निश्चय वैसा ॥ ५४ ॥
क्षत्रिय होकर अनजाने में किया वैश्य मुनि-वध मनुजेश्वर!।
अतः न ब्राह्मण-वध का, फिर भी बहुत शीघ्र ही तुम्हें महत्तर ॥

१ निष्पाप; २ युद्ध में पीठ न दिखानेवाले; ३ महाप्रस्थान करनेवाले; ४ प्राप्त करनेवाला; ५ पत्नी-सहित; ६ अनजान में।

त्वामप्येतादृशो भावः क्षिप्रमेव गमिष्यति ।
जीवितान्तकरो घोरो दातारमिव दक्षिणाम् ॥ ५६ ॥
एवं शापं मयि न्यस्य विलप्य करुणं बहु ।
चितामारोप्य देहं तन्मिथुनं स्वर्गमभ्ययात् ॥ ५७ ॥
तदेतच्चिन्तयानेन स्मृतं पापं मया स्वयम् ।
तदा बाल्याद् कृतं देवि शब्दवेध्यनुकर्षिणा ॥ ५८ ॥
तस्यायं कर्मणो देवि विपाकः समुपस्थितः ।
अपथ्यैः सह सम्भुक्ते व्याधिरन्नरसे यथा ॥ ५९ ॥
तस्मान्मामागतं भद्रे तस्योदारस्य तद् वचः ।
इत्युक्त्वा स रुदंस्त्रस्तो भार्यामाह तु भूमिपः ॥ ६० ॥
यदहं पुत्रशोकेन संत्यजिष्यामि जीवितम् ।
चक्षुर्भ्यां त्वां न पश्यामि कौसल्ये त्वं हि मां स्पृश ॥ ६१ ॥
यमक्षयमनुप्राप्ता द्रक्ष्यन्ति नहि मानवाः ।
यदि मां संस्पृशेद् रामः सकृदन्वारभेत वा ॥ ६२ ॥
धनं वा यौवराज्यं वा जीवेयमिति मे मतिः ।
न तन्मे सदृशं देवि यन्मया राघवे कृतम् ॥ ६३ ॥
सदृशं तत्तु तस्यैव यदनेन कृतं मयि ।
दुर्वृत्तमपि कः पुत्रं त्यजेद् भुवि विचक्षणः ॥ ६४ ॥
कश्च प्रव्राज्यमानो वा नासूयेत् पितरं सुतः ।
चक्षुषा त्वां न पश्यामि स्मृतिर्मम विलुप्यते ॥ ६५ ॥
दूता वैवस्वतस्यैते कौसल्ये त्वरयन्ति माम् ।
अतस्तु किं दुःखतरं यदहं जीवितक्षये ॥ ६६ ॥
नहि पश्यामि धर्मज्ञं रामं सत्यपराक्रमम् ।
तस्यादर्शनजः शोकः सुतस्याप्रतिकर्मणः ॥ ६७ ॥
उच्छोषयति वै प्राणान् वारि स्तोकमिवातपः ।
न ते मनुष्या देवास्ते ये चारुशुभकुण्डलम् ॥ ६८ ॥
मुखं द्रक्ष्यन्ति रामस्य वर्षे पञ्चदशे पुनः ।
पद्मपत्रेक्षणं सुभ्रु सुदंष्ट्रं चारुनासिकम् ॥ ६९ ॥
धन्या द्रक्ष्यन्ति रामस्य ताराधिपसमं मुखम् ।
सदृशं शारदस्येन्दोः फुल्लस्य कमलस्य च ॥ ७० ॥
सुगन्धित मम रामस्य धन्या द्रक्ष्यन्ति ये मुखम् ।
निवृत्तवनवासं तमयोध्यां पुनरागतम् ॥ ७१ ॥

पापज कष्ट मिलेगा भीषण, ऐसा ही मरणप्रद वैसे।
मिलता है अनुरूप दक्षिणा देनेवाले को, फल जैसे ॥५५-५६॥
करुण विलाप, बहुत दोनों ने किया, शाप दे ऐसा मुझको।
निज शरीर को ज्वलित चिता में डाल, गये वे तथा स्वर्ग को ॥ ५७ ॥
देवि ! बाल्य-वश, शब्दवेधि शर मुनि को मार तथा कर कर्षण[1]।
सुत-वियोग-चिन्तित, मैं करता, उनके वध के पाप का स्मरण ॥ ५८ ॥
रोगोत्पत्ति, अपथ्य अन्न-रस-भोजन से होती है जैसे।
पाप-कर्म-फल देवि ! उपस्थित आज हुआ मेरा है वैसे ॥ ५९ ॥
भद्रे ! फल देने को आया, उन उदार मुनि-शाप का वचन।
यह कह, मृत्यु-भीत नृप बोले भार्या से करके अति विलपन ॥ ६० ॥
मेरा स्पर्श करो ! निज आँखों से न देख मैं तुमको पाता।
कौसल्ये ! अब पुत्र-शोक से मैं हूँ प्राण त्यागने जाता ॥ ६१ ॥
देख न पाते स्व-बान्धवों को, यम-पुर-यात्री होते जब नर।
हाँ यदि एक बार ही छू लें मुझे पास आ, राम पुत्रवर ॥ ६२ ॥
यौवराज्य औ धन स्वीकारें, तो है मेरी जीवन-आशा।
मेरा कृत व्यवहार राम-सँग, उचित नहीं था देवि जरा-सा ॥ ६३ ॥
मेरे सँग जो किया राम ने, वह है योग्य उन्हीं के निश्चित।
भला दुराचारी सुत का भी त्याग करेगा ज्ञानी कश्चित ॥ ६४ ॥
कौन पुत्र है, गृह-निष्कासित हो, न पिता को जो कोसे अति।
देख न पाता तुम्हें नेत्र से क्रमशः होती है विलुप्त मति ॥ ६५ ॥
मुझे शीघ्र ले चलने को हैं उत्सुक कौसल्ये ! यम-किंकर[2]।
मरण-समय दुख-कारण होगा, अब क्या मेरा इससे बढ़कर ? ॥
जो न धर्मविद्, सत्यविक्रमी, जग-अनन्य के दर्शन पाता।
नहीं देखने से सुत को, है शोक हमारा बढ़ता जाता ॥६६-६७॥
थोड़े जल को, धूप-सदृश अब प्राणों को सुत-शोक सुखाता।
वे नर नहीं, देवता हैं जो शुभ कुण्डल-धर लक्ष्मण-भ्राता ॥
रामचन्द्र का मुख देखेंगे, पन्द्रहवाँ वत्सर आने पर।
जिनके कमल-नयन, शुभ भौंहें, हैं सुदन्त नासिका मनोहर ॥
वे हैं धन्य, पुनः देखेंगे, जो चन्द्रोपम रामचन्द्र-मुख।
सुरभित फुल्ल कमल, शारद-शशि[3]-सम के पाएँगे दर्शन-सुख ॥६८-७०॥
परम धन्य हैं वे, जो दर्शन राम-कमलमुख का पायेंगे।
वन-निवास की अवधि बिताकर, राम अयोध्या जब आयेंगे ॥

---

१ निकालकर; २ यमदूत; ३ शरच्चन्द्र।

द्रक्ष्यन्ति सुखिनो रामं शुक्रं मार्गगतं यथा।
कौसल्ये चित्तमोहेन हृदयं सीदतेतराम् ॥ ७२ ॥
वेदये न च संयुक्ताञ्शब्दस्पर्शरसानहम्।
चित्तनाशाद् विपद्यन्ते सर्वाण्येवेन्द्रियाणि हि।
क्षीणस्नेहस्य दीपस्य संरक्ता रश्मयो यथा ॥ ७३ ॥
अयमात्मभवः शोको मामनाथमचेतनम्।
संसाधयति वेगेन यथा कूलं नदीरयः ॥ ७४ ॥
हा राघव महाबाहो हा ममायासनाशन।
हा पितृप्रिय मे नाथ हा ममासि गतः सुत ॥ ७५ ॥
हा कौसल्ये न पश्यामि हा सुमित्रे तपस्विनि।
हा नृशंसे ममामित्रे कैकेयि कुलपांसनि ॥ ७६ ॥
इति मातुश्च रामस्य सुमित्रायाश्च संनिधौ।
राजा दशरथः शोचञ्जीवितान्तमुपागमत् ॥ ७७ ॥

तथा तु दीनः कथयन् नराधिपः
प्रियस्य पुत्रस्य विवासनातुरः।
गतेऽर्धरात्रे भृशदुःखपीडित-
स्तदा जहौ प्राणमुदारदर्शनः ॥ ७८ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

बन्दीजनों का स्तुतिपाठ, राजा दशरथ को दिवंगत हुआ जान उनकी रानियों का करुण-विलाप

अथ रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरेवापरेऽहनि।
वन्दिनः पर्युपातिष्ठंस्तत्पार्थिवनिवेशनम् ॥ १ ॥
सूताः परमसंस्कारा मागधाश्चोत्तमश्रुताः।
गायकाः श्रुतिशीलाश्च निगदन्तः पृथक्पृथक् ॥ २ ॥
राजानं स्तुवतां तेषामुदात्ताभिहिताशिषाम्।
प्रासादाभोगविस्तीर्णः स्तुतिशब्दो ह्यवर्तत ॥ ३ ॥
ततस्तु स्तुवतां तेषां सूतानां पाणिवादकाः।
अपदानान्युदाहृत्य पाणिवादानवादयन् ॥ ४ ॥

मूढ़ावस्था-त्याग, शुक्र है जैसे उच्चमार्ग पर आता।
कौसल्ये! है मेरा मोहित चित्त, हृदय फटता-सा जाता॥
इन्द्रिय से संयुक्त न अब मैं, शब्द, स्पर्श, रस-अनुभव पाता।
अरुणप्रभा-विलीन दीप ज्यों, तैल न रहने पर हो जाता॥
उसी भाँति से नष्ट हो रही, मेरी चेतनता भी तो अब।
नष्ट हो चली हैं कौसल्ये! मेरी तथा इन्द्रियाँ भी सब॥
काट गिराता, किसी नदी का वेग, स्वयं के तट को जैसे।
करता मुझे अचेतन, अपना आत्मज-शोक वेग से वैसे॥७१-७४॥
महाबाहु हा राम! पिता के प्रिय सुत! मेरे कष्ट-निवारन।
मेरे नाथ! तथा मेरे सुत! चले गये तुम कहाँ आज वन?॥ ७५ ॥
हा कौसल्ये! तपी सुमित्रे! मुझे यहाँ कुछ नहीं दिखाता।
कुलांगार! क्रूरे! रिपु-पापिनि! हा कैकेयि! आज मैं जाता॥ ७६ ॥
राम-मातु कौसल्या एवं निकट सुमित्रा के, विलाप कर।
जीवन की अन्तिमा अवधि में महाशोक-पीड़ित वे नृपवर॥ ७७ ॥
निज प्रिय सुत-वनवास-दुःख था नृप का बढ़ता जाता
उन दशरथ के मुख में अतिशय दीन वचन था आता।
आधी रात बीत जाने पर और अधिक हो पीड़ित
नृप उदारदर्शन ने त्यागा निज प्राणों से नाता॥ ७८ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में चौंसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६४ ॥

पैंसठवाँ सर्ग

वन्दीजनों का स्तुतिपाठ, राजा दशरथ को दिवंगत हुआ जान उनकी रानियों का करुण-विलाप

निशा बीतने पर, द्वितीय दिन, जब आया प्रातः का अवसर।
राज-भवन में हुए उपस्थित तभी वहाँ वन्दीजन मिलकर॥ १ ॥
आये सूत परम संस्कारी एवं मागध-विश्रुत[1] उत्तम।
नृप-स्तुति गाते हुए वहाँ पर, गायक भी श्रुतियों में सक्षम॥ २ ॥
आशिष् दे, नृप-स्तवन-गान तब सबने उच्चस्वर में गाया।
जिसका नाद राज-महलों के अन्तःस्थल में था अति छाया॥ ३ ॥
करतल-वादक भी नृप-कुल के बीते अद्भुत शौर्य बताकर।
करने लगे स्तवन, गति-लय से भलीभाँति तालियाँ बजाकर॥ ४ ॥

---

1 वंश-परम्परा का ज्ञान रखनेवाले प्रसिद्ध भाटजन।

तेन शब्देन विहगाः प्रतिबुद्धाश्च सस्वनुः ।
शाखास्थाः पञ्जरस्थाश्च ये राजकुलगोचराः ॥ ५ ॥
व्याहृताः पुण्यशब्दाश्च वीणानां चापि निःस्वनाः ।
आशीर्गेयं च गाथानां पूरयामास वेश्म तत् ॥ ६ ॥
ततः शुचिसमाचाराः पर्युपस्थानकोविदाः ।
स्त्रीवर्षवरभूयिष्ठा उपतस्थुर्यथापुरा ॥ ७ ॥
हरिचन्दनसम्पृक्तमुदकं काञ्चनैर्घटैः ।
आनिन्युः स्नानशिक्षाज्ञा यथाकालं यथाविधि ॥ ८ ॥
मङ्गलालम्भनीयानि प्राशनीयान्युपस्करान् ।
उपानिन्युस्तथा पुण्याः कुमारीबहुलाः स्त्रियः ॥ ९ ॥
सर्वलक्षणसम्पन्नं सर्वं विधिवदर्चितम् ।
सर्वं सुगुणलक्ष्मीवत् तदभूदाभिहारिकम् ॥ १० ॥
ततः सूर्योदयं यावत् सर्वं परिसमुत्सुकम् ।
तस्थावनुपसम्प्राप्तं किंस्विदित्युपशङ्कितम् ॥ ११ ॥
अथ याः कोसलेन्द्रस्य शयनं प्रत्यनन्तराः ।
ताः स्त्रियस्तु समागम्य भर्तारं प्रत्यबोधयन् ॥ १२ ॥
अथाप्युचितवृत्तास्ता विनयेन नयेन च ।
नह्यस्य शयनं स्पृष्ट्वा किंचिदप्युपलेभिरे ॥ १३ ॥
ताः स्त्रियः स्वप्नशीलज्ञाश्चेष्टासंचलनादिषु ।
ता वेपथुपरीताश्च राज्ञः प्राणेषु शङ्किताः ॥ १४ ॥
प्रतिस्रोतस्तृणाग्राणां सदृशं संचकाशिरे ।
अथ संदेहमानानां स्त्रीणां दृष्ट्वा च पार्थिवम् ।
यत् तदाशङ्कितं पापं तदा जज्ञे विनिश्चयः ॥ १५ ॥
कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकपराजिते ।
प्रसुप्ते न प्रबुध्येते यथा कालसमन्विते ॥ १६ ॥
निष्प्रभा सा विवर्णा च सन्ना शोकेन संनता ।
न व्यराजत कौसल्या तारेव तिमिरावृता ॥ १७ ॥
कौसल्यानन्तरं राज्ञः सुमित्रा तदनन्तरम् ।
न स्म विभ्राजते देवी शोकाश्रुलुलिताननना ॥ १८ ॥

तरु-शाखा-स्थित, एवं नृप-कुल-पिञ्जर-विचरक[1] शुक आदिक सब।
जाग गये, फिर लगे चहकने, उन सबकी वह ध्वनि सुनकर तब ॥ ५ ॥
पुण्य शब्द कह रहे विप्र थे, था वीणा-स्वन मधुरिम न्यारा।
गाथा आशीर्वाद-गीत से, राज-भवन गुञ्जित था सारा ॥ ६ ॥
बहुसंख्यक खोजे[2], नारी औ अतिशय कुशल सदाचारी नित।
पहले की ही भाँति भवन में, सब सेवक भी हुए उपस्थित ॥ ७ ॥
स्नान-विधा-ज्ञाता, विधिपूर्वक स्वर्ण-घटों में चन्दन-मिश्रित।
जल ले करके ठीक समय पर, हुए भृत्य भी सभी उपस्थित ॥ ८ ॥
और मांगलिक स्पृश्य[3] वस्तुएँ, पुण्य पेय जल-युता नारियाँ।
भी आईं, उपकरण आदि ले, जिनमें थीं बहुशः कुमारियाँ ॥ ९ ॥
प्रातः नृप-मंगल की चीज़ें, जो कि आभिहारिक[4] कहलातीं।
वे सुलक्षणा, गुण, आदर, स्तुति योग्या थीं विधिवत् तब भातीं[5] ॥ १० ॥
हुए उपस्थित, नृप-सेवोत्सुक परिजन, सूर्योदय तक आकर।
किन्तु हुए वे सब आशंकित, नृपति अदर्शन[6] तब तक पाकर ॥ ११ ॥
कोसलेन्द्र[7] के अति समीप में, रहनेवाली महिलाएँ फिर।
लगीं जगाने निज स्वामी को, हो उनकी शय्या-समीप-स्थिर ॥ १२ ॥
उन नृप-स्पृश्या, नम्र नारियों ने, कर शय्या-स्पर्श जगाया।
किन्तु न उन सबने फिर भी कुछ, जीवन-चिह्न नृपति में पाया ॥ १३ ॥
स्वपित-जनस्थिति-विज्ञ[8] उन्होंने, देखी नाड़ी चेष्टादिक सब।
नृप की प्राण-हीनता-शंका, से वे हुईं सभी कम्पित तब ॥ १४ ॥
नृप की ओर देखकर वे सब, हुईं मृत्यु से उनकी शंकित।
और बाद में सबने समझा, मृत्यु हो गयी नृप की निश्चित ॥
जल-प्रवाह-सम्मुख गत तृण का, अग्र भाग काँपे अति जैसे।
नृपति-मरण-शंकाकुल वे सब, काँप उठीं महिलाएँ वैसे ॥ १५ ॥
तब कौसल्या और सुमित्रा, मृत-सम थीं देतीं दिखलायी।
सुत-शोकार्ता उन दोनों की, नींद न तब तक थी खुल पायी ॥ १६ ॥
था शरीर का वर्ण विरूपित, शोकाक्रान्ता थीं वे पीड़ित।
श्री-हीना तारा-सी लगतीं थीं कौसल्या तम[9] से छादित ॥ १७ ॥
नृप-समीप कौसल्या, उनके पास, सुमित्रा देवी थीं स्थित।
निद्रा-वश, श्री-हीन मुखों पर अश्रु, शोक के उनके बिखरित ॥ १८ ॥

ते च दृष्ट्वा तदा सुप्ते उभे देव्यौ च तं नृपम्।
सुप्तमेवोद्गतप्राणमन्तःपुरममन्यत ॥ १९ ॥
ततः प्रचुक्रुशुर्दीनाः सस्वरं ता वराङ्गनाः।
करेणव इवारण्ये स्थानप्रच्युतयूथपाः ॥ २० ॥
तासामाक्रन्दशब्देन सहसोद्गतचेतने।
कौसल्या च सुमित्रा च त्यक्तनिद्रे बभूवतुः ॥ २१ ॥
कौसल्या च सुमित्रा च दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च पार्थिवम्।
हा नाथेति परिक्रुश्य पेततुर्धरणीतले ॥ २२ ॥
सा कोसलेन्द्रदुहिता चेष्टमाना महीतले।
न भ्राजते रजोध्वस्ता तारेव गगनच्युता ॥ २३ ॥
नृपे शान्तगुणे जाते कौसल्यां पतितां भुवि।
अपश्यंस्ताः स्त्रियः सर्वा हतां नागवधूमिव ॥ २४ ॥
ततः सर्वा नरेन्द्रस्य कैकेयीप्रमुखाः स्त्रियः।
रुदत्यः शोकसंतप्ता निपेतुर्गतचेतनाः ॥ २५ ॥
ताभिः स बलवान् नादः क्रोशन्तीभिरनुद्रुतः।
येन स्फीतीकृतो भूयस्तद् गृहं समनादयत् ॥ २६ ॥
तत् परित्रस्तसम्भ्रान्तपर्युत्सुकजनाकुलम्।
सर्वतस्तुमुलाक्रन्दं परितापार्तबान्धवम् ॥ २७ ॥
सद्योनिपतितानन्दं दीनं विक्लवदर्शनम्।
बभूव नरदेवस्य सद्म दिष्टान्तमीयुषः ॥ २८ ॥
अतीतमाज्ञाय तु पार्थिवर्षभं
यशस्विनं तं परिवार्य पत्नयः।
भृशं रुदत्यः करुणं सुदुःखिताः
प्रगृह्य बाहू व्यलपन्ननाथवत् ॥ २९ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमः सर्गः

राजा के लिए कौसल्या का विलाप और कैकेयी की भर्त्सना, मन्त्रियों का राजा के शव को तेल से भरे हुए कड़ाह मे सुलाना, रानियों का विलाप, पुरी की श्रीहीनता और पुरवासियों का शोक

तमग्निमिव संशान्तमम्बुहीनमिवार्णवम्।
गतप्रभमिवादित्यं स्वर्गस्थं प्रेक्ष्य भूमिपम् ॥ १ ॥

तब महिलाओं ने समझा, जब देवि-युगल के थे निद्रा-क्षण।
इन्हें देखने से लगता है, तभी हुआ नृप-प्राण-निष्क्रमण[1] ॥ १९ ॥
यथा विपिन-गजपति के जाने से करतीं चीत्कार हथिनियाँ।
वैसे ही चीत्कार कर उठीं, उच्चस्वर में दीन रानियाँ ॥ २० ॥
उन महिलाओं के रोने का नाद सर्वतः छाया अति जब।
सहित सुमित्रा, कौसल्या की निद्रा टूटी, जाग उठीं तब ॥ २१ ॥
फिर कौसल्या और सुमित्रा ने नृप-तन को छूकर जाना।
कह, हा नाथ! गिर पड़ीं भू पर, (युगल रानियाँ[2] मृतक-समाना) ॥ २२ ॥
कोसलेन्द्र-वनिता भू-पतिता, विमूच्छिता वे धूलि-धूसरित।
लगती थीं, है शोभा-हीना, धूलिस्था तारा-नभ-प्रपतित[3] ॥ २३ ॥
नृप-तन को उष्णता-रहित लख, कौसल्या अचेत थीं ऐसे।
तब वे लगीं, स्त्रियों को नागिन, भू-पतिता मूच्छित हो जैसे ॥ २४ ॥
कैकेयी-प्रमुखी नरेन्द्र की आई थीं जो महिलाएँ सब।
वे मूच्छित अति शोक-तप्त हो, रोती हुई गिरीं भू पर तब ॥ २५ ॥
वह पहले का क्रन्दन, आगत महिलाओं के क्रन्दन द्वारा।
कई गुना हो गया, उसी से लगा गूँजने नृप-गृह सारा ॥ २६ ॥
मृत-नृप-गृह-परितप्त, भीत अति उत्सुक बन्धु और बान्धव सब।
आये, जिनका रोदन-क्रन्दन शब्द भयंकर छाया था तब ॥ २७ ॥
और नृपति का भवन हो गया, तब आनन्द-विहीन सर्वथा।
मृतक नृपति के दर्शक थे तब, दीन दुखी उद्भ्रान्त[4] अति तथा ॥ २८ ॥

जब निश्चित हो गया स्वर्ग को गये यशस्वी नृपवर
तब उनकी परिवार-पत्नियाँ आकुल, मन में दुख भर।
नृप को घेर, पकड़कर उनकी बाँहें उच्चःस्वर से
रोने लगीं, अनाथा जैसी, अति करुणा-विलपन कर ॥ २९ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में पैंसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६५ ॥

छाछठवाँ सर्ग

राजा के लिए कौसल्या का विलाप और कैकेयी की भर्त्सना, मन्त्रियों का राजा के शव को तेल से भरे हुए कड़ाह में सुलाना, रानियों का विलाप, पुरी की श्रीहीनता और पुरवासियों का शोक

शान्त अग्नि, जल-हीन सिन्धु औ प्रभा-हीन रवि-सदृश अशोभित।
उन स्वर्गस्थ नृपति के शव को देख, अत्यधिक होकर क्षोभित ॥ १ ॥

---

१ निकलना; २ दोनों रानियाँ; ३ आकाश से गिरी; ४ चक्कर आने लगना।

कौसल्या बाष्पपूर्णाक्षी विविधं शोककर्शिता।
उपगृह्य शिरो राज्ञः कैकेयीं प्रत्यभाषत ॥ २ ॥
सकामा भव कैकेयि भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम्।
त्यक्त्वा राजानमेकाग्रा नृशंसे दुष्टचारिणि ॥ ३ ॥
विहाय मां गतो रामो भर्ता च स्वर्गतो मम।
विपथे सार्थहीनेव नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ४ ॥
भर्तारं तु परित्यज्य का स्त्री दैवतमात्मनः।
इच्छेज्जीवितुमन्यत्र कैकेय्यास्त्यक्तधर्मणः ॥ ५ ॥
न लुब्धो बुध्यते दोषान् किंपाकमिव भक्षयन्।
कुब्जानिमित्तं कैकेय्या राघवाणां कुलं हतम् ॥ ६ ॥
अनियोगे नियुक्तेन राज्ञा रामं विवासितम्।
सभार्यं जनकः श्रुत्वा परितप्स्यत्यहं यथा ॥ ७ ॥
स मामनाथां विधवां नाद्य जानाति धार्मिकः।
रामः कमलपत्राक्षो जीवन्नाशमितो गतः ॥ ८ ॥
विदेहराजस्य सुता तथा चारुतपस्विनी।
दुःखस्यानुचिता दुःखं वने पर्युद्विजिष्यति ॥ ९ ॥
नदतां भीमघोषाणां निशासु मृगपक्षिणाम्।
निशम्यमाना संत्रस्ता राघवं संश्रयिष्यति ॥ १० ॥
वृद्धश्चैवाल्पपुत्रश्च वैदेहीमनुचिन्तयन्।
सोऽपि शोकसमाविष्टो नूनं त्यक्ष्यति जीवितम् ॥ ११ ॥
साहमद्यैव दिष्टान्तं गमिष्यामि पतिव्रता।
इदं शरीरमालिङ्ग्य प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥ १२ ॥
तां ततः सम्परिष्वज्य विलपन्तीं तपस्विनीम्।
व्यपनिन्युः सुदुःखार्तां कौसल्यां व्यावहारिकाः ॥ १३ ॥
तैलद्रोण्यां तदामात्याः संवेश्य जगतीपतिम्।
राज्ञः सर्वाण्यथादिष्टाश्चक्रुः कर्माण्यनन्तरम् ॥ १४ ॥
न तु संकालनं राज्ञो विना पुत्रेण मन्त्रिणः।
सर्वज्ञाः कर्तुमीषुस्ते ततो रक्षन्ति भूमिपम् ॥ १५ ॥
तैलद्रोण्यां शायितं तं सचिवैस्तु नराधिपम्।
हा मृतोऽयमिति ज्ञात्वा स्त्रियस्ताः पर्यदेवयन् ॥ १६ ॥
बाहूनुच्छ्रित्य कृपणा नेत्रप्रस्रवणैर्मुखैः।
रुदत्यः शोकसंतप्ताः कृपणं पर्यदेवयन् ॥ १७ ॥

बहुशोकार्ता वे कौसल्या निज नयनों में आँसू भरकर।
नृप-मस्तक स्व गोद में रखकर बोलीं कैकेयी से कटुतर ॥ २ ॥
इच्छा-पूर्ति हुई, कैकेयी क्रूरे! तेरी दुष्टाचारिणि!।
हो अब एकचित्त-नृपत्यागिनि! राज्य अकण्टक-सुख-अधिकारिणि ॥ ३ ॥
राम गये वन, मुझे त्याग, मम अबला के पति स्वर्ग सिधारे।
मैं जीवन-रुचि हीन हो गयी दुर्गम पथ में विना सहारे ॥ ४ ॥
कैकेयी को छोड़, कौन सी नारी होगी धर्मत्यागिनि।
देव-समान त्याग पति को जो होवे जीवन की अनुरागिनि ॥ ५ ॥
धन-लोभी. विष खिला किसी को, नहीं सोचता फल को जैसे।
रघुकुल-नाश किया, कैकेयी ने कुब्जा-वश होकर वैसे ॥ ६ ॥
नृप-अयोग्य दुष्कृत[1] से भेजा, भार्या-सहित राम को वन में।
सुनकर यह वृत्तान्त, जनक नृप, दुःख करेंगे कितना मन में ॥ ७ ॥
वनगमन समय नृप जीवित थे, रघुवर को बस यही ज्ञात है।
कमल-नयन को पता कहाँ? पति-हीन, निराश्रित आज मात है ॥ ८ ॥
चारु तपस्विनि वैदेही जो रही सदा दुख-भोग-अयोग्या।
अति उद्विग्ना[2] होगी तब, जब वह होवेगी वन-दुख-भोग्या ॥ ९ ॥
जब निशि में खग-पशु की बोली भयकरी सुन होगी भीता[3]।
राम-गोद में तब शरणागत होगी, वह वैदेही सीता ॥ १० ॥
वृद्ध जनक जिनकी कन्याएँ ही सन्तति हैं, वे हो चिन्तित।
शोक-सिन्धु में डूब सिया के, स्वतः प्राण त्यागेंगे निश्चित ॥ ११ ॥
मैं भी पतिव्रता नारी-सम, स्वर्गलोक में होऊँगी स्थित।
पति-शरीर-आलिंगन करके, चिता-अग्नि में होकर प्रविशित ॥ १२ ॥
दुःख-आर्त, निज पति से लिपटी, उन कौसल्या को जब पाया।
तब सचिवों ने तपस्विनी को, अलग नारियों से हटवाया ॥ १३ ॥
नृप-शरीर को तैल-पात्र में, वसिष्ठादि-आज्ञा से रखकर।
सबने, विधिवत् राज्य-कार्य को शीघ्र संभाला शव-रक्षा कर ॥ १४ ॥
शव का दाह न विना पुत्र के, कर पाये वे विज्ञ मन्त्रिवर।
अतः भूप के शव-रक्षा में, वहाँ हो गये वे सब तत्पर ॥ १५ ॥
नृप-शरीर को तैल-पात्र में शयित[4], रानियों ने जब पाया।
तब हा! नृप मृत हैं, यह कहकर, विलपन हाहाकार मचाया ॥ १६ ॥
बाहु उठा, रोती थीं दीना, मुख पर थे आँसू के झरने।
विलपन अति दयनीय शोक से, हो संतप्त लगी वे करने ॥ १७ ॥

१ राजा को दुष्कर्म में लगाकर; २ चिन्तित; ३ डरी हुई; ४ सोया हुआ।

हा महाराज रामेण संततं प्रियवादिना ।
विहीनाः सत्यसंधेन किमर्थं विजहासि नः ॥ १८ ॥
कैकेय्या दुष्टभावाया राघवेण विवर्जिताः ।
कथं सपत्न्या वत्स्यामः समीपे विधवा वयम् ॥ १९ ॥
स हि नाथः स चास्माकं तव च प्रभुरात्मवान् ।
वनं रामो गतः श्रीमान् विहाय नृपतिश्रियम् ॥ २० ॥
त्वया तेन च वीरेण विना व्यसनमोहिताः ।
कथं वयं निवत्स्यामः कैकेय्या च विदूषिताः ॥ २१ ॥
यया च राजा रामश्च लक्ष्मणश्च महाबलः ।
सीतया सह संत्यक्ताः सा कमन्यं न हास्यति ॥ २२ ॥
ता बाष्पेण च संवीताः शोकेन विपुलेन च ।
व्यचेष्टन्त निरानन्दा राघवस्य वरस्त्रियः ॥ २३ ॥
निशा नक्षत्रहीनेव स्त्रीव भर्तृविवर्जिता ।
पुरी नाराजतायोध्या हीना राज्ञा महात्मना ॥ २४ ॥
बाष्पपर्याकुलजना हाहाभूतकुलाङ्गना ।
शून्यचत्वरवेश्मान्ता न बभ्राज यथापुरम् ॥ २५ ॥

गते तु शोकात् त्रिदिवं नराधिपे
महीतलस्थासु नृपाङ्गनासु च ।
निवृत्तचारः सहसा गतो रविः
प्रवृत्तचारा रजनी ह्युपस्थिता ॥ २६ ॥
ऋते तु पुत्राद् दहनं महीपते-
र्नारोचयंस्ते सुहृदः समागताः ।
इतीव तस्मिञ्छयने न्यवेशयन्
विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥ २७ ॥
गतप्रभा द्यौरिव भास्करं विना
व्यपेतनक्षत्रगणेव शर्वरी ।
पुरी बभासे रहिता महात्मना
कण्ठास्रकण्ठाकुलमार्गचत्वरा ॥ २८ ॥

सत्यसंध, प्रियवादि राम से, हम सब बिछुड़ीं, बोलीं वे तब।
महाराज! हा! त्याग हमारा, भला आप भी क्यों करते अब ?॥ १८ ॥
बिछुड़ी हुई राम से, हम सब पति-हीना अक्षम हैं वैसे।
दुष्ट-भाव-कैकेयि सौत के, पास रहेंगी हम सब कैसे ?॥ १९ ॥
जो प्रभु, आप और हम सबकी रक्षा में रहते थे तत्पर।
गये मनस्वी राम, विपिन[1] वे, उत्तम राज्य-श्री को तजकर॥ २० ॥
आप और श्रीराम वीर के विना, महासंकट है हम पर।
अब कैकेयी-सौत-तिरस्कृत, कैसे रह पाएँगी घर पर॥ २१ ॥
जिसने नृपति, राम-सह सीता, और बली लक्ष्मण को त्यागा।
उसके द्वारा त्याज्य[2] न होगा, कैसे कोई अन्य अभागा ?॥ २२ ॥
रघुकुल-नृप-सुन्दरी रानियाँ, शोक-ग्रस्त थीं अश्रु बहातीं।
निरानन्द विलपित उनमें चेष्टाएँ दुखमय विविध दिखातीं॥ २३ ॥
नृपति महात्मा - बिना, अयोध्यापुरी हुई नक्षत्र - हीन - सम।
एवं पति-हीना नारी-सम, श्री-हीना हो गयी शून्यतम॥ २४ ॥
'हा हा' करतीं कुलांगनाएँ, अश्रु बहाते थे तब सब नर।
शून्य भवन, चौराहे, नगरी, पहले से न लग रहे सुन्दर॥ २५ ॥

शोकित नृप वे गये स्वर्ग को, सभी रानियाँ भू-स्थित
लोट रही थीं, अतिशोकित हो, एवं होकर विलपित।
इसी शोक से हुए अस्त रवि, रुकीं रश्मियों[3] की गति
तब फिर तम[4] फैलाती रजनी[5], आकर हुई उपस्थित॥ २६ ॥

आया था जो वहाँ सुहृद्‌गण, सभी ओर से सारा
उसने विना पुत्र के, नृप का दाह नहीं स्वीकारा।
अब अचिन्त्य[6] होंगे नृप-दर्शन, यही समझकर सबने
तैल-पात्र में नृप के शव को पूरी तरह सँभाला॥ २७ ॥

प्रभाहीन नभ विना सूर्य के, गत-नक्षत्रा रजनी
जैसी, पुरी अयोध्या की वह, थी श्री-हीना अवनी[7]।
नृपति महात्मा-विना वहाँ तब, पथ के चौराहों पर
आकुल जन-समूह कहता था, बातें अपनी-अपनी॥ २८ ॥

---

१ वन; २ त्यागा जाना; ३ किरणें; ४ अन्धकार; ५ रात्रि; ६ ध्यान में न आनेवाले; ७ (अयोध्या की) भूमि।

नराश्च नार्यश्च समेत्य संघशो
विगर्हमाणा भरतस्य मातरम्।
तदा नगर्यां नरदेवसंक्षये
बभूवुरार्ता न च शर्म लेभिरे॥ २९॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः॥ ६६॥

सप्तषष्टितमः सर्गः

मार्कण्डेय आदि मुनियों तथा मन्त्रियों का राजा के विना होनेवाली देश की दुरवस्था का वर्णन करके वशिष्ठ जी से किसी को राजा बनाने के लिए अनुरोध

आक्रन्दिता निरानन्दा सास्रकण्ठजनाविला।
अयोध्यायामवतता सा व्यतीयाय शर्वरी॥ १॥
व्यतीतायां तु शर्वर्यामादित्यस्योदये ततः।
समेत्य राजकर्तारः सभामीयुर्द्विजातयः॥ २॥
मार्कण्डेयोऽथ मौद्गल्यो वामदेवश्च कश्यपः।
कात्यायनो गौतमश्च जाबालिश्च महायशाः॥ ३॥
एते द्विजाः सहामात्यैः पृथग्वाचमुदीरयन्।
वसिष्ठमेवाभिमुखाः श्रेष्ठं राजपुरोहितम्॥ ४॥
अतीता शर्वरी दुःखं या नो वर्षशतोपमा।
अस्मिन् पञ्चत्वमापन्ने पुत्रशोकेन पार्थिवे॥ ५॥
स्वर्गस्थश्च महाराजो रामश्चारण्यमाश्रितः।
लक्ष्मणश्चापि तेजस्वी रामेणैव गतः सह॥ ६॥
उभौ भरतशत्रुघ्नौ केकयेषु परंतपौ।
पुरे राजगृहे रम्ये मातामहनिवेशने॥ ७॥
इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद् राजा विधीयताम्।
अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात्॥ ८॥
नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वनः।
अभिवर्षति पर्जन्यो महीं दिव्येन वारिणा॥ ९॥
नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते।
नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे॥ १०॥
अराजके धनं नास्ति नास्ति भार्याप्यराजके।
इदमत्याहितं चान्यत् कुतः सत्यमराजके॥ ११॥

झुण्ड बनाकर पुरुष, नारियाँ तब फिर जगह-जगह पर
भरत-मातु, कैकेयी की निन्दा में अतिशय तत्पर।
नृपति-मृत्यु से, पुरी अयोध्या-नागर थे शोकाकुल
शान्ति न पाता था कोई भी, इस दुखमय अवसर पर॥ २६ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में छाछठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६६ ॥

सरसठवाँ सर्ग

मार्कण्डेय आदि मुनियों तथा मन्त्रियों का राजा के बिना होनेवाली देश की दुरवस्था का वर्णन करके वसिष्ठ जी से किसी को राजा बनाने के लिए अनुरोध

बीती रात, अयोध्या की तब, निरानन्द अतिशय दुखदाई।
साश्रुकण्ठ[1] लोगों को रजनी[2] अतिशय बड़ी, समझ में आई॥ १ ॥
बीती रात, हुआ सूर्योदय, तभी राज्य-सञ्चालनकारी।
ब्राह्मण आये राज-सभा में, थे प्रबन्ध के जो अधिकारी॥ २ ॥
मार्कण्डेय महात्मा, कश्यप, श्री मौद्गल्य तथा कात्यायन।
वामदेव, जाबालि, महायश श्री गौतम का हुआ आगमन॥ ३ ॥
पृथक्-पृथक् ये द्विज, सचिवों से लगे परस्पर में बतलाने।
राज पुरोहित श्री वसिष्ठ को, हार्दिक बातें लगे सुनाने॥ ४ ॥
बोले, सुत-शोकित भूपति की मृत्यु रात्रि अतिशय दुखदाई।
हम लोगों को सौ वर्षों से अधिक बिताने-जैसी छाई॥ ५ ॥
महाराज स्वर्गस्थ हुए अब, राम हुए हैं विपिन-निवासी।
श्री लक्ष्मण भी गये साथ में, तेजस्वी, भ्राता-विश्वासी॥ ६ ॥
भरत और शत्रुघ्न नृपति-सुत, जो कि शत्रु का ताप बढ़ाते।
वे नाना केकय-सुरम्य गृह में रहकर हैं (सब सुख पाते)॥ ७ ॥
करें किसी इक्ष्वाकु-पुत्र को, शीघ्र आज ही हम राज्यस्थित।
क्योंकि नृपति के बिना, राज्य का होता नाश, शीघ्र ही निश्चित॥ ८ ॥
विद्युन्माला-युत[3], अति गर्जक, दिव्य मेघ, जल नहीं गिराता।
उस जनपद-भू पर, जिस पर नृप कोई शासन नहीं चलाता॥ ९ ॥
नृप-विहीन जनपद-खेतों में, बीज-मुष्टिका[4] नहीं बिखरती।
नहीं पिता-वश पुत्र, वहाँ स्त्री पति-वश होकर नहीं विचरती॥ १० ॥
अपने स्त्री, धन भी न अराजक स्थल में हैं अपने हो पाते।
वहाँ महाभय स्थित रहता है, अन्य सत्य भी नहीं दिखाते॥ ११ ॥

---

१ आँसुओं से रुँधे गले; २ रात्रि; ३ बिजलियों से युक्त; ४ मुट्ठी भर अन्न।

नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां नराः ।
उद्यानानि च रम्याणि हृष्टाः पुण्यगृहाणि च ॥ १२ ॥
नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः ।
सत्राण्यन्वासते दान्ता ब्राह्मणाः संशितव्रताः ॥ १३ ॥
नाराजके जनपदे महायज्ञेषु यज्वनः ।
ब्राह्मणा वसुसम्पूर्णा विसृजन्त्याप्तदक्षिणाः ॥ १४ ॥
नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः ।
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः ॥ १५ ॥
नाराजके जनपदे सिद्धार्था व्यवहारिणः ।
कथाभिरभिरज्यन्ते कथाशीलाः कथाप्रियैः ॥ १६ ॥
नाराजके जनपदे तूद्यानानि समागताः ।
सायाह्ने क्रीडितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः ॥ १७ ॥
नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः ।
शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्षजीविनः ॥ १८ ॥
नाराजके जनपदे वाहनैः शीघ्रवाहिभिः ।
नरा निर्यान्त्यरण्यानि नारीभिः सह कामिनः ॥ १९ ॥
नाराजके जनपदे बद्धघण्टा विषाणिनः ।
अटन्ति राजमार्गेषु कुञ्जराः षष्टिहायनाः ॥ २० ॥
नाराजके जनपदे शरान् संततमस्यताम् ।
श्रूयते तलनिर्घोष इष्वस्त्राणामुपासने ॥ २१ ॥
नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः ।
गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यसमाचिताः ॥ २२ ॥
नाराजके जनपदे चरत्येकचरो वशी ।
भावयन्नात्मनाऽऽत्मानं यत्र सायं गृहो मुनिः ॥ २३ ॥
नाराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते ।
न चाप्यराजके सेना शत्रून् विषहते युधि ॥ २४ ॥
नाराजके जनपदे हृष्टैः परमवाजिभिः ।
नराः संयान्ति सहसा रथैश्च प्रतिमण्डिताः ॥ २५ ॥
नाराजके जनपदे नराः शास्त्रविशारदाः ।
संवदन्तोपतिष्ठन्ते वनेषूपवनेषु वा ॥ २६ ॥

नहीं अराजक[1] जनपद में जन पञ्च-सभास्थल हैं बनवाते।
रम्योद्यान हृष्ट-पुण्यालय, मन्दिर-निर्मिति नहीं कराते ॥ १२ ॥
याज्ञिक, कष्टव्रती, जितेन्द्रिय ब्राह्मण नहीं वहाँ पर जाते।
सह ऋत्विज, यजमान और मख[2] नहीं अनृप[1] में कहीं दिखाते ॥ १३ ॥
कहीं अनृप-जनपद में कोई महायज्ञ यदि हो भी जाता।
तो ऋत्विज[3] पर्याप्त दक्षिणा नहीं धनिक ब्राह्मण से पाता ॥ १४ ॥
नहीं समाजोत्सव कुछ होते, हृष्ट न नट, नर्तक हो पाते।
राष्ट्रोन्नायक[4] संघ आदि भी नहीं पनपते हुए दिखाते ॥ १५ ॥
विना नृपति, वादी, प्रतिवादी, व्यापारी कुछ लाभ न पाते।
उत्तम वाचक से भी, तब हैं नहीं कथा-प्रियपुरुष अघाते[5] ॥ १६ ॥
स्वर्ण-भूषिता कुमारियाँ भी, संध्या-समय साथ में मिलकर।
क्रीडा-हेतु उपवनों में जातीं न नृपति-विन सूने स्थल पर ॥ १७ ॥
अनृप[6] राज्य में नहीं सुरक्षित धनिक व्यक्ति हैं कभी दिखाते।
कृषि, गोरक्षक वैश्य, द्वार निज नहीं खोलकर हैं सो पाते ॥ १८ ॥
नृप-विहीन जनपद में, कामी जन भी उचित न अवसर पाते।
वन-विहार को शीघ्रग-वाहन[7] से, न नारियों-सँग हैं जाते ॥ १९ ॥
राज्य-पदस्थित जिस जनपद में होता नहीं प्रशंसित नृपवर।
साठ वर्ष के घण्टा-युत गज, वहाँ न चलते दन्तारेश्वर[8] ॥ २० ॥
सतत धनुर्विद्याभ्यासी जो वीर लक्ष्य पर बाण चलाते।
उनके प्रत्यञ्चा-करतल के शब्द न अनृपस्थल[1] में आते ॥ २१ ॥
अनृपस्थल से दूर वणिक् बिक्रेय[9] वस्तुएँ जो ले जाते।
वे भी नहीं कुशलता से हैं अपने पथ को तै कर पाते ॥ २२ ॥
सान्ध्य आश्रमी, ईश्वर-ध्यायी, एकाकी विचरक, विजितेन्द्रिय।
मुनिवर वहाँ न निज पद रखते, जहाँ नहीं हैं भूपति सक्रिय ॥ २३ ॥
नहीं अराजक में, अप्राप्य की प्राप्ति, प्राप्त-रक्षा हो पाती।
नृपति-विना, सेना भी रण में नहीं शत्रु के आगे आती ॥ २४ ॥
अनृप राज्य में हृष्ट-पुष्ट अति, अश्वों पर चढ़कर भूषित जन।
नहीं रथों से सहसा, विचरण-यात्रा का करते हैं कुछ मन ॥ २५ ॥
शास्त्र-विशारद, वन-उपवन में जो शास्त्रों की बात बताते।
वे भी नृप के विना राज्य में, सुख से नहीं ठहरने पाते ॥ २६ ॥

---

१ विना राजा के; २ यज्ञ; ३ होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा —यज्ञ में ये चार ऋत्विज होते हैं; ४ राष्ट्र को उन्नति देनेवाले; ५ सन्तुष्ट होते; ६ विना राजा के; ७ शीघ्र चलनेवाली सवारियों पर; ८ बड़े दाँतवाले; ९ बिक्री के लिए।

नाराजके जनपदे माल्यमोदकदक्षिणाः ।
देवताभ्यर्चनार्थाय कल्प्यन्ते नियतैर्जनैः ॥ २७ ॥
नाराजके जनपदे चन्दनागुरुरूषिताः ।
राजपुत्रा विराजन्ते वसन्ते इव शाखिनः ॥ २८ ॥
यथा ह्यनुदका नद्यो यथा वाप्यतृणं वनम् ।
अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम् ॥ २९ ॥
ध्वजो रथस्य प्रज्ञानं धूमो ज्ञानं विभावसोः ।
तेषां यो नो ध्वजो राजा स देवत्वमितो गतः ॥ ३० ॥
नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित् ।
मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ॥ ३१ ॥
ये हि सम्भिन्नमर्यादा नास्तिकाश्छिन्नसंशयाः ।
तेऽपि भावाय कल्पन्ते राजदण्डनिपीडिताः ॥ ३२ ॥
यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते ।
तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः ॥ ३३ ॥
राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम् ।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम् ॥ ३४ ॥
यमो वैश्रवणः शक्रो वरुणश्च महाबलः ।
विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता ततः ॥ ३५ ॥
अहो तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायेत किंचन ।
राजा चेन्न भवेल्लोके विभजन् साध्वसाधुनी ॥ ३६ ॥
जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम् ।
नातिक्रमामहे सर्वे वेलां प्राप्येव सागरः ॥ ३७ ॥
स नः समीक्ष्य द्विजवर्य वृत्तं
नृपं विना राष्ट्रमरण्यभूतम् ।
कुमारमिक्ष्वाकुसुतं तथान्यं
त्वमेव राजानमिहाभिषेचय ॥ ३८ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

मन को वश में रखनेवाले, पुष्प, दक्षिणा और मिठाई।
की न व्यवस्था करें देव-हित जहाँ अराजकता है छाई॥ २७॥
चन्दन, अगरु-विलिप्त नृपति-सुत, नहीं वसन्ती तरु-छवि पाते।
वहाँ, जहाँ के जनपद में, नृप, नहीं राज्य का भार उठाते॥ २८॥
निर्जल नदियाँ, घास-विना वन, ग्वालों विना धेनुएँ जैसे।
होतीं शोभा-हीन, नृपति के विना, राज्य निश्छवि[1] हैं वैसे॥ २९॥
रथ का ध्वज, एवं पावक[2] का यथा धूम्र है ज्ञान कराता।
वैसे हमें प्रकाशित करनेवाले, गये स्वर्ग को त्राता॥ ३०॥
नृप-विहीन स्थल में न मनुज की वस्तु स्वयं की है रह पाती।
बड़े मत्स्य से छोटे तिमि[3] की भक्षण-स्थिति दिखने में आती॥ ३१॥
मर्यादा-भेदक[4], नास्तिक जो राजदण्ड से दब जाएँगे।
अनृप राज्य में वे निःशंकित हो प्रभुत्व निज दिखलाएँगे॥ ३२॥
निज शरीर-हित में रत रहती, दृष्टि प्राणियों की है जैसे।
सदा राज्य में सत्य, धर्म का होता नृपति प्रवर्तक वैसे॥ ३३॥
सत्य, धर्म, कुलवानों का कुल, राजा, पिता और है माता।
एवं राजा सभी मनुष्यों के हित का होता है त्राता॥ ३४॥
नृप, कुबेर, यम, इन्द्र, महाबल वरुण आदि से होता बढ़कर।
एक साथ निज महा चरित में, चारों उच्च गुणों को रखकर॥ ३५॥
भले, बुरे का हो न विभाजन यदि जग में राजा के द्वारा।
तो कुछ सूझे नहीं तमस्[5] से ढक जाये ये जग ही सारा॥ ३६॥
उमड़ा सिन्धु स्वतट से आगे ज्यों न वसिष्ठ मुने! है बढ़ता।
त्यों नृप-जीवन में न उलंघन किया, सदा मानी तव प्रभुता[6]॥ ३७॥

देखें! हमें, और फिर देखें! पुनः राष्ट्र को द्विजवर!
नृप-विहीन जो, जंगल जैसा दिखता इस अवसर पर।
आप किसी इक्ष्वाकुज नृप-सुत का कर दें! अभिषिञ्चन
अथवा अन्य सुयोग्य व्यक्ति को, बिठलाएँ! नृप-पद पर॥ ३८॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में सरसठवाँ सर्ग समाप्त॥ ६७॥

---

१ शोभारहित; २ अग्नि; ३ मछली; ४ धर्म और नियत कर्म को भंग करनेवाले; ५ अन्धकार; ६ श्रेष्ठता।

अष्टषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ जी की आज्ञा से पांच दूतों का अयोध्या से केकय देश के राजगृह नगर में जाना

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा वसिष्ठः प्रत्युवाच ह।
मित्रामात्यजनान् सर्वान् ब्राह्मणांस्तानिदं वचः॥ १॥
यदसौ मातुलकुले दत्तराज्यः परं सुखी।
भरतो वसति भ्रात्रा शत्रुघ्नेन मुदान्वितः॥ २॥
तच्छीघ्रं जवना दूता गच्छन्तु त्वरितं हयैः।
आनेतुं भ्रातरौ वीरौ किं समीक्षामहे वयम्॥ ३॥
गच्छन्त्विति ततः सर्वे वसिष्ठं वाक्यमब्रुवन्।
तेषां तद् वचनं श्रुत्वा वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत्॥ ४॥
एहि सिद्धार्थ विजय जयन्ताशोकनन्दन।
श्रूयतामितिकर्तव्यं सर्वानेव ब्रवीमि वः॥ ५॥
पुरं राजगृहं गत्वा शीघ्रं शीघ्रजवैर्हयैः।
त्यक्तशोकैरिदं वाच्यः शासनाद् भरतो मम॥ ६॥
पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः।
त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया॥ ७॥
मा चास्मै प्रोषितं रामं मा चास्मै पितरं मृतम्।
भवन्तः शंसिषुर्गत्वा राघवाणामितः क्षयम्॥ ८॥
कौशेयानि च वस्त्राणि भूषणानि वराणि च।
क्षिप्रमादाय राज्ञश्च भरतस्य च गच्छत॥ ९॥
दत्तपथ्यशना दूता जग्मुः स्वं स्वं निवेशनम्।
केकयांस्ते गमिष्यन्तो हयानारुह्य सम्मतान्॥ १०॥
ततः प्रास्थानिकं कृत्वा कार्यशेषमनन्तरम्।
वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञाता दूता संत्वरितं ययुः॥ ११॥
न्यन्तेनापरतालस्य प्रलम्बस्योत्तरं प्रति।
निषेवमाणास्ते जग्मुर्नदीं मध्येन मालिनीम्॥ १२॥
ते हास्तिनपुरे गङ्गां तीर्त्वा प्रत्यङ्मुखा ययुः।
पाञ्चालदेशमासाद्य मध्येन कुरुजाङ्गलम्॥ १३॥
सरांसि च सुफुल्लानि नदीश्च विमलोदकाः।
निरीक्षमाणा जग्मुस्ते दूताः कार्यवशाद् द्रुतम्॥ १४॥
ते प्रसन्नोदकां दिव्यां नानाविहगसेविताम्।
उपातिजग्मुर्वेगेन शरदण्डां जलाकुलाम्॥ १५॥

अरसठवाँ सर्ग

वसिष्ठ जी की आज्ञा से पाँचों दूतों का अयोध्या से केकय देश के राजगृह नगर में जाना

श्री मार्कण्डेयादि द्विजों का वचन श्रवण कर उस अवसर पर।
मित्र, ब्राह्मणों और मन्त्रियों से बोले वसिष्ठ वे ऋषिवर ॥ १ ॥
राज्य दिया है जिन्हें नृपति ने, वे भ्राता शत्रुघ्न-सहित अब।
मुदित भरत, निज मामा-गृह में रहकर भोग रहे हैं सुख सब ॥ २ ॥
उन प्रवीर भ्राताओं को अब, द्रुतगामी[1] अश्वों के द्वारा।
दूत बुलाने जायँ, करेंगे क्या विचार हम और दुबारा? ॥ ३ ॥
हाँ हाँ, भेजें दूत शीघ्र ही, तब सबने भी किया समर्थन।
फिर वसिष्ठ ने उन दूतों को, सम्बोधित कर, कहा यह वचन ॥ ४ ॥
आओ तो! सिद्धार्थ, विजय सँग, तुम अशोक, नन्दन, जयन्त सब।
तुम सबको जो कुछ करना है, वह बतलाता मैं तुमसे अब ॥ ५ ॥
द्रुतगामी अश्वों पर चढ़कर, (केकय-) राज-भवन-पुर जाओ।
बिना शोक, मेरी आज्ञा से, भरतराज को यह बतलाओ ॥ ६ ॥
कहा आप से, सचिव, पण्डितों ने, कुमार! है कुशल-क्षेम सब।
कार्य आप से है आवश्यक, अतः अयोध्या चलें! शीघ्र अब ॥ ७ ॥
नहीं राम-वन-गमन, भरत को, पिता-मरण की बात बताना।
और न उनसे रघुकुल-क्रन्दन की भी कोई बात चलाना ॥ ८ ॥
केकयपति औ भरत-भेंट हित उत्तम आभूषण ले जाओ।
और वसन रेशमी, साथ ले जाने में मत देर लगाओ ॥ ९ ॥
केकय-देश-गमन-तत्पर वे दूतव्यय[2] लेकर पथ भर को।
अच्छे घोड़ों पर सवार हो, आये अपने-अपने घर को ॥ १० ॥
तदनन्तर यात्रा-सम्बन्धी, तैयारी पूरी कर समुचित।
श्री वसिष्ठ की आज्ञा लेकर, फिर हो गये शीघ्र ही प्रस्थित[3] ॥ ११ ॥
अपर ताल गिरि-अन्तिम दक्षिण तथा प्रलम्ब शैल के उत्तर।
मध्यस्था मालिनी नदी-तट से होकर वे चले दूतवर ॥ १२ ॥
तथा हस्तिनापुर में करके गंगा पार गये पश्चिम दिक्।
फिर पाञ्चाल, पुनः कुरु जांगल-मध्य देश से निकले यात्रिक[4] ॥ १३ ॥
पथ में फुल्ल सरोवर, निर्मल जल-नदियों के दर्शन करते।
दूत कार्य-वश, तीव्र गति से, रहे शीघ्र ही आगे बढ़ते ॥ १४ ॥
निर्मल जल-शोभिता, सुदिव्या, विविध पक्षियों द्वारा सेवित।
शरदण्डा सरिता-तट को भी, किया वेग से सबने लंघित ॥ १५ ॥

---

१ तेज चलनेवाले; २ मार्गव्यय; ३ रवाना हो गये; ४ यात्रा करनेवाले दूत।

निकूलवृक्षमासाद्य दिव्यं सत्योपयाचनम् ।
अभिगम्याभिवाद्यं तं कुलिङ्गां प्राविशन् पुरीम् ॥ १६ ॥
अभिकालं ततः प्राप्य तेजोऽभिभवनाच्च्युताः ।
पितृपैतामहीं पुण्यां तेरुरिक्षुमतीं नदीम् ॥ १७ ॥
अवेक्ष्याञ्जलिपानांश्च ब्राह्मणान् वेदपारगान् ।
ययुर्मध्येन वाह्लीकान् सुदामानं च पर्वतम् ॥ १८ ॥
विष्णोः पदं प्रेक्षमाणा विपाशां चापि शाल्मलीम् ।
नदीर्वापीतटाकानि पल्वलानि सरांसि च ॥ १९ ॥
पश्यन्तो विविधांश्चापि सिंहान् व्याघ्रान् मृगान् द्विपान् ।
ययुः पथातिमहता शासनं भर्तुरीप्सवः ॥ २० ॥
ते श्रान्तवाहना दूता विकृष्टेन सता पथा ।
गिरिव्रजं पुरवरं शीघ्रमासेदुरञ्जसा ॥ २१ ॥
भर्तुः प्रियार्थं कुलरक्षणार्थं
भर्तुश्च वंशस्य परिग्रहार्थम् ।
अहेडमानास्त्वरया स्म दूता
रात्र्यां तु ते तत्पुरमेव याताः ॥ २२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

भरत की चिन्ता, मित्रों द्वारा उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास तथा उनके पूछने पर भरत का मित्रों के समक्ष अपने देखे हुए भयंकर दुःस्वप्न का वर्णन करना

यामेव रात्रिं ते दूताः प्रविशन्ति स्म तां पुरीम् ।
भरतेनापि तां रात्रिं स्वप्नो दृष्टोऽयमप्रियः ॥ १ ॥
व्युष्टामेव तु तां रात्रिं दृष्ट्वा तं स्वप्नमप्रियम् ।
पुत्रो राजाधिराजस्य सुभृशं पर्यतप्यत ॥ २ ॥
तप्यमानं तमाज्ञाय वयस्याः प्रियवादिनः ।
आयासं विनयिष्यन्तः सभायां चक्रिरे कथाः ॥ ३ ॥
वादयन्ति तदा शान्तिं लासयन्त्यपि चापरे ।
नाटकान्यपरे स्माहुर्हास्यानि विविधानि च ॥ ४ ॥
स तैर्महात्मा भरतः सखिभिः प्रियवादिभिः ।
गोष्ठीहास्यानि कुर्वद्भिर्न प्राहृष्यत राघवः ॥ ५ ॥

दिव्य सत्य उपयाचन[1], तट-तरु के समीप वे हुए उपस्थित।
परिक्रमा कर उसकी, वे सब हुए कलिंगा नगरी-प्रविशित ॥ १६ ॥
किया ग्राम तेजोभिभवन को पार, ग्राम अभिकाल आ गये।
दशरथ-पूर्वज-सेवित पुण्या इक्षुमती के पार फिर गये ॥ १७ ॥
वहाँ वेद-पारग, मात्राञ्जलि-जलपायी तापस विप्रों के।
दर्शन कर, बाह्लीक-मध्य-स्थित पहुँचे शैल सुदामा होके ॥ १८ ॥
देख विष्णु-पद, गये विपाशा[2], और शाल्मली तरु-समीप फिर।
आगे देखे, नदी, बावड़ी, पोखर, छोटे-बड़े सर-रुचिर ॥ १९ ॥
विविध वन्य पशु, सिंह, व्याघ्र, मृग तथा गजों के भी दर्शन कर।
बढ़े सुविस्तृत पथ से, स्वामी-आज्ञा-पालनेच्छु सेवक वर ॥ २० ॥
विघ्न-हीन, लंबे पथ पर चल, थके अश्व दूतों के तब फिर।
और कष्ट के विना, गिरिव्रज श्रेष्ठ नगर में हुए सभी स्थिर ॥ २१ ॥
स्वामी-प्रिय, जनता-रक्षा में, अपना ध्यान लगाकर
भरत करें स्वीकार, वश-गत राज्य, भाव यह लाकर।
आदरपूर्वक उतावली से दूत सभी वे चलकर
शीघ्र उस नगर में पहुँचे, बस रात्रिमात्र में आकर ॥ २२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
अरसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६८ ॥

उनहत्तरवाँ सर्ग

भरत की चिन्ता, मित्रों द्वारा उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास तथा उनके पूछने पर भरत का मित्रों के समक्ष अपने देखे हुए भयंकर दुःस्वप्न का वर्णन करना

जिस रजनी में, दूत नगर में आये स्वामी-आज्ञाचारी।
उससे पहली रात्रि भरत ने देखा, अ-प्रिय स्वप्न भयकारी ॥ १ ॥
बीत रही थी प्रायः रजनी, जब प्रभात होने को आया।
तब राजाधिराज-सुत-मन का अ-प्रिय स्वप्न ने ताप बढ़ाया ॥ २ ॥
उनको चिन्तित समझ, सभा के प्रियवादी मित्रों ने मिलकर।
मन-सन्ताप दूर करने को, किये प्रयास कथाएँ कहकर ॥ ३ ॥
वीणा-वादन, नृत्य नाटकों के तब हुए विविध आयोजन।
हास्य-प्रमुखता से मित्रों ने, बहलाना चाहा उनका मन ॥ ४ ॥
हुए न हर्षित, भरत महात्मा, रघुकुल-भूषण मित्रों द्वारा।
हुआ प्रयास-व्यर्थ सब उनका, हास्य-गोष्ठी आदिक सारा ॥ ५ ॥

१ मन माँगा वर देनेवाला; २ व्यास नदी।

तमब्रवीत् प्रियसखो भरतं सखिभिर्वृतम् ।
सुहृद्भिः पर्युपासीनः किं सखे नानुमोदसे ॥ ६ ॥
एवं ब्रुवाणं सुहृदं भरतः प्रत्युवाच ह ।
शृणु त्वं यन्निमित्तं मे दैन्यमेतदुपागतम् ॥ ७ ॥
स्वप्ने पितरमद्राक्षं मलिनं मुक्तमूर्धजम् ।
पतन्तमद्रिशिखरात् कलुषे गोमये ह्रदे ॥ ८ ॥
प्लवमानश्च मे दृष्टः स तस्मिन् गोमये ह्रदे ।
पिबन्नञ्जलिना तैलं हसन्निव मुहुर्मुहुः ॥ ९ ॥
ततस्तिलोदनं भक्त्वा पुनः पुनरधःशिराः ।
तैलेनाभ्यक्तसर्वाङ्गस्तैलमेवान्वगाहत ॥ १० ॥
स्वप्नेऽपि सागरं शुष्कं चन्द्रं च पतितं भुवि ।
उपरुद्धां च जगतीं तमसेव समावृताम् ॥ ११ ॥
औपवाह्यस्य नागस्य विषाणं शकलीकृतम् ।
सहसा चापि संशान्ता ज्वलिता जातवेदसः ॥ १२ ॥
अवदीर्णां च पृथिवीं शुष्कांश्च विविधान् द्रुमान् ।
अहं पश्यामि विध्वस्तान् सधूमांश्चैव पर्वतान् ॥ १३ ॥
पीठे कार्ष्णायसे चैव निषण्णं कृष्णवाससम् ।
प्रहरन्ति स्म राजानं प्रमदाः कृष्णपिङ्गलाः ॥ १४ ॥
त्वरमाणश्च धर्मात्मा रक्तमाल्यानुलेपनः ।
रथेन खरयुक्तेन प्रयातो दक्षिणामुखः ॥ १५ ॥
प्रहसन्तीव राजानं प्रमदा रक्तवासिनी ।
प्रकर्षन्ती मया दृष्टा राक्षसी विकृतानना ॥ १६ ॥
एवमेतन्मया दृष्टमिमां रात्रिं भयावहाम् ।
अहं रामोऽथवा राजा लक्ष्मणो वा मरिष्यति ॥ १७ ॥
नरो यानेन यः स्वप्ने खरयुक्तेन याति हि ।
अचिरात्तस्य धूमाग्रं चितायां सम्प्रदृश्यते ॥ १८ ॥
एतन्निमित्तं दीनोऽहं न वचः प्रतिपूजये ।
शुष्यतीव च मे कण्ठो न स्वस्थमिव मे मनः ॥ १९ ॥
न पश्यामि भयस्थानं भयं चैवोपधारये ।
भ्रष्टश्च स्वरयोगो मे छाया चापगता मम ।
जुगुप्सन्निव चात्मानं न च पश्यामि कारणम् ॥ २० ॥

एक प्रिय सखा ने मित्रों के मध्य, भरत से पूछा ऐसे।
मित्र! मुदित तुम क्यों न हो रहे? हो उदास बोलो तो कैसे? ॥ ६ ॥
उत्तर में तब प्रिय सुमित्र को भरतराज ने यह बतलाया।
सुनो मित्र! जिस कारण से यह दैन्य हमारे मन में आया ॥ ७ ॥
मैंने देखा स्वप्न, पिता हैं मुक्तकेश, अत्यन्त मलिन मुख।
और गिर रहे, गोबर-कलुषित एक गढ़े में, अतः हुआ दुख ॥ ८ ॥
तैर-तैर गोबर-गड्ढे में, तैल पी रहे थे अञ्जलि भर।
बार-बार हँसते से उनको देखा मैंने उस अवसर पर ॥ ९ ॥
तैल-सिक्त-सर्वांग उन्होंने तिल सँग भात वहाँ पर खाया।
उन्हें तैल में शीश झुकाये, गोते पुनः लगाते पाया ॥ १० ॥
तथा स्वप्न में देखा, सागर सूख गया, शशि भू पर आया।
धरा उपद्रव-ग्रस्त हुई सब, अन्धकार उस पर अति छाया ॥ ११ ॥
हुआ, नृपति-वाहन गज का भी, दन्त उस समय शतधा खण्डित[1]।
सहसा बुझी अग्नि भी, जो थी पहले से अति दीप्त प्रज्वलित ॥ १२ ॥
मैंने देखा, भूमि फट गई, सूखे नाना विधि सब तरुवर।
शैल ढह गये और निकलता धूम्र सभी से उस अवसर पर ॥ १३ ॥
श्याम लौह-चौकी पर बैठे, दशरथ काले वसन पहन कर।
पीत, श्याम-वर्णा महिलाएँ, करती हैं प्रहार अति उन पर ॥ १४ ॥
लाल पुष्प की माला पहने, धार्मिक, चन्दन लाल लगाये।
गर्दभ-रथ पर दक्षिण जाते शीघ्र देखने में वे आये ॥ १५ ॥
रक्त-वासिनी[2], विकृत मुखी, राक्षसी नृपति को थी ले जाती।
शीघ्र खींचकर मैंने देखा, हँसती-सी थी बहुत दिखाती ॥ १६ ॥
मैंने देखा स्वप्न रात्रि में, ऐसा महा अशुभ फल-कारक।
नृपति, राम, लक्ष्मण, मुझमें यह, होगा किसी एक का मारक ॥ १७ ॥
जो कि स्वप्न में, गर्दभ-रथ से यात्रा करता हुआ दिखाता।
उसका चिता-धूम्र लोगों को शीघ्र देखने में है आता ॥ १८ ॥
इससे दुखी आप लोगों का, मान रहा मैं नहीं हूँ वचन।
मेरा कण्ठ सूखता जाता, होता है अस्वस्थ-सदृश मन ॥ १९ ॥
भय-कारण के विना न जानें क्यों मुझमें भय बढ़ता जाता
क्षीणा मेरी कान्ति हो गई, स्वर में भी परिवर्तन आता।
घृणा हो रही मुझको, अपने से ही, जाने क्या है कारण
होता नहीं यत्न करने पर भी शंका का सखे! निवारण ॥ २० ॥

१ सैकड़ों टुकड़े; २ लाल वस्त्र पहने हुए।

इमां च दुःस्वप्नगतिं निशम्य हि
त्वनेकरूपामवितर्कितां पुरा
भयं महत्तद्धृदयान्न याति मे
विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥ २१ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

सप्ततितमः सर्गः

दूतों का भरत को उनके नाना और मामा के लिए उपहार की वस्तुएँ अर्पित करना और वसिष्ठ जी का संदेश सुनाना, भरत का पिता आदि की कुशल पूछना और नाना से आज्ञा तथा उपहार की वस्तुएँ पाकर शत्रुघ्न के साथ अयोध्या की ओर प्रस्थान करना

भरते ब्रुवति स्वप्नं दूतास्ते क्लान्तवाहनाः।
प्रविश्यासह्यपरिखं रम्यं राजगृहं पुरम् ॥ १ ॥
समागम्य च राज्ञा ते राजपुत्रेण चार्चिताः।
राज्ञः पादौ गृहीत्वा च तमूचुर्भरतं वचः ॥ २ ॥
पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः।
त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया ॥ ३ ॥
इमानि च महार्हाणि वस्त्राण्याभरणानि च।
प्रतिगृह्य विशालाक्ष मातुलस्य च दापय ॥ ४ ॥
अत्र विंशतिकोटयस्तु नृपतेर्मातुलस्य ते।
दशकोटयस्तु सम्पूर्णास्तथैव च नृपात्मज ॥ ५ ॥
प्रतिगृह्य तु तत् सर्वं स्वनुरक्तः सुहृज्जने।
दूतानुवाच भरतः कामैः सम्प्रतिपूज्य तान् ॥ ६ ॥
कच्चित् स कुशली राजा पिता दशरथो मम।
कच्चिदारोग्यता रामे लक्ष्मणे च महात्मनि ॥ ७ ॥
आर्या च धर्मनिरता धर्मज्ञा धर्मवादिनी।
अरोगा चापि कौसल्या माता रामस्य धीमतः ॥ ८ ॥
कच्चित् सुमित्रा धर्मज्ञा जननी लक्ष्मणस्य या।
शत्रुघ्नस्य च वीरस्य अरोगा चापि मध्यमा ॥ ९ ॥
आत्मकामा सदा चण्डी क्रोधना प्राज्ञमानिनी।
अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाच ह ॥ १० ॥

जिनके लिए नहीं सोचा था, मैंने पहले ऐसे
वे नृप मुझको दुःस्वप्नों में देख पड़े क्यों वैसे ?
दूर नहीं हो रहा हृदय का, महादुःख यह मेरा
चिन्तित हूँ मैं, बिना कल्पना हुआ भला क्यों ऐसे ।। २१ ।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ।। ६९ ।।

सत्तरवाँ सर्ग

दूतों का भरत को उनके नाना और मामा के लिए उपहार की वस्तुएँ अर्पित करना और वसिष्ठ जी का सदेश सुनाना, भरत का पिता आदि की कुशल पूछना और नाना से आज्ञा तथा उपहार की वस्तुएँ पाकर शत्रुघ्न के साथ अयोध्या की ओर प्रस्थान करना

स्वप्न बताते समय भरत के मित्रों से, श्रमिताश्व[1] दूत सब ।
शत्रु-असह्या, खाईं वाले, रम्य राज-गृह-पुर आये तब ।। १ ।।
केकय-नृप, नृप-सुत से मिलकर, दानों से ही आदर पाया ।
और भरत के चरण-स्पर्श कर, उन दूतों ने उन्हें बताया ।। २ ।।
कहा, कुमार ! पुरोहित, सचिवों ने है कुशल आप से शुभ सब ।
कार्य आप से अत्यावश्यक, अतः यहाँ से शीघ्र चलें अब ।। ३ ।।
विशालाक्ष ! बहुमूल्य बसन ये, भूषण करें आप अब स्वीकृत ।
एवं अपने मामा को भी, करें ! वस्तुएँ सादर अर्पित ।। ४ ।।
बीस कोटि मुद्राओं की हैं, केकयेश को वस्तु समर्पित ।
और वस्तुएँ दस करोड़ की, लाये हैं तव मामा के हित ।। ५ ।।
सुहृदनुरागि[2] भरत ने वे सब, चीज़ें लेकर कर दीं अर्पित ।
इच्छित वस्तु स्वयं भी लेकर, बोले, दूतों को कर सत्कृत[3] ।। ६ ।।
हैं न कुशल से तो, हे दूतो ! राजा दशरथ पिता हमारे ।
सह लक्ष्मण, श्रीराम महात्मा, हैं नीरोग भ्रातृवर प्यारे ? ।। ७ ।।
सुधी राम की धर्म-वादिनी, धर्मरता, धर्मज्ञा माता ।
आर्या कौसल्या को कोई भला, रोग तो नहीं सताता ? ।। ८ ।।
एवं लक्ष्मण वीर और शत्रुघ्न-जननि, मेरी माँ मँझली ।
हैं नीरोग, सुमित्रा देवी, धर्मज्ञा सुख-युता अति भली ? ।। ९ ।।
अपने को जो विज्ञ समझती, चण्डी, स्वार्थिनि, क्रोध-युता है ।
वह मेरी माँ कैकेयी, क्या बोली ? क्या वह रुज-रहिता[4] है ? ।। १० ।।

---

१ थके हुए घोड़ों पर सवार; २ आत्मीयों से प्रेम करनेवाले; ३ सत्कार करके; ४ रोग-कष्ट-रहित ।

एवमुक्तास्तु ते दूता भरतेन महात्मना।
ऊचुः सम्प्रश्रितं वाक्यमिदं तं भरतं तदा॥ ११॥
कुशलास्ते नरव्याघ्र येषां कुशलमिच्छसि।
श्रीश्च त्वां वृणुते पद्मा युज्यतां चापि ते रथः॥ १२॥
भरतश्चापि तान् दूतानेवमुक्तोऽभ्यभाषत।
आपृच्छेऽहं महाराजं दूताः संत्वरयन्ति माम्॥ १३॥
एवमुक्त्वा तु तान् दूतान् भरतः पार्थिवात्मजः।
दूतैः संचोदितो वाक्यं मातामहमुवाच ह॥ १४॥
राजन् पितुर्गमिष्यामि सकाशं दूतचोदितः।
पुनरप्यहमेष्यामि यदा मे त्वं स्मरिष्यसि॥ १५॥
भरतेनैवमुक्तस्तु नृपो मातामहस्तदा।
तमुवाच शुभं वाक्यं शिरस्याघ्राय राघवम्॥ १६॥
गच्छ तातानुजाने त्वां कैकेयी सुप्रजास्त्वया।
मातरं कुशलं ब्रूयाः पितरं च परंतप॥ १७॥
पुरोहितं च कुशलं ये चान्ये द्विजसत्तमाः।
तौ च तात महेष्वासौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ १८॥
तस्मै हस्त्युत्तमांश्चित्रान् कम्बलानजिनानि च।
सत्कृत्य केकयो राजा भरताय ददौ धनम्॥ १९॥
अन्तःपुरेऽतिसंवृद्धान् व्याघ्रवीर्यबलोपमान्।
दंष्ट्रायुक्तान् महाकायाञ्शुनश्चोपायनं ददौ॥ २०॥
रुक्मनिष्कसहस्रे द्वे षोडशाश्वशतानि च।
सत्कृत्य कैकयीपुत्रं केकयो धनमादिशत्॥ २१॥
तदामात्यानभिप्रेतान् विश्वास्यांश्च गुणान्वितान्।
ददावश्वपतिः शीघ्रं भरतायानुयायिनः॥ २२॥
ऐरावतानैन्द्रशिरान् नागान् वै प्रियदर्शनान्।
खराञ्शीघ्रान् सुसंयुक्तान् मातुलोऽस्मै धनं ददौ॥ २३॥
स दत्तं केकयेन्द्रेण धनं तन्नाभ्यनन्दत।
भरतः कैकयीपुत्रो गमनत्वरया तदा॥ २४॥
बभूव ह्यस्य हृदये चिन्ता सुमहती तदा।
त्वरया चापि दूतानां स्वप्नस्यापि च दर्शनात्॥ २५॥
स स्ववेश्माभ्यतिक्रम्य नरनागाश्वसंकुलम्।
प्रपेदे सुमहच्छ्रीमान् राजमार्गमनुत्तमम्॥ २६॥

भरत महात्मा ने दूतों को, जब यह प्रश्नावली सुनाई।
तब विनम्र होकर उन सबने, उनसे फिर यह बात बताई॥ ११ ॥
आप चाहते मंगल जिनका, वे हैं पुरुषसिंह! सकुशल सब।
जुते शीघ्र रथ, क्योंकि आपका वरण कर रही पद्माश्री[1] अब॥ १२ ॥
दूत-कथन पर कहा भरत ने, महाराज से पूछ रहा अब।
क्या आज्ञा है? बहुत शीघ्र ही चलने को कह रहे दूत सब॥ १३ ॥
दूतों से यह कह नृप-सुत वे, और उन्हीं से होकर प्रेरित।
जाकर बोले, केकय-पति निज नाना के समीप हो सुस्थित॥ १४ ॥
राजन्! पिता-समीप जा रहा, दूतों के कहने से मैं अब।
फिर आऊँगा, याद करेंगे! पुनः आप! मेरी नृपवर! जब॥ १५ ॥
नाना केकय नृप ने तब फिर, भरतराज के यह कहने पर।
सूँघा राघव भरत-भाल प्रिय और कहा यह वचन श्रेयकर॥ १६ ॥
तात! हुई तुमसे कैकेयी प्रजोत्तमा[2], आज्ञा है, जाओ।
अपनी माता और पिता से कुशल परंतप! तुम बतलाओ॥ १७ ॥
तात! पुरोहित, विप्रवरों से भी मेरा सब कुशल बताना।
महा धनुर्धर राम-लखन को मंगलमय आशीष सुनाना॥ १८ ॥
केकय नृप ने किया भरत को सत्कृत, कह करके यह सु-वचन।
दिये गजोत्तम, हरिण-चर्म, चित्रा कालीनें और अमित धन॥ १९ ॥
बल, विक्रम में व्याघ्र-सदृश, अति महाकाय, अन्तःपुर-पालित।
बड़ी दाढ़ के बहुत श्वान[3] भी, केकय नृप ने दिये भरत-हित॥ २० ॥
दो हज़ार मुहरें सुवर्ण की, सोलह सौ घोड़े भी सज्जित।
तथा बहुत धन, केकय-नृप ने, दिये केकयी-पुत्र भरत-हित॥ २१ ॥
और अश्वपति केकय नृप ने, निज अभीष्ट विश्वस्त कार्य कर।
गुणी मन्त्रियों को आज्ञा दी, जाओ! भरत-साथ तुम सत्वर॥ २२ ॥
और इन्द्रशिर, इरावान गिरि-जात, बहुत से हाथी सुन्दर।
मामा ने तब दिये भरत को, शीघ्रगामि अति शिक्षित खच्चर॥ २३ ॥
किन्तु भरत कैकेयी-सुत ने, केकय-नृप-प्रदत्त धन पाया।
जो था, उस पर नहीं शीघ्रता के कारण उर ध्यान लगाया॥ २४ ॥
दूत शीघ्र चलने को कहते थे, था उनका तब शोकित मन।
अन्य दूसरा कारण था, वह अतिशय दुष्ट स्वप्न का सुमिरन॥ २५ ॥
भरत, भवन से आये, फिर वे नर, गजाश्व-पूरित, नृप-पथ पर।
बहुत बड़ी सम्पत्ति जुट गयी, उनकी यात्रा के अवसर पर॥ २६ ॥

---

१ कमललक्ष्मी; २ उत्तम पुत्रवाली; ३ कुत्ते।

अभ्यतीत्य ततोऽपश्यदन्तःपुरमनुत्तमम् ।
ततस्तद् भरतः श्रीमानाविवेशानिवारितः ॥ २७ ॥
स मातामहमापृच्छ्य मातुलं च युधाजितम् ।
रथमारुह्य भरतः शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥ २८ ॥
रथान् मण्डलचक्रांश्च योजयित्वा परः शतम् ।
उष्ट्रगोऽश्वखरैर्भृत्या भरतं यान्तमन्वयुः ॥ २९ ॥
बलेन गुप्तो भरतो महात्मा
सहार्यकस्यात्मसमैरमात्यैः ।
आदाय शत्रुघ्नमपेतशत्रु-
र्गृहाद् ययौ सिद्ध इवेन्द्रलोकात् ॥ ३० ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमः सर्गः

रथ और सेना-सहित भरत की यात्रा, विभिन्न स्थानों को पार करके उनका उज्जिहाना नगरी के उद्यान मे पहुँचना और सेना को धीरे-धीरे आने की आज्ञा दे स्वयं रथ द्वारा तीव्र वेग से आगे बढ़ते हुए सालवन को पार करके अयोध्या के निकट जाना, वहाँ से अयोध्या की दुरवस्था देखते हुए आगे बढ़ना और सारथि से अपना दुःखपूर्ण उद्गार प्रकट करते हुए राजभवन में प्रवेश करना

स प्राङ्मुखो राजगृहादभिनिर्याय वीर्यवान् ।
ततः सुदामां द्युतिमान् संतीर्यावेक्ष्य तां नदीम् ॥ १ ॥
ह्लादिनीं दूरपारां च प्रत्यक्स्रोतस्तरङ्गिणीम् ।
शतद्रुमतरच्छ्रीमान् नदीमिक्ष्वाकुनन्दनः ॥ २ ॥
ऐलधाने नदीं तीर्त्वा प्राप्त चापरपर्वतान् ।
शिलामाकुर्वतीं तीर्त्वा आग्नेयं शल्यकर्षणम् ॥ ३ ॥
सत्यसंधः शुचिर्भूत्वा प्रेक्षमाणः शिलावहाम् ।
अभ्यगात् स महाशैलान् वनं चैत्ररथं प्रति ॥ ४ ॥
सरस्वतीं च गङ्गां च युग्मेन प्रतिपद्य च ।
उत्तरान् वीर मत्स्यानां भारुण्डं प्राविशद् वनम् ॥ ५ ॥
वेगिनीं च कुलिङ्गाख्यां ह्लादिनी पर्वतावृताम् ।
यमुनां प्राप्य संतीर्णो बलमाश्वासयत् तदा ॥ ६ ॥

देखा राजभवन-परमोत्तम अन्तःपुर को, सुपथ-पार कर।
रोक-टोक के बिना गये, श्रीमान् भरत, अन्तःपुर-भीतर ॥ २७ ॥
नाना, नानी और युधाजित् मामा, मामी से भी कहकर।
एवं लेकर विदा, चले वे, सह शत्रुघ्न, भरत फिर रथ पर ॥ २८ ॥
गोलाकृति पहियों के, सौ से अधिक रथों से किया अनुसरण।
सेवकगण ने, थे जिनमें, वृषभाश्व[1], उष्ट्र एवं खच्चर-गण ॥ २९ ॥
अरिपु[2] महात्मा भरत, स्व एवं मामा-सेना रक्षित
रथ पर, ले शत्रुघ्न अनुज को, हुए उस समय सँस्थित।
नाना-सम मानित सचिवों सँग, निकले मामा-गृह से
मानो इन्द्रलोक से कोई सिद्ध पुरुष हो प्रस्थित ॥ ३० ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में सत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७० ॥

इकहत्तरवाँ सर्ग

रथ और सेना-सहित भरत की यात्रा, विभिन्न स्थानों को पार करके उनका उज्जिहाना नगरी के उद्यान में पहुँचना और सेना को धीरे-धीरे आने की आज्ञा दे स्वयं रथ द्वारा तीव्र वेग से आगे बढ़ते हुए सालवन को पार करके अयोध्या के निकट जाना, वहाँ से अयोध्या की दुरवस्था देखते हुए आगे बढ़ना और सारथि से अपना दुःखपूर्ण उद्गार प्रकट करते हुए राजभवन में प्रवेश करना

नृप-गृह से तब चले पूर्व को, वीर्य, तेजयुत, वे भूपति-सुत।
देखी नदी सुदामा पथ में और उसे फिर किया पार द्रुत ॥ १ ॥
इक्ष्वाकुज श्रीमान् भरत वे, दीर्घ पाट की नदी ह्लादिनी।
पार, शत-द्रु[3] पश्चिम-गा के भी पार गये लेकर स्व-वाहिनी[4] ॥ २ ॥
ऐलधान की नदी पार की, आये अपर शैल जनपद फिर।
शिलाकारिणी-पार हुए, आग्नेय शल्य-कर्षण[5] में सुस्थिर ॥ ३ ॥
देखा शिलावहा सरिता को, सत्यसंध ने हो पवित्र मन।
महा शैलमाला-लंघन कर, गये चैत्ररथ नामक वे वन ॥ ४ ॥
सरस्वती, गंगा-संगम से, आये वीरमत्स्य से उत्तर।
गये वहाँ से आगे, नृप-सुत, फिर भारण्ड विपिन के भीतर ॥ ५ ॥
शैल-युता, वेगिनी, ह्लादिनी[6] नदी कुलिंगा का लंघन कर।
सेना को विश्राम कराया, वहाँ भरत ने यमुना तट पर ॥ ६ ॥

---

१ बैल, घोड़े; २ शत्रुहीन; ३ सतलज; ४ अपनी सेना; ५ शरीर से काँटा निकालनेवाली ओषधिवाला प्रदेश; ६ गर्जती हुई।

शीतीकृत्य तु गात्राणि क्लान्तानाश्वास्य वाजिनः ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायादादाय चोदकम् ॥ ७ ॥
राजपुत्रो महारण्यमनभीक्ष्णोपसेवितम् ।
भद्रो भद्रेण यानेन मारुतः खमिवात्यगात् ॥ ८ ॥
भागीरथीं दुष्प्रतरां सोंऽशुधाने महानदीम् ।
उपायाद् राघवस्तूर्णं प्राग्वटे विश्रुते पुरे ॥ ९ ॥
स गङ्गां प्राग्वटे तीर्त्वा समायात् कुटिकोष्टिकाम् ।
सबलस्तां स तीर्त्वाथ समगाद् धर्मवर्धनम् ॥ १० ॥
तोरणं दक्षिणार्धेन जम्बूप्रस्थं समागमत् ।
वरूथं च ययौ रम्यं ग्रामं दशरथात्मजः ॥ ११ ॥
तत्र रम्ये वने वासं कृत्वासौ प्राङ्मुखो ययौ ।
उद्यानमुज्जिहानायाः प्रियका यत्र पादपाः ॥ १२ ॥
स तांस्तु प्रियकान् प्राप्य शीघ्रानास्थाय वाजिनः ।
अनुज्ञाप्याथ भरतो वाहिनीं त्वरितो ययौ ॥ १३ ॥
वासं कृत्वा सर्वतीर्थे तीर्त्वा चोत्तानिकां नदीम् ।
अन्या नदीश्च विविधैः पार्वतीयैस्तुरङ्गमैः ॥ १४ ॥
हस्तिपृष्ठकमासाद्य कुटिकामप्यवर्तत ।
ततार च नरव्याघ्रो लौहित्ये च कपीवतीम् ॥ १५ ॥
एकसाले स्थाणुमतीं विनते गोमतीं नदीम् ।
कलिङ्गनगरे चापि प्राप्य सालवनं तदा ॥ १६ ॥
भरतः क्षिप्रमागच्छत् सुपरिश्रान्तवाहनः ।
वनं च समतीत्याशु शर्वर्यामरुणोदये ॥ १७ ॥
अयोध्यां मनुना राज्ञा निर्मितां स ददर्श ह ।
तां पुरीं पुरुषव्याघ्रः सप्तरात्रोषितः पथि ॥ १८ ॥
अयोध्यामग्रतो दृष्ट्वा सारथिं चेदमब्रवीत् ।
एषा नातिप्रतीता मे पुण्योद्याना यशस्विनी ॥ १९ ॥
अयोध्या दृश्यते दूरात् सारथे पाण्डुमृत्तिका ।
यज्वभिर्गुणसम्पन्नैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ २० ॥
भूयिष्ठमृद्धैराकीर्णा राजर्षिवरपालिता ।
अयोध्यायां पुरा शब्दः श्रूयते तुमुलो महान् ॥ २१ ॥
समन्तान्नरनारीणां तमद्य न शृणोम्यहम् ।
उद्यानानि हि सायाह्ने क्रीडित्वोपरतैर्नरैः ॥ २२ ॥

श्रमिताश्वों[1] को स्नान-शैत्य-दे[2], घासादिक छाया में देकर।
नृप-सुत स्नापित, जल पीकर वे, चले साथ में फिर जल लेकर॥ ७ ॥
मंगल रथ से, यात तथा था जो आयात[3], वास से च्युत[4] वन।
उसे, वेग से पार किया, ज्यों वायु गगन का करता लंघन॥ ८ ॥
अंशुमान की महानदी वह, जो थी भागीरथी उसे फिर।
दुस्तर विश्रुत प्राग्वटपुर में, वे राघव फिर हुए शीघ्र स्थिर॥ ९ ॥
प्राग्वट-गंगा-पार गये, फिर कुटि कोष्टिका नदी के तट पर।
उसे पार करके, स-सैन्य वे, रुके धर्मवर्धन में जाकर॥ १० ॥
तोरण - दक्षिणार्ध होकर वे, जम्बूप्रस्थ गये दशरथ - सुत।
तथा गये फिर रम्यग्राम को, जो वरूथ नामक था विश्रुत॥ ११ ॥
वहाँ रम्य वन में निवास कर, गये पूर्व को, वे प्रातः फिर।
तथा उज्जिहाना बगिया में गये, वहाँ थे बहु कदम्ब स्थिर॥ १२ ॥
जा, कदम्ब उद्यान, सुशीघ्रग अश्वों को जोता निज रथ में।
सेना से धीमे चलने को, कहकर चले शीघ्र वे पथ में॥ १३ ॥
सर्वतीर्थ-रह, बहु नदियों संग, उत्तानिका नदी को सत्वर।
पार किया रथ से, जिसमें थे, पर्वतीय घोड़े बलवत्तर॥ १४ ॥
गये, हस्ति-पृष्ठक फिर आगे, कुटिका नाम्नी नदी पार कर।
जा लौहित्य ग्राम में, सरिता कपीवती-लंघन कर सत्वर॥ १५ ॥
एकसाल[5] की स्थाणुमती फिर विनत-ग्राम-गोमती पार कर।
कलिंग पुर के पास, सालवन में आये वे भरत विज्ञवर॥ १६ ॥
दे करके विश्राम भरत ने उन्हें, श्रमित थे जो अति वाहन।
रात्रिमात्र में, अरुणोदय तक, लाँघ गये वे शीघ्र सालवन॥ १७ ॥
किये उन्होंने, मनु-नृप-निर्मित, पुरी अयोध्या-दर्शन उत्तम।
पुरुष-सिंहपथ-सप्त निशाएँ बीती थीं, था दिन वह अष्टम*॥ १८ ॥
सारथि से बोले, समक्ष में, देख अयोध्यापुरी संस्थिता।
पुण्योद्याना यशस्विनी यह, देती नहीं दिखाई मुदिता॥ १९ ॥
मुझे सारथे! पुरी दूर से, श्वेत मृत्तिका-ढूह लग रही।
याज्ञिक, गुणी, वेद-पारगत, जबकि ब्राह्मण यहाँ हैं, वही॥ २० ॥
है राजर्षि प्रवर-पालित यह, जिसमें धनिक वर्ग है रहता।
इसी अयोध्या में पहले था, तुमुल नाद अतिशय सुन पड़ता॥ २१ ॥
किन्तु न चारों ओर इस समय, नर-नारी का नाद सुनाता।
उद्यानों में सायं क्रीड़ा को, पहले जन - गण था जाता॥ २२ ॥

१ थके घोड़ों; २ शीतलता देनेवाले; ३ आना-जाना; ४ रहित; ५ एक नगर का नाम; * दूतों के आने और भरत-शत्रुघ्न के आने के दो पृथक् मार्गों का वर्णन है।

समन्ताद् विप्रधावद्भिः प्रकाशन्ते ममान्यथा ।
तान्यद्यानुरुदन्तीव परित्यक्तानि कामिभिः ॥ २३ ॥
अरण्यभूतेव पुरी सारथे प्रतिभाति माम् ।
नह्यत्र यानैर्दृश्यन्ते न गजैर्न च वाजिभिः ।
निर्यान्तो वाभियान्तो वा नरमुख्या यथा पुरा ॥ २४ ॥
उद्यानानि पुरा भान्ति मत्तप्रमुदितानि च ।
जनानां रतिसंयोगेष्वत्यन्तगुणवन्ति च ॥ २५ ॥
तान्येतान्यद्य पश्यामि निरानन्दानि सर्वशः ।
स्रस्तपर्णैरनुपथं विक्रोशद्भिरिव द्रुमैः ॥ २६ ॥
नाद्यापि श्रूयते शब्दो मत्तानां मृगपक्षिणाम् ।
सरक्तां मधुरां वाणीं कलं व्याहरतां बहु ॥ २७ ॥
चन्दनागुरुसम्पृक्तो धूपसम्मूर्छितोऽमलः ।
प्रवाति पवनः श्रीमान् किं नु नाद्य यथा पुरा ॥ २८ ॥
भेरीमृदङ्गवीणानां कोणसंघट्टितः पुनः ।
किमद्य शब्दो विरतः सदादीनगतिः पुरा ॥ २९ ॥
अनिष्टानि च पापानि पश्यामि विविधानि च ।
निमित्तान्यमनोज्ञानि तेन सीदति मे मनः ॥ ३० ॥
सर्वथा कुशलं सूत दुर्लभं मम बन्धुषु ।
तथा ह्यसति सम्मोहे हृदयं सीदतीव मे ॥ ३१ ॥
विषण्णः श्रान्तहृदयस्त्रस्तः संलुलितेन्द्रियः ।
भरतः प्रविवेशाशु पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम् ॥ ३२ ॥
द्वारेण वैजयन्तेन प्राविशच्छ्रान्तवाहनः ।
द्वाःस्थैरुत्थाय विजयमुक्तस्तैः सहितो ययौ ॥ ३३ ॥
स त्वनेकाग्रहृदयो द्वाःस्थं प्रत्यर्च्य तं जनम् ।
सूतमश्वपतेः क्लान्तमब्रवीत् तत्र राघवः ॥ ३४ ॥
किमहं त्वरयाऽऽनीतः कारणेन विनानघ ।
अशुभाशङ्कि हृदयं शीलं च पततीव मे ॥ ३५ ॥
श्रुता नु यादृशाः पूर्वं नृपतीनां विनाशने ।
आकारांस्तानहं सर्वानिह पश्यामि सारथे ॥ ३६ ॥

अति शोभित होते थे, निज गृह दौड़, दौड़ जब जन थे जाते।
वही, कामि जन-त्यक्त भिन्न हो, रोते से उद्यान दिखाते॥ २३॥
मुझको तो यह पुरी लग रही, आज सारथे! जैसे कानन।
नहीं गजों, अश्वों का दिखता, यहाँ पूर्व जैसा संचालन॥
विविध वाहनों, यानों से जो श्रेष्ठ पुरुष थे आते-जाते।
(क्या कारण है? इस अवसर पर वे भी सब हैं नहीं दिखाते)॥ २४॥
मत्त मुदित रहते थे पहले, जिन उद्यानों में नर-नारी।
भ्रमर, कोकिलों से संयुत जो, थे अति प्रेम मिलन-गुणकारी॥ २५॥
निरानन्द सर्वथा हुए वे, पथ में तरु से पत्ते गिरते।
ऐसा लगता मानो तरु भी, इस प्रकार क्रन्दन हैं करते॥ २६॥
राग-युक्त मृग[1] और खगों का जिनमें कलरव था छा जाता।
उनमें कोई किसी भाँति का शब्द नहीं सुनने में आता॥ २७॥
चन्दन, अगुरु-सुगन्ध मनोरम धूप-गन्ध रुचिकर जो लाता।
वह निर्मल श्रीमान् पवन क्यों यहाँ नहीं पहले-सा आता॥ २८॥
दण्डज, घातज, भेरी, वीणा, मृदंगादि ध्वनि यहाँ निरन्तर।
जो होती थी, वह न सुनाई पड़ती, क्यों न आज इस अवसर॥ २९॥
क्रूर, अशुभ एवं अनिष्टकर देते हैं अपशकुन दिखाई।
अतः सारथे! मेरे मन में अब है अतिव खिन्नता छाई॥ ३०॥
इससे, बन्धुजनों का मंगल मुझे सूत! दुर्लभ दिखलाता।
क्योंकि मोह के विना अकारण, मेरा हृदय बैठता जाता॥ ३१॥
क्षुब्धेन्द्रिय, अति खिन्न भरत का, हृदय शिथिल होता था अतुलित।
भीत हृदय, इक्ष्वाकुपालिता[2] में वे हुए शीघ्र ही प्रविशित॥ ३२॥
थके अश्व, विख्यात पुरी उस वैजयन्त में गये भरत तब।
उठकर जय करते द्वारस्थों[3] के सँग चले भरत आगे अब॥ ३३॥
लौटाया चञ्चल-मन राघव ने द्वारस्थों को सत्कृत कर।
श्रमित अश्वपति-सारथि[4] से फिर, बोले भरतराज वे सत्वर॥ ३४॥
अनघ[5] सूत! मैं यहाँ अकारण, गया बुलाया इतना सत्वर[6]।
अशुभाशंका[7] मुझ अदीन[8] का मन इतना कैसे मलीनतर॥ ३५॥
नृप-विनाश-लक्षण जो मैंने, प्रथम सारथे! थे सुन पाये।
इस अवसर पर वे समक्ष में सभी देखने में हैं आये॥ ३६॥

---

१ पशुओं; २ इक्ष्वाकुपुरी अयोध्या; ३ द्वारपालों; ४ केकयराज के सारथी; ५ निष्पाप; ६ शीघ्रता से; ७ अमंगल का भय; ८ कभी दीन न होनेवाला।

सम्मार्जनविहीनानि परुषाण्युपलक्षये ।
असंयतकवाटानि श्रीविहीनानि सर्वशः ॥ ३७ ॥
बलिकर्मविहीनानि धूपसम्मोदनेन च ।
अनाशितकुटुम्बानि प्रभाहीनजनानि च ॥ ३८ ॥
अलक्ष्मीकानि पश्यामि कुटुम्बिभवनान्यहम् ।
अपेतमाल्यशोभानि असम्मृष्टाजिराणि च ॥ ३९ ॥
देवागाराणि शून्यानि न भान्तीह यथा पुरा ।
देवतार्चाः प्रविद्धाश्च यज्ञगोष्ठास्तथैव च ॥ ४० ॥
माल्यापणेषु राजन्ते नाद्य पण्यानि वा तथा ।
दृश्यन्ते वणिजोऽप्यद्य न यथापूर्वमत्र वै ॥ ४१ ॥
ध्यानसंविग्नहृदया नष्टव्यापारयन्त्रिताः ।
देवायतनचैत्येषु दीनाः पक्षिमृगास्तथा ॥ ४२ ॥
मलिनं चाश्रुपूर्णाक्षं दीनं ध्यानपरं कृशम् ।
सस्त्रीपुंसं च पश्यामि जनमुत्कण्ठितं पुरे ॥ ४३ ॥
इत्येवमुक्त्वा भरतः सूतं तं दीनमानसः ।
तान्यनिष्टान्ययोध्यायां प्रेक्ष्य रामगृहं ययौ ॥ ४४ ॥

तां शून्यशृङ्गाटकवेश्मरथ्यां
रजोरुणद्वारकवाटयन्त्राम् ।
दृष्ट्वा पुरीमिन्द्रपुरीप्रकाशां
दुःखेन सम्पूर्णतरो बभूव ॥ ४५ ॥
बहूनि पश्यन् मनसोऽप्रियाणि
यान्यन्यदा नास्य पुरे बभूवुः ।
अवाक्शिरा दीनमना न हृष्टः
पितुर्महात्मा प्रविवेश वेश्म ॥ ४६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकसप्ततितमः सर्गः ॥७१॥

द्विसप्ततितमः सर्गः

भरत का कैकेयी के भवन में जाकर उसे प्रणाम करना, उसके द्वारा पिता के परलोकवास का समाचार पा दुखी हो विलाप करना तथा श्रीराम के विषय में पूछने पर कैकेयी द्वारा उनका श्रीराम के वनगमन के वृत्तान्त से अवगत होना

अपश्यंस्तु ततस्तत्र पितरं पितुरालये ।
जगाम भरतो द्रष्टुं मातरं मातुरालये ॥ १ ॥

रूखे, कान्ति-हीन गेहों में, झाड़ू लगी न हैं दिखलाती।
सब दरवाजे खुले पड़े हैं, मुझको स्थिति गम्भीर दिखाती॥
धूप-गन्ध, बलिवैश्व-विवञ्चित गेह देखने में हैं आते।
भोजन विना, कुटुम्बीजन हैं, प्रभा-हीन हैं सभी दिखाते॥
लगता है, लक्ष्मी-विहीन ये, हुए यहाँ के गृह हैं सारे।
पुष्प, माल्य-शोभा-विहीन हैं, गये न मन्दिर कभी बुहारे॥
जन-समूह से शून्य इस समय देवागार नहीं हैं भाते।
देवार्चक से हीन सभी हैं, यज्ञ-गोष्ठ, जन-रिक्त दिखाते॥३७-४०॥
पुष्प, माल्य के बाजारों में, कहीं न बिक्री[1] शोभा पाती।
पहले जैसे वणिक् न दिखते, बात समझ में तनिक न आती॥
हैं उद्विग्न हृदय व्यापारी तथा नष्ट व्यापार, सकुचित।
देवालयों, देवतरुओं पर, पशु-पक्षी भी नहीं संयमित॥
देख रहा, नर-नारि मलिन मुख हैं आँखें भी अश्रु-प्रपूरित।
चिन्तित, दीन तथा दुर्बल हैं तथा नागरिक हैं उत्कण्ठित॥४१-४३॥
पुरी अयोध्या में अमांगलिक चिह्न देखते हुए अपरिमित।
एवं सारथि को बतलाकर, भरत हुए नृप-गृह में प्रविशित॥ ४४॥

पुरी अयोध्या जो थी पहले, इन्द्रपुरी हो जैसे
उसके गृह, पथ, चौराहे सब शून्य दिख रहे ऐसे।
दरवाजे हैं धूलि-धूसरित, हुई दुर्दशा इतनी
भरत हो गये दुःख-मग्न अति दृश्य देखकर वैसे॥ ४५॥

कभी अ-प्रियता पहले जिसमें, ऐसी नहीं दिखाई
उसे देखकर, भरत महात्मा में पीड़ा अति छाई।
शीश झुकाकर, हर्ष-हीन अति, दीन हृदय हो तब फिर
पिता-भवन की ओर भरत ने अपनी प्रगति[2] बढ़ाई॥ ४६॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त॥ ७१॥

बहत्तरवाँ सर्ग

भरत का कैकेयी के भवन में जाकर उसे प्रणाम करना, उसके द्वारा पिता के परलोकवास का समाचार पा दुखी हो विलाप करना तथा श्रीराम के विषय में पूछने पर कैकेयी द्वारा उनका श्रीराम के वन-गमन के वृत्तान्त से अवगत होना।

पिता-गेह में जब कि भरत ने, नहीं पिता के दर्शन पाये।
तब वे निज माता-दर्शन को शीघ्र भवन में उनके आये॥ १॥

---

1 बिकनेवाली; 2 चाल।

अनुप्राप्तं तु तं दृष्ट्वा कैकेयी प्रोषितं सुतम् ।
उत्पपात तदा हृष्टा त्यक्त्वा सौवर्णमासनम् ॥ २ ॥
स प्रविश्यैव धर्मात्मा स्वगृहं श्रीविवर्जितम् ।
भरतः प्रेक्ष्य जग्राह जनन्याश्चरणौ शुभौ ॥ ३ ॥
तं मूर्ध्नि समुपाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनम् ।
अङ्के भरतमारोप्य प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥
अद्य ते कतिचिद् रात्र्यश्च्युतस्यार्यकवेश्मनः ।
अपि नाध्वश्रमः शीघ्रं रथेनापततस्तव ॥ ५ ॥
आर्यकस्ते सुकुशली युधाजिन्मातुलस्तव ।
प्रवासाच्च सुखं पुत्र सर्वं मे वक्तुमर्हसि ॥ ६ ॥
एवं पृष्टस्तु कैकेय्या प्रियं पार्थिवनन्दनः ।
आचष्ट भरतः सर्वं मात्रे राजीवलोचनः ॥ ७ ॥
अद्य मे सप्तमी रात्रिश्च्युतस्यार्यकवेश्मनः ।
अम्बायाः कुशली तातो युधाजिन्मातुलश्च मे ॥ ८ ॥
यन्मे धनं च रत्नं च ददौ राजा परंतपः ।
परिश्रान्तं पथ्यभवत् ततोऽहं पूर्वमागतः ॥ ९ ॥
राजवाक्यहरैर्दूतैस्त्वर्यमाणोऽहमागतः ।
यदहं प्रष्टुमिच्छामि तदम्बा वक्तुमर्हति ॥ १० ॥
शून्योऽयं शयनीयस्ते पर्यङ्को हेमभूषितः ।
न चायमिक्ष्वाकुजनः प्रहृष्टः प्रतिभाति मे ॥ ११ ॥
राजा भवति भूयिष्ठमिहाम्बाया निवेशने ।
तमहं नाद्य पश्यामि द्रष्टुमिच्छन्निहागतः ॥ १२ ॥
पितुर्ग्रहीष्ये पादौ च तं ममाख्याहि पृच्छतः ।
आहोस्विदम्बाज्येष्ठायाः कौसल्याया निवेशने ॥ १३ ॥
तं प्रत्युवाच कैकेयी प्रियवद् घोरमप्रियम् ।
अजानन्तं प्रजानन्ती राज्यलोभेन मोहिता ॥ १४ ॥
या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः ।
राजा महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतां गतिः ॥ १५ ॥
तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं धर्माभिजनवाञ्छुचिः ।
पपात सहसा भूमौ पितृशोकबलार्दितः ॥ १६ ॥
हा हतोऽस्मीति कृपणां दीनां वाचमुदीरयन् ।
निपपात महाबाहुर्बाहू विक्षिप्य वीर्यवान् ॥ १७ ॥

लौटे निज परदेशी सुत को, कैकेयी वह, पाकर घर पर।
उछल पड़ी तब स्वर्णासन से, परम हर्ष निज मन में भरकर॥ २ ॥
धर्मात्मा ने मातृ-महल को श्री-विहीन तब देखा जाकर।
फिर निज माता के चरणों को, छुआ भरत ने शीश झुकाकर॥ ३ ॥
कैकेयी ने भरत यशस्वी सुत को अपने हृदय लगाकर।
मस्तक सूँघ, वृत्त[1] नाना के, लगी पूछने गोद बिठाकर॥ ४ ॥
रात्रि बिताईं तुमने कितनी, सुत ! नाना के घर से चलकर।
हुए श्रान्त तो नहीं मार्ग में, क्योंकि चले शीघ्रग[2] रथ चढ़कर॥ ५ ॥
हैं न युधाजित मामा, नाना, सकुशल, पुत्र ! गये तुम जबसे।
सुख से रहे, वहाँ पर अब तक, यह सब बात बताओ ! मुझसे॥ ६ ॥
पूछे जाने पर, मृदु वाणी में, माता कैकेयी द्वारा।
भरत, नृपति-सुत कमलनयन ने, माँ को वृत्त बताया सारा॥ ७ ॥
नाना-गृह से चले, सातवीं रात्रि गयी है, माँ ! मेरी अब।
नाना तथा युधाजित मामा, भी मेरे हैं अम्ब ! कुशल सब॥ ८ ॥
और परंतप-दत्त, रत्न, धन से हो गये थकित वाहन जब।
मैं पहले ही यहाँ आ गया, उन्हें छोड़कर पथ में ही तब॥
नृप-सन्देश-वाहकों से हो प्रेरित, शीघ्र यहाँ मैं आया।
माँ ! अब हाल यहाँ का बोलो, मैंने तो सब तुम्हें बताया॥९-१०॥
हेम-शयन-पर्यंक तुम्हारा, किस कारण से शून्य दिखाता ?।
और न क्यों इक्ष्वाकुज-जन-गण मुदित देखने में है आता ?॥ ११ ॥
मातृ-भवन में ही रहते जो, उन पितु का मैं दरस न पाता।
आया यहाँ, उन्हीं के दर्शन की इच्छा से मैं तो माता !॥ १२ ॥
मुझे बताओ, पिता कहाँ हैं ? मैं पकड़ूँगा चरण पिता के।
या ज्येष्ठा माँ कौसल्या के गृह में हों, तो देखूँ जाके॥ १३ ॥
राज्य-लोभ-मुग्धा कैकेयी, नृप-वृत्तान्त-अविज्ञ भरत से।
अप्रिय को अति सु-प्रिय समझकर, लगी बताने, उनसे झट से॥ १४ ॥
सुत ! याज्ञिक, तेजस्वि, सत्पुरुष-आश्रयप्रद थे पिता तुम्हारे।
जो गति होती प्राणिमात्र की, एक दिवस, वे वहीं पधारे॥ १५ ॥
भरत, धार्मिक कुलोत्पन्न थे, शुद्ध हृदय था उनका निश्चित।
यह सुन, सहसा गिरे धरणि पर, पिता-शोक से होकर पीड़ित॥ १६ ॥
बोले, हाय गया मैं मारा, दुखमय दीन वचन अति कहकर।
विक्रमि महाबाहु रोये तब, भू पर बाँहें पटक-पटककर॥ १७ ॥

---

१ हालचाल; २ तेज।

ततः शोकेन संवीतः पितुर्मरणदुःखितः ।
विललाप महातेजा भ्रान्ताकुलितचेतनः ॥ १८ ॥

एतत् सुरुचिरं भाति पितुर्मे शयनं पुरा ।
शशिनेवामलं रात्रौ गगनं तोयदात्यये ॥ १९ ॥

तदिदं न विभात्यद्य विहीनं तेन धीमता ।
व्योमेव शशिना हीनमशुष्क इव सागरः ॥ २० ॥

बाष्पमुत्सृज्य कण्ठेन स्वात्मना परिपीडितः ।
प्रच्छाद्य वदनं श्रीमद् वस्त्रेण जयतां वरः ॥ २१ ॥

तमार्तं देवसंकाशं समीक्ष्य पतितं भुवि ।
निकृत्तमिव सालस्य स्कन्धं परशुना वने ॥ २२ ॥

माता मातङ्गसंकाशं चन्द्रार्कसदृशं सुतम् ।
उत्थापयित्वा शोकार्तं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे राजन्नत्र महायशः ।
त्वद्विधा नहि शोचन्ति सन्तः सदसि सम्मताः ॥ २४ ॥

दानयज्ञाधिकारा हि शीलश्रुतितपोनुगा ।
बुद्धिस्ते बुद्धिसम्पन्न प्रभेवार्कस्य मन्दिरे ॥ २५ ॥

स रुदित्वा चिरं कालं भूमौ परिविवृत्य च ।
जननीं प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृतः ॥ २६ ॥

अभिषेक्ष्यति रामं तु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते ।
इत्यहं कृतसंकल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम् ॥ २७ ॥

तदिदं ह्यन्यथाभूतं व्यवदीर्णं मनो मम ।
पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम् ॥ २८ ॥

अम्ब केनात्यगाद् राजा व्याधिना मय्यनागते ।
धन्या रामादयः सर्वे यैः पिता संस्कृतः स्वयम् ॥ २९ ॥

न नूनं मां महाराजः प्राप्तं जानाति कीर्तिमान् ।
उपजिघ्रेत् तु मां मूर्ध्नि तातः संनाम्य सत्वरम् ॥ ३० ॥

क्व स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याक्लिष्टकर्मणः ।
यो हि मां रजसा ध्वस्तमभीक्ष्णं परिमार्जति ॥ ३१ ॥

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः ।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ३२ ॥

अति तेजस्वी-भूपति-सुत का, हुआ भ्रान्त व्याकुल तब चेतन।
पिता-मृत्यु-दुख-शोकव्याकुल करने लगे भरत अति विलपन ॥ १८ ॥
निर्मल शशि-युत शरन्निशा में[1], गगन-सदृश थी शोभा पाती।
पहले, मेरे पूज्य पिता की, जो शय्या, वह अब न सुहाती ॥ १९ ॥
सुधी नृपति से हीन हुई वह, चन्द्र-हीन अम्बर[2]-सी दीना।
एवं सूखे हुए सिन्धु-सी, आज हो गयी श्री से हीना ॥ २० ॥
पीड़ित विजयि वीरवर ने निज सुन्दर मुख कपड़े से ढककर।
साश्रु कण्ठ-स्वर, विलपन करने लगे लोटने भरत धरणि पर ॥ २१ ॥
सुर-सम भरत, शोक-व्याकुल हो, भू पर पड़े हुए थे ऐसे।
साखू तरु का तना, परशु[3] से छिन्न, गिरा हो भू पर जैसे ॥ २२ ॥
रवि-शशि-सम तेजस्वि मत्त गज-सम शोकार्त पुत्र को पाया।
जब कैकेयी ने, तब उनको शीघ्र उठाकर यह बतलाया ॥ २३ ॥
उठो, महायश भूप-पुत्र ! तुम क्यों हो गिरे, धरणि पर ऐसे।
सभा-सुमानित[4] कभी सत्पुरुष, शोक नहीं करते, तुम जैसे ॥ २४ ॥
निश्चल रवि-मण्डलप्रभा-सी, बुद्धि तुम्हारी स्थिर है, बुध-सुत !।
दान, यज्ञ-अधिकृता, शील, श्रुति, तप-अनुसरणीया है अद्भुत ॥ २५ ॥
भरत भूमि पर लोट-पोटकर रोते रहे देर तक वैसे।
फिर अतिशय शोकाकुल होकर, माता से बोले वे ऐसे ॥ २६ ॥
मैंने सोचा, राम-राज्य-अभिषिञ्चन करके, स्वयं नृपति मख[5]।
शीघ्र करेंगे, यात्रा हर्षित हो मैंने की यही ध्यान रख ॥ २७ ॥
पर, आशा-विपरीत देख, है मेरा हृदय फटा-सा जाता।
अपने प्रिय-हित-निरत पिता को, मैं हूँ नहीं देख अब पाता ॥ २८ ॥
मेरे आने के पहले, माँ ! नृपति हुए किस रुज[6] से प्रस्थित[7]।
रामादिक हैं धन्य, हो सके जो उनकी अन्त्येष्टि-सम्मिलित ॥ २९ ॥
नहीं ज्ञात है, पिता यशस्वी नृप को, मेरा आना निश्चित।
मम नत मस्तक सूंघ तुरत अन्यथा नृपति होते अति हर्षित ॥ ३० ॥
सुख-स्पर्शि[8], अ-प्रयास[9] सुकृत-कर[10], कर है कहाँ पिता का इस क्षण ?।
हा ! जिससे बहु बार, धूसरित[11], करते थे मेरा तन-प्रोक्षण[12] ॥ ३१ ॥
मेरे भ्राता, पिता, बन्धु हैं जो, जिनका हूँ दास मैं परम।
उनसे मेरा आना कह दो, जो हैं राम अयासित विक्रम[13] ॥ ३२ ॥

---

१ शरद ऋतु की रात्रि में पूर्णचन्द्र के प्रकाश से युक्त; २ आकाश; ३ फरसा; ४ सम्मानित; ५ यज्ञ; ६ रोग; ७ प्रस्थान कर गये; ८ स्पर्श से सुख देनेवाले; ९ अनायास, सहज ही; १० पुण्यकर्मी; ११ धूल भरे हुए; १२ शरीर पोंछते थे; १३ महान् पराक्रमी।

पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः ।
तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम ॥ ३३ ॥
धर्मविद् धर्मशीलश्च महाभागो दृढव्रतः ।
आर्ये किमब्रवीद् राजा पिता मे सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥
पश्चिमं साधुसंदेशमिच्छामि श्रोतुमात्मनः ।
इति पृष्टा यथातत्त्वं कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३५ ॥
रामेति राजा विलपन् हा सीते लक्ष्मणेति च ।
स महात्मा परं लोकं गतो मतिमतां वरः ॥ ३६ ॥
इतीमां पश्चिमां वाचं व्याजहार पिता तव ।
कालधर्मं परिक्षिप्तः पाशैरिव महागजः ॥ ३७ ॥
सिद्धार्थास्तु नरा राममागतं सह सीतया ।
लक्ष्मणं च महाबाहुं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥ ३८ ॥
तच्छ्रुत्वा विषसादैव द्वितीयाप्रियशंसनात् ।
विषण्णवदनो भूत्वा भूयः पप्रच्छ मातरम् ॥ ३९ ॥
क्व चेदानीं स धर्मात्मा कौसल्यानन्दवर्धनः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया च समागतः ॥ ४० ॥
तथा पृष्टा यथान्यायमाख्यातुमुपचक्रमे ।
मातास्य युगपद्वाक्यं विप्रियं प्रियशंसया ॥ ४१ ॥
स हि राजसुतः पुत्र चीरवासा महावनम् ।
दण्डकान् सह वैदेह्या लक्ष्मणानुचरो गतः ॥ ४२ ॥
तच्छ्रुत्वा भरतस्त्रस्तो भ्रातुश्चारित्रशङ्कया ।
स्वस्य वंशस्य माहात्म्यात् प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४३ ॥
कच्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्यचित् ।
कच्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥ ४४ ॥
कच्चिन्न परदारान् वा राजपुत्रोऽभिमन्यते ।
कस्मात् स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासितः ॥ ४५ ॥
अथास्य चपला माता तत् स्वकर्म यथातथम् ।
तेनैव स्त्रीस्वभावेन व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ ४६ ॥
एवमुक्ता तु कैकेयी भरतेन महात्मना ।
उवाच वचनं हृष्टा वृथापण्डितमानिनी ॥ ४७ ॥
न ब्राह्मणधनं किंचिद्धृतं रामेण कस्यचित् ।

होता है धर्मज्ञ पुरुष का, भ्राता ज्येष्ठ, पिता-सम निश्चित।
अब अपने उन आश्रय के, मैं चरणों में होऊँगा प्रणमित[1] ॥ ३३ ॥
धर्मशील, धर्मज्ञ, दृढ़व्रत, महाभाग वे मृत्यु-समय पर।
मेरे सत्यविक्रमी भूपति पिता गये, क्या आर्य ! कहकर ? ॥ ३४ ॥
श्रवणेच्छुक[2] हूँ, मुझे दे गये जो अन्तिम सन्देश समुत्तम।
भरत - प्रश्न पर बात बता दी, कैकेयी ने उन्हें यथाक्रम ॥ ३५ ॥
कहा, महात्मा सुधी पिता ने, सीता-सहित राम ! हा लक्ष्मण ! ।
वे कर बहुत विलाप, इस तरह चले गये परलोक उसी क्षण ॥ ३६ ॥
पाश - बद्ध फिर महा हस्ति-सम काल-धर्म-वश होकर नृपवर।
कहा तुम्हारे नृपति पिता ने, वचन इस तरह उस अवसर पर ॥ ३७ ॥
सीता के सँग राम तथा उन महाबाहु लक्ष्मण के दर्शन।
जो पाएँगे, पुनः लौटने पर, वे होगे अति कृतार्थ[3] जन ॥ ३८ ॥
भरत और भी दुखी हुए तब, माँ से अ-प्रिय दूसरा सुनकर।
पुनः उन्होंने पूछा माँ से, छाया अति विषाद तब मुख पर ॥ ३९ ॥
नित कोसल्यानन्द - विवर्धन, गये कहाँ, धर्मात्मा रघुवर।
सीता, लक्ष्मण-सहित राम वे, भ्राता मेरे इस अवसर पर ? ॥ ४० ॥
अ-प्रिय वृत्त भी कैकेयी को, सु-प्रिय समझ में तब था आया।
अतः भरत से पूछे जाने पर, क्रम से उसने बतलाया ॥ ४१ ॥
नृप-सुत राम, पहनकर वल्कल, सीता-संग गये दण्डक-वन।
और किया, सुत ! लक्ष्मण ने भी तब उनका ही शीघ्र अनुगमन ॥ ४२ ॥
यह सुन, राम-चरित-शंकित हो, भरत हो गये त्रस्त सर्वथा।
स्व-कुल-महत्ता-स्मृति में लाकर, लगे पूछने शीघ्र वे तथा ॥ ४३ ॥
धन तो नहीं राम ने छीना, किसी सु-ब्राह्मण का कारणवश ? ।
किसी अनघ, बहुधन, दरिद्र-वध का तो नहीं ले लिया अपयश ? ॥ ४४ ॥
नृप-सुत राम, अन्य नारी में तो न ले गये थे अपना मन ? ।
भेजे गये राम भ्राता, क्यों निष्कासित करके दण्डक वन ? ॥ ४५ ॥
नारि-प्रकृतिवश चपला एवं अविवेकिनि[4] उस माता ने तब।
शीघ्र किया प्रारम्भ बताना, अपना किया हुआ दुष्कृत सब ॥ ४६ ॥
भरत महात्मा ने कैकेयी से, ऐसे फिर से पूछा जब।
अपने को पण्डिता माननेवाली बोली वह हर्षित तब ॥ ४७ ॥
नहीं राम ने धन छीना है किसी सु-ब्राह्मण का कारणवश।
तथा अपाप, धनी या निर्धन की हत्या का लिया न अपयश ॥

१ प्रणाम करूँगा; २ सुनने का इच्छुक; ३ पुण्यात्मा; ४ बुद्धिहीना।

कश्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ।
न रामः परदारान् स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति ॥ ४८ ॥
मया तु पुत्र श्रुत्वैव रामस्येहाभिषेचनम् ।
याचितस्ते पिता राज्यं रामस्य च विवासनम् ॥ ४९ ॥
स स्ववृत्तिं समास्थाय पिता ते तत् तथाकरोत् ।
रामस्तु सहसौमित्रिः प्रेषितः सह सीतया ॥ ५० ॥
तमपश्यन् प्रियं पुत्रं महीपालो महायशाः ।
पुत्रशोकपरिद्यूनः पञ्चत्वमुपपेदिवान् ॥ ५१ ॥
त्वया त्विदानीं धर्मज्ञ राजत्वमवलम्ब्यताम् ।
त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवंविधं कृतम् ॥ ५२ ॥
मा शोकं मा च संतापं धैर्यमाश्रय पुत्रक ।
त्वदधीना हि नगरी राज्यं चैतदनामयम् ॥ ५३ ॥
तत् पुत्र शीघ्रं विधिना विधिज्ञ-
र्वसिष्ठमुख्यैः सहितो द्विजेन्द्रैः ।
संकाल्य राजानमदीनसत्त्व-
मात्मानमुर्व्यामभिषेचयस्व ॥ ५४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमः सर्गः

भरत का कैकेयी को धिक्कारना और उसके प्रति महान् रोष प्रकट करना

श्रुत्वा च स पितुर्वृत्तं भ्रातरौ च विवासितौ ।
भरतो दुःखसंतप्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
किं नु कार्यं हतस्येह मम राज्येन शोचतः ।
विहीनस्याथ पित्रा च भ्रात्रा पितृसमेन च ॥ २ ॥
दुःखे मे दुःखमकरोर्व्रणे क्षारमिवाददाः ।
राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वा रामं च तापसम् ॥ ३ ॥
कुलस्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता ।
अङ्गारमुपगुह्य स्म पिता मे नावबुद्धवान् ॥ ४ ॥
मृत्युमापादितो राजा त्वया मे पापदर्शिनि ।
सुखं परिहृतं मोहात् कुलेऽस्मिन् कुलपांसनि ॥ ५ ॥
त्वां प्राप्य हि पिता मेऽद्य सत्यसंधो महायशाः ।
तीव्रदुःखाभिसंतप्तो वृत्तो दशरथो नृपः ॥ ६ ॥

नहीं डालते राम, दृष्टि हैं कभी अन्य नारी पर, सुतवर!।
(सुनो सकल वृत्तांत. राम क्यों गये विपिन को इस अवसर पर) ॥ ४८ ॥
पुत्र! यहाँ, श्रीराम-राज्य-अभिषेक-करण को वार्ता सुनकर।
मैंने कहा पिता से, जायें राम विपिन, हों भरत नृपतिवर ॥ ४९ ॥
सत्यप्रतिज्ञ - स्वभावि उन्होंने मेरी याञ्चा[1] पूरी की जब।
भेजे गये राम, सह सीता-लक्ष्मण के सँग शीघ्र विपिन तब ॥ ५० ॥
महायशस्वी महाराज ने, पाये नहीं स्व-सुत-दर्शन जब।
पुत्र-शोक से अतिपीड़ित हो, गये स्वर्ग को वे भूपति तब ॥ ५१ ॥
स्वीकारो! धर्मज्ञ! राजपद अब तुम यह (जो है अति उत्तम)।
किये तुम्हारे लिए उस समय मैंने पुत्र! सभी ये उद्यम ॥ ५२ ॥
धैर्याश्रित हो सुत! न करो ये शोक और संताप आदि अब।
क्योंकि तुम्हारे ही अधीन है, यह निष्कण्टक राज्य, पुरी सब ॥ ५३ ॥
विधि-विधान-ज्ञाता वसिष्ठ-सँग जो हैं सब ब्राह्मण वर
उनसे अब तुम पुत्र! सर्वथा इस अवसर पर मिलकर।
अति उदार उन महाराज की कर अन्त्येष्टि यथाविधि
अपना भू-राज्याभिषेक फिर शीघ्र कराओ! सुखकर ॥ ५४ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७२ ॥

तिहत्तरवाँ सर्ग

भरत का कैकेयी को धिक्कारना और उनके प्रति महान् रोष प्रकट करना

स्वर्ग-गमन सुन, भरत पिता का और भाइयों का वन-रहना।
पुनः किया आरम्भ, दुःख से हो संतप्त, उन्होंने कहना ॥ १ ॥
तूने पिता, पिता-सम भाई से कर अलग मुझ है मारा।
क्या करना है मुझ शोकित को, लेकर भला राज्य यह सारा ॥ २ ॥
राजा को स्वर्गस्थ[2], राम को तापस बना, दिया दुख वैसा।
किसी व्यक्ति के किसी घाव पर नमक छिड़कने से हो जैसा ॥ ३ ॥
कालरात्रि-सम कुल-विनाश को, नृप-पत्नी होकर तू आयी।
लगा रहा अंगार-हृदय से, नृप-मति तव यह समझ न पायी ॥ ४ ॥
तू है पाप-दर्शिनी, मोहित हो करके नृप को है मारा।
कुलकलंकिनी तूने छीना, कुल का सौख्य सदा को सारा ॥ ५ ॥
मेरे दशरथ पिता, महात्मा, सत्यसंध ने तुझको पाकर।
त्यागे अपने प्राण, विवश हो, अति संताप दुःख में आकर ॥ ६ ॥

---

१ याचना, माँग; २ परलोकवासी।

विनाशितो महाराजः पिता मे धर्मवत्सलः ।
कस्मात् प्रव्राजितो रामः कस्मादेव वनं गतः ॥ ७ ॥
कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकाभिपीडिते ।
दुष्करं यदि जीवेतां प्राप्य त्वां जननी मम ॥ ८ ॥
ननु त्वार्योऽपि च धर्मात्मा त्वयि वृत्तिमनुत्तमाम् ।
वर्तते गुरुवृत्तिज्ञो यथा मातरि वर्तते ॥ ९ ॥
तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी ।
त्वयि धर्मं समास्थाय भगिन्यामिव वर्तते ॥ १० ॥
तस्याः पुत्रं महात्मानं चीरवल्कलवाससम् ।
प्रस्थाप्य वनवासाय कथं पापे न शोचसे ॥ ११ ॥
अपापदर्शिनं शूरं कृतात्मानं यशस्विनम् ।
प्रव्राज्य चीरवसनं किं नु पश्यसि कारणम् ॥ १२ ॥
लुब्धाया विदितो मन्ये न तेऽहं राघवं यथा ।
तथा ह्यनर्थो राज्यार्थं त्वयाऽऽनीतो महानयम् ॥ १३ ॥
अहं हि पुरुषव्याघ्रावपश्यन् रामलक्ष्मणौ ।
केन शक्तिप्रभावेण राज्यं रक्षितुमुत्सहे ॥ १४ ॥
तं हि नित्यं महाराजो बलवन्तं महौजसम् ।
उपाश्रितोऽभूद् धर्मात्मा मेरुर्मेरुवनं यथा ॥ १५ ॥
सोऽहं कथमिमं भारं महाधुर्यसमुद्यतम् ।
दम्यो धुरमिवासाद्य सहेयं केन चौजसा ॥ १६ ॥
अथवा मे भवेच्छक्तिर्योगैर्बुद्धिबलेन वा ।
सकामां न करिष्यामि त्वामहं पुत्रगर्धिनीम् ॥ १७ ॥
न मे विकाङ्क्षा जायेत त्यक्तुं त्वां पापनिश्चयाम् ।
यदि रामस्य नावेक्षा त्वयि स्यान्मातृवत् सदा ॥ १८ ॥
उत्पन्ना तु कथं बुद्धिस्तवेयं पापदर्शिनी ।
साधुचारित्रविभ्रष्टे पूर्वेषां नो विगर्हिता ॥ १९ ॥
अस्मिन् कुले हि सर्वेषां ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते ।
अपरे भ्रातरस्तस्मिन् प्रवर्तन्ते समाहिताः ॥ २० ॥
न हि मन्ये नृशंसे त्वं राजधर्ममवेक्षसे ।
गतिं वा न विजानासि राजवृत्तस्य शाश्वतीम् ॥ २१ ॥
सततं राजपुत्रेषु ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते ।
राज्ञामेतत् समं तत् स्यादिक्ष्वाकूणां विशेषतः ॥ २२ ॥

हुए धर्मवत्सल क्यों तुझसे ! किस कारण से नष्ट थे पिता ? ।
क्यों घर-बाहर किया राम को तूने ! वे वन गये क्यों ? बता ॥ ७ ॥
मेरी ज्येष्ठा माँ कौसल्या और सुमित्रा तुझको पाकर ।
जी न सकेंगी इस अवसर पर, अतिशय पुत्र-शोक में आकर ॥ ८ ॥
गुरुजन-सँग व्यवहार निभाना, वे धर्मात्मा राम जानते ।
निज माता-सम उत्तम भावों से, तुझको वे रहे मानते ॥ ९ ॥
धर्म-आश्रिता, दूरदर्शिनी हैं ज्येष्ठा कौसल्या माता ।
अतः उन्होंने सदा निभाया तेरे साथ बहिन-सा नाता ॥ १० ॥
पापे[1] ! उनके पुत्र महात्मा को है वल्कल वसन पिन्हाया ।
तूने उन्हें विपिन को भेजा, शोक न क्यों तुझमें तब आया ? ॥ ११ ॥
हैं अपापदर्शी[2], पूतात्मा[3], शूर, यशस्वी राम हमारे ।
तू क्या लाभ देखती ? उनको चीर पिन्हा, वन-दुख दे सारे ॥ १२ ॥
तुझ लुब्धा[4] को ज्ञात नहीं है, क्या हैं भाव, राम-प्रति मेरे ।
तब तो किये अनर्थ राज्य-हित तूने कितने दुखद घनेरे[5] ॥ १३ ॥
पुरुष-व्याघ्र राघव भ्राता के पाये विना, भला मैं दशंन ।
किस शक्तिप्रभाव से अब मैं रक्खूँगा रक्षित राज्यासन ॥ १४ ॥
नित तेजस्वि वीर रामाश्रित, नृपति महात्मा पितु थे वैसे ।
अपने ऊपर के वन-तरुओं के आश्रित सुमेरु हैं जैसे ॥ १५ ॥
धुरन्धरों से धार्य राज्य को, धारण कर लूँगा किस बल से ।
बली बैल का भार, न ढोया जा सकता, बछड़े निर्बल से ॥ १६ ॥
तथा शक्ति, बौद्धिक बल, उद्यम से धारण यदि कर भी लूँगा ।
तेरी, सुत-शासन-लुब्धे ! मैं इच्छापूर्ति न होने दूँगा ॥ १७ ॥
नहीं मानते भी होते यदि, तुझको राम स्वमाता के सम ।
तुझ सम पाप-विचारिणि माँ को त्याज्य समझता तब मैं निर्भ्रम[6] ॥ १८ ॥
सज्जन-चरित-विभ्रष्टे ! जो है मेरे पूर्व जनों से निन्दित ।
वही पाप-दर्शिनी बुद्धि है, तुझमें हुई कहाँ से प्रकटित[7] ॥ १९ ॥
हुआ बड़े भाई का, मेरे कुल में सदा राज्य-अभिषिञ्चन ।
अनुजों ने तो सतर्कता से किया ज्येष्ठ भ्राताज्ञा[8]-पालन ॥ २० ॥
माना मैंने, राजधर्म पर, क्रूरे ! तेरी दृष्टि न जाती ।
तथा न तू शाश्वत[9] राजाओं का व्यवहार समझ है पाती ॥ २१ ॥
नृप-पुत्रों में सदा ज्येष्ठ का होता रहा राज्य-अभिषिञ्चन ।
इक्ष्वाकुज राजाओं द्वारा इसी नियम का है अभिनन्दन ॥ २२ ॥

१ पापिनी; २ किसी की बुराई न देखनेवाले; ३ पवित्रात्मा; ४ लालची; ५ अत्यधिक; ६ बिना हिचक; ७ उत्पन्न; ८ बड़े भाई की आज्ञा; ९ सनातन से ।

तेषां धर्मैकरक्षाणां कुलचारित्रशोभिनाम् ।
अद्य चारित्रशौटीर्यं त्वां प्राप्य विनिवर्तितम् ॥ २३ ॥
तवापि सुमहाभागे जनेन्द्रकुलपूर्वके ।
बुद्धिमोहः कथमयं सम्भूतस्त्वयि गर्हितः ॥ २४ ॥
न तु कामं करिष्यामि तवाहं पापनिश्चये ।
यया व्यसनमारब्धं जीवितान्तकरं मम ॥ २५ ॥
एष त्विदानीमेवाहमप्रियार्थं तवानघम् ।
निवर्तयिष्यामि वनाद् भ्रातरं स्वजनप्रियम् ॥ २६ ॥
निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः ।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना ॥ २७ ॥
इत्येवमुक्त्वा भरतो महात्मा
प्रियेतरैर्वाक्यगणैस्तुदंस्ताम् ।
शोकार्दितश्चापि ननाद भूयः
सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः ॥ २८ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमः सर्गः

भरत का कैकेयी को कड़ी फटकार देना

तां तथा गर्हयित्वा तु मातरं भरतस्तदा ।
रोषेण महताविष्टः पुनरेवाब्रवीद् वचः ॥ १ ॥
राज्याद् भ्रंशस्व कैकेयि नृशंसे दुष्टचारिणि ।
परित्यक्तासि धर्मेण मा मृतं रुदती भव ॥ २ ॥
किं नु तेऽदूषयद् रामो राजा वा भृशधार्मिकः ।
ययोर्मृत्युर्विवासश्च त्वत्कृते तुल्यमागतौ ॥ ३ ॥
भ्रूणहत्यामसि प्राप्ता कुलस्यास्य विनाशनात् ।
कैकेयि नरकं गच्छ मा च तातसलोकताम् ॥ ४ ॥
यत्त्वया हीदृशं पापं कृतं घोरेण कर्मणा ।
सर्वलोकप्रियं हित्वा ममाप्यापादितं भयम् ॥ ५ ॥
त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः ।
अयशो जीवलोके च त्वयाहं प्रतिपादितः ॥ ६ ॥

रहे धर्म-रक्षित जो, जो थे कुलाचार-पालन से शोभित।
उनका ही चरिताभिमान अब तुझको पाकर हुआ तिरोहित[1] ॥ २३ ॥
जन्मी तू, नृप केकय-कुल में जो कि महाभागे! है शंसित[2]।
बुद्धि-मोह यह फिर भी कैसे तुझमें प्रकट हुआ ये गर्हित[3] ॥ २४ ॥
पापनिश्चये! तेरी इच्छा की न करूँगा पूर्ति मैं कभी।
विपत्-कृत्य तेरा, ले सकता है मेरे तो प्राणों को भी ॥ २५ ॥
पहले तेरे अ-प्रिय कार्य को ही करने अब मैं जाता हूँ।
अनघ[4], स्व-जन-प्रिय, राम-बन्धु को वन से लौटा कर लाता हूँ ॥ २६ ॥
दीप्त तेज, उन महापुरुष को लौटा लाऊँगा जब वन से।
बनकर दास उन्हीं का, जीवन बिता सकूँगा, सुस्थिर मन से ॥ २७ ॥
भरत महात्मा हुए शोक से पीड़ित ऐसा कहकर
कैकेयी को व्यथित कर दिया, वचन बोलकर कटुतर।
देते हुए ताड़ना उसको, गरज रहे थे ऐसे
जैसे मन्दर शैल-गुहा-स्थित गरजे सिंह गहनतर ॥ २८ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्ष रामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७३ ॥

चौहत्तरवाँ सर्ग

भरत का कैकेयी को कड़ी फटकार देना

माता की अतिशय निन्दा कर, होकर क्रोधावेशित[5] वैसे।
अति कठोर वाणी में बोले, माँ से पुनः भरत वे ऐसे ॥ १ ॥
क्रूरे! दुष्टाचारिणि! हो जा, धर्म-त्यक्त तू राज्य-भ्रष्ट अब।
मत कैकेयि! नृपति-हित रोना, रोना निज मृत पुत्र हेतु तब ॥ २ ॥
राम और धर्मात्मा नृप ने, तेरा भला बिगाड़ा क्या, कब?।
जिससे उनको मिला विपिन का वास, मृत्यु का परम कष्ट अब ॥ ३ ॥
कुल-विनाश से है कैकेयी! भ्रूण-हनन-अघ[6] तेरे सिर पर।
अतः नरक में जा, न पिता का लोक तुझे मिल पाये (शुभकर) ॥ ४ ॥
घोर कर्म से सकल लोक-प्रिय रामचन्द्र को विपिन पठाया।
तेरा महापाप निश्चय यह, मेरे लिए महाभय लाया ॥ ५ ॥
तुझसे मेरे पिता मरे हैं, राम हुए हैं वन के आश्रित।
अपयश-भागी मुझे बनाया, तूने जीव-जगत में निन्दित ॥ ६ ॥

---

१ दूर हो गयी; २ प्रशंसनीय; ३ निन्दित; ४ निष्पाप; ५ क्रोध में भर कर; ६ गर्भ गिराने का पाप।

मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके।
न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि ॥ ७ ॥
कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या मम मातरः।
दुःखेन महताविष्टास्त्वां प्राप्य कुलदूषिणीम् ॥ ८ ॥
न त्वमश्वपतेः कन्या धर्मराजस्य धीमतः।
राक्षसी तत्र जातासि कुलप्रध्वंसिनी पितुः ॥ ९ ॥
यत् त्वया धार्मिको रामो नित्यं सत्यपरायणः।
वनं प्रस्थापितो वीरः पितापि त्रिदिवं गतः ॥ १० ॥
यत् प्रधानासि तत् पापं मयि पित्रा विना कृते।
भ्रातृभ्यां च परित्यक्ते सर्वलोकस्य चाप्रिये ॥ ११ ॥
कौसल्यां धर्मसंयुक्तां वियुक्तां पापनिश्चये।
कृत्वा कं प्राप्स्यसे ह्यद्य लोकं निरयगामिनि ॥ १२ ॥
किं नावबुध्यसे क्रूरे नियतं बन्धुसंश्रयम्।
ज्येष्ठं पितृसमं रामं कौसल्यायात्मसम्भवम् ॥ १३ ॥
अङ्गप्रत्यङ्गजः पुत्रो हृदयाच्चाभिजायते।
तस्मात् प्रियतरो मातुः प्रिया एव तु बान्धवाः ॥ १४ ॥
अन्यदा किल धर्मज्ञा सुरभिः सुरसम्मता।
वहमानौ ददर्शोर्व्यां पुत्रौ विगतचेतसौ ॥ १५ ॥
तावर्धदिवसं श्रान्तौ दृष्ट्वा पुत्रौ महीतले।
रुरोद पुत्रशोकेन बाष्पपर्याकुलेक्षणम् ॥ १६ ॥
अधस्ताद् व्रजतस्तस्याः सुरराज्ञो महात्मनः।
बिन्दवः पतिता गात्रे सूक्ष्माः सुरभिगन्धिनः ॥ १७ ॥
निरीक्षमाणस्तां शक्रो ददर्श सुरभिं स्थिताम्।
आकाशे विष्ठितां दीनां रुदतीं भृशदुःखिताम् ॥ १८ ॥
तां दृष्ट्वा शोकसंतप्तां वज्रपाणिर्यशस्विनीम्।
इन्द्रः प्राञ्जलिरुद्विग्नः सुरराजोऽब्रवीद् वचः ॥ १९ ॥
भयं कच्चिन्न चास्मासु कुतश्चिद् विद्यते महत्।
कुतोनिमित्तः शोकस्ते ब्रूहि सर्वहितैषिणि ॥ २० ॥
एवमुक्ता तु सुरभिः सुरराजेन धीमता।
प्रत्युवाच ततो धीरा वाक्यं वाक्यविशारदा ॥ २१ ॥
शान्तं पापं न वः किंचित् कुतश्चिदमराधिप।
अहं तु मग्नौ शोचामि स्वपुत्रौ विषमे स्थितौ ॥ २२ ॥

राज्य-लोभ-वश, क्रूरे! तू है दुराचारिणी, स्वपति-घातिनी।
तू वार्ता-अयोग्य है, मेरी माँ-स्वरूप में शत्रु है बनी॥ ७ ॥
वे कौसल्या और सुमित्रा मेरी अन्या माताएँ सब।
कुल-कलंकिनी! तेरे कारण, पड़ी दुःख में हैं अतिशय अब॥ ८ ॥
सुधी अश्वपति धर्मराज की सुता नहीं तू जन्मी निश्चित।
तू तो कोई हुई राक्षसी, पिता-वंश के ही विनाश हित॥ ९ ॥
तेरे कारण नित्य सत्य-रत धार्मिक राम गये हैं वन में।
और तुही है कारण, मेरे नृपति पिता के स्वर्ग-गमन में॥ १० ॥
तेरे प्रमुख पाप का फल यह पिता-हीन हो मैंने पाया।
और बिछुड़कर भ्राताओं से जग में मैं अप्रिय कहलाया॥ ११ ॥
धर्मपरायण माँ कौसल्या को, पति-सुत से वञ्चित कर तब।
नरकगामिनी, पापनिश्चये! कौन लोक तू जायेगी अब?॥ १२ ॥
क्रूरे! मेरे पिता-तुल्य हैं, कौसल्या-सुत, बन्धु-जनाश्रय।
जेठे भाई वशी राम वे, क्या न समझती तू यह आशय?॥ १३ ॥
पुत्र अंग-प्रत्यंगज[1] माँ का होता उसे अत्यधिक प्यारा।
और दूसरी श्रेणी में है अन्य बन्धु-बान्धवगण सारा॥ १४ ॥
कभी देव-मान्या धर्मज्ञा, कामधेनु ने देखा भू पर।
अपने दो पुत्रों को, जो थे अति अचेत, हल-भार वहन कर॥ १५ ॥
वे मध्याह्न समय तक हल में जुतने से थे थके-थकाये।
दशा देख पुत्रों की रोई वह, आँखों में आँसू आये॥ १६ ॥
उसी समय, गौ के नीचे से, जो कि कहीं को थे तब प्रस्थित[2]।
गिरे अश्रु के बिन्दु, महात्मा उन सुरपति[3] के तन पर सुरभित॥ १७ ॥
देखा तभी इन्द्र ने ऊपर, कामधेनु है खड़ी गगन में।
रोती थी वह दीन-भाव से, परम दुखी होकर निज मन में॥ १८ ॥
यशस्विनी उस कामधेनु को, देख शोक-संतप्त, वज्रधर।
इन्द्र हुए उद्विग्न, जोड़कर कर[4], बोले उससे वे सुरवर॥ १९ ॥
सकल-हितैषिणि! देवि! भला क्या हम सब पर कोई भय आया?।
कहो देवि! किस कारण से है, शोक तुम्हारे मन में छाया॥ २० ॥
वाणी-कुशल सुरभि से सुरपति ने ऐसा कर दिया प्रश्न जब।
धीर-स्वभावा कामधेनु ने उत्तर दिया उन्हें यह ही तब॥ २१ ॥
पाप शान्त हो! नहीं कहीं से कोई भय आया तुम सब पर।
विषमस्थिति में पुत्रद्वय को देख, दुखी हूँ मैं देवेश्वर!॥ २२ ॥

१ अंग से उत्पन्न; २ प्रस्थान कर रहे थे; ३ इन्द्र; ४ हाथ।

एतौ दृष्ट्वा कृशौ दीनौ सूर्यरश्मिप्रतापितौ ।
वध्यमानौ बलीवर्दौ कर्षकेण दुरात्मना ॥ २३ ॥
मम कायात् प्रसूतौ हि दुःखितौ भारपीडितौ ।
यौ दृष्ट्वा परितप्येऽहं नास्ति पुत्रसमः प्रियः ॥ २४ ॥
यस्याः पुत्रसहस्रैस्तु कृत्स्नं व्याप्तमिदं जगत् ।
तां दृष्ट्वा रुदतीं शक्रो न सुतान् मन्यते परम् ॥ २५ ॥
इन्द्रो ह्यश्रुनिपातं तं स्वगात्रे पुण्यगन्धिनम् ।
सुरभिं मन्यते दृष्ट्वा भूयसीं तामिहेश्वरः ॥ २६ ॥
समाप्रतिमवृत्ताया लोकधारणकाम्यया ।
श्रीमत्या गुणमुख्यायाः स्वभावपरिचेष्टया ॥ २७ ॥
यस्याः पुत्रसहस्राणि सापि शोचति कामधुक् ।
किं पुनर्या विना रामं कौसल्या वर्तयिष्यति ॥ २८ ॥
एकपुत्रा च साध्वी च विवत्सेयं त्वया कृता ।
तस्मात् त्वं सततं दुःखं प्रेत्य चेह च लप्स्यसे ॥ २९ ॥
अहं त्वपचितिं भ्रातुः पितुश्च सकलामिमाम् ।
वर्धनं यशसश्चापि करिष्यामि न संशयः ॥ ३० ॥
आनाय्य च महाबाहुं कोसलेन्द्रं महाबलम् ।
स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिषेवितम् ॥ ३१ ॥
नह्यहं पापसंकल्पे पापे पापं त्वया कृतम् ।
शक्तो धारयितुं पौरैरश्रुकण्ठैर्निरीक्षितः ॥ ३२ ॥
सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा विश दण्डकान् ।
रज्जुं बद्ध्वाथवा कण्ठे नहि तेऽन्यत् परायणम् ॥ ३३ ॥
अहमप्यवनीं प्राप्ते रामे सत्यपराक्रमे ।
कृतकृत्यो भविष्यामि विप्रवासितकल्मषः ॥ ३४ ॥
इति नाग इवारण्ये तोमराङ्कुशतोदितः ।
पपात भुवि संक्रुद्धो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ३५ ॥

संरक्तनेत्रः शिथिलाम्बरस्तथा
विधूतसर्वाभरणः परंतपः ।
बभूव भूमौ पतितो नृपात्मजः
शचीपतेः केतुरिवोत्सवक्षये ॥ ३६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

दुर्बल दोनों वृषभ दुखी हैं, तप्त हुए रवि-किरणों से अति।
देखा मैंने, पीट रहा है फिर भी उन्हें कृषक यह दुर्मति ॥ २३ ॥
मेरे कायज[1] हैं वे दोनों, हुए भार से दुखी, प्रपीड़ित।
उन्हें देख रोती, सुत-सम है अन्य न कोई प्रिय माँ के हित ॥ २४ ॥
पुत्र सहस्रों जग में जिसके हैं, वह रोती कामधेनु जब।
सुत से अधिक न माँ का प्रिय है अन्य, सुरेश्वर[2] वे समझे तब ॥ २५ ॥
पुण्यगन्ध के अश्रुपात को देख इन्द्र ने अपने तन पर।
माना देवी कामधेनु को जग में सबसे अधिक श्रेष्ठतर ॥ २६ ॥
सकल लोक-हित-चरिता जो है, श्री, विशेष गुण-युता सुनिश्चित।
जो स्वभावतः सब लोकों की रक्षा में तत्पर रहती नित ॥ २७ ॥
वह जब पुत्र सहस्रों की माँ, सुरभि हुई निज सुत-हित पीड़ित।
तो फिर एक-सुता, कौसल्या रहें राम-बिन कैसे जीवित ॥ २८ ॥
एक पुत्रवाली कौसल्या साध्वी को सुत से अलगाकर।
सदा यहाँ पर दुख पायेगी एवं अन्य लोक में जाकर ॥ २९ ॥
करके अन्तिम कृत्य पिता का, देकर राज्य, राम का पूजन।
सदा करूँगा, कार्य करूँगा वह, जिससे हो यश-संवर्धन ॥ ३० ॥
कोसलेश उन राम महाबल, महाबाहु को मैं लाऊँगा।
मैं ही शीघ्र स्वयं मुनिजन से सेवित उस वन में जाऊँगा ॥ ३१ ॥
मुझे पाप-संकल्पे! पापे! परिजन देखें साश्रु-कण्ठ[3] सब।
और रहूँ मैं ढोता तेरा पाप, न होगा यह मुझसे अब ॥ ३२ ॥
ज्वलित अग्नि में कर प्रवेश, या जा दण्डक वन तू ही दुर्मति!।
रज्जु[4] बाँध ग्रीवा में मर जा! अन्य न तेरी है कोई गति ॥ ३३ ॥
सत्य-पराक्रमि राम करेंगे जबकि अयोध्या-भूमि-पदार्पण।
तब होऊँगा मैं कलंक से दूर और कृतकृत्य उसी क्षण ॥ ३४ ॥
तोमर, अकुश-हत, वन-गज-सम, गिरे विमूर्च्छित भरत धरणि पर।
लंबी साँसें लगे खींचने, ज्यों फुफकारे क्रोधित विषधर ॥ ३५ ॥
भू पर वैसे भरत नृपति-सुत थे, अरि-ताप-प्रदाता[5]
उत्सव-क्षय पर, यथा शचीपति-ध्वज भू पर गिर जाता।
नेत्र लाल थे उनके, थे सब वस्त्र पड़ गये ढीले
था उनका भूषण-समूह भी बिखरा हुआ दिखाता ॥ ३६ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७४ ॥

---

1 शरीर से उत्पन्न; 2 इन्द्र; 3 आँसू भरे गला रुँधा हुआ; 4 रस्सी;
5 शत्रु को ताप देनेवाले।

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

कौसल्या के सामने भरत का शपथ खाना

दीर्घकालात् समुत्थाय संज्ञां लब्ध्वा स वीर्यवान्।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां दीनामुद्वीक्ष्य मातरम्॥ १॥

सोऽमात्यमध्ये भरतो जननीमभ्यकुत्सयत्।
राज्यं न कामये जातु मन्त्रये नापि मातरम्॥ २॥

अभिषेकं न जानामि योऽभूद् राजा समीक्षितः।
विप्रकृष्टे ह्यहं देशे शत्रुघ्नसहितोऽभवम्॥ ३॥

वनवासं न जानामि रामस्याहं महात्मनः।
विवासनं च सौमित्रेः सीतायाश्च यथाभवत्॥ ४॥

तथैव क्रोशतस्तस्य भरतस्य महात्मनः।
कौसल्या शब्दमाज्ञाय सुमित्रां चेदमब्रवीत्॥ ५॥

आगतः क्रूरकार्यायाः कैकेय्या भरतः सुतः।
तमहं द्रष्टुमिच्छामि भरतं दीर्घदर्शिनम्॥ ६॥

एवमुक्त्वा सुमित्रां तां विवर्णवदना कृशा।
प्रतस्थे भरतो यत्र वेपमाना विचेतना॥ ७॥

स तु राजात्मजश्चापि शत्रुघ्नसहितस्तदा।
प्रतस्थे भरतो येन कौसल्याया निवेशनम्॥ ८॥

ततः शत्रुघ्नभरतौ कौसल्यां प्रेक्ष्य दुःखितौ।
पर्यष्वजेतां दुःखार्तां पतितां नष्टचेतनाम्॥ ९॥

रुदन्तौ रुदती दुःखात् समेत्यार्या मनस्विनी।
भरतं प्रत्युवाचेदं कौसल्या भृशदुःखिता॥ १०॥

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम्।
सम्प्राप्तं बत कैकेय्या शीघ्रं क्रूरेण कर्मणा॥ ११॥

प्रस्थाप्य चीरवसनं पुत्रं मे वनवासिनम्।
कैकेयी कं गुणं तत्र पश्यति क्रूरदर्शिनी॥ १२॥

क्षिप्रं मामपि कैकेयी प्रस्थापयितुमर्हति।
हिरण्यनाभो यत्रास्ते सुतो मे सुमहायशाः॥ १३॥

अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम्।
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये यत्र राघवः॥ १४॥

कामं वा स्वयमेवाद्य तत्र मां नेतुमर्हसि।
यत्रासौ पुरुषव्याघ्रस्तप्यते मे सुतस्तपः॥ १५॥

पचहत्तरवाँ सर्ग

कौसल्या के सामने भरत का शपथ खाना

बहुत देर में भरत विक्रमी, हो सचेष्ट, बैठे फिर उठकर।
और साश्रुनयना[1] माता को बैठी देखा दीना बनकर॥ १ ॥
कहा मन्त्रियों-मध्य उन्होंने उसको अतिशय करके निन्दित।
सचिवो! मैं न राज्य-इच्छुक हूँ, बात न की माँ से इसके हित॥ २ ॥
मुझे नहीं है पता, नृपति-कृत निर्णय अभिषिञ्चन का निश्चित।
क्योंकि, सहित शत्रुघ्न उस समय, मैं था दूर देश में सँस्थित॥ ३ ॥
मुझे नहीं है ज्ञात, महात्मा राम गये कब रहने को वन।
नहीं जानता सीता, लक्ष्मण का किस भाँति हुआ निर्वासन॥ ४ ॥
कोस रहे थे भरत महात्मा, इस प्रकार निज माता को जब।
कहा सुमित्रा से कौसल्या ने, उनके ही शब्द समझ तब॥ ५ ॥
क्रूर कर्मकरि कैकेयी के पुत्र भरत आ गये भवन में।
उन सुदूरदर्शी को देखूँ, ऐसी है इच्छा अति मन में॥ ६ ॥
फिर अचेत, दुर्बल, उदासमुख, कौसल्या हो करके कम्पित।
यह कह चलीं सुमित्रा से वह, भरत जिस जगह थे समुपस्थित॥ ७ ॥
सह शत्रुघ्न भरत नृप-सुत भी, तब थे उसी मार्ग से आते।
जिससे होकर, कौसल्या-गृह, सभी लोग थे आते-जाते॥ ८ ॥
फिर शत्रुघ्न, भरत ने देखा, वहाँ दूर से यह तदनन्तर।
दुख, व्याकुलता से अचेत हो, कौसल्या गिर पड़ीं धरणि पर॥ ९ ॥
दुखी हो पड़े, दोनों भाई, लगे गोद में उनकी जाकर।
आर्य मनस्विनि कौसल्या भी बोलीं दुखिता, हृदय-लगाकर॥ १० ॥
राज्य चाहते थे न ? पुत्र तुम! लो, निष्कण्टक मिला तुम्हें वह।
कैकेयी ने क्रूर कर्म कर, शीघ्र इसे पाया, है दुख यह॥ ११ ॥
क्रूरदृष्टि कैकेयी को, क्या लाभ देखने में है आया ?।
चीर पिन्हा, जो मेरे सुत को, विपिन भेज, वन-वासि बनाया॥ १२ ॥
अब है उचित, मुझे कैकेयी उसी स्थान को कर दे प्रेषित[2]।
महा यशस्वी जहाँ राम हैं रहते स्वर्ण-नाभि से शोभित॥ १३ ॥
अग्निहोत्र को आगे करके, या कि सुमित्रा-साथ, मैं वहाँ।
सुख से स्वयं चली जाऊँगी, रहते हैं श्रीराम अब जहाँ॥ १४ ॥
या स्वेच्छा से तुम्हीं अब स्वयं मुझे वहाँ पहुँचा दो सत्वर[3]।
मेरे सुत वे राम जहाँ पर पुरुषसिंह तप में हैं तत्पर॥ १५ ॥

---

१ आँसू भरे नेत्रोंवाली; २ भेज दे; ३ शीघ्र।

इदं हि तव विस्तीर्णं धनधान्यसमाचितम् ।
हस्त्यश्वरथसम्पूर्णं राज्यं निर्यातितं तया ॥ १६ ॥
इत्यादिबहुभिर्वाक्यैः क्रूरैः सम्भर्त्सितोऽनघः ।
विव्यथे भरतोऽतीव व्रणे तुद्येव सूचिना ॥ १७ ॥
पपात चरणौ तस्यास्तदा सम्भ्रान्तचेतनः ।
विलप्य बहुधासंज्ञो लब्धसंज्ञस्तदाभवत् ॥ १८ ॥
एवं विलपमानां तां प्राञ्जलिर्भरतस्तदा ।
कौसल्यां प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृताम् ॥ १९ ॥
आर्ये कस्मादजानन्तं गर्हसे मामकल्मषम् ।
विपुलां च मम प्रीतिं स्थितां जानासि राघवे ॥ २० ॥
कृतशास्त्रानुगा बुद्धिर्मा भूत् तस्य कदाचन ।
सत्यसंधः सतां श्रेष्ठो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २१ ॥
प्रेष्यं पापीयसां यातु सूर्यं च प्रति मेहतु ।
हन्तु पादेन गाः सुप्ता यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २२ ॥
कारयित्वा महत् कर्म भर्ता भृत्यमनर्थकम् ।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २३ ॥
परिपालयमानस्य राज्ञो भूतानि पुत्रवत् ।
ततस्तु द्रुह्यतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २४ ॥
बलिषड्भागमुद्धृत्य नृपस्यारक्षितुः प्रजाः ।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २५ ॥
संश्रुत्य च तपस्विभ्यः सत्रे वै यज्ञदक्षिणाम् ।
तां चापलतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २६ ॥
हस्त्यश्वरथसम्बाधे युद्धे शस्त्रसमाकुले ।
मा स्म कार्षीत् सतां धर्मं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २७ ॥
उपदिष्टं सुसूक्ष्मार्थं शास्त्रं यत्नेन धीमता ।
स नाशयतु दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २८ ॥
मा च तं व्यूढबाह्वंसं चन्द्रभास्करतेजसम् ।
द्राक्षीद् राज्यस्थमासीनं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २९ ॥
पायसं कृसरं छागं वृथा सोऽश्नातु निर्घृणः ।
गुरूंश्चाप्यवजानातु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३० ॥
गाश्च स्पृशतु पादेन गुरून् परिवदेत च ।
मित्रे द्रुह्येत सोऽत्यर्थं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३१ ॥

यह धन, धान्य-प्रपूर्ण और रथ, हाथी, घोड़ों से अति संयुत।
विस्तृत राज्य दिलाया तुमको, कैकेयी ने हो अति अद्भुत॥ १६॥
भरत-भर्त्सना कौसल्या ने, कटु शब्दों में की ऐसे जब।
व्रण[1] में सुई-चुभन-सी पीड़ा, अनघ भरत को हुई बहुत तब॥ १७॥
व्याकुलचित्त, गिरे कौसल्या के चरणों में हा, वे विलपित।
एवं हुए अचेत, बाद में पुनः हुए चेतना-समन्वित[2]॥ १८॥
शोकाच्छादित कौसल्या को विलपित देख, भरत वे वैसे।
हाथ जोड़कर, उनसे बोले, वचन शीघ्र ही तब फिर ऐसे॥ १९॥
आर्ये! अनघ[3], अजान, मुझे क्यों आप! कर रहीं ऐसे निन्दित।
आप जानती हैं, है कितना मेरा प्रेम प्रगाढ़ राम-हित॥ २०॥
आर्य, श्रेष्ठ, वे सत्यसंध, वन राम गये जिसकी अनुमति से।
उसकी बुद्धि कदापि न हो अनुरूप शास्त्र, गुरु-ज्ञान सुपथ से॥ २१॥
वह पापी हो नीच जाति का सेवक, रवि-सम्मुख मल-त्यागी।
सुप्ता[4] गौ पर पादप्रहरण, इनका फल पाये दुर्भागी॥ २२॥
वह अघ[5] पाये, आर्य राम को विपिन गमन की अनुमति-दाता।
जो अघ अति श्रम-कर सेवक को, उचित न धन देकर, जन पाता॥ २३॥
सुत-सम प्राणिमात्र-रक्षक नृप-द्रोही को लगता जो पातक।
वह ही आर्य राम-वन-प्रेषक को भी लगे, पाप अति घातक॥ २४॥
उस अधर्म का भागी हो वह, आर्य राम-वन अनुमति-दाता[6]।
जो षष्ठांश आय का लेकर, प्रजा-अरक्षक[7] नृप है पाता॥ २५॥
कहकर श्रमी ऋत्विजों को, जो नहीं दक्षिणा मख[8] की देता।
वह जो अघ पाता, पाये वह, आर्य राम-वन-गमन-प्रणेता[9]॥ २६॥
अस्त्र, शस्त्र, गज, अश्व, रथों-युत, रण में शूर-धर्म का त्यागी।
जो अघ पाता, वह अघ पाये आर्य-विपिन-प्रेषक दुर्भागी॥ २७॥
आर्य राम को जिसके कहने से वन-गमन कु-अवसर आया।
वह गुरु-शास्त्र-ज्ञान को भूले, जिसे यत्न से उसने पाया॥ २८॥
रवि, शशि-सम तेजस्वि, लंब-भुज, सुन्दर स्कंध-आर्य राज्यासन[10]।
की सुषमा वह देख न पाये, पाये वह न राम का दर्शन॥ २९॥
खिचड़ी, खीर, अजा-दुग्धादिक[11], विना देव, पितरों को देकर।
खानेवाले-सम अघ पाये, आर्य-विपिन-प्रेषक[12] विशेषकर॥ ३०॥
अनुमति देकर आर्य राम को, जिसने वन के लिए निकाला।
वह हो मित्र-द्रोहि, गुरुनिन्दक, गौ को पद से छूनेवाला॥ ३१॥

---

१ घाव; २ होश में आये; ३ निष्पाप; ४ सोयी हुई; ५ पाप; ६ राय देनेवाला; ७ प्रजा की रक्षा न करनेवाला; ८ यज्ञ; ९ राम को वन भेजवानेवाला; १० राज्य-सिंहासन पर आरूढ़; ११ बकरी का दूध; १२ राम को वन भेजनेवाला।

विश्वासात् कथितं किंचित् परिवादं मिथः क्वचित् ।
विवृणोतु स दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३२ ॥
अकर्ता चाकृतज्ञश्च त्यक्तात्मा निरपत्रपः ।
लोके भवतु विद्विष्टो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३३ ॥
पुत्रैर्दासैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः ।
स एको मृष्टमश्नातु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३४ ॥
अप्राप्य सदृशान् दारानपत्यः प्रमीयताम् ।
अनवाप्य क्रियां धर्म्यां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३५ ॥
माऽऽत्मनः संततिं द्राक्षीत् स्वेषु दारेषु दुःखितः ।
आयुःसमग्रमप्राप्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३६ ॥
राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत् पापमुच्यते ।
भृत्यत्यागे च यत् पापं तत् पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ३७ ॥
लाक्षया मधुमांसेन लोहेन च विषेण च ।
सदैव बिभृयाद् भृत्यान् यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३८ ॥
संग्रामे समुपोढे च शत्रुपक्षभयंकरे ।
पलायमानो वध्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३९ ॥
कपालपाणिः पृथिवीमटतां चीरसंवृतः ।
भिक्षमाणो यथोन्मत्तो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४० ॥
मद्यप्रसक्तो भवतु स्त्रीष्वक्षेषु च नित्यशः ।
कामक्रोधाभिभूतश्च यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४१ ॥
मास्य धर्मे मनो भूयादधर्मं स निषेवताम् ।
अपात्रवर्षी भवतु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४२ ॥
संचितान्यस्य वित्तानि विविधानि सहस्रशः ।
दस्युभिर्विप्रलुप्यन्तां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४३ ॥
उभे संध्ये शयानस्य यत् पापं परिकल्प्यते ।
तच्च पापं भवेत् तस्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४४ ॥
यदग्निदायके पापं यत् पाप गुरुतल्पगे ।
मित्रद्रोहे च यत् पापं तत् पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ४५ ॥
देवतानां पितृणां च मातापित्रोस्तथैव च ।
मा स्म कार्षीत् स शुश्रूषां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४६ ॥
सतां लोकात् सतां कीर्त्याः सज्जुष्टात् कर्मणस्तथा ।
भ्रश्यतु क्षिप्रमद्यैव यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४७ ॥

दुष्टात्मा एकान्त स्थान में विश्वासी से जो सुन पाये।
गुप्त बात को प्रकट करे, विश्वासघात का वह फल पाये ॥ ३२ ॥
अनुपकारि[1], निर्लज्ज, सत्पुरुष-त्यक्त जगत्-द्वेषस्थल हो वह।
नीच, कृतघ्न, आर्य को जिसने विपिन गमन के लिए, दिया कह ॥ ३३ ॥
अनुमति-दाता वह, निज गृह में, पुत्र, दास भृत्यों से घिरकर।
भी मिष्टान्न अकेले खानेवाले का अघ पाये दुष्कर ॥ ३४ ॥
अनुरूपा पत्नी[2] - विहीन हो, धार्मिक कृत्य न करने पाये।
सन्तति-हीन अवस्था में ही, आर्यानुमतिप्रद[3] मर जाये ॥ ३५ ॥
सदा दुखी रहकर, निज पत्नी से सन्तति-मुख देख न पाये।
किये विना उपभोग आयु का, आर्यानुमतिप्रद मर जाये ॥ ३६ ॥
अनुमति देनेवाले को ही नृप, स्त्री, बाल, वृद्ध-वध वाला।
और साथ ही पातक जिसमें भृत्य अकारण जाय निकाला ॥ ३७ ॥
आर्य-वनगमन-अनुमति-दाता, घोर पातकों में फँस जाये।
और लौह, मधु, मांस, लाख, विष-विक्रय से परिवार चलाये ॥ ३८ ॥
रिपु को अति भय देनेवाला, महा-युद्ध-अवसर जब आये।
तब उससे भागता हुआ वह अनुमतिदाता मारा जाये ॥ ३९ ॥
फटे, पुराने - मलिन वस्त्र से ही शरीर को अपने ढककर।
आर्यप्रेषक, भीख माँगता फिरे पागलों - सा, ले खप्पर ॥ ४० ॥
आर्य-विपिन-प्रेषक, हो करके काम-क्रोध-वश, पर-तिय-गामी।
करके मदिरा-पान, सर्वदा रहे द्यूत-क्रीड़ा का कामी[4] ॥ ४१ ॥
कभी धर्म में लग न सके, उस आर्य राम-वन-प्रेषक का मन।
दे अपात्र को दान, करे वह नित अधर्म का अनुचित सेवन ॥ ४२ ॥
विपुल सहस्रों की संख्या में धन, वैभव जो हो एकत्रित।
आर्य-विपिन प्रेषक का उससे, उसे लुटेरे कर दें वञ्चित ॥ ४३ ॥
दोनों संध्याओं में सोने से जो होता अघ[5] परिकल्पित।
वह ही उसको लगे, आर्य को जिसने किया विपिन को प्रस्थित ॥ ४४ ॥
मित्र-द्रोहि, गुरु-तल्पग[6], एवं आग लगानेवाला दुर्जन।
जो अघ पाता, वह ही पाये वह, जिससे हैं आर्य गये वन ॥ ४५ ॥
देवों, पितरों, मातृ, पितृ की, सेवा कभी न वह कर पाये।
आर्य राम जिसकी अनुमति से, घोर विपिन में गये पठाये ॥ ४६ ॥
सत्पुरुषों के लोक और यश, जो सुकृत्य हैं उनसे सेवित।
उन सबसे हो शीघ्र भ्रष्ट वह, आर्य हुए जिससे वन-प्रेषित ॥ ४७ ॥

---

१ बुराई करनेवाला; २ अपने अनुकूल पत्नी; ३ आर्य राम को वन भेजने में राय देनेवाला; ४ आसक्त, इच्छुक; ५ पाप; ६ गुरुपत्नी-गामी।

अपास्य मातृशुश्रूषामनर्थे सोऽवतिष्ठताम् ।
दीर्घबाहुर्महावक्षा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४८ ॥
बहुभृत्यो दरिद्रश्च ज्वररोगसमन्वितः ।
समायात् सततं क्लेशं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४९ ॥
आशामाशंसमानानां दीनानामूर्ध्वचक्षुषाम् ।
अर्थिनां वितथां कुर्याद् यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५० ॥
मायया रमतां नित्यं पुरुषः पिशुनोऽशुचिः ।
राज्ञो भीतस्त्वधर्मात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५१ ॥
ऋतुस्नातां सतीं भार्यामृतुकालानुरोधिनीम् ।
अतिवर्तेत दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५२ ॥
विप्रलुप्तप्रजातस्य दुष्कृतं ब्राह्मणस्य यत् ।
तदेतत् प्रतिपद्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५३ ॥
ब्राह्मणायोद्यतां पूजां विहन्तु कलुषेन्द्रिय ।
बालवत्सां च गां दोग्धु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५४ ॥
धर्मदारान् परित्यज्य परदारान् निषेवताम् ।
त्यक्तधर्मरतिर्मूढो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५५ ॥
पानीयदूषके पापं तथैव विषदायके ।
यत्तदेकः स लभतां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५६ ॥
तृषार्तं सति पानीये विप्रलम्भेन योजयन् ।
यत् पापं लभते तत् स्याद् यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५७ ॥
भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः ।
तेन पापेन युज्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५८ ॥
एवमाश्वासयन्नेव दुःखार्तोऽनुपपात ह ।
विहीनां पतिपुत्राभ्यां कौसल्यां पार्थिवात्मजः ॥ ५९ ॥
तदा तं शपथैः कष्टैः शपमानमचेतनम् ।
भरतं शोकसंतप्तं कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥ ६० ॥
मम दुःखमिदं पुत्र भूयः समुपजायते ।
शपथैः शपमानो हि प्राणानुपरुणत्सि मे ॥ ६१ ॥
दिष्ट्या न चलितो धर्मादात्मा ते सहलक्षणः ।
वत्स सत्यप्रतिज्ञो हि सतां लोकानवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥
इत्युक्त्वा चाङ्कमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम् ।
परिष्वज्य महाबाहुं रुरोद भृशदुःखिता ॥ ६३ ॥

जो जन, बृहद् बाहु, विस्तृत उर, आर्य राम को विपिन पठाये।
वह निज माँ की सेवा तजकर, अति अनर्थ का पथ अपनाये॥ ४८॥
हो दरिद्र, बहुसंख्यक गृह-जन-पालन में असमर्थ सर्वथा।
अनुमति देनेवाला पाये, ज्वर-पीड़ा, अति क्लेश भी तथा॥ ४९॥
आँख उठा, दाता-मुख-दर्शक, याचक-आशा को निष्फल कर।
करे अघार्जन[1] वह, जिसनें है भेजा विपिन आर्य को कहकर॥ ५०॥
आर्य-विपिन-अनुमति दाता हो चुगुलखोर, अपवित्र सर्वथा।
होकर कपटी, छली, नृपति से अति भय पाये, नित्य ही तथा॥ ५१॥
आर्य राम जिसकी अनुमति से वन-निवास को गये पठाये।
वह दुष्टात्मा ऋतु-स्नाता साध्वी पत्नी तज, पाप कमाये॥ ५२॥
विना दान, तिय-द्वेष आदि से, निःसन्तति द्विज जो अघ पाता।
वह अघ उसको मिले, जो कि है आर्य राम-वन-अनुमतिदाता॥ ५३॥
अजितेन्द्रिय, ब्राह्मण-पूजा में विघ्न डालता रहे सर्वथा।
आर्यानुमति-प्रदाता दुह ले, लघु बछड़े की धेनु को तथा॥ ५४॥
आर्य विपिन-प्रेषक निज पत्नी को तज करे परस्त्री-सेवन।
तथा धर्म-विषयानुराग से रहे सदा उसका वञ्चित मन॥ ५५॥
जो कि पेय जल-दूषक, एवं परजन-विष-दाता अघ पाता।
उन्हें अकेले ही पाये वह, राम-वन-गमन अनुमति-दाता॥ ५६॥
जल के होते हुए तृषित को जल न पिला, जो अघ,[2] जन पाता।
उस अघ को पाये वह दुर्जन, आर्य-वनगमन-अनुमतिदाता॥ ५७॥
पथ में कलहकारि[3], लोगों को देख, मुदित जन, जो अघ पाता।
उसी पाप से संयुत होवे, आर्य-वनगमन-अनुमतिदाता॥ ५८॥
ऐसे, पति, सुत से बिछुड़ी उन कौसल्या को शपथों द्वारा।
आश्वासन दे, व्याकुल नृप-सुत ने पृथ्वी का लिया सहारा॥ ५९॥
दुष्कर शपथों से करते थे, सिद्ध स्व को[4], निर्दोष भरत जब।
बोलीं कौसल्या उन मूर्च्छित भरत शोक-रत से ऐसे तब॥ ६०॥
इन अनेक शपथों से मेरे प्राण अधिक पीड़ा हैं पाते।
इस प्रकार से शोक, दुःख हैं मेरे, सुत! बढ़ते ही जाते॥ ६१॥
है सौभाग्य, धर्म, शुभ लक्षण से न तुम्हारा मन है विचलित।
सत्यसंध सुत! सत्पुरुषों का प्राप्त करोगे लोक, सुनिश्चित॥ ६२॥
महाबाहु उन भ्रातृ-भक्त को खींच गोद में अपनी लाकर।
रोने लगीं दुखी कौसल्या बहुत हृदय से उन्हें लगाकर॥ ६३॥

---

१ पाप कमाना; २ पातक; ३ झगड़नेवाले; ४ अपने को।

एवं विलपमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः ।
मोहाच्च शोकसंरम्भाद् बभूव लुलितं मनः ॥ ६४ ॥
लालप्यमानस्य विचेतनस्य
प्रणष्टबुद्धेः पतितस्य भूमौ ।
मुहुर्मुहुर्निःश्वसतश्च दीर्घं
सा तस्य शोकेन जगाम रात्रिः ॥ ६५ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमः सर्गः

राजा दशरथ का अन्त्येष्टि-संस्कार

तमेवं शोकसंतप्तं भरतं केकयीसुतम् ।
उवाच वदतां श्रेष्ठो वसिष्ठः श्रेष्ठवागृषिः ॥ १ ॥
अलं शोकेन भद्रं ते राजपुत्र महायशः ।
प्राप्तकालं नरपतेः कुरु संयानमुत्तमम् ॥ २ ॥
वसिष्ठस्य वचः श्रुत्वा भरतो धरणीं गतः ।
प्रेतकृत्यानि सर्वाणि कारयामास धर्मवित् ॥ ३ ॥
उद्धृत्य तैलसंसेकात् स तु भूमौ निवेशितम् ।
आपीतवर्णवदनं प्रसुप्तमिव भूमिपम् ॥ ४ ॥
संवेश्य शयने चाग्र्ये नानारत्नपरिष्कृते ।
ततो दशरथं पुत्रो विललाप सुदुःखितः ॥ ५ ॥
किं ते व्यवसितं राजन् प्रोषिते मय्यनागते ।
विवास्य रामं धर्मज्ञं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ ६ ॥
क्व यास्यसि महाराज हित्वेमं दुःखितं जनम् ।
हीनं पुरुषसिंहेन रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ७ ॥
योगक्षेमं तु तेऽव्यग्रं कोऽस्मिन् कल्पयिता पुरे ।
त्वयि प्रयाते स्वस्तात रामे च वनमाश्रिते ॥ ८ ॥
विधवा पृथिवी राजंस्त्वया हीना न राजते ।
हीनचन्द्रेव रजनी नगरी प्रतिभाति माम् ॥ ९ ॥
एवं विलपमानं तं भरतं दीनमानसम् ।
अब्रवीद् वचनं भूयो वसिष्ठस्तु महामुनिः ॥ १० ॥
प्रेतकार्याणि यान्यस्य कर्तव्यानि विशाम्पतेः ।
तान्यव्यग्रं महाबाहो क्रियतामविचारितम् ॥ ११ ॥

होकर आर्त, विलाप कर रहे थे वे भरत महात्मा भी अब।
शोक, मोह के अधिक वेग से उनका मन था अति व्याकुल तब ॥ ६४ ॥
नष्ट-बुद्धि वे भरत पड़े थे भू पर होकर मूर्च्छित
वे अचेत करते विलाप थे, होकर दुखी असीमित।
बारबार खींचते थे वे, लंबी साँसें अतिशय
ऐसे बीती रात शोक में, लगी बहुत जो विस्तृत[1] ॥ ६५ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७५ ॥

छिहत्तरवाँ सर्ग

राजा दशरथ का अन्त्येष्टि-संस्कार

कैकेयी-सुत भरत हो गये, वहाँ शोक-संतप्त बहुत जब।
बोले वक्ता-वर वसिष्ठ ऋषि उत्तम वाणी में उनसे तब ॥ १ ॥
हो मंगल नृप-पुत्र! तुम्हारा, शोक व्यर्थ है, इसे हटाओ।
दाह हेतु नृप-शव ले चलने का उत्तम प्रबन्ध करवाओ ॥ २ ॥
भरत धर्मविद् ने वसिष्ठ का सुनकर वचन धरणि पर पड़कर।
उनको कर दण्डवत, दाह का तब प्रबन्ध करवाया सत्वर[2] ॥ ३ ॥
पीत वदन नृप-शव को रक्खा, तैल-पात्र से बाहर भू पर।
दर्शन में लगता था मानो शयन कर रहे, भूमिपाल-वर ॥ ४ ॥
मृत दशरथ को स्नान कराकर, सद्रत्नों से उन्हें सजाया।
दुखी भरत ने विलपन[3] करके, फिर विमान पर उन्हें सुलाया ॥ ५ ॥
मेरे आये विना, स-लक्ष्मण बली राम को भेजा वन में।
और आप नृप! गये स्वर्ग को, कैसे निश्चय करके मन में? ॥ ६ ॥
सहज स्वभाव नृसिंह सु-कर्मा राम-हीन मुझको कर, नृपवर!।
आप कहाँ जायेंगे ऐसे? अपने इस सेवक को तजकर ॥ ७ ॥
तात! आप चल दिये स्वर्ग को, लिया राम ने वन का आश्रय।
कौन आपके नगर प्रजा का योगक्षेम[4] करेगा? निर्भय ॥ ८ ॥
विना आपके, पति-हीना सी, भूप! न शोभा धरती पाती।
चन्द्रश्री-हीना रजनी सी, यह नगरी भी अशुभ दिखाती ॥ ९ ॥
दीन चित्त होकर करते थे, भरत इस तरह से विलाप जब।
महा मुनीश्वर ऋषि वसिष्ठ जी, बोले उनसे इस प्रकार तब ॥ १० ॥
तुम्हें महाबाहो! करने हैं जो कुछ प्रेत-कृत्य नृपवर के।
विना विचारे उन्हें करो तुम! अतिशय शान्ति हृदय में धर के ॥ ११ ॥

---

१ लम्बी; २ शीघ्र; ३ विलाप; ४ कल्याण का प्रबंध।

तथेति भरतो वाक्यं वसिष्ठस्याभिपूज्य तत् ।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यांस्त्वरयामास सर्वशः ॥ १२ ॥
ये त्वग्नयो नरेन्द्रस्य अग्न्यगाराद् बहिष्कृताः ।
ऋत्विग्भिर्याजकैश्चैव ते हूयन्ते यथाविधि ॥ १३ ॥
शिबिकायामथारोप्य राजानं गतचेतनम् ।
बाष्पकण्ठा विमनसस्तमूचुः परिचारकाः ॥ १४ ॥
हिरण्यं च सुवर्णं च वासांसि विविधानि च ।
प्रकिरन्तो जना मार्गे नृपतेरग्रतो ययुः ॥ १५ ॥
चन्दनागुरुनिर्यासान् सरलं पद्मकं तथा ।
देवदारूणि चाहृत्य क्षेपयन्ति तथापरे ॥ १६ ॥
गन्धानुच्चावचांश्चान्यांस्तत्र गत्वाथ भूमिपम् ।
तत्र संवेशयामासुश्चितामध्ये तमृत्विजः ॥ १७ ॥
तदा हुताशनं हुत्वा जेपुस्तस्य तदृत्विजः ।
जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः ॥ १८ ॥
शिबिकाभिश्च यानैश्च यथार्हं तस्य योषितः ।
नगरान्निर्ययुस्तत्र वृद्धैः परिवृतास्तथा ॥ १९ ॥
प्रसव्यं चापि तं चक्रुर्ऋत्विजोऽग्निचितं नृपम् ।
स्त्रियश्च शोकसंतप्ताः कौसल्याप्रमुखास्तदा ॥ २० ॥
क्रौञ्चीनामिव नारीणां निनादस्तत्र शुश्रुवे ।
आर्तानां करुणं काले क्रोशन्तीनां सहस्रशः ॥ २१ ॥
ततो रुदन्त्यो विवशा विलप्य च पुनः पुनः ।
यानेभ्यः सरयूतीरमवतेरुर्नृपाङ्गनाः ॥ २२ ॥

कृत्वोदकं ते भरतेन सार्धं
नृपाङ्गना मन्त्रिपुरोहिताश्च ।
पुरं प्रविश्याश्रुपरीतनेत्रा
भूमौ दशाहं व्यनयन्त दुःखम् ॥ २३ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

'अच्छा' कहा भरत ने, एवं किया वसिष्ठाज्ञा को आदृत[1]।
फिर आचार्य, पुरोहित, ऋत्विक् से भी कहा शीघ्रता के हित ॥ १२ ॥
नृप के अग्नि-गेह से जो वे सभी अग्नियाँ गईं निकाली।
उनमें ऋत्विज और याजकों ने आहुतियाँ विधि से डालीं ॥ १३ ॥
प्राण-हीन नृप को शिविका[2] में बिठा, ले चले फिर परिचारक।
अश्रु-रुद्ध थे कण्ठ सभी के, उनको दुख था हृदय-विदारक ॥ १४ ॥
पथ में राज-पुरुष, नृप-शव के तब थे आगे-आगे जाते।
और सुवर्ण, रजत एवं थे भाँति-भाँति के वस्त्र लुटाते ॥ १५ ॥
चन्दन, अगुरु, सरल, पद्मक-संग गुग्गुलु देवदारु की समिधा[3]।
ला-ला करके लगे छोड़ने, शव पर तभी वस्तुएँ विविधा ॥ १६ ॥
वे श्मशान-स्थल में पहुँचे जब, निर्मित होने लगी चिता तब।
उसमें रक्खा सभी ऋत्विजों ने शव, डालीं गन्ध-वस्तु सब ॥ १७ ॥
अग्न्याहुति दे, किया ऋत्विजों ने वैदिक मन्त्रों का जप फिर।
साम-गायकों ने शास्त्रोचित साम-मन्त्र गाये, हो सुस्थिर ॥ १८ ॥
फिर भूपति-रानियाँ नगर से बाहर निकलीं, डोली, रथ पर।
तथा श्मशान-भूमि में आईं, वृद्ध रक्षकों से तब घिरकर ॥
मख-कर्ता नृप-शव-परिक्रमा, करने लगीं रानियाँ वे तब।
और लगे करने परिक्रमा, भूपति-शव की ऋत्विज भी सब ॥१९-२०॥
करती थीं शोकार्त सहस्रों वहाँ रानियाँ करुणा-क्रन्दन।
मानो हैं कर रहीं कुररियाँ[4] चीत्कार होकर दुःखित मन ॥ २१ ॥
विवश नृपति-रानियाँ दाह के बाद बहुत रोईं कर विलपन।
फिर यानों[5] से जाकर उतरीं सरयू तट पर, बहुत दुखित मन ॥ २२ ॥

भरत-साथ, रानियों, मन्त्रियों, पुरोहितों ने मिलकर
नृप के लिए जलाञ्जलि दी फिर, अश्रु नयन में भरकर।
और नगर में आकर वे सब, भू पर सोये दस दिन
था वह समय बिताने में फिर, बहुत-बहुत ही दुखकर ॥ २३ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७६ ॥

---

१ आदर किया; २ पालकी; ३ लकड़ियाँ; ४ क्रौंच मादा पक्षियाँ;
५ सवारियों।

सप्तसप्ततितमः सर्गः

भरत का पिता के श्राद्ध में ब्राह्मणों को बहुत धन-रत्न आदि का दान देना, तेरहवें दिन अस्थि-संचय का शेष कार्य पूर्ण करने के लिए पिता की चिताभूमि पर जाकर भरत और शत्रुघ्न का विलाप करना और वसिष्ठ तथा सुमन्त्र का उन्हें समझाना

ततो दशाहेऽतिगते कृतशौचो नृपात्मजः ।
द्वादशेऽहनि सम्प्राप्ते श्राद्धकर्माण्यकारयत् ॥ १ ॥
ब्राह्मणेभ्यो धनं रत्नं ददावन्नं च पुष्कलम् ।
वासांसि च महार्हाणि रत्नानि विविधानि च ।
बास्तिकं बहु शुक्लं च गाश्चापि बहुशस्तदा ॥ २ ॥
दासीर्दासांश्च यानानि वेश्मानि सुमहान्ति च ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुत्रो राज्ञस्तस्यौर्ध्वदैहिकम् ॥ ३ ॥
ततः प्रभातसमये दिवसे च त्रयोदशे ।
विललाप महाबाहुर्भरतः शोकमूर्च्छितः ॥ ४ ॥
शब्दापिहितकण्ठश्च शोधनार्थमुपागतः ।
चितामूले पितुर्वाक्यमिदमाह सुदुःखितः ॥ ५ ॥
तात यस्मिन् निसृष्टोऽहं त्वया भ्रातरि राघवे ।
तस्मिन् वनं प्रव्रजिते शून्ये त्यक्तोऽस्म्यहं त्वया ॥ ६ ॥
यस्या गतिरनाथायाः पुत्रः प्रव्राजितो वनम् ।
तामम्बां तात कौसल्यां त्यक्त्वा त्वं क्व गतो नृप ॥ ७ ॥
दृष्ट्वा भस्मारुणं तच्च दग्धास्थि स्थानमण्डलम् ।
पितुः शरीरनिर्वाणं निष्टनन् विषसाद ह ॥ ८ ॥
स तु दृष्ट्वा रुदन् दीनः पपात धरणीतले ।
उत्थाप्यमानः शक्रस्य यन्त्रध्वज इवोच्छ्रितः ॥ ९ ॥
अभिपेतुस्ततः सर्वे तस्यामात्याः शुचिव्रतम् ।
अन्तकाले निपतितं ययातिमृषयो यथा ॥ १० ॥
शत्रुघ्नश्चापि भरतं दृष्ट्वा शोकपरिप्लुतम् ।
विसंज्ञो न्यपतद् भूमौ भूमिपालमनुस्मरन् ॥ ११ ॥
उन्मत्त इव निश्चित्तो विललाप सुदुःखितः ।
स्मृत्वा पितुर्गुणाङ्गानि तानि तानि तदा तदा ॥ १२ ॥

सतहत्तरवाँ सर्ग

भरत का पिता के श्राद्ध में ब्राह्मणों को बहुत धन-रत्न आदि का दान देना, तेरहवें दिन अस्थि-संचय का शेष कार्य पूर्ण करने के लिए पिता की चिताभूमि पर जाकर भरत और शत्रुघ्न का विलाप करना और वसिष्ठ तथा सुमन्त्र का उन्हें समझाना

अब दशाह[1] के बाद, नृपति सुत ने ग्यारहवाँ शुचिस्नान[2] कर।
उसके, फिर बारहवें दिन के किये श्राद्ध-सत्कृत्य ध्यान धर॥ १ ॥
उसमें दिये ब्राह्मणों को उन नृप-सुत ने प्रचुरान्न और धन।
तथा और सद्-रत्न बहुत से एवं फिर बहुमूल्य बहु वसन॥
अन्य रत्न भी दिये बहुत से, चाँदी उत्तम बकरे अद्भुत।
(गौएँ भी दीं बहुत दान में, उन विप्रों को, जो थे विश्रुत)॥ २ ॥
नृप-परलोक-हितेच्छा से ही, नृप-सुत ने होकर उदार मन।
विप्रों को दीं दास, दासियाँ, दिव्य यान, सुविशाल बहु भवन॥ ३ ॥
तेरहवें दिन के प्रभात में, महाबाहु थे भरत दुखित मन।
परम शोक से व्याकुल होकर, करने लगे बहुत ही विलपन॥ ४ ॥
रोने से अवरुद्ध-कण्ठ[3] वे, आये पिता-चिता-शोधन हित।
कहा अस्थि-सञ्चय-अवसर पर, नृप-सुत ने, हो बहुत ही दुखित॥ ५ ॥
तात! दिया जिन ज्येष्ठ भ्रातृ के कर में, मुझे मरण से पहले।
वे तो मुझे शून्य में तजकर, निर्जन वन को गये हैं चले॥ ६ ॥
और नरेश्वर! जिनके आश्रय सुत को भेज दिया, वन में तब।
उन अनाथ कौसल्या माँ को छोड़, कहाँ को गये तात! अब?॥ ७ ॥
पितादेह-निर्वाण भूमि थी चिता-स्थान-मण्डल भस्मारुण[4]।
दग्ध अस्थि-युत उसे देखकर विलपे भरत, हुआ दुख दारुण॥ ८ ॥
उस अवसर पर दीन भरत वे, रोकर गिरे धरणि पर वैसे।
इन्द्र-यन्त्र-ध्वज उत्तोलन[5] के समय खिसक कर गिरता जैसे॥ ९ ॥
तब पवित्र-मन भरत-पास में सकल सचिवदल आया वैसे।
क्षीणपुण्य, नभ-पतित ययातित्राण हेतु ऋषि अष्टक जैसे[6]॥ १० ॥
दुखी भरत को देख, नृपति का करके बारंबार तब स्मरण।
हो अचेत, गिर पड़े धरणि पर, उसी भाँति शत्रुघ्न उसी क्षण॥ ११ ॥
लालनादि निज पिता-गुणों को करते स्मरण और दुःखित मन।
सुध-बुध खो, उन्मत्त सदृश वे करने लगे बहुत हो विलपन॥ १२ ॥

---

१ दसवाँ; २ शुद्ध होने के लिए स्नान; ३ गला भरा हुआ; ४ भस्म से भरा लाली लिये हुए; ५ ऊपर उठाने पर; ६ पुण्य समाप्त होने पर आकाश से गिरे महाराज ययाति के पास जैसे अष्टकादि ऋषि आये थे।

मन्थराप्रभवस्तीव्रः कैकेयीग्राहसंकुलः ।
वरदानमयोऽक्षोभ्योऽमज्जयच्छोकसागरः ॥ १३ ॥
सुकुमारं च बालं च सततं लालितं त्वया ।
क्व तात भरतं हित्वा विलपन्तं गतो भवान् ॥ १४ ॥
ननु भोज्येषु पानेषु वस्त्रेष्वाभरणेषु च ।
प्रवारयति सर्वान् नस्तन्नः कोऽद्य करिष्यति ॥ १५ ॥
अवदारणकाले तु पृथिवी नावदीर्यते ।
विहीना या त्वया राज्ञा धर्मज्ञेन महात्मना ॥ १६ ॥
पितरि स्वर्गमापन्ने रामे चारण्यमाश्रिते ।
किं मे जीवितसामर्थ्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥ १७ ॥
हीनो भ्रात्रा च पित्रा च शून्यामिक्ष्वाकुपालिताम् ।
अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि प्रवेक्ष्यामि तपोवनम् ॥ १८ ॥
तयोर्विलपितं श्रुत्वा व्यसनं चाप्यवेक्ष्य तत् ।
भृशमार्ततरा भूयः सर्व एवानुगामिनः ॥ १९ ॥
ततो विषण्णौ श्रान्तौ च शत्रुघ्नभरतावुभौ ।
धरायां स्म व्यचेष्टेतां भग्नशृङ्गाविवर्षभौ ॥ २० ॥
ततः प्रकृतिमान् वैद्यः पितुरेषां पुरोहितः ।
वसिष्ठो भरतं वाक्यमुत्थाप्य तमुवाच ह ॥ २१ ॥
त्रयोदशोऽयं दिवसः पितुर्वृत्तस्य ते विभो ।
सावशेषास्थिनिचये किमिह त्वं विलम्बसे ॥ २२ ॥
त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः ।
तेषु चापरिहार्येषु नैवं भवितुमर्हसि ॥ २३ ॥
सुमन्त्रश्चापि शत्रुघ्नमुत्थाप्याभिप्रसाद्य च ।
श्रावयामास तत्त्वज्ञः सर्वभूतभवाभवौ ॥ २४ ॥
उत्थितौ तौ नरव्याघ्रौ प्रकाशेते यशस्विनौ ।
वर्षातपपरिग्लानौ पृथगिन्द्रध्वजाविव ॥ २५ ॥
अश्रूणि परिमृद्नन्तौ रक्ताक्षौ दीनभाषिणौ ।
अमात्यास्त्वरयन्ति स्म तनयौ चापराः क्रियाः ॥ २६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

प्रकट मन्थरा से, कैकेयी-ग्राह-युक्त, वर-अमिट पयोनिधि।
उग्र शोक-लहरों से हम सबको ही डुबा रहा है इस विधि॥ १३॥
तात! भरत सुकुमार बाल, जो हुए आपसे हैं प्रतिपालित।
उनको रोते छोड़, हो गये आप! कहाँ को अब अन्तर्हित[1]?॥ १४॥
भोजन, पान, वसन, बहुसंख्यक भूषण में रोचक चुनने को।
जो कहते थे हमें आप! अब कौन रहेगा वह कहने को?॥ १५॥
आप सदृश धर्मज्ञ महात्मा नृप-विन, था पृथ्वी को फटना!।
किन्तु न इस अवसर पर भी वह फटी, यही है विस्मय-घटना!॥ १६॥
पिता स्वर्ग को गये, राम वन, मुझमें जीवनशक्ति है कहाँ?।
अतः अग्नि में प्रविशित होऊँगा, निश्चय ही आज मैं यहाँ॥ १७॥
होकर पिता, बड़े भाई से रहित, शून्य इक्ष्वाकु-प्रपालित।
नहीं अयोध्या में जाऊँगा, अब है मुझे न जीवन स्वीकृत॥ १८॥
उन दोनों का विलपन सुनकर और देखकर सकट भारी।
पुनः हुए अत्यन्त शोक से व्याकुल, सब अनुचर, नर, नारी॥ १९॥
थकित, विषादित, खण्डित-शृंगी[2], दो बैलों-सम उस अवसर पर।
भू पर लोट रहे थे, दोनों बन्धु भरत, शत्रुघ्न वीरवर॥ २०॥
इनके तथा पिता के इनके, वैद्य, पुरोहित दैवी गुण-युत।
श्री वसिष्ठ ने कहा भरत से, उन्हें उठा करके अतिशय द्रुत॥ २१॥
विभो! तुम्हारे पिता-दाह का दिन तेरहवाँ है यह निश्चय।
अतः अस्थि-सञ्चयन-कृत्य में क्यों विलम्ब करते हो अतिशय॥ २२॥
सभी प्राणियों में द्वन्द्वत्रय[3] का प्रभाव रहता विशेषतः।
इसको सम्भव नहीं रोकना, शोकित होना व्यर्थ है अतः॥ २३॥
किया शान्त, शत्रुघ्न-चित्त को, उन्हें उठा करके सुमन्त्र ने।
जन्म, मरण सबको अकाट्य है, वे तत्त्वज्ञ लगे यह कहने॥ २४॥
नृवर यशस्वी दोनों भाई, वर्षा और धूप से म्लानित।
पृथक्-पृथक् दो इन्द्र-ध्वजों-सम, होते थे उस समय प्रकाशित॥ २५॥
बोल रहे थे दीन वचन वे, अश्रु पोंछ, आँखें थी अरुणिम[4]।
और सचिव प्रेरित करते थे उन्हें. कृत्य करने को अग्रिम[5]॥ २६॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त॥ ७७॥

---

१ अदृश्य; २ टूटे हुए सींगोंवाले; ३ भूख-प्यास, शोक-मोह, बुढ़ापा-मृत्यु —ये तीन द्वन्द्व हैं जिनसे कोई बचा नहीं; ४ लाल; ५ प्रथम क्रमिक कार्य।

अष्टसप्ततितमः सर्गः

शत्रुघ्न का रोष, उनका कुब्जा को घसीटना और भरत जी के कहने से उसे मूर्च्छित अवस्था में छोड़ देना

अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः ।
भरतं शोकसंतप्तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः ।
स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम् ॥ २ ॥
बलवान् वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ ।
किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम् ॥ ३ ॥
पूर्वमेव तु निग्राह्यः समवेक्ष्य नयानयौ ।
उत्पथं यः समारूढो नार्या राजा वशं गतः ॥ ४ ॥
इति सम्भाषमाणे तु शत्रुघ्ने लक्ष्मणानुजे ।
प्राग्द्वारेऽभूत् तदा कुब्जा सर्वाभरणभूषिता ॥ ५ ॥
लिप्ता चन्दनसारेण राजवस्त्राणि बिभ्रती ।
विविधं विविधैस्तैस्तैर्भूषणैश्च विभूषिता ॥ ६ ॥
मेखलादामभिश्चित्रैरन्यैश्च वरभूषणैः ।
बभासे बहुभिर्बद्धा रज्जुभिरिव वानरी ॥ ७ ॥
तां समीक्ष्य तदा द्वाःस्थो भृशं पापस्य कारिणीम् ।
गृहीत्वाकरुणं कुब्जां शत्रुघ्नाय न्यवेदयत् ॥ ८ ॥
यस्याः कृते वने रामो न्यस्तदेहश्च वः पिता ।
सेयं पापा नृशंसा च तस्याः कुरु यथामति ॥ ९ ॥
शत्रुघ्नश्च तदाज्ञाय वचनं भृशदुःखितः ।
अन्तःपुरचरान् सर्वानित्युवाच धृतव्रतः ॥ १० ॥
तीव्रमुत्पादितं दुःखं भ्रातॄणां मे तथा पितुः ।
यथा सेयं नृशंसस्य कर्मणः फलमश्नुताम् ॥ ११ ॥
एवमुक्त्वा च तेनाशु सखीजनसमावृता ।
गृहीता बलवत् कुब्जा सा तद् गृहमनादयत् ॥ १२ ॥
ततः सुभृशसंतप्तस्तस्याः सर्वः सखीजनः ।
क्रुद्धमाज्ञाय शत्रुघ्नं व्यपलायत सर्वशः ॥ १३ ॥
अमन्त्रयत कृत्स्नश्च तस्याः सर्वः सखीजनः ।
यथायं समुपक्रान्तो निःशेषं नः करिष्यति ॥ १४ ॥
सानुक्रोशां वदान्यां च धर्मज्ञां च यशस्विनीम् ।
कौसल्यां शरणं यामः सा हि नोऽस्ति ध्रुवा गतिः ॥ १५ ॥

अठहत्तरवाँ सर्ग

शत्रुघ्न का रोष, उनका कुब्जा को घसीटना और भरत जी के कहने से उसे मूर्च्छित अवस्था में छोड़ देना

राम-समीप-गमन को उद्यत हुए शोक-संतप्त भरत जब।
श्री शत्रुघ्न लक्ष्मणानुज ने, उनसे कहा इस तरह से तब ॥ १ ॥
अपनों ने क्या? प्राणिमात्र ने, जिनसे दुख में आश्रय पाया।
उनको मात्र एक नारी ने, अपने द्वारा विपिन पठाया ॥ २ ॥
लक्ष्मण जैसे बली, विक्रमी ने, दे तभी पिता को कारा[1]।
क्यों न दिलाया भला राम को ऐसे सकट से छुटकारा ॥ ३ ॥
जब कि एक नारी के वश हो, चले कुपथ पर ऐसे नृपवर।
तब न उन्हें क्यों कैद दी गयी? न्याय और अन्याय समझकर ॥ ४ ॥
जब कि लक्ष्मणानुज कहते थे, परम रोष-युत हो, वार्ता यह।
पूर्व द्वार पर खड़ी हो गयी, भूषण-भूषित तब कुब्जा वह ॥ ५ ॥
चन्दन-लिप्तांगी, पहने थी राजरानियों-सदृश तब वसन।
आयी थी वह भाँति-भाँति के विभूषणों से अतिशय बन-ठन ॥ ६ ॥
बहु लड़ियों की चित्रमेखला[2], सुन्दर भूषण से वह ऐसे।
लगती थी हो वहुत रस्सियों में तब बँधी बानरी जैसे ॥ ७ ॥
द्वारपाल ने, राम-वनगमन-पापकारिणी को देखा जब।
निर्दय हो, वह खींच उसे, शत्रुघ्न-हाथ में दे, बोला तब ॥ ८ ॥
राम गये वन और आपके पिता हुए प्राणों से विच्युत।
जिससे, वह है क्रूर पापिनी यही, करें! चाहें जो, नृप-सुत! ॥ ९ ॥
बढ़ा और शत्रुघ्न-दुःख तब, द्वारपाल का आशय सुनकर।
अन्तःपुर-लोगों से बोले फिर वे निज कर्तव्य समझकर ॥ १० ॥
मेरे पिता, भाइयों को है, दिया दुःख दुःसह है जैसे।
इसने, क्रूर कर्म का अपने यह भी फल भोगे, अब वैसे ॥ ११ ॥
यह कह, बल-पूर्वक तब उसको पकड़ा, जो थी सखी-समावृत[3]।
वह भीता हो, लगी चीखने, जिससे भवन हो गया गुञ्जित ॥ १२ ॥
कुपित हुए शत्रुघ्न, जानकर सखियाँ अति संतप्त हुईं तब।
अपने-अपने प्राण बचाकर, इधर-उधर को भागीं वे सब ॥ १३ ॥
सखियों ने मिलकर सलाह की, बलपूर्वक यह कुब्जा कर्षित।
जैसे हुई, लग रहा वैसे, रह न सकेंगी हम सब जीवित ॥ १४ ॥
अतः चलें, धर्मज्ञ उदारा कौसल्या की शरण हम सभी।
उन दयालु रानी यशस्विनी-सिवा, न ध्रुवगति और है कभी ॥ १५ ॥

---

१ कारागृह का दण्ड; २ करधनी; ३ सखियों से घिरी।

स च रोषेण संवीतः शत्रुघ्नः शत्रुशासनः ।
विचकर्ष तदा कुब्जां क्रोशन्तीं पृथिवीतले ॥ १६ ॥
तस्यां ह्याकृष्यमाणायां मन्थरायां ततस्ततः ।
चित्रं बहुविधं भाण्डं पृथिव्यां तद्व्यशीर्यत ॥ १७ ॥
तेन भाण्डेन विस्तीर्णं श्रीमद् राजनिवेशनम् ।
अशोभत तदा भूयः शारदं गगनं यथा ॥ १८ ॥
स बली बलवत् क्रोधाद् गृहीत्वा पुरुषर्षभः ।
कैकेयीमभिनिर्भर्त्स्य बभाषे परुषं वचः ॥ १९ ॥
तैर्वाक्यैः परुषैर्दुःखैः कैकेयी भृशदुःखिता ।
शत्रुघ्नभयसंत्रस्ता पुत्रं शरणमागता ॥ २० ॥
तं प्रेक्ष्य भरतः क्रुद्धं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ।
अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति ॥ २१ ॥
हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम् ।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम् ॥ २२ ॥
इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः ।
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम् ॥ २३ ॥
भरतस्य वचः श्रुत्वा शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः ।
न्यवर्तत ततो रोषात् तां मुमोच च मूर्च्छिताम् ॥ २४ ॥
सा पादमूले कैकेय्या मन्थरा निपपात ह ।
निःश्वसन्ती सुदुःखार्ता कृपणं विललाप ह ॥ २५ ॥
शत्रुघ्नविक्षेपविमूढसंज्ञां
समीक्ष्य कुब्जां भरतस्य माता ।
शनैः समाश्वासयदार्तरूपां
क्रौञ्चीं विलग्नामिव वीक्षमाणाम् ॥ २६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमः सर्गः

मन्त्री आदि का भरत से राज्य ग्रहण करने के लिए प्रस्ताव तथा भरत का अभिषेक-सामग्री की परिक्रमा करके श्रीराम को ही राज्य का अधिकारी बताकर उन्हें लौटा लाने के लिए चलने के निमित्त व्यवस्था करने की सबको आज्ञा देना

ततः प्रभातसमये दिवसेऽथ चतुर्दशे ।
समेत्य राजकर्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन् ॥ १ ॥

थे घसीटते क्रुद्ध परंतप वे शत्रुघ्न उसे भू पर जब।
जोर-जोर चीत्कार कर रही थी, वह कुब्जा बहुत अधिक तब ॥ १६ ॥
तथा घसीटी जाती थी वह, दुष्ट मन्थरा पृथ्वी पर जब।
टूट-टूट बिखरे जाते थे, उसके बहु भूषण विचित्र तब ॥ १७ ॥
विस्तृत राज-भवन, उन भूषण-खण्डों से शोभित था ऐसे।
तारक-माला से शारद-नभ[1] परम अलंकृत होता जैसे ॥ १८ ॥
बली नृवर शत्रुघ्न रोष में, उसे खींचते थे जब बल से।
तभी रक्षिका[2] कैकेयी को फटकारा अति परुष वचन से ॥ १९ ॥
थे शत्रुघ्न-कठोर वचन वे, कैकेयी-हित अति दुखदायी।
वह उनके भय से थर्राकर, निज सुत-शरण शीघ्र ही आयी ॥ २० ॥
क्रुद्ध देख, शत्रुघ्न बन्धु को, कहा भरत ने उनसे यह तब।
क्षमा करो! नारियाँ अवध्या[3], सभी प्राणियों से होतीं सब ॥ २१ ॥
करें राम धार्मिक मुझसे वे घृणा न, माँ का वधिक मुझे कह।
अतः न इस दुष्टा पापिनि को मारा मैंने, यह सब कुछ सह ॥ २२ ॥
कुब्जा-वध का समाचार, यदि धार्मिक राम कहीं सुन लेंगे।
तो निश्चय तुमसे-मुझसे वे, बन्धु! बोलना ही तज देंगे ॥ २३ ॥
भरत वचन सुन, वे लक्ष्मण के अनुज हुए तब मुक्त दोष से।
और मूर्च्छितावस्था में ही छोड़ा उसको परम कोप से ॥ २४ ॥
गिरी मन्थरा कैकेयी के चरणों में होकर शोकित मन।
लंबी साँसें ले दुःखार्ता करने लगी करुणतम विलपन ॥ २५ ॥

हुई शत्रुहन के प्रहार से कुब्जा आर्त अचेतन
धीरे से भरताम्बा[4] ने यह देख, दिया आश्वासन।
पञ्जर-बद्धा[5] क्रौञ्ची-सी तब, हो वह कातर-नयना
देख रही थी उस अवसर पर, कैकेयी का आनन[6] ॥ २६ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७८ ॥

उन्नासीवाँ सर्ग

मन्त्री आदि का भरत से राज्य ग्रहण करने के लिए प्रस्ताव तथा भरत का अभिषेक-सामग्री की परिक्रमा करके श्रीराम को ही राज्य का अधिकारी बताकर उन्हें लौटा लाने के लिए चलने के निमित्त व्यवस्था करने की सबको आज्ञा देना

राजकर्मचारी चौदहवें दिन प्रभात में तब फिर मिलकर।
बोले ऐसे वचन भरत से, अति विनम्र हो करके मधुतर ॥ १ ॥

---

१ शरद्-रात्रि का आकाश। २ मंथरा को बचाने आई; ३ वध न करने योग्य; ४ भरत की माता कैकेयी; ५ पिंजड़े में बन्द; ६ मुख।

गतो दशरथः स्वर्गं यो नो गुरुतरो गुरुः।
रामं प्रव्राज्य वै ज्येष्ठं लक्ष्मणं च महाबलम्॥ २॥
त्वमद्य भव नो राजा राजपुत्र महायशः।
संगत्या नापराध्नोति राज्यमेतदनायकम्॥ ३॥
आभिषेचनिकं सर्वमिदमादाय राघव।
प्रतीक्षते त्वां स्वजनः श्रेणयश्च नृपात्मज॥ ४॥
राज्यं गृहाण भरत पितृपैतामहं ध्रुवम्।
अभिषेचय चात्मानं पाहि चास्मान् नरर्षभ॥ ५॥
आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा सर्वं प्रदक्षिणम्।
भरतस्तं जनं सर्वं प्रत्युवाच धृतव्रतः॥ ६॥
ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिता हि कुलस्य नः।
नैवं भवन्तो मां वक्तुमर्हन्ति कुशला जनाः॥ ७॥
रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नव पञ्च च॥ ८॥
युज्यतां महती सेना चतुरङ्गमहाबला।
आनयिष्याम्यहं ज्येष्ठं भ्रातरं राघवं वनात्॥ ९॥
आभिषेचनिकं चैव सर्वमेतदुपस्कृतम्।
पुरस्कृत्य गमिष्यामि रामहेतोर्वनं प्रति॥ १०॥
तत्रैव तं नरव्याघ्रमभिषिच्य पुरस्कृतम्।
आनयिष्यामि वै रामं हव्यवाहमिवाध्वरात्॥ ११॥
न सकामां करिष्यामि स्वामिमां मातृगन्धिनीम्।
वने वत्स्याम्यहं दुर्गे रामो राजा भविष्यति॥ १२॥
क्रियतां शिल्पिभिः पन्थाः समानि विषमाणि च।
रक्षिणश्चानुसंयान्तु पथि दुर्गविचारकाः॥ १३॥
एवं सम्भाषमाणं तं रामहेतोर्नृपात्मजम्।
प्रत्युवाच जनः सर्वः श्रीमद् वाक्यमनुत्तमम्॥ १४॥
एवं ते भाषमाणस्य पद्मा श्रीरुपतिष्ठताम्।
यस्त्वं ज्येष्ठे नृपसुते पृथिवीं दातुमिच्छसि॥ १५॥

अनुत्तमं तद्वचनं नृपात्मजः
प्रभाषितं संश्रवणे निशम्य च।
प्रहर्षजास्तं प्रति बाष्पबिन्दवो
निपेतुरार्याननेत्रसम्भवाः॥ १६॥

राम सुज्येष्ठ पुत्र को, लक्ष्मण महाबली सँग विपिन पठाकर।
वे गुरुओं के गुरु दशरथ तो, गये स्वर्ग को शुभ गति पाकर॥ २॥
राजा बनो! महायश! नृप-सुत! हुआ अनायक[1] है यह शासन।
तुम्हें प्राप्त है यह दशरथ से, निरपराध है इसका पालन॥ ३॥
नृप-सुत राघव[2]! राह देखते, अभिषिञ्चन की कर तैयारी।
सेठ, स्वजन, मन्त्री, पुर-वासी, सामग्रियाँ लिये अब सारी॥ ४॥
पिता, पितामह-राज्य-ग्रहण कर, करें भरत! स्वीकृत अभिषिञ्चन।
नृप हो, नृवर! करें हम सबकी रक्षा तथा सर्वथा पालन॥ ५॥
प्रदक्षिणा, अभिषिञ्चन कलशादिक की करके भरत दृढ़व्रत।
उत्तर में उन सबसे बोले, जो थे लोग वहाँ पर आगत॥ ६॥
सुधी सज्जनो! नहीं चाहिए, मुझको ऐसी बात बतानी।
राजा होता ज्येष्ठ पुत्र ही, इस कुल की है प्रथा पुरानी॥ ७॥
अग्रज भ्राता राम, हम सभी के हैं, होंगे वे ही नृपवर।
उनके बदले, वास करूँगा, वर्ष चतुर्दश मैं, वन रहकर॥ ८॥
सेना चतुरंगिणी सबल को, शीघ्र करें तैयार आप सब।
और राम अग्रज को वन से, मैं लौटाकर लाऊँगा अब॥ ९॥
अभिषिञ्चन के हेतु की गयीं, सामग्रियाँ सभी जो संचित।
उनको आगे कर होऊँगा राम-मिलन को मैं वन-प्रस्थित[3]॥ १०॥
नृवर राम-अभिषेक उन्हीं से, वहाँ सुनिश्चित करवाऊँगा।
उनको आगे कर, मखाग्नि-सम[4] पुर में फिर से मैं लाऊँगा॥ ११॥
नहीं करूँगा नाम मात्र की निज माँ को मैं सफल-मनोरथ[5]।
नृपति राम होंगे; रहने को, मैं जाऊँगा दुर्गम वन-पथ॥ १२॥
पथ की ऊँची-नीची भू को, ठीक करें, शिल्पी चलकर अब।
दुर्गम पथ के विज्ञ, साथ में चलें, शीघ्र ही रक्षकवर सब॥ १३॥
नृप-सुत भरत कह रहे थे, उन रामचन्द्र-प्रति ये बातें जब।
समागतों ने सुन्दर उत्तम, बात यह कही, फिर उनसे तब॥ १४॥
उत्तम-भाषी भरत! आपके पास रहे पद्मा श्री सुस्थित।
क्योंकि आप! नृप-ज्येष्ठ पुत्र को तुले हुए हैं राज्य-दान-हित॥ १५॥

उत्तम आशीर्वचन सभी का, सुन करके यह प्यारा
नृप-सुत भरत-हृदय में तब तो हर्ष हुआ अति न्यारा।
तब उन सबकी ओर भरत ने देखा एवं उनके
शोभित मुख-नयनों से निकली, हर्ष-अश्रु की धारा॥ १६॥

---

१ विना राजा के; २ भरत; ३ वन-यात्रा करूँगा; ४ यज्ञ की अग्नि के समान; ५ मनोकामना-पूर्ण।

ऊचुस्ते वचनमिदं निशम्य हृष्टाः
सामात्याः सपरिषदो वियातशोकाः ।
पन्थानं नरवरभक्तिमान् जनश्च
व्यादिष्टस्तव वचनाच्च शिल्पिवर्गः ॥ १७ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनाशीतितमः सर्गः ॥ ७९ ॥

अशीतितमः सर्गः

अयोध्या से गङ्गातट तक सुरम्य शिबिर और कूप आदि से युक्त सुखद राजमार्ग का निर्माण

अथ भूमिप्रदेशज्ञाः सूत्रकर्मविशारदाः ।
स्वकर्माभिरताः शूराः खनका यन्त्रकास्तथा ॥ १ ॥
कर्मान्तिकाः स्थपतयः पुरुषा यन्त्रकोविदाः ।
तथा वर्धकयश्चैव मार्गिणो वृक्षतक्षकाः ॥ २ ॥
सूपकाराः सुधाकारा वंशचर्मकृतस्तथा ।
समर्था ये च द्रष्टारः पुरतश्च प्रतस्थिरे ॥ ३ ॥
स तु हर्षात् तमुद्देशं जनौघो विपुलः प्रयान् ।
अशोभत महावेगः सागरस्येव पर्वणि ॥ ४ ॥
ते स्ववारं समास्थाय वर्त्मकर्मणि कोविदाः ।
करणैर्विविधोपेतैः पुरस्तात् सम्प्रतस्थिरे ॥ ५ ॥
लता वल्लीश्च गुल्मांश्च स्थाणूनश्मन एव च ।
जनास्ते चक्रिरे मार्गं छिन्दन्तो विविधान् द्रुमान् ॥ ६ ॥
अवृक्षेषु च देशेषु केचिद् वृक्षानरोपयन् ।
केचित् कुठारैष्टङ्कैश्च दात्रैश्छिन्दन् क्वचित् क्वचित् ॥ ७ ॥
अपरे वीरणस्तम्बान् बलिनो बलवत्तराः ।
विधमन्ति स्म दुर्गाणि स्थलानि च ततस्ततः ॥ ८ ॥
अपरेऽपूरयन् कूपान् पांसुभिः श्वभ्रमायतम् ।
निम्नभागस्तथैवाशु समांश्चक्रुः समन्ततः ॥ ९ ॥
बबन्धुर्बन्धनीयांश्च क्षोद्यान् संचुक्षुदुस्तथा ।
बिभिदुर्भेदनीयांश्च तांस्तान् देशान् नरास्तदा ॥ १० ॥

हर्षित हुए, सचिव, संसद-जन, भरत-वचन यह सुनकर
शोक-हीन होकर वे बोले बचन भरत से, नरवर!।
भवदीयाज्ञा से रक्षकगण, राज-भक्त शिल्पी भी
भेजे गये, करेंगे पथ को ठीक, सभी वे मिलकर।। १७।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में उन्नासीवां सर्ग समाप्त ।। ७९ ।।

अस्सीवाँ सर्ग

अयोध्या से गंगा-तट तक सुरम्य शिबिर और कूप आदि से युक्त सुखद राज-मार्ग का निर्माण

निर्जल, सजल, विषम[1], सम[2] भू-विद, राजगीर[3], सूत्रक[4] बहुज्ञाता।
शूर स्व-कार्यासक्त, खोदनेवाले बहुशः यन्त्र-विधाता।। १ ।।
सुरँग, सरित्-पथकर्ता शिल्पी[5], जल-प्रवाह-रोधक[6] तरु-कर्तक[7]।
तथा वैतनिक थवई, बढ़ई, रथ एवं बहु यन्त्र-प्रवर्तक।। २ ।।
तथा पुताई करनेवाले, बाँस, चर्म-उपकरण-वस्तुकर।
रसोइये, पथ-द्रष्टा भी सब चले, सभी रक्षक समर्थ वर।। ३ ।।
जन-समुदाय विपुल हर्षित हो, वन-प्रदेश को हुआ अग्रसर।
वह शोभित था, सिन्धु-वेग की भाँति पूर्णिमा के अवसर पर।। ४ ।।
पथ-निर्माण-निपुण कारीगर, अपने दल के साथ उस समय।
अपने बहुविध औजारों को लेकर चले, मार्ग में अतिशय।। ५ ।।
लता, बेल, झाड़ी, ठूंठे तरु तथा पत्थरों को अलगाकर।
बहु वृक्षों को काट, हुए वे, सुन्दर पथ-निर्मिति में तत्पर।। ६ ।।
तरु-बिहीन भूतल में सबने, उत्तम सुखप्रद वृक्ष लगाये।
टंक, कुल्हाड़ी, हँसियों द्वारा, रोधक पत्थर-पेड़ हटाये।। ७ ।।
गहरी जड़ के कास, झाड़ियों तथा कुशों को हाथों द्वारा।
बली जनों ने दूर हटाया, हुआ सुगम, पथ दुर्गम सारा।। ८ ।।
और धूल से गड्ढों, कूपों को पाटा, नीची भू को तब।
समतल करने लगे शीघ्र ही, मिट्टी भर करके उनमें सब।। ९ ।।
जल को देख, कहीं पुल बाँधे, कहीं बाँध काटे, प्रवाह-हित।
और कहीं कँकरीली भू को, पीट-पाटकर, किया चिक्कणित[8]।। १० ।।

---

१ ऊँची-नीची; २ समतल; ३ कारीगर; ४ सूत बनानेवाले; ५ नदी पार करने का साधन बनानेवाले; ६ बाढ़ रोकनेवाले; ७ पेड़ काटनेवाले; ८ चिकनी।

अचिरेण तु कालेन परिवाहान् बहूदकान् ।
चक्रुर्बहुविधाकारान् सागरप्रतिमान् बहून् ॥ ११ ॥
निर्जलेषु च देशेषु खानयामासुरुत्तमान् ।
उदपानान् बहुविधान् वेदिकापरिमण्डितान् ॥ १२ ॥
ससुधाकुट्टिमतलः प्रपुष्पितमहीरुहः ।
मत्तोद्घुष्टद्विजगणः पताकाभिरलङ्कृतः ॥ १३ ॥
चन्दनोदकसंसिक्तो नानाकुसुमभूषितः ।
बह्वशोभत सेनायाः पन्थाः सुरपथोपमः ॥ १४ ॥
आज्ञाप्याथ यथाज्ञप्तियुक्तास्तेऽधिकृता नराः ।
रमणीयेषु देशेषु बहुस्वादुफलेषु च ॥ १५ ॥
यो निवेशस्त्वभिप्रेतो भरतस्य महात्मनः ।
भूयस्तं शोभयामासुर्भूषाभिर्भूषणोपमम् ॥ १६ ॥
नक्षत्रेषु प्रशस्तेषु मुहूर्तेषु च तद्विदः ।
निवेशान् स्थापयामासुर्भरतस्य महात्मनः ॥ १७ ॥
बहुपांसुचयाश्चापि परिखाः परिवारिताः ।
तत्रेन्द्रनीलप्रतिमाः प्रतोलीवरशोभिताः ॥ १८ ॥
प्रासादमालासंयुक्ताः सौधप्राकारसंवृताः ।
पताकाशोभिताः सर्वे सुनिर्मितमहापथाः ॥ १९ ॥
विसर्पद्भिरिवाकाशे विटङ्काग्रविमानकैः ।
समुच्छ्रितैर्निवेशास्ते बभुः शक्रपुरोपमाः ॥ २० ॥
जाह्नवीं तु समासाद्य विविधद्रुमकाननाम् ।
शीतलामलपानीयां महामीनसमाकुलाम् ॥ २१ ॥
सचन्द्रतारागणमण्डितं यथा
नभः क्षपायाममलं विराजते ।
नरेन्द्रमार्गः स तदा व्यराजत
क्रमेण रम्यः शुभशिल्पिनिर्मितः ॥ २२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽशीतितमः सर्गः ॥ ८० ॥

बाँधा छोटे स्रोतों को, जल जिनका था तब सब बह जाता।
बहु अगाध जल सरोवरों का था आकार सिन्धु-सा भाता[1] ॥ ११ ॥
निर्जल स्थल में कूप खुद गये, हुई बावड़ी तब बहु उदका[2]।
आसपास की इन्हें अलंकृत करतीं थीं सुन्दरी वेदिका ॥ १२ ॥
चूना, सुर्खी, कंकरीट-कृत पुष्ट, पुष्प-तरुओं से मण्डित।
हुआ मत्त खग-कूजित पथ वह, ध्वजा-पताका से समलंकृत ॥ १३ ॥
चन्दन-जल-संसिक्त मार्ग पर, पुष्प गये बिखराये निरुपम।
अतः सैन्य-पथ, तब वह लगता था निश्चय सुर-पथ-सम उत्तम ॥ १४ ॥
कुशल सेवकों को आज्ञा दी, भरताज्ञापित लोगों ने तब।
जो रमणीयस्थल हैं, जिनमें हैं सुस्वादु विविध फल भी सब ॥ १५ ॥
वहीं बनें छावनियाँ एवं भूषण जो कि भरत को हैं प्रिय।
उनसे भषित शिविर बनाने में तुम सब हो जाओ सक्रिय ॥ १६ ॥
शुभ मुहूर्त, नक्षत्र श्रेष्ठतम, जब कि वास्तु-विज्ञों[3] ने पाये।
तब रुकने के लिए भरत को, भवन प्रतिष्ठा-सहित बनाये ॥ १७ ॥
चारों ओर खाइयाँ थीं, थे ढेर लगे मिट्टी के उन्नत।
मध्य-नीलमणि प्रतिमाएँ थीं, शोभित गलियाँ थीं अन्तर्गत ॥ १८ ॥
राजगेह, देवस्थानों तक शिविर पुते थे चूने से सब।
दीवारों से घिरे, पताका-शोभित थे उसके सब पथ तब ॥ १९ ॥
थे कपोत[4] के वासस्थल-युत, शिविर विमानों से शोभित अति।
ऐसा लगता था, मानों सुरपुरी दूसरी हुई विनिर्मित ॥ २० ॥
शीत, विमल जल-युता जाह्नवी वृहन्मत्स्य युक्ता तट तक फिर।
राजमार्ग बन गया विविध तरु-विपिनों से शोभित तब सुरुचिर ॥ २१ ॥

उच्च शिल्पियों ने नृप-पथ को, अतिशय रुचिर बनाया
जिसमें था सौन्दर्य रम्यतम क्रमशः अतिशय छाया।
शशि, तारक-मण्डित हो शोभित निर्मल अम्बर[5] जैसे
वैसे ही वह रात्रि-समय में, सबको अतिशय भाया ॥ २२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में अस्सीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८० ॥

---

१ शोभायमान लगा; २ जलवाली; ३ मकान बनानेवाले कारीगर; ४ कबूतर; ५ आकाश।

एकाशीतितमः सर्गः

प्रातःकाल के मङ्गलवाद्य-घोष को सुनकर भरत का दुखी होना और उसे बंद करा कर विलाप करना, वसिष्ठ जी का सभा में आकर मन्त्री आदि को बुलाने के लिए दूत भेजना

ततो नान्दीमुखीं रात्रिं भरतं सूतमागधाः ।
तुष्टुवुः सविशेषज्ञाः स्तवैर्मङ्गलसंस्तवैः ॥ १ ॥
सुवर्णकोणाभिहतः प्राणदद्यामदुन्दुभिः ।
दध्मुः शङ्खांश्च शतशो वाद्यांश्चोच्चावचस्वरान् ॥ २ ॥
स तूर्यघोषः सुमहान् दिवमापूरयन्निव ।
भरतं शोकसंतप्तं भूयः शोकैररन्धयत् ॥ ३ ॥
ततः प्रबुद्धो भरतस्तं घोषं संनिवर्त्य च ।
नाहं राजेति चोक्त्वा तं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥
पश्य शत्रुघ्न कैकेय्या लोकस्यापकृतं महत् ।
विसृज्य मयि दुःखानि राजा दशरथो गतः ॥ ५ ॥
तस्यैषा धर्मराजस्य धर्ममूला महात्मनः ।
परिभ्रमति राजश्रीर्नौरिवाकर्णिका जले ॥ ६ ॥
यो हि नः सुमहान् नाथः सोऽपि प्रव्राजितो वने ।
अनया धर्ममुत्सृज्य मात्रा मे राघवः स्वयम् ॥ ७ ॥
इत्येवं भरतं वीक्ष्य विलपन्तमचेतनम् ।
कृपणा रुरुदुः सर्वाः सुस्वरं योषितस्तदा ॥ ८ ॥
तथा तस्मिन् विलपति वसिष्ठो राजधर्मवित् ।
सभामिक्ष्वाकुनाथस्य प्रविवेश महायशाः ॥ ९ ॥
शातकुम्भमयीं रम्यां मणिहेमसमाकुलाम् ।
सुधर्मामिव धर्मात्मा सगणः प्रत्यपद्यत ॥ १० ॥
स काञ्चनमयं पीठं स्वस्त्यास्तरणसंवृतम् ।
अध्यास्त सर्ववेदज्ञो दूताननुशशास च ॥ ११ ॥
ब्राह्मणान् क्षत्रियान् योधानमात्यान् गणवल्लभान् ।
क्षिप्रमानयताव्यग्राः कृत्यमात्ययिकं हि नः ॥ १२ ॥
सराजपुत्रं शत्रुघ्नं भरतं च यशस्विनम् ।
युधाजितं सुमन्त्रं च ये च तत्र हिता जनाः ॥ १३ ॥
ततो हलाहलशब्दो महान् समुदपद्यत ।
रथैरश्वैर्गजैश्चापि जनानामुपगच्छताम् ॥ १४ ॥

इक्यासीवाँ सर्ग

प्रातःकाल के मंगलवाद्य-घोष को सुनकर भरत का दुखी होना और उसे बंद कराकर विलाप करना, वशिष्ठ जी का सभा में आकर मन्त्री आदि को बुलाने के लिए दूत भेजना

रात्रि अभ्युदय-सूचक, थोड़ी शेष देख, मागध, बन्दीजन।
करने लगे स्तुतिज्ञ, भरत का विधिपूर्वक मांगलिक संस्तवन ॥ १ ॥
प्रहर-पूर्ति-सूचिका दुन्दुभी, स्वर्ण-दण्ड-आहता[1] बजी फिर।
शंख आदि वाद्यों के वादक लगे बजाने वाद्य अति रुचिर ॥ २ ॥
महातुमुल वह वाद्य-घोष तब, करने लगा भवन को गुञ्जित।
और भरत को शोकानल में, करने लगा पुनः वह रुन्धित[2] ॥ ३ ॥
कहा भरत ने, नृपति मैं नहीं, वाद्यध्वनि सुन, तत्क्षण जगकर।
बोले फिर शत्रुघ्न बन्धु से, वाद्यध्वनि रुकवाकर सत्वर ॥ ४ ॥
कैकेयी-कृत, जग-अपकृत यह, देखो तो! शत्रुघ्न! इस समय।
स्वर्ग गये नृप दशरथ, मुझ पर, ऐसा भार छोड़कर दुखमय ॥ ५ ॥
हुई महात्मा, धर्मराज नृप-धर्ममूल नृप-श्री-गति वैसी।
जल के मध्य विना नाविक के, नौका की होती है जैसे ॥ ६ ॥
जो हैं राम महासंरक्षक, स्वामी हम सबके जीवन में।
उनको मेरी माँ ने भेजा, स्वयं धर्म तज करके, वन में ॥ ७ ॥
देख भरत को, हो अचेत तब, करती हुई बहुत ही बिलपन।
अन्तःपुर की सभी रानियाँ करने लगीं रुदनमय क्रन्दन ॥ ८ ॥
भरत-विलाप समय, सुयशस्वी तथा धर्म के ज्ञाता अतुलित।
सभा-मध्य इक्ष्वाकुनाथ की, हुए वसिष्ठ महाऋषि प्रविशित ॥ ९ ॥
देव-सुधर्मा-सभा-सदृश मणि और स्वर्णमय रम्य सभास्थल।
स्वर्ण-स्तम्भयुत में आये वे, शिष्यों सँग धर्मात्मा ऋषिवर ॥ १० ॥
कञ्चन-पीठ-स्वस्तिकासन पर हुए सकल वेदज्ञ विराजित।
तदनन्तर फिर किया उन्होंने, नृप के दूतों को आज्ञापित[3] ॥ ११ ॥
शान्त-भाव से सभी ब्राह्मणों और क्षत्रियों के घर जाओ।
योद्धा, सचिव, सैन्यपतियों को कुछ आवश्यक कार्य बताओ ॥ १२ ॥
इन सबको शत्रुघ्न, यशस्वी भरत, हितकरों के सँग लाओ।
सचिव सुमन्त्र, युधाजित, भूपति-पुत्रों को भी यहाँ बुलाओ ॥ १३ ॥
फिर गज, घोड़ों और रथों से आनेवाले लोगों द्वारा।
कोलाहल जो हुआ, भर गया उससे सभा-स्थान वह सारा ॥ १४ ॥

१ सोने के डण्डों से पीटने पर; २ रुंधने लगा; ३ हुक्म दिया।

ततो भरतमायान्तं शतक्रतुमिवामराः ।
प्रत्यनन्दन् प्रकृतयो यथा दशरथं तथा ॥ १५ ॥
ह्रद इव तिमिनागसंवृतः
स्तिमितजलो मणिशङ्खशर्करः ।
दशरथसुतशोभिता सभा
सदशरथेव बभूव सा पुरा ॥ १६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकाशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितमः सर्गः

वशिष्ठ जी का भरत को राज्य पर अभिषिक्त होने के लिए आदेश देना तथा भरत का उसे अनुचित बताकर अस्वीकार करना और श्रीराम को लौटा लाने के लिए वन में चलने की तैयारी के निमित्त सबको आदेश देना

तामार्यगणसम्पूर्णां भरतः प्रग्रहां सभाम् ।
ददर्श बुद्धिसम्पन्नः पूर्णचन्द्रां निशामिव ॥ १ ॥
आसनानि यथान्यायमार्याणां विशतां तदा ।
वस्त्राङ्गरागप्रभया द्योतिता सा सभोत्तमा ॥ २ ॥
सा विद्वज्जनसम्पूर्णा सभा सुरुचिरा तथा ।
अदृश्यत घनापाये पूर्णचन्द्रेव शर्वरी ॥ ३ ॥
राज्ञस्तु प्रकृतीः सर्वाः स सम्प्रेक्ष्य च धर्मवित् ।
इदं पुरोहितो वाक्यं भरतं मृदु चाब्रवीत् ॥ ४ ॥
तात राजा दशरथः स्वर्गतो धर्ममाचरन् ।
धनधान्यवतीं स्फीतां प्रदाय पृथिवीं तव ॥ ५ ॥
रामस्तथा सत्यवृत्तिः सतां धर्ममनुस्मरन् ।
नाजहात् पितुरादेशं शशी ज्योत्स्नामिवोदितः ॥ ६ ॥
पित्रा भ्रात्रा च ते दत्तं राज्यं निहतकण्टकम् ।
तद् भुङ्क्ष्व मुदितामात्यः क्षिप्रमेवाभिषेचय ॥ ७ ॥
उदीच्याश्च प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च केवलाः ।
कोट्यापरान्ताः सामुद्रा रत्नान्युपहरन्तु ते ॥ ८ ॥
तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं शोकेनाभिपरिप्लुतः ।
जगाम मनसा रामं धर्मज्ञो धर्मकाङ्क्षया ॥ ९ ॥
सबाष्पकलया वाचा कलहंसस्वरो युवा ।
विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम् ॥ १० ॥

सभी देवता इन्द्रदेव का अभिनन्दन करते हैं जैसे।
दशरथ-सदृश, भरत-स्वागत फिर किया प्रजा-जन-गण ने वैसे ॥ १५ ॥
तिमि[1], गज-संवृत[2], स्थिर-जल, मणि-युत, शख वालुका-संयुत
सिन्धु - जलाशय - सदृश सभास्थल वह दशरथ का अद्भुत।
हुआ भरत - शोभित वैसे ही, जैसी शाभा अद्भुत
दशरथ के होने पर होती थी, (जग में ज्यों विश्रुत)[3] ॥ १६ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८१ ॥

बयासीवाँ सर्ग

वसिष्ठ जी का भरत को राज्य पर अभिषिक्त होने के लिए आदेश देना तथा भरत का उसे अनुचित बताकर अस्वीकार करना और श्रीराम को लौटा लाने के लिए वन में चलने की तैयारी के निमित्त सबको आदेश देना

आर्यजनों से युक्त, सभा को सुधी भरत नें देखा वैसे।
पूर्ण चन्द्र, उत्तम ग्रह, तारक-प्रकाशिता हो रजनी[4] जैसे ॥ १ ॥
वहाँ आर्यजन जो थे अपने यथायोग्य आसन पर संस्थित।
उनके वसन, अंगरागों से सभा हुई दीपित अभिनन्दित ॥ २ ॥
विद्वज्जन - समुदाय - युता वह सभा रुचिर लगती थी वैसे।
हो धन - हीना, शरद - पूर्णिमा - चन्द्र - भूषिता रजनी जैसे ॥ ३ ॥
नृपति, प्रजा के सब लोगो को देख वहाँ पर तब समुपस्थित।
बोले मधुरिम वचन भरत से, श्री वसिष्ठ सम्मान्य पुरोहित ॥ ४ ॥
तात! तुम्हें धन-धान्य-समृद्धा यह पृथ्वी दे करके नृपवर।
दशरथ गये स्वर्ग को अब तो, धर्माचरण स्वयं पालन कर ॥ ५ ॥
सत्य-वृत्ति श्रीराम सत्पुरुष, ध्यान धर्म का करके मन में।
नहीं पिताज्ञा त्याग सके, शशि, ज्योत्स्ना[5] को जिस भाँति गगन में ॥ ६ ॥
पिता तथा भ्राता-प्रदत्त यह राज्य अकण्टक अब अपनाओ।
सचिवों को रखकर प्रसन्न, निज अभिषिञ्चन अति शीघ्र कराओ ॥ ७ ॥
उत्तर, पश्चिम, दक्षिण एवं पूर्व तथा उपरान्त देश - जन।
तुमको अगणित रत्न समर्पित करें, सिन्धु-व्यवसायी सज्जन ॥ ८ ॥
यह सुनकर धर्मज्ञ भरत तब, शोक-मग्न अति हुए उसी क्षण।
और उन्होंने धर्माकांक्षा से ली मन में राम की शरण ॥ ९ ॥
भरी सभा में साश्रु[6] भरत, कलहंस मधुर ध्वनि, करते विलपन।
उपालम्भ के लिए, पुरोहित जी से बोले यही फिर वचन ॥ १० ॥

---

१ एक विशाल मछली; २ हाथियों से घिरी; ३ प्रसिद्ध; ४ रात्रि; ५ चाँदनी; ६ आंसू भरे।

चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य धीमतः।
धर्मे प्रयतमानस्य को राज्यं मद्विधो हरेत् ॥ ११ ॥
कथं दशरथाज्जातो भवेद् राज्यापहारकः।
राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि ॥ १२ ॥
ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च धर्मात्मा दिलीपनहुषोपमः।
लब्धुमर्हति काकुत्स्थो राज्यं दशरथो यथा ॥ १३ ॥
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं कुर्यां पापमहं यदि।
इक्ष्वाकूणामहं लोके भवेयं कुलपांसनः ॥ १४ ॥
यद्धि मात्रा कृतं पापं नाहं तदपि रोचये।
इहस्थो वनदुर्गस्थं नमस्यामि कृताञ्जलिः ॥ १५ ॥
राममेवानुगच्छामि स राजा द्विपदां वरः।
त्रयाणामपि लोकानां राघवो राज्यमर्हति ॥ १६ ॥
तद्वाक्यं धर्मसंयुक्तं श्रुत्वा सर्वे सभासदः।
हर्षान्मुमुचुरश्रूणि रामे निहितचेतसः ॥ १७ ॥
यदि त्वार्यं न शक्ष्यामि विनिवर्तयितुं वनात्।
वने तत्रैव वत्स्यामि यथार्यो लक्ष्मणस्तथा ॥ १८ ॥
सर्वोपायं तु वर्तिष्ये विनिवर्तयितुं बलात्।
समक्षमार्यमिश्राणां साधूनां गुणवर्तिनाम् ॥ १९ ॥
विष्टिकर्मान्तिकाः सर्वे मार्गशोधकवक्षकाः।
प्रस्थापिता मया पूर्वं यात्रा च मम रोचते ॥ २० ॥
एवमुक्त्वा तु धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः।
समीपस्थामुवाचेदं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥ २१ ॥
तूर्णमुत्थाय गच्छ त्वं सुमन्त्र मम शासनात्।
यात्रामाज्ञापय क्षिप्रं बलं चैव समानय ॥ २२ ॥
एवमुक्तः सुमन्त्रस्तु भरतेन महात्मना।
प्रहृष्टः सोऽदिशत् सर्वं यथासंदिष्टमिष्टवत् ॥ २३ ॥
ताः प्रहृष्टाः प्रकृतयो बलाध्यक्षा बलस्य च।
श्रुत्वा यात्रां समाज्ञप्तां राघवस्य निवर्तने ॥ २४ ॥
ततो योधाङ्गनाः सर्वा भर्तॄन् सर्वान् गृहे गृहे।
यात्रागमनमाज्ञाय त्वरयन्ति स्म हर्षिताः ॥ २५ ॥
ते हयैर्गोरथैः शीघ्रं स्यन्दनैश्च मनोजवैः।
सह योषिद्बलाध्यक्षा बलं सर्वमचोदयन् ॥ २६ ॥

ब्रह्मचर्य-व्रति, विद्यास्नातक, सुधी, जो कि हैं धर्मशील अति।
उन राघव का राज्य-अपहरण कौन करेगा, गुरुवर! दुर्मति ॥ ११ ॥
कोई दशरथ-सुत निज अग्रज का शासन ले लेगा क्योंकर ?।
धर्म वचन बोलें! मैं तो हूँ राज्य-सहित राघव का अनुचर ॥ १२ ॥
हैं गुण-श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, धर्मात्मा, राम दिलीप, नहुष-सम दीपित[1]।
वे दशरथ काकुत्स्थ-सदृश हैं राज्य ग्रहण के योग्य यशोधृत[2] ॥ १३ ॥
पापाचारि नरक-गामी-सम, पाप-वृत्ति यदि अपनाऊँगा।
तो इक्ष्वाकु-वंश का जग में, मैं कलंक समझा जाऊँगा ॥ १४ ॥
मेरी माँ ने पाप किया जो, उसे न चाह रहा मेरा मन।
हाथ जोड़, कर रहा यहीं से दुर्गम, बन स्थित राम को नमन ॥ १५ ॥
हैं इस राज्य-योग्य नृप वे, मैं सदा करूँगा नृवर-अनुसरण।
हैं त्रिभुवन के नृप होने के, रामचन्द्र में उत्तम लक्षण ॥ १६ ॥
सभासदों ने, धर्म-युक्त ये, सुने भरत के मधुर जब वचन।
लगे बहानें, हर्ष-अश्रु वे, लगा राम में तब अपना मन ॥ १७ ॥
कहा भरत ने, 'यदि न राम को मैं वन से लौटा पाऊँगा।
तो मैं स्वयं नृवर लक्ष्मण-सम, वन-निवास कर, दिखलाऊँगा ॥ १८ ॥
आप सभी सद्गुण-व्यवहारी, पूज्य, साधु, सांसद-समक्ष, अति।
यत्न करूँगा बलपूर्वक मैं, यहाँ राम को लाने के प्रति ॥ १९ ॥
भेज दिये, वैतनिक कार्यकर[3], मैंने पथ-शोधन-विज्ञाता।
अतः राम के पास, गमन ही, अच्छा मुझे समझ में आता ॥ २० ॥
भरत भ्रातृ-वत्सल, धर्मात्मा ने सांसद-गण से यह कहकर।
कहा मन्त्र-कोविद सुमन्त्र से, जो बैठे थे वहाँ निकटतर ॥ २१ ॥
मेरी आज्ञा से सुमन्त्र जी! आप शीघ्र ही उठकर जायें।
वन-चलने को सूचित करके, यहाँ सैन्य को शीघ्र बुलायें ॥ २२ ॥
भरत महात्मा की आज्ञा सुन, हुए सुमन्त्र बहुत ही हर्षित।
प्रिय संदेश सुनाया सबको, फिर जैसा था भरतादेशित ॥ २३ ॥
भरत राम को लौटाने के लिए जायँगे यह शुभ सुनकर।
मुदित हुए सेनापति तब सब तथा प्रजा के सब विशिष्ट नर ॥ २४ ॥
गृह-गृह में सैनिक-पत्नी सब यात्राज्ञा सुन, हुई प्रहर्षित।
करने लगीं स्वपतियों को वे, सत्वर[4] यात्रा को आकर्षित ॥ २५ ॥
सेनापतियों ने आज्ञा दी, शीघ्र सैनिकों को यात्रा-हित।
कहा, चलो! पत्नियों, गोरथों[5], अश्व, मनोगति[6] रथों के सहित ॥ २६ ॥

---

१ तेजस्वी; २ यशस्वी; ३ वेतन पानेवाले कर्मचारी; ४ शीघ्र; ५ बैलगाड़ियों; ६ मन के समान वेग वाले।

सज्जं तु तद् बलं दृष्ट्वा भरतो गुरुसंनिधौ ।
रथं मे त्वरयस्वेति सुमन्त्रं पार्श्वतोऽब्रवीत् ॥ २७ ॥
भरतस्य तु तस्याज्ञां परिगृह्य प्रहर्षितः ।
रथं गृहीत्वोपययौ युक्तं परमवाजिभिः ॥ २८ ॥

स राघवः सत्यधृतिः प्रतापवान्
ब्रुवन् सुयुक्तं दृढसत्यविक्रमः ।
गुरुं महारण्यगतं यशस्विनं
प्रसादयिष्यन् भरतोऽब्रवीत् तदा ॥ २९ ॥
तूर्णं त्वमुत्थाय सुमन्त्र गच्छ
बलस्य योगाय बलप्रधानान् ।
आनेतुमिच्छामि हि तं वनस्थं
प्रसाद्य रामं जगतो हिताय ॥ ३० ॥
स सूतपुत्रो भरतेन सम्य-
गाज्ञापितः सम्परिपूर्णकामः ।
शशास सर्वान् प्रकृतिप्रधानान्
बलस्य मुख्यांश्च सुहृज्जनं च ॥ ३१ ॥
ततः समुत्थाय कुले कुले ते
राजन्यवैश्या वृषलाश्च विप्राः ।
अयूयुजन्नुष्ट्ररथान् खरांश्च
नागान् हयांश्चैव कुलप्रसूतान् ॥ ३२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्व्यशीतितमः सर्गः ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमः सर्गः

भरत की वनयात्रा और शृङ्गवेरपुर में रात्रि-वास

ततः समुत्थितः कल्यमास्थाय स्यन्दनोत्तमम् ।
प्रययौ भरतः शीघ्रं रामदर्शनकाम्यया ॥ १ ॥
अग्रतः प्रययुस्तस्य सर्वे मन्त्रिपुरोहिताः ।
अधिरुह्य हयैर्युक्तान् रथान् सूर्यरथोपमान् ॥ २ ॥
नवनागसहस्राणि कल्पितानि यथाविधि ।
अन्वयुर्भरतं यान्तमिक्ष्वाकुकुलनन्दनम् ॥ ३ ॥
षष्टी रथसहस्राणि धन्विनो विविधायुधाः ।
अन्वयुर्भरतं यान्तं राजपुत्रं यशस्विनम् ॥ ४ ॥

कहा भरत ने, उस सेना को यात्रा - हेतु देखकर तत्पर।
गुरु-समीप स्थित उन सुमन्त्र से, मेरा रथ लाओ! अब सत्वर ॥ २७ ॥
भरताज्ञा को शिरोधार्य कर, गये सुमन्त्र मुदित होकर तब।
लौटे रथ ले, जिसमें घोड़े जुते हुए थे अति उत्तम सब ॥ २८ ॥

अपने अग्रज राम यशस्वी को लौटाने के हित
तथा मनाने को उनको, जो थे विशाल वन-निवसित।
बोले वे सु-प्रतापि, सत्यधृति, सत्यविक्रमी तब फिर
भरत, यात्रा के विचार को, मन में करके निश्चित ॥ २९ ॥

उठें सुमन्त्र! सैन्यपतियों के अब समीप में जायें!
उनसे कह, सेना-यात्रा के, शीघ्र प्रबन्ध करायें।
क्योंकि चाहता, सकल जगत के मंगलमय वनवासी
मेरे लाने से प्रसन्न हो राम यहाँ पर आयें ॥ ३० ॥

निज को सफल मनोरथ समझे, भरताज्ञा वे पाकर
फिर सुमन्त्र ने प्रजाजनों से कहा शीघ्र ही जाकर।
सेनापतियों, सुहृदों को भी भरताज्ञा बतलाई
तुष्ट हुए, सब शिष्यजनों को भी सदेश सुनाकर ॥ ३१ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यों, शूद्रों से युत जनता सारी
करने लगी, गेह में अपने, यात्रा की तैयारी।
लगो जोतने, उच्च जाति के घोड़ों, गधों, गजो को
और जुते रथ, उष्ट्र आदि भी, तब संख्या में भारी ॥ ३२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
बयासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८२ ॥

तिरासीवाँ सर्ग

भरत की वन-यात्रा और शृंगवेरपुर में रात्रि-वास

उठकर प्रातःकाल, भरत वे उत्तम रथ पर होकर संस्थित।
रामचन्द्र - दर्शन - इच्छा से, हुए शीघ्रतापूर्वक प्रस्थित[1] ॥ १ ॥
अश्व जुते रथ पर चलते थे, उनके आगे सचिव, पुरोहित।
वे रथ, रवि-रथ-सम तेजस्वी, दिखते थे अत्यन्त सुशोभित ॥ २ ॥
वे इक्ष्वाकु-वंश-नन्दन जब भरत सुयात्रा को थे जाते।
नौ सहस्र गज विधिवत सज्जित, तब उनके पीछे थे आते ॥ ३ ॥
एवं साठ सहस्र दिव्य रथ, विविधायुध - धारी सु - धनुर्धर।
योद्धा भी पीछे आते थे, नृप-सुत भरत-गमन-अवसर पर ॥ ४ ॥

---

१ प्रस्थान किया।

शतं सहस्राण्यश्वानां समारूढानि राघवम् ।
अन्वयुर्भरतं यान्तं राजपुत्रं यशस्विनम् ॥ ५ ॥
कैकेयी च सुमित्रा च कौसल्या च यशस्विनी ।
रामानयनसंतुष्टा ययुर्यानेन भास्वता ॥ ६ ॥
प्रयाताश्चार्यसंघाता रामं द्रष्टुं सलक्ष्मणम् ।
तस्यैव च कथाश्चित्राः कुर्वाणा हृष्टमानसाः ॥ ७ ॥

मेघश्यामं महाबाहुं स्थिरसत्त्वं दृढव्रतम् ।
कदा द्रक्ष्यामहे रामं जगतः शोकनाशनम् ॥ ८ ॥
दृष्ट एव हि नः शोकमपनेष्यति राघवः ।
तमः सर्वस्य लोकस्य समुद्यन्निव भास्करः ॥ ९ ॥

इत्येवं कथयन्तस्ते सम्प्रहृष्टाः कथाः शुभाः ।
परिष्वजानाश्चान्योन्यं ययुर्नागरिकास्तदा ॥ १० ॥
ये च तत्रापरे सर्वे सम्मता ये च नैगमाः ।
रामं प्रतिययुर्हृष्टाः सर्वाः प्रकृतयः शुभाः ॥ ११ ॥
मणिकाराश्च ये केचित् कुम्भकाराश्च शोभनाः ।
सूत्रकर्मविशेषज्ञा ये च शस्त्रोपजीविनः ॥ १२ ॥
मायूरकाः क्राकचिका वेधका रोचकास्तथा ।
दन्तकाराः सुधाकारा ये च गन्धोपजीविनः ॥ १३ ॥
सुवर्णकाराः प्रख्यातास्तथा कम्बलकारकाः ।
स्नापकोष्णोदका वैद्या धूपकाः शौण्डिकास्तथा ॥ १४ ॥
रजकास्तुन्नवायाश्च ग्रामघोषमहत्तराः ।
शैलूषाश्च सह स्त्रीभिर्यान्ति कैवर्तकास्तथा ॥ १५ ॥
समाहिता वेदविदो ब्राह्मणा वृत्तसम्मताः ।
गोरथैर्भरतं यान्तमनुजग्मुः सहस्रशः ॥ १६ ॥
सुवेषाः शुद्धवसनास्ताम्रमृष्टानुलेपिनः ।
सर्वे ते विविधैर्यानैः शनैर्भरतमन्वयुः ॥ १७ ॥
प्रहृष्टमुदिता सेना सान्वयात् कैकयीसुतम् ।
भ्रातुरानयने यातं भरतं भ्रातृवत्सलम् ॥ १८ ॥
ते गत्वा दूरमध्वानं रथयानाश्वकुञ्जरैः ।
समासेदुस्ततो गङ्गां शृङ्गबेरपुरं प्रति ॥ १९ ॥
यत्र रामसखा वीरो गुहो ज्ञातिगणैर्वृतः ।
निवसत्यप्रमादेन देशं तं परिपालयन् ॥ २० ॥

रघुकुलनन्दन भरत नृपति-सुत, ने यात्राऽऽरम्भित की ज्योंही।
त्योंही उनके पीछे आये, एक लाख गण अश्वारोही ॥ ५ ॥
लौटें राम, सभी अति तुष्टा[1], यशस्विनी कौसल्या प्रमुदित।
तथा सुमित्रा, कैकेयी भी, हुईं तेज-युत रथ से प्रस्थित ॥ ६ ॥
ब्राह्मणार्यगण हर्षित होकर, राम तथा लक्ष्मण-दर्शन-हित।
कहते, सुनते मधुरतम वचन चला, उन्हीं से तब सम्बन्धित ॥ ७ ॥
मेघ-श्याम, स्थिरसत्त्व, दृढ़व्रत, महाबाहु, संसार-दुख-हरण।
के दर्शन हम सब पायेंगे कब? यह वे कहते थे उस क्षण ॥ ८ ॥
सूर्यदेव हो उदित, जगत का अन्धकार हरते हैं जैसे।
हम लोगों का शोक हरेंगे. राम, दर्शनों से तब वैसे ॥ ९ ॥
ये बातें कह एवं करके एक दूसरे का आलिंगन।
हर्षित हो यात्रा करते थे, सभी अयोध्या के नागर जन ॥ १० ॥
नगर-सुमानित व्यापारी जन, शुभ विचार के अन्य प्रजा-जन।
राम-मिलन-यात्रा करते थे, उस अवसर पर अति हर्षित मन ॥ ११ ॥
कुम्भकार[2], मणिकार[3], सुशोभन सूत्र-कर्म के अतिशय ज्ञाता[4]।
चले सभी शस्त्रोपजीवि-जन[5] एवं विविध वस्त्र-निर्माता ॥
मोरपंख, गज-दन्त-कर्मि-जन, आरीधर[6], वेधक[7], सज्जा-कर।
एवं चले पुताई-कर्मी, सभी गन्ध-विक्रेता रुचिकर ॥
विश्रुत स्वर्णकार, कम्बल-कर, स्नान-हेतु जल-उष्ण-प्रदाता।
चले वैद्य. धूपक, संग में ही, मदिरा-विक्रेता, निर्माता ॥
धोबी, दर्ज़ी, ग्राम-गोष्ठि-मुख[8], सपत्नीक नट, केवट भी सब।
गोशाला के प्रमुख आदि भी उस यात्रा में चले, साथ तब ॥
आत्मनिष्ठ, आचरण-शील, बहु विप्र वेदविद् चढ़ गोरथ[9] पर।
चले सहस्रों की संख्या में, भरत-संग यात्रा-अवसर पर ॥१२-१६॥
ताम्र-वर्ण का अंगराग[10] था, शुद्ध वसन थे, उनके तन पर।
चले सु-वेष, भरत के पीछे, निज वाहन की धीमी गति कर ॥ १७ ॥
चले भ्रातृ-वत्सल, कैकेयी-सुत जब भरत, बन्धु को लाने।
तब हर्षित हो, किया अनुसरण, उनका भलीभाँति सेना ने ॥ १८ ॥
और पालकी, अश्व, रथ, गजों द्वारा बहुत दूर तक चलकर।
वे सब आये शृंगवेरपुर में श्री गंगाजी के तट पर ॥ १९ ॥
राम-सखा था गुह निषादपति, बान्धव-सहित वहाँ पर रहता।
उस प्रदेश की, वीर सदा वह, हो सतर्क रक्षा था करता ॥ २० ॥

---

१ संतुष्ट, प्रसन्न; २ कुम्हार; ३ जौहरी; ४ हथकरघा से कपड़ा बुननेवाले; ५ शस्त्र बनाकर जीविका चलानेवाले; ६ आरा से लकड़ी चीरनेवाले; ७ मोती बींधनेवाले; ८ गांवसभाओं के मुखिया; ९ बैलगाड़ियों; १० उबटन।

उपेत्य तीरं गङ्गायाश्चक्रवाकैरलंकृतम् ।
व्यवतिष्ठत सा सेना भरतस्यानुयायिनी ।। २१ ।।
निरीक्ष्यानुत्थितां सेनां तां च गङ्गां शिवोदकाम् ।
भरतः सचिवान् सर्वानब्रवीद् वाक्यकोविदः ।। २२ ।।
निवेशयत मे सैन्यमभिप्रायेण सर्वतः ।
विश्रान्ताः प्रतरिष्यामः श्व इमां सागरङ्गमाम् ।। २३ ।।
दातुं च तावदिच्छामि स्वर्गतस्य महीपतेः ।
और्ध्वदेहनिमित्तार्थमवतीर्योदकं नदीम् ।। २४ ।।
तस्यैवं ब्रुवतोऽमात्यास्तथेत्युक्त्वा समाहिताः ।
न्यवेशयंस्तांश्छन्देन स्वेन स्वेन पृथक् पृथक् ।। २५ ।।
निवेश्य गङ्गामनु तां महानदीं
चमूं विधानैः परिबर्हशोभिनीम् ।
उवास रामस्य तदा महात्मनो
विचिन्तमानो भरतो निवर्तनम् ।। २६ ।।

।। इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्र्यशीतितमः सर्गः ।। ८३ ।।

चतुरशीतितमः सर्गः

निषादराज गुह का अपने बन्धुओं को नदी की रक्षा करते हुए युद्ध करने के लिए तैयार रहने का आदेश दे भेंट की सामग्री ले भरत के पास जाना और उनसे आतिथ्य स्वीकार करने के लिए अनुरोध करना

ततो निविष्टां ध्वजिनीं गङ्गामन्वाश्रितां नदीम् ।
निषादराजो दृष्ट्वैव ज्ञातीन् स परितोऽब्रवीत् ।। १ ।।
महतीयमितः सेना सागराभा प्रदृश्यते ।
नास्यान्तमवगच्छामि मनसापि विचिन्तयन् ।। २ ।।
यदा तु खलु दुर्बुद्धिर्भरतः स्वयमागतः ।
स एष हि महाकायः कोविदारध्वजो रथे ।। ३ ।।
बन्धयिष्यति वा पाशैरथ वास्मान् वधिष्यति ।
अनु दाशरथिं रामं पित्रा राज्याद् विवासितम् ।। ४ ।।
सम्पन्नां श्रियमन्विच्छंस्तस्य राज्ञः सुदुर्लभाम् ।
भरतः कैकयीपुत्रो हन्तुं समधिगच्छति ।। ५ ।।
भर्ता चैव सखा चैव रामो दाशरथिर्मम ।
तस्यार्थकामाः संनद्धा गङ्गानूपेऽत्र तिष्ठत ।। ६ ।।

भरत-अनुगता सेना पहुँची, वह जा करके तब उस स्थल पर।
रुकी वहीं गंगा के तट पर, जो था चक्रवाक-युत[1] रुचिकर॥ २१॥
मंगल सलिला गंगा-दर्शन कर सेना को शिथिल देखकर।
बोले भरत, सभी सचिवों से, वे अति वाक्य-कुशल थे पटुतर॥ २२॥
सभी ओर सेना ठहरायें! सैनिक जन-इच्छित स्थानों पर।
प्रात: पार करेंगे सिन्धुग[2] गंगा, रात्रि-यहीं पर रहकर॥ २३॥
चाह रहा मैं, दूं जल-अञ्जलि, नृपति पिता को जल में जाकर।
उनकी ही परलोक-हितेच्छा से मैं रुका यहाँ पर आकर॥ २४॥
यह कहने पर कहा, 'ठीक है', सचिवों ने आज्ञा स्वीकारी।
और ठहरने को सेना की कर दी शीघ्र व्यवस्था सारी॥ २५॥

खेमे आदि-शोभिता सेना की कर सभी व्यवस्था
जो थी महानदी गंगा के पावन पुण्य तटस्था।
वहीं महात्मा रामचन्द्र को, लौटाने का चिन्तन
करते हुए रुके रजनी में भरत, हृदय-रख आस्था॥ २६॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में तिरासीवाँ सर्ग समाप्त॥ ८३॥

चौरासीवाँ सर्ग

निषादराज गुह का अपने बन्धुओं को नदी की रक्षा करते हुए युद्ध करने के लिए तैयार रहने का आदेश दे भेंट की सामग्री ले भरत के पास जाना और उनसे आतिथ्य स्वीकार करने के लिए अनुरोध करना

गंगा-पार, भरत-सेना को ठहरी देखा जब उस गुह ने।
तब निषाद-पति, निज समीप स्थित, लगा बान्धवों से यह कहने॥ १॥
बन्धुजनो! उस पार सिन्धु-सी विस्तृत जो सेना दिखलाती।
बहुत सोचने पर भी इसका पार न मेरी मति है पाती॥ २॥
निश्चय कोविदार-ध्वज[3]-सेना में दुर्बुद्धि भरत भी आया।
उसके रथ पर वह विशाल ध्वज, देखो! वहाँ गया फहराया॥ ३॥
वह पाशों से बँधवायेगा या मेरा वध करवायेगा।
तथा पिता से राज्य-बहिष्कृत, दशरथ-सुत को मरवायेगा॥ ४॥
सम्पन्ना नृप-राज्यश्री को, हरणेच्छुक[4] है, कैकेयी-सुत।
अत: जा रहा भरत, राम का बध करने को ही, वन में द्रुत[5]॥ ५॥
किन्तु दाशरथि राम, सखा हैं स्वामी मेरे, इससे तुम सब।
अस्त्र-शस्त्र ले, उनके हित में, यहीं रहो! गंगा-तट पर अब॥ ६॥

---

१ चकई-चकवों से युक्त; २ समुद्र को जानेवाली; ३ कचनार-पुष्प जैसी पताका वाला; ४ हरण करने की इच्छा रखनेवाले; ५ तेजी से।

तिष्ठन्तु सर्वदाशाश्च गङ्गामन्वाश्रिता नदीम् ।
बलयुक्ता नदीरक्षा मांसमूलफलाशनाः ॥ ७ ॥
नावां शतानां पञ्चानां कैवर्तानां शतं शतम् ।
संनद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत् ॥ ८ ॥
यदि तुष्टस्तु भरतो रामस्येह भविष्यति ।
इयं स्वस्तिमती सेना गङ्गामद्य तरिष्यति ॥ ९ ॥
इत्युक्त्वोपायनं गृह्य मत्स्यमांसमधूनि च ।
अभिचक्राम भरतं निषादाधिपतिर्गुहः ॥ १० ॥
तमायान्तं तु सम्प्रेक्ष्य सूतपुत्रः प्रतापवान् ।
भरतायाचचक्षेऽथ समयज्ञो विनीतवत् ॥ ११ ॥
एष ज्ञातिसहस्रेण स्थपतिः परिवारितः ।
कुशलो दण्डकारण्ये वृद्धो भ्रातुश्च ते सखा ॥ १२ ॥
तस्मात् पश्यतु काकुत्स्थ त्वां निषादाधिपो गुहः ।
असंशयं विजानीते यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥
एतत् तु वचनं श्रुत्वा सुमन्त्राद् भरतः शुभम् ।
उवाच वचनं शीघ्रं गुहः पश्यतु मामिति ॥ १४ ॥
लब्ध्वानुज्ञां सम्प्रहृष्टो ज्ञातिभिः परिवारितः ।
आगम्य भरतं प्रह्वो गुहो वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥
निष्कुटश्चैव देशोऽयं वञ्चिताश्चापि ते वयम् ।
निवेदयाम ते सर्वं स्वके दासगृहे वस ॥ १६ ॥
अस्ति मूलफलं चैतन्निषादैः स्वयमर्जितम् ।
आर्द्रं शुष्कं तथा मांसं वन्यं चोच्चावचं तथा ॥ १७ ॥
आशंसे स्वाशिता सेना वत्स्यत्येनां विभावरीम् ।
अर्चितो विविधैः कामैः श्वः ससैन्यो गमिष्यसि ॥ १८ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमः सर्गः

गुह और भरत की बातचीत तथा भरत का शोक

एवमुक्तस्तु भरतो निषादाधिपतिं गुहम् ।
प्रत्युवाच महाप्राज्ञो वाक्यं हेत्वर्थसंहितम् ॥ १ ॥
ऊर्जितः खलु ते कामः कृतो मम गुरोः सखे ।
यो मे त्वमीदृशीं सेनामभ्यर्चयितुमिच्छसि ॥ २ ॥

गंगा नदी - सुरक्षक सेना - सँग मल्लाह रहें सब तट पर।
नौका-स्थित वे मूल और फल खाकर रात बिताएँ जगकर ॥ ७ ॥
और पाँच सौ नावें हैं जो, उनमें सौ योद्धा हों प्रति पर।
रण - सामग्री - युक्त रहें वे, यह आज्ञा दे, बोला गुहवर ॥ ८ ॥
भरत-भावना, मुझे राम-प्रति, तोषकरी जब मिल जायेगी।
सकुशल तब उनकी सेना वह, गंगा - लंघन[1] कर पायेगी ॥ ९ ॥
यह कह, मिश्री, फल, गूदे, मधु, भेंट-हेतु लेकर निषादपति।
गया भरत के पास, अन्य भी सामग्री ले, गुह सत्वर अति ॥ १० ॥
उसको आते देख, समय-विद्, सूत-पुत्र सु-प्रतापि सचिव तब।
वे सुमन्त्र अतिशय विनम्र हो, कहने लगे भरत से यह सब ॥ ११ ॥
बन्धु सहस्रों सँग, निषाद-पति गुह रहता है दण्डक वन में।
तथा आपके अग्रज को यह मित्र मानता, बूढ़ा मन में ॥ १२ ॥
जान रहा होगा, निषाद-पति, पथ-विद्[2], राम-स-लक्ष्मण का स्थल।
अतः इसे मिलने का अवसर दें! गुह को काकुत्स्थ-कुल-कुशल! ॥ १३ ॥
कहा भरत ने, उन सुमन्त्र से, सुन करके शुभ वचन परम तब।
मिलें, निषादाधिप गुह मुझसे, करें व्यवस्था आप शीघ्र सब ॥ १४ ॥
आया, बन्धुजनों-सँग प्रमुदित गुह, मिलने की अनुमति पाकर।
और नम्रता-पूर्वक बोला, फिर वह भरत-पास में आकर ॥ १५ ॥
गृहोद्यान-सम, वन में मुझको, विना बताये आप! पधारे।
रुकें! आपके हैं, निषाद-गृह, हम सब दास, पदार्थ हमारे ॥ १६ ॥
सभी वृहद्, लघु, आर्द्र, शुष्क इन वनज[3] मूल, फल गूदों को अब।
स्वीकारें! जो इन्हीं निषादों द्वारा, लाये गये यहाँ सब ॥ १७ ॥
आशा है, इस रजनी में रुक, सैनिक बन्धु यहीं खायेंगे।
और आप सब! सत्कृत होकर, कल प्रभात में फिर जायेंगे ॥ १८ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में चोरासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८४ ॥

पचासीवाँ सर्ग

गुह और भरत की बातचीत तथा भरत का शोक

उस निषाद-पति गुह के द्वारा, इस प्रकार से तब कहने पर।
युक्ति, प्रयोजन-युक्त वचन में, भरत सुधी ने दिया समुत्तर ॥ १ ॥
वृहद् सैन्य - सत्कृति - इच्छा है, राम-सखे! उन्नता तुम्हारी।
इस श्रद्धा से ही तुम मानो! पूर्ण सैन्य-सत्कृति[4] है सारी ॥ २ ॥

---

१ पार; २ रास्ता जाननेवाला; ३ वन में उत्पन्न; ४ सैनिक सहायता से सत्कार करने की तुम्हारी अभिलाषा पूरी हो गई।

इत्युक्त्वा स महातेजा गुहं वचनमुत्तमम् ।
अब्रवीद् भरतः श्रीमान् पन्थानं दर्शयन् पुनः ॥ ३ ॥
कतरेण गमिष्यामि भरद्वाजाश्रमं यथा ।
गहनोऽयं भृशं देशो गङ्गानूपो दुरत्ययः ॥ ४ ॥
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो गहनगोचरः ॥ ५ ॥
दाशास्त्वनुगमिष्यन्ति देशज्ञाः सुसमाहिताः ।
अहं चानुगमिष्यामि राजपुत्र महाबल ॥ ६ ॥
कच्चिन्न दुष्टो व्रजसि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
इयं ते महती सेना शङ्कां जनयतीव मे ॥ ७ ॥
तमेवमभिभाषन्तमाकाश इव निर्मलः ।
भरतः श्लक्ष्णया वाचा गुहं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥
मा भूत् स कालो यत् कष्टं न मां शङ्कितुमर्हसि ।
राघवः स हि मे भ्राता ज्येष्ठः पितृसमो मतः ॥ ९ ॥
तं निवर्तयितुं यामि काकुत्स्थं वनवासिनम् ।
बुद्धिरन्या न मे कार्या गुह सत्यं ब्रवीमि ते ॥ १० ॥
स तु संहृष्टवदनः श्रुत्वा भरतभाषितम् ।
पुनरेवाब्रवीद् वाक्यं भरतं प्रति हर्षितः ॥ ११ ॥
धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले ।
अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि ॥ १२ ॥
शाश्वती खलु ते कीर्तिर्लोकाननु चरिष्यति ।
यस्त्वं कृच्छ्रगतं रामं प्रत्यानयितुमिच्छसि ॥ १३ ॥
एवं सम्भाषमाणस्य गुहस्य भरतं तदा ।
बभौ नष्टप्रभः सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ १४ ॥
संनिवेश्य स तां सेनां गुहेन परितोषितः ।
शत्रुघ्नेन समं श्रीमाञ्छयनं पुनरागमत् ॥ १५ ॥
रामचिन्तामयः शोको भरतस्य महात्मनः ।
उपस्थितो ह्यनर्हस्य धर्मप्रेक्षस्य तादृशः ॥ १६ ॥
अन्तर्दाहेन दहनः संतापयति राघवम् ।
वनदाहाग्निसंतप्तं गूढोऽग्निरिव पादपम् ॥ १७ ॥
प्रसृतः सर्वगात्रेभ्यः स्वेदं शोकाग्निसम्भवम् ।
यथा सूर्यांशुसंतप्तो हिमवान् प्रसृतो हिमम् ॥ १८ ॥

महातेज श्रीमान् भरत ने, निज गन्तव्य मार्ग निज कर से।
दिखा उसे, उससे यह पूछा, उत्तम वाणी में तब फिर से॥ ३ ॥
इन दो मार्गों में जाना है किससे? भरद्वाज - ऋषि - आश्रम।
गंगा - तट - स्थल परम गहन है, लगता इसे लाँघना दुगम॥ ४ ॥
सुधी नृपति-सुत भरत-वचन यह, उस वन-विचरक ने तब सुनकर।
हाथ जोड़कर कहा भरत से अति विनम्र हो, उस अवसर पर॥ ५ ॥
बहु, स्थलज्ञ[1] मल्लाह जायँगे, साथ आपके! हो सतर्क सब।
तथा, महाबल नृप-सुत! मैं भी साथ चलूँगा निश्चय ही अब॥ ६ ॥
किन्तु कहें! अक्लिष्ट विक्रमी राम-पास, कुछ दुष्ट भाव-वश।
तो न जा रहे! शंका होती, विशद सैन्य से, मुझे महायश!॥ ७ ॥
ऐसी बातें जब कहता था, वहाँ भरत से वह निषाद-पति।
तब निर्मल नभ-सम वे बोले, गुह से वाणी यह मधुरा अति॥ ८ ॥
कभी न आये दुष्ट समय वह, कष्ट हुआ मुझको, गुह अतिशय।
करो! न शंका, रामाग्रज वे, मुझको पिता-सदृश हैं निश्चय॥ ९ ॥
वन-वासी काकुत्स्थ राम को, वन से लौटाने मैं जाता।
नहीं उचित, अन्यथा[2] सोचना, तुम्हें सर्वथा सत्य बताता॥ १० ॥
अति प्रसन्नमुख हुआ, भरत की वार्ता सुनकर वह निषाद-पति।
पुनः परम हर्षित हो, बोला शीघ्र भरत से वचन मधुर अति॥ ११ ॥
आप! धन्य हैं, जो अयत्न से कर-गत[3] राज्य त्यागते, भ्राता!।
आप-सदृश धर्मात्मा जग में, मुझे न कोई अन्य दिखाता॥ १२ ॥
आप चाहते, दुर्गम वन - गत - पुनः राम को लौटा लाना।
सब लोकों में कीर्ति आपकी प्रसरित होगी, मैंने माना॥ १३ ॥
जब गुह-भरत-बात होती थी, हुई रवि-प्रभा तब अन्तर्हित।
और रात्रि का अन्धकार फिर फैल गया सब ओर, अपरिमित॥ १४ ॥
गुह-व्यवहार-सुतुष्ट भरत ने, विश्रामाज्ञा[4] दी सेना को।
और साथ शत्रुघ्न बन्धु के, वे श्रीमान् गये सोने को॥ १५ ॥
भरत अशोक, धर्मदृष्टा थे, फिर भी रामचन्द्र-चिन्तन में।
किन्तु हुआ वर्णनातीत तब, शोक अत्यधिक उनके मन में॥ १६ ॥
वन-दावाग्नि-ज्वलित तरु को ज्यों, अन्तराग्नि है अधिक जलाती।
नृप-चिन्तानल-तप्त भरत को, त्यों ही थी रामाग्नि तपाती॥ १७ ॥
रवि-किरणों से तप्त हिमालय, बर्फ-वारि है यथा बहाता।
शोक-अग्नि से, तथा भरत-तन से था अधिक पसीना आता॥ १८ ॥

---

१ स्थान व रास्ता जाननेवाले; २ विपरीत, उलटा; ३ बिना प्रयत्न के स्वतः प्राप्त राज्य; ४ आराम करने की आज्ञा।

ध्याननिर्दरशैलेन विनिःश्वसितधातुना।
दैन्यपादपसंघेन शोकायासाधिशृङ्गिणा॥ १९॥
प्रमोहानन्तसत्त्वेन संतापौषधिवेणुना।
आक्रान्तो दुःखशैलेन महता कैकयीसुतः॥ २०॥
विनिःश्वसन् वै भृशदुर्मनास्ततः।
प्रमूढसंज्ञः परमापदं गतः।
शमं न लेभे हृदयज्वरार्दितो
नरर्षभो यूथहतो यथार्षभः॥ २१॥
गुहेन सार्धं भरतः समागतो
महानुभावः सजनः समाहितः।
सुदुर्मनास्तं भरतं तदा पुन-
र्गुहः समाश्वासयदग्रजं प्रति॥ २२॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चाशीतितमः सर्गः॥८५॥

षडशीतितमः सर्गः

निषादराज गुह के द्वारा लक्ष्मण के सद्भाव और विलाप का वर्णन

आचचक्षेऽथ सद्भावं लक्ष्मणस्य महात्मनः।
भरतायाप्रमेयाय गुहो गहनगोचरः॥ १॥
तं जाग्रतं गुणैर्युक्तं वरचापेषुधारिणम्।
भ्रातृगुप्त्यर्थमत्यन्तमहं लक्ष्मणमब्रुवम्॥ २॥
इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता।
प्रत्याश्वसिहि शेष्वास्यां सुखं राघवनन्दन॥ ३॥
उचितोऽयं जनः सर्वो दुःखानां त्वं सुखोचितः।
धर्मात्मंस्तस्य गुप्त्यर्थं जागरिष्यामहे वयम्॥ ४॥
नहि रामात् प्रियतरो ममास्ति भुवि कश्चन।
मोत्सुको भूर्ब्रवीम्येतदथ सत्यं तवाग्रतः॥ ५॥
अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन् सुमहद् यशः।
धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थकामौ च केवलौ॥ ६॥
सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया।
रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वैः स्वैर्ज्ञातिभिः सह॥ ७॥
नहि मेऽविदितं किंचिद् वनेऽस्मिंश्चरतः सदा।
चतुरङ्गं ह्यपि बलं प्रसहेम वयं युधि॥ ८॥

राम-ध्यान अच्छिद्र शिलाएँ[1], दुखोच्छ्वास धातुस्थल गैरिक[2]।
जिसमें शोकायास[3] शिखर हों, बहु तरु दैन्य-रूपि, नैसर्गिक[4] ॥
इन्द्रिय-ताप वंश-औषधियाँ[5], मोह-स्वरूपी प्राणी अगणित।
ऐसे गिरि से भरत घिर गये, कैकेयी-सुत, अतिशय पीड़ित ॥ १९-२०॥

भरत मानसिक चिन्ता-पीड़ित शान्ति न थे कुछ पाते
लंबी साँसें ले, सुध-बुध खो, थे अति दुखित दिखाते।
उनकी, बिछुड़े हुए झुंड से, बैल-सदृश थी तब स्थिति
अतः नृवर, आपत्ति - सिन्धु में वे डूबे से जाते ॥ २१ ॥

सपरिवार वे भरत महाशय, गुह-सुमिलन अवसर पर
मन में परम दुखी थे, अपने अग्रज का चिन्तन कर।
दिया समाहित मन, उनको तब, उस गुह ने आश्वासन
जो कि राम का परम मित्र था तथा अत्यधिक हितकर ॥ २२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्ष रामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
पचासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८५ ॥

छियासीवाँ सर्ग

निषादराज गुह के द्वारा लक्ष्मण के सद्भाव और विलाप का वर्णन

वनचर गुह ने कहा उन भरत, अ-प्रतिम शक्ति-समन्वित से फिर।
परम महात्मा श्री लक्ष्मण के सद्भावों को, जो थे सु-रुचिर ॥ १ ॥
धनुष, बाण ले, रहे जागते, भ्राता-रक्षा को जब लक्ष्मण।
उन सद्गुणशाली से मैंने, कहा इस तरह से तब उस क्षण ॥ २ ॥
रघुकुल-नन्दन, तात ! आपके हित शय्या है यहाँ व्यवस्थित।
सुखपूर्वक विश्राम, शयन अब, इस पर करें ! न हों कुछ चिन्तित ॥
मैं, मेरे साथी, दुख - भोगी हैं, पर आप सुखों में पलते।
धर्मात्मन् ! हम सभी रहेंगे, निशि में राम-सुरक्षक जगते ॥३-४॥
सच कहता सामने आपके, सिवा राम के इस भूतल पर।
अन्य न प्रिय है मुझे, आप चिन्ता न करें, रक्षा की क्षण भर ॥ ५ ॥
शुद्ध धर्म, यश, अर्थ, काम मैं पाऊँगा अतिशय जगती में।
एवं राम-कृपा से वैभव भी, यह आशा है मम मति[6] में ॥ ६ ॥
अतः धनुष, शर कर में लेकर मैं एवं मेरे बान्धव सब।
सीता के सँग राम सखा के, रक्षक होंगे, शयन-समय तब ॥ ७ ॥
छिपी न कोई बात यहाँ की, मुझसे, हम सब यहीं विचरते।
रण में, रिपु - चतुरंगिणि सेना से निर्द्वन्द्व युद्ध हैं करते ॥ ८ ॥

---

१ बिना छेद की चट्टानें; २ पहाड़ से उत्पन्न गेरू आदि द्रव्य; ३ शोक की चेष्टाएँ; ४ स्वाभाविक; ५ बाँस और जड़ी-बूटी; ६ समक्ष।

एवमस्माभिरुक्तेन लक्ष्मणेन महात्मना ।
अनुनीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता ॥ ९ ॥
कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया ।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितानि सुखानि वा ॥ १० ॥
यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि ।
तं पश्य गुह संविष्टं तृणेषु सह सीतया ॥ ११ ॥
महता तपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमैः ।
एको दशरथस्यैष पुत्रः सदृशलक्षणः ॥ १२ ॥
अस्मिन् प्रव्राजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति ।
विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १३ ॥
विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः ।
निर्घोषो विरतो नूनमद्य राजनिवेशने ॥ १४ ॥
कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम ।
नाशंसे यदि ते सर्वे जीवेयुः शर्वरीमिमाम् ॥ १५ ॥
जीवेदपि च मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया ।
दुःखिता या हि कौसल्या वीरसूर्विनशिष्यति ॥ १६ ॥
अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम् ।
राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥ १७ ॥
सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन् काले ह्युपस्थिते ।
प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति भूमिपम् ॥ १८ ॥
रम्यचत्वरसंस्थानां सुविभक्तमहापथाम् ।
हर्म्यप्रासादसम्पन्नां सर्वरत्नविभूषिताम् ॥ १९ ॥
गजाश्वरथसम्बाधां तूर्यनादविनादिताम् ।
सर्वकल्याणसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥ २० ॥
आरामोद्यानसम्पूर्णां समाजोत्सवशालिनीम् ।
सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥ २१ ॥
अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिना वयम् ।
निवृत्ते समये ह्यस्मिन् सुखिताः प्रविशेमहि ॥ २२ ॥
परिदेवयमानस्य तस्यैवं हि महात्मनः ।
तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत ॥ २३ ॥

दृष्टि धर्म पर रखनेवाले, कहा महात्मा लक्ष्मण ने फिर।
मेरे कहने पर, हम सबसे सविनय कहा वचन यह सुरुचिर॥ ९ ॥
"गुह! दशरथ-सुत राम, स-सीता शयन करें भू पर जब ऐसे।
शय्या-शयनादिक जीवन-सुख होंगे भोग्य मुझे तब कैसे?॥ १० ॥
देखो गुह! संवेग न जिसका, रण में सह सकते सुर, निशिचर।
वे सीता-संग राम, सो रहे हैं तिनकों पर इस अवसर पर॥ ११ ॥
राम ज्येष्ठ सुत को दशरथ ने विविध तपादि श्रमों से पाया।
तथा राम में उन जैसा ही गुण-समूह दर्शन में आया।
उन्हीं राम के वन जाने से, अधिक कठिन है नृप का जीना।
ऐसा लगता, यह पृथ्वी अब निश्चय होगी पति[1] से हीना॥१२-१३॥
भवन-नारियाँ, आर्तनाद-श्रम करके होंगी सभी शान्त अब।
राज भवन-चीत्कार घोर भी शान्त हो गया होगा वह सब॥ १४ ॥
नृप दशरथ, रानी कौसल्या, मेरी मान्य सुमित्रा माता।
जीवित रह लेंगे रजनी तक, मुझको यह न समझ में आता॥ १५ ॥
शत्रुघ्न-प्रतीक्षा में, सम्भव है, मातु सुमित्रा का जीवन।
किन्तु वीर-जननी कौसल्या दुखिता का तो प्रत्यक्ष मरण॥ १६ ॥
'राज्य राम को दिये बिना, हा नष्ट प्रणष्ट हुआ मेरा सब'।
यह कह, विफल मनोरथ, मेरे पिता प्राण निज छोड़ेंगे तब॥ १७ ॥
उनकी मृत्यु, मृत्यु-कृत्यों के समय उपस्थित होंगे जो जन।
वे ही सफल मनोरथ एवं अतिशय भाग्यवान हैं सज्जन॥ १८ ॥
विस्तृत रम्य विशाल नृप-पथों, चबूतरों, चौराहों से युत।
सुर-मन्दिर, धनपति-अटारियाँ, नृप-भवनों, रत्नों से भूषित॥
रथ, गजाश्व-कोलाहल-युक्ता, विविध वाद्य-ध्वनि से सुनिनादित[2]।
क्षेम-वस्तु-सम्पन्ना, जिसमें हृष्ट-पुष्ट जन हैं आह्लादित॥
उद्यानालंकृता[3] तथा जो, है समाज-उत्सव-सुशोभिता।
होंगे उसी राजधानी के विचरक सुखी रहे यदि पिता॥१९-२१॥
क्या वन-वासावधि[4]-समाप्ति पर, लौटे मंगल-कुशल के सहित।
होंगे सत्यप्रतिज्ञ राम-सह, हम सब पुनः पुरी में प्रविशित?"॥ २२ ॥
महामनस्वी नृप-सुत लक्ष्मण ने ऐसे बहुशः विलाप कर।
सारी रात बिताई थी तब, बातें करते हुए जाग कर॥ २३ ॥

---

१ राजा; २ गूंजती हुई; ३ बगीचों से सजी शोभित; ४ वनवास की अवधि।

प्रभाते विमले सूर्ये कारयित्वा जटा उभौ।
अस्मिन् भागीरथीतीरे सुखं संतारितौ मया ॥ २४ ॥
जटाधरौ तौ द्रुमचीरवाससौ
महाबलौ कुञ्जरयूथपोपमौ।
वरेषुधीचापधरौ परंतपौ
व्यपेक्षमाणौ सह सीतया गतौ ॥ २५ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमः सर्गः

भरत की मूर्च्छा से गुह, शत्रुघ्न और माताओं का दुखी होना, होश में आने पर भरत का गुह से श्रीराम आदि के भोजन और शयन आदि के विषय में पूछना और गुह का उन्हें सब बातें बताना

गुहस्य वचनं श्रुत्वा भरतो भृशमप्रियम्।
ध्यानं जगाम तत्रैव यत्र तच्छ्रुतमप्रियम् ॥ १ ॥
सुकुमारो महासत्त्वः सिंहस्कन्धो महाभुजः।
पुण्डरीकविशालाक्षस्तरुणः प्रियदर्शनः ॥ २ ॥
प्रत्याश्वस्य मुहूर्तं तु कालं परमदुर्मनाः।
ससाद सहसा तोत्रैर्हृदि विद्ध इव द्विपः ॥ ३ ॥
भरतं मूर्छितं दृष्ट्वा विवर्णवदनो गुहः।
बभूव व्यथितस्तत्र भूमिकम्पे यथा द्रुमः ॥ ४ ॥
तदवस्थं तु भरतं शत्रुघ्नोऽनन्तरस्थितः।
परिष्वज्य रुरोदोच्चैर्विसंज्ञः शोककर्शितः ॥ ५ ॥
ततः सर्वाः समापेतुर्मातरो भरतस्य ताः।
उपवासकृशा दीना भर्तृव्यसनकर्शिताः ॥ ६ ॥
ताश्च तं पतितं भूमौ रुदत्यः पर्यवारयन्।
कौसल्या त्वनुसृत्यैनं दुर्मना परिषस्वजे ॥ ७ ॥
वत्सला स्वं यथा वत्समुपगुह्य तपस्विनी।
परिपप्रच्छ भरतं रुदती शोकलालसा ॥ ८ ॥
पुत्र व्याधिर्न ते कच्चिच्छरीरं प्रति बाधते।
अस्य राजकुलस्याद्य त्वदधीनं हि जीवितम् ॥ ९ ॥
त्वां दृष्ट्वा पुत्र जीवामि रामे सभ्रातृके गते।
वृत्ते दशरथे राज्ञि नाथ एकस्त्वमद्य नः ॥ १० ॥

प्रातः निर्मल सूर्योदय पर, मैंने गंगा जी के तट पर।
उन दोनों को जटा-युक्त कर सुख से पार उतारा सत्वर॥ २४॥
वल्कल-चीर-वसनधर दोनों, उत्तम शीश जटाधर
वे थे, यूथ-अधिप दो गज-सम, परम परंतप सुन्दर।
अतिशय बली, धनुष, तरकस ले, गये संग सीता के
इधर-उधर सानन्द निरखते, वन के पथ पर सत्वर॥ २५॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में छियासीवाँ सर्ग समाप्त॥ ८६॥

सत्तासीवाँ सर्ग

भरत की मूर्च्छा से गुह, शत्रुघ्न और माताओं का दुखी होना, होश में आने पर भरत का गुह से श्रीराम आदि के भोजन और शयन आदि के विषय में पूछना और गुह का उन्हें सब बातें बताना

जटा-धरण आदिक सब गुह से ऐसी अप्रिय वार्ता सुनकर।
हुआ भरत के मन में संशय 'राम-वापसी अतिशय दुष्कर'॥ १॥
सिंह-स्कन्ध, सुकुमार, महाभुज, महाबली थे वे प्रियदर्शन।
भरत, तरुण, प्रिय, अतिशय सुन्दर, विकसित थे मञ्जुल कमल-नयन॥
गुह-वार्ता सुन, वे मुहूर्त भर धैर्य रख सके, हुए फिर दुखित।
अंकुश-विद्ध, हस्ति-सम सहसा, हुए बाद में दुखी बिमूर्च्छित॥ २-३॥
गुह के मुख का रंग उड़ गया, देख भरत को ऐसे मूर्च्छित।
जैसे हो भूकम्प-समय में, मथित होकर वृक्ष अति व्यथित॥ ४॥
निकटस्थित शत्रुघ्न, भरत-स्थिति देख, हृदय से उन्हें लगाकर।
रोने लगे जोर से, सुध-बुध खो, शोकज पीड़ा अति पाकर॥ ५॥
पति-वियोग-दुख-दुखी तथा व्रत के कारण दुबल, बल-हीना।
आ पहुँचीं सब माताएँ भी, उस अवसर पर, हो अति दीना॥ ६॥
रोने लगीं घेरकर, भू-स्थित पुत्र भरत को वे सबकी सब।
उन्हें दुखी कौसल्या ने निज गोद-पास जा, उठा लिया तब॥ ७॥
बछड़े को निज गले लगाकर, धेनु वत्सला चाटे जैसे।
तपस्विनी कौसल्या, रोकर, उनसे लगीं पूछने वैसे॥ ८॥
कोई रोग तुम्हारे तन को तो क्या नहीं कष्ट-युत? प्रिय सुत!।
राज-वंश-जीवन, अधीन है, केवल आज तुम्हारे ही सुत!॥ ९॥
राम लखन-सह गये विपिन, मैं तुम्हें देखकर, जीती अब तक।
दशरथ नृप भी गये स्वर्ग, सुत! तुम ही हो हम सबके रक्षक॥ १०॥

कच्चिन्न लक्ष्मणे पुत्र श्रुतं ते किंचिदप्रियम्।
पुत्रे वा ह्येकपुत्रायाः सहभार्ये वनं गते॥ ११॥
स मुहूर्तं समाश्वस्य रुदन्नेव महायशाः।
कौसल्यां परिसान्त्व्येदं गुहं वचनमब्रवीत्॥ १२॥
भ्राता मे क्वावसद् रात्रौ क्व सीता क्व च लक्ष्मणः।
अस्वपच्छयने कस्मिन् किं भुक्त्वा गुह शंस मे॥ १३॥
सोऽब्रवीद् भरतं हृष्टो निषादाधिपतिर्गुहः।
यद्विधं प्रतिपेदे च रामे प्रियहितेऽतिथौ॥ १४॥
अन्नमुच्चावचं भक्ष्याः फलानि विविधानि च।
रामायाभ्यवहारार्थं बहुशोऽपहृतं मया॥ १५॥
तत् सर्वं प्रत्यनुज्ञासीद् रामः सत्यपराक्रमः।
न हि तत् प्रत्यगृह्णात् स क्षत्रधर्ममनुस्मरन्॥ १६॥
नह्यस्माभिः प्रतिग्राह्यं सखे देयं तु सर्वदा।
इति तेन वयं सर्वे अनुनीता महात्मना॥ १७॥
लक्ष्मणेन यदानीतं पीतं वारि महात्मना।
औपवास्यं तदाकार्षीद् राघवः सह सीतया॥ १८॥
ततस्तु जलशेषेण लक्ष्मणोऽप्यकरोत् तदा।
वाग्यतास्ते त्रयः संध्यां समुपासन्त संहिताः॥ १९॥
सौमित्रिस्तु ततः पश्चादकरोत् स्वास्तरं शुभम्।
स्वयमानीय बर्हींषि क्षिप्रं राघवकारणात्॥ २०॥
तस्मिन् समाविशद् रामः स्वास्तरे सह सीतया।
प्रक्षाल्य च तयोः पादौ व्यपाक्रामत् सलक्ष्मणः॥ २१॥
एतत् तदिङ्गुदीमूलमिदमेव च तत् तृणम्।
यस्मिन् रामश्च सीता च रात्रिं तां शयितावुभौ॥ २२॥

नियम्य पृष्ठे तु तलाङ्गुलित्रवाञ्-
शरैः सुपूर्णाविषुधी परंतपः।
महद्धनुः सज्जमुपोह्य लक्ष्मणो
निशामतिष्ठत् परितोऽस्य केवलम्॥ २३॥
ततस्त्वहं चोत्तमबाणचापभृत्
स्थितोऽभवं तत्र स यत्र लक्ष्मणः।
अतन्द्रितैर्ज्ञातिभिरात्तकार्मुकै-
र्महेन्द्रकल्पं परिपालयंस्तदा॥ २४॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्ताशीतितमः सर्गः॥८७॥

एक पुत्र वाली मेरे सुत सपत्नीक हैं, सुत! जो वन में।
उनके या लक्ष्मण-प्रति कोई, सुनकर अशुभ, दुखी हो मन में ? ॥ ११ ॥
दी कौसल्या को सु-सान्त्वना, हो मुहूर्त के बाद स्वस्थ मन।
भरत महायश ने, रोते ही, गुह से ऐसे कहे फिर वचन ॥ १२ ॥
कहाँ बसे थे ? मेरे भ्राता, रजनी में सीता-लक्ष्मण सह।
गुह ! बोलो क्या खाकर ? कैसे विस्तर पर सोये थे तब वह ? ॥ १३ ॥
प्रमुदित गुह वह, यह सुन करके, अतिथि राम, अपने अति हितकर।
के आने पर, सत्कृति की जो, कहने लगा भरत से रुचिकर ॥ १४ ॥
छोटे, बड़े विविध फल एवं खाद्य अन्न-वस्तुएं स्वाद-युत।
मैंने की थीं, वहाँ राम को, भोजन-हेतु प्रचुरतम प्रस्तुत ॥ १५ ॥
प्रथम, सत्यविक्रमी राम ने दत्त वस्तुएँ कर लीं स्वीकृत।
ग्रहण-विना, सादर लौटा दीं, क्षात्र-धर्म के होने पर स्मृत[1] ॥ १६ ॥
मुझ जैसे क्षत्रियों को सखे! नहीं चाहिए कुछ भी लेना।
और कहा, समझाकर मुझको, अवसर पर समुचित है देना ॥ १७ ॥
कर उपवास, राम, लक्ष्मण ने रजनी के क्षण सभी बिताये।
बस, लक्ष्मण के लाये जल को, राम महात्मा थे पी पाये ॥ १८ ॥
उनका पीत-शेष जल पीकर, लक्ष्मण ने सन्तोष फिर किया।
की थी मौन, समाहित सबने, फिर सन्ध्योपासना-प्रक्रिया ॥ १९ ॥
फिर लक्ष्मण ने स्वयं सुकोमल, कुश एवं तिनकों को लाकर।
रामचन्द्र के हेतु बिछाया, वहाँ शीघ्र अति सुन्दर विस्तर ॥ २० ॥
सीता के सँग राम विराजे, जब उस अपने शुभ विस्तर पर।
उन दोनों के श्रीपद-धोकर, लक्ष्मण गये दूर तब हटकर ॥ २१ ॥
यही इंगुदी[2] तरु-जड़ है वह, और यही है तृणों का चयन।
जहाँ राम, सीता दोनों ने, उस रजनी में किया था शयन ॥ २२ ॥

दस्ताने हस्तांगुलियों में लक्ष्मण वीर पहन कर
बाँध पीठ पर, युग्म[3] तरकसों को, जिनमें थे बहु शर।
अपना धनुष विशाल चढ़ाकर, चारों ओर परंतप
निकट राम के, विचरण करते रहे, रात भर जग कर ॥ २३ ॥

खड़ा हुआ मैं भी धनु-शर ले वहाँ, जहाँ थे लक्ष्मण
धनुष-बाण ले, मेरे बान्धव भी सतर्क थे उस क्षण।
इन्द्रोपम तेजस्वि राम की करता रहा सुरक्षा
तब थे नहीं, सभी में निद्रा, आलस के कुछ लक्षण ॥ २४ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में सत्तासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८७ ॥

---

१ याद आने पर; २ मालकांगनी का पेड़; ३ दो।

अष्टाशीतितमः सर्गः

श्रीराम की कुश-शय्या देखकर भरत का शोकपूर्ण उद्गार तथा स्वयं भी वल्कल और जटा धारण करके वन में रहने का विचार प्रकट करना

तच्छ्रुत्वा निपुणं सर्वं भरतः सह मन्त्रिभिः ।
इङ्गुदीमूलमागम्य रामशय्यामवेक्षत ॥ १ ॥
अब्रवीज्जननीः सर्वा इह तस्य महात्मनः ।
शर्वरी शयिता भूमाविदमस्य विमर्दितम् ॥ २ ॥
महाराजकुलीनेन महाभागेन धीमता ।
जातो दशरथेनोर्व्यां न रामः स्वप्तुमर्हति ॥ ३ ॥
अजिनोत्तरसंस्तीर्णे वरास्तरणसंचये ।
शयित्वा पुरुषव्याघ्रः कथं शेते महीतले ॥ ४ ॥
प्रासादाग्रविमानेषु वलभीषु च सर्वदा ।
हैमराजतभौमेषु वरास्तरणशालिषु ॥ ५ ॥
पुष्पसंचयचित्रेषु चन्दनागुरुगन्धिषु ।
पाण्डुराभ्रप्रकाशेषु शुकसंघरुतेषु च ॥ ६ ॥
प्रासादवरवर्येषु शीतवत्सु सुगन्धिषु ।
उषित्वा मेरुकल्पेषु कृतकाञ्चनभित्तिषु ॥ ७ ॥
गीतवादित्रनिर्घोषैर्वराभरणनिःस्वनैः ।
मृदङ्गवरशब्दैश्च सततं प्रतिबोधितः ॥ ८ ॥
वन्दिभिर्वन्दितः काले बहुभिः सूतमागधैः ।
गाथाभिरनुरूपाभिः स्तुतिभिश्च परंतपः ॥ ९ ॥
अश्रद्धेयमिदं लोके न सत्यं प्रतिभाति मा ।
मुह्यते खलु मे भावः स्वप्नोऽयमिति मे मतिः ॥ १० ॥
न नूनं दैवतं किंचित् कालेन बलवत्तरम् ।
यत्र दाशरथी रामो भूमावेवमशेत सः ॥ ११ ॥
यस्मिन् विदेहराजस्य सुता च प्रियदर्शना ।
दयिता शयिता भूमौ स्नुषा दशरथस्य च ॥ १२ ॥
इयं शय्या मम भ्रातुरियमावर्तितं शुभम् ।
स्थण्डिले कठिने सर्वं गात्रैर्विमृदितं तृणम् ॥ १३ ॥
मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिञ्शयने शुभा ।
तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनकबिन्दवः ॥ १४ ॥

अट्ठासीवाँ सर्ग

श्रीराम की कुश-शय्या देखकर भरत का शोकपूर्ण उद्गार तथा स्वयं भी वल्कल और जटा धारण करके वन में रहने का विचार प्रकट करना

ध्यानसहित गुह से यह सब सुन, सचिवों-सहित भरत ने तत्क्षण।
किया राम-शय्या का आकर, इंगुदि-जड़ के पास निरीक्षण ॥ १ ॥
माताओं से कहा उन्होंने, यहीं राम ने भू पर सोकर।
रात बिताई, दिखते कुश ये, उनके तन से मर्दित[1] होकर ॥ २ ॥
महाराज वंशज, प्रबुद्ध नृप दशरथ महाभाग से जन्मे।
राम, भू-शयन-योग्य नहीं हैं, वे इस तरह वृहत्तम[2] वन में ॥ ३ ॥
जो नृसिंह श्रीराम, सुकोमल, मृग-चर्मादि बिस्तरों-युत तब।
शय्या पर सोते थे, कैसे वे सोएँगे धरती पर अब? ॥ ४ ॥
वैमानिक प्रासादों, भवनों की सर्वोन्नत अटारियों पर।
जिनकी सोने-चाँदी वाली फर्शों पर शोभित हैं बिस्तर ॥ ५ ॥
पुष्प-राशि-सुषमा विचित्र युत, चन्दन एवं अगुरु-सुगन्धित।
शुभ्र मेघ-आभान्वित, एवं शुक-समूह-कलरव से पूरित ॥ ६ ॥
मेरु-समुन्नत, शीत, सुगन्धित, स्वर्ण-भित्ति, उन भवनों में तब।
जो सोते थे, वे सोएँगे राम, विपिन-भू पर कैसे अब? ॥ ७ ॥
गीत, वाद्य-ध्वनि, भूषण-झंकृति और मृदंग-नाद से उत्तम।
जो कि जगाये जाते थे नित, शुभ प्रभात में राघव सक्षम ॥ ८ ॥
वन्दी, मागध, सूत जगाते थे जिनको, गाथा गा समुचित।
वे श्रीराम परंतप, सोते होंगे कैसे? भू पर संस्थित ॥ ९ ॥
जग की अश्रद्धेय इस वार्ता में असत्य ही मुझे दिखाता।
मेरे मोहित मन को तो यह, स्वप्न समझ में अब है आता ॥ १० ॥
प्रबल काल-सम, अन्य देवता का है परम असम्भव होना।
काल-प्रभाव कि दशरथ-नन्दन को है पड़ा भूमि पर सोना ॥ ११ ॥
सुता विदेहराज की सुन्दर नृप दशरथ-प्रिय पुत्र-वधू अब।
सीता भी सोतीं धरणी पर, काल-प्रभाव मात्र है यह सब ॥ १२ ॥
यहीं करवटें बदलीं, मेरे अग्रज ने इस शुभ शय्या पर।
कुचले गये, उन्हीं के अंगों से वेदी-स्थित तृण कठोरतर ॥ १३ ॥
लगता शुभा आभरण-सहिता सीता सोयीं इस शय्या पर।
जहाँ-तहाँ है स्वर्ण-कणों से, क्योंकि चमत्कृत इसका बिस्तर ॥ १४ ॥

[1] रगे हुए; [2] अति विशाल।

उत्तरीयमिहासक्तं सुव्यक्तं सीतया तदा ।
तथा ह्येते प्रकाशन्ते सक्ताः कौशेयतन्तवः ॥ १५ ॥

मन्ये भर्तुः सुखा शय्या येन बाला तपस्विनी ।
सुकुमारी सती दुःखं न विजानाति मैथिली ॥ १६ ॥

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत् सभार्यः कृते मम ।
ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत् ॥ १७ ॥

सार्वभौमकुले जातः सर्वलोकसुखावहः ।
सर्वप्रियकरस्त्यक्त्वा राज्यं प्रियमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

कथमिन्दीवरश्यामो रक्ताक्षः प्रियदर्शनः ।
सुखभागी न दुःखार्हः शयितो भुवि राघवः ॥ १९ ॥

धन्यः खलु महाभागो लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
भ्रातरं विषमे काले यो राममनुवर्तते ॥ २० ॥

सिद्धार्था खलु वैदेही पतिं यानुगता वनम् ।
वयं संशयिताः सर्वे हीनास्तेन महात्मना ॥ २१ ॥

अकर्णधारा पृथिवी शून्येव प्रतिभाति मे ।
गते दशरथे स्वर्गं रामे चारण्यमाश्रिते ॥ २२ ॥

न च प्रार्थयते कश्चिन्मनसापि वसुंधराम् ।
वने निवसतस्तस्य बाहुवीर्याभिरक्षिताम् ॥ २३ ॥

शून्यसंवरणारक्षामयन्त्रितहयद्विपाम् ।
अनावृतपुरद्वारां राजधानीमरक्षिताम् ॥ २४ ॥

अप्रहृष्टबलां शून्यां विषमस्थामनावृताम् ।
शत्रवो नाभिमन्यन्ते भक्ष्यान् विषकृतानिव ॥ २५ ॥

अद्यप्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा ।
फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन् ॥ २६ ॥

तस्याहमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने ।
तत् प्रतिश्रुतमार्यस्य नैव मिथ्या भविष्यति ॥ २७ ॥

वसन्तं भ्रातुरर्थाय शत्रुघ्नो मानुवत्स्यति ।
लक्ष्मणेन सहायोध्यामार्यो मे पालयिष्यति ॥ २८ ॥

अभिषेक्ष्यन्ति काकुत्स्थमयोध्यायां द्विजातयः ।
अपि मे देवताः कुर्युरिमं सत्यं मनोरथम् ॥ २९ ॥

साफ़ दिख रहा, इसमें उलझी थी सीता की तब चादर भी।
क्योंकि रेशमी वसन-सूत्र हैं चमक रहे कुछ इसमें अब भी ॥ १५ ॥
माना मैंने, पति-शय्या ही है साध्वी नारी-सुख-दात्री।
अतः न समझी दुःख-तपस्विनि सती मैथिली कोमलगात्री[1] ॥ १६ ॥
मेरा जीवन व्यर्थ हो गया, मैं नृशंस हा! आज गया मर।
सोना पड़ा सभार्य राम को, जिसके हित, अनाथवत् भू पर ॥ १७ ॥
सकल लोक के प्रियकर, सुखकर तथा चक्रवर्ती नृप-वंशज।
ऐसा अपना यह सर्वोत्तम, एवं अति प्रिय सुखद राज्य तज ॥ १८ ॥
अरुण-नयन, इन्दीवर-श्यामल, प्रिय दर्शन, सुख-भोग्य सुनिश्चित।
दुख-अयोग्य अब कैसे करते होंगे राम शयन, हो भू-स्थित ॥ १९ ॥
शुभ लक्षण, लक्ष्मण सुधन्य हैं, महाभाग जो राम-निकट में।
रह, अग्रज भ्राता की सेवा, करते रहते हैं संकट में ॥ २० ॥
हैं कृतार्थ वैदेही, अपने पति सँग करके विपिन-अनुगमन।
उन श्रीराम महात्मा-प्रति है, हम सब बिछुड़ों का शंकित मन ॥ २१ ॥
गये स्वर्ग को नृपवर दशरथ, राम हो गये हैं वनवासी।
मुझे शून्य यह पृथ्वी लगती, है नाविक-हीना[2] नौका-सी ॥ २२ ॥
वन-निवासि श्रीराम-बाहुबल से जो भू है अब भी रक्षित।
उसे ग्रहण करने को रिपु भी कोई हुआ न मन में इच्छित ॥ २३ ॥
पुर-प्राकार अरक्षित हैं अब, हैं गजाश्व[3] भी सभी अ-बन्धित[4]।
खुला पड़ा है नगर-द्वार भी, हुई राजधानी असुरक्षित[5] ॥ २४ ॥
सेना है उत्साह-विहीना, पुरी अरक्षित विषम दिखाती।
रिपु को, विष-मिश्रित भोजन-सम, फिर भी है यह पुरी लखाती ॥ २५ ॥
मैं फल-मूलाशी[6] हो करके, पृथ्वी या तृण पर सोऊँगा।
और आज से जटा रखा कर, चीर-वसन-धर भी होऊँगा ॥ २६ ॥
वन-निवास के शेष दिनों तक, सुख से वन में रहूँगा यहीं।
आर्य राम की वह सु-प्रतिज्ञा, जिससे झूठी हो न फिर कहीं ॥ २७ ॥
ये शत्रुघ्न रहेंगे मेरे साथ, विपिन में भाई के हित।
लक्ष्मण-सहित, राम अग्रज से, होगी पुरी अयोध्या पालित ॥ २८ ॥
तथा करेंगे विप्र अयोध्या में काकुत्स्थ राम-अभिषिञ्चन।
वाञ्छित-सिद्धि देवता देंगे? यही मनोरथ मेरे है मन! ॥ २९ ॥

---

१ कोमलांगी; २ बिना मल्लाह; ३ हाथी-घोड़े; ४ छुट्टा;
५ रक्षाविहीन; ६ फल-मूल खानेवाला।

प्रसाद्यमानः शिरसा मया स्वयं
बहुप्रकारं यदि न प्रपत्स्यते ।
ततोऽनुवत्स्यामि चिराय राघवं
वनेचरं नार्हति मामुपेक्षितुम् ॥ ३० ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमः सर्गः

भरत का सेना-सहित गङ्गा पार करके भरद्वाज के आश्रम पर जाना

व्युष्य रात्रिं तु तत्रैव गङ्गाकूले स राघवः ।
काल्यमुत्थाय शत्रुघ्नमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

शत्रुघ्नोत्तिष्ठ किं शेषे निषादाधिपतिं गुहम् ।
शीघ्रमानय भद्रं ते तारयिष्यति वाहिनीम् ॥ २ ॥
जागर्मि नाहं स्वपिमि तथैवार्यं विचिन्तयन् ।
इत्येवमब्रवीद् भ्राता शत्रुघ्नो विप्रचोदितः ॥ ३ ॥
इति संवदतोरेवमन्योन्यं नरसिंहयोः ।
आगम्य प्राञ्जलिः काले गुहो वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

कच्चित् सुखं नदीतीरेऽवात्सीः काकुत्स्थ शर्वरीम् ।
कच्चिच्च सहसैन्यस्य तव नित्यमनामयम् ॥ ५ ॥

गुहस्य तत् तु वचनं श्रुत्वा स्नेहादुदीरितम् ।
रामस्यानुवशो वाक्यं भरतोऽपीदमब्रवीत् ॥ ६ ॥
सुखा नः शर्वरी धीमन् पूजिताश्चापि ये वयम् ।
गङ्गां तु नौभिर्बह्वीभिर्दाशाः संतारयन्तु नः ॥ ७ ॥

ततो गुहः संत्वरितः श्रुत्वा भरतशासनम् ।
प्रतिप्रविश्य नगरं तं ज्ञातिजनमब्रवीत् ॥ ८ ॥
उत्तिष्ठत प्रबुध्यध्वं भद्रमस्तु हि वः सदा ।
नावः समुपकर्षध्वं तारयिष्यामि वाहिनीम् ॥ ९ ॥
ते तथोक्ताः समुत्थाय त्वरिता राजशासनात् ।
पञ्च नावां शतान्येव समानिन्युः समन्ततः ॥ १० ॥

अन्याः स्वस्तिकविज्ञेया महाघण्टाधरा वराः ।
शोभमानाः पताकिन्यो युक्तवाहाः सुसंहताः ॥ ११ ॥
ततः स्वस्तिकविज्ञेयां पाण्डुकम्बलसंवृताम् ।
सनन्दिघोषां कल्याणीं गुहो नावमुपाहरत् ॥ १२ ॥

उनके चरणों पर मस्तक रख, उन्हें मनाने के हित
यत्न करूँगा, तदपि लौटने को न करेंगे निश्चित।
तो वन-वासी राम-साथ में, मैं भी बहुत दिनों तक
वहीं रहूँगा, वे न करेंगे मुझको कभी उपेक्षित ॥ ३० ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८८ ॥

नवासीवाँ सर्ग

भरत का सेना-सहित गंगा पार करके भरद्वाज के आश्रम पर जाना

रात बिताकर वहाँ भरत ने शृंगवेरपुर-गंगा तट पर।
इस प्रकार से कहा, अनुज शत्रुघ्न बन्धु से प्रातः उठकर ॥ १ ॥
सोते क्या? शत्रुघ्न! तुम्हारा मंगल हो, तुम उठो शीघ्रतर।
गंगा-पार करायेगा गुह, अतः बुलाओ! उसे यहीं पर ॥ २ ॥
बोले वे शत्रुघ्न भरत से प्रेरित, भ्राता! नहीं हूँ स्वपित[1]।
आप सदृश ही जाग रहा हूँ, आर्य राम-चिन्तन में हो स्थित ॥ ३ ॥
दोनों पुरुषसिंह करते थे, आपस में जब ऐसे प्रवचन।
तभी वहाँ गुह आकर, उनसे हाथ जोड़ यह बोला सु-वचन ॥ ४ ॥
रहे न सुख से? यहाँ रात्रि में, हे काकुत्स्थ! नदी के तट पर।
हुआ न कष्ट सहित-सेना कुछ? हैं नारोग सर्वथा, विभुवर? ॥ ५ ॥
परम स्नेह से कहे गये, इन गुह-वचनों को सुनकर सु-रुचिर।
सदा राम-वश रहनेवाले, कहा भरत ने उस गुह से फिर ॥ ६ ॥
सुख से बीती रात्रि हमारी, हैं तुमसे धीमत्! सत्कृत सब।
नौकाओं से, नाविक गंगा-पार उतारो, यत्न करो अब ॥ ७ ॥
भरतादेश श्रवण कर गुह वह, आया अपने शीघ्र नगर में।
एवं अपने बन्धु-बान्धवों से वह बोला, उस अवसर में ॥ ८ ॥
जागो! उठो! तुम्हारा शिव[2] हो, नावें खींच घाट पर लाओ।
गंगा जी के पार करूँगा भरत-सैन्य को, सत्वर आओ ॥ ९ ॥
निज गुह-नृप की आज्ञा पा केवटगण सकल उठे अति सत्वर[3]।
सभी ओर से नाव पाँच सौ, ले आये वे एकत्रित कर ॥ १० ॥
महा घण्टिका-युता[4], स्वस्तिका नाम्नी थीं अन्या नौकाएँ।
वे सु-पुष्ट, मल्लाह-युक्त थीं, थीं शोभित स्वर्णिमा ध्वजाएँ ॥ ११ ॥
और श्वेत कालीन-शोभिता, स्वस्तिक[5] नाव स्वयं गुह लाया।
वे थीं स्वस्तिकरी, सु-मांगलिक, मधुर नाद था उनमें छाया ॥ १२ ॥

---

१ सोया हुआ; २ कल्याण; ३ बहुत जल्दी; ४ बड़ी घण्टियाँ लगी हुई;
५ स्वस्तिका चिह्न वाली।

तामारुरोह भरतः शत्रुघ्नश्च महाबलः ।
कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या राजयोषितः ॥ १३ ॥

पुरोहितश्च तत् पूर्वं गुरवो ब्राह्मणाश्च ये ।
अनन्तरं राजदारास्तथैव शकटापणाः ॥ १४ ॥

आवासमादीपयतां तीर्थं चाप्यवगाहताम् ।
भाण्डानि चाददानानां घोषस्तु दिवमस्पृशत् ॥ १५ ॥

पताकिन्यस्तु ता नावः स्वयं दाशैरधिष्ठिताः ।
वहन्त्यो जनमारूढं तदा सम्पेतुराशुगाः ॥ १६ ॥

नारीणामभिपूर्णास्तु काश्चित् काश्चित् तु वाजिनाम् ।
काश्चित् तत्र वहन्ति स्म यानयुग्यं महाधनम् ॥ १७ ॥

तास्तु गत्वा परं तीरमवरोप्य च तं जनम् ।
निवृत्ता काण्डचित्राणि क्रियन्ते दाशबन्धुभिः ॥ १८ ॥

सवैजयन्तास्तु गजा गजारोहैः प्रचोदिताः ।
तरन्तः स्म प्रकाशन्ते सपक्षा इव पर्वताः ॥ १९ ॥

नावश्चारुरुहुस्त्वन्ये प्लवैस्तेरुस्तथापरे ।
अन्ये कुम्भघटैस्तेरुरन्ये तेरुश्च बाहुभिः ॥ २० ॥

सा पुण्या ध्वजिनी गङ्गां दाशैः संतारिता स्वयम् ।
मैत्रे मुहूर्ते प्रययौ प्रयागवनमुत्तमम् ॥ २१ ॥

आश्वासयित्वा च चमूं महात्मा
निवेशयित्वा च यथोपजोषम् ।
द्रष्टुं भरद्वाजमृषिप्रवर्य-
मृत्विक्सदस्यैर्भरतः प्रतस्थे ॥ २२ ॥

स ब्राह्मणस्याश्रममभ्युपेत्य
महात्मनो देवपुरोहितस्य ।
ददर्श रम्योटजवृक्षदेशं
महद्वनं विप्रवरस्य रम्यम् ॥ २३ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोननवतितमः सर्गः ॥८९॥

भरत और शत्रुघ्न महाबल एवं सभी नृपति-दाराएँ।
बैठीं कौसल्या स-सुमित्रा, कैकेयी, अन्या महिलाएँ॥ १३॥
प्रथम पुरोहित, गुरु, ब्राह्मण वर, एवं बैठीं राजरानियाँ।
लादी गयीं सैन्य-सामग्री तथा बाद में बहुत गाड़ियाँ॥ १४॥
ले मशाल, निज वस्तु देख वे, सभी घाट पर लगे उतरने।
कोलाहल तब हुआ, वहाँ अति, लगे सभी निज वस्तु परखने॥ १५॥
बैठे थे नाविक उन सब पर, और ध्वजाएँ थीं फहरातीं।
तीव्रा गति से, स्थित लोगों को, वे थीं पार सभी ले जातीं॥ १६॥
कुछ पर थीं नारियाँ, अश्व थे कुछ पर, थीं गाड़ियाँ अश्वयुत।
ढोती थीं वे खच्चर, वाहन, वृषभ कीमती रत्न सु-विश्रुत[1]॥ १७॥
बैठे लोगों को उतार कर, नावें फिर तट पर जब आईं।
तब मल्लाह बन्धुओं ने, जल-नौका-गति विविधा[2] दिखलाईं॥ १८॥
स्वयं वैजयन्ती-शोभित गज, लगे पार करनें, सरिता जब।
महावतों से प्रेरित, पंखों वाले गिरि लगते थे वे सब॥ १९॥
नावों पर कुछ लोग, बाँस, तृण-बेड़ों पर तब कुछ सवार थे।
कुछ कलशों, कुछ घड़ों, बाहुओं से करते वे नदी पार थे॥ २०॥
पुण्या सेना को मल्लाहों ने गंगा के पार उतारा।
वह उत्तम प्रयाग वन-प्रस्थित हुई, मुहूर्त 'मैत्र' पा[3], न्यारा॥ २१॥

वहाँ भरत ने विश्रामाज्ञा दी सेना को तब फिर
उत्तम प्रयाग के वन में ही, उसे कर दिया सुस्थिर।
तथा ऋत्विजों, राज-सदस्यों, सँग वे चले वहाँ से
ऋषिवर भरद्वाज-दर्शन की इच्छा लेकर सुरुचिर॥ २२॥

देव-पुरोहित, विप्र, महात्मा भरद्वाज-स्थल आकर
देखा वहाँ भरत ने, विस्तृत परम रम्य वन सुन्दर।
विप्रशिरोमणि का, जिसमें थीं रम्य पर्ण-शालाएं
एवं उनमें विविध भाँति के शोभित थे बहु तरुवर॥ २३॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में नवासीवाँ सर्ग समाप्त॥ ८९॥

---

१ प्रख्यात; २ नौका चलाने के भाँति-भाँति के हुनर; ३ दो घड़ी के दिन-रात में ३० मुहूर्त में से दिन का एक मुहूर्त।

नवतितमः सर्गः

भरत और भरद्वाज मुनि की भेंट एवं बातचीत तथा मुनि का अपने आश्रम पर ही ठहरने का आदेश देना

भरद्वाजाश्रमं गत्वा क्रोशादेव नरर्षभः।
जनं सर्वमवस्थाप्य जगाम सह मन्त्रिभिः ॥ १ ॥
पद्भ्यामेव तु धर्मज्ञो न्यस्तशस्त्रपरिच्छदः।
वसानो वाससी क्षौमे पुरोधाय पुरोहितम् ॥ २ ॥
ततः संदर्शने तस्य भरद्वाजस्य राघवः।
मन्त्रिणस्तानवस्थाप्य जगामानुपुरोहितम् ॥ ३ ॥
वसिष्ठमथ दृष्ट्वैव भरद्वाजो महातपाः।
संचचालासनात् तूर्णं शिष्यानर्घ्यमिति ब्रुवन् ॥ ४ ॥
समागम्य वसिष्ठेन भरतेनाभिवादितः।
अबुध्यत महातेजाः सुतं दशरथस्य तम् ॥ ५ ॥
ताभ्यामर्घ्यं च पाद्यं च दत्त्वा पश्चात् फलानि च।
आनुपूर्व्याच्च धर्मज्ञः पप्रच्छ कुशलं कुले ॥ ६ ॥
अयोध्यायां बले कोशे मित्रेष्वपि च मन्त्रिषु।
जानन् दशरथं वृत्तं न राजानमुदाहरत् ॥ ७ ॥
वसिष्ठो भरतश्चैनं पप्रच्छतुरनामयम्।
शरीरेऽग्निषु शिष्येषु वृक्षेषु मृगपक्षिषु ॥ ८ ॥
तथेति तु प्रतिज्ञाय भरद्वाजो महायशाः।
भरतं प्रत्युवाचेदं राघवस्नेहबन्धनात् ॥ ९ ॥
किमिहागमने कार्यं तव राज्यं प्रशासतः।
एतदाचक्ष्व सर्वं मे न हि मे शुध्यते मनः ॥ १० ॥
सुषुवे यममित्रघ्नं कौसल्याऽऽनन्दवर्धनम्।
भ्रात्रा सह सभार्यो यश्चिरं प्रव्राजितो वनम् ॥ ११ ॥
नियुक्तः स्त्रीनिमित्तेन पित्रा योऽसौ महायशाः।
वनवासी भवेतीह समाः किल चतुर्दश ॥ १२ ॥
कच्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि।
अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च ॥ १३ ॥
एवमुक्तो भरद्वाजं भरतः प्रत्युवाच ह।
पर्यश्रुनयनो दुःखात् वाचा संसज्जमानया ॥ १४ ॥
हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि मन्यते।
मत्तो न दोषमाशङ्के मैवं मामनुशाधि हि ॥ १५ ॥

नब्बेवाँ सर्ग

भरत और भरद्वाज मुनि की भेंट एवं बातचीत तथा मुनि का अपने आश्रम पर ठहरने का आदेश देना

नृवर धर्मविद् भरत गये, उन भरद्वाज - आश्रम - समीप जब।
उससे, एक कोस की दूरी पर ठहराया लोगों को तब॥ १ ॥
राजोचित शस्त्रास्त्र, वसन - रख, दो रेशम के वस्त्र पहन कर।
पैदल गये, पुरोहित, सचिवों को आगे करके आश्रम पर॥ २ ॥
भरद्वाज के दर्शन उनको होने लगे दूर से ही जब।
वहीं रोक, सचिवों को, करके आगे, गये पुरोहित को तब॥ ३ ॥
उन्हें देख, वे महातपस्वी भरद्वाज आसन से उठकर।
बोले, निज शिष्यों से, लाओ! अर्घ्य - पात्र अति सत्वर भरकर॥ ४ ॥
वे वसिष्ठ से मिले, भरत ने किया तभी उनका पद - वन्दन।
अति तेजस्वी समझ गये वे, ये हैं नृप दशरथ के नन्दन॥ ५ ॥
दिया धर्मविद् ऋषि ने गुरुवर तथा भरत को अर्घ्य, पाद्य, जल।
फिर उन दोनों के कुल एवं उनका पूछा सभी शुभ कुशल॥ ६ ॥
कोष, अयोध्या, सैन्य, सुहृद्-गण, सचिव-कुशल पूछा फिर उनसे।
दशरथ-वृत्त ज्ञात था उनको, अतः न पूछा उसको फिर से॥ ७ ॥
ऋषि-शरीर, यज्ञाग्नि, शिष्य, तरु, खगों, मृगों का कुशल-वृत्त फिर।
पूछा वहाँ, वसिष्ठ, भरत ने, भरद्वाज से विधिवत् सुचिर॥ ८ ॥
महा यशस्वी भरद्वाज वे, तब फिर सब है ठीक बताकर।
बोले पुनः भरत से, ऐसे राम-स्नेह के वश में आकर॥ ९ ॥
राज्य कर रहे हो न? यहाँ क्या आने का था कार्य तुम्हारा?।
कहो! क्योंकि है नहीं तुम्हारे प्रति, विशुद्ध अब हृदय हमारा॥ १० ॥
जिन आनन्दविवर्धन, रिपु-हर को कौसल्या ने जन्माया।
जिन्हें चिर समय को सभार्य, सह भ्राता वन को गया पठाया॥ ११ ॥
स्त्री-निमित्त आज्ञा दी जिनको नृपति महायश ने ही चौदह।
वर्षों का अब समय बिताओ! भ्राता, स्त्री-सह वन में ही रह॥ १२ ॥
उन निर्दोष राम - लक्ष्मण को जो है राज्य अकण्टक उत्तम।
उसे भोगने हेतु कर रहे हो क्या भरत! अनिष्ट - उपक्रम?॥ १३ ॥
दुख से भरत-नयन भर आये, भरद्वाज के यह कहने पर।
और अटपटी वाणी में वे बोले, ऋषि से उस अवसर पर॥ १४ ॥
मुझे आप ही ऐसा समझें! तो मैं भगवन्! आज गया मर।
मेरा दोष न इसमें, मुझसे वचन न बोलें! यह कठोरतर॥ १५ ॥

न चैतदिष्टं माता मे यदवोचन्मदन्तरे ।
नाहमेतेन तुष्टश्च न तद्वचनमाददे ॥ १६ ॥
अहं तु तं नरव्याघ्रमुपयातः प्रसादकः ।
प्रतिनेतुमयोध्यायां पादौ चास्याभिवन्दितुम् ॥ १७ ॥
तं मामेवंगतं मत्वा प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
शंस मे भगवन् रामः क्व सम्प्रति महीपतिः ॥ १८ ॥
वसिष्ठादिभिर्ऋत्विग्भिर्याचितो भगवांस्ततः ।
उवाच तं भरद्वाजः प्रसादाद् भरतं वचः ॥ १९ ॥
त्वय्येतत् पुरुषव्याघ्र युक्तं राघववंशजे ।
गुरुवृत्तिर्दमश्चैव साधूनां चानुयायिता ॥ २० ॥
जाने चैतन्मनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति ।
अपृच्छं त्वां तवात्यर्थं कीर्तिं समभिवर्धयन् ॥ २१ ॥
जाने च रामं धर्मज्ञं ससीतं सहलक्ष्मणम् ।
असौ वसति ते भ्राता चित्रकूटे महागिरौ ॥ २२ ॥
श्वस्तु गन्तासि तं देशं वसाद्य सह मन्त्रिभिः ।
एतं मे कुरु सुप्राज्ञ कामं कामार्थकोविद ॥ २३ ॥
ततस्तथेत्येवमुदारदर्शनः
प्रतीतरूपो भरतोऽब्रवीद् वचः ।
चकार बुद्धिं च तदाश्रमे तदा
निशानिवासाय नराधिपात्मजः ॥ २४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

एकनवतितमः सर्गः

भरद्वाज मुनि के द्वारा सेना-सहित भरत का दिव्य सत्कार

कृतबुद्धिं निवासाय तत्रैव स मुनिस्तदा ।
भरतं केकयीपुत्रमातिथ्येन न्यमन्त्रयत् ॥ १ ॥
अब्रवीद् भरतस्त्वेनं नन्विदं भवता कृतम् ।
पाद्यमर्घ्यमथातिथ्यं वने यदुपपद्यते ॥ २ ॥
अथोवाच भरद्वाजो भरतं प्रहसन्निव ।
जाने त्वां प्रीतिसंयुक्तं तुष्येस्त्वं येन केनचित् ॥ ३ ॥
सेनायास्तु तवैवास्याः कर्तुमिच्छामि भोजनम् ।
मम प्रीतिर्यथारूपा त्वमर्हो मनुजर्षभ ॥ ४ ॥

मेरी माँ ने कहा, किया जो, लेकर मेरी आड़ उस समय।
उससे मैं न तुष्ट हूँ, एवं किया न मातृ-वचन पर निश्चय ॥ १६ ॥
पुरुषसिंह श्रीराम-पदों का वन्दन करके उन्हें मनाने।
को मैं तो जाता हूँ उनको पुरी अयोध्या में लौटाने ॥ १७ ॥
इस विचार से आया, इससे भगवन्! मुझ पर कृपा बढ़ायें।
कहाँ इस समय राम महीपति हैं? कृपया यह मुझे बतायें ॥ १८ ॥
फिर वसिष्ठ ऋत्विज ने स्तुति की, निरपराध हैं भरत, क्षमें अब।
भरद्वाज भगवान् भरत पर, सुप्रसन्न होकर बोले तब ॥ १९ ॥
रघुवंशज हो पुरुषसिंह तुम! गुरुजन-सेवक दमनेन्द्रिय अति।
तुम जैसे, सज्जन-अनुयायी, के ये भाव उचित हैं सम्प्रति ॥ २० ॥
भाव तुम्हारे समझ, पूछता इसीलिए आये अति दृढ़ता।
और तुम्हारी दिव्य कीर्ति में, होवे दिन-दिन वत्स! प्रचुरता ॥ २१ ॥
सीता, लक्ष्मण-सहित धर्मविद् रामस्थल का मुझे भास है।
महाशैल अब चित्रकूट में ही तव भ्राता का निवास है ॥ २२ ॥
सुधी! अभीष्ट-पूर्तिकर! मेरी भी अभिलाषा पूर्ण करो! अब।
स-सचिव रहो! रात्रि-आश्रम में, यात्रा करना! हो प्रातः जब ॥ २३ ॥

भाव, स्वरूप आदि का जिनके, परिचय था मिल पाया
उन उदार-द्रष्टा को, ऋषि का कथन समझ में आया।
अच्छा कह, नृप-पुत्र भरत ने, स्वाकारी ऋषि-आज्ञा
और रात्रि-आश्रम-निवास का ही सुविचार बनाया ॥ २४ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में नब्बेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९० ॥

इक्यानबेवाँ सर्ग

भरद्वाज मुनि के द्वारा सेना-सहित भरत का दिव्य सत्कार

आश्रम में रहने का निश्चय, भरत कुँअर ने सुदृढ़ कर लिया।
तब आतिथ्य-निमन्त्रण ऋषि ने, कैकेयी के पुत्र को दिया ॥ १ ॥
कहा भरत ने पाद्य, अर्घ्य, फल, मूलादिक चीजों के द्वारा।
वन-सम्भव आतिथ्य आपने, मुने! कर दिया यह तो सारा ॥ २ ॥
हँसकर भरद्वाज बोले तब, भरत! जानता हूँ, मेरे प्रति।
प्रेम तुम्हारा है, इससे तुम, होगे तुष्ट इसी से सम्प्रति[1] ॥ ३ ॥
किन्तु तुम्हारी सेना को मैं चाह रहा, भोजन करवाऊँ।
अतः कार्य तुम नृवर! करो वह, जिससे मैं हर्षित हो पाऊँ ॥ ४ ॥

1 इस समय।

किमर्थं चापि निक्षिप्य दूरे बलमिहागतः।
कस्मान्नेहोपयातोऽसि सबलः पुरुषर्षभ॥ ५॥
भरतः प्रत्युवाचेदं प्राञ्जलिस्तं तपोधनम्।
न सैन्येनोपयातोऽस्मि भगवन् भगवद्भयात्॥ ६॥
राज्ञा हि भगवन् नित्यं राजपुत्रेण वा तथा।
यत्नतः परिहर्तव्या विषयेषु तपस्विनः॥ ७॥
वाजिमुख्या मनुष्याश्च मत्ताश्च वरवारणाः।
प्रच्छाद्य भगवन् भूमिं महतीमनुयान्ति माम्॥ ८॥
ते वृक्षानुदकं भूमिमाश्रमेषूटजांस्तथा।
न हिंस्युरिति तेनाहमेक एवागतस्ततः॥ ९॥
आनीयतामितः सेनेत्याज्ञप्तः परमर्षिणा।
तथानुचक्रे भरतः सेनायाः समुपागमम्॥ १०॥
अग्निशालां प्रविश्याथ पीत्वापः परिमृज्य च।
आतिथ्यस्य क्रियाहेतोर्विश्वकर्माणमाह्वयत्॥ ११॥
आह्वये विश्वकर्माणमहं त्वष्टारमेव च।
आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम्॥ १२॥
आह्वये लोकपालांस्त्रीन् देवान् शक्रपुरोगमान्।
आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम्॥ १३॥
प्राक्स्रोतसश्च या नद्यस्तिर्यक्स्रोतस एव च।
पृथिव्यामन्तरिक्षे च समायान्त्वद्य सर्वशः॥ १४॥
अन्याः स्रवन्तु मैरेयं सुरामन्याः सुनिष्ठिताम्।
अपराश्चोदकं शीतमिक्षुकाण्डरसोपमम्॥ १५॥
आह्वये देवगन्धर्वान् विश्वावसुहहाहुहून्।
तथैवाप्सरसो देवगन्धर्वैश्चापि सर्वशः॥ १६॥
घृताचीमथ विश्वाचीं मिश्रकेशीमलम्बुषाम्।
नागदन्तां च हेमां च सोमामद्रिकृतस्थलीम्॥ १७॥
शक्रं याश्चोपतिष्ठन्ति ब्रह्माणं याश्च भामिनीः।
सर्वास्तुम्बुरुणा सार्धमाह्वये सपरिच्छदाः॥ १८॥
वनं कुरुषु यद् दिव्यं वासोभूषणपत्रवत्।
दिव्यनारीफलं शश्वत् तत्कौबेरमिहैव तु॥ १९॥
इह मे भगवान् सोमो विधत्तामन्नमुत्तमम्।
भक्ष्यं भोज्यं च चोष्यं च लेह्यं च विविधं बहु॥ २०॥

पुरुष-प्रवर! अपनी सेना को इतनी दूर छोड़ क्यों आये?।
सेना को भी इस आश्रम में, क्यों न भला, तुम हो सँग लाये? ॥ ५ ॥
दिया भरत ने हाथ जोड़कर तभी तपोधन मुनि को उत्तर।
भगवन्! यहाँ न सेना लाया, क्योंकि आपका मुझको था डर॥ ६ ॥
नृप, नृप-सुत को, प्रभो! चाहिए, सब देशों में परम यत्न कर।
जाए तापस के आश्रम में, रख सेनादिक को सुदूरतर॥ ७ ॥
भगवन्, उत्तम अश्व, मनुज हैं, मेरे साथ मत्त बहु गज-पति।
जो मेरे पीछे चलते हैं, धरणि-भाग को छादित कर, अति॥ ८ ॥
आश्रम-तरु, जल, भूमि, करें वे नहीं पर्णशालाएँ खण्डित।
इसीलिए तो मैं आया हूँ उन सबसे हो करके वञ्चित॥ ९ ॥
उन महर्षि ने आज्ञा दी फिर, सेना को भी ले आओ! अब।
ऋषि-आज्ञा से वहाँ भरत ने, सेना को भी बुलवाया तब॥ १० ॥
जल से कर आचमन, पोंछकर ओंठ, अग्नि-शाला में जाकर।
उन ऋषि ने आतिथ्य हेतु तब, वहाँ विश्वकर्मा को ध्याकर॥ ११ ॥
कहा विश्वकर्मा त्वष्टा[1] का भरत-सैन्य-आतिथ्य-हेतु अब।
आवाहन कर रहा, अतः वे, आवश्यकता-पूर्ति करें सब॥ १२ ॥
इन्द्र-प्रमुख, यम, वरुण और वह श्री कुबेर-युत लोकपाल-त्रय।
सेना-सत्कृति-वस्तु[2] सभी दें, उन्हें बुलाता हूँ मैं निश्चय॥ १३ ॥
भू, अम्बर[3] में पूर्व, पश्चिमा नदियाँ जो हो रहीं प्रवाहित।
मैं उनको भी बुला रहा, वे करें सैन्य को आकर सत्कृत॥ १४ ॥
लायें, कुछ 'मैरेय' सुरा, जो भलीभाँति से हो अब निर्मित।
कुछ गन्ने के रस-सम रक्खें, शीतल मधुरिम जल सेना-हित॥ १५ ॥
मैं विश्वावसु, हा-हा, हू-हू, सुर-गन्धर्वों को भी ध्याता।
सभी अप्सराओं को भी, मैं साथ उन्हीं के यहाँ बुलाता॥ १६ ॥
तथा घृताची, विश्वाची हैं, मिश्रकेशि, हेमा आवाहित।
अहिदत्ता, अलम्बुषा, सोमा, गिरिकृतस्थली भी आमन्त्रित॥ १७ ॥
ब्रह्मा-सेवा-रता, इन्द्र की सभा-मध्य हैं जो महिलाएँ।
भूषण, गीत, नृत्य-उपकरणों से संयुत, तुम्बुरु-सँग आएँ॥ १८ ॥
दिव्याभूषण, वसन-पत्रमय, दिव्यनारि, फल का सु-चैत्रवन।
जो कुबेर-उद्यान सनातन, उसका भी करता आवाहन॥ १९ ॥
यहाँ सोम भगवान अतिथियों के हित भक्ष्य, भोज्य, अन्नादिक।
लेह्य[4], चोष्य[5] वस्तुएँ उत्तमा, करें उपस्थित अब अधिकाधिक॥ २० ॥

---

१ विश्वकर्मा; २ सेना के सत्कार के लिए सभी वस्तुएँ; ३ आकाश; ४ चटनी-अवलेह; ५ चूसनेवाले पदार्थ।

विचित्राणि च माल्यानि पादपप्रच्युतानि च।
सुरादीनि च पेयानि मांसानि विविधानि च॥ २१॥
एवं समाधिना युक्तस्तेजसाप्रतिमेन च।
शिक्षास्वरसमायुक्तं सुव्रतश्चाब्रवीन्मुनिः॥ २२॥

मनसा ध्यायतस्तस्य प्राङ्मुखस्य कृताञ्जलेः।
आजग्मुस्तानि सर्वाणि दैवतानि पृथक् पृथक्॥ २३॥
मलयं दर्दुरं चैव ततः स्वेदनुदोऽनिलः।
उपस्पृश्य ववौ युक्त्या सुप्रियात्मा सुखं शिवः॥ २४॥
ततोऽभ्यवर्षन्त घना दिव्याः कुसुमवृष्टयः।
देवदुन्दुभिघोषश्च दिक्षु सर्वासु शुश्रुवे॥ २५॥
प्रववुश्चोत्तमा वाता ननृतुश्चाप्सरोगणाः।
प्रजगुर्देवगन्धर्वा वीणाः प्रमुमुचुः स्वरान्॥ २६॥
स शब्दो द्यां च भूमिं च प्राणिनां श्रवणानि च।
विवेशोच्चावचः श्लक्ष्णः समो लयगुणान्वितः॥ २७॥

तस्मिन्नेवंगते शब्दे दिव्ये श्रोत्रसुखे नृणाम्।
ददर्श भारतं सैन्यं विधानं विश्वकर्मणः॥ २८॥
बभूव हि समा भूमिः समन्तात् पञ्चयोजनम्।
शाद्वलैर्बहुभिश्छन्ना नीलवैदूर्यसंनिभैः॥ २९॥
तस्मिन् विल्वाः कपित्थाश्च पनसा बीजपूरकाः।
आमलक्यो बभूवुश्च चूताश्च फलभूषिताः॥ ३०॥
उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्च वनं दिव्योपभोगवत्।
आजगाम नदी सौम्या तीरजैर्बहुभिर्वृता॥ ३१॥
चतुःशालानि शुभ्राणि शालाश्च गजवाजिनाम्।
हर्म्यप्रासादसंयुक्ततोरणानि शुभानि च॥ ३२॥
सितमेघनिभं चापि राजवेश्म सुतोरणम्।
शुक्लमाल्यकृताकारं दिव्यगन्धसमुक्षितम्॥ ३३॥
चतुरस्रमसम्बाधं शयनासनयानवत्।
दिव्यैः सर्वरसैर्युक्तं दिव्यभोजनवस्त्रवत्॥ ३४॥
उपकल्पितसर्वान्नं धौतनिर्मलभाजनम्।
क्लृप्तसर्वासनं श्रीमत्स्वास्तीर्णशयनोत्तमम्॥ ३५॥

प्रविवेश महाबाहुरनुज्ञातो महर्षिणा।
वेश्म तद् रत्नसम्पूर्णं भरतः केकयीसुतः॥ ३६॥

तत्क्षण तरु-च्युत[1] पेय मधुर मधु पुष्पफलों के गूदे भी सब।
करं सोम भगवान उपस्थित, विविध पदार्थ सैन्य के हित अब ॥ २१ ॥
ऋषि एकाग्रचित्त, सुव्रत ने शिक्षा, स्वर-युत कहे ये वचन।
उत्तम तेजोमयि वाणी में, उनका था तब यह आवाहन ॥ २२ ॥
हाथ जोड़, पूरब को मुख कर, करने लगे ध्यान वे मुनि जब।
एक-एक कर, सभी देवता, शीघ्र वहाँ पर आ पहुँचे तब ॥ २३ ॥
मलय और दर्दुर गिरि-गामी, पवन चला, प्रिय सुखद वहाँ तब।
मन्थर गति[2] से, जिससे तन का लगा सूखने स्वेद तभी सब ॥ २४ ॥
हुआ देव-दुन्दुभी-घोष फिर सभी दिशाएँ हुईं निनादित।
मेघों ने की पुष्प-वृष्टि शुभ, आश्रम हुआ सुगन्धाच्छादित ॥ २५ ॥
होने लगा अप्सरा नर्तन हुआ वायु संस्पर्श सुखदतर।
गान हुआ, सुर-गन्धर्वों का, फैला वीणा का मधुरिम स्वर ॥ २६ ॥
जन-जन कर्ण-कुहर, भू, नभ में मधु संगीत हुआ अनुगुंजित।
जो अवरोहारोह, ताल, लय, कोमल स्वर लहरी से अन्वित ॥ २७ ॥
मनुज-श्रवण-सुख-प्रद, संगीतस्वर था दिव्य वहाँ जब छाया।
तभी विश्वकर्मा-निर्मिति-गुण, सेना के दर्शन में आया ॥ २८ ॥
चारों ओर, पाँच योजन की, भूमि हुई आश्रम की समतल।
उस पर थे, वैदूर्य, नीलमणि के सम उपजे विविध दूब-दल ॥ २९ ॥
बिल्वामलक[3], कपित्थ[4], बिजौरा एवं कटहल से परिपूरित।
वृक्ष सभी आम्रादि फलों से युक्त हो रहे थे अति शोभित ॥ ३० ॥
दिव्य भोग-सामग्री-पूरित, आया उत्तर कुरु-ज चैत्रवन।
अति सुरम्य सरिताएँ आयीं जिनके तट पर थे तरु-शोभन ॥ ३१ ॥
चार-चार कमरोंयुत गृह, गज, अश्वस्थल भी हुए विनिर्मित।
सात मंजिले भवन अटारी, नगर-द्वार भी हुए सुशोभित ॥ ३२ ॥
राज-सदस्यों-हित सुन्दर थे शुभ्र मेघ-सम भवन दिव्यतम।
श्वेत पुष्प-युत, धूप-सुगन्धित, जल-सिञ्चित थे सदन समुत्तम ॥ ३३ ॥
था विस्तृत चौकोर भवन वह, शयनासन, वाहन-सुविधान्वित।
तथा दिव्य रस, भोजन एवं, बहुवसनों से था वह पूरित ॥ ३४ ॥
धुले, स्वच्छ थे पात्र वहाँ पर, था विविधान्न-खाद्य सब रुचिकर।
और बैठने को आसन थे, शयन हेतु शय्याएँ सुन्दर ॥ ३५ ॥
ऋषि-आज्ञापित महाबाहु वे भरत लाल कैकेयी के सुत।
प्रविशित हुए भवन में, जो था अति सुन्दर रत्नों से संयुत ॥ ३६ ॥

१ टपके, चूए हुए; २ धीरे-धीरे; ३ बेल और आँवला; ४ कैथा।

रामः संसाध्य ऋषिगणमनुगमनाद्
देशात् तस्मात् कुलपतिमभिवाद्य ऋषिम् ।
सम्यक्प्रीतैस्तैरनुमत उपदिष्टार्थः
पुण्यं वासाय स्वनिलयमुपसम्पेदे ॥ २५ ॥
आश्रममृषिविरहितं प्रभुः
क्षणमपि न जहौ स राघवः ।
राघवं हि सततमनुगता-
स्तापसाश्चार्षचरिते धृतगुणाः ॥ २६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षोडशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११६ ॥

सप्तदशाधिकशततमः सर्गः

श्रीराम आदि का अत्रि मुनि के आश्रम पर जाकर उनके द्वारा सत्कृत होना तथा अनसूया द्वारा सीता का सत्कार

राघवस्त्वपयातेषु सर्वेष्वनुविचिन्तयन् ।
न तत्रारोचयद् वासं कारणैर्बहुभिस्तदा ॥ १ ॥
इह मे भरतो दृष्टो मातरश्च सनागराः ।
सा च मे स्मृतिरन्वेति तान् नित्यमनुशोचतः ॥ २ ॥
स्कन्धावारनिवेशेन तेन तस्य महात्मनः ।
हयहस्तिकरीषैश्च उपमर्दः कृतो भृशम् ॥ ३ ॥
तस्मादन्यत्र गच्छाम इति संचिन्त्य राघवः ।
प्रातिष्ठत स वैदेह्या लक्ष्मणेन च संगतः ॥ ४ ॥
सोऽत्रेराश्रममासाद्य तं ववन्दे महायशाः ।
तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत् प्रत्यपद्यत ॥ ५ ॥
स्वयमातिथ्यमादिश्य सर्वमस्य सुसत्कृतम् ।
सौमित्रिं च महाभागं सीतां च समसान्त्वयत् ॥ ६ ॥
पत्नीं च तमनुप्राप्तां वृद्धामामन्त्र्य सत्कृताम् ।
सान्त्वयामास धर्मज्ञः सर्वभूतहिते रतः ॥ ७ ॥
अनसूयां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम् ।
प्रतिगृह्णीष्व वैदेहीमब्रवीदृषिसत्तमः ॥ ८ ॥
रामाय चाचचक्षे तां तापसीं धर्मचारिणीम् ।
दश वर्षाण्यनावृष्ट्या दग्धे लोके निरन्तरम् ॥ ९ ॥

राम वहाँ से गन्तुक[1] ऋषियों के पीछे हो प्रस्थित
उनको करके विदा, कुलेश्वर के प्रति होकर प्रणमित।
उनसे हो उपदिष्ट, मुदित हो अनुमति उनकी लेकर
शुचि-निवास हित निज आश्रम में, हुए लौटकर प्रविशित ॥ २५ ॥
ऋषि-विहीन आश्रम को त्यागा नहीं राम ने तब फिर
ऋषि-चरित्र थे वे, उनमें थे ऋषि-रक्षा-गुण सुरुचिर।
कुछ विश्वस्त तापसों ने यह मन में करके निश्चय
किया राम-अनुसरण, न छोड़ा आश्रम को, हो सुस्थिर ॥ २६ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
एक सौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११६ ॥

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग

श्रीराम आदि का अत्रि मुनि के आश्रम पर जाकर उनके द्वारा सत्कृत होना तथा अनसूया द्वारा सीता का सत्कार

बारम्बार राम ने ऋषियों के आने पर किया सु-चिन्तन।
फलतः विविध कारणों से फिर, लगा न उनका स्वयं वहाँ मन ॥ १ ॥
यहाँ, भरत, माताओं, पुर-जन लोगों से मिल चुका, सोच यह।
समझे वे, प्रतिदिन स्मृति उनकी, शोकित करती है मुझको वह ॥ २ ॥
भरत महात्मा की सेना का जो पड़ाव था पड़ा यहाँ पर।
उससे, अश्व, गजों की लीदों से है भू अपवित्र अधिकतर ॥ ३ ॥
अतः यहाँ से चले जायँ हम सभी इस तरह करके निश्चय।
हुए राम, सीता-लक्ष्मण के संग वहाँ से सत्वर प्रस्थित ॥ ४ ॥
गये महायश राम, अत्रि के आश्रम, किया उन्हें फिर प्रणमन।
फिर भगवान् अत्रि ने उनको अपनाया, हो सुत-स्नेहिल[2] मन ॥ ५ ॥
तथा उन्होंने स्वयं राम का सभी अतिथि-सत्कार पूर्णकर।
महाभाग लक्ष्मण सीता को, किया तुष्ट आदृत अति सत्वर ॥ ६ ॥
समागता वृद्धा सु-सत्कृता निज पत्नी को पास बुलाकर।
उन्हें सान्त्वना दे, जग-प्राणी-हित-रत धर्मज्ञानि मुनीश्वर ॥ ७ ॥
बोले, धर्मरते अनसूये! महा-महाभागे! तुम जाओ।
देवि! शीघ्र वैदेही सीता को सत्कृत कर हृदय लगाओ ॥ ८ ॥
धर्मचारिणी, तपस्विनी के परिचय में बोले वे ऋषिवर।
राम! हुई जग-दग्धकारिणी, अनावृष्टि[3] दस वर्ष निरन्तर ॥ ९ ॥

---

१ जानेवाले; २ पुत्र के प्रति स्नेह जैसा; ३ वर्षा का अभाव।

यया मूलफले सृष्टे जाह्नवी च प्रवर्तिता ।
उग्रेण तपसा युक्ता नियमैश्चाप्यलंकृता ॥ १० ॥
दश वर्षसहस्राणि यया तप्तं महत् तपः ।
अनसूयाव्रतैस्तात प्रत्यूहाश्च निबर्हिताः ॥ ११ ॥
देवकार्यनिमित्तं च यया संत्वरमाणया ।
दशरात्रं कृता रात्रिः सेयं मातेव तेऽनघ ॥ १२ ॥
तामिमां सर्वभूतानां नमस्कार्यां तपस्विनीम् ।
अभिगच्छतु वैदेही वृद्धामक्रोधनां सदा ॥ १३ ॥
एवं ब्रुवाणं तमृषिं तथेत्युक्त्वा स राघवः ।
सीतामालोक्य धर्मज्ञामिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥
राजपुत्रि श्रुतं त्वेतन्मुनेरस्य समीरितम् ।
श्रेयोऽर्थमात्मनः शीघ्रमभिगच्छ तपस्विनीम् ॥ १५ ॥
अनसूयेति या लोके कर्मभिः ख्यातिमागता ।
तां शीघ्रमभिगच्छ त्वमभिगम्यां तपस्विनीम् ॥ १६ ॥
सीता त्वेतद् वचः श्रुत्वा राघवस्य यशस्विनी ।
तामत्रिपत्नीं धर्मज्ञामभिचक्राम मैथिली ॥ १७ ॥
शिथिलां वलितां वृद्धां जरापाण्डुरमूर्धजाम् ।
सततं वेपमानाङ्गीं प्रवाते कदलीमिव ॥ १८ ॥
तां तु सीता महाभागामनसूयां पतिव्रताम् ।
अभ्यवादयदव्यग्रा स्वं नाम समुदाहरत् ॥ १९ ॥
अभिवाद्य च वैदेही तापसीं तां दमान्विताम् ।
बद्धाञ्जलिपुटा हृष्टा पर्यपृच्छदनामयम् ॥ २० ॥
ततः सीतां महाभागां दृष्ट्वा तां धर्मचारिणीम् ।
सान्त्वयन्त्यब्रवीद् वृद्धा दिष्ट्या धर्ममवेक्षसे ॥ २१ ॥
त्यक्त्वा ज्ञातिजनं सीते मानवृद्धिं च मानिनि ।
अवरुद्धं वने रामं दिष्ट्या त्वमनुगच्छसि ॥ २२ ॥
नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः ।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः ॥ २३ ॥
दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः ।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥ २४ ॥
नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम् ।
सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपःकृतमिवाव्ययम् ॥ २५ ॥

तब ये ही निज उग्र तपस्या-नियम, व्रतों से हो समलंकृत।
ला पाईं गंगा को, जग को कर पाईं फल - मूल-समन्वित ॥ १० ॥
दस सहस्र वर्षों तक सु-महत् किया इन्होंने ही तप धारण।
तथा तात ! इन अनसूया ने किया सकल ऋषि-विघ्न-निवारण ॥ ११ ॥
अनघ राम ! ये देव-कार्य-हित दस रातों को एक रात-सम।
उत्सुक हो, करनेवाली हैं, अनसूया तव मातृ - समोत्तम ॥ १२ ॥
प्राणिमात्र-वन्द्या, तपस्विनी, ये हैं अक्रोधा, सु-पुनीता।
इन वृद्धा अनुसूया के अब निकट जायँ वैदेही सीता ॥ १३ ॥
ऐसा कहते ऋषि से, अतिशय अच्छा कहकर के श्री रघुवर।
धर्मज्ञा सीता से बोले, यह वार्ता, तब उन्हें देखकर ॥ १४ ॥
नृपति-सुते ! तुमने मुनि-वचनों को सुन लिया सर्वथा रुचिकर।
निकट तपस्विनि के जाओ ! तुम निज कल्याण-हेतु अब सत्वर ॥ १५ ॥
जो जग में निज सत्कर्मों से हैं अनसूया-नाम-ख्यात अति।
जाओ शीघ्र, तापसी वे हैं, आश्रय-योग्य तुम्हारे सम्प्रति ॥ १६ ॥
सीता यशस्विनी मिथिलेश्वर-सुता राम की वार्ता सुनकर।
गईं धर्म-विदुषी अनसूया ऋषि-पत्नी के निकट शीघ्रतर ॥ १७ ॥
सिर के बाल सफेद, वृद्ध थीं, शिथिल, झुर्रियों से पूरित तन।
वायु-वेग से उनके अंगों में था कदली-तरु-सा[1] कम्पन ॥ १८ ॥
शान्त-भाव से सीता ने निज नाम, पास जा, उन्हें बताया।
और महाभागा अनसूया पतिव्रता को शीश झुकाया ॥ १९ ॥
उन संयमिनी तपस्विनी को हर्षित हो, करके प्रणाम फिर।
हाथ जोड़, पूछे वैदेही ने शुभ कुशल-वृत्त सब सु-रुचिर ॥ २० ॥
धर्मचारिणी अतिभागा उन सीता को तब पास देखकर।
स-सान्त्वना बोलीं वृद्धा वे अति सुभाग्य, हो धर्म-मार्ग पर ॥ २१ ॥
भामिनि सीते ! बान्धव-द्वारा प्राप्त मान को त्याग, विपिन-प्रति।
आज्ञापित अनुसरण राम का करती हो, यह है सुभाग्य अति ॥ २२ ॥
भला-बुरा नागरिक ग्राम्य वा निज पति होता है जिनको प्रिय।
लोक-महोदय[2] उन्हीं नारियों को मिल पाते है अति निश्चय ॥ २३ ॥
धन-विहीन, कुत्सित स्वभाव का या हो भर्ता स्वेच्छाचारी।
उसको भी देवता मानती उच्च स्वभावा उत्तम नारी ॥ २४ ॥
मुझे नहीं वैदेहि ! बन्धु, पति-सदृश अन्य चिन्तन में आता।
निज अव्यय[3] तप-फल-सम वह ही है परलोक, लोक-सुखदाता ॥ २५ ॥

१ केले के वृक्षों के समान; २ अभ्युदयशाली लोक; ३ समाप्त न होनेवाला।

न त्वेवमनुगच्छन्ति गुणदोषमसत्स्त्रियः ।
कामवक्तव्यहृदया भर्तृनाथाश्चरन्ति याः ॥ २६ ॥
प्राप्नुवन्त्ययशश्चैव धर्मभ्रंशं च मैथिलि ।
अकार्यवशमापन्नाः स्त्रियो याः खलु तद्विधाः ॥ २७ ॥
त्वद्विधास्तु गुणैर्युक्ता दृष्टलोकपरावराः ।
स्त्रियः स्वर्गे चरिष्यन्ति यथा पुण्यकृतस्तथा ॥ २८ ॥
तदेवमेतं त्वमनुव्रता सती
पतिप्रधाना समयानुवर्तिनी ।
भव स्वभर्तुः सहधर्मचारिणी
यशश्च धर्मं च ततः समाप्स्यसि ॥ २९ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे
सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमः सर्गः

सीता-अनसूया-संवाद, अनसूया का सीता को प्रेमोपहार देना तथा अनसूया के पूछने पर सीता का उन्हें अपने स्वयंवर की कथा सुनाना

सा त्वेवमुक्ता वैदेही त्वनसूयानसूयया ।
प्रतिपूज्य वचो मन्दं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥
नैतदाश्चर्यमार्यायां यन्मां त्वमनुभाषसे ।
विदितं तु ममाप्येतद् यथा नार्याः पतिर्गुरुः ॥ २ ॥
यद्यप्येष भवेद् भर्ता अनार्यो वृत्तिवर्जितः ।
अद्वैधमत्र वर्तव्यं तथाप्येष मया भवेत् ॥ ३ ॥
किं पुनर्यो गुणश्लाघ्यः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ।
स्थिरानुरागो धर्मात्मा मातृवत्पितृवत्प्रियः ॥ ४ ॥
यां वृत्तिं वर्तते रामः कौसल्यायां महाबलः ।
तामेव नृपनारीणामन्यासामपि वर्तते ॥ ५ ॥
सकृद् दृष्टास्वपि स्त्रीषु नृपेण नृपवत्सलः ।
मातृवद् वर्तते वीरो मानमुत्सृज्य धर्मवित् ॥ ६ ॥
आगच्छन्त्याश्च विजनं वनमेवं भयावहम् ।
समाहितं हि मे श्वश्र्वा हृदये यत् स्थिरं मम ॥ ७ ॥
पाणिप्रदानकाले च यत् पुरा त्वग्निसंनिधौ ।
अनुशिष्टं जनन्या मे वाक्यं तदपि मे धृतम् ॥ ८ ॥

कामाधीना स्वपति-शासिका[1], जो न कर रहीं स्वपति-अनुसरण।
वही स्त्रियाँ गुण, दोष-अविज्ञा स्वेच्छा से करतीं है विचरण॥ २६॥
होतीं धर्म-भ्रष्ट मैथिलि वे स्त्रियाँ कर्म ऐसे अनुचित कर।
अपयश-प्राप्ति उन्हें होती है, सभी ओर से इस जगती पर॥ २७॥
किन्तु लोक-परलोकज्ञा जो तुम-सी गुणी सुपुण्यकर्म-रत।
महिलाएँ ही कर पाएँगी स्वर्गलोक में विचरण अक्षत॥ २८॥
इससे सती-धर्म को पालो! रह, पति-सेवा-तत्पर
पति को प्रमुख देवता मानो! नित सहधर्मिणि बनकर।
करो सदा अनुसरण उन्हीं का तुम सदैव प्रिय सीते!
ऐसे होगी प्राप्ति तुम्हें यश, धर्म आदि को सुखकर॥ २९॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में एक सौ सत्रहवाँ सर्ग समाप्त॥ ११७॥

एक सौ अठारहवाँ सर्ग

सीता-अनसूया-संवाद, अनसूया का सीता को प्रेमोपहार देना तथा अनसूया के पूछने पर सीता का उन्हें अपने स्वयंवर की कथा सुनाना

दोष-दृष्टि-रहिता वैदेही अनसूया के यह कहने पर।
पूजा, परम प्रशंसा उनकी कर, धीरे से बोलीं मृदुतर॥ १॥
आप-सदृश आर्या-मुख से है. कथन न यह आश्चर्य दिखाता।
आप-कथन-अनुकूल मुझे भी पति गुरु सदा समझ में आता॥ २॥
हों अनार्य निर्धन मेरे पति तो भी दुविधा-हीना होकर।
सदा रहूँगी मैं उनकी ही सेवा-सुश्रूषा में तत्पर॥ ३॥
वे तो फिर गुण-श्लाघ्य[2], दयामय, मात-पिता-सम प्रिय विजितेन्द्रिय।
धर्मात्मा, स्थिर, अनुरागी हैं अतः क्यों न हों मुझे परमप्रिय?॥ ४॥
राम महाबल भाव जिस तरह रखते निज माँ कौसल्या-प्रति।
वह ही नृप की अन्य रानियों के प्रति रखते हैं सुन्दर अति॥ ५॥
एक बार भी, प्रेम-दृष्टि से देख चुके जिस स्त्री को नृपवर।
वीर धर्मविद नृप प्रिय समझे माँ ही उसको मान त्यागकर॥ ६॥
जब जन-हीन भयानक वन में, आने लगी साथ रघुवर के।
तब के सास-दत्त उपदेशों को रक्खे हूँ रक्षित करके॥ ७॥
मेरी माता ने शिक्षा दी, अग्नि-निकट जो पाणि-ग्रहण[3] पर।
अच्छी तरह याद मुझको हैं, वे भी निश्चय अक्षर-अक्षर॥ ८॥

---

१ पति पर शासन करनेवाली; २ प्रशंसनीय गुणोंवाले; ३ विवाह के समय।

न विस्मृतं तु मे सर्वं वाक्यैः स्वैर्धर्मचारिणि।
पतिशुश्रूषणान्नार्यास्तपो नान्यद् विधीयते ॥ ९ ॥
सावित्री पतिशुश्रूषां कृत्वा स्वर्गे महीयते।
तथावृत्तिश्च याता त्वं पतिशुश्रूषया दिवम् ॥ १० ॥
वरिष्ठा सर्वनारीणामेषा च दिवि देवता।
रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्तमपि दृश्यते ॥ ११ ॥
एवंविधाश्च प्रवराः स्त्रियो भर्तृदृढव्रताः।
देवलोके महीयन्ते पुण्येन स्वेन कर्मणा ॥ १२ ॥
ततोऽनसूया संहृष्टा श्रुत्वोक्तं सीतया वचः।
शिरसाऽऽघ्राय चोवाच मैथिलीं हर्षयन्त्युत ॥ १३ ॥
नियमैर्विविधैराप्तं तपो हि महदस्ति मे।
तत् संश्रित्य बलं सीते छन्दये त्वां शुचिव्रते ॥ १४ ॥
उपपन्नं च युक्तं च वचनं तव मैथिलि।
प्रीता चास्म्युचितां सीते करवाणि प्रियं च किम् ॥ १५ ॥
तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा विस्मिता मन्दविस्मया।
कृतमित्यब्रवीत् सीता तपोबलसमन्विताम् ॥ १६ ॥
सा त्वेवमुक्ता धर्मज्ञा तया प्रीततराभवत्।
सफलं च प्रहर्षं ते हन्त सीते करोम्यहम् ॥ १७ ॥
इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च।
अङ्गरागं च वैदेहि महार्हमनुलेपनम् ॥ १८ ॥
मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत्।
अनुरूपमसंक्लिष्टं नित्यमेव भविष्यति ॥ १९ ॥
अङ्गरागेण दिव्येन लिप्ताङ्गी जनकात्मजे।
शोभयिष्यसि भर्तारं यथा श्रीर्विष्णुमव्ययम् ॥ २० ॥
सा वस्त्रमङ्गरागं च भूषणानि स्रजस्तथा।
मैथिली प्रतिजग्राह प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥ २१ ॥
प्रतिगृह्य च तत् सीता प्रीतिदानं यशस्विनी।
श्लिष्टाञ्जलिपुटा धीरा समुपास्त तपोधनाम् ॥ २२ ॥
तथा सीतामुपासीनामनसूया दृढव्रता।
वचनं प्रष्टुमारेभे कथां कांचिदनुप्रियाम् ॥ २३ ॥
स्वयंवरे किल प्राप्ता त्वमनेन यशस्विना।
राघवेणेति मे सीते कथा श्रुतिमुपागता ॥ २४ ॥

तथा धर्मचारिणि ! स्वजनों ने जो उपदेश दिये थे कहकर।
वे भी स्मृत हैं, अन्य नही तप, स्त्री-हित पति-सेवा को तजकर ॥ ९ ॥
स्वर्ग-सु-पूज्या सावित्री हैं सत्यवान पति-सेवा द्वारा।
स्वर्ग-स्थान पा गईं तत्समा, आप स्वपति-सेवा-समुदारा ॥ १० ॥
महिलोत्तमा स्वर्ग की देवी, निज पति शशि-सेवा-प्रभाव से।
अलग न होती हैं मुहूर्त को, कभी रोहिणी स्वपति-पास से ॥ ११ ॥
दृढ़तापूर्वक अन्य नारियाँ पातिव्रत्य धर्म-पालन कर।
निज सु-पुण्य से, देवलोक में आदर पातीं सदा श्रेष्ठतर ॥ १२ ॥
हर्ष हुआ, अनसूया को तब, सीता के ये वचन श्रवण कर।
सूँघ मैथिली का मस्तक वे बोलीं तब अति हर्षित होकर ॥ १३ ॥
शुचिव्रते सीते ! मैंने है किया विविध नियमों का पालन।
उस तप-बल-आश्रित कहती मैं, माँगो वर, अब हो जैसा मन ॥ १४ ॥
मैथिलि सीते ! उक्ति-समुत्तम, वचन तुम्हारे सुन, हूँ तुष्टा।
कार्य तुम्हारा करूँ कौन सा ? अतः बताओ ! होकर हृष्टा[1] ॥ १५ ॥
यह सुन, विस्मित सीता बोलीं, तपोबलान्वित अनसूया से।
मुसकाकर, कर दिया आपने सब कुछ तो निज कथन-क्रिया[2] से ॥ १६ ॥
सीता के निर्लोभ-वचन से वे धर्मज्ञा होकर हर्षित।
बोलीं, कार्य करूँगी सीते ! लोभ-हीनता से हो कर्षित ॥ १७ ॥
दिव्यहार, सुन्दर आभूषण एवं अति बहुमूल्य ये वसन।
अंगराग वैदेहि ! दिव्य यह, ये बहुमूल्य सुखद अनुलेपन ॥ १८ ॥
मेरे द्वारा दत्त वस्तुएँ गात्र करेंगी सीते ! शोभित।
हो प्रयुक्त ये, योग्य तुम्हारे, सदा रहेंगी दोष-विवर्जित[3] ॥ १९ ॥
पावन अंगराग-लिप्ता तुम, जनक-सुते ! निज पति को ऐसे।
शोभा दोगी, अविनश्वर निज पति श्री हरि को लक्ष्मी जैसे ॥ २० ॥
माला, भूषण, अंगराग, सद्वसन आदि प्रतिदान समुत्तम।
सभी मैथिली ने स्वीकारे समझ उन्हें उपहार महत्तम ॥ २१ ॥
ले करके प्रेमोपहार वे, धीर, यशस्विनि सीता हर्षित।
हाथ जोड़कर तपोधना की, सेवा में हो गईं उपस्थित ॥ २२ ॥
दृढ़व्रता अनसूया ने उन सीता से, जो थीं निकटस्थित।
प्रश्न-वार्तारम्भ कर दिया, कुछ प्रिय कथा सुनाने के हित ॥ २३ ॥
सीते ! तुम्हें स्वयंवर में इन राम यशस्वी ने है पाया।
यह सु-दिव्य वृत्तान्त सर्वथा है मेरे सुनने में आया ॥ २४ ॥

---

१ प्रसन्नमन; २ जो कह रही हैं, वह सब कर दिया; ३ दोषों से रहित।

तां कथां श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण च मैथिलि।
यथाभूतं च कार्त्स्न्येन तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ २५ ॥
एवमुक्ता तु सा सीता तापसीं धर्मचारिणीम्।
श्रूयतामिति चोक्त्वा वै कथयामास तां कथाम् ॥ २६ ॥
मिथिलाधिपतिर्वीरो जनको नाम धर्मवित्।
क्षत्रकर्मण्यभिरतो न्यायतः शास्ति मेदिनीम् ॥ २७ ॥
तस्य लाङ्गलहस्तस्य कृषतः क्षेत्रमण्डलम्।
अहं किलोत्थिता भित्त्वा जगतीं नृपतेः सुता ॥ २८ ॥
स मां दृष्ट्वा नरपतिर्मुष्टिविक्षेपतत्परः।
पांसुगुण्ठितसर्वाङ्गीं विस्मितो जनकोऽभवत् ॥ २९ ॥
अनपत्येन च स्नेहादङ्कमारोप्य च स्वयम्।
ममेयं तनयेत्युक्त्वा स्नेहो मयि निपातितः ॥ ३० ॥
अन्तरिक्षे च वागुक्ता प्रतिमामानुषी किल।
एवमेतन्नरपते धर्मेण तनया तव ॥ ३१ ॥
ततः प्रहृष्टो धर्मात्मा पिता मे मिथिलाधिपः।
अवाप्तो विपुलामृद्धिं मामवाप्य नराधिपः ॥ ३२ ॥
दत्ता चास्मीष्टवद्देव्यै ज्येष्ठायै पुण्यकर्मणे।
तया सम्भाविता चास्मि स्निग्धया मातृसौहृदात् ॥ ३३ ॥
पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता।
चिन्तामभ्यगमद् दीनो वित्तनाशादिवाधनः ॥ ३४ ॥
सदृशाच्चापकृष्टाच्च लोके कन्यापिता जनात्।
प्रधर्षणमवाप्नोति शक्रेणापि समो भुवि ॥ ३५ ॥
तां धर्षणामदूरस्थां संदृश्यात्मनि पार्थिवः।
चिन्तार्णवगतः पारं नाससादाप्लवो यथा ॥ ३६ ॥
अयोनिजां हि मां ज्ञात्वा नाध्यगच्छत् स चिन्तयन्।
सदृशं चाभिरूपं च महीपालः पतिं मम ॥ ३७ ॥
तस्य बुद्धिरियं जाता चिन्तयानस्य संततम्।
स्वयंवरं तनूजायाः करिष्यामीति धर्मतः ॥ ३८ ॥
महायज्ञे तदा तस्य वरुणेन महात्मना।
दत्तं धनुर्वरं प्रीत्या तूणी चाक्षय्यसायकौ ॥ ३९ ॥
असंचाल्यं मनुष्यैश्च यत्नेनापि च गौरवात्।
तन्न शक्ता नमयितुं स्वप्नेष्वपि नराधिपाः ॥ ४० ॥

सुनना चाह रही मैं मैथिलि ! मधुर कथा वह तुमसे, क्रम से ।
अतः जिस तरह हुआ वहाँ पर कहो ! पूर्णतः वह अब हमसे ॥ २५ ॥
धर्मचारिणी, तपस्विनी से सीता ने यह आज्ञा पाकर ।
कथारम्भ कर दिया, सुनें माँ ! इस प्रकार कहकर, समझाकर ॥ २६ ॥
जनक नाम से ख्यात[1] धर्मविद, हैं मिथिलापति वीर नृपतिवर ।
क्षात्र - कर्म - अनुसार न्यायतः हैं वे पृथ्वी - पालन - तत्पर ॥ २७ ॥
कभी यज्ञ के हेतु क्षेत्र वे जोत रहे थे हल ले, कर में ।
इसी समय मैं प्रकट हो गयी भू-भेदन करके क्षण भर में ॥ २८ ॥
नृप जब औषधि मुट्ठी में भर बोते थे, तब मुझे देखकर ।
विस्मित हुए, धूलि में लिपटे अंगोंवाली, वहाँ नरेश्वर ॥ २९ ॥
सन्तति-हीन भूप ने मुझको स्वयं स्नेह-बश गोद ले लिया ।
एवं सुता मानकर मुझमें अपना मानस-स्नेह भर दिया ॥ ३० ॥
हुई नभोवाणी तब, मानव - भाषा में दिव्यातिदिव्य अति ।
वह बोली, नृप ठीक कह रहे यह है धर्म-सुता, तव सम्प्रति ॥ ३१ ॥
यह सुनकर, धर्मात्मा मिथिलापति तब हुए अत्यधिक हर्षित ।
मुझे प्राप्त कर नृप ने मानों पा ली महासमृद्धि सुनिश्चित ॥ ३२ ॥
ज्येष्ठ पुण्य-कर्मिणि रानी को किया उन्होंने मुझे समर्पित ।
स्निग्ध मातृ सौहार्द्रा रानी से मैं तथा हुई प्रतिपालित ॥ ३३ ॥
फिर विवाह के योग्य देख नृप, मुझे, लगे करने अति चिन्तन ।
जैसे कोई दीन व्यक्ति हो, नष्ट हुआ जिसका अर्जित धन ॥ ३४ ॥
इन्द्र-तुल्य भी जग में कन्या-पिता सदा वर-पक्ष विमानित[2] ।
होता आया, चाहे वह हो, उससे छोटा या सम्मानित ॥ ३५ ॥
निकट देख अपमानस्थिति को, डूबे नृप चिन्ता-सागर में ।
एवं नौका-रहित व्यक्ति-सम पहुँच न पाये, पारस्थल[3] में ॥ ३६ ॥
मेरे लिए परम सुन्दर पति लगे चाहने वे भूपतिवर ।
अयोनिजा[4], जो थी मैं इससे आ न सके वे कुछ निश्चय पर ॥ ३७ ॥
चिन्तित उन नृप के मानस में यह विचार आया फिर सुन्दर ।
मैं सु-धर्मतः निज पुत्री का शीघ्र करूँगा सुखद स्वयंवर ॥ ३८ ॥
उन्हीं दिनों फिर महायज्ञ में वरुण महात्मा ने हो प्रमुदित ।
उन्हें श्रेष्ठतम धनुष दिया था, एवं तरकस बहु शर-अन्वित ॥ ३९ ॥
परम यत्न कर भी न मनुजगण उसे हिला पाता था निश्चय ।
उसे झुकाने में पृथ्वीपति थे असमर्थ सभी तब अतिशय ॥ ४० ॥

---

१ प्रसिद्ध। २ सम्मान नहीं पाता। ३ संकट से पार न हो पाये; ४ बिना योनि से उत्पन्न ।

तद्धनुः प्राप्य मे पित्रा व्याहृतं सत्यवादिना ।
समवाये नरेन्द्राणां पूर्वमामन्त्र्य पार्थिवान् ॥ ४१ ॥
इदं च धनुरुद्यम्य सज्यं यः कुरुते नरः ।
तस्य मे दुहिता भार्या भविष्यति न संशयः ॥ ४२ ॥
तच्च दृष्ट्वा धनुःश्रेष्ठं गौरवाद् गिरिसंनिभम् ।
अभिवाद्य नृपा जग्मुरशक्तास्तस्य तोलने ॥ ४३ ॥
सुदीर्घस्य तु कालस्य राघवोऽयं महाद्युतिः ।
विश्वामित्रेण सहितो यज्ञं द्रष्टुं समागतः ॥ ४४ ॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामः सत्यपराक्रमः ।
विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा मम पित्रा सुपूजितः ॥ ४५ ॥
प्रोवाच पितरं तत्र राघवौ रामलक्ष्मणौ ।
सुतौ दशरथस्येमौ धनुर्दर्शनकाङ्क्षणौ ।
धनुर्दर्शय रामाय राजपुत्राय दैविकम् ॥ ४६ ॥
इत्युक्तस्तेन विप्रेण तद् धनुः समुपानयत् ।
तद् धनुर्दर्शयामास राजपुत्राय दैविकम् ॥ ४७ ॥
निमेषान्तरमात्रेण तदानम्य महाबलः ।
ज्यां समारोप्य झटिति पूरयामास वीर्यवान् ॥ ४८ ॥
तेनापूरयता वेगान्मध्ये भग्नं द्विधा धनुः ।
तस्य शब्दोऽभवद् भीमः पतितस्याशनेर्यथा ॥ ४९ ॥
ततोऽहं तत्र रामाय पित्रा सत्याभिसंधिना ।
उद्यता दातुमुद्यम्य जलभाजनमुत्तमम् ॥ ५० ॥
दीयमानां न तु तदा प्रतिजग्राह राघवः ।
अविज्ञाय पितुश्छन्दमयोध्याधिपतेः प्रभोः ॥ ५१ ॥
ततः श्वशुरमामन्त्र्य वृद्धं दशरथं नृपम् ।
मम पित्रा त्वहं दत्ता रामाय विदितात्मने ॥ ५२ ॥
मम चैवानुजा साध्वी ऊर्मिला शुभदर्शना ।
भार्यार्थे लक्ष्मणस्यापि दत्ता पित्रा मम स्वयम् ॥ ५३ ॥
एवं दत्तास्मि रामाय तथा तस्मिन् स्वयंवरे ।
अनुरक्तास्मि धर्मेण पतिं वीर्यवतां वरम् ॥ ५४ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११८ ॥

पा करके वह धनुष पिता ने, भूपालों को कर आमन्त्रित।
कही सत्यवादी ने तब, फिर, नृप-समूह में बात, हृदय-स्थित ॥ ४१ ॥
जो नृप धनुष उठा, प्रत्यञ्चा उसकी देगा चढ़ा उस समय।
मेरी पुत्री सीता उसकी पत्नी होगी, यह निःसंशय ॥ ४२ ॥
निज गुरुता से श्रेष्ठ धनुष को, देख, शैल-सम आगत नृपवर।
उसे उठाने में अक्षम[1] हो, लौटे, उसको फिर प्रणाम कर ॥ ४३ ॥
दीर्घ समय के बाद, वहाँ फिर, अति तेजस्वी ये श्री राघव।
विश्वामित्र-साथ में आये वहाँ देखने यज्ञ-महोत्सव ॥ ४४ ॥
सत्यपराक्रमि राम, वहाँ थे, निज प्रिय लक्ष्मण बन्धु के सहित।
मेरे पिता सु-धर्मात्मा से, विश्वामित्र हुए परिपूजित ॥ ४५ ॥
वहाँ पिता से मुनि बोले तब, ये दशरथ-सुत राम स-लक्ष्मण।
इच्छुक हैं अत्यन्त, आपके धनुष देखने को, नृप! इस क्षण ॥
दैवी धनुष आप! अपना वह, इससे नृपवर यहाँ मँगायें।
(तथा नृपति-सुत रामचन्द्र को, इस अवसर पर शीघ्र दिखायें) ॥ ४६ ॥
वहाँ पिता ने विप्र-वचन सुन शीघ्र उस धनुष को मँगवाया।
और नृपति-सुत रामचन्द्र को, तब वह दैवी धनुष दिखाया ॥ ४७ ॥
महाबली ने निमिष मात्र में, धनु-प्रत्यञ्चा की आरोपित।
परम विक्रमी ने उसको फिर, किया कान तक अपने कर्षित ॥ ४८ ॥
धनुष-खण्ड द्वय हुआ वेग से, उनके कर्षण के अवसर पर।
उसके खण्डन-समय वज्र के पतन-सदृश था शब्द भयंकर ॥ ४९ ॥
सत्य-प्रतिज्ञ पिता ने मेरे, तब लेकर जल-पात्र समुत्तम।
करने लगे राम के कर में मुझको देने का शुभ उद्यम ॥ ५० ॥
जाने बिना अयोध्यापति निज पिता-अभिप्रायों को उस क्षण।
मुझे जनक के देने पर भी, नहीं राम ने किया तब ग्रहण ॥ ५१ ॥
मेरे वृद्ध श्वसुर नृप दशरथ की अनुमति लेकर तदनन्तर।
आत्मज्ञाति राम को मेरा दान पिता ने किया शीघ्रतर ॥ ५२ ॥
मेरी अनुजा परम सुन्दरी साध्वी सुता उर्मिला का कर।
लक्ष्मण-कर में दिया पिता ने, भार्या के स्वरूप में सत्वर ॥ ५३ ॥
दिया पिता ने राम-हस्त में मुझे स्वयंवर में ऐसे फिर।
बली प्रवर में रहती हूँ मैं, हो अनुरक्त धर्म से सु-स्थिर ॥ ५४ ॥

॥ श्रीवाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में एक सौ अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११८ ॥

1 असमर्थ।

एकोनविंशत्यधिकशततमः सर्गः

अनसूया की आज्ञा से सीता का उनके दिये हुए वस्त्राभूषणों को धारण करके श्रीराम जी के पास आना तथा श्रीराम आदि का रात्रि में आश्रम पर रहकर प्रातःकाल अन्यत्र जाने के लिए ऋषियों से विदा लेना

अनसूया तु धर्मज्ञा श्रुत्वा तां महतीं कथाम्।
पर्यष्वजत बाहुभ्यां शिरस्याघ्राय मैथिलीम्॥ १॥
व्यक्ताक्षरपदं चित्रं भाषितं मधुरं त्वया।
यथा स्वयंवरं वृत्तं तत् सर्वं च श्रुतं मया॥ २॥
रमेयं कथया ते तु दृढं मधुरभाषिणि।
रविरस्तं गतः श्रीमानुपोह्य रजनीं शुभाम्॥ ३॥
दिवसं परिकीर्णानामाहारार्थं पतत्रिणाम्।
संध्याकाले निलीनानां निद्रार्थं श्रूयते ध्वनिः॥ ४॥
एते चाप्यभिषेकार्द्रा मुनयः कलशोद्यताः।
सहिता उपवर्तन्ते सलिलाप्लुतवल्कलाः॥ ५॥
अग्निहोत्रे च ऋषिणा हुते च विधिपूर्वकम्।
कपोताङ्गारुणो धूमो दृश्यते पवनोद्धतः॥ ६॥
अल्पवर्णा हि तरवो घनीभूताः समन्ततः।
विप्रकृष्टेन्द्रिये देशे न प्रकाशन्ति वै दिशः॥ ७॥
रजनीचरसत्त्वानि प्रचरन्ति समन्ततः।
तपोवनमृगा ह्येते वेदितीर्थेषु शेरते॥ ८॥
सम्प्रवृत्ता निशा सीते नक्षत्रसमलंकृता।
ज्योत्स्नाप्रावरणश्चन्द्रो दृश्यतेऽभ्युदितोऽम्बरे॥ ९॥
गम्यतामनुजानामि रामस्यानुचरी भव।
कथयन्त्या हि मधुरं त्वयाहमपि तोषिता॥ १०॥
अलं कुरु च तावत् त्वं प्रत्यक्षं मम मैथिलि।
प्रीतिं जनय मे वत्से दिव्यालंकारशोभिनी॥ ११॥
सा तदा समलंकृत्य सीता सुरसुतोपमा।
प्रणम्य शिरसा पादौ रामं त्वभिमुखी ययौ॥ १२॥
तथा तु भूषितां सीतां ददर्श वदतां वरः।
राघवः प्रीतिदानेन तपस्विन्या जहर्ष च॥ १३॥
न्यवेदयत् ततः सर्वं सीता रामाय मैथिली।
प्रीतिदानं तपस्विन्या वसनाभरणस्रजाम्॥ १४॥

एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग

अनसूया की आज्ञा से सीता का उनके दिये हुए वस्त्राभूषणों को धारण करके श्रीराम जी के पास आना तथा श्रीराम आदि का रात्रि में आश्रम पर रहकर प्रातःकाल अन्यत्र जाने के लिए ऋषियों से विदा लेना

धर्मज्ञा अनसूया ने वह, महत् कथा सुन, निज भुज द्वय से।
किया मैथिली को अंकस्थित[1], मस्तक-सूँघ, कहा फिर उनसे ॥ १ ॥
सुस्पष्ट अक्षरों के पद में तुमने कथा विचित्र सुनाई।
उससे, जैसे हुआ स्वयंवर, मैंने वृत्त[2] सुना सुखदाई ॥ २ ॥
मेरा मन लग रहा तुम्हारी वार्ता में, मृदुभाषिणि! फिर भी।
अस्त हुए शुभ निशि वेला को पहुँचाकर, श्रीमन् दिनकर[3] भी ॥ ३ ॥
दिन में जो चारा चुगने को, सभी ओर छिटके थे खग सब।
सन्ध्या में सोने को अपने छिपे घोंसलों में वे हैं अब ॥ ४ ॥
तथा स्नान-जल से भीगे तन, वल्कल धारण किये मुनीश्वर।
आते हैं निज-निज आश्रम को, जल से भरे कलश शुभ लेकर ॥ ५ ॥
अग्निहोत्र सम्पन्न कर चुके, विधिपूर्वक श्री अत्रि ऋषीश्वर।
श्याम धूम दिख रहा, कबूतर के सु-कण्ठ-सा नभ में उठकर ॥ ६ ॥
इन्द्रिय-दूर, सु-अल्प-पत्र भी, सघन दिख रहे तम से तरु सब।
अतः न चारों ओर दिशाओं का होता है भान यहाँ अब ॥ ७ ॥
तथा निशाचर प्राणिवर्ग भी विचरण करते इधर से उधर।
वेदि-तीर्थ-स्थानों[4] में सोते सभी तपोवन-मृग, पशु-वनचर ॥ ८ ॥
सीते! आई निशा इस समय स्वच्छ तारकों से हो सज्जित।
चन्द्र-चाँदनी-चादर ओढ़े दिखता नभ में दिव्य शशि उदित ॥ ९ ॥
मैं आज्ञा देती, तुम जाओ! होओ! रामचन्द्र-सेवा-रत।
तुमने निज मीठी बातों से मुझे किया संतुष्ट यथावत्[5] ॥ १० ॥
अब मेरे सामने, स्वयं को, शीघ्र करो मैथिलि! समलंकृत।
दिव्य वसन, भूषण-शोभित हो, मुझे करो तुम! अतिशय प्रमुदित ॥ ११ ॥
देवसुतोपम वे सीता यह सुनकर उनसे हुईं अलंकृत।
शिर से तापसि-पद प्रणाम कर, हुई राम-सन्मुख फिर प्रस्थित ॥ १२ ॥
राम वक्तृवर[6] ने सीता को देखा वस्त्राभूषण-सज्जित।
तब तपस्विनी प्रीति-दान को देख, हुए अधिकाधिक हर्षित ॥ १३ ॥
तपस्विनी से वस्त्राभूषण, प्रीति-दान में जैसे पाया।
मिथिलापति-पुत्री ने, यह सब रामचन्द्र को वहाँ बताया ॥ १४ ॥

---

१ गोद में ले लिया; २ हाल; ३ सूर्य; ४ वेदियों तथा अन्य पवित्र स्थानों पर; ५ पूरी तरह जैसा चाहिए; ६ वक्ताओं में श्रेष्ठ।

प्रहृष्टस्त्वभवद् रामो लक्ष्मणश्च महारथः।
मैथिल्याः सत्क्रियां दृष्ट्वा मानुषेषु सुदुर्लभाम्॥ १५॥
ततः स शर्वरीं प्रीतः पुण्यां शशिनिभाननाम्।
अर्चितस्तापसैः सर्वैरुवास रघुनन्दनः॥ १६॥
तस्यां राज्यां व्यतीतायामभिषिच्य हुताग्निकान्।
आपृच्छेतां नरव्याघ्रौ तापसान् वनगोचरान्॥ १७॥
तावूचुस्ते वनचरास्तापसा धर्मचारिणः।
वनस्य तस्य संचारं राक्षसैः समभिप्लुतम्॥ १८॥
रक्षांसि पुरुषादानि नानारूपाणि राघव।
वसन्त्यस्मिन् महारण्ये व्यालाश्च रुधिराशनाः॥ १९॥
उच्छिष्टं वा प्रमत्तं वा तापसं ब्रह्मचारिणम्।
अदन्त्यस्मिन् महारण्ये तान् निवारय राघव॥ २०॥
एष पन्था महर्षीणां फलान्याहरतां वने।
अनेन तु वनं दुर्गं गन्तुं राघव ते क्षमम्॥ २१॥
इतीरितः प्राञ्जलिभिस्तपस्विभि-
द्विजैः कृतस्वस्त्ययनः परंतपः।
वनं सभार्यः प्रविवेश राघवः
सलक्ष्मणः सूर्य इवाभ्रमण्डलम्॥ २२॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे
एकोनविंशत्यधिकशततमः सर्गः॥ ११९॥

॥ अयोध्याकाण्डं सम्पूर्णम्॥

नर-दुर्लभ सत्कार सर्वथा देख मैथिली का वह अनुपम।
हर्षित हुए महाबल लक्ष्मण-सहित राम रघुवर पुरुषोत्तम ॥ १५ ॥
वस्त्राभूषण - सुसज्जिता का देख चन्द्र - जैसा शुभ आनन।
रात्रि बिताई तापस-मानित रामचन्द्र ने वहाँ मुदित मन ॥ १६ ॥
रात्रि-पूर्ति पर, विपिन-तपस्वी, स्नान-हवन कर चुके जब सभी।
उनसे नृहरि राम-लक्ष्मण ने आज्ञा माँगी गमन की तभी ॥ १७ ॥
बोले दोनों भ्राताओं से, विपिन-तपस्वी तब फिर मिलकर।
वन-पथ है आक्रान्त उपद्रवि[1] निशाचरों से इस अवसर पर ॥ १८ ॥
नरभक्षी राक्षस करते हैं विविध रूप रख करके विचरण।
रक्त-भोजि[2] हिंसक पशु रहते, हैं इस विस्तृत वन में प्रतिक्षण ॥ १९ ॥
ब्रह्मचारि तापस अशुद्ध या अ-सतर्कों[3] को वे खा जाते।
राम ! भगायें हिंस्र, राक्षसों को, समर्थ हैं आप दिखाते ॥ २० ॥
यह पथ है, जिससे फल लेने, वन में जाते हैं महर्षिवर।
अतः राम ! दुर्गम वन-प्रविशित होने को है यह पथ शुभकर ॥ २१ ॥

द्विज तपस्वियों ने बद्धाञ्जलि[4] होकर, जब ये बातें
कहकर, किया स्वस्ति-वाचन फिर शुभ मंगल के नाते।
तभी परंतप राम, स्व-पत्नी लक्ष्मण को ले, वन में
गये, मेघ-मण्डल में जैसे सूर्यदेव हैं जाते ॥ २२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११९ ॥

॥ अयोध्याकाण्ड सम्पूर्ण ॥

१ उपद्रव करनेवाले; २ खून पीनेवाले; ३ असावधान रहनेवाले; ४ हाथ जोड़े हुए।

ताज़ी विज्ञप्ति

प्रकाशित हो चुके हिन्दी अनुवाद सहित
नागरी लिप्यन्तरण ग्रन्थ:—

१	गुरमुखी—श्री गुरुग्रन्थ साहिब पहली सैंची	पृ० ९६८	मूल्य ५०·००
२	,, ,, ,, दूसरी सैंची	पृ० ९९२	मूल्य ५०·००
३	,, ,, ,, तीसरी सैंची	पृ० ९६४	मूल्य ५०·००
४	,, ,, ,, चौथी सैंची	पृ० ८००	मूल्य ५०·००
५	,, श्री दसम गुरुग्रन्थ साहिब पहली सैंची	पृ० ८२०	मू० ५०·००
६	,, ,, ,, ,, दूसरी सैंची	पृ० ७०४	मू० ५०·००
७	,, ,, ,, ,, तीसरी सैंची	पृ० ७३६	मूल्य ५०·००
८	,, ,, ,, ,, चौथी सैंची	पृ० ७५२	मूल्य ५०·००
९	,, श्रीजपुजी सुखमनी साहब गुरमुखी पाठ तथा ख्वाज: दिलमुहम्मद कृत उर्दू पद्यानुवाद—दोनों नागरी लिपि में;	पृ० १६४	मू० १५·००
१०	,, सुखमनी साहिब मूल गुटका नागरी लिपि।		मूल्य ४·००
११	,, भाई गुरदास जी के कवित्त-सवैये		छप रही है
१२	,, ,, ,, ,, वारां	पृ० ७०४	मूल्य ६०·००
१३	गुजराती—गिरधर रामायण (रचनाकाल-१८३५ ई०) हिन्दी अनुवाद, नागरी लिप्यन्तरण	पृष्ठ संख्या १४६०	मूल्य ८०·००
१४	,, प्रेमानन्द रसामृत—नागरी लिप्य० तथा हिन्दी अनुवाद	पृ० संख्या ४९६	मूल्य ४०·००
१५	मलयाळम—अध्यात्म रामायण (एळुत्तच्छन् कृत) १५वीं शती हिन्दी अनुवाद, नागरी लिप्यन्तरण	पृ० सं० ७५२	मू० ६०·००
१६	,, —महाभारत-एळुत्तच्छन् (१५वीं शती)	पृ० १२१६	मू० ७०·००
१७	बँगला— कृत्तिवास रामायण (पाँचकाण्ड)—१५वीं शती। हिन्दी पद्या० सहित नागरी लिप्य०	पृ० ६२४	मू० ४०·००
१८	,, कृत्तिवास लंकाकाण्ड— ,, गद्यानुवाद	पृ० ४८८	मू० ३०·००
१९	,, ,, उत्तरकाण्ड ,, ,,	पृ० ३२४	मूल्य २५·००

२० कश्मीरी—रामावतारचरित-प्रकाशराम कुर्यग्रामी कृत पृ० ४८९ मू० ३०·००
२१ „ ललूदयद—(नागरी) हिन्दी गद्य संस्कृत पद्यानु० पृ० १२० „ १५·००
२२ राजस्थानी—रुक्मिणी मंगल पदमभगत कृत। पृ० ३०० मू० २०·००
२३ तमिळ— तिरुक्कुरळ्-तिरुवळ्ळुवर कृत। २००० वर्ष से अधिक प्राचीन। नागरी लिप्यन्तरण, गद्य-पद्य हिन्दी अनुवाद, पृ० ३५२ मू० ३०·००
२४ „ कम्ब रामायण बालकाण्ड (९वीं शती) पृ० ६५२ मूल्य ४०·००
२५ „ „ अयोध्या-अरण्य पृष्ठ १०२४ मूल्य ७०·००
२६ „ „ किष्किन्धा-सुन्दर „ १०१६ मूल्य ७०·००
२७ „ „ युद्धकाण्ड पूर्वार्ध „ १०१६ मूल्य ७०·००
२८ „ „ „ उत्तरार्ध „ ८४० मूल्य ७०·००
२९ „ भारदियार् कवितैहळ्—(सुब्रह्मण्य भारती का साहित्य नागरी लिप्य० एवं गद्य-पद्य हिन्दी अनु० (पृ० ११०८ मूल्य १००·००)
३० कन्नड— रामचन्द्रचरित पुराणं, अभिनव पम्प विरचित (जैन-मतानुसार रामचरित्र ११वीं शती) पृ० ६९० मूल्य ५०·००
३१ „ तोरवे रामायण (कुमार वाल्मीकि कृत) १४वीं शती पृष्ठ १४०० मूल्य १००·००
३२ तेलुगु— मोल्ल रामायण (१४वीं शती) पृ० ३०८ मूल्य ३०·००
३३ „ रंगनाथ रामायण (१३वीं शती) पृ. १३३५ मू० ८०·००
३४ „ श्री पोतन्न महाभागवतमु १-४ स्कन्ध पृ० ८५६ मूल्य ७०·००
३५ „ „ „ ५-९ „ पृ० ८२८ मूल्य ७०·००
३६ „ „ „ १०-१२ स्कन्ध पृ० ९२० मूल्य ८०·००
३७ मराठी—श्रीरामविजय-श्रीधरकृत (१७वीं शती) पृ० १२२८ मू० ७०·००
३८ „ श्रीहरि-विजय (श्रीधर कृत) पृष्ठ १००४ मू० ७०·००
३९ फ़ारसी—सिर्रे अक्बर (दाराशिकोह कृत उपनिषद-व्या०) प्रथम खण्ड (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तरीय, श्वेताश्वर) २८० मू० ३०·००
४० उर्दू— शरीफ़जादः (मिर्ज़ा रुस्वा कृत) पृ० १३६ मूल्य १०·००
४१ „ गुजश्तः लखनऊ (मौ० शरर) पृ० ३१६ मूल्य २५·००

ताजी विज्ञप्ति

४२ सिन्धी— सामी, शाह, सचल की त्रिवेणी पृष्ठ ४१५ मू० ३०.००

४३ नेपाली—भानुभक्त रामायण पृ० ३४४ मूल्य ३०.००

४४ असमिया—माधवकंदली रामायण (१४वीं शती) पृ० ९४३ ,, ६०.००

४५ ओड़िआ—बैदेहीश-बिळास उपेन्द्र भञ्ज (१८वीं शती) पृ० १०००,, ७०.००

४६ ,, तुलसी-रामचरितमानस—ओड़िआ लिपि में मूलपाठ तथा ओड़िआ गद्य-पद्य अनुवाद। पृ०सं० १४६४ मू० ७०.००

४७ ,, बिलंका रामायण पृष्ठ ६५६ मू० ६०.००

४८ मैथिली चन्दा झा कृत मैथिलि रामायण पृ० ६०० मू० ६०.००

४९ संस्कृत—मानस-भारती रामचरितमानस-सहित (संस्कृत पंक्ति-अनुपंक्ति पद्यानुवाद) पृ० १,७४१ मू० ५०.००

५० ,, अद्भुत रामायण हिन्दी अनुवाद सहित पृ० २४४ मूल्य २०.००

प्रचारित प्रकाशन (ल.कि.घ.)

५१ अरबी क़ुर्आन शरीफ़ मूलपाठ अरबी तथा नागरी लिपि में तथा हिन्दी अनुवाद सहित पृ० १०२४ मू० ५६.००

५२ ,, ,, केवल मूल; अरबी, नागरी दोनों लिपि में पृ० ५२० मू० २८.००

५३ केवल हिन्दी अनुवाद पृ० ५३० मूल्य २८.००

५४ क़ोरानिक कोश (पठनक्रम) पृ० १९२ मूल्य १२.००

५५ ज़ादे सफ़र (रियाज़ुस्सालिहीन) भाग १ पृ० ३३६ मू० १५.००

५६ ,, तफ़्सीर माजिदी पार: १ से ५ (क़ुर्आन शरीफ़) मौ० अब्दुल माजिद दर्याबादी का मूल, अनु० एवं भाष्य पृ० ५१२ मू. ५०.००

५७ ,, बुखारी शरीफ़ (हदीस, पार: १-५) पृ० ५८० मूल्य ५०.००

५८ बहुभाषाई— 'वाणी सरोवर' त्रैमासिक पत्र वार्षिक मूल्य १५.००

प्राप्ति-स्थान— भुवन वाणी ट्रस्ट

मौसम बाग (सीतापुर रोड), लखनऊ-२०

अनुजग्मुश्च ते सर्वे मन्त्रिणः सपुरोहिताः ।
बभूवुश्च मुदा युक्तास्तं दृष्ट्वा वेश्मसंविधिम् ॥ ३७ ॥
तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च ।
भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत् ॥ ३८ ॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च ।
वालव्यजनमादाय न्यषीदत् सचिवासने ॥ ३९ ॥
आनुपूर्व्यान्निषेदुश्च सर्वे मन्त्रिपुरोहिताः ।
ततः सेनापतिः पश्चात् प्रशास्ता च न्यषीदत ॥ ४० ॥
ततस्तत्र मुहूर्तेन नद्यः पायसकर्दमाः ।
उपातिष्ठन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४१ ॥
आसामुभयतःकुलं पाण्डुमृत्तिकलेपनाः ।
रम्याश्चावसथा दिव्या ब्राह्मणस्य प्रसादजाः ॥ ४२ ॥
तेनैव च मुहूर्तेन दिव्याभरणभूषिताः ।
आगुर्विंशतिसाहस्रा ब्रह्मणा प्रहिताः स्त्रियः ॥ ४३ ॥
सुवर्णमणिमुक्तेन प्रवालेन च शोभिताः ।
आगुर्विंशतिसाहस्राः कुवेरप्रहिताः स्त्रियः ॥ ४४ ॥
याभिर्गृहीतः पुरुषः सोन्माद इव लक्ष्यते ।
आगुर्विंशतिसाहस्रा नन्दनादप्सरोगणाः ॥ ४५ ॥
नारदस्तुम्बुरुर्गोपः प्रभया सूर्यवर्चसः ।
एते गन्धर्वराजानो भरतस्याग्रतो जगुः ॥ ४६ ॥
अलम्बुषा मिश्रकेशी पुण्डरीकाथ वामना ।
उपानृत्यन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४७ ॥
यानि माल्यानि देवेषु यानि चैत्ररथे वने ।
प्रयागे तान्यदृश्यन्त भरद्वाजस्य तेजसा ॥ ४८ ॥
बिल्वा मार्दङ्गिका आसन् शम्याग्राहा बिभीतकाः ।
अश्वत्था नर्तकाश्चासन् भरद्वाजस्य तेजसा ॥ ४९ ॥
ततः सरलतालाश्च तिलकाः सतमालकाः ।
प्रहृष्टास्तत्र सम्पेतुः कुब्जा भूत्वाथ वामनाः ॥ ५० ॥
शिंशपाऽऽमलकी जम्ब्वूर्याश्चान्याः कानने लताः ।
मालती मल्लिका जातिर्याश्चान्याः कानने लताः ।
प्रमदाविग्रहं कृत्वा भरद्वाजाश्रमेऽवसन् ॥ ५१ ॥

उनके साथ पुरोहित मन्त्री ने प्रवेश का अवसर पाया।
और भवन-निर्माण-कुशलता, देख सभी का मन हरषाया॥ ३७॥
व्यजन, छत्र, राजासन देखे, वहाँ भरत ने परम दिव्य जब।
राम-भाव से सचिवों के सँग, प्रदक्षिणा की, उन सबकी तब॥ ३८॥
राम-भाव से सिंहासन की, विनमन-सहित तभी पूजा कर।
निज कर में ले चँवर, भरत वे बैठे, सचिवासन पर आकर॥ ३९॥
तथा पुरोहित, मन्त्री बैठे, क्रम से सभी उचित आसन पर।
सेनापति सेना के रक्षक भी तब हुए वहाँ स्थिर आकर॥ ४०॥
भरत निकट सरिताएँ क्षण में भरद्वाज-आज्ञा से आयीं।
जो कर्दम[1] के बदले तब सब खीर अपरिमित थीं प्रिय लायीं॥ ४१॥
फिर ब्रह्मर्षि-कृपा से सरिता युगल तटों पर भवन रम्यतर।
प्रकटित हुए, जो कि चूने से पुते हुए लगते थे सुन्दर॥ ४२॥
ब्रह्मा-प्रेषित, उस मुहूर्त में, दिव्य नारियाँ भी आईं तब।
थीं वे बीस सहस्र उस समय, विविध भूषणों से भूषित सब॥ ४३॥
फिर कुबेर-प्रेषित उतनी ही, स्वर्ण और मणि, मूँगा, मुक्ता।
से भूषित महिलाएँ आईं, जो थीं सभी दिव्यता-युक्ता॥ ४४॥
जिनके स्पर्श मात्र से होते थे तब सभी पुरुष उन्मादित।
आईं वहाँ अप्सराएँ भी उतनी ही, नन्दन से हर्षित॥ ४५॥
नारद, तुम्बुरु, गोप सूर्य के भास[2] सदृश जो थे अति भासित।
गाने तब गन्धर्वराज वे लगे, भरत-सम्मुख होकर स्थित॥ ४६॥
अलम्बुषा, पुण्डरिका एवं मिश्रकेशि, वामना आदि सब।
भरत पार्श्व में लगीं नाचने, भरद्वाज-प्रेरिताप्सरा[3] तब॥ ४७॥
देवोद्यान, चैत्ररथ-वन में, जो कि पुष्प होते है विकसित।
भरद्वाज मुनि के प्रताप से हुए प्रयाग क्षेत्र में प्रकटित॥ ४८॥
'शम्या ताल' बहेड़े देते थे, मृदंग थे बेल बजाते।
भरद्वाज के परम तेज से, पीपल-तरु थे नृत्य दिखाते॥ ४९॥
ताल, तमाल, तिलक, सरलादिक तरु कुबड़े, बौने, बन-बनकर।
आये सभी, भरत-सेवा में, हर्ष स्वयं मे अतिशय भरकर॥ ५०॥
स्त्री, तरु, लता, मालती, जम्बू, आमलकी, शिंशपा[4] आदि सब।
तथा जाति, मल्लिका लताएँ, नारि-रूप अपना रखकर तब॥
भरद्वाज मुनि के आश्रम में, सेना-सत्कृति हेतु वहाँ पर।
(आई, और भरत-सेना की सुश्रूषा में हुई सुतत्पर)॥ ५१॥

१ कीचड़; २ प्रकाश; ३ ऋषि भरद्वाज की प्रेरणा से अप्सराएँ; ४ शीशम।

सुरां सुरापाः पिबत पायसं च बुभुक्षिताः।
मांसानि च सुमेध्यानि भक्ष्यन्तां यो यदिच्छति ॥ ५२ ॥
उच्छोद्य स्नापयन्ति स्म नदीतीरेषु वल्गुषु।
अप्येकमेकं पुरुषं प्रमदाः सप्त चाष्ट च ॥ ५३ ॥
संवाहन्त्यः समापेतुर्नार्यो विपुललोचनाः।
परिमृज्य तदान्योन्यं पाययन्ति वराङ्गनाः ॥ ५४ ॥
हयान् गजान् खरानुष्ट्रांस्तथैव सुरभेः सुतान्।
अभोजयन् वाहनपास्तेषां भोज्यं यथाविधि ॥ ५५ ॥
इक्षूंश्च मधुलाजांश्च भोजयन्ति स्म वाहनान्।
इक्ष्वाकुवरयोधानां चोदयन्तो महाबलाः ॥ ५६ ॥
नाश्वबन्धोऽश्वमाजानान्न गजं कुञ्जरग्रहः।
मत्तप्रमत्तमुदिता सा चमूस्तत्र सम्बभौ ॥ ५७ ॥
तर्पिताः सर्वकामैश्च रक्तचन्दनरूषिताः।
अप्सरोगणसंयुक्ताः सैन्या वाचमुदीरयन् ॥ ५८ ॥
नैवायोध्यां गमिष्यामो न गमिष्याम दण्डकान्।
कुशलं भरतस्यास्तु रामस्यास्तु तथा सुखम् ॥ ५९ ॥
इति पादातयोधाश्च हस्त्यश्वारोहबन्धकाः।
अनाथास्तं विधिं लब्ध्वा वाचमेतामुदीरयन् ॥ ६० ॥
सम्प्रहृष्टा विनेदुस्ते नरास्तत्र सहस्रशः।
भरतस्यानुयातारः स्वर्गोऽयमिति चाब्रुवन् ॥ ६१ ॥
नृत्यन्तश्च हसन्तश्च गायन्तश्चैव सैनिकाः।
समन्तात् परिधावन्तो माल्योपेताः सहस्रशः ॥ ६२ ॥
ततो भुक्तवतां तेषां तदन्नममृतोपमम्।
दिव्यानुद्वीक्ष्य भक्ष्यांस्तानभवद् भक्षणे मतिः ॥ ६३ ॥
प्रेष्याश्चेट्यश्च वध्वश्च बलस्थाश्चापि सर्वशः।
बभूवुस्ते भृशं प्रीताः सर्वे चाहतवाससः ॥ ६४ ॥
कुञ्जराश्च खरोष्ट्राश्च गोऽश्वाश्च मृगपक्षिणः।
बभूवुः सुभृतास्तत्र नान्यो ह्यन्यमकल्पयत् ॥ ६५ ॥
नाशुक्लवासास्तत्रासीत् क्षुधितो मलिनोऽपि वा।
रजसा ध्वस्तकेशो वा नरः कश्चिददृश्यत ॥ ६६ ॥
आजैश्चापि च वाराहैर्निष्ठानवरसंचयैः।
फलनिर्यूहसंसिद्धैः सूपैर्गन्धरसान्वितैः ॥ ६७ ॥

मधुपायी मधु पियें ! विभुक्षित[1] खायें खीर, कह रही थीं तब ।
सैन्य-जनों से, मेध्य[2] फलों सँग, गूदे थी प्रस्तुत करतीं सब ॥ ५२ ॥
सात सात, या आठ नारियाँ, एक पुरुष को थीं नहलाती ।
रम्य नदी-तट पर, पुरुषों के, उबटन भी थीं वही लगाती ॥ ५३ ॥
विशालाक्षि सुन्दरी अतिथियों के थीं आईं चरण दबाने ।
अग पोंछने, वस्त्र पिन्हाने एवं स्वादु सु-पेय पिलाने ॥ ५४ ॥
फिर वाहन-रक्षक भी देकर, घास सुकोमल, उत्तम दाने ।
वृषभ, अश्व, गज, उष्ट्र, खच्चरों को सतर्क हो लगे खिलाने ॥ ५५ ॥
फिर इक्ष्वाकु-प्रवर-वीरों के यानों[3] के थे जो वाहन सब ।
उन्हें ईख, मधु, लाव खाने को वे थे रक्षक कहते तब ॥ ५६ ॥
नही सईस, पीलवानों को था निज अश्वों, गजों का पता ।
क्योंकि वहाँ सारी सेना थी, मत्त प्रमत्ता तथाऽऽनन्दिता ॥ ५७ ॥
वाञ्छित वस्तु-प्राप्त सैनिक जब हुए लाल चन्दन से चर्चित ।
तब वे करने लगे परस्पर में बातें ऐसी निम्नांकित ॥ ५८ ॥
अब न अयोध्या को जाएँगे, और न दण्डक वन ही, हम सब ।
रहें कुशल से भरत, राम भी सुखी रहें सर्वथा सदा अब ॥ ५९ ॥
पद सैनिक, गज, अश्वारोहक और सईस महावत भी तब ।
सत्कृत हो, स्वच्छन्द, परस्पर में बातें कहते थे ये सब ॥ ६० ॥
पुरुष सहस्रों, भरत-साथ जो आये थे, वे विभव देखकर ।
हर्षित हो, कह पड़े जोर से, है यह स्थान स्वर्ग-सम सुन्दर ॥ ६१ ॥
लगे नाचने, हँसने, गाने, सभी ओर फिर दौड़ लगाते ।
पहन पुष्प के हार हजारों, सैनिक वहाँ हुए मदमाते ॥ ६२ ॥
अमृतोपम स्वादिष्ट अन्न खा, देख दिव्य वस्तुएँ, पुनः सब ।
खाने को इच्छुक होते थे, वहाँ भरत के सैनिक वे तब ॥ ६३ ॥
बैल, ऊँट, मृग, गदहे, घोड़े, गज, पक्षी भी हुए तृप्त सब ।
अतः नहीं वे चाह रहे थे वस्तु दूसरी कोई भी अब ॥ ६४ ॥
सैनिक, उनकी सभी पत्नियाँ, एवं दास, दासियाँ भी सब ।
वसन सु-नूतन धारण कर थे, सब प्रकार से अति हर्षित तब ॥ ६५ ॥
क्षुधित, मलिन, धूसरित केश था, पुरुष न कोई वहाँ दिखाता ।
पहने विना श्वेत वसनों के, मनुज न दिखने में था आता ॥ ६६ ॥
वहाँ वराहीकन्द, जवाइन, आम्र आदि फल-रस में पककर ।
व्यञ्जन थे तैयार स[illegible], दाल सुगन्धित थी, रस-रुचितर ॥ ६७ ॥

१ भूखे; [illegible], पत्र-फल; ३ सवारियों ।

पुष्पध्वजवतीः पूर्णाः शुक्लस्यान्नस्य चाभितः ।
ददृशुर्विस्मितास्तत्र नरा लौहीः सहस्रशः ॥ ६८ ॥

बभूवुर्वनपार्श्वेषु कूपाः पायसकर्दमाः ।
ताश्च कामदुघा गावो द्रुमाश्चासन् मधुच्युतः ॥ ६९ ॥

वाप्यो मैरेयपूर्णाश्च मृष्टमांसचयैर्वृताः ।
प्रतप्तपिठरैश्चापि मार्गमायूरकौक्कुटैः ॥ ७० ॥

पात्रीणां च सहस्राणि स्थालीनां नियुतानि च ।
न्यर्बुदानि च पात्राणि शातकुम्भमयानि च ॥ ७१ ॥

स्थाल्यः कुम्भ्यः करम्भ्यश्च दधिपूर्णाः सुसंस्कृताः ।
यौवनस्थस्य गौरस्य कपित्थस्य सुगन्धिनः ॥ ७२ ॥

ह्रदाः पूर्णा रसालस्य दध्नः श्वेतस्य चापरे ।
बभूवुः पायसस्यान्ये शर्कराणां च संचयाः ॥ ७३ ॥

कल्कांश्चूर्णकषायांश्च स्नानानि विविधानि च ।
ददृशुर्भाजनस्थानि तीर्थेषु सरितां नराः ॥ ७४ ॥

शुक्लानंशुमतश्चापि दन्तधावनसंचयान् ।
शुक्लांश्चन्दनकल्कांश्च समुद्गेष्ववतिष्ठतः ॥ ७५ ॥

दर्पणान् परिमृष्टांश्च वाससां चापि संचयान् ।
पादुकोपानहं चैव युग्मान्यत्र सहस्रशः ॥ ७६ ॥

आञ्जनीः कङ्कतान् कूर्चांश्छत्राणि च धनूंषि च ।
मर्मत्राणानि चित्राणि शयनान्यासनानि च ॥ ७७ ॥

प्रतिपानह्रदान् पूर्णान् खरोष्ट्रगजवाजिनाम् ।
अवगाह्यसुतीर्थांश्च ह्रदान् सोत्पलपुष्करान् ।
आकाशवर्णप्रतिमान् स्वच्छतोयान् सुखाप्लवान् ॥ ७८ ॥

नीलवैदूर्यवर्णांश्च मृदून् यवससंचयान् ।
निर्वापार्थं पशूनां ते ददृशुस्तत्र सर्वशः ॥ ७९ ॥

व्यस्मयन्त मनुष्यास्ते स्वप्नकल्पं तदद्भुतम् ।
दृष्ट्वाऽऽतिथ्यं कृतं तादृग् भरतस्य महर्षिणा ॥ ८० ॥

इत्येवं रममाणानां देवानामिव नन्दने ।
भरद्वाजाश्रमे रम्ये सा रात्रिर्व्यत्यवर्तत ॥ ८१ ॥

प्रतिजग्मुश्च ता नद्यो गन्धर्वाश्च यथागतम् ।
भरद्वाजमनुज्ञाप्य ताश्च सर्वा वराङ्गनाः ॥ ८२ ॥

श्वेत भात-युत पात्र सहस्रों थे स्वर्णिम पुष्पध्वज-सज्जित।
उन्हें देखकर, भरत-साथ के लोग हुए आश्चर्य से चकित ॥ ६८ ॥
वन के आसपास कूपों में, थी गाढ़ी स्वादिष्ट खीर तब।
कामधेनु थीं धेनु वहाँ की, मधुवर्षो[1] थे वन के तरु सब ॥ ६९ ॥
सुरा भरी बावड़ियों-तट के तप्त कुण्ड थे मांस पकाते।
इससे, मृग, मयूर, मुर्गों के स्वच्छ मांस थे वहाँ दिखाते ॥ ७० ॥
वहाँ सहस्रों स्वर्ण-पात्र थे, लाखों व्यञ्जन-पात्र तथा तब।
संगृहीत थीं वहाँ थालियाँ, होंगी लगभग एक जो अरब ॥ ७१ ॥
थाल, लघु घटों, मटकों मे था दधि, कपित्थ, जीरक, सोठान्वित।
संस्कृत था यह प्रहर-पूर्व का, एवं था अत्यन्त सुगन्धित ॥ ७२ ॥
थे, केसर-रसाल, मट्ठे के ताल, श्वेत दधि-कुण्ड वहाँ पर।
दुग्ध-कुण्ड थे और ढेर थे शक्कर के सर्वत्र सु-रुचिकर ॥ ७३ ॥
स्नान-हेतु घाटों पर, पात्रों में था चूर्ण आमले का तब।
और स्नान-उपयोगि वस्तुएँ पात्रों मे थीं सुगन्धिता सब ॥ ७४ ॥
तथा सम्पुटों में चन्दन भी देख रहे थे वहाँ सभी नर।
इतना ही क्या ? स्वच्छ दर्पणों, वस्त्रों के थे ढर वहाँ पर ॥ ७५ ॥
थे सफ़ेद कूँची के अगणित दातूनों के ढेर वहाँ पर।
जूते और खड़ाऊँ भी थे, तथा हज़ारों ही अति सुन्दर ॥ ७६ ॥
कजरौटे, कंघे, कूर्च[2] तथा मर्मस्थल के थे कवच सर्वथा।
छत्र, धनुष, शय्या विचित्र बहु, आसन भी थे वहाँ बहु तथा ॥ ७७ ॥
गधों, ऊँट, गज, घोड़ों को थे, जल पीने के वृहद् जलाशय।
जिनमें सुन्दर घाट, उतरने के सुयोग्य थे विस्तृत निश्चय ॥
उनके जल में शोभित होते थे, तब उत्पल रम्य अति कमल।
(सुखपूर्वक तैरने योग्य थे गगन-सदृश वे स्वच्छ सुनिर्मल) ॥ ७८ ॥
वहाँ नील, वैदूर्य-वर्ण[3] की कोमल घास दिखी एकत्रित।
सभी वस्तुएं वहाँ उस समय थीं पशुओं के खाने के हित ॥ ७९ ॥
भरद्वाज ऋषि की रचना वह, भरत, सैन्य-आतिथ्य-सुसत्कृति[4]।
अद्भुत स्वप्न-सदृश अति जिससे, थी आश्चर्य-चकित सबकी मति ॥ ८० ॥
किया यथेष्ट विहार सभी ने, रम्य देव-वन नन्दन के सम।
भरद्वाज-आश्रम में बीती सुख से रात्रि सभी की अनुपम ॥ ८१ ॥
भरद्वाज-आज्ञा से लौटीं, सभी अप्सराएँ, वे नदियाँ।
जैसे आई थीं, वैसे ही, गन्धर्वों के सँग सुन्दरियाँ ॥ ८२ ॥

---

१ शहद बरसानेवाले; २ कुश; ३ लहसुनिया का रंग; ४ भली प्रकार आतिथ्य-सत्कार।

तथैव मत्ता मदिरोत्कटा नरा
स्तथैव दिव्यागुरुचन्दनोक्षिताः ।
तथैव दिव्या विविधाः स्रगुत्तमाः
पृथग्विकीर्णा मनुजैः प्रमर्दिताः ॥ ८३ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमः सर्गः

भरत का भरद्वाज मुनि से जाने की आज्ञा लेते हुए श्रीराम के आश्रम पर जाने का मार्ग जानना और मुनि को अपनी माताओं का परिचय देकर वहाँ से चित्रकूट के लिए सेना-सहित प्रस्थान करना

ततस्तां रजनीं व्युष्य भरतः सपरिच्छदः ।
कृतातिथ्यो भरद्वाज कामादभिजगाम ह ॥ १ ॥
तमृषिः पुरुषव्याघ्रं प्रेक्ष्य प्राञ्जलिमागतम् ।
हुताग्निहोत्रो भरतं भरद्वाजोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥
कच्चिदत्र सुखा रात्रिस्तवास्मद्विषये गता ।
समग्रस्ते जनः कच्चिदातिथ्ये शंस मेऽनघ ॥ ३ ॥
तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा भरतोऽभिप्रणम्य च ।
आश्रमादुपनिष्क्रान्तमृषिमुत्तमतेजसम् ॥ ४ ॥
सुखोषितोऽस्मि भगवन् समग्रबलवाहनः ।
बलवत्तर्पितश्चाहं बलवान् भगवस्त्वया ॥ ५ ॥
अपेतक्लमसंतापाः सुभिक्षाः सुप्रतिश्रयाः ।
अपि प्रेष्यानुपादाय सर्वे स्म सुसुखोषिताः ॥ ६ ॥
आमन्त्रयेऽहं भगवन् कामं त्वामृषिसत्तम ।
समीपं प्रस्थितं भ्रातुर्मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा ॥ ७ ॥
आश्रमं तस्य धर्मज्ञ धार्मिकस्य महात्मनः ।
आचक्ष्व कतमो मार्गः कियानिति च शंस मे ॥ ८ ॥
इति पृष्टस्तु भरतं भ्रातुर्दर्शनलालसम् ।
प्रत्युवाच महातेजा भरद्वाजो महातपाः ॥ ९ ॥
भरतार्धतृतीयेषु योजनेष्वजने वने ।
चित्रकूटगिरिस्तत्र रम्यनिर्झरकाननः ॥ १० ॥
उत्तरं पार्श्वमासाद्य तस्य मन्दाकिनी नदी ।
पुष्पितद्रुमसंछन्ना रम्यपुष्पितकानना ॥ ११ ॥

प्रातः भी मदिरा-प्रमत्त थे, सैनिक सभी दिखाते
उनके दिव्य अगुरु-चन्दन से लिप्त अंग थे भाते।
विविध पुष्प-मालाएँ उत्तम दिव्य वहाँ थीं फैली
पृथक्-पृथक् जिनका प्रयोग कर वे अनुपम सुख पाते ॥ ८३ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में इक्यानवेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९१ ॥

बानबेवाँ सर्ग

भरत का भरद्वाज मुनि से जाने की आज्ञा लेते हुए श्रीराम के आश्रम पर जाने का मार्ग जानना और मुनि को अपनी माताओं का परिचय देकर वहाँ से चित्रकूट के लिए सेना-सहित प्रस्थान करना

सपरिवार वह रात्रि बिताकर, मुनि-आतिथ्य ग्रहण कर इच्छित।
आज्ञा लेने भरद्वाज से, प्रातः गये, भरत यात्रा-हित ॥ १ ॥
नरशार्दूल भरत को आया देख, सामने हाथ जोड़कर।
बोले उनसे अग्निहोत्र कर, वे तब भरद्वाज जी ऋषिवर ॥ २ ॥
अनघ[1] ! तुम्हारी रात्रि यहाँ पर, सुख से बीती ? आगत जन[2]-सह।
कहो ! हैं न सन्तुष्ट सभी अब उससे, जो आतिथ्य हुआ वह ? ॥ ३ ॥
उत्तम तेजस्वी महर्षि जो आश्रम से निकले थे बाहर।
हाथ जोड़कर, उनसे बोले भरत नमन कर, शीश झुकाकर ॥ ४ ॥
भगवन् ! रहा रात्रि में सुख से मैं, मेरी सेना, वाहन सब।
किया गया है तृप्त, हम सभी को ही सभी वस्तुओं से तब ॥ ५ ॥
सहित सेवकों के हम सब हैं, ग्लानि और संताप से रहित।
सुख से रहे रात्रि में सुन्दर अन्न, पान-सन्तुष्ट, गृहाश्रित ॥ ६ ॥
भगवन् ! देखें मुझे स्नेह से, यहाँ आपकी आज्ञा के हित।
मैं आया भ्राता-समीप में, मुनिवर ! जाने को हो इच्छित ॥ ७ ॥
कहें धर्मविद् ! राम-महात्मा धार्मिक का निवास किस स्थल पर ?।
है वह कितनी दूर, पहुँचने का पथ करें ! स्पष्ट अब मुनिवर ! ॥ ८ ॥
भ्रातृ-दरश-लालसा-युक्त, उन भरत-प्रश्न को तब फिर सुनकर।
महातपस्वी, अति तेजस्वी भरद्वाज ने दिया समुत्तर ॥ ९ ॥
चित्रकूट गिरि भरत ! यहाँ से ढाई योजन की दूरी पर।
निर्जन वन में है जिसमें हैं, रम्य विपिन एवं बहु निर्झर[3] ॥ १० ॥
उसके उत्तर नदी बह रही, मन्दाकिनी, पुष्प-तरु-छादित।
उसके आसपास के वन हैं, परम रम्य बहुविध पुष्पान्वित[4] ॥ ११ ॥

1 हे निष्पाप; 2 साथ आये हुए लोग; 3 झरने; 4 फूलों से भरे।

अनन्तरं तत्सरितश्चित्रकूटं च पर्वतम् ।
तयोः पर्णकुटीं तात तत्र तौ वसतो ध्रुवम् ॥ १२ ॥
दक्षिणेन च मार्गेण सव्यदक्षिणमेव च ।
गजवाजिसमाकीर्णां वाहिनीं वाहिनीपते ॥ १३ ॥
वाहयस्व महाभाग ततो द्रक्ष्यसि राघवम् ।
प्रयाणमिति च श्रुत्वा राजराजस्य योषितः ॥ १४ ॥
हित्वा यानानि यानार्हा ब्राह्मणं पर्यवारयन् ।
वेपमाना कृशा दीना सह देव्या सुमित्रया ॥ १५ ॥
कौसल्या तत्र जग्राह कराभ्यां चरणौ मुनेः ।
असमृद्धेन कामेन सर्वलोकस्य गर्हिता ॥ १६ ॥
कैकेयी तत्र जग्राह चरणौ सव्यपत्रपा ।
तं प्रदक्षिणमागम्य भगवन्तं महामुनिम् ॥ १७ ॥
अदूराद् भरतस्यैव तस्थौ दीनमनास्तदा ।
तत्र पप्रच्छ भरतं भरद्वाजो महामुनिः ॥ १८ ॥
विशेषं ज्ञातुमिच्छामि मातॄणां तव राघव ।
एवमुक्तस्तु भरतो भरद्वाजेन धार्मिकः ॥ १९ ॥
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा वाक्यं वचनकोविदः ।
यामिमां भगवन् दीनां शोकानशनकर्शिताम् ॥ २० ॥
पितुर्हि महिषीं देवीं देवतामिव पश्यसि ।
एषां तं पुरुषव्याघ्रं सिंहविक्रान्तगामिनम् ॥ २१ ॥
कौसल्या सुषुवे रामं धातारमदितिर्यथा ।
अस्या वामभुजं श्लिष्टा या सा तिष्ठति दुर्मनाः ॥ २२ ॥
इयं सुमित्रा दुःखार्ता देवी राज्ञश्च मध्यमा ।
कर्णिकारस्य शाखेव शीर्णपुष्पा वनान्तरे ॥ २३ ॥
एतस्यास्तौ सुतौ देव्याः कुमारौ देववर्णिनौ ।
उभौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ वीरौ सत्यपराक्रमौ ॥ २४ ॥
यस्याः कृते नरव्याघ्रौ जीवनाशमितो गतौ ।
राजा पुत्रविहीनश्च स्वर्गं दशरथो गतः ॥ २५ ॥
क्रोधनामकृतप्रज्ञां दृप्तां सुभगमानिनीम् ।
ऐश्वर्यकामां कैकेयीमनार्यामार्यरूपिणीम् ॥ २६ ॥
ममैतां मातरं विद्धि नृशंसां पापनिश्चयाम् ।
यतोमूलं हि पश्यामि व्यसनं महदात्मनः ॥ २७ ॥

नदी पार है चित्रकूट गिरि, तात ! वहाँ गिरि-सरित्-मध्य फिर।
पर्णकुटी देखोगे, जिसमें राम स-लक्ष्मण हैं निश्चित स्थिर ॥ १२ ॥
यमुना-दक्षिण-तट-पथ से तुम ! हस्ति, अश्व, सेना ले जाओ।
सेनापते ! वहाँ पथ द्वय[1] के दक्षिण-पथ सेना पहुँचाओ ॥ १३ ॥
शीघ्र राम-दर्शन पाओगे, महाभाग ! उस पथ से चलकर।
करना है प्रस्थान नृपति को, यह उन महिलाओं ने सुनकर ॥ १४ ॥
यान-योग्य[2] वे, यान छोड़कर, खड़ी हुईं, ब्रह्मर्षि-नमन कर।
व्रत-दीना दुर्बला, सुमित्रा देवी-सँग अतिशय कम्पन भर ॥ १५ ॥
कौसल्या ने निज हाथों से पकड़ लिये मुनि-प्रमुख के चरण।
विफल कामना से निन्दित थीं जो सारी जगती में उस क्षण ॥ १६ ॥
उन कैकेयी ने, मुनि-चरणस्पर्श किया होकर तब लज्जित।
श्री भगवान महामुनि की कर परिक्रमा पुनि होकर विनमित ॥ १७ ॥
दीन चित्त वे, भरत-पास, फिर खड़ी हो गयीं तत्क्षण आकर।
लगे पूछने, तभी भरत से, भरद्वाज मुनिवर वे सत्वर ॥ १८ ॥
राघव ! सभी तुम्हारी माँओं का परिचय-इच्छुक हूँ मैं अब।
भरत धार्मिक भरद्वाज के इस प्रकार से कहने पर तब ॥ १९ ॥
बोले धार्मिक भरत वचन-विद्, हाथ जोड़, मुनि-प्रश्न-श्रवणकर।
भगवन् ! जिनको आप, शोकव्रत से दुर्बल अत्यन्त दुखिततर ॥ २० ॥
देवी जैसी देख रहे हैं, पूज्य पिता की रानी हैं यह।
इनसे सिंह-पराक्रम-गामी, पुरुष-सिंह अत्यन्त प्रबल वह ॥ २१ ॥
जन्मे राम, अदिति से धाता जैसे, हैं कौसल्या जननी।
इनकी वाम भुजा से सटकर, खड़ी हुई हैं जो कि अनमनी[3] ॥ २२ ॥
यह दुःखार्त सुमित्रा देवी हैं नृप-मझली रानी दीना।
पुष्प-हीन कानन कनेर की डाली जैसी भूषण-हीना ॥ २३ ॥
इनके सत्य-विक्रमी, देवों के समान सत्कान्त सुलक्षण।
सुत हैं वे दोनों ही भ्राता, श्री शत्रुघ्न, वीरवर लक्ष्मण ॥ २४ ॥
राम नृसिंह स-लक्ष्मण जिसके कारण गये प्राण-भय-वन में।
नृप दशरथ भी गये स्वर्ग को, सुत-विहीन शोकित हो मन में ॥ २५ ॥
क्रोधी, अप्राज्ञा, गर्वीली, निज को सद्भाग्या विमानिनी[4]।
लगतीं आर्या, पर अनार्य हैं, ये कैकेयी विभव-कामिनी ॥ २६ ॥
इनको जानें ! मेरी माता, क्रूरा, पाप-निश्चया अतिशय।
ये हैं मूल, हमारे संकट की जो यह है मुझ पर निश्चय ॥ २७ ॥

---

१ दो रास्तों में से एक दाहिने; २ सवारियों ही पर रहने योग्य; ३ बेचैन; ४ गर्व करनेवाली।

इत्युक्त्वा नरशार्दूलो बाष्पगद्गदया गिरा।
विनिःश्वस्य स ताम्राक्षः क्रुद्धो नाग इव श्वसन् ॥ २८ ॥
भरद्वाजो महर्षिस्तं ब्रुवन्तं भरतं तदा।
प्रत्युवाच महाबुद्धिरिदं वचनमर्थवित् ॥ २९ ॥
न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया।
रामप्रव्राजनं ह्येतत् सुखोदर्कं भविष्यति ॥ ३० ॥
देवानां दानवानां च ऋषीणां भावितात्मनाम्।
हितमेव भविष्यद्धि रामप्रव्राजनादिह ॥ ३१ ॥
अभिवाद्य तु संसिद्धः कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम्।
आमन्त्र्य भरतः सैन्यं युज्यतामिति चाब्रवीत् ॥ ३२ ॥
ततो वाजिरथान् युक्त्वा दिव्यान् हेमविभूषितान्।
अध्यारोहत् प्रयाणार्थं बहून् बहुविधो जनः ॥ ३३ ॥
गजकन्या गजाश्चैव हेमकक्ष्याः पताकिनः।
जीमूता इव घर्मान्ते सघोषाः सम्प्रतस्थिरे ॥ ३४ ॥
विविधान्यपि यानानि महान्ति च लघूनि च।
प्रययुः सुमहार्हाणि पादैरपि पदातयः ॥ ३५ ॥
अथ यानप्रवेकैस्तु कौसल्याप्रमुखाः स्त्रियः।
रामदर्शनकाङ्क्षिण्यः प्रययुर्मुदितास्तदा ॥ ३६ ॥
चन्द्रार्कतरुणाभासां नियुक्तां शिबिकां शुभाम्।
आस्थाय प्रययौ श्रीमान् भरतः सपरिच्छदः ॥ ३७ ॥
सा प्रयाता महासेना गजवाजिसमाकुला।
दक्षिणां दिशमावृत्य महामेघ इवोत्थितः ॥ ३८ ॥
वनानि च व्यतिक्रम्य जुष्टानि मृगपक्षिभिः।
गङ्गायाः परवेलायां गिरिष्वथ नदीष्वपि ॥ ३९ ॥

सा सम्प्रहृष्टद्विपवाजियूथा
वित्रासयन्ती मृगपक्षिसंघान्।
महद्वनं तत् प्रविगाहमाना
रराज सेना भरतस्य तत्र ॥ ४० ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विनवतितमः सर्गः ॥ ९२ ॥

अरुण-नयन, नरसिंह भरत वे गद्गद वाणी में यह कहकर।
लंबी साँसें लगे खींचने, फुफकारे ज्यों क्रोधित विषधर॥ २८॥
ऐसा कहते हुए, भरत से राम - अवतरण - कारण - ज्ञाता।
बोले अति धीमान महाऋषि भरद्वाज वचनार्थ - विधाता॥ २९॥
दोष-दृष्टि मत करो, भरत! तुम, इस प्रकार से ककेयी-प्रति।
यह वन-वास, राम का होगा, सिद्ध भविष्यत् में सुख प्रद अति॥ ३०॥
देव, दानवों, महर्षियों सँग, जो करते हैं ईश्वर - चिन्तन।
उनके तथा जगत-मगल का कारण होगा राम-वन-गमन॥ ३१॥
हो कृतकृत्य भरत ने, मुनि का प्रदक्षिणा कर, शीश झुकाया।
राम-पता ले, आज्ञा लेकर, सेना-यात्रादेश[1] सुनाया॥ ३२॥
विविध वेष के लोग, स्वर्ण-युत रथ, घाड़ों को तभी जातकर।
उन पर यात्रा हेतु हो गये थे सवार तत्क्षण तदनन्तर॥ ३३॥
स्वर्ण-रज्जु-बन्धित गज-वामा[2], बहु गज शुभा पताकाच्छादित।
चले वृष्टि-गर्जित मेघो-सम, करके घण्टा-नाद अपरिमित॥ ३४॥
चले, लघु, वृहद् बहुत मूल्य के यानों पर भूपति-अधिकारी।
पैदल सेना चली पदों से, यात्रा की करके तैयारी॥ ३५॥
कौसल्यादिक प्रमुख रानियाँ, उत्तम यानारूढा[3] हो सब।
रामचन्द्र-दर्शन-अभिलाषा से चल पड़ीं मुदित होकर तब॥ ३६॥
फिर श्रीमान् भरत, नव समुदित रवि-शशि-कान्ता[4] डोली चढ़कर।
सोपकरण[5] चल पड़े, जिसे ले चलते थे वाहक कुछ पद-चर॥ ३७॥
वह विशाल सेना, गज, अश्वों की करके दक्षिण दिक् छादित।
उमड़ी हुई महामेघों की घटा - सदृश हो पड़ी प्रचालित॥ ३८॥
गंगा-पार-शैल नदियों के निकट विपिन मृग, खग से सेवित।
जो थे, उनका लंघन करके हुई शीघ्र आगे को प्रस्थित[6]॥ ३९॥

अति प्रसन्नता सेना - हाथी - घोड़ों में थी छाई
वन-मृग और खगों को ये थे, बहुत-बहुत भयदाई।
भरत-सैन्य ने विस्तृत वन में प्रविशित होकर तब फिर
एक अनोखी ही शोभा थी भलाभाँति से पाई॥ ४०॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
बानबेवाँ सर्ग समाप्त॥ ९२॥

---

१ सेना को कूच करने की आज्ञा; २ हथिनियाँ; ३ सवारियों पर सवार; ४ चन्द्र-सूर्य के समान कान्तिवाली; ५ आवश्यक सामान सहित; ६ प्रस्थान किया।

त्रिनवतितमः सर्गः

सेना-सहित भरत की चित्रकूट-यात्रा का वर्णन

तया महत्या यायिन्या ध्वजिन्या वनवासिनः।
अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथाः सम्प्रदुद्रुवुः ॥ १ ॥

ऋक्षाः पृषतमुख्याश्च रुरवश्च समन्ततः।
दृश्यन्ते वनवाटेषु गिरिष्वपि नदीषु च ॥ २ ॥

स सम्प्रतस्थे धर्मात्मा प्रीतो दशरथात्मजः।
वृतो महत्या नादिन्या सेनया चतुरङ्गया ॥ ३ ॥
सागरौघनिभा सेना भरतस्य महात्मनः।
महीं संछादयामास प्रावृषि द्यामिवाम्बुदः ॥ ४ ॥
तुरंगौघैरवतता वारणैश्च महाबलैः।
अनालक्ष्याचिरं कालं तस्मिन् काले बभूव सा ॥ ५ ॥

स गत्वा दूरमध्वानं सम्परिश्रान्तवाहनः।
उवाच वचनं श्रीमान् वसिष्ठं मन्त्रिणां वरम् ॥ ६ ॥
यादृशं लक्ष्यते रूपं यथा चैव मया श्रुतम्।
व्यक्तं प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

अयं गिरिश्चित्रकूटस्तथा मन्दाकिनी नदी।
एतत् प्रकाशते दूरान्नीलमेघनिभं वनम् ॥ ८ ॥
गिरेः सानूनि रम्याणि चित्रकूटस्य सम्प्रति।
वारणैरवमृद्यन्ते मामकैः पर्वतोपमैः ॥ ९ ॥

मुञ्चन्ति कुसुमान्येते नगाः पर्वतसानुषु।
नीला इवातपापाये तोयं तोयधरा घनाः ॥ १० ॥

किंनराचरितं देशं पश्य शत्रुघ्न पर्वते।
हयैः समन्तादाकीर्णं मकरैरिव सागरम् ॥ ११ ॥

एते मृगगणा भान्ति शीघ्रवेगाः प्रचोदिताः।
वायुप्रविद्धाः शरदि मेघजाला इवाम्बरे ॥ १२ ॥
कुर्वन्ति कुसुमापीडाञ्शिरःसु सुरभीनमी।
मेघप्रकाशैः फलकैर्दाक्षिणात्या नरा यथा ॥ १३ ॥

निष्कूजमिव भूत्वेदं वनं घोरप्रदर्शनम्।
अयोध्येव जनाकीर्णा सम्प्रति प्रतिभाति मे ॥ १४ ॥

तिरानबेवाँ सर्ग

सेना-सहित भरत की चित्रकूट-यात्रा का वर्णन

यात्रिक[1] उस विशाल सेना से, मत्त यूथ-पति वन के गज सब।
और अन्य मृग पीड़ित होकर, निज झुण्डों सँग भगे शीघ्र तब ॥ १ ॥
चितकबरे मृग, रीछ, हरिण, रुरु[2], वनों, पर्वतों, नदियों-तट पर।
दिखते थे सेना से पीड़ित, भगते अतिशय इधर से उधर ॥ २ ॥
कोलाहलकारिणी विशाला, चतुरंगिनि सेना से घिरकर।
धर्मात्मा दशरथ-सुत करते थे, यात्रा होकर प्रसन्नतर ॥ ३ ॥
वर्षाॠतु में मेघ-घटा है, लेती घेर गगन को जैसे।
भरत-विशद सिन्धूपम[3] सेना से भू-भाग घिरा तब वैसे ॥ ४ ॥
अश्व-समूहों, महाबलगजों से संयुत सेना अति विस्तृत।
बहुत देर तक नहीं देखने में आती थी सेना की इति[4] ॥ ५ ॥
दूर मार्ग चलने पर वाहन हुए भरत के श्रमित अधिक जब।
कहा मन्त्रिवर श्री वसिष्ठ से, उन श्रीमान् भरत जी ने तब ॥ ६ ॥
मैंने जैसा सुना, दिख रहा स्थल-स्वरूप जो ब्रह्मन्! यह सब।
उससे लगता, भरद्वाज के कथित स्थान पर आये हम अब ॥ ७ ॥
चित्रकूट गिरि लगता यह ही, है वह मन्दाकिनी नदी अब।
गिरि-समीप के विपिन दूर से, नील मेघ-सम भासित हैं सब ॥ ८ ॥
ये मेरे पर्वताकार गज, निश्चित ही अब इस अवसर पर।
रुचिकर चित्रकूट गिरि-शिखरों का चलते हैं अवमर्दन[5] कर ॥ ९ ॥
गिरि-शिखरों पर पुष्प-वृष्टि हैं करते ये सब तरुवर वैसे।
वर्षा में उन पर करते हैं नील मेघ, जल-वर्षण जैसे ॥ १० ॥
किन्नर-विचरण-स्थल देखो तो पर्वत का शत्रुघ्न! इस समय।
अश्वों से हो व्याप्त, मकर-गणयुक्त सिन्धु-सा लगता निश्चय ॥ ११ ॥
सैनिक-प्रेरित, मृगसमूह है, तीव्रा गति से भगता वैसे।
पवन-उड़ाये शरद्-मेघ हैं नभ में शोभित होते जैसे ॥ १२ ॥
सैनिक वा तरु, मेघ-कान्ति की ढालों से लक्षित हैं ऐसे।
दाक्षिणात्य जन[6], वा तरु-मस्तक पर हों पुष्प-विभूषित जैसे ॥ १३ ॥
यह वन, जन-रव-शून्य प्रथम जो भयकारी था प्रथम दिखाता।
वही, साथ-आगत लोगों से व्याप्त, अयोध्या-सा है भाता ॥ १४ ॥

---

१ यात्रा करती हुई; २ काला हिरन; ३ समुद्र के समान; ४ अन्त; ५ मान-मर्दन करते हुए; ६ दक्षिण के निवासी।

खुरैरुदीरितो रेणुर्दिवं प्रच्छाद्य तिष्ठति।
तं वहत्यनिलः शीघ्रं कुर्वन्निव मम प्रियम् ॥ १५ ॥
स्यन्दनांस्तुरगोपेतान् सूतमुख्यैरधिष्ठितान्।
एतान् सम्पततः शीघ्रं पश्य शत्रुघ्न कानने ॥ १६ ॥
एतान् वित्रासितान् पश्य बर्हिणः प्रियदर्शनान्।
एवमापततः शैलमधिवासं पतत्रिणः ॥ १७ ॥
अतिमात्रमयं देशो मनोज्ञः प्रतिभाति मे।
तापसानां निवासोऽयं व्यक्तं स्वर्गपथोऽनघ ॥ १८ ॥
मृगा मृगीभिः सहिता बहवः पृषता वने।
मनोज्ञरूपा लक्ष्यन्ते कुसुमैरिव चित्रिताः ॥ १९ ॥
साधु सैन्याः प्रतिष्ठन्तां विचिन्वन्तु च काननम्।
यथा तौ पुरुषव्याघ्रौ दृश्येते रामलक्ष्मणौ ॥ २० ॥
भरतस्य वचः श्रुत्वा पुरुषाः शस्त्रपाणयः।
विविशुस्तद्वनं शूरा धूमाग्रं ददृशुस्ततः ॥ २१ ॥
ते समालोक्य धूमाग्रमूचुर्भरतमागताः।
नामनुष्ये भवत्यग्निर्व्यक्तमत्रैव राघवौ ॥ २२ ॥
अथ नात्र नरव्याघ्रौ राजपुत्रौ परंतपौ।
अन्ये रामोपमाः सन्ति व्यक्तमत्र तपस्विनः ॥ २३ ॥
तच्छ्रुत्वा भरतस्तेषां वचनं साधुसम्मतम्।
सैन्यानुवाच सर्वांस्तानमित्रबलमर्दनः ॥ २४ ॥
यत्ता भवन्तस्तिष्ठन्तु नेतो गन्तव्यमग्रतः।
अहमेव गमिष्यामि सुमन्त्रो धृतिरेव च ॥ २५ ॥
एवमुक्तास्ततः सैन्यास्तत्र तस्थुः समन्ततः।
भरतो यत्र धूमाग्रं तत्र दृष्टिं समादधत् ॥ २६ ॥

व्यवस्थिता या भरतेन सा चमू-
र्निरीक्षमाणापि च भूमिमग्रतः।
बभूव हृष्टा नचिरेण जानती
प्रियस्य रामस्य समागमं सदा ॥ २७ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमः सर्गः

श्रीराम का सीता को चित्रकूट की शोभा दिखाना

दीर्घकालोषितस्तस्मिन् गिरौ गिरिवरप्रियः।
वैदेह्याः प्रियमाकाङ्क्षन् स्वं च चित्तं विलोभयन् ॥ १ ॥

अश्व-खुरों से उड़ी धूल जो, नभ को ढककर है रुक जाती।
हवा प्रियकरी मेरी, यह है उसे शीघ्र ही अलग उड़ाती ॥ १५ ॥
देखो तो शत्रुघ्न! अश्व-युत, उत्तम सूतों द्वारा चालित।
ये रथ कितनी तीव्रा गति से, आगे को होते हैं धावित ॥ १६ ॥
प्रियदर्शन मोरों को देखो! जो सैनिक लख अति भय पाते।
तथा पक्षियों को, जो गिरि की ओर शीघ्र उड़कर हैं जाते ॥ १७ ॥
और अनघ शत्रुघ्न! देश यह, परम मनोहर मुझको भाता।
तपस्वियों के वासस्थल में, स्वर्ग-मार्ग की छवि मैं पाता ॥ १८ ॥
वन में मृगियों-सँग चितकबरे मृग विचरक सुन्दर हैं ऐसे।
मानो इन्हें विविध पुष्पों से सज्जित किया गया हो जैसे ॥ १९ ॥
आगे बढ़कर खोजे, मेरे सैनिक वन में समुचित ढँग से।
पता लगे, उन पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण का जिससे ॥ २० ॥
भरत-वचन सुन, शस्त्र-हाथ ले, गये वीर बहु तब उस वन में।
कुछ दूरी पर चल, उन सबने उड़ता देखा धूम्र गगन में ॥ २१ ॥
धुआँ देखकर, वे सब सैनिक लौट, भरत से बोले आकर।
निर्जन वन में धुआँ न होता! राघव होंगे अतः वहाँ पर ॥ २२ ॥
यदि न परंतप पुरुषसिंह वे नृप-सुत होंगे कहीं वहाँ पर।
तो रामोपम अन्य तपस्वी, तेजस्वी होंगे निश्चयकर ॥ २३ ॥
भरत, उन समय उन लोगों के साधु-सुसम्मत वचन श्रवण कर।
बोले सभी सैनिकों से तब, रिपु-सेना-मर्दक वे सत्वर ॥ २४ ॥
हो सतर्क, तुम सभी रुको अब यही, न जाना! आगे बढ़कर।
अब मैं ही उस स्थल-जाऊँगा तथा साथ में धृति सुमन्त्रवर ॥ २५ ॥
उनकी आज्ञा पा, सैनिक वे, खड़े हुए सब ओर फैलकर।
और भरत ने उधर नज़र की, धुआँ बताया गया था जिधर ॥ २६ ॥

गयी तभी ठहराई सेना वहाँ भरत के द्वारा
रुकी हर्ष से वहीं, देखकर, अग्रिम स्थल भी सारा।
क्योंकि उन्हें भी ज्ञात हो गया था कि शीघ्र ही निश्चय
राम-समागम-अवसर आनेवाला है अब प्यारा ॥ २७ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
तिरानबेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९३ ॥

चौरानबेवाँ सर्ग

श्रीराम का सीता को चित्रकूट की शोभा दिखाना

अधिक समय रहने से, गिरिवर हुआ राम को अतिशय प्रिय जब।
अपने मनोविनोद और उन वैदेही का प्रिय करने, तब ॥ १ ॥

अथ दाशरथिश्चित्रं चित्रकूटमदर्शयत् ।
भार्याममरसंकाशः शचीमिव पुरंदरः ॥ २ ॥
न राज्यभ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विनाभवः ।
मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम् ॥ ३ ॥
पश्येममचलं भद्रे नानाद्विजगणायुतम् ।
शिखरैः खमिवोद्विद्धैर्धातुमद्भिर्विभूषितम् ॥ ४ ॥
केचिद् रजतसंकाशाः केचित् क्षतजसंनिभाः ।
पीतमाञ्जिष्ठवर्णाश्च केचिन्मणिवरप्रभाः ॥ ५ ॥
पुष्पार्ककेतकाभाश्च केचिज्ज्योतीरसप्रभाः ।
विराजन्तेऽचलेन्द्रस्य देशा धातुविभूषिताः ॥ ६ ॥
नानामृगगणद्वीपितरक्ष्वृक्षगणैर्वृतः ।
अदुष्टैर्भात्ययं शैलो बहुपक्षिसमाकुलः ॥ ७ ॥
आम्रजम्ब्वसनैर्लोध्रैः प्रियालैः पनसैर्धवैः ।
अङ्कोलैर्भव्यतिनिशैर्बिल्वतिन्दुकवेणुभिः ॥ ८ ॥
काश्मर्यरिष्टवरणैर्मधूकैस्तिलकैरपि ।
बदर्यामलकैर्नीपैर्वेत्रधन्वनबीजकैः ॥ ९ ॥
पुष्पवद्भिः फलोपेतैश्छायावद्भिर्मनोरमैः ।
एवमादिभिराकीर्णः श्रियं पुष्यत्ययं गिरिः ॥ १० ॥
शैलप्रस्थेषु रम्येषु पश्येमान् कामहर्षणान् ।
किनरान् द्वन्द्वशो भद्रे रममाणान् मनस्विनः ॥ ११ ॥
शाखावसक्तान् खड्गांश्च प्रवराण्यम्बराणि च ।
पश्य विद्याधरस्त्रीणां क्रीडोद्देशान् मनोरमान् ॥ १२ ॥
जलप्रपातैरुद्भेदैर्निष्पन्दैश्च क्वचित् क्वचित् ।
स्रवद्भिर्भात्ययं शैलः स्रवन्मद इव द्विपः ॥ १३ ॥
गुहासमीरणो गन्धान् नानापुष्पभवान् बहून् ।
घ्राणतर्पणमभ्येत्य कं नरं न प्रहर्षयेत् ॥ १४ ॥
यदीह शरदोऽनेकास्त्वया सार्धमनिन्दिते ।
लक्ष्मणेन च वत्स्यामि न मां शोकः प्रधर्षति ॥ १५ ॥
बहुपुष्पफले रम्ये नानाद्विजगणायुते ।
विचित्रशिखरे ह्यस्मिन् रतवानस्मि भामिनि ॥ १६ ॥
अनेन वनवासेन मम प्राप्तं फलद्वयम् ।
पितुश्चानृण्यता धर्मे भरतस्य प्रियं तथा ॥ १७ ॥

उन्हें सुरोपम[1] दशरथ-सुत ने चित्रकूट दिखलाया सुन्दर।
शची[2] स्वपत्नी को दिखलाते शैल-रम्यता यथा पुरन्दर[3] ॥ २ ॥
भद्रे! राज्य-अभाव, सुहृद्जन-विरह-दुःख होता सुदूर तब।
परम रम्य इस चित्रकूट की, सुषमा देखा करता हूँ जब ॥ ३ ॥
देखो भद्रे! बहु खग-गण-युत, शिखर धातुमय हरते जो मन।
उनसे शोभित शैल कर रहा, मानो नील गगन का भेदन ॥ ४ ॥
कुछ स्थल इसके चाँदी-सम हैं, कुछ लालिमा-रक्त-सी लाते।
कुछ सुपीत, कुछ हैं मँजीठ-सम, कुछ मणि-भासित सुखद दिखाते ॥ ५ ॥
कुछ पुखराज, स्फटिक-सम एवं विमल केवड़े के पुष्पों-सम।
कुछ नक्षत्र और पारे के सुप्रकाशमय हैं अति उत्तम ॥ ६ ॥
बहु खग, मृग, व्याघ्रों, चीतों-सँग रीछों से है गिरि यह पूरित।
इसके हिंसक जन्तु, अहिंसक हो, करते हैं इसको भूषित ॥ ७ ॥
जामुन, आम्र, प्रियाल[4], असन[5], धव[6], कटहल, लोध, वंश[7] लहलाते।
तिनिश[8], भव्य, अंकोल, बेल प्रिय तिन्दुक-तरु हैं सुखद दिखाते ॥
और इन्द्रजौ, बेर, आमला, वेत, कदम्ब, अनार समुत्तम।
महुआ, निम्ब, तिलक, कश्मीरी, वरण आदि के तरु हैं निरुपम ॥
ये सब तरु हैं स-फल-पुष्पमय तथा घनी छाया से अन्वित।
इनसे पूरित गिरि करता है, एक अनोखी सुषमा प्रसरित ॥८-१०॥
देखो भद्रे! रम्य गिरि-शिखर, करते काम-हर्ष संवर्धन।
और मनस्वी किन्नर-दम्पति, यहाँ विचरकर बहलाते मन ॥ ११ ॥
देखो! तरु-शाखाओं पर हैं, खड्ग लटकते किन्नर-गण के।
एवं विद्याधरस्त्रियों के वसन मनोरम क्रीड़ा-स्थल के ॥ १२ ॥
गिरि-ऊपर से झरने गिरते, कहीं भूमि से स्रोत निकलते।
ये सब छोटे स्रोत, शैल-गज-मस्तक के मद-सम हैं बहते ॥ १३ ॥
विविध पुष्प-सौरभ लगते जो हवा गुफाओं से है आती।
वह किस जन-नासा को करके, तृप्त हर्ष है नहीं बढ़ाती ॥ १४ ॥
यहाँ रहूँ यदि बहु वर्षों भी, साध्वि! तुम्हारे, लक्ष्मण के सह।
तो भी पीड़ित नहीं करेगा, नगर-त्याग का शोक मुझे वह ॥ १५ ॥
भामिनि! यह खग, पुष्प, फलों से, शोभित रम्य शैल अति भाता।
रम्य शिखर वाले इस पर है मेरा मन सुस्थिर हो पाता ॥ १६ ॥
लाभ मुझे दो हुए, प्रिये! इस वन-निवास से मुझको निश्चय।
प्रथम, पिताज्ञा-ऋण-प्रपूर्ति है, अन्य भरत-प्रिय[9] होना अतिशय ॥ १७ ॥

---

१ देवता के समान; २ इन्द्राणी; ३ इन्द्र; ४ चिरौंजी के पेड़; ५ पीतशाल, साल वृक्ष; ६ एक औषधि का वृक्ष; ७ बाँस; ८ एक शीशम की जाति; ९ भरत का कल्याण।

वैदेहि रमसे कच्चिच्चित्रकूटे मया सह।
पश्यन्ती विविधान् भावान् मनोवाक्काय सम्मतान्॥ १८॥
इदमेवामृतं प्राहू राज्ञि राजर्षयः परे।
वनवासं भवार्थाय प्रेत्य मे प्रपितामहाः॥ १९॥
शिलाःशैलस्य शोभन्ते विशालाः शतशोऽभितः।
बहुला बहुलैर्वर्णैर्नीलपीतसितारुणैः॥ २०॥
निशि भान्त्यचलेन्द्रस्य हुताशनशिखा इव।
ओषध्यः स्वप्रभालक्ष्म्या भ्राजमानाः सहस्रशः॥ २१॥
केचित् क्षयनिभा देशाः केचिदुद्यानसंनिभाः।
केचिदेकशिला भान्ति पर्वतस्यास्य भामिनि॥ २२॥
भित्त्वेव वसुधां भाति चित्रकूटः समुत्थितः।
चित्रकूटस्य कूटोऽयं दृश्यते सर्वतः शुभः॥ २३॥
कुष्ठस्थगरपुंनागभूर्जपत्रोत्तरच्छदान्।
कामिनां स्वास्तरान् पश्य कुशेशयदलायुतान्॥ २४॥
मृदिताश्चापविद्धाश्च दृश्यन्ते कमलस्रजः।
कामिभिर्वनिते पश्य फलानि विविधानि च॥ २५॥
वस्वौकसारां नलिनीमतीत्यैवोत्तरान् कुरून्।
पर्वतश्चित्रकूटोऽसौ बहुमूलफलोदकः॥ २६॥
इमं तु कालं वनिते विजह्रिवां-
स्त्वया च सीते सह लक्ष्मणेन।
रतिं प्रपत्स्ये कुलधर्मवर्धिनीं
सतां पथि स्वैर्नियमैः परैः स्थितः॥ २७॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्नवतितमः सर्गः॥ ९४॥

पञ्चनवतितमः सर्गः

श्रीराम का सीता के प्रति मन्दाकिनी नदी की शोभा का वर्णन

अथ शैलाद् विनिष्क्रम्य मैथिलीं कोसलेश्वरः।
अदर्शयच्छुभजलां रम्यां मन्दाकिनीं नदीम्॥ १॥
अब्रवीच्च वरारोहां चन्द्रचारुनिभाननाम्।
विदेहराजस्य सुतां रामो राजीवलोचनः॥ २॥

मन, वाणी, काया-प्रिय एवं विविध पदार्थों से परिपूरित।
मेरे सँग वैदेहि! तुम्हें भी चित्रकूट करता है प्रमुदित? ॥ १८ ॥
उच्च राजऋषि पितामहों ने मेरे इसको अमृत बताया।
वन-निवास, मरणोपरान्त भी, रानी! सुख-प्रद है कहलाया ॥ १९ ॥
चारों ओर शैल की शत-शत शोभा पातीं वृहद् शिलाएँ।
नीली, पीली, श्वेत, लाल हैं, बहुवर्णी[1] जिनकी आभाएँ ॥ २० ॥
और सहस्रों शैलोषधियाँ, निज ओज - सम्पदा से भासित।
अग्नि-शिखा की भाँति रात्रि में, होती हैं ये सभी प्रकाशित ॥ २१ ॥
कुछ गृह-सम, उद्यान-सदृश कुछ, कुछ चम्पा, मालती-प्रपूरित।
गिरि-स्थल हैं, भामिनि! कुछ में है बहुत दूर तक एक शिला स्थित ॥ २२ ॥
चित्रकूट ऊपर उठ आया, लगता पृथ्वी-भेदन कर है।
सभी ओर से शिखर देखने में लगता इसका सुन्दर है ॥ २३ ॥
प्रिये! पुत्र जीवक, उत्पल प्रिय, भोजपत्र, पुन्नाग - पत्रमय।
देखो! कामि - विस्तरों में है, दिखता, कमलपत्र का संचय ॥ २४ ॥
इधर कामिजन-मसलो[2] फेंकी, गई कमल की ये मालाएँ।
देखो प्रिये! विविध वृक्षों को, जिनकी है फल-युत शाखाएँ ॥ २५ ॥
चित्रकूटगिरि बहु फल, मूलों और मधुर जल से परिपूरित।
उत्तर कुरु, अलका महेन्द्र की नलिनी[3] को भी करता निन्दित ॥ २६ ॥

सीते वनिते! सम्मार्गस्थित हो यदि नियम निभाऊँ
तुम एवं लक्ष्मण-सँग सुख से इस गिरि पर रह जाऊँ।
बीते यह सानन्द, विपिन में रहने का तप-अवसर
तो कुल-धर्म-विवर्धिनि[4] स्थिति का, अतिशय सुख मैं पाऊँ ॥ २७ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में चौरानवेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९४ ॥

पंचानवेवाँ सर्ग

श्रीराम का सीता के प्रति मन्दाकिनी नदी की शोभा का वर्णन

राम कोसलाधिप, गिरि-बाहर साथ मैथिली के आये जब।
उन्हें दिखाने लगे, शुभ जला रम्या मन्दाकिनी नदी तब ॥ १ ॥
सुकटि[5], चारु[6] शशिमुखि विदेह-नृप-पुत्री[7] से वे कमलनयन फिर।
बोले रघुवर राम, उस समय, इस प्रकार से वचन अति रुचिर ॥ २ ॥

---

१ बहुरंगी; २ मली हुई; ३ कुबेर की कमलयुक्त सुगन्धित पुष्करिणी; ४ बढ़ानेवाली; ५ सुन्दर कमर वाली; ६ सुन्दर; ७ सीता।

विचित्रपुलिनां रम्यां हंससारससेविताम् ।
कुसुमैरुपसम्पन्नां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ३ ॥
नानाविधैस्तीररुहैर्वृतां पुष्पफलद्रुमैः ।
राजन्तीं राजराजस्य नलिनीमिव सर्वतः ॥ ४ ॥
मृगयूथनिपीतानि कलुषाम्भांसि साम्प्रतम् ।
तीर्थानि रमणीयानि रतिं संजनयन्ति मे ॥ ५ ॥
जटाजिनधराः काले वल्कलोत्तरवाससः ।
ऋषयस्त्ववगाहन्ते नदीं मन्दाकिनीं प्रिये ॥ ६ ॥
आदित्यमुपतिष्ठन्ते नियमादूर्ध्वबाहवः ।
एते परे विशालाक्षि मुनयः संशितव्रताः ॥ ७ ॥
मारुतोद्धूतशिखरैः प्रनृत्त इव पर्वतः ।
पादपैः पुष्पपत्राणि सृजद्भिरभितो नदीम् ॥ ८ ॥
क्वचिन्मणिनिकाशोदां क्वचित् पुलिनशालिनीम् ।
क्वचित् सिद्धजनाकीर्णां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ९ ॥
निर्धूतान् वायुना पश्य विततान् पुष्पसंचयान् ।
पोप्लूयमानानपरान् पश्य त्वं तनुमध्यमे ॥ १० ॥
पश्यैतद्वल्गुवचसो रथाङ्गाह्वयना द्विजाः ।
अधिरोहन्ति कल्याणि निष्कूजन्तः शुभा गिरः ॥ ११ ॥
दर्शनं चित्रकूटस्य मन्दाकिन्याश्च शोभने ।
अधिकं पुरवासाच्च मन्ये तव च दर्शनात् ॥ १२ ॥
विधूतकल्मषैः सिद्धैस्तपोदमशमान्वितैः ।
नित्यविक्षोभितजलां विगाहस्व मया सह ॥ १३ ॥
सखीवच्च विगाहस्व सीते मन्दाकिनीं नदीम् ।
कमलान्यवमज्जन्ती पुष्कराणि च भामिनि ॥ १४ ॥
त्वं पौरजनवद् व्यालानयोध्यामिव पर्वतम् ।
मन्यस्व वनिते नित्यं सरयूवदिमां नदीम् ॥ १५ ॥
लक्ष्मणश्चैव धर्मात्मा मन्निदेशे व्यवस्थितः ।
त्वं चानुकूला वैदेहि प्रीतिं जनयती मम ॥ १६ ॥
उपस्पृशंस्त्रिषवणं मधुमूलफलाशनः ।
नायोध्यायै न राज्याय स्पृहये च त्वया सह ॥ १७ ॥
इमां हि रम्यां गजयूथलोडितां
निपीततोयां गजसिंहवानरैः ।
सुपुष्पितां पुष्पभरैरलंकृतां
न सोऽस्ति यः स्यान्न गतक्लमः सुखी ॥ १८ ॥

पुष्प सुशोभित सुन्दर तट की, मन्दाकिनी नदी देखो! अब।
प्रिये! बढ़ाते जिसकी सुषमा, सारस, हंस आदि मिलकर सब ॥ ३ ॥
फल, मूलान्वित विविध तटस्थित वृक्षों से यह घिरी यथोचित।
मन्दाकिनी, कुबेर-सरोवर, सौगन्धिक-सी होती शोभित ॥ ४ ॥
यद्यपि इसके जल को पीकर, हरिण कर गये हैं कुछ कलुषित।
फिर भी इसके रम्य घाट हैं, मेरे मन को करते प्रमुदित ॥ ५ ॥
प्रिये! जटा, मृग-चर्म, सु-वल्कल-उत्तरीय-धारी महर्षि-गण।
करता मन्दाकिनी-स्नान है, आकर, पा उपयुक्त स्नान-क्षण ॥ ६ ॥
विशालाक्षि! दृढ़व्रती मुनीश्वर करते अपनी नित्य क्रियाएँ।
रवि को नमस्कार करते हैं, उन्नत कर, निज यहाँ भुजाएँ ॥ ७ ॥
वायु-प्रचारित तरु-शाखाओं से मानो नाचता गिरि-शिखर।
मन्दाकिनी नदी के तट पर, फूल और पत्ते बिखेर कर ॥ ८ ॥
उच्च कगार-शोभिता इसमें, कहीं मोतियों-सा बहता जल।
कहीं सिद्धजन स्नान कर रहे, जिनसे पूरित है तट का स्थल ॥ ९ ॥
देखो, तनु-मध्यमे[1]! पवन से लाये गये, पुष्प, तट द्वय पर।
शोभा बढ़ा रही है जल में, पुष्प-राशि कुछ इधर तैरकर ॥ १० ॥
देखो तो कल्याणि! कर रहे, चक्रवाक खग, कलरव सुन्दर।
कितने अच्छे लगते, बैठे, जो दोनों तट पर हैं आकर ॥ ११ ॥
चित्रकूट एवं मन्दाकिनि-दर्शन होता जो प्रतिदिन यह।
होता, पुर-निवास से ज्यादा सुखद, देख करके तुमको वह ॥ १२ ॥
इसमें तप, दम, शम-अन्वित हैं, नित्य नहाते अनघ सिद्ध सब।
मेरे साथ चलो! अब तुम भी, क्षोभित जल में स्नान करो अब ॥ १३ ॥
भामिनि! एक सखी अन्या सह, जल-क्रीड़ा करती है जैसे।
डुबा-डुबा श्वेतारुण कमलों को अब स्नान करो तुम! वैसे ॥ १४ ॥
प्रिये! निवासी वन के हैं ये, मानो पौरजनो से उत्तम।
समझो! शैल अयोध्या है यह, मन्दाकिनी नदी सरयू-सम ॥ १५ ॥
तुम मेरी अनुकूला हो, हैं धर्मात्मा लक्ष्मण अधीन नित।
इन दोनों बातों से होता है मन मेरा अतिशय प्रमुदित ॥ १६ ॥
प्रिये! तुम्हारे साथ स्नान त्रय[2] करके मूल और फल खाकर।
अब तो नहीं चाहता, होऊँ, राजा वहाँ अयोध्या जाकर ॥ १७ ॥

गज-गण-मन्थित जिसका जल, कपि-सिंहादिक पी जाते
पुष्पित तरु, पुष्पालंकृत तट, सुन्दर जिसके भाते।
ऐसी मन्दाकिनी नदी में, रम्य स्नान कर जन जो
ग्लानि-रहित, अति सुखी न हों, वे जग में नहीं दिखाते ॥ १८ ॥

---

1 सूक्ष्म कटि वाली; 2 तीनों काल स्नान।

इतीव रामो बहुसंगतं वचः
प्रियासहायः सरितं प्रति ब्रुवन् ।
चचार रम्यं नयनाञ्जनप्रभं
स चित्रकूटं रघुवंशवर्धनः ॥ १६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चनवतितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

षण्णवतितमः सर्गः

वन-जन्तुओं के भागने का कारण जानने के लिए श्रीराम की आज्ञा से लक्ष्मण का शाल-वृक्ष पर चढ़कर भरत की सेना को देखना और उनके प्रति अपना रोषपूर्ण उद्गार प्रकट करना

तां तदा दर्शयित्वा तु मैथिलीं गिरिनिम्नगाम् ।
निषसाद गिरिप्रस्थे सीतां मांसेन छन्दयन् ॥ १ ॥
इदं मेध्यमिदं स्वादु निष्टप्तमिदमग्निना ।
एवमास्ते स धर्मात्मा सीतया सह राघवः ॥ २ ॥
तथा तत्रासतस्तस्य भरतस्योपयायिनः ।
सैन्यरेणुश्च शब्दश्च प्रादुरास्तां नभस्पृशौ ॥ ३ ॥
एतस्मिन्नन्तरे त्रस्ताः शब्देन महता ततः ।
अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथाद् दुद्रुवुर्दिशः ॥ ४ ॥
स तं सैन्यसमुद्भूतं शब्दं शुश्राव राघवः ।
तांश्च विप्रद्रुतान् सर्वान् यूथपानन्ववैक्षत ॥ ५ ॥
तांश्च विप्रद्रुतान् दृष्ट्वा तं च श्रुत्वा महास्वनम् ।
उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं दीप्ततेजसम् ॥ ६ ॥
हन्त लक्ष्मण पश्येह सुमित्रा सुप्रजास्त्वया ।
भीमस्तनितगम्भीरं तुमुलः श्रूयते स्वनः ॥ ७ ॥
गजयूथानि वारण्ये महिषा वा महावने ।
वित्रासिता मृगाः सिंहैः सहसा प्रद्रुता दिशः ॥ ८ ॥
राजा वा राजपुत्रो वा मृगयामटते वने ।
अन्यद्वा श्वापदं किंचित् सौमित्रे ज्ञातुमर्हसि ॥ ९ ॥
सुदुश्चरो गिरिश्चायं पक्षिणामपि लक्ष्मण ।
सर्वमेतद् यथातत्त्वमभिज्ञातुमिहार्हसि ॥ १० ॥
स लक्ष्मणः संत्वरितः सालमारुह्य पुष्पितम् ।
प्रेक्षमाणो दिशः सर्वाः पूर्वां दिशमवैक्षत ॥ ११ ॥

मन्दाकिनी नदी-प्रति, कहते हुए, सुसंगत सु-वचन
सीता जो से रामचन्द्र ने, शुभ रघुवंश - विवर्धन[1]।
नीलकान्ति वाले सुरम्य उस चित्रकूट पर्वत पर
विचरण करने लगे स्वप्रिया पत्नी-सँग, हर्षित मन ॥ १९ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में पंचानबेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९५ ॥

छियानबेवाँ सर्ग

वन-जन्तुओं के भागने का कारण जानने के लिए श्रीराम की आज्ञा से लक्ष्मण का शाल-वृक्ष पर चढ़कर भरत की सेना को देखना और उनके प्रति अपना रोषपूर्ण उद्गार प्रकट करना

बैठे राम, शैल-समतल में सीता को वह नदी दिखाकर।
फल - गूदे से, लगे मैथिली - मोद बढ़ाने, प्रणय जताकर ॥ १ ॥
श्री सीता को धर्मात्मा उन रामचन्द्र ने तभी बताया।
प्रिये ! कन्द स्वादिष्ट, अग्नि में ठीक तरह यह गया पकाया ॥ २ ॥
ऐसे बैठे हुए राम के, भरत-सैन्य के बहुत ही निकट।
आने लगी धूलि, कोलाहल, भी नभ-स्पर्शी हुआ तब प्रकट ॥ ३ ॥
सेना-कोलाहल महान से, भीत हुए मतवाले गज तब।
और सभी, निज झुण्डों को ले, लगे भागने यूथाधिप[2] सब ॥ ४ ॥
सुना राम ने भी कोलाहल वह, जो भरत-सैन्य का आता।
देखा तथा यूथपति-दल[3] को, जो था विह्वल भागा जाता ॥ ५ ॥
देख भागते हुए गजों को, सैन्य-शब्द भीषण अति सुनकर।
बोले राम, सुमित्रा - सुत श्री लक्ष्मण से, उद्दीप्त तेजधर ॥ ६ ॥
इस जग में सुतवती सुमित्रा श्रेष्ठ तुम्हीं से हैं, हे लक्ष्मण !।
देखो तो ! यह भीम - गर्जना - युक्त नाद है कैसा भीषण ? ॥ ७ ॥
सभी ओर सहसा मृग, भैंसे, गज-दल जो भागते दिखाते।
विस्तृत वन में, उनको सिंहों के समूह तो नहीं डराते ॥ ८ ॥
देखो ! कोई नृप या नृप-सुत वन में आया है मृगया-हित ?।
अथवा हिंसक जन्तु अन्य है, कोई यहाँ हो गया प्रकटित ॥ ९ ॥
इस गिरि पर आना दुर्गम है, नये पक्षियों का लक्ष्मण ! जब।
तब ये सब क्यों भाग रहे हैं, इसका पता लगाओ तुम ! अब ॥ १० ॥
रामाज्ञा से शीघ्र सुपुष्पित शाल-वृक्ष पर चढ़कर लक्ष्मण।
लगे देखने, सभी दिशाएँ, फिर देखा पूरब में तत्क्षण ॥ ११ ॥

---

१ श्रीराम; २ हाथियों के झुण्डों के अगुआ; ३ हाथियों का झुण्ड।

उदङ्मुखः प्रेक्षमाणो ददर्श महतीं चमूम् ।
गजाश्वरथसम्बाधां यत्तैर्युक्तां पदातिभिः ॥ १२ ॥
तामश्वरथसम्पूर्णां रथध्वजविभूषिताम् ।
शशंस सेनां रामाय वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १३ ॥
अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम् ।
सज्यं कुरुष्व चापं च शरांश्च कवचं तथा ॥ १४ ॥
तं रामः पुरुषव्याघ्रो लक्ष्मणं प्रत्युवाच ह ।
अङ्गावेक्षस्व सौमित्रे कस्येमां मन्यसे चमूम् ॥ १५ ॥
एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।
दिधक्षन्निव तां सेनां रुषितः पावको यथा ॥ १६ ॥
सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम् ।
आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरतः सुतः ॥ १७ ॥
एष वै सुमहाञ्छ्रीमान् विटपी सम्प्रकाशते ।
विराजत्युज्ज्वलस्कन्धः कोविदारध्वजो रथे ॥ १८ ॥
भजन्त्येते यथाकाममश्वानारुह्य शीघ्रगान् ।
एते भ्राजन्ति संहृष्टा गजानारुह्य सादिनः ॥ १९ ॥
गृहीतधनुषावावां गिरिं वीर श्रयावहे ।
अथवेहैव तिष्ठावः संनद्धावुद्यतायुधौ ॥ २० ॥
अपि नौ वशमागच्छेत् कोविदारध्वजो रणे ।
अपि द्रक्ष्यामि भरतं यत्कृते व्यसनं महत् ॥ २१ ॥
त्वया राघव सम्प्राप्तं सीतया च मया तथा ।
यन्निमित्तं भवान् राज्याच्च्युतो राघव शाश्वतात् ॥ २२ ॥
सम्प्राप्तोऽयमरिर्वीर भरतो वध्य एव हि ।
भरतस्य वधे दोषं नाहं पश्यामि राघव ॥ २३ ॥
पूर्वापकारिणं हत्वा न ह्यधर्मेण युज्यते ।
पूर्वापकारी भरतस्त्यागेऽधर्मश्च राघव ॥ २४ ॥
एतस्मिन् निहते कृत्स्नामनुशाधि वसुंधराम् ।
अद्य पुत्रं हतं संख्ये कैकेयी राज्यकामुका ॥ २५ ॥
मया पश्येत् सुदुःखार्ता हस्तिभिन्नमिव द्रुमम् ।
कैकेयीं च वधिष्यामि सानुबन्धां सबान्धवाम् ॥ २६ ॥
कलुषेणाद्य महता मेदिनी परिमुच्यताम् ।
अद्येमं संयतं क्रोधमसत्कारं च मानद ॥ २७ ॥
मोक्ष्यामि शत्रुसैन्येषु कक्षेष्विव हुताशनम् ।
अद्यैव चित्रकूटस्य काननं निशितैः शरैः ॥ २८ ॥

पुन: देखते हुए उन्होंने, जब पूरब को दृष्टि उठाई।
यत्नशील पैदल, गजाश्व, रथ-युता पड़ी सेना दिखलाई॥ १२॥
अत: उन्होंने रथ-ध्वज-भूषित, जब रथाश्व-सेना देखी वह।
तब सूचित कर रामचन्द्र को, कही उस समय बात शीघ्र यह॥ १३॥
सीता बैठें, आर्य! गुफा में, आप शीघ्र ही अग्नि बुझाएँ।
पहनें कवच, धनुष-शर-सज्जित कर प्रत्यञ्चा शीघ्र चढ़ाएँ॥ १४॥
कहा नृसिंह राम ने, लक्ष्मण से उनकी बातें सुनकर तब।
सेना किसकी तुम्हें समझ में आती, सौमित्ते! देखो अब॥ १५॥
राम-कथन पर, तब लक्ष्मण ने अग्नि-सदृश हो रोष-प्रज्वलित।
सैन्य देखकर कहा, करेंगे मानो उसे शीघ्र ही भस्मित॥ १६॥
भैया! निज अभिषिक्त राज्य को, कण्टक-हीन बनाने के हित।
कैकेयी-सुत भरत आ रहा, हम दोनों के वध को निश्चित॥ १७॥
वह जो श्री-सम्पन्न वृहत् तरु के समीप रथ खड़ा दिखाता।
धवल तना युत कोविदार[1]-ध्वज उस पर है शोभा अति पाता॥ १८॥
इच्छित शीघ्रग घोड़ों पर चढ़, घुड़सवार देखो हैं आते।
हर्ष-प्रकाशित गज-सवार भी, गज पर आते हुए दिखाते॥ १९॥
वीर! चाहिए, हम दोनों हों, लेकर धनुष, शैल-शिखर-स्थित।
कवच बाँधकर रुकें वहीं पर, अस्त्र-शस्त्र लेकर अब समुचित॥ २०॥
हम दोनों के वश में होगा, कोविदार-ध्वज रण में वैसे।
तथा उस भरत को देखूंगा, जिसके कारण संकट ऐसे॥
सीता-सहित आप पर, मुझ पर इस प्रकार से आये अगणित।
तथा आप, शाश्वत नृप-पद से, अपने हुए इस तरह वञ्चित॥२१-२२॥
राघव वीर! भरत रिपु है यह, वध के योग्य, यहाँ जो आया।
इसके वध में दोष न कोई भी निश्चय मैंने है पाया॥ २३॥
होता नहीं पूर्व अपकारी[2] का वध करना कुछ अधर्म-युत।
अपितु उसे जीवित तजकर ही, होता पुरुष-धर्म से विच्युत[3]॥ २४॥
शासन आप करेंगे, पूरी वसुधा का इसके मरने पर।
राज्येच्छुक कैकेयी देखे, रण-मृत इसे आज निश्चय कर॥ २५॥
मेरे द्वारा देखे, कोई वृक्ष तोड़ता गज है जैसे।
बन्धु-बान्धवों-सहित करूँगा कैकेयी का वध मैं वैसे॥ २६॥
कैकेयी-रूपी अति अघ[4] से, पाये यह पृथ्वी छुटकारा।
मानद! तिरस्कार क्रोधानल अब तक का संयत मैं सारा॥ २७॥
छोड़ूँगा, जो रिपु-सेनाएँ सूखी घास-सदृश हैं, उन पर।
तथा आज ही चित्रकूट वन को, जो मेरे हैं सुतीक्ष्ण शर॥ २८॥

१ कचनार वृक्ष का; २ जो पहले अपराध कर चुका है; ३ पतित; ४ पाप।

छिन्दङ्छत्रुशरीराणि करिष्ये शोणितोक्षितम् ।
शरैर्निर्भिन्नहृदयान् कुञ्जरांस्तुरगांस्तथा ॥ २९ ॥
श्वापदाः परिकर्षन्तु नरांश्च निहतान् मया ।
शराणां धनुषश्चाहमनृणोऽस्मिन् महावने ।
ससैन्यं भरतं हत्वा भविष्यामि न संशयः ॥ ३० ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

सप्तनवतितमः सर्गः

श्रीराम का लक्ष्मण के रोष को शान्त करके भरत के सद्भाव का वर्णन करना, लक्ष्मण का लज्जित हो श्रीराम के पास खड़ा होना और भरत की सेना का पर्वत के नीचे छावनी डालना

सुसंरब्धं तु भरतं लक्ष्मणं क्रोधमूर्च्छितम् ।
रामस्तु परिसान्त्व्याथ वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥
किमत्र धनुषा कार्यमसिना वा सचर्मणा ।
महाबले महोत्साहे भरते स्वयमागते ॥ २ ॥
पितुः सत्यं प्रतिश्रुत्य हत्वा भरतमाहवे ।
किं करिष्यामि राज्येन सापवादेन लक्ष्मण ॥ ३ ॥
यद् द्रव्यं बान्धवानां वा मित्राणां वा क्षये भवेत् ।
नाहं तत् प्रति गृह्णीयां भक्ष्यान् विषकृतानिव ॥ ४ ॥
धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण ।
इच्छामि भवतामर्थे एतत् प्रतिशृणोमि ते ॥ ५ ॥
भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण ।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे ॥ ६ ॥
नेयं मम मही सौम्य दुर्लभा सागराम्बरा ।
नहीच्छेयमधर्मेण शक्रत्वमपि लक्ष्मण ॥ ७ ॥
यद् विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद ।
भवेन्मम सुखं किंचिद् भस्म तत् कुरुतां शिखी ॥ ८ ॥
मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः ।
मम प्राणैः प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन् ॥ ९ ॥
श्रुत्वा प्रव्राजितं मां हि जटावल्कलधारिणम् ।
जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषोत्तम ॥ १० ॥

उनसे, रिपु-खण्डित शरीर की रक्त-धार से करके सिञ्चित।
हृदय-विदीर्ण अश्व, गज होंगे जो मेरे बाणों से अगणित ॥ २९ ॥
खींचें उन्हें तथा मनुजों को, मांसभक्षि पशु इधर से उधर।
इस महान् वन में, स-सैन्य मैं, भरत शत्रु का निश्चय वध कर ॥
कर दूंगा मैं कैकेयी का, नष्ट मनोरथ अब वह सारा।
एवं धनुष-बाण के ऋण से पाऊँगा निश्चय छुटकारा ॥ ३० ॥

॥ श्री बाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में छियानबेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९६ ॥

सत्तानबेवाँ सर्ग

श्रीराम का लक्ष्मण के रोष को शान्त करके भरत के सद्भाव का वर्णन करना, लक्ष्मण का लज्जित हो श्रीराम के पास खड़ा होना और भरत की सेना का पर्वत के नीचे छावनी डालना

अतिशय क्रोधित हुए, भरत-प्रति, लक्ष्मण चेतन-हीन-सदृश जब।
शान्त किया उनको समझाकर, रामचन्द्र ने और कहा तब ॥ १ ॥
लक्ष्मण ! महाबली, उत्साही, यहाँ आ गये भरत स्वयं जब।
धनुष, ढाल, तलवार आदि का, क्या है बोलो ! काम भला तब ? ॥ २ ॥
पिता-सत्य-प्रति, मैं प्रतिज्ञ भी, रण में मार भरत को इस क्षण।
उनका राज्य कलंकित लेकर, भला करूँगा क्या हे लक्ष्मण ! ॥ ३ ॥
करके नष्ट बान्धवों, मित्रों को, जो विष-मिश्रित भोजन-सम।
त्याज्य सम्पदा मिले, उसे मैं कभी न लूँगा, जगत-निन्द्यतम ॥ ४ ॥
धर्म, अर्थ, सत्काम, धरणि, बस चाह रहा मैं तुम लोगों-हित।
सत्यप्रतिज्ञा-पूर्वक कहता, तुमसे लक्ष्मण ! अब यह निश्चित ॥ ५ ॥
मैं भ्राताओं के सुख-सग्रह-हेतु राज्य की इच्छा करता।
सत्य-हेतु, निज धनुष स्पर्श कर, लक्ष्मण ! स-शपथ यह अब कहता ॥ ६ ॥
मुझे सागराम्बरा[1] धरणि यह, लक्ष्मण ! सौम्य ! नहीं है दुर्लभ।
किन्तु चाहता नहीं इन्द्रपद भी अधर्म से मुझे हो सुलभ ॥ ७ ॥
मानद ! तुम, शत्रुघ्न, भरत को त्याग, मिले सुख कोई मुझको।
तो कर डालें अग्नि देवता, शीघ्र भस्म मेरे इस तन को ॥ ८ ॥
भरत, भ्रातृवत्सल जो मेरे प्रिय हैं प्राणों से भी बढ़कर।
पुरी अयोध्या में आकर वे, कुल-धार्मिकता का विचारकर ॥ ९ ॥
नृवर वीर ! फिर हम दोनों का, जटा और वल्कल धारणकर।
सह सीता, वन-गमन-वृत्त यह मान रहा हूं सुनकर कटुतर ॥ १० ॥

१ आकाश से सागर पर्यन्त।

स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः ।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः ॥ ११ ॥
अम्बां च कैकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन् ।
प्रसाद्य पितरं श्रीमान् राज्यं मे दातुमागतः ॥ १२ ॥
प्राप्तकालं यदेषोऽस्मान् भरतो द्रष्टुमर्हति ।
अस्मासु मनसाप्येष नाहितं किंचिदाचरेत् ॥ १३ ॥
विप्रियं कृतपूर्वं ते भरतेन कदा नु किम् ।
ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं यद् विशङ्कसे ॥ १४ ॥
नहि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः ।
अहं ह्यप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते ॥ १५ ॥
कथं नु पुत्राः पितरं हन्युः कस्यांचिदापदि ।
भ्राता वा भ्रातरं हन्यात् सौमित्रे प्राणमात्मनः ॥ १६ ॥
यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे ।
वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम् ॥ १७ ॥
उच्यमानो हि भरतो मया लक्ष्मण तद्वचः ।
राज्यमस्मै प्रयच्छेति बाढमित्येव मंस्यते ॥ १८ ॥
तथोक्तो धर्मशीलेन भ्रात्रा तस्य हिते रतः ।
लक्ष्मणः प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया ॥ १९ ॥
तद्वाक्यं लक्ष्मणः श्रुत्वा व्रीडितः प्रत्युवाच ह ।
त्वां मन्ये द्रष्टुमायातः पिता दशरथः स्वयम् ॥ २० ॥
व्रीडितं लक्ष्मणं दृष्ट्वा राघवः प्रत्युवाच ह ।
एष मन्ये महाबाहुरिहास्मान् द्रष्टुमागतः ॥ २१ ॥
अथवा नौ ध्रुवं मन्ये मन्यमानः सुखोचितौ ।
वनवासमनुध्याय गृहाय प्रतिनेष्यति ॥ २२ ॥
इमां चाप्येष वैदेहीमत्यन्तसुखसेविनीम् ।
पिता मे राघवः श्रीमान् वनादादाय यास्यति ॥ २३ ॥
एतौ तौ सम्प्रकाशेते गोत्रवन्तौ मनोरमौ ।
वायुवेगसमौ वीरौ जवनौ तुरगोत्तमौ ॥ २४ ॥
स एष सुमहाकायः कम्पते वाहिनीमुखे ।
नागः शत्रुंजयो नाम वृद्धस्तातस्य धीमतः ॥ २५ ॥
न तु पश्यामि तच्छत्रं पाण्डुरं लोकविश्रुतम् ।
पितुर्दिव्यं महाभाग संशयो भवतीह मे ॥ २६ ॥
वृक्षाग्रादवरोह त्वं कुरु लक्ष्मण मद्वचः ।
इतीव रामो धर्मात्मा सौमित्रिं तमुवाच ह ॥ २७ ॥

पुष्प सुशोभित सुन्दर तट की, मन्दाकिनी नदी देखो! अब।
प्रिये! बढ़ाते जिसकी सुषमा, सारस, हंस आदि मिलकर सब ॥ ३ ॥
फल, मूलान्वित विविध तटस्थित वृक्षों से यह घिरी यथोचित।
मन्दाकिनी, कुबेर-सरोवर, सौगन्धिक-सी होती शोभित ॥ ४ ॥
यद्यपि इसके जल को पीकर, हरिण कर गये हैं कुछ कलुषित।
फिर भी इसके रम्य घाट हैं, मेरे मन को करते प्रमुदित ॥ ५ ॥
प्रिये! जटा, मृग-चर्म, सु-वल्कल-उत्तरीय-धारी महर्षि-गण।
करता मन्दाकिनी-स्नान है, आकर, पा उपयुक्त स्नान-क्षण ॥ ६ ॥
विशालाक्षि! दृढ़व्रती मुनीश्वर करते अपनी नित्य क्रियाएँ।
रवि को नमस्कार करते हैं, उन्नत कर, निज यहाँ भुजाएँ ॥ ७ ॥
वायु-प्रचारित तरु-शाखाओं से मानो नाचता गिरि-शिखर।
मन्दाकिनी नदी के तट पर, फूल और पत्ते बिखेर कर ॥ ८ ॥
उच्च कगार-शोभिता इसमें, कहीं मोतियों-सा बहता जल।
कहीं सिद्धजन स्नान कर रहे, जिनसे पूरित है तट का स्थल ॥ ९ ॥
देखो, तनु-मध्यमे[1]! पवन से लाये गये, पुष्प, तट द्वय पर।
शोभा बढ़ा रही है जल में, पुष्प-राशि कुछ इधर तैरकर ॥ १० ॥
देखो तो कल्याणि! कर रहे, चक्रवाक खग, कलरव सुन्दर।
कितने अच्छे लगते, बैठे, जो दोनों तट पर हैं आकर ॥ ११ ॥
चित्रकूट एवं मन्दाकिनि-दर्शन होता जो प्रतिदिन यह।
होता, पुर-निवास से ज्यादा सुखद, देख करके तुमको वह ॥ १२ ॥
इसमें तप, दम, शम-अन्वित हैं, नित्य नहाते अनघ सिद्ध सब।
मेरे साथ चलो! अब तुम भी, क्षोभित जल में स्नान करो अब ॥ १३ ॥
भामिनि! एक सखी अन्या सह, जल-क्रीड़ा करती है जैसे।
डुबा-डुबा श्वेतारुण कमलों को अब स्नान करो तुम! वैसे ॥ १४ ॥
प्रिये! निवासी वन के हैं ये, मानो पौरजनो से उत्तम।
समझो! शैल अयोध्या है यह, मन्दाकिनी नदी सरयू-सम ॥ १५ ॥
तुम मेरी अनुकूला हो, हैं धर्मात्मा लक्ष्मण अधीन नित।
इन दोनों बातों से होता है मन मेरा अतिशय प्रमुदित ॥ १६ ॥
प्रिये! तुम्हारे साथ स्नान त्रय[2] करके मूल और फल खाकर।
अब तो नहीं चाहता, होऊँ, राजा वहाँ अयोध्या जाकर ॥ १७ ॥

गज-गण-मन्थित जिसका जल, कपि-सिंहादिक पी जाते
पुष्पित तरु, पुष्पालंकृत तट, सुन्दर जिसके भाते।
ऐसी मन्दाकिनी नदी में, रम्य स्नान कर जन जो
ग्लानि-रहित, अति सुखी न हों, वे जग में नहीं दिखाते ॥ १८ ॥

---

1 सूक्ष्म कटि वाली; 2 तीनों काल स्नान।

इतीव रामो बहुसंगतं वचः
प्रियासहायः सरितं प्रति ब्रुवन्।
चचार रम्यं नयनाञ्जनप्रभं
स चित्रकूटं रघुवंशवर्धनः ॥ १९ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चनवतितमः सर्गः ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमः सर्गः

वन-जन्तुओं के भागने का कारण जानने के लिए श्रीराम की आज्ञा से लक्ष्मण का शाल-वृक्ष पर चढ़कर भरत की सेना को देखना और उनके प्रति अपना रोषपूर्ण उद्गार प्रकट करना

तां तदा दर्शयित्वा तु मैथिलीं गिरिनिम्नगाम्।
निषसाद गिरिप्रस्थे सीतां मांसेन छन्दयन् ॥ १ ॥
इदं मेध्यमिदं स्वादु निष्टप्तमिदमग्निना।
एवमास्ते स धर्मात्मा सीतया सह राघवः ॥ २ ॥
तथा तत्रासतस्तस्य भरतस्योपयायिनः।
सैन्यरेणुश्च शब्दश्च प्रादुरास्तां नभस्पृशौ ॥ ३ ॥
एतस्मिन्नन्तरे त्रस्ताः शब्देन महता ततः।
अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथाद् दुद्रुवुर्दिशः ॥ ४ ॥
स तं सैन्यसमुद्भूतं शब्दं शुश्राव राघवः।
तांश्च विप्रद्रुतान् सर्वान् यूथपानन्ववैक्षत ॥ ५ ॥
तांश्च विप्रद्रुतान् दृष्ट्वा तं च श्रुत्वा महास्वनम्।
उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं दीप्ततेजसम् ॥ ६ ॥
हन्त लक्ष्मण पश्येह सुमित्रा सुप्रजास्त्वया।
भीमस्तनितगम्भीरं तुमुलः श्रूयते स्वनः ॥ ७ ॥
गजयूथानि वारण्ये महिषा वा महावने।
वित्रासिता मृगाः सिंहैः सहसा प्रद्रुता दिशः ॥ ८ ॥
राजा वा राजपुत्रो वा मृगयामटते वने।
अन्यद्वा श्वापदं किंचित् सौमित्रे ज्ञातुमर्हसि ॥ ९ ॥
सुदुश्चरो गिरिश्चायं पक्षिणामपि लक्ष्मण।
सर्वमेतद् यथातत्त्वमभिज्ञातुमिहार्हसि ॥ १० ॥
स लक्ष्मणः संत्वरितः सालमारुह्य पुष्पितम्।
प्रेक्षमाणो दिशः सर्वाः पूर्वां दिशमवैक्षत ॥ ११ ॥

मन्दाकिनी नदी-प्रति, कहते हुए, सुसंगत सु-वचन
सीता जी से रामचन्द्र ने, शुभ रघुवंश - विवर्धन[1]।
नीलकान्ति वाले सुरम्य उस चित्रकूट पर्वत पर
विचरण करने लगे स्वप्रिया पत्नी-सँग, हर्षित मन ।। १९ ।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में पंचानबेवाँ सर्ग समाप्त ।। ९५ ।।

छियानबेवाँ सर्ग

वन-जन्तुओं के भागने का कारण जानने के लिए श्रीराम की आज्ञा से लक्ष्मण का शाल-वृक्ष पर चढ़कर भरत की सेना को देखना और उनके प्रति अपना रोषपूर्ण उद्गार प्रकट करना

बैठे राम, शैल-समतल में सीता को वह नदी दिखाकर।
फल - गूदे से, लगे मैथिली - मोद बढ़ाने, प्रणय जताकर ।। १ ।।
श्री सीता को धर्मात्मा उन रामचन्द्र ने तभी बताया।
प्रिये ! कन्द स्वादिष्ट, अग्नि में ठीक तरह यह गया पकाया ।। २ ।।
ऐसे बैठे हुए राम के, भरत-सैन्य के बहुत ही निकट।
आने लगी धूलि, कोलाहल, भी नभ-स्पर्शी हुआ तब प्रकट ।। ३ ।।
सैना-कोलाहल महान से, भीत हुए मतवाले गज तब।
और सभी, निज झुण्डों को ले, लगे भागने यूथाधिप[2] सब ।। ४ ।।
सुना राम ने भी कोलाहल वह, जो भरत-सैन्य का आता।
देखा तथा यूथपति-दल[3] को, जो था विह्वल भागा जाता ।। ५ ।।
देख भागते हुए गजों को, सैन्य-शब्द भीषण अति सुनकर।
बोले राम, सुमित्रा - सुत श्री लक्ष्मण से, उद्दीप्त तेजधर ।। ६ ।।
इस जग में सुतवती सुमित्रा श्रेष्ठ तुम्हीं से हैं, हे लक्ष्मण !।
देखो तो ! यह भीम - गर्जना - युक्त नाद है कैसा भीषण ? ।। ७ ।।
सभी ओर सहसा मृग, भैंसे, गज-दल जो भागते दिखाते।
विस्तृत वन में, उनको सिंहों के समूह तो नहीं डराते ।। ८ ।।
देखो ! कोई नृप या नृप-सुत वन में आया है मृगया-हित ?।
अथवा हिंसक जन्तु अन्य है, कोई यहाँ हो गया प्रकटित ।। ९ ।।
इस गिरि पर आना दुर्गम है, नये पक्षियों का लक्ष्मण ! जब।
तब ये सब क्यों भाग रहे हैं, इसका पता लगाओ तुम ! अब ।। १० ।।
रामाज्ञा से शीघ्र सुपुष्पित शाल-वृक्ष पर चढ़कर लक्ष्मण।
लगे देखने, सभी दिशाएँ, फिर देखा पूरब में तत्क्षण ।। ११ ।।

---

१ श्रीराम; २ हाथियों के झुण्डों के अगुआ; ३ हाथियों का झुण्ड।

उदङ्मुखः प्रेक्षमाणो ददर्श महतीं चमूम् ।
गजाश्वरथसम्बाधां यत्तैर्युक्तां पदातिभिः ॥ १२ ॥
तामश्वरथसम्पूर्णां रथध्वजविभूषिताम् ।
शशंस सेनां रामाय वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १३ ॥
अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम् ।
सज्यं कुरुष्व चापं च शरांश्च कवचं तथा ॥ १४ ॥
तं रामः पुरुषव्याघ्रो लक्ष्मणं प्रत्युवाच ह ।
अङ्गावेक्षस्व सौमित्रे कस्येमां मन्यसे चमूम् ॥ १५ ॥
एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।
दिधक्षन्निव तां सेनां रुषितः पावको यथा ॥ १६ ॥
सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम् ।
आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरतः सुतः ॥ १७ ॥
एष वै सुमहाञ्छ्रीमान् विटपी सम्प्रकाशते ।
विराजत्युज्ज्वलस्कन्धः कोविदारध्वजो रथे ॥ १८ ॥
भजन्त्येते यथाकाममश्वानारुह्य शीघ्रगान् ।
एते भ्राजन्ति संहृष्टा गजानारुह्य सादिनः ॥ १९ ॥
गृहीतधनुषावावां गिरिं वीर श्रयावहे ।
अथवेहैव तिष्ठावः संनद्धावुद्यतायुधौ ॥ २० ॥
अपि नौ वशमागच्छेत् कोविदारध्वजो रणे ।
अपि द्रक्ष्यामि भरतं यत्कृते व्यसनं महत् ॥ २१ ॥
त्वया राघव सम्प्राप्तं सीतया च मया तथा ।
यन्निमित्तं भवान् राज्याच्च्युतो राघव शाश्वतात् ॥ २२ ॥
सम्प्राप्तोऽयमरिर्वीर भरतो वध्य एव हि ।
भरतस्य वधे दोषं नाहं पश्यामि राघव ॥ २३ ॥
पूर्वापकारिणं हत्वा न ह्यधर्मेण युज्यते ।
पूर्वापकारी भरतस्त्यागेऽधर्मश्च राघव ॥ २४ ॥
एतस्मिन् निहते कृत्स्नामनुशाधि वसुंधराम् ।
अद्य पुत्रं हतं संख्ये कैकेयी राज्यकामुका ॥ २५ ॥
मया पश्येत् सुदुःखार्ता हस्तिभिन्नमिव द्रुमम् ।
कैकेयीं च वधिष्यामि सानुबन्धां सबान्धवाम् ॥ २६ ॥
कलुषेणाद्य महता मेदिनी परिमुच्यताम् ।
अद्येमं संयतं क्रोधमसत्कारं च मानद ॥ २७ ॥
मोक्ष्यामि शत्रुसैन्येषु कक्षेष्विव हुताशनम् ।
अद्यैव चित्रकूटस्य काननं निशितैः शरैः ॥ २८ ॥

पुनः देखते हुए उन्होंने, जब पूरब को दृष्टि उठाई।
यत्नशील पैदल, गजाश्व, रथ-युता पड़ी सेना दिखलाई ॥ १२ ॥
अतः उन्होंने रथ-ध्वज-भूषित, जब रथाश्व-सेना देखी वह।
तब सूचित कर रामचन्द्र को, कही उस समय बात शीघ्र यह ॥ १३ ॥
सीता बैठें, आर्य! गुफा में, आप शीघ्र ही अग्नि बुझाएँ।
पहनें कवच, धनुष-शर-सज्जित कर प्रत्यञ्चा शीघ्र चढ़ाएँ ॥ १४ ॥
कहा नृसिंह राम ने, लक्ष्मण से उनकी बातें सुनकर तब।
सेना किसकी तुम्हें समझ में आती, सौमित्रे! देखो अब ॥ १५ ॥
राम-कथन पर, तब लक्ष्मण ने अग्नि-सदृश हो रोष-प्रज्वलित।
सैन्य देखकर कहा, करेंगे मानो उसे शीघ्र ही भस्मित ॥ १६ ॥
भैया! निज अभिषिक्त राज्य को, कण्टक-हीन बनाने के हित।
कैकेयी-सुत भरत आ रहा, हम दोनों के वध को निश्चित ॥ १७ ॥
वह जो श्री-सम्पन्न वृहत् तरु के समीप रथ खड़ा दिखाता।
धवल तना युत कोविदार[1]-ध्वज उस पर है शोभा अति पाता ॥ १८ ॥
इच्छित शीघ्रग घोड़ों पर चढ़, घुड़सवार देखो हैं आते।
हर्ष-प्रकाशित गज-सवार भी, गज पर आते हुए दिखाते ॥ १९ ॥
वीर! चाहिए, हम दोनों हों, लेकर धनुष, शैल-शिखर-स्थित।
कवच बाँधकर रुकें वहीं पर, अस्त्र-शस्त्र लेकर अब समुचित ॥ २० ॥
हम दोनों के वश में होगा, कोविदार-ध्वज रण में वैसे।
तथा उस भरत को देखूंगा, जिसके कारण संकट ऐसे ॥
सीता-सहित आप पर, मुझ पर इस प्रकार से आये अगणित।
तथा आप, शाश्वत नृप-पद से, अपने हुए इस तरह वञ्चित ॥२१-२२॥
राघव वीर! भरत रिपु है यह, वध के योग्य, यहाँ जो आया।
इसके वध में दोष न कोई भी निश्चय मैंने है पाया ॥ २३ ॥
होता नहीं पूर्व अपकारी[2] का वध करना कुछ अधर्म-युत।
अपितु उसे जीवित तजकर ही, होता पुरुष-धर्म से विच्युत[3] ॥ २४ ॥
शासन आप करेंगे, पूरी वसुधा का इसके मरने पर।
राज्येच्छुक कैकेयी देखे, रण-मृत इसे आज निश्चय कर ॥ २५ ॥
मेरे द्वारा देखे कोई वृक्ष तोड़ता गज है जैसे।
बन्धु-बान्धवों-सहित करूँगा कैकेयी का वध मैं वैसे ॥ २६ ॥
कैकेयी-रूपी अति अघ[4] से, पाये यह पृथ्वी छुटकारा।
मानद! तिरस्कार क्रोधानल अब तक का संयत मैं सारा ॥ २७ ॥
छोड़ूँगा, जो रिपु-सेनाएँ सूखी घास-सदृश हैं, उन पर।
तथा आज ही चित्रकूट वन को, जो मेरे हैं सुतीक्ष्ण शर ॥ २८ ॥

---
१ कचनार वृक्ष का; २ जो पहले अपराध कर चुका है; ३ पतित; ४ पाप।

छिन्दञ्छत्रुशरीराणि करिष्ये शोणितोक्षितम् ।
शरैर्निर्भिन्नहृदयान् कुञ्जरांस्तुरगांस्तथा ॥ २९ ॥
श्वापदाः परिकर्षन्तु नरांश्च निहतान् मया ।
शराणां धनुषश्चाहमनृणोऽस्मिन् महावने ।
ससैन्यं भरतं हत्वा भविष्यामि न संशयः ॥ ३० ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

सप्तनवतितमः सर्गः

श्रीराम का लक्ष्मण के रोष को शान्त करके भरत के सद्भाव का वर्णन करना, लक्ष्मण का लज्जित हो श्रीराम के पास खड़ा होना और भरत की सेना का पर्वत के नीचे छावनी डालना

सुसंरब्धं तु भरतं लक्ष्मणं क्रोधमूर्च्छितम् ।
रामस्तु परिसान्त्व्याथ वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥
किमत्र धनुषा कार्यमसिना वा सचर्मणा ।
महाबले महोत्साहे भरते स्वयमागते ॥ २ ॥
पितुः सत्यं प्रतिश्रुत्य हत्वा भरतमाहवे ।
किं करिष्यामि राज्येन सापवादेन लक्ष्मण ॥ ३ ॥
यद् द्रव्यं बान्धवानां वा मित्राणां वा क्षये भवेत् ।
नाहं तत् प्रति गृह्णीयां भक्ष्यान् विषकृतानिव ॥ ४ ॥
धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण ।
इच्छामि भवतामर्थे एतत् प्रतिशृणोमि ते ॥ ५ ॥
भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण ।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे ॥ ६ ॥
नेयं मम मही सौम्य दुर्लभा सागराम्बरा ।
नहीच्छेयमधर्मेण शक्रत्वमपि लक्ष्मण ॥ ७ ॥
यद् विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद ।
भवेन्मम सुखं किंचिद् भस्म तत् कुरुतां शिखी ॥ ८ ॥
मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः ।
मम प्राणैः प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन् ॥ ९ ॥
श्रुत्वा प्रव्राजितं मां हि जटावल्कलधारिणम् ।
जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषोत्तम ॥ १० ॥

उनसे, रिपु-खण्डित शरीर की रक्त-धार से करके सिञ्चित।
हृदय-विदीर्ण अश्व, गज होंगे जो मेरे बाणों से अगणित ॥ २९ ॥
खोंचें उन्हें तथा मनुजों को, मांसभक्षि पशु इधर से उधर।
इस महान् वन में, स-सैन्य मैं, भरत शत्रु का निश्चय वध कर ॥
कर दूँगा मैं कैकेयी का, नष्ट मनोरथ अब वह सारा।
एवं धनुष-बाण के ऋण से पाऊँगा निश्चय छुटकारा ॥ ३० ॥

॥ श्री बालमीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
छियानबेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९६ ॥

सत्तानबेवाँ सर्ग

श्रीराम का लक्ष्मण के रोष को शान्त करके भरत के सद्भाव का वर्णन करना, लक्ष्मण का लज्जित हो श्रीराम के पास खड़ा होना और भरत की सेना का पर्वत के नीचे छावनी डालना

अतिशय क्रोधित हुए, भरत-प्रति, लक्ष्मण चेतन-हीन-सदृश जब।
शान्त किया उनको समझाकर, रामचन्द्र ने और कहा तब ॥ १ ॥
लक्ष्मण! महाबली, उत्साही, यहाँ आ गये भरत स्वयं जब।
धनुष, ढाल, तलवार आदि का, क्या है बोलो! काम भला तब? ॥ २ ॥
पिता-सत्य-प्रति, मैं प्रतिज्ञ भी, रण में मार भरत को इस क्षण।
उनका राज्य कलंकित लेकर, भला करूँगा क्या हे लक्ष्मण! ॥ ३ ॥
करके नष्ट बान्धवों, मित्रों को, जो विष-मिश्रित भोजन-सम।
त्याज्य सम्पदा मिले, उसे मैं कभी न लूँगा, जगत-निन्द्यतम ॥ ४ ॥
धर्म, अर्थ, सत्काम, धरणि, बस चाह रहा मैं तुम लोगों-हित।
सत्यप्रतिज्ञा-पूर्वक कहता, तुमसे लक्ष्मण! अब यह निश्चित ॥ ५ ॥
मैं भ्राताओं के सुख-सग्रह-हेतु राज्य की इच्छा करता।
सत्य-हेतु निज धनुष स्पर्श कर, लक्ष्मण! स-शपथ यह अब कहता ॥ ६ ॥
मुझे सागराम्बरा[1] धरणि यह, लक्ष्मण! सौम्य! नहीं है दुर्लभ।
किन्तु चाहता नहीं इन्द्रपद भी अधर्म से मुझे हो सुलभ ॥ ७ ॥
मानद! तुम, शत्रुघ्न, भरत को त्याग, मिले सुख कोई मुझको।
तो कर डालें अग्नि देवता, शीघ्र भस्म मेरे इस तन को ॥ ८ ॥
भरत, भ्रातृवत्सल जो मेरे प्रिय हैं प्राणों से भी बढ़कर।
पुरी अयोध्या में आकर वे, कुल-धार्मिकता का विचारकर ॥ ९ ॥
नृवर वीर! फिर हम दोनों का, जटा और वल्कल धारणकर।
सह सीता, वन-गमन-वृत्त यह मान रहा हूँ सुनकर कटुतर ॥ १० ॥

1 आकाश से सागर पर्यन्त।

स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः ।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः ॥ ११ ॥
अम्बां च केकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन् ।
प्रसाद्य पितरं श्रीमान् राज्यं मे दातुमागतः ॥ १२ ॥
प्राप्तकालं यथैषोऽस्मान् भरतो द्रष्टुमर्हति ।
अस्मासु मनसाप्येष नाहितं किंचिदाचरेत् ॥ १३ ॥
विप्रियं कृतपूर्वं ते भरतेन कदा नु किम् ।
ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं यद् विशङ्कसे ॥ १४ ॥
नहि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः ।
अहं ह्यप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते ॥ १५ ॥
कथं नु पुत्राः पितरं हन्युः कस्यांचिदापदि ।
भ्राता वा भ्रातरं हन्यात् सौमित्रे प्राणमात्मनः ॥ १६ ॥
यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे ।
वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम् ॥ १७ ॥
उच्यमानो हि भरतो मया लक्ष्मण तद्वचः ।
राज्यमस्मै प्रयच्छेति बाढमित्येव मस्यते ॥ १८ ॥
तथोक्तो धर्मशीलेन भ्रात्रा तस्य हिते रतः ।
लक्ष्मणः प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया ॥ १९ ॥
तद्वाक्यं लक्ष्मणः श्रुत्वा व्रीडितः प्रत्युवाच ह ।
त्वां मन्ये द्रष्टुमायातः पिता दशरथः स्वयम् ॥ २० ॥
व्रीडितं लक्ष्मणं दृष्ट्वा राघवः प्रत्युवाच ह ।
एष मन्ये महाबाहुरिहास्मान् द्रष्टुमागतः ॥ २१ ॥
अथवा नौ ध्रुवं मन्ये मन्यमानः सुखोचितौ ।
वनवासमनुध्याय गृहाय प्रतिनेष्यति ॥ २२ ॥
इमां चाप्येष वैदेहीमत्यन्तसुखसेविनीम् ।
पिता मे राघवः श्रीमान् वनादादाय यास्यति ॥ २३ ॥
एतौ तौ सम्प्रकाशेते गोत्रवन्तौ मनोरमौ ।
वायुवेगसमौ वीरौ जवनौ तुरगोत्तमौ ॥ २४ ॥
स एष सुमहाकायः कम्पते वाहिनीमुखे ।
नागः शत्रुंजयो नाम वृद्धस्तातस्य धीमतः ॥ २५ ॥
न तु पश्यामि तच्छत्रं पाण्डुरं लोकविश्रुतम् ।
पितुर्दिव्यं महाभाग संशयो भवतीह मे ॥ २६ ॥
वृक्षाग्रादवरोह त्वं कुरु लक्ष्मण मद्वचः ।
इतीव रामो धर्मात्मा सौमित्रिं तमुवाच ह ॥ २७ ॥

स्नेहाक्रान्त[1] हृदय, शोकाकुल इन्द्रिय होकर यहाँ सर्वथा।
भरत आ रहे, हम लोगों से मिलने, समझो! न कुछ अन्यथा ॥ ११ ॥
श्रीमद् भरत, कुपित कैकेयी माँ पर हो, उनसे कह कटुतर।
देने मुझको राज्य आ रहे, पूज्य पिता जी को प्रसन्न कर ॥ १२ ॥
मुझसे मिलने योग्य भरत हैं, उनका आना है समयोचित।
मन से भी न विचार करेंगे वे, हो कुछ हम सबका अनहित ॥ १३ ॥
किया भरत ने अ-प्रिय तुम्हारा, पहले क्या? जो तुम हो शंकित।
उनसे ऐसा कौन भय तुम्हें लगता? जो होते आतंकित ॥ १४ ॥
आयें जब वे भरत, न कहना! कुछ कठोर या अ-प्रिय वचन तब।
यदि उनके प्रतिकूल कहोगे, तो होगा मेरे प्रति वह सब ॥ १५ ॥
सुत न पिता का वध कर सकता, संकट आयें चाहे जैसे।
तथा प्राण-प्रिय भ्राता का वध, भ्राता ही कर देगा कैसे? ॥ १६ ॥
राज्य-हेतु कह रहे? कटु वचन, तो मैं यही कहूँगा मिलकर।
बन्धु भरत से, लक्ष्मण को ही, दे दो! राज्य, स्वयं का तजकर ॥ १७ ॥
यदि मैं कहूँ भरत से, बन्धो! दे दो राज्य इन्हें, तो लक्ष्मण!।
अच्छा कहकर वे मेरी, तब बात मान लेंगे फिर तत्क्षण ॥ १८ ॥
अपने हित-रत, धर्मशील उन, राम बन्धु के यह कहने पर।
लज्जित लक्ष्मण, अपने अंगों में मानो रह गये, सिमटकर ॥ १९ ॥
सुनकर राम-कथन यह, लज्जित लक्ष्मण बोले तभी, बन्धुवर!।
समझ रहा, मैं मिलने आये, पिता आपसे दशरथ नृपवर ॥ २० ॥
लज्जित देख, राम लक्ष्मण से बोले, मैं भी यही समझता।
मिलने आये हम लोगों से, निश्चय मेरे महाभुज पिता ॥ २१ ॥
या कि सुखोचित हम लोगों को मान, विपिन का कष्ट जानकर।
हम लोगों को गृह लौटाकर, ले जायेंगे पुनः मान्यवर ॥ २२ ॥
वे राघव श्रीमान् पिता जब हम लोगों से मिल पाएँगे।
तब सुख-सेव्या सीता को भी, वन से गृह को ले जाएँगे ॥ २३ ॥
उत्तम कुल-उत्पन्न अश्व दो, जो न वायु-गति में हैं थकते।
शीघ्रग[2], रम्य, वीर, अत्युत्तम, देखो! वे इस समय चमकते ॥ २४ ॥
सुधी पिता-वाहन, सु-वृद्ध यह, विस्तृत-काय गजेश दिखाता।
शत्रुंजय नामक सेना के, आगे जो कि झूमता आता ॥ २५ ॥
किन्तु पिता का दिव्य जग-विदित श्वेत छत्र इस पर जो भाता।
महाभाग! वह मुझे न दिखता, इससे मन शंकित हो जाता ॥ २६ ॥
कहा राम धार्मिक ने तब फिर, वहाँ सुमित्रा-सुत से सत्वर।
मेरी बात मानकर, उतरो लक्ष्मण! अब तरु से अवनी[3] पर ॥ २७ ॥

---

१ स्नेह से व्याकुल; २ शीघ्र चलनेवाले; ३ पृथ्वी।

अवतीर्य तु सालाग्रात् तस्मात् स समितिंजयः।
लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा तस्थौ रामस्य पार्श्वतः॥ २८॥
भरतेनाथ संदिष्टा सम्मर्दो न भवेदिति।
समन्तात् तस्य शैलस्य सेना वासमकल्पयत्॥ २९॥
अध्यर्धमिक्ष्वाकुचमूर्योजनं पर्वतस्य ह।
पार्श्वे न्यविशदावृत्य गजवाजिनराकुला॥ ३०॥
सा चित्रकूटे भरतेन सेना
धर्मं पुरस्कृत्य विधूय दर्पम्।
प्रसादनार्थं रघुनन्दनस्य
विरोचते नीतिमता प्रणीता॥ ३१॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तनवतितमः सर्गः॥ ९७॥

अष्टनवतितमः सर्गः

भरत के द्वारा श्रीराम के आश्रम की खोज का प्रबन्ध तथा उन्हें आश्रम का दर्शन

निवेश्य सेनां तु विभुः पद्भ्यां पादवतां वरः।
अभिगन्तुं स काकुत्स्थमियेष गुरुवर्तकम्॥ १॥
निविष्टमात्रे सैन्ये तु यथोद्देशं विनीतवत्।
भरतो भ्रातरं वाक्यं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत्॥ २॥
क्षिप्रं वनमिदं सौम्य नरसंघैः समन्ततः।
लुब्धैश्च सहितैरेभिस्त्वमन्वेषितुमर्हसि॥ ३॥
गुहो ज्ञातिसहस्रेण शरचापासिपाणिना।
समन्वेषतु काकुत्स्थावस्मिन् परिवृतः स्वयम्॥ ४॥
अमात्यैः सह पौरैश्च गुरुभिश्च द्विजातिभिः।
सह सर्वं चरिष्यामि पद्भ्यां परिवृतः स्वयम्॥ ५॥
यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम्।
वैदेहीं वा महाभागां न मे शान्तिर्भविष्यति॥ ६॥
यावन्न चन्द्रसंकाशं तद् द्रक्ष्यामि शुभाननम्।
भ्रातुः पद्मविशालाक्षं न मे शान्तिर्भविष्यति॥ ७॥
सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम्।
मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युति॥ ८॥
यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
शिरसा प्रग्रहीष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति॥ ९॥

रण-विजयी लक्ष्मण उतरे तब, उस सु-साल तरु से नीचे फिर।
और राम के पास, जोड़कर हाथ, हो गये तत्क्षण सुस्थिर ॥ २८ ॥
'बाधा यहाँ न आने पाये', भरताज्ञा फिर यह तब पाकर।
चारों ओर शैल के नीचे ठहर गये सब सैनिक आकर ॥ २९ ॥
तब इक्ष्वाकु-वंश-नृप-सेना, मनुजों, अश्व, गजों से पूरित।
थी, गिरि-आसपास की भू पर छः कोसों के स्थल में संस्थित ॥ ३० ॥

गर्व-हीन, नीतिज्ञ भरत वे, धर्म-भाव अपनाये
करने को प्रसन्न, रघुनन्दन को, जो थे तब आये।
चित्रकूट गिरि के समीप में, उनकी महती सेना
अति शोभा पाती थी, संग में वे जिसको थे लाये ॥ ३१ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
सत्तानबेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९७ ॥

अट्ठानबेवाँ सर्ग

भरत के द्वारा श्रीराम के आश्रम की खोज का प्रबन्ध तथा उन्हें आश्रम का दर्शन

सैन्य वहीं पर रोक, भरत तब, सुप्रभावि, जंगमप्राणि-वर[1]।
गुरु-सेवक काकुत्स्थ राम के, पास हुए जाने को तत्पर ॥ १ ॥
सारी सेना नम्र-भाव से, यथास्थान रुक गयी वहाँ जब।
बोले वे शत्रुघ्न बन्धु से, इस प्रकार उपयुक्त वचन तब ॥ २ ॥
सौम्य ! तुम्हें चाहिए, साथ इन सभी निषादों को भी रखकर।
रामचन्द्र का पता लगाओ ! वन में इधर-उधर विचरण कर ॥ ३ ॥
धनुष, बाण, तलवार-धारि निज बन्धु सहस्रों से हो अन्वित।
गुह भी उन काकुत्स्थ राम का, जाएँ, पता लगाने के हित ॥ ४ ॥
मैं भी सचिव, पुर-जनों, विप्रों तथा गुरुजनों का लेकर दल।
सारे वन में पता करूँगा, उनका, चल करके अब पैदल ॥ ५ ॥
राम, महाभागा वैदेही, अतिबल लक्ष्मण को मैं जब तक।
देख न लूँगा, शान्ति न कुछ भी, पाऊँगा निश्चय ही तब तक ॥ ६ ॥
वृहत् कमल-दल नयन चन्द्रमुख देख न लूँ भ्राता का जब तक।
मेरे मन को प्राप्त न होगी शान्ति, कह रहा निश्चय तब तक ॥ ७ ॥
नित्य राम-मुख, निर्मल शशि-सम, कान्तिमान, राजीव नयन-युत।
देख, हुए निश्चय कृतार्थ वे, लक्ष्मण बन्धु सुमित्रा के सुत ॥ ८ ॥
जब तक रक्खूँगा न राज-लक्षण-युत चरण-कमल निज सिर पर।
श्रीमन् बन्धु राम का, तब तक शान्ति न पाऊँगा निश्चयकर ॥ ९ ॥

---
१ जंगम (चल) प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ (राम)।

यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः।
अभिषिक्तो जलक्लिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ १० ॥
कृतकृत्या महाभागा वैदेही जनकात्मजा।
भर्तारं सागरान्तायाः पृथिव्या यानुगच्छति ॥ ११ ॥
सुशुभश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजसमो गिरिः।
यस्मिन् वसति काकुत्स्थः कुबेर इव नन्दने ॥ १२ ॥
कृतकार्यमिदं दुर्गवनं व्यालनिषेवितम्।
यदध्यास्ते महाराजो रामः शस्त्रभृतां वरः ॥ १३ ॥
एवमुक्त्वा महाबाहुर्भरतः पुरुषर्षभः।
पद्भ्यामेव महातेजाः प्रविवेश महद् वनम् ॥ १४ ॥
स तानि द्रुमजालानि जातानि गिरिसानुषु।
पुष्पिताग्राणि मध्येन जगाम वदतां वरः ॥ १५ ॥
स गिरेश्चित्रकूटस्य सालमारुह्य सत्वरम्।
रामाश्रमगतस्याग्नेर्ददर्श ध्वजमुच्छ्रितम् ॥ १६ ॥
तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान् मुमोह सहबान्धवः।
अत्र राम इति ज्ञात्वा गतः पारमिवाम्भसः ॥ १७ ॥
स चित्रकूटे तु गिरौ निशम्य
रामाश्रमं पुण्यजनोपपन्नम्।
गुहेन सार्धं त्वरितो जगाम
पुनर्निवेश्यैव चमूं महात्मा ॥ १८ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टनवतितमः सर्गः ॥ ९८ ॥

नवनवतितमः सर्गः

भरत का शत्रुघ्न आदि के साथ श्रीराम के आश्रम पर जाना, उनकी पर्णशाला को देखना तथा रोते-रोते उनके चरणों में गिर जाना, श्रीराम का उन सबको हृदय से लगाना और मिलना

निविष्टायां तु सेनायामुत्सुको भरतस्ततः।
जगाम भ्रातरं द्रष्टुं शत्रुघ्नमनुदर्शयन् ॥ १ ॥
ऋषिं वसिष्ठं संदिश्य मातॄर्मे शीघ्रमानय।
इति त्वरितमग्रे स जगाम गुरुवत्सलः ॥ २ ॥
सुमन्त्रस्त्वपि शत्रुघ्नमदूरादन्वपद्यत।
रामदर्शनजस्तर्षो भरतस्येव तस्य च ॥ ३ ॥

राज्य-योग्य वे राम न होंगे, पिता, पितामह-राज्य-प्रतिष्ठित।
हो अभिषेक-जलाद्रित[1] जब तक, तब तक शान्ति न होगी निश्चित ॥ १० ॥
सागरान्त भू-पति, निज पति का जो कि अनुसरण करती निश्चय।
वे सु - कृतार्थ महाभागा हैं, जनकसुता वैदेही अतिशय ॥ ११ ॥
हैं कुबेर-नन्दन-सम जिसके, वन में वे काकुत्स्थ रहे रम।
वह वेंकट, गिरि-पति हिमाद्रि-सम, चित्रकूट गिरि है शुभ उत्तम ॥ १२ ॥
सर्प-सुसेवित दुर्गम वन भी, यह कृतार्थ है अब निश्चयकर।
महाराज श्रीराम रह रहे, जिसमें निशि-दिन शस्त्रधारिवर[2] ॥ १३ ॥
अति तेजस्वी महाबाहु वे, नृवर भरत तब ऐसा कहकर।
उस विस्तृत वन में प्रविष्ट फिर, हुए पदों से चलकर सत्वर ॥ १४ ॥
विपुल पुष्प शाखान्वित तरु थे चित्रकूट के गिरि-शिखरों पर।
उनके मध्य खोजते जाते, भरत सदाशय जो वक्तावर ॥ १५ ॥
आगे बढ़कर, भरत चढ़े वे, चित्रकूट गिरि-शाल वृक्ष पर।
और वहाँ से, रामाश्रम पर, देखा अग्नि-धूम्र-ध्वज सत्वर ॥ १६ ॥
राम यहीं हैं, समझ, स-बान्धव, श्रीयुत भरत, धूम्र-दर्शन कर।
जल अथाह के पार हो गये हों, मानो, हो गये मुदिततर ॥ १७ ॥

ऐसे चित्रकूट पर्वत पर पुण्यजनों से सयुत
रामाश्रम को देख, उस समय, भरत महात्मा श्रीयुत।
पूर्वस्थल पर पुनः साथ की सेना को ठहराकर
आश्रम-ओर चले, गुह को सँग ले करके वे अति द्रुत ॥ १८ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
अट्ठानबेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९८ ॥

निन्यानबेवाँ सर्ग

भरत का शत्रुघ्न आदि के साथ श्रीराम के आश्रम पर जाना, उनकी पर्णशाला को देखना तथा रोते-रोते उनके चरणों में गिर जाना, श्रीराम का उन सबको हृदय से लगाना और मिलना

सेना के रुक जाने पर वे, भरत भ्रातृ - दर्शन - उत्कण्ठित।
चिह्न दिखा, शत्रुघ्न बन्धु को, आश्रम - ओर हुए फिर प्रस्थित[3] ॥ १ ॥
माताओं को लेकर आएँ! शीघ्र, वसिष्ठ ऋषीश्वर से कह।
गुरुजन-भक्त, वहाँ से आगे बढ़े भरत वे सहचर-गण-सह ॥ २ ॥
थे सुमन्त्र भी पीछे चलते, तब शत्रुघ्न-पास में अतिशय।
राम-मिलन-अभिलाषा उनको, भी थी भरत-सदृश ही निश्चय ॥ ३ ॥

---

१ अभिषेक के जल से सिंचित; २ शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ; ३ प्रस्थान किया।

गच्छन्नेवाथ भरतस्तापसालयसंस्थिताम् ।
भ्रातुः पर्णकुटीं श्रीमानुटजं च ददर्श ह ॥ ४ ॥
शालायास्त्वग्रतस्तस्या ददर्श भरतस्तदा ।
काष्ठानि चावभग्नानि पुष्पाण्यपचितानि च ॥ ५ ॥
स लक्ष्मणस्य रामस्य ददर्शाश्रममीयुषः ।
कृतं वृक्षेष्वभिज्ञानं कुशचीरैः क्वचित् क्वचित् ॥ ६ ॥
ददर्श च वने तस्मिन् महतः संचयान् कृतान् ।
मृगाणां महिषाणां च करीषैः शीतकारणात् ॥ ७ ॥
गच्छन्नेव महाबाहुर्द्युतिमान् भरतस्तदा ।
शत्रुघ्नं चाब्रवीद्धृष्टस्तानमात्यांश्च सर्वशः ॥ ८ ॥
मन्ये प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत् ।
नातिदूरे हि मन्येऽहं नदीं मन्दाकिनीमितः ॥ ९ ॥
उच्चैर्बद्धानि चीराणि लक्ष्मणेन भवेदयम् ।
अभिज्ञानकृतः पन्था विकाले गन्तुमिच्छता ॥ १० ॥
इतश्चोदात्तदन्तानां कुञ्जराणां तरस्विनाम् ।
शैलपार्श्वे परिक्रान्तमन्योन्यमभिगर्जताम् ॥ ११ ॥
यमेवाधातुमिच्छन्ति तापसाः सततं वने ।
तस्यासौ दृश्यते धूमः संकुलः कृष्णवर्त्मनः ॥ १२ ॥
अत्राहं पुरुषव्याघ्रं गुरुसत्कारकारिणम् ।
आर्यं द्रक्ष्यामि संहृष्टं महर्षिमिव राघवम् ॥ १३ ॥
अथ गत्वा मुहूर्तं तु चित्रकूटं स राघवः ।
मन्दाकिनीमनु प्राप्तस्तं जनं चेदमब्रवीत् ॥ १४ ॥
जगत्यां पुरुषव्याघ्र आस्ते वीरासने रतः ।
जनेन्द्रो निर्जनं प्राप्य धिङ्मे जन्म स जीवितम् ॥ १५ ॥
मत्कृते व्यसनं प्राप्तो लोकनाथो महाद्युतिः ।
सर्वान् कामान् परित्यज्य वने वसति राघवः ॥ १६ ॥
इति लोकसमाक्रुष्टः पादेष्वद्य प्रसादयन् ।
रामं तस्य पतिष्यामि सीताया लक्ष्मणस्य च ॥ १७ ॥
एवं स विलपंस्तस्मिन् वने दशरथात्मजः ।
ददर्श महतीं पुण्यां पर्णशालां मनोरमाम् ॥ १८ ॥
सालतालाश्वकर्णानां पर्णैर्बहुभिरावृताम् ।
विशालां मृदुभिस्तीर्णां कुशैर्वेदिमिवाध्वरे ॥ १९ ॥

चलते ही श्रीमान भरत ने, तपस्वियों के आश्रम-सम स्थित।
पर्णकुटी भाई की देखी, जो कि वहाँ थी हुई प्रतिष्ठित ॥ ४ ॥
शाला के सामने लकड़ियाँ, कटी हुई थीं तब एकत्रित।
तथा वहाँ तब फिर, पूजन के दिखे पुष्प भी सुन्दर संचित ॥ ५ ॥
दिखे मार्ग-बोधक[1] सु-चिह्न भी, तरुओं में तब, आश्रम-पथ-हित।
कहीं-कहीं थे, तरु-शाखाओं पर जो चीर, कुशों से निर्मित ॥ ६ ॥
मृग - लेंड़ी, भैसों के सूखे गोबर की उस वन में ढेरी।
शीत निवारण हेतु भरत ने भलीभाँति देखीं बहुतेरी ॥ ७ ॥
महाबाहु अतिकान्तिमान वे भरत चल रहे थे जब वैसे।
तब वोले शत्रुघ्न, मन्त्रियों से हो अति प्रमुदित फिर ऐसे ॥ ८ ॥
समझ रहा मैं, भरद्वाज-निर्देशित स्थल पर आये, हम सब।
लगता मन्दाकिनी नदी भी, दूर यहाँ से नहीं रही अब ॥ ९ ॥
लक्ष्मण द्वारा, ऊँचे वृक्षों पर ये चीर हुए हैं बन्धित।
यथासमय आने-जाने को, आश्रम-पथ-दिखलाने के हित ॥ १० ॥
बड़े दाँत के, वेगशील गज, इधर-उधर से निकल-निकलकर।
एक - दूसरे से स्पर्धा कर, करते गिरि - समीप गर्जन - स्वर ॥ ११ ॥
तापस मुनि हैं जिन्हें चाहते, सदा रहें ये वन में सुस्थित।
दिखता है उन अग्निदेव का, धूम्र यहाँ पर सघन यथोचित ॥ १२ ॥
गुरुजन-सेवी आर्य राम जो, नित महर्षि-सम रहते प्रमुदित।
यहाँ, मैं उन्हीं पुरुषसिंह के दर्शन शीघ्र करूँगा निश्चित ॥ १३ ॥
फिर मुहूर्त में ही मन्दाकिनि-तट-स्थित चित्रकूट गिरिवर पर।
पहुँचे भरत, और बोले यह, संगिजनों[2] से वचन सु-रुचिकर ॥ १४ ॥
पुरुषसिंह वे महाराज हैं, होते आज विजन[3] भू पर स्थित।
वीरासन से यहाँ, अतः हैं मेरे जीवन, जन्म वि-धिक्कृत[4] ॥ १५ ॥
मेरे कारण अति तेजस्वी, लोकनाथ राघव वे भारी।
संकट में पड़, वन में रहते, त्याग कामनाएँ निज सारी ॥ १६ ॥
लोक-निन्द्य मैं, राम-पदों पर, गिरकर उन्हें मनाऊँगा अब।
और साथ ही, सीता, लक्ष्मण के भी चरण गहूँगा फिर तब ॥ १७ ॥
विलपित दशरथ-पुत्र भरत ने, देखी बड़ी पर्णशाला[5] फिर।
जो थी परम पवित्र, मनोरम, तथा उसी वन में तब सुस्थिर ॥ १८ ॥
अश्वकर्ण, शुभ साल, ताल - तरु - पत्राच्छादित थी वह ऐसी।
कोमल कुश - आसन - युत होती, मख - शालीया[6] वेदी जैसी ॥ १९ ॥

---

१ रास्ते की लीक दिखानेवाले; २ साथियों; ३ निर्जन; ४ धिक्कार के योग्य; ५ पर्णकुटी, पत्तों से छायी; ६ यज्ञशाला के लिए बनाई हुई कुटिया की।

शक्त्यायुधनिकाशैश्च कार्मुकैर्भारसाधनैः ।
रुक्मपृष्ठैर्महासारैः शोभितां शत्रुबाधकैः ॥ २० ॥
अर्करश्मिप्रतीकाशैर्घोरैस्तूणगतैः शरैः ।
शोभितां दीप्तवदनैः सर्पैर्भोगवतीमिव ॥ २१ ॥
महारजतवासोभ्यामसिभ्यां च विराजिताम् ।
रुक्मबिन्दुविचित्राभ्यां चर्मभ्यां चापि शोभिताम् ॥ २२ ॥
गोधाङ्गुलित्रैरासक्तैश्चित्रकाञ्चनभूषितैः ।
अरिसंघैरनाधृष्यां मृगैः सिंहगुहामिव ॥ २३ ॥
प्रागुदक्प्रवणां वेदिं विशालां दीप्तपावकाम् ।
ददर्श भरतस्तत्र पुण्यां रामनिवेशने ॥ २४ ॥
निरीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो गुरुम् ।
उटजे राममासीनं जटामण्डलधारिणम् ॥ २५ ॥
कृष्णाजिनधरं तं तु चीरवल्कलवाससम् ।
ददर्श राममासीनमभितः पावकोपमम् ॥ २६ ॥
सिंहस्कन्धं महाबाहुं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ।
पृथिव्याः सागरान्ताया भर्तारं धर्मचारिणम् ॥ २७ ॥
उपविष्टं महाबाहुं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् ।
स्थण्डिले दर्भसंस्तीर्णे सीतया लक्ष्मणेन च ॥ २८ ॥
तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमाञ्छोकमोहपरिप्लुतः ।
अभ्यधावत धर्मात्मा भरतः कैकयीसुतः ॥ २९ ॥
दृष्ट्वैव विललापार्तो बाष्पसंदिग्धया गिरा ।
अशक्नुवन् वारयितुं धैर्याद् वचनमब्रुवन् ॥ ३० ॥
यः संसदि प्रकृतिभिर्भवेद् युक्त उपासितुम् ।
वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः ॥ ३१ ॥
वासोभिर्बहुसाहस्रैर्यो महात्मा पुरोचितः ।
मृगाजिने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरन् ॥ ३२ ॥
अधारयद् यो विविधाश्चित्राः सुमनसः सदा ।
सोऽयं जटाभारमिमं सहते राघवः कथम् ॥ ३३ ॥
यस्य यज्ञैर्यथादिष्टैर्युक्तो धर्मस्य संचयः ।
शरीरक्लेशसम्भूतं स धर्मं परिमार्गते ॥ ३४ ॥
चन्दनेन महार्हेण यस्याङ्गमुपसेवितम् ।
मलेन तस्याङ्गमिदं कथमार्यस्य सेव्यते ॥ ३५ ॥

इन्द्र - धनुष - सम, धनुष वहाँ थे रक्खे कठिन कार्य के साधक।
स्वर्ण - पृष्ठमय, कुटी - रम्यता - वर्धक, अतिबल रिपु के घातक ॥ २० ॥
बहु तरकस थे, जिनमें थे बहु, सूर्य-रश्मि-प्रभ बाण भयंकर।
उनसे लगी, दीप्तमुखि, अहि-युत भोगवती-सी कुटिया सुन्दर ॥ २१ ॥
स्वर्ण-म्यान की दो तलवारें थीं, ढालें दो चित्र स्वर्णिमा।
इन सबसे उस पर्णकुटी की, बढ़ी अधिक सुन्दरता-गरिमा ॥ २२ ॥
गोह - चर्म - कृत बहु दस्ताने, स्वर्ण - जटित थे टँगे वहाँ पर।
मृग-अजेय थी, सिंह-गुफा सी, कुटी शत्रुओं से अगम्यतर[1] ॥ २३ ॥
दिखी भरत को, राम-गेह में, एक वेदिका पुण्य-विशाला।
थी ईशान कोण[2] में नीची वह, उसमें थी अग्निज्वाला ॥ २४ ॥
पर्णकुटी में देख कुछ समय, देखा वहाँ भरत ने तब फिर।
बैठे, भ्राता राम स्वगुरु को, जिनका जटा-सुशोभित था सिर ॥ २५ ॥
तथा श्याममृग-चर्म, चीर सँग वल्कल-वसन धारि वे उत्तम।
बैठे दिखे, उन्हें, जिनकी थी प्रभा दिव्य प्रज्वलित अग्नि-सम ॥ २६ ॥
सागरान्त पृथ्वी के स्वामी, सिंह-स्कन्ध वे महाबाहु-वर।
धर्माचारी तथा सु-विकसित कमल-नयन, निरुपम सुषमाधर ॥ २७ ॥
सीता, लक्ष्मण साथ, कुशासन - युत वेदी पर थे वे ऐसे।
स्वयं सनातन ब्रह्मा जी ही, वेदी पर बैठे हों जैसे ॥ २८ ॥
धर्मात्मा श्रीमान् भरत वे देख, राम को ऐसी स्थिति में।
दौड़े, शोक, मोह-पीड़ित हो, उनकी ओर, तीव्रतम गति में ॥ २९ ॥
और देखते ही, भाई को, आर्त भरत वे लगे विलपने।
रोक न पाये शोक, धर्य से लगे, साश्रु गद्गद हो कहने ॥ ३० ॥
हाय! राज्य-संसद में जो हैं सचिव, प्रजा-सम्मान-योग्य अति।
वे ही राम, यहाँ बैठे हैं, वन-पशुओं से घिरकर सम्प्रति ॥ ३१ ॥
जो कि सहस्रों वस्त्र पुरोचित, धर्मात्मा थे प्रथम पहनते।
वे ही धर्माचारि यहाँ वस, दो मृग-चर्म पहनकर रहते ॥ ३२ ॥
विविध विचित्र पुष्प करते थे, धारण जो तब अपने सिर पर।
वे ही राघव, जटा-भार यह सहन कर रहे कैसे दुखकर? ॥ ३३ ॥
शास्त्र-कथित यज्ञों से जिनको, धर्म-चयन करना है समुचित।
वे धर्मान्वेषण[3] करते हैं, अब शरीर को कर कष्टान्वित[4] ॥ ३४ ॥
जिनके अंग प्रथम सेवित थे, बहुत मूल्य के चन्दन द्वारा।
उन्हीं राम का अब शरीर है, मलिन, धूलि से अतिशय सारा ॥ ३५ ॥

---

१ न पहुँच पाने योग्य; २ उत्तर-पूर्व के मध्य कोण; ३ धर्म का अनुसंधान; ४ कष्ट देकर।

मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः।
धिग्जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम्॥ ३६॥
इत्येवं विलपन् दीनः प्रस्विन्नमुखपङ्कजः।
पादावप्राप्य रामस्य पपात भरतो रुदन्॥ ३७॥
दुःखाभितप्तो भरतो राजपुत्रो महाबलः।
उक्त्वाऽऽर्येति सकृद्दीनं पुनर्नोवाच किंचन॥ ३८॥
बाष्पैः पिहितकण्ठश्च प्रेक्ष्य रामं यशस्विनम्।
आर्येत्येवाभिसंक्रुश्य व्याहर्तुं नाशकत् ततः॥ ३९॥
शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन्।
तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत्॥ ४०॥
ततः सुमन्त्रेण गुहेन चैव
समीयतू राजसुतावरण्ये
दिवाकरश्चैव निशाकरश्च
यथाम्बरे शुक्रबृहस्पतिभ्याम्॥ ४१॥
तान् पार्थिवान् वारणयूथपार्हान्
समागतांस्तत्र महत्यरण्ये।
वनौकसस्तेऽभिसमीक्ष्य सर्वे
त्वश्रूण्यमुञ्चन् प्रविहाय हर्षम्॥ ४२॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवनवतितमः सर्गः॥ ९९॥

शततमः सर्गः

श्रीराम का भरत को कुशल-प्रश्न के बहाने राजनीति का उपदेश करना

जटिलं चीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि।
ददर्श रामो दुर्दर्शं युगान्ते भास्करं यथा॥ १॥
कथंचिदभिविज्ञाय विवर्णवदनं कृशम्।
भ्रातरं भरतं रामः परिजग्राह पाणिना॥ २॥
आघ्राय रामस्तं मूर्ध्नि परिष्वज्य च राघवम्।
अङ्के भरतमारोप्य पर्यपृच्छत सादरम्॥ ३॥
क्व नु तेऽभूत् पिता तात यदरण्यं त्वमागतः।
न हि त्वं जीवतस्तस्य वनमागन्तुमर्हसि॥ ४॥

सुख के योग्य, राम ने पाया, दुःख इस तरह मेरे कारण।
मैं जन-निन्दित क्रूर कर रहा, निज धिक्कृत[1] जीवन को धारण ॥ ३६ ॥
विलपित, दुखी भरत-मुख पंकज हुआ स्वेद-बूँदों[2] से अन्वित।
राम-पदों तक जाने के वे, पहले हुए भूमि पर प्रपतित[3] ॥ ३७ ॥
दुख-संतप्त भरत वे नृप-सुत, महाबली तब एक बार बस।
दीन वचन, 'हे आर्य', कह सके, पुनः न पाये बोल, शोक-वश ॥ ३८ ॥
राम यशस्वी-ओर देख, वे चीखे कह, 'हा आर्य !' और अब।
आगे बोल न पाये, उनका अश्रु रुद्ध था कण्ठ अधिक तब ॥ ३९ ॥
रिपुसूदन ने भी, रो करके, किया राम-चरणों में प्रणमन।
अश्रु बहाने लगे हृदय से लगा बन्धुओं को रघुनन्दन ॥ ४० ॥

फिर नृप-सुत श्रीराम और श्री लक्ष्मण भी उस वन में
मिले, सुमन्त्र और उस गुह से, होकर प्रमुदित मन में।
इन सबके मिलने के अवसर पर लगता था ऐसा
मानो, रवि, शशि, शुक्र, बृहस्पति हैं मिल रहे, गगन में ॥ ४१ ॥

जो हैं चलने योग्य, यूथपति उत्तम गज पर चढ़कर
विस्तृत वन में चलकर आये, वे चारों नृप-सुतवर।
यह विचित्र स्थिति देख, हो गये हर्ष-हीन, वन-वासी
और बहाने लगे अश्रु वे, होकर सभी दुखित-तर ॥ ४२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
निन्यानबेवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९९ ॥

सौवाँ सर्ग

श्रीराम का भरत को कुशल-प्रश्न के बहाने राजनीति का उपदेश करना

साञ्जलि[4], जटा-चीर-वसनान्वित, भरत पड़े थे भू पर ऐसे।
प्रलयकाल के सूर्यदेव ही, मानो गिरे पड़े हों जैसे ॥ १ ॥
दुर्बल मुख, उदास भ्राता को, किसी भाँति से पहिचाना जब।
रामचन्द्र ने निज हाथों से, बन्धु भरत को उठा लिया तब ॥ २ ॥
मस्तक सूँघा, हृदय-लगाया, रामचन्द्र ने उनको तब फिर।
और पूछने लगे भरत से, उनको करके निज अंकस्थिर[5] ॥ ३ ॥
तात ! कहाँ हैं पिता ? जो कि तुम वन में आये, इस अवसर पर।
क्योंकि तुम्हारा आना, उनके जीते जी तो था दुर्लभ-तर ॥ ४ ॥

१ धिक्कार योग्य; २ पसीने की बूँदों; ३ गिर पड़े; ४ हाथ जोड़े हुए;
५ गोद में भरकर।

चिरस्य बत पश्यामि दूराद् भरतमागतम् ।
दुष्प्रतीकमरण्येऽस्मिन् किं तात वनमागतः ॥ ५ ॥
कच्चिन्नु धरते तात राजा यत् त्वमिहागतः ।
कच्चिन्न दीनः सहसा राजा लोकान्तरं गतः ॥ ६ ॥
कच्चित् सौम्य न ते राज्यं भ्रष्टं बालस्य शाश्वतम् ।
कच्चिच्छुश्रूषसे तात पितुः सत्यपराक्रम ॥ ७ ॥
कच्चिद् दशरथो राजा कुशली सत्यसंगरः ।
राजसूयाश्वमेधानामाहर्ता धर्मनिश्चितः ॥ ८ ॥
स कच्चिद् ब्राह्मणो विद्वान् धर्मनित्यो महाद्युतिः ।
इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो यथावत् तात पूज्यते ॥ ९ ॥
तात कच्चिच्च कौसल्या सुमित्रा च प्रजावती ।
सुखिनी कच्चिदार्या च देवी नन्दति कैकयी ॥ १० ॥
कच्चित् विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः ।
अनसूयुरनुद्रष्टा सत्कृतस्ते पुरोहितः ॥ ११ ॥
कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा ॥ १२ ॥
कच्चिद् देवान् पितॄन् भृत्यान् गुरून् पितृसमानपि ।
वृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चाभिमन्यसे ॥ १३ ॥
इष्वस्त्रवरसम्पन्नमर्थशास्त्रविशारदम् ।
सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित् त्वं तात मन्यसे ॥ १४ ॥
कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः ।
कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः ॥ १५ ॥
मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव ।
सुसंवृतो मन्त्रिधुरैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः ॥ १६ ॥
कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित् कालेऽवबुध्यसे ।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थनैपुणम् ॥ १७ ॥
कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह ।
कच्चित् ते मन्त्रितो मन्त्रो राष्ट्रं न परिधावति ॥ १८ ॥
कच्चिदर्थं विनिश्चित्य लघुमूलं महोदयम् ।
क्षिप्रमारभसे कर्म न दीर्घयसि राघव ॥ १९ ॥
कच्चित्तु सुकृतान्येव कृतरूपाणि वा पुनः ।
विदुस्ते सर्वकार्याणि न कर्तव्यानि पार्थिवाः ॥ २० ॥

बहुत समय के बाद देखता, दूरागत को भीषण वन में।
किन्तु भरत-तन अति दुर्बल है, क्यों आये तुम ? तात ! विजन[1] में ॥ ५ ॥
जीवित हैं न तात भूपतिवर, या कि दुखित हो, गये स्वर्ग को ?।
और इसी के लिए भला क्या आना पड़ा विपिन[1] में तुमको ? ॥ ६ ॥
राज्य नष्ट तो नहीं तुम्हारा, बाल सौम्य ! हो गया क्रमागत[2]।
तथा पिता-सेवा-व्रत चलता, है न सत्यविक्रमि ! अब तद्व्रत ? ॥ ७ ॥
हैं न कुशल से नृप दशरथ वे उत्तम राजसूय मखकारी।
अश्वमेधकर्ता, सत्यव्रत तथा कुशल धनव्रतधारी ? ॥ ८ ॥
तात ! धर्मविद कोविद जो हैं उपाध्याय इक्ष्वाकुवंश के।
अति तेजस्वी श्री वसिष्ठ जी, चलते क्या पूजन-क्रम उनके ? ॥ ९ ॥
माँ कौसल्या, उत्तम सन्ततिवती सुमित्रा हैं न प्रमोदित ?।
कहो तात ! आर्या कैकेयीदेवी हैं न परम आनन्दित ? ॥ १० ॥
सत्कुल, बहुश्रुत, दोष-अदृष्टा[3] तथा धर्म-द्रष्टा विनयान्वित।
जो हैं राज-पुरोहित, वे क्या तुमसे हुए सर्वथा सत्कृत[4] ? ॥ ११ ॥
हवन-विज्ञ, धीमान्, सरलमति विप्र जो कि सुर-कार्य कराते।
वे कृत हवन, सूचना देकर, क्या हैं अग्रिम[5] कार्य बताते ? ॥ १२ ॥
देव, पितर, द्विज, वैद्य, वृद्धजन, गुरु जो पिता-सदृश हैं मानित।
इन सब आदरणीयों को तुम, करते हो न सदा सम्मानित ? ॥ १३ ॥
मन्त्र-हीन शर, अस्त्र-मन्त्रयुत-विज्ञ, अर्थशास्त्री अति पण्डित।
जो हैं वे आचार्य सुधन्वा, तात ! उन्हें करते हो सत्कृत ? ॥ १४ ॥
तात ! शूर, शास्त्रज्ञ, जितेन्द्रिय, हो तुम चेष्टा-ज्ञाता जैसे।
सचिव-पदों पर भी नियुक्त क्या किये योग्यजन तुमने वैसे ? ॥ १५ ॥
विजय-मूल कारण, सचिवों की उचित मन्त्रणा है भूपों-हित।
तथा शास्त्रविद्, मन्त्रद[6] सचिवों की सुमन्त्रणा होती सुफलित ॥ १६ ॥
निद्रावश असमय में सोते तो न ? जागते उचित समय पर ?।
करते हो ? रात्र्यन्त[7] प्रहर में, अर्थ-सिद्धि-साधन-विचार वर ॥ १७ ॥
गुप्त मन्त्रणा नहीं अकेले करते, अथवा बहुत जनों-सह।
शत्रुपक्ष पर प्रकट तो न हो जाती है मन्त्रणा गुप्त वह ? ॥ १८ ॥
राघव ! करते हो विचार जब, लघु-साधन-बहु फलद-कार्य पर।
कर देते हो तुम न तुरत आरम्भ ? देर के बिना, शीघ्रतर ॥ १९ ॥
पूर्ति-निकट या पूर्ण कार्य ही, होते हैं न प्रकट तब सारे।
कहीं अन्य नृप पहले से ही, जान न जाते कार्य तुम्हारे ? ॥ २० ॥

---

१ वन; २ परम्परा से चला आ रहा राज्य; ३ किसी का दोष न देखनेवाले; ४ आदर पाया; ५ आगे के; ६ सद्बुचित सलाह देनेवाले; ७ रात के पिछले पहर।

कच्चिन्न तर्कैर्युक्त्वा वा ये चाप्यपरिकीर्तिताः ।
त्वया वा तव वामात्यैर्बुध्यते तात मन्त्रितम् ॥ २१ ॥
कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम् ।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं महत् ॥ २२ ॥
सहस्राण्यपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः ।
अथवाप्ययुतान्येव नास्ति तेषु सहायता ॥ २३ ॥
एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दक्षो विचक्षणः ।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥ २४ ॥
कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्यास्ते तात योजिताः ॥ २५ ॥
अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्शुचीन् ।
श्रेष्ठाञ्छ्रेष्ठेषु कच्चित् त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ २६ ॥
कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजिताः प्रजाः ।
राष्ट्रे तवावजानन्ति मन्त्रिणः कैकयीसुत ॥ २७ ॥
कच्चित् त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा ।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥ २८ ॥
उपायकुशलं वैद्यं भृत्यसंदूषणे रतम् ।
शूरमैश्वर्यकामं च यो हन्ति न स हन्यते ॥ २९ ॥
कच्चिद् धृष्टश्च शूरश्च धृतिमान् मतिमाञ्छुचिः ।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः ॥ ३० ॥
बलवन्तश्च कच्चित् ते मुख्या युद्धविशारदाः ।
दृष्टापदाना विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥ ३१ ॥
कच्चिद् बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् ।
सम्प्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विलम्बसे ॥ ३२ ॥
कालातिक्रमणे ह्येव भक्तवेतनयोर्भृताः ।
भर्तुरप्यतिकुप्यन्ति सोऽनर्थः सुमहान् कृतः ॥ ३३ ॥
कच्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः ।
कच्चित् प्राणांस्तवार्थेषु संत्यजन्ति समाहिताः ॥ ३४ ॥
कच्चिज्जानपदो विद्वान् दक्षिणः प्रतिभानवान् ।
यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः ॥ ३५ ॥

तात ! तुम्हारी गोप्य[1] मन्त्रणा, तुममें औ सचिवों तक सीमित ।
जान न लेते तर्क-युक्ति (छल-बल) से कभी दूसरे भूपति ? ।। २१ ।।
क्या सहस्र मूर्खों के बदले में पसन्द है एक सुपण्डित ? ।
कर सकता आर्थिक संकट में क्योंकि एक विद्वान परम हित ।। २२ ।।
रख ले अपने पास सहस्रों मूर्खों को भी यदि भूपतिवर ।
तो उत्तम साहाय्य[2] न उनसे मिल पाता कोई अवसर[3] पर ।। २३ ।।
एक सचिव भी शूर, चतुर यदि हो मेधावी नीति-विज्ञवर ।
तो वह प्राप्त करा सकता है, नृप, नृप-सुत को विभव महत्तर ।। २४ ।।
तात ! मुख्य, मध्यम एवं जो साधारण श्रेणी के हैं जन ।
किया है न ? तुमने उन सबका, तथा योग्य[4] स्थानों पर स्थापन ।। २५ ।।
जो हैं पैतृक-सचिव[5] सु-निश्छल, बाह्यान्तस से पूत श्रेष्ठतर ।
घूस-त्यागि[6], उनको ही करते हो न नियोजित ? श्रेष्ठ कार्य पर ।। २६ ।।
कैकेयी-सुत ! राज्य-प्रजा, अति क्रूर दण्ड से होकर पीड़ित ।
करती तो है नहीं तुम्हारे, सचिव वर्ग को कहीं तिरस्कृत ? ।। २७ ।।
ज्यों यजमान पतित को याज्ञिक, कामुक को ज्यों नारि झिड़कती ।
दुसह भार-कर-त्रस्त प्रजा तो नृप का नहीं अनादर करती ? ।। २८ ।।
शूरोपाय-कुशल[7], विभवेच्छुक[8], भृत्य-विभेदक[9], शास्त्रज्ञाता ।
यदि विपक्ष[10] मृत हुआ न नृप से, तो उससे नृप मारा जाता ।। २९ ।।
ढीठ, शूर, मतिमान, धैर्य-युत, अनुरागी सुपवित्र कुलोत्तम ।
किया गया क्या, सेनापति-पद स्थित तुमसे बन्धो ! रण-सक्षम ? ।। ३० ।।
योद्धा, कुशल तुम्हारे हैं क्या युद्ध-कुशल विक्रमी परीक्षित ? ।
युद्ध-विशारद तथा हो रहे क्या तुमसे सम्मानित सत्कृत ।। ३१ ।।
वेतन, भत्ता उचित, सैनिकों को दे देते हो न समय पर ।
होता तो न विलम्ब कहीं है तुमसे किसी भाँति निश्चय कर ।। ३२ ।।
वेतन भत्ता, समय बिताकर हुआ सैनिकों को यदि वितरित ।
तो होते वे कुपित नृपति पर, होता महा अनर्थ तब घटित ।। ३३ ।।
रखते प्रेम, कुलीन सचिव मुख[11] अधिकारी क्या तुमसे निश्चित ? ।
प्राण-त्याग-तत्पर रहते हैं वे क्या भला तुम्हारे प्रति नित ? ।। ३४ ।।
है, स्वदेशवासी प्रतिभान्वित, यथा - कथन - वादी, विवेकिवर ।
कुशल, भरत ! जिसको रक्खा है तुमने राजदूत के पद पर ? ।। ३५ ।।

---

१ गुप्त रखने योग्य; २ सहायता; ३ मौके पर, संकट पर; ४ योग्यता के अनुसार; ५ बाप-दादों के समय से कार्य करते आये हों; ६ घूस न लेनेवाले; ७ नीति-निपुण; ८ वैभव हरण करने का इच्छुक; ९ विश्वासी सेवकों को फोड़नेवाला; १० (ऐसा) विरोधी; ११ प्रधान ।

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः॥ ३६॥
कच्चिद् व्यपास्तानहितान् प्रतियातांश्च सर्वदा।
दुर्बलाननवज्ञाय वर्तसे रिपुसूदन॥ ३७॥
कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे।
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः॥ ३८॥
धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते॥ ३९॥
वीरैरध्युषितां पूर्वमस्माकं तात पूर्वकैः।
सत्यनामां दृढद्वारां हस्त्यश्वरथसंकुलाम्॥ ४०॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः स्वकर्मनिरतैः सदा।
जितेन्द्रियैर्महोत्साहैर्वृतामार्यैः सहस्रशः॥ ४१॥
प्रासादैर्विविधाकारैर्वृतां वैद्यजनाकुलाम्।
कच्चित् समुदितां स्फीतामयोध्यां परिरक्षसे॥ ४२॥
कच्चिच्चैत्यशतैर्जुष्टः सुनिविष्टजनाकुलः।
देवस्थानैः प्रपाभिश्च तटाकैश्चोपशोभितः॥ ४३॥
प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः।
सुकृष्टसीमापशुमान् हिंसाभिरभिवर्जितः॥ ४४॥
अदेवमातृको रम्यः श्वापदैः परिवर्जितः।
परित्यक्तो भयैः सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः॥ ४५॥
विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वैः सुरक्षितः।
कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव॥ ४६॥
कच्चित् ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते॥ ४७॥
तेषां गुप्तिपरीहारैः कच्चित् ते भरणं कृतम्।
रक्ष्या हि राज्ञा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः॥ ४८॥

---

१ [फ़ुटनोट पृ० ९१३ से आगे] (न्यायाधीश), व्यवहार निर्णेता, सभ्य, सेना को जीविका-निर्वाह के लिए धन देने का अधिकारी (सेनानायक), कर्मचारियों को काम पूरा होने पर वेतन देने के लिए राजा से धन लेनेवाला (नगराध्यक्ष, राष्ट्रसीमापाल तथा वनरक्षक), दुष्टों को दण्ड देने का अधिकारी तथा जल, पर्वत, वन एवं दुर्गम भूमि की रक्षा करनेवाला—इन पर राजा को दृष्टि रखनी चाहिए; २ उपर्युक्त अठारह तीर्थों में से आदि के तीन को छोड़कर शेष पंद्रह तीर्थ अपने पक्ष के भी सदा परीक्षणीय हैं; ३ गुप्तचर; ४ अज्ञानी होते हुए भी ज्ञानी का रूप धरनेवाले नास्तिक ब्राह्मणों का सत्कार तो तुम नहीं करते; ५ द्वार; ६ यज्ञशालाएँ।

रिपु के अष्टादश[1] एवं तव पन्द्रह[2] तीरथ हैं विशेषकर।
उनकी हो चारकत्रयी[3] से तुम करते क्या जाँच निरन्तर ? ॥ ३६ ॥
राज्य-वहिष्कृत शत्रु लौटकर, रिपुसूदन ! जो भी हैं आते।
उनको दुर्बल समझ, उपेक्षा उनके प्रति तो नहीं दिखाते ? ॥ ३७ ॥
होते तो न अनर्थ कुशल द्विज, तात ! नास्तिक तुमसे सेवित[4]।
वे वास्तव में मूर्ख, स्वयं को माना करते अतिशय पण्डित ॥ ३८ ॥
श्रेष्ठ धर्मशास्त्रों के रहते, वेद - विरुद्ध, कुतर्क - आश्रित।
वाद-विवाद व्यर्थ भरमाते, करते दूषित तर्क प्रमाणित ॥ ३९ ॥
तात ! हमारे वीर पूर्वजों की जो वास-भूमि है सुविदित।
गज, रथ, अश्व-युता, दृढ़ तोरण[5], निज सुनाम-अनुरूप गुणान्वित ॥ ४० ॥
एवं जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सहस्रों हैं स्व-काय-रत।
अतुल महोत्साही सु-श्रेष्ठ है, परम जितेन्द्रिय, सज्जन-सम्मत ॥ ४१ ॥
बहु मन्दिर, विद्वानों, भूपति-भवनों से है जो समृद्ध अति।
उस मुदमयो अयोध्या की, तुम ! रक्षा करते हो न ? यथास्थिति ॥ ४२ ॥
हैं अनेक सुरभवन, मखस्थल[6], पोसाले, तालाब सुशोभित।
जहाँ बहुत सख्या में रहते, उत्तम जन सर्वथा प्रतिष्ठित ॥ ४३ ॥
जो, समाज-उत्सव शोभित है, जिसमें हैं नारी-नर हर्षित।
खेत जोतने योग्य जहाँ पशु, जहाँ सदा हिंसा है वर्जित ॥ ४४ ॥
वर्षा-निर्भर क्षेत्र न रहते जिसके, जो हैं हिंस्र पशु-रहित।
अति सुन्दर जो भय-विहीन है, जो है खानों से संशोधित ॥ ४५ ॥
वही, पापिजन - रहित, हमारे पूर्वजनो से विधिवत् रक्षित।
अपना कोसल देश धान्य धन-युक्त, भला है सुख से निवसित ? ॥ ४६ ॥
प्रीति-पात्र तो हैं न तुम्हारे कृषि, गो-रक्षा-जीवि वैश्यजन।
कृषि-व्यापार-निरत रह ? रहता देश समुन्नत तथा सुखी मन ? ॥ ४७ ॥
इष्ट-अनिष्ट वैश्यजन का पोषण तो करते हो न यथोचित ?।
क्योंकि राज्य की सकल प्रजा की सदा सुरक्षा नृप को समुचित ॥ ४८ ॥

---

1 शत्रुपक्ष के मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तर्वेशिक (अन्तःपुर का अध्यक्ष), कारागाराध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, यथायोग्य कार्यों में धन का व्यय करनेवाला सचिव, प्रदेष्टा (पहरेदारों को काम बतानेवाला), नगराध्यक्ष (कोतवाल), कार्य-निर्माणकर्ता (शिल्पियों का परिचालक), धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्र-सीमापाल तथा वन-रक्षक—ये अठारह तीर्थ हैं, जिन पर राजा को दृष्टि रखनी चाहिए। मतान्तर से ये अठारह तीर्थ इस प्रकार है—मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तःपुराध्यक्ष, कारागाराध्यक्ष, धनाध्यक्ष, राजा की आज्ञा से सेवकों को काम बतानेवाला, वादी-प्रतिवादी से मामले की पूछताछ करनेवाला, प्राड्विवाक (वकील), धर्मासनाधिकारी [देखें फ़ुटनोट पृ० ९१२ पर]

कच्चित् स्त्रियः सान्त्वयसे कच्चित् तास्ते सुरक्षिताः ।
कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद् गुह्यं न भाषसे ॥ ४९ ॥
कच्चिन्नागवनं गुप्तं कच्चित् ते सन्ति धेनुकाः ।
कच्चिन्न गणिकाश्वानां कुञ्जराणां च तृप्यसि ॥ ५० ॥
कच्चिद् दर्शयसे नित्यं मानुषाणां विभूषितम् ।
उत्थायोत्थाय पूर्वाह्णे राजपुत्र महापथे ॥ ५१ ॥
कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशङ्कया ।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमेवात्र कारणम् ॥ ५२ ॥
कच्चिद् दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः ।
यन्त्रैश्च प्रतिपूर्णानि तथा शिल्पधनुर्धरैः ॥ ५३ ॥
आयस्ते विपुलः कच्चित् कच्चिदल्पतरो व्ययः ।
अपात्रेषु न ते कच्चित् कोषो गच्छति राघव ॥ ५४ ॥
देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च ।
योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चित् गच्छति ते व्ययः ॥ ५५ ॥
कच्चिदार्योऽपि शुद्धात्मा क्षारितश्चापकर्मणा ।
अदृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद् वध्यते शुचिः ॥ ५६ ॥
गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः ।
कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभ ॥ ५७ ॥
व्यसने कच्चिदाढ्यस्य दुर्बलस्य च राघव ।
अर्थं विरागाः पश्यन्ति तवामात्या बहुश्रुताः ॥ ५८ ॥
यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि राघव ।
तानि पुत्रपशून् घ्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः ॥ ५९ ॥
कच्चिद् वृद्धांश्च बालांश्च वैद्यान् मुख्यांश्च राघव ।
दानेन मनसा वाचा त्रिभिरेतैर्बुभूषसे ॥ ६० ॥
कच्चिद् गुरूंश्च वृद्धांश्च तापसान् देवतातिथीन् ।
चैत्यांश्च सर्वान् सिद्धार्थान् ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ॥ ६१ ॥
कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः ।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ॥ ६२ ॥
कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतां वर ।
विभज्य काले कालज्ञ सर्वान् वरद सेवसे ॥ ६३ ॥

रहतीं तो प्रसन्न महिलाएँ? वे हैं तुमसे सदा सुरक्षित?।
उन पर हो विश्वस्त[1], बताते तो न उन्हें वार्ताएँ गोपित[2]? ॥ ४९ ॥
गज-वन[3], अतिदुग्धा बहु गौएँ, हैं न भला तुमसे संरक्षित?।
हथिनी, गज, अश्वों के संग्रह से तो तृप्ति न होती पूरित[4] ॥ ५० ॥
नृप-सुत! नित पूर्वाह्न समय में, वस्त्राभूषण से हो शोभन।
मुख्य पथों पर जा-जा देते नगर-वासियों को हो दर्शन? ॥ ५१ ॥
होकर निडर, सामने तो आते न तुम्हारे कर्मचारिवर?।
अथवा सभय दूर ही रहते? क्योंकि मध्यस्थिति[5] है लक्ष्मीकर[6] ॥ ५२ ॥
अस्त्र, शस्त्र, जल, यन्त्र, धान्य-धन-पूरित तो हैं दुर्ग तुम्हारे?।
तथा धनुर्धर, सैनिक, शिल्पी से संयुत भी हैं वे सारे ॥ ५३ ॥
आय अधिक, व्यय अल्प तुम्हारा है न भला सम्प्रति रघुनन्दन!।
होता तो न अपात्र-हस्तगत[7], कभी तुम्हारा कहीं कोष-धन? ॥ ५४ ॥
देव, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत, योद्धा एवं मित्रों के हित।
ही होता है खर्च तुम्हारा भला न उत्तम धन एकत्रित? ॥ ५५ ॥
कोई, श्रेष्ठ, अदोष, शुद्ध मन पर, यदि दोष लगा देता जब।
उस अदृष्ट को लोभि-शास्त्रविद्[8] कहीं न देते तो कुदण्ड तब ॥ ५६ ॥
देखा, पूछा गया, प्रमाणित पकड़ा गया चोर कारण-युत।
कहीं राज्य में नृवर! लोभवश किया न जाता तो न दण्ड-च्युत ॥ ५७ ॥
निर्धन, धनी-विवाद राज्य में आता जो राघव! निर्णय-हित।
उस पर लोभ-हीन, बहुज्ञाता मन्त्री करते हैं विचार नित? ॥ ५८ ॥
मिथ्या दोष लगे, दण्डितजन के बरसाते अश्रु जब नयन।
पक्षपाति नृप के होते तब, नष्ट, पुत्र, पशु सब रघुनन्दन! ॥ ५९ ॥
राघव! वृद्ध, बाल, सद्वैद्यों का अन्तस्-अनुराग मधु वचन।
से करते हो मान सर्वथा, इन तीनों को दे करके धन? ॥ ६० ॥
वृद्ध, तापसों, देव, अतिथियों तथा गुरुजनों को रघुनन्दन?।
चैत्यों, सिद्ध ब्राह्मणों को तो करते हो न नित्य ही विनमन? ॥ ६१ ॥
कहीं अर्थ से धर्म, धर्म से अर्थ-हानि तो नहीं कराते?।
लोभ और आसक्ति-कामवश अर्थ-धर्म को तो न मिटाते? ॥ ६२ ॥
वरद! विजयिवर तथा समयविद्! करके प्रतिदिन समय-विभाजन।
धर्म, अर्थ, कामादिक का तो करते हो न समय से पालन? ॥ ६३ ॥

---

१ पूरा भरोसा करके; २ गुप्त रहस्य; ३ हाथियों से भरे वन; ४ मन भर जाने पर संग्रह रोक तो नहीं देते; ५ न बेधड़क सर्वत्र उपस्थित रहें, न भय से दूर भागते रहें (बीच की स्थिति); ६ धन-वृद्धि करनेवाली; ७ धन अयोग्य को तो नहीं जाता; ८ लोभ के वशीभूत शास्त्र-ज्ञानी।

कच्चित् ते ब्राह्मणाः शर्म सर्वशास्त्रार्थकोविदाः ।
आशंसन्ते महाप्राज्ञ पौरजानपदैः सह ॥ ६४ ॥
नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ॥ ६५ ॥
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम् ।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ॥ ६६ ॥
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः ।
कच्चित् त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश ॥ ६७ ॥
दशपञ्चचतुर्वर्गान् सप्तवर्गं च तत्त्वतः ।
अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघव ॥ ६८ ॥
इन्द्रियाणां जयं बुद्ध्वा षाड्गुण्यं दैवमानुषम् ।
कृत्यं विंशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम् ॥ ६९ ॥
यात्रादण्डविधानं च द्वियोनी संधिविग्रहौ ।
कच्चिदेतान् महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे ॥ ७० ॥

---

† [फुटनोट पृ० ९१७ से आगे] से बलवान् राजा की शरण लेना समाश्रय कहलाता है; ९ आग लगना, बाढ़ आना, बीमारी फैलना, अकाल पड़ना और महामारी का प्रकोप फैलना—ये पाँच दैवी बाधाएँ हैं। राज्य के अधिकारियों, चोरों, शत्रुओं और राजा के प्रिय व्यक्तियों से तथा स्वयं राजा के लोभ से जो भय प्राप्त होता है, उसे मानवी बाधा कहते हैं; १० शत्रु राजाओं के सेवकों में से जिनको वेतन न मिला हो, जो अपमानित किये गये हों, जो अपने मालिक के किसी बर्ताव से कुपित हों तथा जिन्हें भय दिखाकर डराया गया हो, ऐसे लोगों को मनचाही वस्तु देकर फोड़ लेना राजा का कृत्य (नीतिपूर्ण कार्य) माना गया है; ११ बालक, वृद्ध, दीर्घकाल का रोगी, जातिच्युत, डरपोक, भीरु मनुष्यों को साथ रखनेवाला, लोभी-लालची लोगों को आश्रय देनेवाला, मन्त्री, सेनापति आदि प्रकृतियों को असन्तुष्ट रखनेवाला, विषयों में आसक्त, चञ्चलचित्त मनुष्यों से सलाह लेनेवाला, देवता और ब्राह्मणों की निन्दा करनेवाला, दैव का मारा हुआ, भाग्य के भरोसे, पुरुषार्थ न करनेवाला, दुर्भिक्ष से पीडित, सैनिक-कष्ट से युक्त सेना-रहित), स्वदेश में न रहनेवाला, अधिक शत्रुओंवाला, अकाल (क्रूर ग्रह-दशा आदि से युक्त) और सत्यधर्म से रहित—ये बीस प्रकार के राजा सन्धि के योग्य नहीं माने गये हैं। इन्हीं को विंशति वर्ग के नाम से कहा गया है; १२ राज्य के स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष राष्ट्र, दुर्ग और सेना—राज्य के इन सात अङ्गों को ही प्रकृतिमण्डल कहते हैं। किसी-किसी के मत में मन्त्री, राष्ट्र, किला, खजाना और दण्ड—ये पाँच प्रकृतियाँ अलग हैं और बारह राजाओं के समूह को मण्डल कहा है; १३ द्वैधीभाव और समाश्रय—ये इनकी योनि-संधि हैं और यान तथा आसन इनकी योनि-विग्रह है, अर्थात् प्रथम दो संधिमूलक और अन्तिम दो विग्रहमूलक हैं।

सकल शास्त्र-मर्मज्ञ विप्रगण, पुरवासी, जनपदवासी सब।
महाप्राज्ञ ! कर रहे कामना मंगल की न तुम्हारे हित अब ? ॥ ६४ ॥
क्रोधालस्य, प्रमाद, विज्ञजन-त्याग न मिथ्याभाषण करना !।
दीर्घसूत्रता, नास्तिक होकर पञ्चेन्द्रिय के वश में रहना ! ॥ ६५ ॥
अनुचित-उचित-अविज्ञ-मन्त्रणा-निश्चित कार्यारम्भ न करना !।
मनमाना स्वतन्त्र चिन्तन तज, गुप्त मन्त्रणा प्रकट न करना ! ॥ ६६ ॥
मंगल कार्य न करना एवं एक साथ बहु रिपु-रण-योजन।
इन चौदह नृप-दोषों का करते न भला हो निश्चय त्यागन ॥ ६७ ॥
क्या दश[1], पञ्च[2], चतुर्वर्गों[3] सह, सप्त वर्ग[4] का जो है वर्णन।
वर्ग अष्ट[5] एवं त्रिवर्ग[6] सह राघव ! विद्यात्रय[7] का मण्डन ॥ ६८ ॥
और बुद्धि से इन्द्रिय-वशता, छहगुण[8] मनुज-दैव-बाधाएँ[†]।
नीति-कार्य[10], दो दशक वर्ग[11]-सँग जो कि प्रकृति मण्डल[12]-वार्ताएँ ॥ ६९ ॥
यात्रा दण्ड विधान, योनिद्वय[13], गुण सुगन्धि, विग्रह निष्पादन।
कर, करते हो महाप्राज्ञ ! क्या ? गुणग्रहण, दोषों का त्यागन ॥ ७० ॥

---

१ काम से उत्पन्न होनेवाले दस दोषों को दशवर्ग कहते हैं। ये राजा के लिए त्याज्य हैं। मनु जी ने उनके नाम इस प्रकार गिनाये हैं—आखेट, जुआ, दिन में सोना, दूसरों की निन्दा करना, स्त्री में आसक्त होना, मद्यपान, नाचना, गाना, बाजा बजाना और व्यर्थ घूमना; २ जल-दुर्ग, पर्वत-दुर्ग, वृक्ष-दुर्ग, ईरिण-दुर्ग और धन्व-दुर्ग—ये पाँच प्रकार के दुर्ग पञ्चवर्ग कहलाते हैं। इनमें आरम्भ के तीन तो प्रसिद्ध ही हैं। जहाँ किसी प्रकार की खेती नहीं होती, ऐसे प्रदेश को ईरिण कहते हैं। बालू से भरी मरुभूमि को धन्व कहते हैं। गर्मी के दिनों में वह शत्रुओं के लिए दुर्गम होती है। इन सब दुर्गों का यथासमय उपयोग करके राजा को आत्मरक्षा करनी चाहिए; ३ साम दाम, भेद और दण्ड—इन चार प्रकार की नीति को चतुर्वर्ग कहते हैं; ४ राजा, मन्त्री, राष्ट्र, किला, खजाना, सेना और मित्रवर्ग—ये परस्पर उपकार करनेवाले राज्य के सात अंग हैं। इन्हीं को सप्तवर्ग कहा गया है; ५ चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दोष-दर्शन, अर्थ-दूषण, वाणी की कठोरता और दण्ड की कठोरता—ये क्रोध से उत्पन्न होनेवाले आठ दोष अष्टवर्ग माने गये हैं। किसी-किसी के मत में खेती की उन्नति करना, व्यापार को बढ़ाना, दुर्ग बनवाना, पुल निर्माण कराना, जंगल से हाथी पकड़कर मँगवाना, खानों पर अधिकार प्राप्त करना, अधीन राजाओं से कर लेना और निर्जन प्रदेश को आबाद करना—ये राजा के लिए उपादेय आठ गुण ही अष्टवर्ग हैं; ६ धर्म, अर्थ और काम को अथवा उत्साह-शक्ति, प्रभु-शक्ति तथा मन्त्र-शक्ति को त्रिवर्ग कहते हैं; ७ त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—ये तीन विद्याएँ हैं। इनमें तीनों वेदों को त्रयी कहते है। कृषि और गोरक्षा आदि वार्ता के अन्तर्गत है तथा नीति-शास्त्र का नाम दण्डनीति है; ८ संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधी-भाव और समाश्रय—ये छः गुण है। इनमें शत्रु से मेल रखना संधि, उससे लड़ाई छेड़ना विग्रह, आक्रमण करना यान, अवसर की प्रतीक्षा में बैठे रहना आसन, दुरंगी नीति बर्तना द्वैधी-भाव और अपने † [देखें फ़ुटनोट पृ० ६१६ पर]

मन्त्रिभिस्त्वं यथोद्दिष्टं चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा ।
कच्चित् समस्तैर्व्यस्तैश्च मन्त्रं मन्त्रयसे बुध ॥ ७१ ॥
कच्चित् ते सफला वेदाः कच्चित् ते सफलाः क्रियाः ।
कच्चित् ते सफला दाराः कच्चित् ते सफलं श्रुतम् ॥ ७२ ॥
कच्चिदेषैव ते बुद्धिर्यथोक्ता मम राघव ।
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थसहिता ॥ ७३ ॥
यां वृत्तिं वर्तते तातो यां च नः प्रपितामहः ।
तां वृत्तिं वर्तसे कच्चिद् या च सत्पथगा शुभा ॥ ७४ ॥
कच्चित् स्वादुकृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव ।
कच्चिदाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यः सम्प्रयच्छसि ॥ ७५ ॥
राजा तु धर्मेण हि पालयित्वा
महीपतिर्दण्डधरः प्रजानाम् ।
अवाप्य कृत्स्नां वसुधां यथाव-
दितश्च्युतः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ ७६ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे शततमः सर्गः ॥ १०० ॥

एकाधिकशततमः सर्गः

श्रीराम का भरत से वन में आगमन का प्रयोजन पूछना, भरत का उनसे राज्य ग्रहण करने के लिए कहना और श्रीराम का उसे अस्वीकार कर देना

तं तु रामः समाज्ञाय भ्रातरं गुरुवत्सलम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ १ ॥
किमेतदिच्छेयमहं श्रोतुं प्रव्याहृतं त्वया ।
यस्मात् त्वमागतो देशमिमं चीरजटाजिनी ॥ २ ॥
यन्निमित्तमिमं देशं कृष्णाजिनजटाधरः ।
हित्वा राज्यं प्रविष्टस्त्वं तत् सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥
इत्युक्तः केकयीपुत्रः काकुत्स्थेन महात्मना ।
प्रगृह्य बलवद् भूयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥
आर्यं तातः परित्यज्य कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
गतः स्वर्गं महाबाहुः पुत्रशोकाभिपीडितः ॥ ५ ॥
स्त्रिया नियुक्तः कैकेय्या मम मात्रा परंतप ।
चकार सा महत्पापमिदमात्मयशोहरम् ॥ ६ ॥

विद्वन् ! शास्त्रोद्दिष्ट तीन या चार मन्त्रियों के सँग चिन्तन ।
पृथक्-पृथक् भी गुप्त मन्त्रणा करते हो न तथा कर स्थिर मन ? ।। ७१ ।।
वेदोद्दिष्ट कार्य-लाभान्वित हो, क्या सफला हुईं क्रियाएं ।
तथा सुतवती स्त्रियाँ तुम्हारी हैं क्या सफला श्रुत-वार्ताएँ[1] ? ।। ७२ ।।
भरत ! हमारा कथन, मानती बुद्धि तुम्हारी संगत[2] निश्चय ? ।
क्योंकि धर्म, कामार्थ आयु यश-दाता है विचार यह अक्षय ।। ७३ ।।
मेरे पिता, पितामह एव प्रपितामह सत्पुरुषों द्वारा ।
सेवित जो है, मंगलमूलक, करते हो न कार्य वह सारा ? ।। ७४ ।।
तुम स्वादिष्ट अन्न एकाकी खाते तो न कहीं रघुनन्दन ? ।
देते हो न सभी उन मित्रों को जो रखते उसके प्रति मन ? ।। ७५ ।।

जो कि दण्डधर धर्मपूर्वक शासन-कार्य चलाता
वह विद्वान् प्रजा-पालनकर, वृद्धि निरन्तर पाता ।
करता है अधिकार नृपति वह इस सारी पृथ्वी पर
देह-त्याग के बाद, स्वर्ग को तथा सुनिश्चित जाता ।। ७६ ।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में सौवाँ सर्ग समाप्त ।। १०० ।।

एक सौ एकवाँ सर्ग

श्रीराम का भरत से वन में आगमन का प्रयोजन पूछना, भरत का उनसे राज्य ग्रहण करने के लिए कहना और श्रीराम का उसे अस्वीकार कर देना

तब उन गुरु-वत्सल भ्राता को यों, सह लक्ष्मण के समझाकर ।
लगे पूछने राम, भरत से, उनको निज अनुमत[3] तब पाकर ।। १ ।।
चाह रहा मैं सुनना तुमसे, भैया ! क्यों तुम इस अवसर पर ।
वन में आये ? जटायुक्त हो, वल्कल हरिण-चर्म-धारण कर ।। २ ।।
जिस निमित्त से वन में आये, हो करके मृग-चर्म जटाधर ।
तथा राज्य को छोड़, बताओ ! अब वह सब मुझको समझाकर ।। ३ ।।
पूछा जब काकुत्स्थ महात्मा रामचन्द्र ने इस प्रकार फिर ।
साञ्जलि बोले भरत, दाबकर शोक हृदय का बल से, हो स्थिर ।। ४ ।।
आर्य ! हमारे महाबाहु वे पिता, कर्म करके दुष्कर अति ।
हमें त्यागकर, गये स्वर्ग को, पुत्र-शोक-पीड़ित हो सम्प्रति ।। ५ ।।
निज पत्नी मेरी माता से प्रेरित, दुष्कर किया पिता नें ।
यश-नाशक यह पाप किया है, महत्, परंतप ! मेरी माँ ने ।। ६ ।।

---

१ शास्त्र-ज्ञान। २ उचित; ३ अनुरक्त ।

सा राज्यफलमप्राप्य विधवा शोककर्शिता।
पतिष्यति महाघोरे नरके जननी मम ॥ ७ ॥
तस्य मे दासभूतस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि
अभिषिञ्चस्व चाद्यैव राज्येन मघवानिव ॥ ८ ॥
इमाः प्रकृतयः सर्वा विधवा मातरश्च याः।
त्वत्सकाशमनुप्राप्ताः प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
तथानुपूर्व्या युक्तश्च युक्तं चात्मनि मानद।
राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान् सुहृदः कुरु ॥ १० ॥
भवत्वविधवा भूमिः समग्रा पतिना त्वया।
शशिना विमलेनेव शारदी रजनी यथा ॥ ११ ॥
एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १२ ॥
तदिदं शाश्वतं पित्र्यं सर्वं सचिवमण्डलम्।
पूजितं पुरुषव्याघ्र नातिक्रमितुमर्हसि ॥ १३ ॥
एवमुक्त्वा महाबाहुः सबाष्पः कैकयीसुतः।
रामस्य शिरसा पादौ जग्राह भरतः पुनः ॥ १४ ॥
तं मत्तमिव मातङ्गं निःश्वसन्तं पुनः पुनः।
भ्रातरं भरतं रामः परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ १५ ॥
कुलीनः सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः।
राज्यहेतोः कथं पापमाचरेन्मद्विधो जनः ॥ १६ ॥
न दोषं त्वयि पश्यामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन।
न चापि जननीं बाल्यात् त्वं विगर्हितुमर्हसि ॥ १७ ॥
कामकारो महाप्राज्ञ गुरूणां सर्वदानघ।
उपपन्नेषु दारेषु पुत्रेषु च विधीयते ॥ १८ ॥
वयमस्य यथा लोके संख्याताः सौम्य साधुभिः।
भार्याः पुत्राश्च शिष्याश्च त्वमपि ज्ञातुमर्हसि ॥ १९ ॥
वने वा चीरवसनं सौम्य कृष्णाजिनाम्बरम्।
राज्ये वापि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः ॥ २० ॥
यावत् पितरि धर्मज्ञ गौरवं लोकसत्कृते।
तावद् धर्मकृतां श्रेष्ठ जनन्यामपि गौरवम् ॥ २१ ॥
एताभ्यां धर्मशीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव।
मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत् समाचरे ॥ २२ ॥

राज्य-रूपि फल-प्राप्ति विना है वह विधवा है शोक-कर्शिता[1]।
अब होगी, अति घोर नर्क में, मेरी माता निश्चय पतिता ।। ७ ।।
अपने दास-स्वरूप भरत पर, कृपा करें, अब हे पुरुषोत्तम !।
तथा करायें निज अभिषिञ्चन, राज्य-ग्रहण-हित आज इन्द्र-सम ।। ८ ।।
आईं ये जो सभी प्रजाएँ एव ये विधवा माताएँ।
पास आपके, इन पर अपना कृपा-भाव, अब आप दिखाएँ ! ।। ९ ।।
साधिकार हैं आप सुमानद ! तथा न्यायतः है राज्योचित।
अतः धर्म से आप राज्य लें ! सन्मित्रों को करें फलान्वित ।। १० ।।
आप-सदृश पतियुक्ता, सारी पृथ्वी हो वैधव्य से रहित।
एवं निर्मल चन्द्र-सनाथा, शरद्-निशा-सी होवे शोभित ।। ११ ।।
करता सचिवों-सहित याचना, तव शुभ चरणों में शिर रखकर।
राज्य-ग्रहण कर, कृपा करें अब, अपने भ्राता-शिष्य-दास पर ।। १२ ।।
पुरुषसिंह ! सचिवों का मण्डल है यह पैतृक परंपरागत।
अतः प्रार्थना अतिरस्कृत[2] कर, करे ! पूर्व-सा इनका स्वागत ।। १३ ।।
साश्रु भरत कैकेयी-सुत उन महाबाहु ने ऐसा कहकर।
फिर से निज मस्तक को रक्खा, रामचन्द्र के चरण युगल पर ।। १४ ।।
वे लेते थे लम्बी साँसें पुनःपुनः मद-मत्त हस्ति-सम।
कहा राम ने, बन्धु भरत को उठा, हृदय से लगा, शीघ्रतम ।। १५ ।।
जो स-सत्त्व, तेजस्वि चरित-व्रत है कुलीन मेरे-जैसा जन।
वह कैसे यह पाप करेगा कभी पिता-आज्ञा उल्लंघन ।। १६ ।।
रिपुसूदन ! मैं दोष तुम्हारे अन्दर नहीं तनिक हूँ पाता।
तदपि न बाल-भाव से तुमको उचित कहो, निन्द्या[3] हैं माता ।। १७ ।।
निज पत्नी-पुत्रों पर है अधिकार सदा गुरुओं को समुचित।
वे उनको आज्ञा दे सकते महाप्राज्ञ ! सर्वदा स्व-इच्छित ।। १८ ।।
साधु जनों से माताओं-सह, हम भी स्त्री, सुत, शिष्य कहाते।
अतः पिताज्ञा समुचित है, यह तथ्य सौम्य ! क्यों समझ न पाते ? ।। १९ ।।
वल्कल, हरिण-चर्म धारण कर, चाहे वे वन में ठहरावें।
हैं समर्थ, चाहें वे मुझको, भूपति-पद पर, सौम्य ! बिठावें ।। २० ।।
धार्मिकवर ! धर्मज्ञ ! जगत में पिता-हेतु गौरव-मति जैसी।
होती जन की, माँ के प्रति भी सदा चाहिए जन-मति वैसी ।। २१ ।।
विपिन-गमन-आज्ञा मुझको दी, माता-पिता सुधार्मिक ने जब।
फिर कैसे उनके विरुद्ध मैं, कर सकता व्यवहार अन्य अब ।। २२ ।।

---

१ शोक से दुबली; २ तिरस्कार न करके; ३ निन्दा के योग्य।

त्वया राज्यमयोध्यायां प्राप्तव्यं लोकसत्कृतम्।
वस्तव्यं दण्डकारण्ये मया वल्कलवाससा॥ २३॥
एवमुक्त्वा महाराजो विभागं लोकसंनिधौ।
व्यादिश्य च महाराजो दिवं दशरथो गतः॥ २४॥
स च प्रमाणं धर्मात्मा राजा लोकगुरुस्तव।
पित्रा दत्तं यथाभागमुपभोक्तुं त्वमर्हसि॥ २५॥
चतुर्दश समाः सौम्य दण्डकारण्यमाश्रितः।
उपभोक्ष्ये त्वहं दत्तं भागं पित्रा महात्मना॥ २६॥
यदब्रवीन्मां नरलोकसत्कृतः
पिता महात्मा विबुधाधिपोपमः।
तदेव मन्ये परमात्मनो हितं
न सर्वलोकेश्वरभावमव्ययम्॥ २७॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकाधिकशततमः सर्गः॥१०१॥

द्व्यधिकशततमः सर्गः

भरत का पुनः श्रीराम से राज्य ग्रहण करने का अनुरोध करके उनसे पिता की मृत्यु का समाचार बताना

रामस्य वचनं श्रुत्वा भरतः प्रत्युवाच ह।
किं मे धर्माद् विहीनस्य राजधर्मः करिष्यति॥ १॥
शाश्वतोऽयं सदा धर्मः स्थितोऽस्मासु नरर्षभ।
ज्येष्ठे पुत्रे स्थिते राजा न कनीयान् भवेन्नृपः॥ २॥
स समृद्धां मया सार्धमयोध्यां गच्छ राघव।
अभिषेचय चात्मानं कुलस्यास्य भवाय नः॥ ३॥
राजानं मानुषं प्राहुर्देवत्वे सम्मतो मम।
यस्य धर्मार्थसहितं वृत्तमाहुरमानुषम्॥ ४॥
केकयस्थे च मयि तु त्वयि चारण्यमाश्रिते।
धीमान् स्वर्गं गतो राजा यायजूकः सतां मतः॥ ५॥
निष्क्रान्तमात्रे भवति सहसीते सलक्ष्मणे।
दुःखशोकाभिभूतस्तु राजा त्रिदिवमभ्यगात्॥ ६॥
उत्तिष्ठ पुरुषव्याघ्र क्रियतामुदकं पितुः।
अहं चायं च शत्रुघ्नः पूर्वमेव कृतोदकौ॥ ७॥

आदृत[1] राज्य, अयोध्या में रह, तुम्हें प्राप्त करना है जग-हित ।
एवं मुझको वल्कलधर हो दण्डक वन रहना है समुचित ॥ २३ ॥
क्योंकि नृपति दशरथ वे, बहुजन-सम्मुख आज्ञाएँ दोनों-हित ।
पृथक्-पृथक् दे इस प्रकार से ही हैं हुए स्वर्ग को प्रस्थित[2] ॥ २४ ॥
हैं प्रमाण, जग-गुरु धर्मात्मा इससे, दत्त पिता के द्वारा ।
अब निजांश राज्योपभोग ही करना है कर्तव्य तुम्हारा ॥ २५ ॥
सौम्य ! चतुर्दश वर्षों तक मैं, दण्डक वन में रहकर सुस्थिर ।
राज्य-भाग-उपभोग करूंगा, पिता महात्मा-दत्त तथा फिर ॥ २६ ॥

इन्द्रोपम तेजस्वि महात्मा, मनुज-लोक-सम्मानित
कहा पिता ने जो, उसमें मैं, समझ रहा निज अति हित ।
उनकी आज्ञा के विरुद्ध अब, सकल लोकपति विधि[3] का
अविनाशी पद भी, श्रेयस्कर मुझे न होगा निश्चित ॥ २७ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
एक सौ एकवाँ सर्ग समाप्त ॥ १०१ ॥

एक सौ दूसरा सर्ग

भरत का पुनः श्रीराम से राज्य ग्रहण करने का अनुरोध करके उनसे पिता की मृत्यु का समाचार बताना

राम-वचन सुन, कहा भरत ने, अनधिकार मैं शासन-वञ्चित ।
अतः राज-धर्मोपदेश से क्या होगा, भैया ! मेरा हित ॥ १ ॥
नृवर ! हमारे यहाँ सदा से हुआ सनातन धर्म सु-पालन ।
ज्येष्ठ नृपति-सुत के होने पर, पाता नहीं अनुज राज्यासन ॥ २ ॥
अतः समृद्ध अयोध्या में अब मेरे साथ चलें रघुनन्दन ! ।
तथा करायें ! कुलाभ्युदय[4]-हित, अपना भूपति-पद-अभिषिञ्चन ॥ ३ ॥
सब कहते नृप को नर, कहता मैं, वह है, देवत्व-प्रतिष्ठित ।
नृप-धर्मार्थाचरण[5] सहज मानव से संभव है न; सत्कथित[6] ॥ ४ ॥
आप चले आये थे वन में एवं जब मैं था केकय-स्थित ।
सज्जन-मान्य सुधी नृप, आज्ञा देकर हुए स्वर्ग को प्रस्थित ॥ ५ ॥
सीता, लक्ष्मण-सहित आपका ज्योंही हुआ राज्य-निष्कासन ।
त्योंही राजा गये स्वर्ग को, दुःख-शोक से हो पीड़ित मन ॥ ६ ॥
उठिये पुरुषसिंह ! जल-अञ्जलि-दान कीजिये ! पूज्य पिता-हित ।
मैं शत्रुघ्न-सहित, कर आया, पहले ही उनको जल-तर्पित[7] ॥ ७ ॥

---

१ आदरणीय; २ प्रस्थान किया; ३ ब्रह्मा; ४ वंश की उन्नति; ५ नृप जैसा धर्म और अर्थ का आचरण; ६ यह कथन सत्य है; ७ जलांजलि ।

प्रियेण किल दत्तं हि पितृलोकेषु राघव।
अक्षयं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः॥ ८॥
त्वामेव शोचंस्तव दर्शनेप्सु-
स्त्वय्येव सक्तामनिवर्त्य बुद्धिम्।
त्वया विहीनस्तव शोकरुग्ण-
स्त्वां संस्मरन्नेव गतः पिता ते॥ ९॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्व्यधिकशततमः सर्गः॥ १०२॥

त्र्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम आदि का विलाप, पिता के लिए जलाञ्जलि-दान, पिण्डदान और रोदन

तां श्रुत्वा करुणां वाचं पितुर्मरणसंहिताम्।
राघवो भरतेनोक्तां बभूव गतचेतनः॥ १॥
तं तु वज्रमिवोत्सृष्टमाहवे दानवारिणा।
वाग्वज्रं भरतेनोक्तममनोज्ञं परंतपः॥ २॥
प्रगृह्य रामो बाहू वै पुष्पिताङ्ग इव द्रुमः।
वने परशुना कृत्तस्तथा भुवि पपात ह॥ ३॥
तथा हि पतितं रामं जगत्यां जगतीपतिम्।
कूलघातपरिश्रान्तं प्रसुप्तमिव कुञ्जरम्॥ ४॥
भ्रातरस्ते महेष्वासं सर्वतः शोककर्शितम्।
रुदन्तः सह वैदेह्या सिषिचुः सलिलेन वै॥ ५॥
स तु संज्ञां पुनर्लब्ध्वा नेत्राभ्यामश्रुमुत्सृजन्।
उपाक्रामत काकुत्स्थः कृपणं बहु भाषितुम्॥ ६॥
स रामः स्वर्गतं श्रुत्वा पितरं पृथिवीपतिम्।
उवाच भरतं वाक्यं धर्मात्मा धर्मसंहितम्॥ ७॥
किं करिष्याम्ययोध्यायां ताते दिष्टां गतिं गते।
कस्तां राजवराद्धीनामयोध्यां पालयिष्यति॥ ८॥
किं नु तस्य मया कार्यं दुर्जातेन महात्मनः।
यो मृतो मम शोकेन स मया न च संस्कृतः॥ ९॥
अहो भरत सिद्धार्थो येन राजा त्वयानघ।
शत्रुघ्नेन च सर्वेषु प्रेतकृत्येषु सत्कृतः॥ १०॥
निष्प्रधानामनेकाग्रां नरेन्द्रेण विना कृताम्।
निवृत्तवनवासोऽपि नायोध्यां गन्तुमुत्सहे॥ ११॥

राघव ! प्रिय सुत-दत्त जलादिक, पितरलोक में होता अक्षय।
यह कहते सब और आप हैं पूज्य पिता के अतिप्रिय निश्चय ॥ ८ ॥
पिता आपसे विलग हुए तो हुए रोग-शोकान्वित
और आपके दर्शनेच्छु थे वे शोकित तब निश्चित।
तथा आपमें निरत बुद्धि को अलग न कर अपनी वे
करते हुए आपका चिन्तन, हुए स्वर्ग को प्रस्थित ॥ ९ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
एक सौ दूसरा सर्ग समाप्त ॥ १०२ ॥

एक सौ तीसरा सर्ग

श्रीराम आदि का विलाप, पिता के लिए जलाञ्जलि-दान, पिण्डदान और रोदन

भ्रातृ भरत से, करुण-वार्ता पिता-मृत्यु सम्बन्धिनि सुनकर।
दुख के कारण राम हो गये तब अचेत ऐसे अवसर पर ॥ १ ॥
रण में दानव-रिपु महेन्द्र से त्यक्त वज्र-सम, अति अमनोहर।
भरत-कथित उस कथन-वज्र को राम परंतप ने तब सुनकर ॥ २ ॥
अपनी दोनों भुजा उठाकर, गिरे राम, पृथ्वी पर ऐसे।
पुष्पित शाखा-वृक्ष कुल्हाड़ी से कट करके वन में जैसे ॥ ३ ॥
लगते थे वे राम महीपति तब मानो हो कोई कुञ्जर[1]।
गिरा, स्व-दाँतों से सरिता-तट को विदीर्ण करने से थककर ॥ ४ ॥
फिर सीता-सँग तीनों भाई, लगे घेरकर उनको रोने।
और शोक-कृश, महेष्वास[2] को, आँसू - जल से लगे भिगोने ॥ ५ ॥
हुए राम काकुत्स्थ कुछ समय बाद, वहाँ जब पुनः सचेतन।
तब वे अश्रु बहाकर करने लगे दीन वाणी में विलपन ॥ ६ ॥
स्वर्ग-गमन, भूपति दशरथ का, वे धर्मात्मा राम श्रवण कर।
कहने लगे, भरत से ऐसे वाक्य, धर्म-युत उस अवसर पर ॥ ७ ॥
पिता गये जब स्वर्ग, करूँगा तब क्या भला अयोध्या चलकर ?।
पिता नृपतिवर-हीन अयोध्या को पालेगा कौन धरणिधर ? ॥ ८ ॥
हा जो मरे शोक से मेरे, दाह न उनका मैं कर पाया।
पिता महात्मा का मैंने क्या व्यर्थ जन्म ले, कार्य निभाया ? ॥ ९ ॥
अहोभाग्य है भरत तुम्हारा, हो कृतकृत्य अनघ ! तुम निश्चित।
जो कि हुए तुमसे रिपुघ्न[3] से, पिता, प्रेत-कृत्यों में सत्कृत ॥ १० ॥
मुख्य नृप-बिना, व्यग्र अयोध्या में वन-वास-बाद भी निश्चित।
नहीं हो रहा है जाने को, मेरा मन अब तो उत्साहित ॥ ११ ॥

---

१ हाथी; २ महाधनुर्धर; ३ शत्रुघ्न।

समाप्तवनवासं मामयोध्यायां परंतप ।
कोऽनुशासिष्यति पुनस्ताते लोकान्तरं गते ॥ १२ ॥
पुरा प्रेक्ष्य सुवृत्तं मां पिता यान्याह सान्त्वयन् ।
वाक्यानि तानि श्रोष्यामि कुतः कर्णसुखान्यहम् ॥ १३ ॥
एवमुक्त्वाथ भरतं भार्यामभ्येत्य राघवः ।
उवाच शोकसंतप्तः पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ १४ ॥
सीते मृतस्ते श्वशुरः पितृहीनोऽसि लक्ष्मण ।
भरतो दुःखमाचष्टे स्वर्गतिं पृथिवीपतेः ॥ १५ ॥
ततो बहुगुणं तेषां बाष्पं नेत्रेष्वजायत ।
तथा ब्रुवति काकुत्स्थे कुमाराणां यशस्विनाम् ॥ १६ ॥
ततस्ते भ्रातरः सर्वे भृशमाश्वास्य दुःखितम् ।
अब्रुवञ्जगतीभर्तुः क्रियतामुदकं पितुः ॥ १७ ॥
सा सीता स्वर्गतं श्रुत्वा श्वशुरं तं महानृपम् ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां न शशाकेक्षितुं प्रियम् ॥ १८ ॥
सान्त्वयित्वा तु तां रामो रुदतीं जनकात्मजाम् ।
उवाच लक्ष्मणं तत्र दुःखितो दुःखितं वचः ॥ १९ ॥
आनयेङ्गुदिपिण्याकं चीरमाहर चोत्तरम् ।
जलक्रियार्थं तातस्य गमिष्यामि महात्मनः ॥ २० ॥
सीता पुरस्ताद् व्रजतु त्वमेनामभितो व्रज ।
अहं पश्चाद् गमिष्यामि गतिर्ह्येषा सुदारुणा ॥ २१ ॥
ततो नित्यानुगस्तेषां विदितात्मा महामतिः ।
मृदुर्दान्तश्च कान्तश्च रामे च दृढभक्तिमान् ॥ २२ ॥
सुमन्त्रस्तैर्नृपसुतैः सार्धमाश्वास्य राघवम् ।
अवतारयदालम्ब्य नदीं मन्दाकिनीं शिवाम् ॥ २३ ॥
ते सुतीर्थां ततः कृच्छ्रादुपगम्य यशस्विनः ।
नदीं मन्दाकिनीं रम्यां सदा पुष्पितकाननाम् ॥ २४ ॥
शीघ्रस्रोतसमासाद्य तीर्थं शिवमकर्दमम् ।
सिषिचुस्तूदकं राज्ञे तत एतद् भवत्विति ॥ २५ ॥
प्रगृह्य तु महीपालो जलापूरितमञ्जलिम् ।
दिशं याम्यामभिमुखो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥
एतत् ते राजशार्दूल विमलं तोयमक्षयम् ।
पितृलोकगतस्याद्य मद्दत्तमुपतिष्ठतु ॥ २७ ॥

कौन, परंतप! मुझे अयोध्या में, वन-वासावधि-समाप्ति पर।
देगा कर्तव्योपदेश अब, गये स्वर्ग जब, पिता नृपतिवर॥ १२॥
कहते थे सान्त्वना-वचन जो, पिता देख सद्वृत्त हमारे।
वही कर्ण-सुख, वचन सुनूंगा, किसके मुख से अब मैं प्यारे?॥ १३॥
राम शोक-संतप्त, भरत से इस प्रकार की वार्ता कहकर।
बोले, निज पत्नी-समीप आ, चन्द्रमुखी अनुपम अति सुन्दर॥ १४॥
श्वसुर तुम्हारे मरे, हो गये पिता-हीन सीते! अब लक्ष्मण।
नृप-स्वर्गारोहण-दुःखद अति, भरत सुनाते वार्ता इस क्षण॥ १५॥
हुए कुमार यशस्वी वे सब, दुखी राम के यह कहने पर।
और सभी के नेत्रों से फिर बहने लगे अश्रु के निर्झर॥ १६॥
दुखी राम को दी सु-सान्त्वना, भ्राताओं ने तब यह कहकर।
भैया! दान कीजिए! भूपति पूज्य पिता को जल, अञ्जलि भर॥ १७॥
अपने नृपति श्वसुर का सीता, स्वर्ग-गमन-वृत्तान्त श्रवण कर।
देख न पाई निज प्रियतम को, तब थे उनके नेत्र अश्रु-धर॥ १८॥
दुखी राम ने, सहित जनकजा[1] को देकर सान्त्वना शीघ्रतर।
कहा, अत्यधिक दुखी निजानुज उन लक्ष्मण से उस अवसर पर॥ १९॥
पिसा इंगुदी[2]-फल लाओ तुम! चीर दुपट्टा भी अब लक्ष्मण!।
पिता महात्मा को जल देने, क्योंकि चलूँगा मैं अब तत्क्षण॥ २०॥
सीता आगे चलें, चलो तुम[3] उनके पीछे हो, लक्ष्मण! अब।
तथा तुम्हारे पीछे मैं, प्रचलित दारुण-परिपाटी यह सब॥ २१॥
वहाँ कुलागत सेवक एवं आत्म-ज्ञानि धीमान श्रेष्ठतर।
मृदु-स्वभावि, तेजस्वि, जितेन्द्रिय तथा सर्वथा राम-भक्तवर॥ २२॥
वे सुमन्त्र तब, राज-सुतों-सँग रामचन्द्र को धैर्य बँधाकर।
शीघ्र ले गये निज हस्ताश्रय[4] देकर शिव मन्दाकिनि-तट पर॥ २३॥
सुन्दर घाट, सुपुष्पित कानन-रम्य नदी मन्दाकिनि-तट पर।
बड़ी कठिनता से पहुँचे वे परम यशस्वी नृपति-पुत्रवर॥ २४॥
वेग-प्रवाहित-पंक-हीन शिव तीर्थ-रूप जल ले करके तब।
अञ्जलि देकर कहा उन्होंने, पिता! आप यह जल पायें तव॥ २५॥
जल से पूरित अञ्जलि लेकर, राम उस समय भूमिपाल वर।
बोले रोते हुए इस तरह दिशा दक्षिणा को निज मुख कर॥ २६॥
निर्मल जल यह, नृपति-शिरोमणि पितर-लोक-गत पिता! सु-निश्चय।
मेरे द्वारा दत्त, आपको मिले, वहाँ पर होकर अक्षय॥ २७॥

---

१ सीता; २ मालकंगनी; ३ लक्ष्मण; ४ हाथ से सहारा देकर।

ततो मन्दाकिनीतीरं प्रत्युत्तीर्य स राघवः ।
पितुश्चकार तेजस्वी निर्वापं भ्रातृभिः सह ॥ २८ ॥
ऐङ्गुदं बदरैर्मिश्रं पिण्याकं दर्भसंस्तरे ।
न्यस्य रामः सुदुःखार्तो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥
इदं भुङ्क्ष्व महाराज प्रीतो यदशना वयम् ।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥ ३० ॥
ततस्तेनैव मार्गेण प्रत्युत्तीर्य सरित्तटात् ।
आरुरोह नरव्याघ्रो रम्यसानुं महीधरम् ॥ ३१ ॥
ततः पर्णकुटीद्वारमासाद्य जगतीपतिः ।
परिजग्राह पाणिभ्यामुभौ भरतलक्ष्मणौ ॥ ३२ ॥
तेषां तु रुदतां शब्दात् प्रतिशब्दोऽभवद् गिरौ ।
भ्रातॄणां सह वैदेह्या सिंहानां नर्दतामिव ॥ ३३ ॥
महाबलानां रुदतां कुर्वतामुदकं पितुः ।
विज्ञाय तुमुलं शब्दं त्रस्ता भरतसैनिकाः ॥ ३४ ॥
अब्रुवंश्चापि रामेण भरतः संगतो ध्रुवम् ।
तेषामेव महाञ्शब्दः शोचतां पितरं मृतम् ॥ ३५ ॥
अथ वाहान् परित्यज्य तं सर्वेऽभिमुखाः स्वनम् ।
अप्येकमनसो जग्मुर्यथास्थानं प्रधाविताः ॥ ३६ ॥
हयैरन्ये गजैरन्ये रथैरन्ये स्वलंकृतैः ।
सुकुमारास्तथैवान्ये पद्भिरेव नरा ययुः ॥ ३७ ॥
अचिरप्रोषितं रामं चिरविप्रोषितं यथा ।
द्रष्टुकामो जनः सर्वो जगाम सहसाश्रमम् ॥ ३८ ॥
भ्रातॄणां त्वरितास्ते तु द्रष्टुकामाः समागमम् ।
ययुर्बहुविधैर्यानैः खुरनेमिसमाकुलैः ॥ ३९ ॥
सा भूमिर्बहुभिर्यानै रथनेमिसमाहता ।
मुमोच तुमुलं शब्दं द्यौरिवाभ्रसमागमे ॥ ४० ॥
तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः ।
आवासयन्तो गन्धेन जग्मुरन्यद्वनं ततः ॥ ४१ ॥
वराहवृकसिंहाश्च महिषाः सृमरास्तथा ।
व्याघ्रगोकर्णगवया वित्रेसुः पृषतैः सह ॥ ४२ ॥
रथाङ्गसाह्वा नत्यूहाः प्लवाः कारण्डवाः परे ।
तथा पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः ॥ ४३ ॥

मन्दाकिनि-जल से बाहर आ, निज भ्राताओं के सँग मिलकर।
पिण्डदान तेजस्वि राम ने किया पिता-हित सरिता-तट पर ॥ २८ ॥
बेर मिले, इंगुदि-गूदे का पिण्ड कुशासन पर फिर रखकर।
रोते हुए दुखी रघुनन्दन बोले पिण्ड-दान-अवसर पर ॥ २९ ॥
मोद-सहित भोजन स्वीकारें! महाराज! है यही सुलभ अब।
क्योंकि मनुज के खाद्य-अन्न को, स्वीकृत कर लेते हैं सुर सब ॥ ३० ॥
उसी मार्ग से सरिता-तट के ऊपर आ करके नृसिंहवर।
राम चढ़े गिरि चित्रकूट पर, जिसका शिखर बहुत था सुन्दर ॥ ३१ ॥
पर्णकुटी का द्वार प्राप्त कर जगतीपति वे उस अवसर पर।
रोने लगे, भरत-लक्ष्मण को, उभय करों से वहाँ पकड़कर ॥ ३२ ॥
रुदन-शब्द चारों भ्राताओं का सीता-सह उस पर्वत पर।
होने लगा इस तरह, मानो हो सिंहों का ही गर्जन-स्वर ॥ ३३ ॥
पिता-जलाञ्जलि-दत्त महाबल भ्राताओं का तुमुल[1] रुदन-स्वर।
सुनकर वहाँ भरत के सैनिक, भय-शंका से गये सभी डर ॥ ३४ ॥
फिर बोले आपस में, अब हैं मिले राम से भरत सुनिश्चित।
रोदन-स्वर-शोकित भ्राताओं का है निज स्वर्गीय पिता हित ॥ ३५ ॥
यह कह, निज-निज वाहन तजकर जिस स्थल पर होता था वह स्वर।
दौड़ पड़े एकाग्रचित्त हो उसी दिशा को वे सब मुख कर ॥ ३६ ॥
और अन्य सुकुमार, अलंकृत रथों, गजों से चला मनुज-दल।
तथा बढ़े कुछ घोड़ों पर चढ़ और चल दिये तब कुछ पैदल ॥ ३७ ॥
स्वल्प समय-आगत[2], भी लगते थे वे राम चिरागत[3] वन में।
अतः चले सहसा आश्रम को, सब दर्शन-इच्छा रख मन में ॥ ३८ ॥
वे सब, चारों भ्रातृ-मिलन के दर्शन की उत्सुकता भरकर।
विविध खुरों, पहियों के वाहन, यानों[4] से चल पड़े शीघ्रतर ॥ ३९ ॥
बहु रथ, यानाक्रान्ता[5] भू ने शब्द किया भीषण तब वैसे।
मेघाच्छन्न गगन में होता गड़-गड़ शब्द भयंकर जैसे ॥ ४० ॥
नाद-भीत गज, हस्तिनियों से घिर, उस सुस्थल को कर मद-गन्धित।
आगे शीघ्र वहाँ से एवं हुए दूसरे वन को प्रस्थित ॥ ४१ ॥
तब वराह, भेड़िये, सिंह, मृग, सृमर[6] और गोकर्ण[6] वनेचर[7]।
भैंसे, व्याघ्र, गवय चितकबरे सभी हो गये वहाँ त्रस्ततर ॥ ४२ ॥
चक्रवाक, बक, कारण्डव, नर-कोकिल, हंस, क्रौञ्च पक्षीवर।
जल-कुक्कुट आदिक अचेत हो भगे सभी दिशि में भय खाकर ॥ ४३ ॥

---

१ घोर; २ थोड़े समय से ही आये हुए; ३ बहुत समय से आये हुए;
४ सवारियों; ५ अनेक सवारियों के भार से दबी; ६ एक मृग विशेष; ७ जंगली।

तेन शब्देन वित्रस्तैराकाशं पक्षिभिर्वृतम् ।
मनुष्यैरावृता भूमिरुभयं प्रबभौ तदा ॥ ४४ ॥

ततस्तं पुरुषव्याघ्रं यशस्विनमकल्मषम् ।
आसीनं स्थण्डिले रामं ददर्श सहसा जनः ॥ ४५ ॥

विगर्हमाणः कैकेयीं मन्थरासहितामपि ।
अभिगम्य जनो रामं बाष्पपूर्णमुखोऽभवत् ॥ ४६ ॥

तान् नरान् बाष्पपूर्णाक्षान् समीक्ष्याथ सुदुःखितान् ।
पर्यष्वजत धर्मज्ञः पितृवन्मातृवच्च सः ॥ ४७ ॥

स तत्र कांश्चित् परिषस्वजे नरान्
नराश्च केचित्तु तमभ्यवादयन् ।
चकार सर्वान् सवयस्यबान्धवान्
यथार्हमासाद्य तदा नृपात्मजः ॥ ४८ ॥

ततः स तेषां रुदतां महात्मनां
भुवं च खं चानुविनादयन् स्वनः ।
गुहा गिरीणां च दिशश्च संततं
मृदङ्गघोषप्रतिमो विशुश्रुवे ॥ ४९ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥१०३॥

चतुरधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ जी के साथ आती हुई कौसल्या का मन्दाकिनी के तट पर सुमित्रा आदि के समक्ष दुःखपूर्ण उद्‌गार; श्रीराम, लक्ष्मण और सीता के द्वारा माताओं की चरण-वन्दना तथा वसिष्ठ जी को प्रणाम करके श्रीराम आदि का सबके साथ बैठना

वसिष्ठः पुरतः कृत्वा दारान् दशरथस्य च ।
अभिचक्राम तं देशं रामदर्शनतर्षितः ॥ १ ॥

राजपत्न्यश्च गच्छन्त्यो मन्दं मन्दाकिनीं प्रति ।
ददृशुस्तत्र तत् तीर्थं रामलक्ष्मणसेवितम् ॥ २ ॥

कौसल्या बाष्पपूर्णेन मुखेन परिशुष्यता ।
सुमित्रामब्रवीद् दीनां याश्चान्या राजयोषितः ॥ ३ ॥

इदं तेषामनाथानां क्लिष्टमक्लिष्टकर्मणाम् ।
वने प्राक्कलनं तीर्थं ये ते निर्विषयीकृताः ॥ ४ ॥

शब्द-भीत बहु हुआ गगन तव पक्षि-समूहों से छादित अति।
तथा नरों से भूमि, अतः थी दोनों की शोभा सम, सम्प्रति[1] ॥ ४४ ॥
सहसा लोगों ने देखा तब उस आश्रम के पास पहुँचकर।
अनघ[2] यशस्वी पुरुषसिंह हैं, राम विराजे शुभ वेदी पर ॥ ४५ ॥
सबके मुख हो गये अश्रु से आर्द्र राम के पास पहुँचकर।
तथा मन्थरा, कैकेयी की निन्दा करनै लगे सभी नर ॥ ४६ ॥
उन सबके थे साश्रु नयन तब, था सबमें ही दुख अति छाया।
उन्हें देख, धार्मिक राघव ने, मात-पिता-सम हृदय लगाया ॥ ४७ ॥

कुछ लोगों को हृदय लगाया, वहाँ राम ने तब फिर
हुए लोग कुछ वहाँ पहुँचकर, राम-पदों में नत सिर।
राम नृपति-सुत ने तब आगत मित्रों, बन्धुजनों का
यथायोग्य सम्मान किया अति निज मन को कर सुस्थिर ॥ ४८ ॥

रोदन-शब्द महात्माओं का तब था जो अति आता
वह सब दिग्, भू, शैल, गुफा, नभ में था भरता जाता।
और निरन्तर वह प्रतिध्वनि थी, तब लगती कुछ ऐसी
जैसे कोई भीमकाय ही वाद्य मृदंग बजाता ॥ ४९ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में एक सौ तीसरा सर्ग समाप्त ॥ १०३ ॥

एक सौ चौथा सर्ग

वसिष्ठ जी के साथ आती हुई कौसल्या का मन्दाकिनी के तट पर सुमित्रा आदि के समक्ष दुःखपूर्ण उदगार; श्रीराम, लक्ष्मण और सीता के द्वारा माताओं की चरण-वन्दना तथा वसिष्ठ जी को प्रणाम करके श्रीराम आदि का सबके साथ बैठना

दशरथ-दाराओं[3] को आगे करके वे वसिष्ठ जी ऋषिवर।
आश्रम-ओर चले, मन में श्रीराम-दरश-अभिलाषा रखकर ॥ १ ॥
मन्दगती से वे महिलाएँ, आई जब मन्दाकिनि-तट पर।
देखा घाट, सभी ने लक्ष्मण-सहित राम-स्नानस्थल सुन्दर ॥ २ ॥
कौसल्या-मुख हुआ अश्रु-युत, शुष्क, उदास उस समय तब अति।
और उन्होंने कहा, सुमित्रा एवं राजरानियों के प्रति ॥ ३ ॥
देते कभी न क्लेश किसी को जो अनाथ-सम राज्य-वहिष्कृत।
पहले-पहल विपिन-दुर्गम यह घाट कर रहे वे सुत स्वीकृत ॥ ४ ॥

---

१ (उस) समय; २ निष्पाप; ३ दशरथ की रानियों।

इतः सुमित्रे पुत्रस्ते सदा जलमतन्द्रितः ।
स्वयं हरति सौमित्रिर्मम पुत्रस्य कारणात् ॥ ५ ॥
जघन्यमपि ते पुत्रः कृतवान् न तु गर्हितः ।
भ्रातुर्यदर्थरहितं सर्वं तद् गर्हितं गुणैः ॥ ६ ॥
अद्यायमपि ते पुत्रः क्लेशानामतथोचितः ।
नीचानर्थसमाचारं सज्जं कर्म प्रमुञ्चतु ॥ ७ ॥
दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु सा ददर्श महीतले ।
पितुरिङ्गुदिपिण्याकं न्यस्तमायतलोचना ॥ ८ ॥
तं भूमौ पितुरार्तेन न्यस्तं रामेण वीक्ष्य सा ।
उवाच देवी कौसल्या सर्वा दशरथस्त्रियः ॥ ९ ॥
इदमिक्ष्वाकुनाथस्य राघवस्य महात्मनः ।
राघवेण पितुर्दत्तं पश्यतैतद् यथाविधि ॥ १० ॥
तस्य देवसमानस्य पार्थिवस्य महात्मनः ।
नैतदौपयिकं मन्ये भुक्तभोगस्य भोजनम् ॥ ११ ॥
चतुरन्तां महीं भुक्त्वा महेन्द्रसदृशो भुवि ।
कथमिङ्गुदिपिण्याकं स भुङ्क्ते वसुधाधिपः ॥ १२ ॥
अतो दुःखतरं लोके न किंचित् प्रतिभाति मे ।
यत्र रामः पितुर्दद्यादिङ्गुदीक्षोदमृद्धिमान् ॥ १३ ॥
रामेणेङ्गुदिपिण्याकं पितुर्दत्तं समीक्ष्य मे ।
कथं दुःखेन हृदयं न स्फोटति सहस्रधा ॥ १४ ॥
श्रुतिस्तु खल्वियं सत्या लौकिकी प्रतिभाति मे ।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥ १५ ॥
एवमार्ता सपत्न्यस्ता जग्मुराश्वास्य तां तदा ।
ददृशुश्चाश्रमे रामं स्वर्गच्युतमिवामरम् ॥ १६ ॥
तं भोगैः सम्परित्यक्तं रामं सम्प्रेक्ष्य मातरः ।
आर्ता मुमुचुरश्रूणि सस्वरं शोककर्शिताः ॥ १७ ॥
तासां रामः समुत्थाय जग्राह चरणाम्बुजान् ।
मातॄणां मनुजव्याघ्रः सर्वासां सत्यसंगरः ॥ १८ ॥
ताः पाणिभिः सुखस्पर्शैर्मृद्वङ्गुलितलैः शुभैः ।
प्रममार्जू रजः पृष्ठाद् रामस्यायतलोचनाः ॥ १९ ॥
सौमित्रिरपि ताः सर्वा मातृः सम्प्रेक्ष्य दुःखितः ।
अभ्यवादयदासक्तं शनै रामादनन्तरम् ॥ २० ॥

यहाँ सुमित्रे ! निरालस्य हैं पुत्र तुम्हारे लक्ष्मण आते।
एवं मेरे पुत्र-हेतु हैं सदा यहीं से जल ले जाते ।। ५ ।।
छोटी सेवा करते, फिर भी पुत्र तुम्हारे हुए न निन्दित।
निन्द्य-कार्य हैं विना प्रयोजन[1] जो हों गुणी श्रेष्ठ भ्राता-हित ।। ६ ।।
नहीं तुम्हारा सुत भी है. उस योग्य जो कि सहता है दुख अति।
लौटें राम, त्याग अधमोचित[2] कार्य-समस्या तजकर सम्प्रति[3] ।। ७ ।।
देखा, विस्तृतनयना ने भू-स्थित दक्षिण मुख कुश-आसन पर।
पिष्ट इंगुदी-पिण्ड, राम ने रक्खा पिता-हेतु उत्तमतर ।। ८ ।।
देख, भूमि पर रखे पिण्ड को, दुखी राम के द्वारा वैसे।
दशरथ - भार्याओं से बोलीं, वे देवी कौसल्या ऐसे ।। ९ ।।
बहनो ! यह इक्ष्वाकु-कुलेश्वर राघव, पिता महात्मा के हित।
देखो, हैं कर रहे सर्वथा विधि से पितु को पिण्ड समर्पित ।। १० ।।
सुर-सम, महामना तेजस्वी भोग चुके नृप भोग समुत्तम।
उचित न मैं मानती, इसलिए उनके हित इस भोजन का क्रम ।। ११ ।।
भोग चुके जो भोग, सिन्धु तक की पृथ्वी का, नृपति इन्द्र-सम।
वे भूपति कैसे खायेंगे पिष्ट इंगुदी[4]- पिण्ड अनुत्तम ।। १२ ।।
समझ न आता मुझे महादुख अन्य जगत में इससे बढ़कर।
जो कि पिता को पिष्ट इंगुदी-पिण्ड राम दें, अति समृद्धतर ।। १३ ।।
पिष्ट इंगुदी-पिण्ड राम दें, आज पिता को होकर शोकित।
भला देख यह, हृदय न होता क्यों सहस्रधा[5] मेरा खण्डित ? ।। १४ ।।
जन-श्रुति[6] निश्चय सत्य लग रही, यह कि अन्न जो खाता है नर।
करते ग्रहण देवता उसके, उसी अन्न को उस अवसर पर ।। १५ ।।
आगे आर्ता कौशल्या को सौतें लाईं फिर समझाकर।
आश्रम में देखा, हों जैसे राम, स्वर्ग से पतित देववर ।। १६ ।।
राम भोग-त्यागी को देखा, उनकी सब माताओं ने जब।
रोकर लगीं बहाने आँसू वे सब शोकार्ता होकर तब ।। १७ ।।
माताओं को देख, सत्यव्रत नृवर राम ने तत्क्षण उठकर।
क्रमशः उनके पद-कमलों का स्पर्श किया श्रद्धा से झुककर ।। १८ ।।
कोमल अंगुलि स्पर्श - सुखप्रद हाथों से विस्तीर्ण - लोचना[7]।
माँओं ने प्रारम्भ कर दिया, राम-पीठ की धूल-पोंछना ।। १९ ।।
देख दुखित माताओं को फिर लक्ष्मण भी हो गये दुखित-मन।
किया उन्होंने स्नेहपूर्वक धीरे से उनका पद-वन्दन ।। २० ।।

---

१ जो ज्येष्ठ भ्राता के लिए निष्प्रयोजन हों; २ निम्न वर्ग के करने योग्य; ३ मौजूदा क्लेशकर परिस्थिति; ४ मालकँगनी; ५ हजारों खण्डों में; ६ प्रचलित कहावत; ७ विशाल नेत्रोंवाली।

यथा रामे तथा तस्मिन् सर्वा ववृतिरे स्त्रियः।
वृत्तिं दशरथाज्जाते लक्ष्मणे शुभलक्षणे ॥ २१ ॥
सीतापि चरणांस्तासामुपसंगृह्य दुःखिता।
श्वश्रूणामश्रुपूर्णाक्षी सम्बभूवाग्रतः स्थिता ॥ २२ ॥
तां परिष्वज्य दुःखार्ता माता दुहितरं यथा।
वनवासकृतां दीनां कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥
वैदेहराजन्यसुता स्नुषा दशरथस्य च।
रामपत्नी कथं दुःखं सम्प्राप्ता विजने वने ॥ २४ ॥
पद्ममातपसंतप्तं परिक्लिष्टमिवोत्पलम्।
काञ्चनं रजसा ध्वस्तं क्लिष्टं चन्द्रमिवाम्बुदैः ॥ २५ ॥
मुखं ते प्रेक्ष्य मां शोको दहत्यग्निरिवाश्रयम्।
भृशं मनसि वैदेहि व्यसनारणिसम्भवः ॥ २६ ॥
ब्रुवन्त्यामेवमार्तायां जनन्यां भरताग्रजः।
पादावासाद्य जग्राह वसिष्ठस्य च राघवः ॥ २७ ॥

पुरोहितस्याग्निसमस्य तस्य वै
बृहस्पतेरिन्द्र इवामराधिपः।
प्रगृह्य पादौ सुसमृद्धतेजसः
सहैव तेनोपविवेश राघवः ॥ २८ ॥
ततो जघन्यं सहितैः स्वमन्त्रिभिः
पुरप्रधानैश्च तथैव सैनिकैः।
जनेन धर्मज्ञतमेन धर्मवा-
नुपोपविष्टो भरतस्तदाग्रजम् ॥ २९ ॥
उपोपविष्टस्तु तदातिवीर्यवां-
स्तपस्विवेषेण समीक्ष्य राघवम्।
श्रिया ज्वलन्तं भरतः कृताञ्जलि-
र्यथा महेन्द्रः प्रयतः प्रजापतिम् ॥ ३० ॥
किमेष वाक्यं भरतोऽद्य राघवं
प्रणम्य सत्कृत्य च साधु वक्ष्यति।
इतीव तस्यार्यजनस्य तत्त्वतो
बभूव कौतूहलमुत्तमं तदा ॥ ३१ ॥

राम साथ व्यवहार किया था माताओं ने उत्तम जैसे।
शुभ-लक्षण लक्ष्मण दशरथ-सुत-सँग भी किया सभी ने वैसे ॥ २१ ॥
सभी सासुओं के चरणों में दुखिनी सीता भी प्रणाम कर।
खड़ी हो गयीं उनके आगे निज नयनों में आँसू भरकर ॥ २२ ॥
दुःखार्ता कौसल्या ने फिर साश्रु[1]-नयन सीता को पाकर।
कहा, विपिनवासी दीना को, निज पुत्री-सम हृदय-लगाकर ॥ २३ ॥
हे विदेह नृप-सुते ! राम की भार्ये ! तुम इस निर्जन वन में।
दुःख भोगती क्यों ? दशरथ की पुत्रवधो ! क्यों आकुल मन में ? ॥ २४ ॥
मेघाच्छादित चन्द्र, धूप से तप्त कमल, मर्दित उत्पल[2]-सम।
सुते ! तुम्हारा मुख अकान्त[3] है, जैसे धूल-ध्वस्त सर्वोत्तम ॥ २५ ॥
मन में संकट-अरणिज[4] है यह, शोक-अनल मुख देख तुम्हारा।
हे वैदेहि ! जलाता जैसे अग्नि, स्व-जन्मस्थल वन सारा ॥ २६ ॥
आर्ता[5] माताएँ करती थीं शोकित होकर विलपन जिस क्षण।
राम, भरत-अग्रज ने पकड़े तब वसिष्ठ के पूज्य श्रीचरण ॥ २७ ॥

सुरपति इन्द्र बृहस्पति जी के पद छूते हैं जैसे
छुए राम ने श्री वसिष्ठ के श्रीचरणों को वैसे।
था वसिष्ठ का तेज अग्नि-सम तब अति बढ़ता जाता
भू पर बैठे राम उन्हीं के साथ शिष्य-गुरु जैसे ॥ २८ ॥

सभी सचिव, पुरवासि, सैन्य-जन, सचिव, धर्मविद सज्जन
जो आये थे एक साथ ही वहाँ परम उत्सुक मन।
उन सबके सँग, निज अग्रज के पीछे होकर तब फिर
धार्मिक प्रवर भरत जा बैठे लेकर अपना आसन ॥ २९ ॥

भरत विक्रमी ने रामासन के समीप हो संस्थित
तापस-वेशि राम को देखा दिव्य दीप्ति से दीपित।
जोड़े अपने हाथ उस समय, उनके प्रति तब ऐसे
जैसे हों महेन्द्र ब्रह्माजी के समक्ष अति विनमित ॥ ३० ॥

तब था श्रेष्ठजनों के मन में यह कौतूहल उत्तम
देखें, भला राम का आदर करते हुए यथाक्रम।
और उन्हें करके प्रणाम फिर भरत कहेंगे क्या ये
रामचन्द्र से बात समुत्तम, विधिवत होकर निर्भ्रम ॥ ३१ ॥

---

१ आँसू भरे; २ कुचले हुए कमल; ३ श्रीहीन, कुम्हलाया; ४ संकट रूपी काष्ठ; ५ दुखी।

स राघवः सत्यधृतिश्च लक्ष्मणो
महानुभावो भरतश्च धार्मिकः।
वृताः सुहृद्भिश्च विरेजिरेऽध्वरे
यथा सदस्यैः सहितास्त्रयोऽग्नयः ॥ ३२ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुरधिकशततमः सर्गः ॥१०४॥

पञ्चाधिकशततमः सर्गः

भरत का श्रीराम को अयोध्या में चलकर राज्य ग्रहण करने के लिए कहना, श्रीराम का जीवन की अनित्यता बताते हुए पिता की मृत्यु के लिए शोक न करने का भरत को उपदेश देना और पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए ही राज्य ग्रहण न करके वन में रहने का ही दृढ़ निश्चय बताना

ततः पुरुषसिंहानां वृतानां तैः सुहृद्गणैः।
शोचतामेव रजनी दुःखेन व्यत्यवर्तत ॥ १ ॥
रजन्यां सुप्रभातायां भ्रातरस्ते सुहृद्वृताः।
मन्दाकिन्यां हुतं जप्यं कृत्वा राममुपागमन् ॥ २ ॥
तूष्णीं ते समुपासीना न कश्चित् किंचिदब्रवीत्।
भरतस्तु सुहृन्मध्ये रामं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
सान्त्विता मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम।
तद् ददामि तवैवाहं भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् ॥ ४ ॥
महतेवाम्बुवेगेन भिन्नः सेतुर्जलागमे।
दुरावरं त्वदन्येन राज्यखण्डमिदं महत् ॥ ५ ॥
गतिं खर इवाश्वस्य तार्क्ष्यस्येव पतत्त्रिणः।
अनुगन्तुं न शक्तिर्मे गतिं तव महीपते ॥ ६ ॥
सुजीवं नित्यशस्तस्य यः परैरुपजीव्यते।
राम तेन तु दुर्जीवं यः परानुपजीवति ॥ ७ ॥
यथा तु रोपितो वृक्षः पुरुषेण विवर्धितः।
ह्रस्वकेन दुरारोहो रूढस्कन्धो महाद्रुमः ॥ ८ ॥
स यदा पुष्पितो भूत्वा फलानि न विदर्शयेत्।
स तां नानुभवेत् प्रीतिं यस्य हेतोः प्ररोपितः ॥ ९ ॥
एषोपमा महाबाहो तदर्थं वेत्तुमर्हसि।
यत्र त्वमस्मान् वृषभो भर्ता भृत्यान् न शाधि हि ॥ १० ॥

सत्यव्रत श्रीराम और वे महामना श्री लक्ष्मण
एवं धार्मिक भरत आदि ये तीनों भाई उस क्षण।
निज सुहृदों से घिरकर तब थे शोभित होते ऐसे
जैसे घिरा सदस्यों से मख-अग्नित्रय[1] सु-विलक्षण ॥ ३२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्ष रामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में एक सौ चौथा सर्ग समाप्त ॥ १०४ ॥

एक सौ पाँचवाँ सर्ग

भरत का श्रीराम को अयोध्या में चलकर राज्य ग्रहण करने के लिए कहना, श्रीराम का जीवन की अनित्यता बताते हुए पिता की मृत्यु के लिए शोक न करने का भरत को उपदेश देना और पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए ही राज्य ग्रहण न करके वन में रहने का ही दृढ़ निश्चय बताना

रामादिक नरसिंह भाइयों एवं सब मित्रों से घिरकर।
पिता-शोक में ही बीती वह, रजनी बहुत-बहुत ही दुखकर ॥ १ ॥
प्रातः गये भरत भ्राता त्रय, मित्रों संग मन्दाकिनि तट पर।
आये राम-समीप पुनः सब, स्नान, हवन, जप आदि पूर्ण कर ॥ २ ॥
वहाँ न कोई बोल रहा था सभी शान्त थे उस अवसर पर।
तभी सुहृद्-मध्यस्थित बोले भरत, राम से वचन सरल तर ॥ ३ ॥
मुझे दिया जो, मेरी माँ ने, पाकर वरद पिता के द्वारा।
भोगें आप! उसे मैं देता, अपना राज्य अकण्टक सारा ॥ ४ ॥
वर्षा-जल-प्रवाह से खण्डित, सेतु-सदृश यह राज्य विखण्डित।
सिवा आपके, हो न सकेगा, अन्य व्यक्ति से विधिवत शासित ॥ ५ ॥
खर[2] घोड़े की और गरुड़ की गति न भूप! लघु खग पा सकता।
अतः आपकी गति की मुझमें नहीं अनुसरण की है क्षमता ॥ ६ ॥
राम! जी रहे जिसके आश्रित अन्य, सु-जीवन है उसका नित।
किन्तु जी रहा जो अन्याश्रित[3] उसका तो जीवन है गर्हित[4] ॥ ७ ॥
निज आरोपित, पोषित तरु के, जब कि तने मोटे हो जाएँ।
अति ऊँचे होने से जिस पर नाटे लोग न चढ़ने पाएँ ॥ ८ ॥
एवं जो पुष्पित होने पर भी न हो सके कभी फलान्वित।
हो न सके उसके आरोपक[5] को उसके द्वारा कुछ भी हित ॥ ९ ॥
अस्तु आप अतिश्रेष्ठ, न हम दासों का यदि कर सके सुपालन।
आप महाबाहो! तब होंगे निश्चय इस उपमा के भाजन[6] ॥ १० ॥

---

१ यज्ञ की तीन अग्नियाँ (गार्हपत्य, आवहनीय, रक्षित); २ गदहा; ३ दूसरे के सहारे; ४ निन्दित, दूषित; ५ लगानेवाले; ६ योग्य।

श्रेणयस्त्वां महाराज पश्यन्त्वग्र्याश्च सर्वशः ।
प्रतपन्तमिवादित्यं राज्यस्थितमरिंदमम् ॥ ११ ॥
तथानुयाने काकुत्स्थ मत्ता नर्दन्तु कुञ्जराः ।
अन्तःपुरगता नार्यो नन्दन्तु सुसमाहिताः ॥ १२ ॥
तस्य साध्वनुमन्यन्त नागरा विविधा जनाः ।
भरतस्य वचः श्रुत्वा रामं प्रत्यनुयाचतः ॥ १३ ॥
तमेवं दुःखितं प्रेक्ष्य विलपन्तं यशस्विनम् ।
रामः कृतात्मा भरतं समाश्वासयदात्मवान् ॥ १४ ॥
नात्मनः कामकारो हि पुरुषोऽयमनीश्वरः ।
इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति ॥ १५ ॥
सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥ १६ ॥
यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद् भयम् ।
एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद् भयम् ॥ १७ ॥
यथाऽऽगारं दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वोपसीदति ।
तथावसीदन्ति नरा जरामृत्युवशंगताः ॥ १८ ॥
अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते ।
यात्येव यमुना पूर्णं समुद्रमुदकार्णवम् ॥ १९ ॥
अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह ।
आयूंषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः ॥ २० ॥
आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि ।
आयुस्तु हीयते यस्य स्थितस्यास्य गतस्य च ॥ २१ ॥
सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति ।
गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते ॥ २२ ॥
गात्रेषु वलयः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः ।
जरया पुरुषो जीर्णः किं हि कृत्वा प्रभावयेत् ॥ २३ ॥
नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमितेऽहनि ।
आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम् ॥ २४ ॥
हृष्यन्त्यृतुमुखं दृष्ट्वा नवं नवमिहागतम् ।
ऋतूनां परिवर्तेन प्राणिनां प्राणसंक्षयः ॥ २५ ॥
यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे ।
समेत्य तु व्यपेयातां कालमासाद्य कंचन ॥ २६ ॥

सभी जाति, दल-मुख्य व्यक्ति सब सभी ओर से रवि-सम भासित[1]।
आप अरिंदम[2] महाराज को देखें, राज्यासन पर राजित ॥ ११ ॥
करें लौटते समय आपके हे काकुत्स्थ! मत्त गज गर्जन।
मुदिता अन्तःपुर-महिलाएँ करें प्रमुद होकर अभिनन्दन ॥ १२ ॥
राज्य-ग्रहण-प्रार्थना राम से करते हुए भरत को सुनकर।
अनुमोदन तब किया उसी का भिन्न-भिन्न लोगों ने सत्वर ॥ १३ ॥
विलपन दुखी यशस्वि भरत का, देख सुधी सद्बुद्धि राम अति।
देते हुए सान्त्वना बोले, वचन इस तरह से उनके प्रति ॥ १४ ॥
जीव नहीं यह ईश्वर के सम है स्वतन्त्र इच्छा-अनुसारी।
वह तो कालपुरुष-कर्षित है, उसका ही इच्छित पथ-चारी[3] ॥ १५ ॥
सभी संग्रहों का विनाश है अन्त लोक-उन्नति का प्रपतन[4]।
संयोगान्त[5] वियोग, और है मरण अन्तमय निश्चय जीवन ॥ १६ ॥
जैसे पके हुए फल को है, सिवा पतन के नहीं अन्य भय।
वैसे जन्मे जन को केवल, एक मृत्यु का ही भय निश्चय ॥ १७ ॥
जैसे होकर जीर्ण, सुदृढ़तम खम्भों वाला घर गिर जाता।
वैसे जरा मृत्यु के वश हो, मनुज नाश की स्थिति में आता ॥ १८ ॥
वैसे बीती हुई निशा है नहीं लौट करके फिर आती।
जैसे यमुना, जल से पूरित, सिन्धु ओर जा, लौट न पाती ॥ १९ ॥
बीत रहे दिन रात्रि कर रहे प्राणि-आयु का नाश शीघ्रतर।
जैसे ग्रीष्म-सूर्य-किरणें हैं, जल-शोषण करतीं अति सत्वर ॥ २० ॥
अन्य हेतु क्यों शोक कर रहे, पुनःपुनः सोचो अपने हित।
आयु क्षीण हो रही सभी की, जहाँ कहीं भी हो वह, निश्चित ॥ २१ ॥
चलती और बैठती सँग-सँग मृत्यु, साथ यात्रा में जाती।
और साथ ही वह मनुष्य के, पुनः लौट करके है आती ॥ २२ ॥
तन में पड़ीं झुर्रियाँ, सिर के बाल श्वेत हो गये सभी जब।
जरा-जीर्ण जन, मृत्यु-त्रास हित, कौन प्रभाव दिखायेगा तब ॥ २३ ॥
सूर्योदय, सूर्यास्त समय पर होते हर्षित प्रमुदित सब जन।
किन्तु जानते नहीं, नित्य ही नष्ट हो रहा है यह, जीवन ॥ २४ ॥
ऋतु-आरम्भ समय जन होते हर्षित उसको नयी समझकर।
नहीं समझते, ऋतु-परिवर्तन, है यह क्रमशः आयुष्-क्षयकर[6] ॥ २५ ॥
यथा महोदधि[7] में बहकर दो काष्ठ परस्पर में मिल जाते।
और वही कुछ समय बाद फिर, अलग-अलग दिखने में आते ॥ २६ ॥

---

१ प्रकाशित; २ शत्रु को दमन करनेवाले; ३ जीव स्वतंत्र नहीं कालचक्र के वश में है; ४ पतन, गिराव, विनाश; ५ संयोग (मिलन) का वियोग निश्चित है; ६ आयु को घटानेवाला; ७ महासागर।

एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः ॥ २७ ॥
नात्र कश्चिद् यथाभावं प्राणी समतिवर्तते।
तेन तस्मिन् न सामर्थ्यं प्रेतस्यास्त्यनुशोचतः ॥ २८ ॥
यथा हि सार्थं गच्छन्तं ब्रूयात् कश्चित् पथि स्थितः।
अहमप्यागमिष्यामि पृष्ठतो भवतामिति ॥ २९ ॥
एवं पूर्वैर्गतो मार्गः पैतृपितामहैर्ध्रुवः।
तमापन्नः कथं शोचेद् यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ३० ॥
वयसः पतमानस्य स्रोतसो वानिवर्तिनः।
आत्मा सुखे नियोक्तव्यः सुखभाजः प्रजाः स्मृताः ॥ ३१ ॥
धर्मात्मा सुशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः।
धूतपापो गतः स्वर्गं पिता नः पृथिवीपतिः ॥ ३२ ॥
भृत्यानां भरणात् सम्यक् प्रजानां परिपालनात्।
अर्थादानाच्च धर्मेण पिता नस्त्रिदिवं गतः ॥ ३३ ॥
कर्मभिस्तु शुभैरिष्टैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः।
स्वर्गं दशरथः प्राप्तः पिता नः पृथिवीपतिः ॥ ३४ ॥
इष्ट्वा बहुविधैर्यज्ञैर्भोगांश्चावाप्य पुष्कलान्।
उत्तमं चायुरासाद्य स्वर्गतः पृथिवीपतिः ॥ ३५ ॥
आयुरुत्तममासाद्य भोगानपि च राघवः।
न स शोच्यः पिता तात स्वर्गतः सत्कृतः सताम् ॥ ३६ ॥
स जीर्णं मानुषं देहं परित्यज्य पिता हि नः।
दैवीमृद्धिमनुप्राप्तो ब्रह्मलोकविहारिणीम् ॥ ३७ ॥
तं तु नैवंविधः कश्चित् प्राज्ञः शोचितुमर्हसि।
त्वद्विधो मद्विधश्चापि श्रुतवान् बुद्धिमत्तरः ॥ ३८ ॥
एते बहुविधाः शोका विलापरुदिते तथा।
वर्जनीया हि धीरेण सर्वावस्थासु धीमता ॥ ३९ ॥
स स्वस्थो भव मा शोको यात्वा चावस तां पुरीम्।
तथा पित्रा नियुक्तोऽसि वशिनां वदतां वर ॥ ४० ॥
यत्राहमपि तेनैव नियुक्तः पुण्यकर्मणा।
तत्रैवाहं करिष्यामि पितुरार्यस्य शासनम् ॥ ४१ ॥

तथा पुत्र, स्त्री, धन, कुटुम्ब भी मिलते और बिछुड़ हैं जाते।
क्योंकि अवश्यम्भावी इनका है वियोग, (यह सुधी[1] बताते) ॥ २७ ॥
अनुल्लङ्घ्य[2] हैं, समय-प्राप्त ये जन्म-मरण, इससे मृत-शोकित[3]।
भी तो है अपनी समयागत मृत्यु टालने में असमर्थित[4] ॥ २८ ॥
पथ-यात्री व्यापारि वर्ग से जैसे कोई कहे पथस्थित[5]।
आप सभी के पीछे मैं भी आऊँगा, फिर होवे प्रस्थित[6] ॥ २९ ॥
वैसे पिता, पितामह-गत-पथ[7], है अनिवार्य उपाय-रहित जब।
उसी मार्ग पर स्थित मनुष्य क्यों अन्य हेतु फिर शोक करे तब ॥ ३० ॥
सरित्-वेग[8]-सम प्रतिदिन ढलती हुई अवस्था लौट न आती।
अतः लगे शुभ आत्मधर्म में! क्योंकि शुभस्थिति[9] सबको भाती ॥ ३१ ॥
यज्ञ, दक्षिणा शुभ कर्मों से जो हो गये पाप से विरहित।
वे धर्मात्मा पिता हमारे गये स्वर्ग को भूपति निश्चित ॥ ३२ ॥
भृत्यों का सम्भरण सर्वथा और प्रजा का प्रतिपालन कर।
तथा धर्मतः धन-ग्राही[10] वे गये स्वर्ग को पिता भूपवर ॥ ३३ ॥
प्रचुर दक्षिणा वाले मख कर, तथा सकल प्रिय इष्ट कार्य कर।
गये स्वर्ग को पिता हमारे वे दशरथ निश्चय भूपतिवर ॥ ३४ ॥
वह यज्ञों से उन्हें प्राप्त थी उत्तम आयु, भोग-सुख सारे।
तदनन्तर वे गये यहाँ से स्वर्ग धरणिपति पिता हमारे ॥ ३५ ॥
उत्तम आयु-भोग भी पाकर, वे राघव हो सज्जन-सत्कृत।
गये स्वर्ग को, अतः न उनका मरण-शोक करना है समुचित ॥ ३६ ॥
और पिता वे मेरे, अतिशय जीर्ण मनुज-तन परित्याग कर।
ब्रह्मलोक-सुविहारिणि पाई है दैवी सम्पत्ति श्रेष्ठतर ॥ ३७ ॥
कोई भी विद्वान तुम्हारे, मेरे जैसा सुधी शास्त्र-श्रुत।
हो सकता है नहीं पिता की मृत्यु-शोक से अतिशय संयुत ॥ ३८ ॥
सभी अवस्थाओं में बहु विधि विलपन, शोक और अति रोदन।
परित्याज्य हैं सुधी धीर से, ऐसा ही कहते विद्वज्जन ॥ ३९ ॥
अतः करो मत शोक! स्वस्थ हो, रहो पुरी में अब तुम जाकर।
वशी[11] पिता से आज्ञापित[12] हो, क्योंकि राज्य हित तुम्ही वक्तृवर[13] ॥ ४० ॥
और जहाँ रहने को मैं भी हुआ पुण्यकर्मा आदेशित।
वहीं रहूँगा मैं निश्चय ही, पूज्य पिताज्ञा-पालन के हित ॥ ४१ ॥

---

१ विद्वान; २ अमिट; ३ मृत्यु का शोक करके; ४ असमर्थ; ५ रास्ते में खड़ा हुआ; ६ रवाना हो; ७ पूर्वज मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं; ८ नदी की प्रवाह-गति; ९ कल्याण, सद्गति; १० प्रजा से धर्मानुसार ही कर लेनेवाले; ११ मन को वश में रखनेवाले; १२-आज्ञा पाये हुए; १३ नियुक्त।

न मया शासनं तस्य त्यक्तुं न्याय्यमरिंदम।
स त्वयापि सदा मान्यः स वै बन्धुः स नः पिता॥ ४२॥
तद् वचः पितुरेवाहं सम्मतं धर्मचारिणाम्।
कर्मणा पालयिष्यामि वनवासेन राघव॥ ४३॥
धार्मिकेणानृशंसेन नरेण गुरुवर्तिना।
भवितव्यं नरव्याघ्र परलोकं जिगीषता॥ ४४॥
आत्मानमनुतिष्ठ त्वं स्वभावेन नरर्षभ।
निशाम्य तु शुभं वृत्तं पितुर्दशरथस्य नः॥ ४५॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा
पितुर्निदेशप्रतिपालनार्थम्।
यवीयसं भ्रातरमर्थवच्च
प्रभुर्मुहूर्ताद् विरराम रामः॥ ४६॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चाधिकशततमः सर्गः ॥१०५॥

षडधिकशततमः सर्गः

भरत की पुनः श्रीराम से अयोध्या लौटने और राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना

एवमुक्त्वा तु विरते रामे वचनमर्थवत्।
ततो मन्दाकिनीतीरे रामं प्रकृतिवत्सलम्॥ १॥
उवाच भरतश्चित्रं धार्मिको धार्मिकं वचः।
को हि स्यादीदृशो लोके यादृशस्त्वमरिंदम॥ २॥
न त्वां प्रव्यथयेद् दुःखं प्रीतिर्वा न प्रहर्षयेत्।
सम्मतश्चापि वृद्धानां तांश्च पृच्छसि संशयान्॥ ३॥
यथा मृतस्तथा जीवन् यथासति तथा सति।
यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात् परितप्येत केन सः॥ ४॥
परावरज्ञो यश्च स्याद् यथा त्वं मनुजाधिप।
स एव व्यसनं प्राप्य न विषीदितुमर्हति॥ ५॥
अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसंगरः।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चासि राघव॥ ६॥
न त्वामेवंगुणैर्युक्तं प्रभवाभवकोविदम्।
अविषह्यतमं दुःखमासादयितुमर्हति॥ ७॥

शत्रुदमन हे भरत ! पिताज्ञा-त्याग नहीं है कथमपि[1] समुचित।
मान्य हितषी, बन्धु, जन्मप्रद क्योंकि तुम्हारे भी थे वे नित ॥ ४२ ॥
धर्मचारियों को भी जो हैं मान्य पिता के कथित वे वचन।
उनको इस वन-वास कर्म से पा लूँगा अब मैं रघुनन्दन[2] ! ॥ ४३ ॥
नृवर ! जो कि परलोक-प्राप्ति की इच्छा रखता है अद्भुत जन।
उसे चाहिए हो धार्मिक अक्रूर, करे गुरु-आज्ञा-पालन ॥ ४४ ॥
देखो ! मेरे पूज्य पिता उन दशरथ के शुभ वृत्त सर्वथा।
करो यत्न आत्मा-उन्नति हित नृवर भरत ! सु-स्वभाव से तथा ॥ ४५ ॥

अनुज भरत आदेश पिता का पालें, उर में धरकर
अर्थयुक्त वार्ता मुहूर्त में ही कहकर वे प्रभुवर।
हुए महात्मा सर्वशक्ति-धर[3] शान्त सर्वथा तत्क्षण
तदनन्तर वे वचन न बोले कुछ भी उस अवसर पर ॥ ४६ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में एक सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥ १०५ ॥

एक सौ छठा सर्ग

भरत की पुनः श्रीराम से अयोध्या लौटने और राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना

राम सुधार्मिक शान्त हुए जब, सार्थक वचन इस तरह कहकर।
तब बोले उन प्रजा प्रवत्सल से ऐसे मन्दाकिनि-तट पर ॥ १ ॥
बोले धार्मिक भरत, विचित्रा वार्ता ऐसी, हे रिपुमर्दन[3]।
हो सकता है इस जगती में, भला आप-सा कौन अन्य जन ॥ २ ॥
कर न सका दुख व्यथित आपको सुख में अति उत्फुल्ल न होते।
वृद्धों से सम्मानित फिर भी संशय उनसे आप पूछते ॥ ३ ॥
जो जीवन-उपरान्त सदृश है जीवन में भी बन्ध-रहित नर।
लाभ, हानि-समगति को होगा, क्यों कोई सन्ताप क्लेश कर ॥ ४ ॥
एवं आत्म, अनात्म-ज्ञान है जिसे, नरेश्वर ! आप सदृश नित।
वही नहीं संकट पड़ने पर, हो सकता है कभी विषादित[4] ॥ ५ ॥
अमरोपम[5] हैं आप सतोगुण-संयुत राघव ! प्रति अवसर पर।
आप महात्मा सत्यव्रत हैं सार्वभौम सर्वज्ञ सुधीश्वर ॥ ६ ॥
ऐसे जो हैं आप सद्गुणी, जीवन-मरण-तत्त्व के ज्ञाता।
पास न उनके अति असह्य भी दुःख कभी है आने पाता ॥ ७ ॥

---

१ किसी प्रकार भी; २ भरत; ३ राम; ४ दुखी; ५ देवताओं के समान।

प्रोषिते मयि यत् पापं मात्रा मत्कारणात् कृतम् ।
क्षुद्रया तदनिष्टं मे प्रसीदतु भवान् मम ॥ ८ ॥
धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम् ।
हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम् ॥ ९ ॥
कथं दशरथाज्जातः शुभाभिजनकर्मणः ।
जानन् धर्ममधर्मं च कुर्यां कर्म जुगुप्सितम् ॥ १० ॥
गुरुः क्रियावान् वृद्धश्च राजा प्रेतः पितेति च ।
तातं न परिगर्हेऽहं दैवतं चेति संसदि ॥ ११ ॥
को हि धर्मार्थयोर्हीनमीदृशं कर्म किल्बिषम् ।
स्त्रियः प्रियचिकीर्षुः सन् कुर्याद् धर्मज्ञ धर्मवित् ॥ १२ ॥
अन्तकाले हि भूतानि मुह्यन्तीति पुरा श्रुतिः ।
राज्ञैवं कुर्वता लोके प्रत्यक्षा सा श्रुतिः कृता ॥ १३ ॥
साध्वर्थमभिसंधाय क्रोधान्मोहाच्च साहसात् ।
तातस्य यदतिक्रान्तं प्रत्याहरतु तद् भवान् ॥ १४ ॥
पितुर्हि समतिक्रान्तं पुत्रो यः साधु मन्यते ।
तदपत्यं मतं लोके विपरीतमतोऽन्यथा ॥ १५ ॥
तदपत्यं भवानस्तु मा भवान् दुष्कृतं पितुः ।
अति यत् तत् कृतं कर्म लोके धीरविगर्हितम् ॥ १६ ॥
कैकेयीं मां च तातं च सुहृदो बान्धवांश्च नः ।
पौरजानपदान् सर्वांस्त्रातुं सर्वमिदं भवान् ॥ १७ ॥
क्व चारण्यं क्व च क्षात्रं क्व जटाः क्व च पालनम् ।
ईदृशं व्याहतं कर्म न भवान् कर्तुमर्हति ॥ १८ ॥
एष हि प्रथमो धर्मः क्षत्रियस्याभिषेचनम् ।
येन शक्यं महाप्राज्ञ प्रजानां परिपालनम् ॥ १९ ॥
कश्च प्रत्यक्षमुत्सृज्य संशयस्थमलक्षणम् ।
आयतिस्थं चरेद् धर्मं क्षत्रबन्धुरनिश्चितम् ॥ २० ॥
अथ क्लेशजमेव त्वं धर्मं चरितुमिच्छसि ।
धर्मेण चतुरो वर्णान् पालयन् क्लेशमाप्नुहि ॥ २१ ॥
चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम् ।
आहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमिच्छसि ॥ २२ ॥
श्रुतेन बालः स्थानेन जन्मना भवतो ह्यहम् ।
स कथं पालयिष्यामि भूमिं भवति तिष्ठति ॥ २३ ॥

परदेशस्थिति[१] में जो मेरी क्षुद्रा माँ ने ही मेरे हित।
पाप किया जो, वह न इष्ट है, मुझे क्षमें[२]! मुझ पर हों प्रमुदित ॥ ८ ॥
पापकारिणी दण्ड्या[३] माँ को, दे करके मैं दण्ड तीव्र अति।
नहीं मारता, धर्म-बन्ध में बंधा हुआ हूँ निश्चय सम्प्रति ॥ ९ ॥
उत्तमकुल-कर्मा दशरथ सुत, होकर धर्माधर्म सु-ज्ञाता।
करूँ मातृ-वध, जग से निन्दित कैसे? यह न समझ में आता ॥ १० ॥
नृप थे मेरे, वयोवृद्ध गुरु, पिता, देवता क्रियावान-वर।
नहीं सभा में निन्दित करता, उनको, क्योंकि गये हैं वे मर ॥ ११ ॥
पत्नी-प्रिय करने का इच्छुक धर्म जानते हुए कौन नर।
इस प्रकार धर्मार्थ-हीन अति पाप करेगा, राघव! दुखकर ॥ १२ ॥
अन्तकाल में मोहित होते हैं सब प्राणी, ऐसी जन-श्रुति।
को, कर सत्य दिखाया नृप ने, करके कर्म कठोर दुष्ट अति ॥ १३ ॥
साहस, क्रोध, मोह-वश जिसको, ठीक समय यह धर्मोल्लंघन।
किया पिता ने, उसे पलट कर आप करें फिर से संशोधन ॥ १४ ॥
जो कि पिता-कृत, भूल ठीक कर देता, वह है जग-उत्तम सुत।
किन्तु अन्यथाचारी[४] तो है नहीं निज पिता-सन्तति बहुश्रुत[५] ॥ १५ ॥
अतः पिता के रहें योग्य सुत, करे न अनुचित कर्म-समर्थन।
क्योंकि कर रहे निन्दा, उनके पापकर्म की सभी धीर जन ॥ १६ ॥
मैं, कैकेयी, पिता-सुहृद्गण एवं पुरजन तथा बन्धुगण।
कहते, करे प्रार्थना स्वीकृत, करें राष्ट्र-जनता का रक्षण ॥ १७ ॥
भला कहाँ वनवास, जटा ये और कहाँ क्षात्रत्व प्रपालन।
नहीं चाहिए, कर्म-विरोधी[६] करें आप! होकर उदार मन ॥ १८ ॥
क्षात्र-धर्म है प्रथम, राज्य-पद पर होवे उसका अभिषिञ्चन।
महाप्राज्ञ! जिससे कर पाये वह विधि से जनता का पालन ॥ १९ ॥
क्षत्रिय होगा कौन? जो कि यह धर्म सुखद प्रत्यक्ष त्यागकर।
संशय-लक्षित[७] धर्माचारी हो, भविष्य हो जिसका दुस्तर ॥ २० ॥
आप चाहते, क्लेश-साध्य ही धर्म-आचरण का यदि पालन।
तो चारों वर्णों के पालन-धर्म-कष्ट का करें न त्यागन ॥ २१ ॥
चार आश्रमों में गृहस्थ को धर्मज्ञाता कहते उत्तम।
तो क्यों उसका त्याग चाहते! आप भला, धर्मज्ञ महत्तम! ॥ २२ ॥
शास्त्रज्ञान, जन्म, दोनों से आप-अपेक्षा[८] मैं जब बालक।
तो फिर रहते हुए आपके कैसे होऊँगा भू-पालक? ॥ २३ ॥

---

१ मेरे परदेश में रहते समय; २ क्षमा करें; ३ दण्ड पाने योग्य; ४ जो ऐसा नहीं करता; ५ लोक में मान्य; ६ उलटे काम; ७ संदिग्ध; ८ आपकी तुलना में।

हीनबुद्धिगुणो बालो हीनस्थानेन चाप्यहम् ।
भवता च विनाभूतो न वर्तयितुमुत्सहे ॥ २४ ॥
इदं निखिलमप्यग्र्यं राज्यं पित्र्यमकण्टकम् ।
अनुशाधि स्वधर्मेण धर्मज्ञ सह बान्धवैः ॥ २५ ॥
इहैव त्वाभिषिञ्चन्तु सर्वाः प्रकृतयः सह ।
ऋत्विजः सवसिष्ठाश्च मन्त्रविन्मन्त्रकोविदाः ॥ २६ ॥
अभिषिक्तस्त्वमस्माभिरयोध्यां पालने व्रज ।
विजित्य तरसा लोकान् मरुद्भिरिव वासवः ॥ २७ ॥
ऋणानि त्रीण्यपाकुर्वन् दुर्हृदः साधु निर्दहन् ।
सुहृदस्तर्पयन् कामैस्त्वमेवात्रानुशाधि माम् ॥ २८ ॥
अद्यार्य मुदिताः सन्तु सुहृदस्तेऽभिषेचने ।
अद्य भीताः पलायन्तु दुष्प्रदास्ते दिशो दश ॥ २९ ॥
आक्रोशं मम मातुश्च प्रमृज्य पुरुषर्षभ ।
अद्य तत्रभवन्तं च पितरं रक्ष किल्बिषात् ॥ ३० ॥
शिरसा त्वाभियाचेऽहं कुरुष्व करुणां मयि ।
बान्धवेषु च सर्वेषु भूतेष्विव महेश्वरः ॥ ३१ ॥
अथवा पृष्ठतः कृत्वा वनमेव भवानितः ।
गमिष्यति गमिष्यामि भवता सार्धमप्यहम् ॥ ३२ ॥

तथाभिरामो भरतेन ताम्यता
प्रसाद्यमानः शिरसा महीपतिः ।
न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान्
मतिं पितुस्तद् वचने प्रतिष्ठितः ॥ ३३ ॥

तदद्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्य राघवे
समं जनो हर्षमवाप दुःखितः ।
न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्
स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः ॥ ३४ ॥

तमृत्विजो नैगमयूथवल्लभा-
स्तथा विसंज्ञाश्रुकलाश्च मातरः ।
तथा ब्रुवाणं भरतं प्रतुष्टुवुः
प्रणम्य रामं च ययाचिरे सह ॥ ३५ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षडधिकशततमः सर्गः ॥१०६॥

मुझ गुण, बुद्धि-हीन बालक का स्थान आपसे है साधारण।
कर न सकूँगा बिना आपके, मैं तो यह जीवन भी धारण ॥ २४ ॥
निष्कण्टक सम्पूर्ण राज्य यह पूज्य पिता का है रघुनन्दन !।
अतः बान्धवों-सह, स्वधर्म से इसका करें धर्मविद्! पालन ॥ २५ ॥
यहाँ मन्त्र-कोविद् वसिष्ठ हैं, प्रजा, सैन्यपति, सचिव उपस्थित।
ऋत्विज सभी, अतः मिल करके, करें आपको ये अभिषिञ्चित ॥ २६ ॥
मरुद्गणों से इन्द्रोपम[1] हम सब लोगों से हो अभिषिञ्चित।
सब लोकों को जीत वेग से, चलें अयोध्या-प्रतिपालन-हित ॥ २७ ॥
सुहृद-सुतोषण, दुष्ट रिपुदमन, देवर्षि-पितृ-ऋण वहाँ चुकायें।
एवं वहीं अयोध्या में रह, मुझे धर्म का बोध करायें ॥ २८ ॥
आर्य ! आपके अभिषिञ्चन से होवें सभी सुहृद्गण प्रमुदित।
एवं दुःखद रिपु विभीत[2] हो, भागें दसों दिशा में निश्चित ॥ २९ ॥
मेरी माता के कलंक को धो करके अब यहाँ मनुजवर !।
एवं पूज्य पिता की रक्षा करें लोक-निन्दा से चलकर ! ॥ ३० ॥
नतमस्तक याचक हूँ, मुझ पर दया कीजिये ! बन्धु जनों पर।
जैसे परम अनुग्रह करते, प्राणि मात्र पर सदा महेश्वर ॥ ३१ ॥
यदि मेरी संस्तुति ठुकराकर, आप यहाँ से जाएँगे वन।
तो फिर मैं भी साथ चलूँगा, यह निश्चय समझें ! रघुनन्दन ! ॥ ३२ ॥

भूप राम-अभिराम पदों पर सिर से होकर विनमित
चेष्टित रहे, स-ग्लानि भरत वे, होएँ रघुवर प्रमुदित।
किन्तु न इच्छुक हुए पुरगमन-हेतु सतोगुणि रघुवर
तथा सुदृढ़ हो, रहे पिताज्ञा-पालन में ही संस्थित[3] ॥ ३३ ॥

स्थिरता देख, राम की अद्भुत, वे सब लोग उपस्थित
एक साथ ही हुए अति दुखित एवं अतिशय हर्षित।
सबको दुख था, राम अयोध्या नहीं जा रहे लेकिन
हर्ष, देख यह हुआ, नहीं वे हुए प्रतिज्ञा-विचलित[4] ॥ ३४ ॥

तब पुरजन, ऋत्विज, नेतागण-सँग अचेत माताएँ
करने लगीं भरत-बहुशंसा[5], सुन उनकी वार्ताएँ।
साश्रुनयन, सविनय सबने की यही याचना फिर से
राम ! आप पुर में चल करके, निज शासन अपनाएँ ॥ ३५ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
एक सौ छठा सर्ग समाप्त ॥ १०६ ॥

---

१ जैसे मरुद्गण इन्द्र का अभिषेक करते हैं, वैसे ही; २ डर कर; ३ डटे रहे; ४ प्रतिज्ञा पर अटल रहे; ५ भरत की भूरि-भूरि प्रशंसा।

सप्ताधिकशततमः सर्गः

श्रीराम का भरत को समझाकर उन्हें अयोध्या जाने का आदेश देना

पुनरेवं ब्रुवाणं तं भरतं लक्ष्मणाग्रजः।
प्रत्युवाच ततः श्रीमाञ्ज्ञातिमध्ये सुसत्कृतः ॥ १ ॥
उपपन्नमिदं वाक्यं यस्त्वमेवमभाषथाः।
जातः पुत्रो दशरथात् कैकेय्यां राजसत्तमात् ॥ २ ॥
पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन्।
मातामहे समाश्रौषीद् राज्यशुल्कमनुत्तमम् ॥ ३ ॥
देवासुरे च संग्रामे जनन्यै तव पार्थिवः।
सम्प्रहृष्टो ददौ राजा वरमाराधितः प्रभुः ॥ ४ ॥
ततः सा सम्प्रतिश्राव्य तव माता यशस्विनी।
अयाचत नरश्रेष्ठं द्वौ वरौ वरवर्णिनी ॥ ५ ॥
तव राज्यं नरव्याघ्र मम प्रव्राजनं तथा।
तच्च राजा तथा तस्यै नियुक्तः प्रददौ वरम् ॥ ६ ॥
तेन पित्राहमप्यत्र नियुक्तः पुरुषर्षभ।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वरदानिकम् ॥ ७ ॥
सोऽयं वनमिदं प्राप्तो निर्जनं लक्ष्मणान्वितः।
सीतया चाप्रतिद्वन्द्वः सत्यवादे स्थितः पितुः ॥ ८ ॥
भवानपि तथेत्येव पितरं सत्यवादिनम्।
कर्तुमर्हसि राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिषिञ्चनात् ॥ ९ ॥
ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम्।
पितरं त्राहि धर्मज्ञ मातरं चाभिनन्दय ॥ १० ॥
श्रूयते धीमता तात श्रुतिर्गीता यशस्विना।
गयेन यजमानेन गयेष्वेव पितॄन् प्रति ॥ ११ ॥
पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः ॥ १२ ॥
एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः।
तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद् गयां व्रजेत् ॥ १३ ॥
एवं राजर्षयः सर्वे प्रतीता रघुनन्दन।
तस्मात् त्राहि नरश्रेष्ठ पितरं नरकात् प्रभो ॥ १४ ॥
अयोध्यां गच्छ भरत प्रकृतीरुपरञ्जय।
शत्रुघ्नसहितो वीर सह सर्वैर्द्विजातिभिः ॥ १५ ॥

एक सौ सातवाँ सर्ग

श्रीराम का भरत को समझाकर उन्हें अयोध्या जाने का आदेश देना

पुनः प्रार्थना-समय भरत के, लक्ष्मण-अग्रज[1], ज्ञाति-मध्य स्थित।
जन-सत्कृत श्रीमान राम तब बोले ऐसे वे उत्तर-हित[2]॥ १ ॥
नृपवर दशरथ से, कैकेयी गर्भज हो तुम भरत! योग्य सुत।
तथा तुम्हारे कथित वचन हैं, योग्य तुम्हारे उत्तम अद्भुत॥ २ ॥
पहले मेरे पिता, तुम्हारी माँ के पाणि-ग्रहण अवसर पर।
केकय-वचन-बद्ध थे तुमको सकल राज्य देने को भ्रातर!॥ ३ ॥
तथा तुम्हारी माँ ने देवासुर-रण में नृप को तोषित[3] कर।
सेवा-हर्षित से पाया था, इस प्रकार का ही उत्तम वर॥ ४ ॥
अतः तुम्हारी वर वर्णिनि[4] माँ यशस्विनी ने अव पा अवसर।
उसी बात का ध्यान दिलाकर, नृपवर से माँगे, ये दो वर॥ ५ ॥
कहा नृसिंह! उन्होंने तुमको मिले राज्य, मैं जाऊँ वन को।
उनसे प्रेरित किया नृपति ने, स्वीकृत, उनके उक्त वचन को॥ ६ ॥
ऐसे पूज्य पिता ने मुझको वरद रूप[5] में ही पुरुषोत्तम।
चौदह वर्षों-वन रहने की, आज्ञा का है किया उपक्रम॥ ७ ॥
इससे मैं सीता-लक्ष्मण-सँग, आया हूँ इस निर्जन वन में।
यहाँ न मेरा प्रतिद्वन्द्वी है, पिता-सत्य रक्षित है मन में॥ ८ ॥
उनकी आज्ञा से अभिषिञ्चन करवाकर हो तुम राज्यस्थित।
पिता-सत्यवादिता सर्वथा तुम्हें सिद्ध करनी है समुचित॥ ९ ॥
करो मातृ-ऋण-उऋण पिता को तुम धर्मज्ञ भरत! मेरे हित।
नरक-पात से उन्हें बचाओ, और करो माता को प्रमुदित॥ १० ॥
सुधी यशस्वी गय नृप ने है, गय प्रदेश में यज्ञ समय पर।
पितरों के प्रति एक कहावत कही, तात! सुनते सब गुणिवर॥ ११ ॥
करता है उद्धार पिता का सुत, पुत्[6] नाम नरक से निश्चित।
अतः पुत्र वह है, जो रखता पितरों को सर्वथा सुरक्षित॥ १२ ॥
बहुश्रुत, गुणी बहुत पुत्रों की है इच्छा करनी आवश्यक।
सम्भव है, उन पुत्रों में से, कोई जाये एक गया[7] तक॥ १३ ॥
किया नृवर! रघुनन्दन! ऐसे सभी राजऋषियों ने अनुभव।
प्रभुवर! नरकोद्धार करो तुम, जाकर पूज्य पिता का सम्भव॥ १४ ॥
सह शत्रुघ्न द्विजों को लेकर, सत्वर वीर! अयोध्या जाओ।
वहाँ भरत! तुम प्रजा-प्रपालन करके सबको सुख पहुँचाओ॥ १५ ॥

---

१ राम; २ जवाब में; ३ सेवा से तृप्त कर; ४ श्रेष्ठ वर्ण वाली; ५ वरदान के रूप में; ६ पुत् एक नरक है जहाँ पुत्रहीन पितर डाले जाते है; ७ गयाधाम।

प्रवेक्ष्ये दण्डकारण्यमहमप्यविलम्बयन् ।
आभ्यां तु सहितो वीर वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥ १६ ॥

त्वं राजा भरत भव स्वयं नराणां
वन्यानामहमपि राजराण्मृगाणाम् ।
गच्छ त्वं पुरवरमद्य सम्प्रहृष्टः
संहृष्टस्त्वहमपि दण्डकान् प्रवेक्ष्ये ॥ १७ ॥

छायां ते दिनकरभाः प्रबाधमानं
वर्षत्रं भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम् ।
एतेषामहमपि काननद्रुमाणां
छायां तामतिशयिनीं शनैः श्रयिष्ये ॥ १८ ॥

शत्रुघ्नस्त्वतुलमतिस्तु ते सहायः
सौमित्रिर्मम विदितः प्रधानमित्रम् ।
चत्वारस्तनयवरा वयं नरेन्द्रं
सत्यस्थं भरत चराम मा विषीद ॥ १९ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्ताधिकशततमः सर्गः ॥१०७॥

अष्टाधिकशततमः सर्गः

जाबालि का नास्तिकों के मत का अवलम्बन करके श्रीराम को समझाना

आश्वासयन्तं भरतं जाबालिर्ब्राह्मणोत्तमः ।
उवाच रामं धर्मज्ञं धर्मापेतमिदं वचः ॥ १ ॥
साधु राघव मा भूत् ते बुद्धिरेवं निरर्थिका ।
प्राकृतस्य नरस्येव ह्यार्यबुद्धेस्तपस्विनः ॥ २ ॥
कः कस्य पुरुषो बन्धुः किमाप्यं कस्य केनचित् ।
एको हि जायते जन्तुरेक एव विनश्यति ॥ ३ ॥
तस्मान्माता पिता चेति राम सज्जेत यो नरः ।
उन्मत्त इव स ज्ञेयो नास्ति कश्चिद्धि कस्यचित् ॥ ४ ॥
यथा ग्रामान्तरं गच्छन् नरः कश्चिद् बहिर्वसेत् ।
उत्सृज्य च तमावासं प्रतिष्ठेतापरेऽहनि ॥ ५ ॥
एवमेव मनुष्याणां पिता माता गृहं वसु ।
आवासमात्रं काकुत्स्थ सज्जन्ते नात्र सज्जनाः ॥ ६ ॥
पित्र्यं राज्यं समुत्सृज्य स नार्हसि नरोत्तम ।
आस्थातुं कापथं दुःखं विषमं बहुकण्टकम् ॥ ७ ॥

और वीर! मैं सीता, लक्ष्मण को सँग में ले करके निश्चित।
बहुत शीघ्र ही दण्डक वन में होऊँगा स्वेच्छा से प्रविशित॥ १६॥
भरत! बनो तुम स्वयं मनुष्यों के निश्चय नृपसत्तम
और बनूं मैं इन वन-पशुओं का सम्राट् समुत्तम।
अब तुम अतिशय हर्ष-समन्वित श्रेष्ठ नगर में जाओ
मैं भी प्रमुदित दण्डक जाने का कर रहा उपक्रम॥ १७॥
सूर्य-प्रभा को जो कि छिपाता भरत! छत्र अति सुन्दर
शीतल छाया करे, तुम्हारे वह सदैव मस्तक पर।
मैं भी इन वन के वृक्षों की बहुत घनी छाया का
आश्रय लूँगा, बहुत शीघ्र ही धीरे-धीरे चलकर॥ १८॥
भरत! तुम्हारे बनें, अतुलमति ये शत्रुघ्न सहायक
हों मेरे सौमित्रि मित्र बन नित साहाय्य-प्रदायक।
तुम विषाद मत करो हम सभी चारों पुत्र, पिता नृप
के सत्यव्रत की रक्षा में, सिद्ध हो सकें लायक॥ १९॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में एक सौ सातवाँ सर्ग समाप्त॥ १०७॥

एक सौ आठवाँ सर्ग

जाबालि का नास्तिकों के मत का अवलम्बन करके श्रीराम को समझाना।

राम धर्मविद् समझाते थे जब कि भरत को यह विचार कर।
बोले धर्म-विरुद्ध बात तब, श्री जाबालि वहाँ, ब्राह्मणवर॥ १॥
ठीक कह रहे आप! किन्तु हैं आप सुधी तपसी रघुनन्दन?।
अतः अज्ञ-सम[1], व्यर्थ-विचारों में न चाहिए ले जायें! मन॥ २॥
किससे किसको क्या पाना है? किसका कौन बन्धु है जग में?।
जीव अकेला आता-जाता, जन्म-नाश दोनों ही मग में॥ ३॥
अतः राम! जो मात-पिता को मान, हुआ है उनमें रत-मन[2]।
यहाँ न कुछ है किसी व्यक्ति का, इससे यह सब है पागलपन॥ ४॥
ग्रामान्तर जाने में, निशि में जन कैसे पथ में बस जाता।
और अन्य दिन उसे छोड़कर, फिर प्रस्थित हो[3] पथ अपनाता॥ ५॥
हैं मनुष्य-आवास मात्र सब वैसे माता, पिता, गेह, धन।
इनमें सज्जन कभी न करते, हैं काकुत्स्थ! सक्त[4] अपना मन॥ ६॥
अतः नृवर! निज पिता-राज्य को छोड़ कण्टकाकीर्ण दुःखमय।
कुत्सित, विषम, विपिन-पथ पर है चलना तुम्हें न समुचित निश्चय॥ ७॥

1 अज्ञानियों के समान; 2 निमग्न; 3 रवाना होकर; 4 आसक्त।

समृद्धायामयोध्यायामात्मानमभिषेचय ।
एकवेणीधरा हि त्वा नगरी सम्प्रतीक्षते ॥ ८ ॥

राजभोगाननुभवन् महार्हान् पार्थिवात्मज ।
विहर त्वमयोध्यायां यथा शक्रस्त्रिविष्टपे ॥ ९ ॥

न ते कश्चिद् दशरथस्त्वं च तस्य न कश्चन ।
अन्यो राजा त्वमन्यस्तु तस्मात् कुरु यदुच्यते ॥ १० ॥

बीजमात्रं पिता जन्तोः शुक्रं शोणितमेव च ।
संयुक्तमृतुमन्मात्रा पुरुषस्येह जन्म तत् ॥ ११ ॥

गतः स नृपतिस्तत्र गन्तव्यं यत्र तेन वै ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां त्वं तु मिथ्या विहन्यसे ॥ १२ ॥

अर्थधर्मपरा ये ये तांस्ताञ्शोचामि नेतरान् ।
ते हि दुःखमिह प्राप्य विनाशं प्रेत्य लेभिरे ॥ १३ ॥

अष्टकापितृदेवत्यमित्ययं प्रसृतो जनः ।
अन्नस्योपद्रवं पश्य मृतो हि किमशिष्यति ॥ १४ ॥

यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति ।
दद्यात् प्रवसतां श्राद्धं न तत् पथ्यशनं भवेत् ॥ १५ ॥

दानसंवनना ह्येते ग्रन्था मेधाविभिः कृताः ।
यजस्व देहि दीक्षस्व तपस्तप्यस्व संत्यज ॥ १६ ॥

स नास्ति परमित्येतत् कुरु बुद्धिं महामते ।
प्रत्यक्षं यत् तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु ॥ १७ ॥

सतां बुद्धिं पुरस्कृत्य सर्वलोकनिदर्शिनीम् ।
राज्यं स त्वं निगृह्णीष्व भरतेन प्रसादितः ॥ १८ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टाधिकशततमः सर्गः ॥१०८॥

नवाधिकशततमः सर्गः

श्रीराम के द्वारा जाबालि के नास्तिक मत का खण्डन करके आस्तिक मत का स्थापन

जाबालेस्तु वचः श्रुत्वा रामः सत्यपराक्रमः ।
उवाच परया सूक्त्या बुद्ध्याविप्रतिपन्नया ॥ १ ॥

आप! समृद्ध अयोध्या-नृप-पद-अभिषिञ्चन करवायें उत्तम।
वह वेणी रख एक, प्रतीक्षा करती पुरी, आपकी स्त्री-सम॥ ८॥
स्वर्गस्थित देवेन्द्र-सदृश ही आप अयोध्या में अब रहकर।
उन बहुमूल्य राज्य-भोगों का अनुभव कर, विहरें नृप-सुतवर!॥ ९॥
दशरथ के हैं आप न कोई, वे न आपके थे कोई तब।
नृपति अन्य थे, आप अन्य हैं, करें! वही, जो मैं कहता अब॥ १०॥
पिता-शुक्र, ऋतुमति माता-रज-योग पुरुष को है जन्माता।
जीव जन्म में यहाँ पिता तो, बस निमित्त कारण कहलाता॥ ११॥
गये, जहाँ जाना था नृप को, यह स्वाभाविक है प्राणिस्थिति[1]।
तो क्यों आप व्यर्थ में मारे जाते, आती तथा बुद्धि में विकृति[2]॥ १२॥
जो-जो धार्मिक हुए, अर्थ[3] तज, उन-उनके प्रति मैं हूँ शोकित।
धर्म-नाम पर वे तो जग में दुःख भोगकर हुए तिरोहित[4]॥ १३॥
अष्टकादि[5] श्राद्धान्न-दान है, पितरों को मिलता यह कहकर।
देखो! अन्न नष्ट कर देते, जन क्या खाता कोई मरकर?॥ १४॥
अन्य भुक्त[6], यदि अन्न अन्य की काया में होता हो प्रविशित।
तो न पथिक[7] को फिर पथान्न दे, उसके हेतु श्राद्ध है समुचित॥ १५॥
देव-यज्ञ-दीक्षा, पूजन, तप, करने को कहते, सब तजकर।
जो, वे ग्रन्थ, बुद्धिमानों के हैं सब दान-हेतु रचना भर[8] १६॥
महामते! इस लोक के सिवा, अन्य लोक है नहीं कहीं पर।
इससे लो! प्रत्यक्ष भोग को, उस परोक्ष को तुम पीछे कर॥ १७॥
जग को राह दिखानेवाली जो है सज्जन-बुद्धि-प्रमाणित।
उसे मान, भरतानुरोध से करो अयोध्या-शासन स्वीकृत॥ १८॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
एक सौ आठवाँ सर्ग समाप्त॥ १०८॥

एक सौ नौवाँ सर्ग

श्रीराम के द्वारा जाबालि के नास्तिक मत का खण्डन करके आस्तिक मत का स्थापन

सत्य-पराक्रम राम, इस तरह ऋषि जाबालि-वचन को सुनकर।
बोले संशय-हीन बुद्धि से शास्त्र-सूक्ति-युत[9] वचन उच्चतर॥ १॥

---

१ प्राणियों की स्थिति; २ विकार; ३ धन; ४ विनष्ट; ५ अष्टका आदि श्राद्ध; ६ दूसरे का खाया हुआ; ७ यात्री, राहगीर; ८ केवल गढ़न्त है दान प्राप्त करने के लिए; ९ वेद-शास्त्र-सम्मत।

भवान् मे प्रियकामार्थं वचनं यदिहोक्तवान् ।
अकार्यं कार्यसंकाशमपथ्यं पथ्यसंनिभम् ॥ २ ॥
निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः ।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः ॥ ३ ॥
कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम् ।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाशुचिम् ॥ ४ ॥
अनार्यस्त्वार्यसंस्थानः शौचाद्धीनस्तथा शुचिः ।
लक्षण्यवदलक्षण्यो दुःशीलः शीलवानिव ॥ ५ ॥
अधर्मं धर्मवेषेण यद्यहं लोकसंकरम् ।
अभिपत्स्ये शुभं हित्वा क्रियां विधिविवर्जिताम् ॥ ६ ॥
कश्चेतयानः पुरुषः कार्याकार्यविचक्षणः ।
बहु मन्येत मां लोके दुर्वृत्तं लोकदूषणम् ॥ ७ ॥
कस्य यास्याम्यहं वृत्तं केन वा स्वर्गमाप्नुयाम् ।
अनया वर्तमानोऽहं वृत्त्या हीनप्रतिज्ञया ॥ ८ ॥
कामवृत्तोऽन्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते ।
यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः ॥ ९ ॥
सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम् ।
तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः ॥ १० ॥
ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे ।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम् ॥ ११ ॥
उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः ।
धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते ॥ १२ ॥
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥ १३ ॥
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च ।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात् सत्यपरो भवेत् ॥ १४ ॥
एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम् ।
मज्जत्येको हि निरय एकः स्वर्गे महीयते ॥ १५ ॥
सोऽहं पितुर्निदेशं तु किमर्थं नानुपालये ।
सत्यप्रतिश्रवः सत्यं सत्येन समयीकृतम् ॥ १६ ॥

मेरे प्रिय हित बात आपकी, अकरणीय[1], करणीय[2] दिखाती।
वह दिखने में है सुपथ्य, पर है अपथ्य की स्थिति में आती ॥ २ ॥
मर्यादा से रहित व्यक्ति हैं होते पापाचार-समन्वित।
ऐसे भिन्नाचार विचारक होते नहीं सुजन से मानित ॥ ३ ॥
है कुलीन, अकुलीन, वीर है कौन भीरु, आचरण बताता।
है अपवित्र - पवित्र कौन, आचरण मात्र ही है बतलाता ॥ ४ ॥
तव पथ-पथिक[3] यदपि दिखता है आर्य, सुशील, पवित्र, सुलक्षण।
किन्तु अनार्य, कुशील, कुलक्षण अन्तस् से[4] अपवित्र प्रतिक्षण ॥ ५ ॥
धर्म-वेष में यह अधर्म है और वर्णसंकर जग-कारक।
यदि मैं वैदिक कर्म त्याग शुभ, हो जाऊँ इसका ही धारक ॥ ६ ॥
मुझको कार्याकार्य - विचारक[5] देंगे मान लोग कैसे फिर।
तब तो दुष्टाचारि, कलंकित हो जाऊँगा मैं जग में स्थिर ॥ ७ ॥
होकर भ्रष्ट-प्रतिज्ञ, किस तरह स्वर्ग-प्राप्ति मैं कर पाऊँगा।
नहीं किसी का कोई, तो किसका निदेश मैं अपनाऊँगा ? ॥ ८ ॥
ऐसे स्वेच्छाचारी तब मैं होऊँगा, फिर यह जग सारा।
क्योंकि नृपति के आचरणों का ही तो लेती प्रजा सहारा ॥ ९ ॥
नृप का दया प्रधान धर्म है सत्य सनातन सदाचारि नित।
अतः राज्य सत्यस्वरूप है, यह जग भी है सत्य-प्रतिष्ठित ॥ १० ॥
ऋषियों, देवों ने सदैव ही किया सत्य का अतिशय आदर।
जग में सत्यवादि जन अक्षय परमधाम जाता निश्चयकर ॥ ११ ॥
झूठ बोलनेवाले से सब सर्प-सदृश डरते हैं प्रतिक्षण।
जग में सत्य धर्म-आत्मा है एवं सबका मूल विलक्षण ॥ १२ ॥
जग में धर्माधार[6] सत्य है सबकी जड़ एवं परमेश्वर।
नहीं परमपद भी है कोई निश्चय कहीं सत्य से बढ़कर ॥ १३ ॥
दान, यज्ञ, तप, होम, वेद का है सु-सत्य आधार सर्वथा।
अतः चाहिए सत्यपरायण होना सबको छोड़कर व्यथा[7] ॥ १४ ॥
करता एक पुरुष जग-पालन तथा एक निज कुल का पालक।
एक स्वर्ग में होता संस्थित, करता एक नरक-प्रक्षालन ॥ १५ ॥
सत्यव्रत मैं, सत्य-शपथ खा, जब हूँ सत्य पालने में स्थिर।
तब उस अपने पितादेश[8] का पालन क्यों न करूँ कैसे फिर ? ॥ १६ ॥

---

१ करने योग्य न होकर भी; २ करने योग्य दिखती है; ३ आपके पथ पर चलनेवाला; ४ भीतर से अर्थात् वस्तुतः; ५ कर्तव्य-अकर्तव्य का मर्म जाननेवाले; ६ धर्म का आधार; ७ चिन्ता; ८ पिता की आज्ञा।

नैव लोभान्न मोहाद् वा न चाज्ञानात् तमोऽन्वितः।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः॥ १७॥
असत्यसंधस्य सतश्चलस्यास्थिरचेतसः।
नैव देवा न पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम्॥ १८॥
प्रत्यगात्ममिमं धर्मं सत्यं पश्याम्यहं ध्रुवम्।
भारः सत्पुरुषैश्चीर्णस्तदर्थमभिनन्द्यते॥ १९॥
क्षात्रं धर्ममहं त्यक्ष्ये ह्यधर्मं धर्मसंहितम्।
क्षुद्रैर्नृशंसैर्लुब्धैश्च सेवितं पापकर्मभिः॥ २०॥
कायेन कुरुते पापं मनसा सम्प्रधार्य तत्।
अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम्॥ २१॥
भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि।
सत्यं समनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत् ततः॥ २२॥
श्रेष्ठं ह्यनार्यमेव स्याद् यद् भवानवधार्य माम्।
आह युक्तिकरैर्वाक्यैरिदं भद्रं कुरुष्व ह॥ २३॥
कथं ह्यहं प्रतिज्ञाय वनवासमिमं गुरोः।
भरतस्य करिष्यामि वचो हित्वा गुरोर्वचः॥ २४॥
स्थिरा मया प्रतिज्ञाता प्रतिज्ञा गुरुसंनिधौ।
प्रहृष्टमानसा देवी कैकेयी चाभवत् तदा॥ २५॥
वनवासं वसन्नेव शुचिर्नियतभोजनः।
मूलपुष्पफलैः पुण्यैः पितॄन् देवांश्च तर्पयन्॥ २६॥
संतुष्टपञ्चवर्गोऽहं लोकयात्रां प्रवाहये।
अकुहः श्रद्दधानः सन् कार्याकार्यविचक्षणः॥ २७॥
कर्मभूमिमिमां प्राप्य कर्तव्यं कर्म यच्छुभम्।
अग्निर्वायुश्च सोमश्च कर्मणां फलभागिनः॥ २८॥
शतं क्रतूनामाहृत्य देवराट् त्रिदिवं गतः।
तपांस्युग्राणि चास्थाय दिवं प्राप्ता महर्षयः॥ २९॥
अमृष्यमाणः पुनरुग्रतेजा
निशम्य तन्नास्तिकवाक्यहेतुम्।

सत्यव्रत मैं अब न लोभ-वश, होकर मोहाज्ञान-तमान्वित[1]।
पिता-सत्य-मर्यादा-सीमा को न करूँगा द्विजवर! खण्डित ॥ १७ ॥
मैंने सुना, प्रतिज्ञा मिथ्या कर, नर होता धर्म-विवर्जित[2]।
अस्थिरमन[3] की नहीं सुर-पितर-दत्त वस्तुएँ करते स्वीकृत ॥ १८ ॥
सत्य धर्म को सभी प्राणियों के हित श्रेष्ठ समझना निश्चित।
वल्कल-धारण कर सत्पुरुषों ने है किया इसे अभिनन्दित ॥ १९ ॥
धर्म-रूप[4] में, पापी, लोभी, नीच, क्रूर लोगों से सेवित।
ऐसा क्षात्र-धर्म त्यागूँगा, करे प्रतिज्ञा को जो खण्डित ॥ २० ॥
क्रमशः मन, जिह्वा, शरीर से, सोच और कह, करके जन नित।
है मनसा, वाचा, शरीर इन तीन भाँति से पापी निश्चित[5] ॥ २१ ॥
पृथ्वी, लक्ष्मी, कीर्ति और यश, चहते[6] सत्यवादि को पाना।
सत्य सेव्य है, अतः सत्य को सदा सज्जनों ने है माना ॥ २२ ॥
जो अनुचित को उचित सिद्धकर धर्म आपने मुझे बताया।
वह अ-श्रेष्ठ बस श्रेष्ठ भाँति है सज्जन-त्याज्य[7] समझ में आया ॥ २३ ॥
पिता-समीप, विपिन में रहने की कर चुका प्रतिज्ञा मैं जब।
तो उनकी आज्ञोल्लंघन कर, भरत-बात को मानूँगा कब? ॥ २४ ॥
गुरु समीप कृत अटल प्रतिज्ञा का न हो सकेगा अब खण्डन।
तथा प्रतिज्ञा-समय हुआ था कैकेयी का अति प्रसन्न मन ॥ २५ ॥
व्रत पालूँगा, वन में रहकर, मैं पवित्र भोजन कर नियमित।
तृप्त करूँगा सुर-पितरों को पुण्य मूल-फल पुष्पों से नित ॥ २६ ॥
मैं कार्याकार्यज्ञ[8] मूल-फल से पञ्चेन्द्रिय को कर तोषित।
हो निश्छल श्रद्धालु करूँगा लौकिक यात्रा सफल तथोचित ॥ २७ ॥
है कर्तव्य, कर्म शुभ करना, इस सुकर्म की भू को पाकर।
क्योंकि कर्म से वायु-अग्नि-शशि सुस्थित हुए स्वपद पर आकर ॥ २८ ॥
करके शतमख[9], देवराज भी प्राप्त कर सके दिव्य स्वर्ग-सुख।
करके उग्र तपस्या पहुँचे हैं दिव्यस्थल महाऋषि प्रमुख ॥ २९ ॥

सुन करके जाबालि-वचन वे नास्तिकता से संयुत
सह न सके, वे उग्र तेजधर राम उस समय नृप-सुत।

---

१ मोह और अज्ञान रूपी अन्धकार से ढका हुआ; २ धर्म से वञ्चित; ३ चंचल चित्तवाला; ४ केवल देखने में धर्म प्रतीत होनेवाला अधर्म; ५ मनुष्य पाप के पहले मन में सोचकर फिर दूसरों से कहकर या सहायता लेकर, फिर उसको करता है। मनसा, वाचा, कर्मणा—तीन प्रकार के पाप हैं; ६ ये सब पसन्द करते हैं (सत्यवादी ही को); ७ भले लोगों के द्वारा त्यागने योग्य; ८ करने, न करने योग्य; ९ सौ यज्ञ।

अथाब्रवीत् तं नृपतेस्तनूजो
विगर्हमाणो वचनानि तस्य ॥ ३० ॥
सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च ।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥ ३१ ॥
तेनैवमाज्ञाय यथावदर्थ-
मेकोदयं सम्प्रतिपद्य विप्राः ।
धर्मं चरन्तः सकलं यथावत्
काङ्क्षन्ति लोकागममप्रमत्ताः ॥ ३२ ॥
निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्
यस्त्वामगृह्णाद् विषमस्थबुद्धिम् ।
बुद्ध्यानयैवंविधया चरन्तं
सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम् ॥ ३३ ॥
यथा हि चोरः स तथा हि बुद्ध-
स्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि ।
तस्माद्धि यः शक्यतमः प्रजानां
स नास्तिके नाभिमुखो बुधः स्यात् ॥ ३४ ॥
त्वत्तो जनाः पूर्वतरे द्विजाश्च
शुभानि कर्माणि बहूनि चक्रुः ।
छित्त्वा सदेमं च परं च लोकं
तस्माद् द्विजाः स्वस्ति कृतं हुतं च ॥ ३५ ॥
धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेता-
स्तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः ।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके
भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः ॥ ३६ ॥
इति ब्रुवन्तं वचनं सरोषं
रामं महात्मानमदीनसत्त्वम् ।
उवाच पथ्यं पुनरास्तिकं च
सत्यं वचः सानुनयं च विप्रः ॥ ३७ ॥

फिर परलोकस्थिति खण्डन की निन्दा में हो तत्पर
बोले, द्विजवर से उत्तर में, सुधी, वचन शुभ श्रुति-श्रुत[1] ।। ३० ।।

सत्यपराक्रम धर्म-भाव रख, कहना सबसे सुवचन
प्राणिमात्र पर दया, देवता, विप्रगणों का पूजन।
और अतिथि का स्वागत करना इन सबको ही जग में
स्वर्गलोक का मार्ग बताते, सभी महात्मा सज्जन ।। ३१ ।।

सत्पुरुषों का वचन मानकर धर्म-रूप का ज्ञाता
युक्त तर्क से जो यथार्थ का निर्णय है कर पाता।
ऐसा सावधान द्विज विधिवत धर्माचरण निभाकर
उत्तम लोकों के पाने में शीघ्र सफल हो जाता ।। ३२ ।।

वेद-विरुद्ध-मार्ग-आश्रित है बुद्धि आपकी कुत्सित[2]
अतिशय नास्तिक आप धर्म के पथ से हैं दूरस्थित[3]।
इस मति के पाखण्ड-प्रचारक को जो पूज्य पिता ने
याजक-पद दे दिया, सदा है वह मुझसे अति निन्दित ।। ३३ ।।

चोर-सदृश ही वुद्धि-दण्ड्य हैं, सब नास्तिक भी वैसे
प्रजानुग्रही नृप न दण्ड दे, उन्हें भला फिर कैसे ?।
किन्तु दण्ड देने के वश से जो बाहर हों नास्तिक
उससे द्विज विद्वान न वार्ता करे कभी भी ऐसे ।। ३४ ।।

लोक और परलोक-फलों की कभी न इच्छा रखकर
छोड़ आपको, अन्य सभी वे पूर्व समय के द्विजवर।
वेद-धर्म को समझ, अहिंसा यागादिक कर्मों को
करते रहे और करते हैं विधिवत समय-समय पर ।। ३५ ।।

करते सज्जन-संग, धर्म में हो करके जो तत्पर
हिंसा-रहित, सर्वथा जो हैं ज्ञान-गुणों के आकर।
एवं मल-संसर्ग-रहित जो पूर्णतया तेजस्वी
ऐसे मुनि हैं इस जगती में पूजा-योग्य महत्तर ।। ३६ ।।

दैन्य-हीन हो राम महात्मा, रोष हृदय में भरकर
इस प्रकार जब बोले, तब वे उसी समय ब्राह्मणवर।
अति विनम्र हो, आस्तिकता से युक्त सत्य से पूरित
बोले वचन, सर्वथा जो थे सुन्दर एवं हितकर ।। ३७ ।।

---

१ वेद-सम्मत; २ दूषित; ३ दूर हैं।

न नास्तिकानां वचनं ब्रवीम्यहं
न नास्तिकोऽहं न च नास्ति किंचन।
समीक्ष्य कालं पुनरास्तिकोऽभवं
भवेय काले पुनरेव नास्तिकः॥ ३८॥
स चापि कालोऽयमुपागतः शनै-
र्यथा मया नास्तिकवागुदीरिता।
निवर्तनार्थं तव राम कारणात्
प्रसादनार्थं च मयैतदीरितम्॥ ३९॥
॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवाधिकशततमः सर्गः॥१०९॥

दशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ जी का सृष्टिपरम्परा के साथ इक्ष्वाकुकुल की परम्परा बताकर ज्येष्ठ के ही राज्याभिषेक का औचित्य सिद्ध करना और श्रीराम से राज्य ग्रहण करने के लिए कहना

क्रुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह।
जाबालिरपि जानीते लोकस्यास्य गतागतिम्॥ १॥
निवर्तयितुकामस्तु त्वामेतद् वाक्यमब्रवीत्।
इमां लोकसमुत्पत्तिं लोकनाथ निबोध मे॥ २॥
सर्वं सलिलमेवासीत् पृथिवी तत्र निर्मिता।
ततः समभवद् ब्रह्मा स्वयंभूर्दैवतैः सह॥ ३॥
स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुंधराम्।
असृजच्च जगत् सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः॥ ४॥
आकाशप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः।
तस्मान्मरीचिः संजज्ञे मरीचेः कश्यपः सुतः॥ ५॥
विवस्वान् कश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः स्वयम्।
स तु प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुस्तु मनोः सुतः॥ ६॥
यस्येयं प्रथमं दत्ता समृद्धा मनुना मही।
तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम्॥ ७॥
इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान् कुक्षिरित्येव विश्रुतः।
कुक्षेरथात्मजो वीरो विकुक्षिरुदपद्यत॥ ८॥
विकुक्षेस्तु महातेजा बाणः पुत्रः प्रतापवान्।
बाणस्य च महाबाहुरनरण्यो महातपाः॥ ९॥

मैं नास्तिक हूँ नहीं, न करता वार्ता नास्तिक जैसी
परलोकादि नहीं हैं कहने की स्थिति ही थी ऐसी।
मैं आस्तिक हो गया, राम ! फिर हो सकता हूँ नास्तिक
मैं तो केवल यही देखता, हुई परिस्थिति कैसी ?॥ ३८ ॥
की बातें नास्तिक-सी मैंने, ऐसा ही था अवसर
चाह रहा था, भरत-वचन हो किसी भाँति से रुचिकर।
मेरा था उद्देश्य, आपका होवे राम ! अनुग्रह
और अयोध्या चलने को हों आप शीघ्र ही तत्पर॥ ३९ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
एक सौ नौवाँ सर्ग समाप्त ॥ १०९ ॥

एक सौ दसवाँ सर्ग

वसिष्ठ जी का सृष्टिपरम्परा के साथ इक्ष्वाकुकुल की परम्परा बताकर ज्येष्ठ के ही राज्याभिषेक का औचित्य सिद्ध करना और श्रीराम से राज्य ग्रहण करने के लिए कहना

देख राम को कुपित महाऋषि श्री वसिष्ठ बोले, रघुनन्दन !।
जान रहे जाबालि, लोक से होता है परलोक को गमन॥ १ ॥
तुम्हें यहाँ से लौटाने को कहे इन्होंने सभी ये वचन।
लोकपते ! तुम सुनो ! कर रहा मैं अब लोकोत्पत्ति-विवर्णन॥ २ ॥
पहले सभी ओर था जल ही, फिर यह हुई धरित्री-निर्मित।
फिर देवों के साथ स्वयंभू ब्रह्मा हुए वहाँ पर प्रकटित॥ ३ ॥
जल से बाहर किया धरणि को ब्रह्मा ने वराह बनकर फिर।
और आत्मकृत[1] पुत्रों के सँग निर्मित की जग-सृष्टि यह रुचिर॥ ४ ॥
प्रकट हुए नभ से ब्रह्मा जो हैं अविनाशी नित्य सनातन।
उनसे हुए मरीचि, मरीचिज[2] हैं श्री कश्यप परम सन्त जन॥ ५ ॥
कश्यप-सुत श्री विवस्वान हैं, विवस्वान-सुत हैं वैवस्वत।
वे ही प्रथम प्रजापति मनु थे, थे मनु-सुत इक्ष्वाकु सत्यव्रत॥ ६ ॥
मनु ने जिन्हें समृद्धा भू का शासन सौंपा पूर्व में प्रथम।
समझो उन इक्ष्वाकु भूप को प्रथम अयोध्या का नृप उत्तम॥ ७ ॥
इक्ष्वाकुज[3] श्रीमान कुक्षि इस श्रेष्ठ नाम से थे जग-विश्रुत।
तथा कुक्षि के परम वीर थे, श्री विकुक्षि ही अति उत्तम सुत॥ ८ ॥
उन विकुक्षि के महाप्रतापी पुत्र हुए थे वाण, और फिर।
वाण-पुत्र अनरण्य महाभुज तप करने में रहते थे स्थिर॥ ९ ॥

---

१ अपने ही द्वारा उत्पन्न; २ मरीचि से उत्पन्न; ३ इक्ष्वाकु के पुत्र।

नानावृष्टिर्बभूवास्मिन् न दुर्भिक्षः सतां वरे ।
अनरण्ये महाराजे तस्करो वापि कश्चन ॥ १० ॥
अनरण्यान्महाराज पृथू राजा बभूव ह ।
तस्मात् पृथोर्महातेजास्त्रिशङ्कुरुदपद्यत ॥ ११ ॥
स सत्यवचनाद् वीरः सशरीरो दिवं गतः ।
त्रिशङ्कोरभवत् सूनुर्धुन्धुमारो महायशाः ॥ १२ ॥
धुन्धुमारान्महातेजा युवनाश्वो व्यजायत ।
युवनाश्वसुतः श्रीमान् मान्धाता समपद्यत ॥ १३ ॥
मान्धातुस्तु महातेजाः सुसंधिरुदपद्यत ।
सुसंधेरपि पुत्रौ द्वौ ध्रुवसंधिः प्रसेनजित् ॥ १४ ॥
यशस्वी ध्रुवसंधेस्तु भरतो रिपुसूदनः ।
भरतात् तु महाबाहोरसितो नाम जायत ॥ १५ ॥
यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः ।
हैहयास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशबिन्दवः ॥ १६ ॥
तांस्तु सर्वान् प्रतिव्यूह्य युद्धे राजा प्रवासितः ।
स च शैलवरे रम्ये बभूवाभिरतो मुनिः ॥ १७ ॥
द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतिः ।
तत्र चैका महाभागा भार्गवं देववर्चसम् ॥ १८ ॥
ववन्दे पद्मपत्राक्षी काङ्क्षिणी पुत्रमुत्तमम् ।
एका गर्भविनाशाय सपत्न्यै गरलं ददौ ॥ १९ ॥
भार्गवश्च्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः ।
तमृषिं साभ्युपागम्य कालिन्दी त्वभ्यवादयत् ॥ २० ॥
स तामभ्यवदत् प्रीतो वरेप्सुं पुत्रजन्मनि ।
पुत्रस्ते भविता देवि महात्मा लोकविश्रुतः ॥ २१ ॥
धार्मिकश्च सुभीमश्च वंशकर्तारिसूदनः ।
श्रुत्वा प्रदक्षिणं कृत्वा मुनिं तमनुमान्य च ॥ २२ ॥
पद्मपत्रसमानाक्षं पद्मगर्भसमप्रभम् ।
ततः सा गृहमागम्य पत्नी पुत्रमजायत ॥ २३ ॥
सपत्न्या तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया ।
गरेण सह तेनैव तस्मात् स सगरोऽभवत् ॥ २४ ॥

सत्पुरुषों में श्रेष्ठ नृपतिवर उन अनरण्य-राज्य-अवसर में।
अनावृष्टि दुर्भिक्ष न होते थे, न चोर होते थे घर में॥ १० ॥
महाराज अनरण्य-पुत्र फिर हुए उस समय पृथु भूपतिवर।
उन पृथु के अतिशय तेजस्वी पुत्र त्रिशंकु हुए अवनीश्वर॥ ११ ॥
स्वर्ग गये स-शरीर वीर ये होकर कौशिक-सत्य-प्रभावित[1]।
इन त्रिशंकु के धुन्धुमार थे पुत्र, महायश उत्तम निश्चित॥ १२ ॥
धुन्धुमार से अति तेजस्वी जन्मे थे युवनाश्व नृपतिवर।
थे युवनाश्व-पुत्र मान्धाता तब श्रीमान प्रवर पृथ्वी पर॥ १३ ॥
मान्धाता के अति तेजस्वी पुत्र सुसन्धि हुए जग-विश्रुत।
थे ध्रुवसन्ध तथा प्रसेनजित मान्धाता के दो सुन्दर सुत॥ १४ ॥
थे ध्रुवसन्धि-पुत्र रिपुसूदन महायशस्वी भरत नृपतिवर।
तथा भरत के असित पुत्र थे प्रकटे जग में महा बाहुवर॥ १५ ॥
जिसके प्रतिपक्षी[2] हैहय थे तालजंघ, शशबिन्दु वीरवर।
और असित से रण करने को सभी समय रहते थे तत्पर॥ १६ ॥
उनसे व्यूहयुद्ध करके भी असित पराजित गये अन्य स्थल।
चिन्तन करने लगे ईश का रम्य शैल पर, हो ये निर्मल॥ १७ ॥
गर्भवती थीं असित-पत्नियाँ दो, तब ऐसी ही है जन-श्रुति।
उनमें एक महाभागा ने ऋषिप्रवर भार्गव देवद्युति॥ १८ ॥
के समीप जा, कमललोचना ने याञ्चा की, सुत हो सुन्दर।
तभी सौत ने गर्भ-नाश हित उसे दे दिया तथा तब जहर॥ १९ ॥
करते थे उन दिनों तपस्या हिमगिरि पर भृगुवंशि ये च्यवन।
असितप्रिया कालिन्दी ने तब जाकर किया च्यवन का वन्दन॥ २० ॥
सुतोत्पत्ति-वर-इच्छुक रानी से बोले मुनि होकर प्रमुदित।
देवि! पुत्र तुम प्राप्त करोगी, परम महात्मा तथा जग-विदित॥ २१ ॥
धार्मिक, रिपुहित भीम वंशकर रिपुसंहारक परम विलक्षण।
यह सुन, मुनि की परिक्रमा कर, छूकर उनके पूज्यतम चरण॥ २२ ॥
गृह आ करके कमल-दल-नयन पद्मगर्भ-द्युति[3] सम शुभद्युतिधर[4]।
सुत को जन्म दिया रानी ने जो था सुन्दर तथा मनोहर॥ २३ ॥
गर्भ-नाश के लिए सौत ने जो कि उसे था दिया प्रथम गर[5]।
उससे युक्त पुत्र वह जन्मा इससे उसका नाम था सगर[6]॥ २४ ॥

१ विश्वामित्र के सत्य-प्रभाव से; २ विरोधी; ३ कमल के भीतरी भाग के समान ज्योतिर्मय; ४ प्रकाशवाला; ५ विष; ६ विषयुक्त (स+गर)।

[illegible] नाम [illegible] [illegible]मानम् ।
[illegible] आगतान् [illegible] ॥ २५ ॥
[illegible] नामेति [illegible] श्रुतम् ।
[illegible] निरतः पापकर्मसु ॥ २६ ॥
[illegible] वीर्यवान् ।
[illegible] भगीरथः ॥ २७ ॥
[illegible] येन तु [illegible] ।
[illegible] राघवः ॥ २८ ॥
[illegible] पुत्रः [illegible] ।
[illegible] प्रथितो भुवि ॥ २९ ॥
[illegible] नः श्रुतम् ।
[illegible] ॥ ३० ॥
[illegible] श्रीमान् सुदर्शनः ।
[illegible] ॥ ३१ ॥
[illegible] पुत्रो [illegible] ।
[illegible] महामतिः ॥ ३२ ॥
[illegible] ।
[illegible] परमधार्मिकः ॥ ३३ ॥
[illegible] ।
[illegible] राजा [illegible] सुतः ॥ ३४ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ३५ ॥
[illegible] राजा [illegible] ।
[illegible] पुत्रो [illegible] ॥ ३६ ॥
[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥ ३७ ॥

[illegible]

पर्व-समय, मख-दीक्षा[1] लेकर, पुत्रों द्वारा खनन[2] समय पर।
था खुदवाया सिन्धु इन्होंने जो था प्रजा जनों को भयकर ॥ २५ ॥
सगर पुत्र असमञ्ज हुए जो, वे थे पापी परम वहाँ पर।
अतः पिता ने जीते जी ही, किया राज्य से उनको बाहर ॥ २६ ॥
अंशुमान असमञ्ज-पुत्र थे हुए पराक्रम से अति संयुत।
अंशुमान-सुत नृप दिलीप थे, उनके हुए भगीरथ फिर सुत ॥ २७ ॥
नृपति भगीरथ-सुत ककुत्स्थ थे अतः वंश काकुत्स्थ कहाता।
फिर ककुत्स्थ-सुत, रघु-वंशज को राघव सदा कहा है जाता ॥ २८ ॥
रघु तेजस्वी-सुत नरभक्षी थे कल्माषपाद राक्षसवर।
वे ही तो सौदास नाम से थे विख्यात यहाँ भूतल पर ॥ २९ ॥
सुनते हैं कल्माषपाद-सुत शंखण में था विक्रम अतुलित।
नष्ट हुए थे वे प्रसिद्धतम रण में अपनी सैन्य के सहित ॥ ३० ॥
शंखण के सुत शूर और अति थे श्रीमान सुदर्शन अद्भुत।
अग्निवर्ण थे पुत्र-सुदर्शन एवं शीघ्रग अग्निवर्ण-सुत ॥ ३१ ॥
शीघ्रग के सुत मरु थे, मरुज[3] प्रशुश्रुव सुत थे जग में बिश्रुत।
सुवन-प्रशुश्रुव बुद्धिमान अति अम्बरीष विख्यात योग्य सुत ॥ ३२ ॥
अम्बरीष के पुत्र नहुष थे, वे थे सत्यपराक्रमि अतिशय।
नहुष पुत्र नाभाग हुए फिर वे थे धर्मात्मावर निश्चय ॥ ३३ ॥
दो सुत थे नाभाग नृपति के अज एवं सुव्रत भूपतिवर।
अज के ही धर्मात्मा सुत थे महाराज दशरथ धरणीधर ॥ ३४ ॥
दशरथ के हो ज्येष्ठ पुत्र तुम राम नाम से जग में विश्रुत।
इससे राज्य तुम्हारा है नृप! इसको देखो, पालो मतियुत! ॥ ३५ ॥
ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकुवंशियों का पाता आया राज्यासन।
ज्येष्ठ पुत्र के होते, होता नहीं अनुज का नृप-पद-सिञ्चन ॥ ३६ ॥

परम यशस्वी राम! यही है रघुकुल-धर्म सनातन
उसको नष्ट करो मत! ऐसे हो करके अति उन्मन।
वहु प्रान्तों रत्नों से जो है यह वसुधा सम्पन्ना
उसका अपने पिता-सदृश ही करो! सर्वथा पालन ॥ ३७ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में एक सौ दसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११० ॥

---

१ यज्ञ की दीक्षा; २ पृथ्वी खोदते समय; ३ मरु से उत्पन्न।

एकादशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ जी के समझाने पर भी श्रीराम को पिता की आज्ञा के पालन से विरत होते न देख भरत का धरना देने को तैयार होना तथा श्रीराम का उन्हें समझाकर अयोध्या लौटने की आज्ञा देना

वसिष्ठः स तदा राममुक्त्वा राजपुरोहितः।
अब्रवीद् धर्मसंयुक्तं पुनरेवापरं वचः॥ १॥
पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरवः सदा।
आचार्यश्चैव काकुत्स्थ पिता माता च राघव॥ २॥
पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ।
प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात् स गुरुरुच्यते॥ ३॥
स तेऽहं पितुराचार्यस्तव चैव परंतप।
मम त्वं वचनं कुर्वन् नातिवर्तेः सतां गतिम्॥ ४॥
इमा हि ते परिषदो ज्ञातयश्च नृपास्तथा।
एषु तात चरन् धर्मं नातिवर्तेः सतां गतिम्॥ ५॥
वृद्धाया धर्मशीलाया मातुर्नार्हस्यवर्तितुम्।
अस्या हि वचनं कुर्वन् नातिवर्तेः सतां गतिम्॥ ६॥
भरतस्य वचः कुर्वन् याचमानस्य राघव।
आत्मानं नातिवर्तेस्त्वं सत्यधर्मपराक्रम॥ ७॥
एवं मधुरमुक्तः स गुरुणा राघवः स्वयम्।
प्रत्युवाच समासीनं वसिष्ठं पुरुषर्षभः॥ ८॥
यन्मातापितरौ वृत्तं तनये कुरुतः सदा।
न सुप्रतिकरं तत् तु मात्रा पित्रा च यत्कृतम्॥ ९॥
यथाशक्तिप्रदानेन स्वापनोच्छादनेन च।
नित्यं च प्रियवादेन तथा संवर्धनेन च॥ १०॥
स हि राजा दशरथः पिता जनयिता मम।
आज्ञापयन्मां यत् तस्य न तन्मिथ्या भविष्यति॥ ११॥
एवमुक्तस्तु रामेण भरतः प्रत्यनन्तरम्।
उवाच विपुलोरस्कः सूतं परमदुर्मनाः॥ १२॥
इह तु स्थण्डिले शीघ्रं कुशानास्तर सारथे।
आर्यं प्रत्युपवेक्ष्यामि यावन्मे सम्प्रसीदति॥ १३॥
निराहारो निरालोको धनहीनो यथा द्विजः।
शये पुरस्ताच्छालायां यावन्मां प्रतियास्यति॥ १४॥

एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग

वसिष्ठ जी के समझाने पर भी श्रीराम को पिता की आज्ञा के पालन से विरत होते न देख भरत का धरना देने को तैयार होना तथा श्रीराम का उन्हें समझाकर अयोध्या लौटने की आज्ञा देना

राजपुरोहित श्री वसिष्ठ ने इस प्रकार से बातें कहकर।
कही धर्म-युत बातें फिर से, रामचन्द्र से उस अवसर पर॥ १ ॥
इस जग में उत्पन्न व्यक्ति के हैं काकुत्स्थ! तीन गुरु रघुवर!।
जन्मद माता, पिता और हैं शिक्षाप्रद आचार्य श्री प्रवर॥ २ ॥
नर शरीर उत्पन्न नृवर है जिससे वह ही पिता कहाता।
देता है आचार्य ज्ञान शुभ इससे गुरु-पदवी वह पाता॥ ३ ॥
अतः तुम्हारे पिता, तुम्हारा मैं आचार्य परंतप! हूँ जब।
मेरी आज्ञा-पालन से तुम सत्-पथ-भ्रष्ट न होगे फिर तब॥ ४ ॥
इन सांसद, सामन्त, बान्धवों-प्रति स्वधर्म से युक्त आचरण।
करने से, सन्मार्गोल्लंघन[1] होगा नहीं तात! कुछ इस क्षण॥ ५ ॥
नहीं चाहिए वृद्धा माँ की आज्ञा राम! टालनी तुमसे।
नहीं श्रेष्ठ जन-धर्म-मार्ग का लंघन होगा कुछ भी इससे॥ ६ ॥
सत्यधर्म-विक्रमी राम! इन भरत-वचन से राज्य ग्रहण कर।
कहलाओगे नहीं, धर्मपथ-लंघनकारी तुम भूतल पर॥ ७ ॥
इस प्रकार के वचन कहे जब गुरु वसिष्ठ ने उस अवसर पर।
तब फिर बैठे हुए वहाँ पर पुरुषोत्तम बोले, दे उत्तर॥ ८ ॥
माता और पिता करते जो स्नेह-युक्त व्यवहार पुत्र-हित।
उसके बदले में कर उनका उत्तम भोजन से पोषण नित॥ ९ ॥
यथाशक्ति मीठी बातें कह उबटन कर, उनको दे विस्तर।
भी न उऋण हो पाता उनके उपकृति-ऋण से किसी भाँति नर॥ १० ॥
मेरे जन्मद नृप दशरथ ने जो दी आज्ञा मुझे समझकर।
हो न सकेगी किसी भाँति वह मिथ्या मुझसे इस अवसर पर॥ ११ ॥
राम-वचन यह सुन, उन विस्तृत हृदय भरत का हुआ दुखित मन।
बोले वे निकटस्थ सूतवर, उन सुमन्त्र से तथा यह वचन॥ १२ ॥
धरना दूँगा, शीघ्र सारथे! कुशा बिछाओ! इस वेदी पर।
तब तक, जब तक सुप्रसन्न ये मुझ पर होंगे नहीं आर्य वर॥ १३ ॥
कुटी द्वार पर मैं लेटूँगा, निराहार, मुख अपना ढककर।
निर्धन द्विज-सम, बात न मेरी मानें जब तक राम धनिक वर॥ १४ ॥

---

१ सत्य मार्ग के विपरीत।

स तु राममवेक्षन्तं सुमन्त्रं प्रेक्ष्य दुर्मनाः ।
कुशोत्तरमुपस्थाप्य भूमावेवास्थितः स्वयम् ॥ १५ ॥
तमुवाच महातेजा रामो राजर्षिसत्तमः ।
किं मां भरत कुर्वाणं तात प्रत्युपवेक्ष्यसे ॥ १६ ॥
ब्राह्मणो ह्येकपार्श्वेन नरान् रोद्धुमिहार्हति ।
न तु मूर्धाभिषिक्तानां विधिः प्रत्युपवेशने ॥ १७ ॥
उत्तिष्ठ नरशार्दूल हित्वैतद् दारुणं व्रतम् ।
पुरवर्यामितः क्षिप्रमयोध्यां याहि राघव ॥ १८ ॥
आसीनस्त्वेव भरतः पौरजानपदं जनम् ।
उवाच सर्वतः प्रेक्ष्य किमार्यं नानुशासथ ॥ १९ ॥
ते तदोचुर्महात्मानं पौरजानपदा जनाः ।
काकुत्स्थमभिजानीमः सम्यग् वदति राघवः ॥ २० ॥
एषोऽपि हि महाभागः पितुर्वचसि तिष्ठति ।
अत एव न शक्ताः स्मो व्यावर्तयितुमञ्जसा ॥ २१ ॥
तेषामाज्ञाय वचनं रामो वचनमब्रवीत् ।
एवं निबोध वचनं सुहृदां धर्मचक्षुषाम् ॥ २२ ॥
एतच्चैवोभयं श्रुत्वा सम्यक् सम्पश्य राघव ।
उत्तिष्ठ त्वं महाबाहो मां च स्पृश तथोदकम् ॥ २३ ॥
अथोत्थाय जलं स्पृष्ट्वा भरतो वाक्यमब्रवीत् ।
शृण्वन्तु मे परिषदो मन्त्रिणः शृणुयुस्तथा ॥ २४ ॥
न याचे पितरं राज्यं नानुशासामि मातरम् ।
एवं परमधर्मज्ञं नानुजानामि राघवम् ॥ २५ ॥
यदि त्ववश्यं वस्तव्यं कर्तव्यं च पितुर्वचः ।
अहमेव निवत्स्यामि चतुर्दश वने समाः ॥ २६ ॥
धर्मात्मा तस्य सत्येन भ्रातुर्वाक्येन विस्मितः ।
उवाच रामः सम्प्रेक्ष्य पौरजानपदं जनम् ॥ २७ ॥
विक्रीतमाहितं क्रीतं यत् पित्रा जीवता मम ।
न तल्लोपयितुं शक्यं मया वा भरतेन वा ॥ २८ ॥
उपाधिर्न मया कार्यो वनवासे जुगुप्सितः ।
युक्तमुक्तं च कैकेय्या पित्रा मे सुकृतं कृतम् ॥ २९ ॥
जानामि भरतं क्षान्तं गुरुसत्कारकारिणम् ।
सर्वमेवात्र कल्याणं सत्यसंधे महात्मनि ॥ ३० ॥

यह सुन, देख रहे राघव-मुख, वे सुमन्त्र, यह देख दुखितमन।
बैठ गये, पृथ्वी पर लेकर, स्वयं भरत कुश-निर्मित आसन ॥ १५ ॥
महातेज, राजर्षि शिरोमणि कहा राम ने तब उनसे फिर।
भरत! कहा क्या अनुचित मैंने? क्यों बैठे तुम धरना देकर? ॥ १६ ॥
सोकर, मात्र एक करवट द्विज, कर सकता अन्याय-नियन्त्रण।
किन्तु नृप-तिलक-धर, क्षत्रिय के लिए न यह है उचित आचरण ॥ १७ ॥
अतः नृवर! तुम इस कठोरतम व्रत-विचार को दूर हटाओ।
एवं राघव! शीघ्र यहाँ से पुरी अयोध्या को तुम जाओ ॥ १८ ॥
बैठे हुए भरत ने, जनपद नगर-जनों की ओर देखकर।
कहा, आप सब क्यों न आर्य को समझाते हैं अब विशेषकर ॥ १९ ॥
भरत महात्मा से बोले तब, जनपद-नागर-जन समुपस्थित।
जो राघव काकुत्स्थ कह रहे, यहाँ राम प्रति वह है समुचित ॥ २० ॥
किन्तु पिताज्ञा-रत कहते जो महाभाग! वह भी है समुचित।
इससे इनको लौटाने में हम सब हैं असमर्थ सुनिश्चित ॥ २१ ॥
बोले राम, भरत से, पुरजन-व्यथित वचन-तात्पर्य समझकर।
धर्मचक्षु! तुम सुनो भरत! यह एवं समझो पूर्ण ध्यान धर ॥ २२ ॥
मेरी, इन सबकी बातें सुन, राघव[1]! चिन्तन करके इन पर।
करो महाबाहो! जल एवं मेरा स्पर्श शीघ्र ही उठकर ॥ २३ ॥
बोले ऐसे वचन भरत वे, उठकर, जल छू करके फिर तब।
मैंने नहीं पिता से माँगा नृपपद, सुनें! सचिव, सांसद सब ॥ २४ ॥
राज्य-याचना की न पिता से, कहा न माँ से कुछ इसके हित।
तथा धर्मविद् राम-वन-गमन भी न मुझे वाञ्छित है निश्चित ॥ २५ ॥
यदि इनको वनवास, पिताज्ञा से फिर भी है अति आवश्यक।
तो वनवास करूँगा इनके बदले में चौदह वर्षों तक ॥ २६ ॥
सत्यवचन सुन बन्धु भरत का, हुआ राम धार्मिक को विस्मय।
देख, राज्य, पुर के लोगों को, कहा उन्होंने अपना निश्चय ॥ २७ ॥
राज्य-धरोहर, विक्रय, क्रय जो, पिता कर गये हैं जीवन में।
उसे पलट दें भरत, या कि मैं, ऐसी शक्ति नहीं है मन में ॥ २८ ॥
प्रतिनिधि मुझको नहीं चाहिए, है समर्थ हित जो जग-निन्दित[2]।
कैकेयी ने उचित माँग की, किया पिता ने सभी यह सुकृत[3] ॥ २९ ॥
जान रहा मैं, भरत क्षान्त[4] हैं गुरु-गण को करते हैं, सत्कृत।
और महात्मा सत्यव्रत में हैं मंगल-गुण सब समुपस्थित ॥ ३० ॥

---

१ भरत; २ जो सामर्थ्यहीन नहीं उसको प्रतिनिधि की आवश्यकता उचित नहीं; ३ पुण्यकर्म; ४ क्षमाशील।

अनेन धर्मशीलेन वनात् प्रत्यागतः पुनः।
भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः॥ ३१॥
वृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम्।
अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम्॥ ३२॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकादशाधिकशततमः सर्गः॥ १११॥

द्वादशाधिकशततमः सर्गः

ऋषियों का भरत को श्रीराम की आज्ञा के अनुसार लौट जाने की सलाह देना, भरत का पुनः श्रीराम के चरणों में गिरकर चलने की प्रार्थना करना, श्रीराम का उन्हें समझाकर अपनी चरण-पादुका देकर उन सबको विदा करना

तमप्रतिमतेजोभ्यां भ्रातृभ्यां रोमहर्षणम्।
विस्मिताः संगमं प्रेक्ष्य समुपेता महर्षयः॥ १॥
अन्तर्हिता मुनिगणाः स्थिताश्च परमर्षयः।
तौ भ्रातरौ महाभागौ काकुत्स्थौ प्रशशंसिरे॥ २॥
सदार्यौ राजपुत्रौ द्वौ धर्मज्ञौ धर्मविक्रमौ।
श्रुत्वा वयं हि सम्भाषामुभयोः स्पृहयामहे॥ ३॥
ततस्त्वृषिगणाः क्षिप्रं दशग्रीववधैषिणः।
भरतं राजशार्दूलमित्यूचुः संगता वचः॥ ४॥
कुले जात महाप्राज्ञ महावृत्त महायशः।
ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते पितरं यद्यवेक्षसे॥ ५॥
सदानृणमिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः।
अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः॥ ६॥
एतावदुक्त्वा वचनं गन्धर्वाः समहर्षयः।
राजर्षयश्चैव तथा सर्वे स्वां स्वां गतिं गताः॥ ७॥
ह्लादितस्तेन वाक्येन शुशुभे शुभदर्शनः।
रामः संहृष्टवदनस्तानृषीनभ्यपूजयत्॥ ८॥
त्रस्तगात्रस्तु भरतः स वाचा सज्जमानया।
कृताञ्जलिरिदं वाक्यं राघवं पुनरब्रवीत्॥ ९॥
राम धर्ममिमं प्रेक्ष्य कुलधर्मानुसन्ततम्।
कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ मम मातुश्च याचनाम्॥ १०॥
रक्षितुं सुमहद् राज्यमहमेकस्तु नोत्सहे।
पौरजानपदांश्चापि रक्तान् रञ्जयितुं तदा॥ ११॥

लौटूँगा जब दण्डक वन से चौदह वर्ष-अवधि पूरी कर।
तव निज धर्मशील भाई-सँग, होऊँगा उत्तम अवनीश्वर ॥ ३१ ॥
कैकेयी ने नृप से माँगा वर, मैंने उसको स्वीकारा।
करो! पिता की तुम असत्य से मुक्त, वरप्रतिपालन द्वारा ॥ ३२ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १११ ॥

एक सौ बारहवाँ सर्ग

ऋषियों का भरत को श्रीराम की आज्ञा के अनुसार लौट जाने की सलाह देना, भरत का पुनः श्रीराम के चरणों में गिरकर चलने की प्रार्थना करना, श्रीराम का उन्हें समझाकर अपनी चरण-पादुका देकर उन सबको विदा करना

तेजस्वी उन भ्राताओं का, रोमाञ्चक वह मिलन देखकर।
विस्मय करने लगे, वहाँ पर बैठे हुए महत्तम ऋषिवर ॥ १ ॥
अन्तरिक्ष-स्थित, गुप्त और वे सब महर्षि प्रत्यक्ष उपस्थित।
महाभाग काकुत्स्थ बन्धुओं को तब करने लगे प्रशंसित ॥ २ ॥
धर्ममार्गि, धर्मज्ञ-श्रेष्ठ हैं ये दोनों ही नृपति-पुत्रवर।
पुनः पुनः सुनने की इच्छा होती इनकी बातें सुनकर ॥ ३ ॥
फिर रावण दशकण्ठ-वधेच्छा ऋषियों ने निज मन में रखकर।
कहा नृपतिशार्दूल[1] भरत से, वचन इस तरह से अति सत्वर ॥ ४ ॥
सत्-आचारी महाप्राज्ञ हो उत्तम कुलज, महायश अतिशय।
देख पिता की ओर चाहिए मानो! राम-बात को निश्चय ॥ ५ ॥
चाह रहे हम सभी, राम को देखें उऋण, पिता-ऋण से अब।
कैकेयी ऋण-उऋण हो चुके नृप दशरथ वे स्वर्ग गये तब ॥ ६ ॥
और सभी गन्धर्व राज-ऋषि तथा महाऋषि वे आगतवर।
अपने-अपने स्थान को गये इतना कहकर, उस अवसर पर ॥ ७ ॥
राम सुदर्शन उन ऋषियों के सुनकर वचन हुए अति प्रमुदित।
सादर ऋषिप्रशंसक[2] उनका, हुआ हर्ष-विकसित मुख शोभित ॥ ८ ॥
किन्तु भरत का मन घबराया, तथा राम से बोले वे फिर।
अपने दोनों हाथ जोड़कर, तब थी उनकी वाणी अस्थिर ॥ ९ ॥
है कुल-धर्म ज्येष्ठ सुत पाता, राज्य राम! काकुत्स्थ! दृढ़ाचल।
उसे देख, मेरी औ माता-याञ्चा[3] को अब करें न निष्फल[4] ॥ १० ॥
मैं न अकेला कर सकता हूँ वृहद् राज्य की रक्षा समुचित।
कर न सकूँगा, बिना आपके, पुर, जनपद लोगों को प्रमुदित ॥ ११ ॥

---

१ राजसिंह; २ ऋषियों की प्रशंसा करनेवाले; ३ माँ की याचना; ४ सफल कीजिए।

ज्ञातयश्चापि योधाश्च मित्राणि सुहृदश्च नः ।
त्वामेव हि प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः ॥ १२ ॥
इदं राज्यं महाप्राज्ञ स्थापय प्रतिपद्य हि ।
शक्तिमान् स हि काकुत्स्थ लोकस्य परिपालने ॥ १३ ॥
एवमुक्त्वापतद् भ्रातुः पादयोर्भरतस्तदा ।
भृशं सम्प्रार्थयामास राघवेऽतिप्रियं वदन् ॥ १४ ॥
तमङ्के भ्रातरं कृत्वा रामो वचनमब्रवीत् ।
श्यामं नलिनपत्राक्षं मत्तहंसस्वरः स्वयम् ॥ १५ ॥
आगता त्वामियं बुद्धिः स्वजा वैनयिकी च या ।
भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि ॥ १६ ॥
अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः ।
सर्वकार्याणि सम्मन्त्र्य महान्त्यपि हि कारय ॥ १७ ॥
लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद् वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत् ।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः ॥ १८ ॥
कामाद् वा तात लोभाद् वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम् ।
न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत् ॥ १९ ॥
एवं ब्रुवाणं भरतः कौसल्यासुतमब्रवीत् ।
तेजसाऽऽदित्यसंकाशं प्रतिपच्चन्द्रदर्शनम् ॥ २० ॥
अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते ।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ॥ २१ ॥
सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके व्यवमुच्य च ।
प्रायच्छत्सु महातेजा भरताय महात्मने ॥ २२ ॥
स पादुके सम्प्रणम्य रामं वचनमब्रवीत् ।
चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥ २३ ॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन ।
तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद् बहिः ॥ २४ ॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परंतप ।
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ॥ २५ ॥
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।
तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य -सादरम् ॥ २६ ॥
शत्रुघ्नं च परिष्वज्य वचनं चेदमब्रवीत् ।
मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति ॥ २७ ॥

राम ! आपकी, बान्धव, योद्धा, मित्र, सुहृद् जन मिलकर वैसे ।
बाट जोहते[1], कृषक मेघ की, सतत प्रतीक्षा करते जैसे ॥ १२ ॥
अन्य किसी को राज्य-भार दें ! महाप्राज्ञ ! पहले स्वीकृत[2] कर ।
वही आपके प्रजा-प्रपालन में हो पाएगा समर्थ - तर ॥ १३ ॥
यह कह, भरत स्व-भ्राता-चरणों में गिर पड़े, पुनः यह प्रवचन ।
कहकर, राज्य ग्रहण करने को, किया राम से पुनः निवेदन ॥ १४ ॥
तभी राम ने श्यामवर्ण, पद्माक्ष भरत को गोद उठाया ।
मत्त हंस-स्वर में यह कहकर तथा भरत को यह समझाया ॥ १५ ॥
विनयशील जो प्राप्त हुई है बुद्धि, तात ! तुमको स्वाभाविक ।
उससे भूमण्डल-रक्षा तुम कर सकते, शासन क्या आंशिक[3] ? ॥ १६ ॥
सुहृद्, सुधी मन्त्रियों, अमात्यों से सलाह लेकर तुम निश्चित ।
उनके द्वारा महत् कार्य भी किया करो ! पृथ्वी-पालन हित ॥ १७ ॥
शशि को प्रभा, हिमालय हिम को त्यागे, करके सीमोल्लंघन ।
सागर बढ़े, न तब भी मुझसे होगा पिता-प्रतिज्ञा-खण्डन ॥ १८ ॥
तात ! किया तव हेतु कार्य जो माँ नें लोभ-कामना द्वारा ।
उसे भुला, व्यवहार निभाना ! पूज्या माँ-सा उनसे सारा ॥ १९ ॥
सूर्य-सदृश तेजस्वि, प्रतिपदा चन्द्र-सदृश अतिशय शुभदर्शन ।
कौसल्या-सुत, राम-कथन पर उनसे बोले भरत ये वचन ॥ २० ॥
कनक-भूषिता आर्यपदों में जो कि पादुकाएँ[4] हैं अर्पित ।
इन पर रक्खें ! चरण, करेंगी जग का योग-क्षेम ये निश्चित ॥ २१ ॥
महातेज नरसिंह राम नें किये पादुकाओं पर पद स्थित ।
तथा अलग कर, उन्हें दे दिया, भरत महात्मा को तत्क्षण फिर ॥ २२ ॥
भरत पादुकाओं को प्रणमन कर, बोले हे राम ! वीरवर ! ।
अब मैं भी चौदह वर्षों तक होकर निश्चय जटा - चीरधर ॥ २३ ॥
राम ! तुम्हारे आनें की ही, करता हुआ प्रतीक्षा मैं फिर ।
फल-मूलादिक खा, होऊँगा, वीर ! नगर के बाहर ही स्थिर ॥ २४ ॥
और आपकी चरण-पादुका द्वय पर राज्य-भार सब रखकर ।
चौदह वर्ष बाद का पहला दिन जो होगा, उत्तम रघुवर ! ॥ २५ ॥
उसमें दर्शन-लाभ न पाकर, होऊँगा ज्वाला में प्रविशित ।
सादर स्वीकृति दे, राघव ने किया भरत को हृदयालिंगित[5] ॥ २६ ॥
इसी भाँति शत्रुघ्न बन्धु को हृदय लगाकर कहा राम ने ।
रक्षा करना कैकेयी की क्रोध न लाना कभी सामने ॥ २७ ॥

---

१ राह देखते; २ पहले स्वयं स्वीकार करने के उपरान्त; ३ प्रदेश का शासन क्या चीज है; ४ खड़ाऊँ; ५ हृदय से लगा लिया ।

मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन ।
इत्युक्त्वाश्रुपरीताक्षो भ्रातरं विससर्ज ह ॥ २८ ॥

स पादुके ते भरतः स्वलंकृते
महोज्ज्वले सम्परिगृह्य धर्मवित् ।
प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं
चकार चैवोत्तमनागमूर्धनि ॥ २९ ॥

अथानुपूर्व्या प्रतिपूज्य तं जनं
गुरूंश्च मन्त्रीन् प्रकृतीस्तथानुजौ ।
व्यसर्जयद् राघववंशवर्धनः
स्थितः स्वधर्मे हिमवानिवाचलः ॥ ३० ॥

तं मातरो बाष्पगृहीतकण्ठ्यो
दुःखेन नामन्त्रयितुं हि शेकुः ।
स चैव मातॄरभिवाद्य सर्वा
रुदन् कुटीं स्वां प्रविवेश रामः ॥ ३१ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे
द्वादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः

भरत का भरद्वाज से मिलते हुए अयोध्या को लौट आना

ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा ।
आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नसहितस्तदा ॥ १ ॥
वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिश्च दृढव्रतः ।
अग्रतः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥
मन्दाकिनीं नदीं रम्यां प्राङ्मुखास्ते ययुस्तदा ।
प्रदक्षिणं च कुर्वाणाश्चित्रकूटं महागिरिम् ॥ ३ ॥
पश्यन् धातुसहस्राणि रम्याणि विविधानि च ।
प्रययौ तस्य पार्श्वेन ससैन्यो भरतस्तदा ॥ ४ ॥
अदूराच्चित्रकूटस्य ददर्श भरतस्तदा ।
आश्रमं यत्र स मुनिर्भरद्वाजः कृतालयः ॥ ५ ॥
स तमाश्रममागम्य भरद्वाजस्य वीर्यवान् ।
अवतीर्य रथात् पादौ ववन्दे कुलनन्दनः ॥ ६ ॥

शपथ दिलाकर अपनी एवं सीता की कहता, रघुनन्दन[1] !।
यह कह, विदा किया भाई को हुए राम के साश्रु तब नयन।। २८ ।।
उज्ज्वल चरण-पादुका द्वय को तब फिर करके स्वीकृत
किया भरत धार्मिक ने उनको अच्छी तरह अलंकृत।
तथा राम की परिक्रमा कर, उन्हें नृपति के वाहन
योग्य गजाधिप के मस्तक पर किया शीघ्र ही स्थापित।। २९ ।।
जो स्वधर्म में हिमगिरि जैसे ही रहते थे संस्थित
किया उन्होंने[2] वहाँ समागत सब लोगों को सत्कृत।
फिर गुरु, मन्त्री, प्रजा-संग निज भ्राताओं को सादर
विदा किया रघुवश-विवर्धन ने, जो थे समुपस्थित।। ३० ।।
माताओं के बाष्प-रुद्ध[3] थे कण्ठ उस समय निश्चित
दुखवश रामचन्द्र को वे सब कर न सकीं सम्बोधित।
किया राम ने सब माताओं को, रो करके प्रणमन
तदनन्तर अपनी कुटिया में पुनः हो गये प्रविशित।। ३१ ।।

।। श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
एक सौ बारहवाँ सर्ग समाप्त।। ११२ ।।

एक सौ तेरहवाँ सर्ग

भरत का भरद्वाज से मिलते हुए अयोध्या को लौट आना

राम-चरण-पादुका युगल को भरत शीश पर अपने रखकर।
प्रमुदित हो, शत्रुघ्न-साथ में बैठे आकर अपने रथ पर।। १ ।।
श्री वसिष्ठ, श्री वामदेव ऋषि, महाव्रती जाबालि आदि तब।
आकर, आगे-आगे मन्त्रद[4], मन्त्री भी चल पड़े साथ सब।। २ ।।
महाशैल उस चित्रकूट की वे सब परिक्रमा कर, निश्चित।
रम्या मन्दाकिनी पार कर, हुए दिशा पूर्वी को प्रस्थित[5]।। ३ ।।
चले देखते हुए सहस्रों भाँति धातुएँ रम्य निरन्तर।
भरत, सैन्य के सँग फिर निकले, गिरि के तभी किनारे होकर।। ४ ।।
चित्रकूट से कुछ थोड़ा पथ, चलकर वहाँ भरत ने तब फिर।
आश्रम देखा, जहाँ मुनीश्वर भरद्वाज रहते थे सुस्थिर।। ५ ।।
स्व-कुलानन्दन[6] भरत-विक्रमी ऋषि-आश्रम पर वहाँ पहुँचकर।
भरद्वाज-चरणों का वन्दन किया स्व-रथ से शीघ्र उतरकर।। ६ ।।

१ हे भरत; २ राम ने; ३ आँसुओं रुँधे हुए; ४ मंत्रणा देनेवाले;
५ रवाना; ६ अपने कुल को आनन्द देनेवाले।

ततो हृष्टो भरद्वाजो भरतं वाक्यमब्रवीत् ।
अपि कृत्यं कृतं तात रामेण च समागतम् ।। ७ ।।

एवमुक्तः स तु ततो भरद्वाजेन धीमता ।
प्रत्युवाच भरद्वाजं भरतो धर्मवत्सलः ।। ८ ।।
स याच्यमानो गुरुणा मया च दृढविक्रमः ।
राघवः परमप्रीतो वसिष्ठं वाक्यमब्रवीत् ।। ९ ।।

पितुः प्रतिज्ञां तामेव पालयिष्यामि तत्त्वतः ।
चतुर्दश हि वर्षाणि या प्रतिज्ञा पितुर्मम ।। १० ।।
एवमुक्तो महाराज्ञो वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।
वाक्यज्ञो वाक्यकुशलं राघवं वचनं महत् ।। ११ ।।
एते प्रयच्छ संहृष्टः पादुके हेमभूषिते ।
अयोध्यायां महाप्राज्ञ योगक्षेमकरो भव ।। १२ ।।
एवमुक्तो वसिष्ठेन राघवः प्राङ्मुखः स्थितः ।
पादुके हेमविकृते मम राज्याय ते ददौ ।। १३ ।।
निवृत्तोऽहमनुज्ञातो रामेण सुमहात्मना ।
अयोध्यामेव गच्छामि गृहीत्वा पादुके शुभे ।। १४ ।।
एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः ।
भरद्वाजः शुभतरं मुनिर्वाक्यमुदाहरत् ।। १५ ।।

नैतच्चित्रं नरव्याघ्रे शीलवृत्तविदां वरे ।
यदार्यं त्वयि तिष्ठेत्तु निम्नोत्सृष्टमिवोदकम् ।। १६ ।।
अनृणः स महाबाहुः पिता दशरथस्तव ।
यस्य त्वमीदृशः पुत्रो धर्मात्मा धर्मवत्सलः ।। १७ ।।
तमृषिं तु महाप्राज्ञमुक्तवाक्यं कृताञ्जलिः ।
आमन्त्रयितुमारेभे चरणावुपगृह्य च ।। १८ ।।
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भरद्वाज पुनः पुनः ।
भरतस्तु ययौ श्रीमानयोध्यां सह मन्त्रिभिः ।। १९ ।।
यानैश्च शकटैश्चैव हयैर्नागैश्च सा चमूः ।
पुनर्निवृत्ता विस्तीर्णा भरतस्यानुयायिनी ।। २० ।।
ततस्ते यमुनां दिव्यां नदीं तीर्त्वोर्मिमालिनीम् ।
ददृशुस्तां पुनः सर्वे गङ्गां शिवजलां नदीम् ।। २१ ।।
तां रम्यजलसम्पूर्णां सतीर्य सहबान्धवः ।
शृङ्गवेरपुरं रम्यं प्रविवेश ससैनिकः ।। २२ ।।

कहा भरत से भरद्वाज ने, उन्हें देख, होकर अति प्रमुदित।
तात! कार्य हो गया तुम्हारा! भेंट राम से हुई यथोचित?॥ ७ ॥
भरद्वाज धीमान् भरत से लगे पूछने इस प्रकार जब।
भरत धर्मवत्सल ने उनको उत्तर ऐसा शीघ्र दिया तब॥ ८ ॥
मुने! प्रार्थना दृढ़ विक्रम से, गुरु-सँग मैंने की जब अतिशय।
तब प्रसन्न हो राम, इस तरह गुरु वसिष्ठ से बोले सविनय॥ ९ ॥
किया प्रतिज्ञा कार्य पिता ने जो कि रहूँ मैं वर्ष चतुर्दश।
उसको पालूँगा यथार्थ में दृढ़ता से रखकर मन पर वश॥ १० ॥
उनके कहने पर, यह बोले, प्राज्ञ वरिष्ठ वसिष्ठ गुरु प्रवर।
वाक्य-कुशल श्री रामचन्द्र से अति महत्त्व की वार्ता रुचिकर॥ ११ ॥
तुम प्रसन्न हो स्वर्ण-विभूषित इन्हें पादुकाएँ[1] दो निज, अब।
महाप्राज्ञ, ये पुरी अयोध्या-योगक्षेम निभाएँगी सब॥ १२ ॥
गुरु वसिष्ठ के यह कहने पर, पूर्वमुखी होकर रघुनन्दन।
ने दीं स्वर्ण-पादुकाएँ ये, हो जिनसे शासन का चालन॥ १३ ॥
राम महात्मा की आज्ञा पा, लौट अयोध्या मैं जाता फिर।
लेकर उनकी चरण-पादुकाद्वय को, जो हैं शुभा अति रुचिर॥ १४ ॥
भरत महात्मा की शुभ वार्ता भरद्वाज ऋषि को अति भाई।
और भरत को मुनिप्रवर ने परम मंगला बात बताई॥ १५ ॥
हे नृसिंह! आश्चर्य, भला क्या तुम जैसे सत्शील आचरण।
ज्ञाता, जिसमें गुण एकत्रित हों निम्नस्थ-वारि[2] सम प्रतिक्षण॥ १६ ॥
पिता तुम्हारे महाबाहु नृप, मुक्त ऋणों से हुए सर्वथा।
जिनके ऐसे तुम सुपुत्र हो धर्मात्मा वर धर्म-प्रिय तथा॥ १७ ॥
ऐसा महाप्राज्ञ उन ऋषि के कहने पर बद्धाञ्जलि[3] होकर।
भरत हुए उनके पद छूकर गमनाज्ञा लेने को तत्पर॥ १८ ॥
पुनः पुनः उन भरद्वाज की परिक्रमा श्रीमान भरत कर।
चले अयोध्या को निज सचिवों-सहित वहाँ से तब फिर सत्वर॥ १९ ॥
विस्तृत सेना, अश्व-रथ-गजों-घोड़ों सँग, कर भरत-अनुसरण।
लौटी पुनः अयोध्या को तब बहुत शीघ्रतापूर्वक उस क्षण॥ २० ॥
फिर तरंग-शोभिता सुदिव्या सरिता यमुना का कर लंघन।
किये पुण्यसलिला गंगा के सब लोगों ने अद्भुत दर्शन॥ २१ ॥
करके बन्धु सैनिकों के सह रम्य जलमयी गंगा-लंघन[4]।
परम रम्य गिरि शृंगवेरपुर में उन सबका हुआ आगमन॥ २२ ॥

---

१ खड़ाऊँ; २ जैसे जल सब ओर से नीचे बहकर सरोवर में एकत्र होता है वैसे ही सकल गुण तुममें एकत्र हैं; ३ हाथ जोड़कर; ४ गंगा पार करके।

शृङ्गवेरपुराद् भूय अयोध्यां संददर्श ह।
अयोध्यां तु तदा दृष्ट्वा पित्रा भ्रात्रा विवर्जिताम् ॥ २३ ॥
भरतो दुःखसंतप्तः सारथिं चेदमब्रवीत्।
सारथे पश्य विध्वस्ता अयोध्या न प्रकाशते ॥ २४ ॥
निराकारा निरानन्दा दीना प्रतिहतस्वना ॥ २५ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे
त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः

भरत के द्वारा अयोध्या की दुरवस्था का वर्णन तथा अन्तःपुर में
प्रवेश करके भरत का दुखी होना

स्निग्धगम्भीरघोषेण स्यन्दनेनोपयान् प्रभुः।
अयोध्यां भरतः क्षिप्रं प्रविवेश महायशाः ॥ १ ॥
बिडालोलूकचरितामालीननरवारणाम् ।
तिमिराभ्याहतां कालीमप्रकाशां निशामिव ॥ २ ॥
राहुशत्रोः प्रियां पत्नीं श्रिया प्रज्वलितप्रभाम्।
ग्रहेणाभ्युदितेनैकां रोहिणीमिव पीडिताम् ॥ ३ ॥
अल्पोष्णक्षुब्धसलिलां घर्मतप्तविहंगमाम्।
लीनमीनझषग्राहां कृशां गिरिनदीमिव ॥ ४ ॥
विधूमामिव हेमाभां शिखामग्नेः समुत्थिताम्।
हविरभ्युक्षितां पश्चाच्छिखां विप्रलयं गताम् ॥ ५ ॥
विध्वस्तकवचां रुग्णगजवाजिरथध्वजाम्।
हतप्रवीरामापन्नां चमूमिव महाहवे ॥ ६ ॥
सफेनां सस्वनां भूत्वा सागरस्य समुत्थिताम्।
प्रशान्तमारुतोद्धूतां जलोर्मिमिव निःस्वनाम् ॥ ७ ॥
त्यक्तां यज्ञायुधैः सर्वैरभिरूपैश्च याजकैः।
सुत्याकाले सुनिर्वृत्ते वेदिं गतरवामिव ॥ ८ ॥
गोष्ठमध्ये स्थितामार्तामचरन्तीं नवं तृणम्।
गोवृषेण परित्यक्तां गवां पत्नीमिवोत्सुकाम् ॥ ९ ॥

श्रृंगवेरपुर से चलने पर हुए अयोध्या के फिर दर्शन।
जो कि पिता, भ्राता-विहीन तब, होने से दिखती थी उन्मन ॥ २३ ॥
उसे देख, सारथि से बोले भरत शोक-सतप्त इस तरह।
देखें तो सारथे! अयोध्या है कैसी शोभा-विहीन यह ॥ २४ ॥
इसका वह आनन्द न दिखता, वह न रूप-सुन्दरता दिखती।
(शब्द-विहीना हो, यह तो अब बहुत-बहुत दीना है लगती) ॥ २५ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड
में एक सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११३ ॥

एक सौ चौदहवाँ सर्ग

भरत के द्वारा अयोध्या की दुरवस्था का दर्शन तथा अन्तःपुर में प्रवेश करके भरत का दुखी होना

अति-प्रभावि[1] वे भरत महायश, स्निग्ध तथा गम्भीर घोषमय।
रथ से यात्रा कर, फिर प्रविशित हुए अयोध्या में आ सुसमय ॥ १ ॥
तब बिलाव, उल्लू फिरते थे, गेह-द्वार थे बन्द, और तम[2]।
सभी ओर था, अतः पुरी में, कृष्णपक्ष की अमा[3] -निशा-सम ॥ २ ॥
उदित राहु से, ग्रस्त चन्द्र की प्रिया रोहिणी कान्ता जैसे।
असहाया हो, पुरी समृद्धा भी लगती थी दुखिता वैसे ॥ ३ ॥
रवि-तप्ता, कृशिता, खग-रहिता, मत्स्य, मीन, ग्राहादि विलीना।
शैल-नदी[4] सी तब लगती थी, पुरी अयोध्या वह अति दीना ॥ ४ ॥
निर्धूमा, स्वर्णिमा सुकान्ता थी ज्वलिताग्नि शिखोपम भासित।
पहले; वह मख-दुग्ध-सिञ्चिता[5] अग्नि-ज्वाल-सी हुई तिरोहित ॥ ५ ॥
छिन्न कवच, विच्छिन्न अश्व, रथ, गज, ध्वज, प्रमुख वीरहत जैसे।
महासमर में, किसी सैन्य के सम[6] थी नगरी शून्या वैसे ॥ ६ ॥
वायु-वेग-उत्थिता, सफेनस्वन[7] सागर की लहरें जैसे।
वायु-शान्ति पर शान्त हुई हों, थी नगरी निःशब्दा वैसे ॥ ७ ॥
यज्ञ-पूर्ति पर, आयुध, याजक, ध्वनि-हीना वेदी हो जैसे।
शून्या, जन-रव-रहित अयोध्या भी थी उस अवसर पर वैसे ॥ ८ ॥
पत्नि-भाव-उत्सुक गौ कोई, हुई साँड़ से विलग जिस तरह।
गोष्ठ - मध्य नव-तृण-व्यक्तार्ता[8] हो, वैसी थी पुरी दुखित वह ॥ ९ ॥

---

१ प्रभावशाली; २ अंधकार; ३ अमावस्या की रात; ४ पहाड़ी नदी। ५ मख की हवनीय दूध से सींची-बुझाई जैसी अग्नि। ६ समान; ७ उमड़ते समुद्र के फेन और गर्जन; ८ नयी घास भी छोड़कर बाड़े में दुखित मानो खड़ी हो।

प्रभाकराद्यैः सुस्निग्धैः प्रज्वलद्भिरिवोत्तमैः ।
वियुक्तां मणिभिर्जात्यैर्नवां मुक्तावलीमिव ॥ १० ॥
सहसाचरितां स्थानान्महीं पुण्यक्षयाद् गताम् ।
संहृतद्युतिविस्तारां तारामिव दिवश्च्युताम् ॥ ११ ॥
पुष्पनद्धां वसन्तान्ते मत्तभ्रमरशालिनीम् ।
द्रुतदावाग्निविप्लुष्टां क्लान्तां वनलतामिव ॥ १२ ॥
सम्मूढनिगमां सर्वां संक्षिप्तविपणापणाम् ।
प्रच्छन्नशशिनक्षत्रां द्यामिवाम्बुधरैर्युताम् ॥ १३ ॥
क्षीणपानोत्तमैर्भग्नैः शरावैरभिसंवृताम् ।
हतशौण्डामिव ध्वस्तां पानभूमिमसंस्कृताम् ॥ १४ ॥
वृक्णभूमितलां निम्नां वृक्णपात्रैः समावृताम् ।
उपयुक्तोदकां भग्नां प्रपां निपतितामिव ॥ १५ ॥
विपुलां विततां चैव युक्तपाशां तरस्विनाम् ।
भूमौ बाणैर्विनिष्कृत्तां पतितां ज्यामिवायुधात् ॥ १६ ॥
सहसा युद्धशौण्डेन हयारोहेण वाहिताम् ।
निहतां प्रतिसैन्येन वडवामिव पातिताम् ॥ १७ ॥
भरतस्तु रथस्थः सञ्श्रीमान् दशरथात्मजः ।
वाहयन्तं रथश्रेष्ठं सारथिं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥
किं नु खल्वद्य गम्भीरो मूर्च्छितो न निशाम्यते ।
यथापुरमयोध्यायां गीतवादित्रनिःस्वनः ॥ १९ ॥
वारुणीमदगन्धश्च माल्यगन्धश्च मूर्च्छितः ।
चन्दनागुरुगन्धश्च न प्रवाति समन्ततः ॥ २० ॥
यानप्रवरघोषश्च सुस्निग्धहयनिःस्वनः ।
प्रमत्तगजनादश्च महांश्च रथनिःस्वनः ॥ २१ ॥
नेदानीं श्रूयते पूर्यामस्यां रामे विवासिते ।
चन्दनागुरुगन्धांश्च महार्हाश्च वनस्रजः ॥ २२ ॥
गते रामे हि तरुणाः संतप्ता नोपभुञ्जते ।
बहिर्यात्रां न गच्छन्ति चित्रमाल्यधरा नराः ॥ २३ ॥
नोत्सवाः सम्प्रवर्तन्ते रामशोकार्दिते पुरे ।
सा हि नूनं मम भ्राता पुरस्यास्य द्युतिर्गता ॥ २४ ॥
नहि राजत्ययोध्येयं सासारेवार्जुनी क्षपा ।
कदा नु खलु मे भ्राता महोत्सव इवागतः ॥ २५ ॥

मौक्तिक माल स्निग्ध चमकीली, उत्तम जातिद्युति मणि-हीना।
होती जैसे, वैसे ही थी वह नगरी श्री-हीना दीना ॥ १० ॥
पुण्यक्षय से सहसा निज स्थल-च्युत[1], एवं विस्तृत द्युति-हीना।
नभ-पतिता, भू-स्थित तारा-सी थी नगरी श्री-हीना-दीना ॥ ११ ॥
किंशुक-ग्रीष्म मत्त भ्रमरान्वित, विपिन लता दावाग्नि प्रभावित।
हो मुरझाये यथा, तथा थी नगरी क्लान्ता, अति शोकान्वित ॥ १२ ॥
थीं दूकानें बहुत कम खुली, था विमूढ़ व्यापारिवर्ग सब।
अतः मेघ-छादित शशि, तारक, नभ-सी थी निष्प्रभ नगरी तब ॥ १३ ॥
उजड़ी मधुशाला, श्री-हीना, अस्वच्छा एवं मधु-हीना।
भग्नपात्र, मधुपायि-हीन-सी थी श्री-हीना नगरी दीना ॥ १४ ॥
स्तम्भ भग्न, खण्डित चबूतरा, निम्ना भू, पौसला जल-रहित।
होवे खण्डित पात्र, जिस तरह, वैसी थी नगरी गुण-वञ्चित ॥ १५ ॥
कोटि-ब्रन्ध-सयुत विस्तृत धनु-प्रसरित प्रत्यञ्चा ही जैसे।
वेगशालि, योद्धा शर-खण्डित भूस्थित हो, नगरी थी वैसे[2] ॥ १६ ॥
युद्ध-कुशल-वाहना, हता हो, घोड़ी रिपु-सेना से जैसे।
युद्ध-भूमि में पड़ी दिखाती, दिखती थी नगरी भी वैसे ॥ १७ ॥
दशरथ-सुत श्रीमान भरत जो, तब थे अपने रथ पर सुस्थिर।
वे उत्तम रथ सञ्चालक उन सारथि से बोले ऐसा फिर ॥ १८ ॥
गान, वाद्य-गम्भीर नाद है नहीं यहाँ सुनने में आता।
पुरी अयोध्या में पहले सा, इससे चित्त कष्ट अति पाता ॥ १९ ॥
चारों ओर वारुणी की मधु गन्ध, नहीं नासा में आती।
पावन, चन्दन, अगुरु, पुष्प की महक न है किञ्चित मिल पाती ॥ २० ॥
यान[3], प्रवर-संघोष न होता घोड़ों का सुस्निग्ध मधुर स्वर।
नहीं मत्त गज-यूथ-नाद है, नहीं रथों की है वह घर-घर ॥ २१ ॥
हुए राम निर्वासित, नगरी है सब शब्द-हीन बस इससे।
चन्दन, अगुरु-सुगन्ध, विपिन की अति बहुमूल्या मालादिक से ॥ २२ ॥
विमुख यहाँ के तरुण, राम के जाने से संतप्त हुए अति।
अतः माल्य-युत हो, गृह-बाहर विचरण नहीं कर रहे सम्प्रति ॥ २३ ॥
राम-शोक-पीड़ित, पुर में अब होते नहीं महोत्सव अगणित।
मेरे भ्राता-सँग पुर-शोभा तथा कान्ति भी गयी सुनिश्चित ॥ २४ ॥
शुक्ल-चाँदनी निशा न वर्षा-वेग-वशा[4] ज्यों शोभा पाती।
कब होगी अब भला महोत्सव-सम भ्राता की यहाँ अवाती[5] ॥ २५ ॥

---

१ अपने स्थान से गिरकर २ विशाल धनुष की बड़ी प्रत्यञ्चा (डोरी) जैसे किसी योद्धा द्वारा काट दिये जाने पर भूमि पर पड़ी हो; ३ सवारियों; ४ वर्षा के वेग में मेघों से ढकी; ५ आगमन;

जनयिष्यत्ययोध्यायां हर्षं ग्रीष्म इवाम्बुदः ।
तरुणैश्चारुवेषैश्च नरैरुन्नतगामिभिः ॥ २६ ॥
सम्पतद्भिरयोध्यायां नाभिभान्ति महापथाः ।
इति ब्रुवन् सारथिना दुःखितो भरतस्तदा ॥ २७ ॥
अयोध्यां सम्प्रविश्यैव विवेश वसतिं पितुः ।
तेन हीनां नरेन्द्रेण सिंहहीनां गुहामिव ॥ २८ ॥

तदा तदन्तःपुरमुज्झितप्रभं
सुरैरिवोत्कृष्टमभास्करं दिनम् ।
निरीक्ष्य सर्वत्र विभक्तमात्मवान्
मुमोच बाष्पं भरतः सुदुःखितः ॥ २९ ॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे
चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः

भरत का नन्दिग्राम में जाकर श्रीराम की चरणपादुकाओं को राज्य पर अभिषिक्त करके उन्हें निवेदनपूर्वक राज्य का सब कार्य करना

ततो निक्षिप्य मातॄस्ता अयोध्यायां दृढव्रतः ।
भरतः शोकसंतप्तो गुरूनिदमथाब्रवीत् ॥ १ ॥
नन्दिग्रामं गमिष्यामि सर्वानामन्त्रयेऽत्र वः ।
तत्र दुःखमिदं सर्वं सहिष्ये राघवं विना ॥ २ ॥
गतश्चाहो दिवं राजा वनस्थः स गुरुर्मम ।
रामं प्रतीक्षे राज्याय स हि राजा महायशाः ॥ ३ ॥
एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः ।
अब्रुवन् मन्त्रिणः सर्वे वसिष्ठश्च पुरोहितः ॥ ४ ॥
सुभृशं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरत त्वया ।
वचनं भ्रातृवात्सल्यादनुरूपं तवैव तत् ॥ ५ ॥
नित्यं ते बन्धुलुब्धस्य तिष्ठतो भ्रातृसौहृदे ।
मार्गमार्यं प्रपन्नस्य नानुमन्येत कः पुमान् ॥ ६ ॥
मन्त्रिणां वचनं श्रुत्वा यथाभिलषितं प्रियम् ।
अब्रवीत् सारथिं वाक्यं रथो मे युज्यतामिति ॥ ७ ॥
प्रहृष्टवदनः सर्वा मातॄः समभिभाष्य च ।
आरुरोह रथं श्रीमाञ्छत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ ८ ॥

तथा अयोध्या-वासि जनों में ग्रीष्म-मेघ-सम, हर्ष-विवर्धन।
चारु वेष में उछल-उछलकर, नहीं चल रहे यहाँ तरुण जन॥ २६॥
तथा महापथ सभी अयोध्या के हैं गमनागमन[1]-विवर्जित।
ऐसा कहते, निज सारथि से, भरत हुए दुख-युत, अति चिन्तित॥ २७॥
तथा सिंह से रहित गुफा की भाँति, गये फिर राज-महल में।
जो था नृपति पिता दशरथ का वासस्थल अति उत्तम स्थल में॥ २८॥

विना सूर्य ज्यों, सुर शोकप्रद, दिन-सुषमा मिट जाती
शोक-मग्न जन-युत अन्तःपुर-स्थिति थी वही दिखाती।
सभी ओर स्वच्छता-सजावट-हीन देखकर उसको
धीर दुखी उन भरत-नयन से अश्रु-धार थी आती॥ २९॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्ष रामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त॥ ११४॥

एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग

भरत का नन्दिग्राम में जाकर श्रीराम की चरणपादुकाओं को राज्य पर अभिषिक्त करके उन्हें निवेदन पूर्वक राज्य का सब कार्य करना

माताओं को दृढ़ प्रतिज्ञ वे भरत अयोध्या में करके स्थिर।
बोले, हो संतप्त शोक से, वचन गुरुजनों से ऐसा फिर॥ १॥
अब मैं नन्दिग्राम जाऊँगा, अतः करें मुझको आज्ञापित[2]।
बिना राम के, प्राप्त दुःख को, वहीं सहूँगा, हो करके स्थित[3]॥ २॥
स्वर्ग गये नृप, गुरु[4] हैं वन में, अतः प्रतीक्षा राम-राज्यहित।
किया करूंगा, मेरे तो हैं, राजा राम महाशय निश्चित॥ ३॥
भरत महात्मा का ऐसा यह शुभमय वचन उस समय सुनकर।
बोले सभी पुरोहित, मन्त्री, एवं श्री वसिष्ठजी गुरुवर॥ ४॥
भ्रात-प्रेम-प्रेरिता तुम्हारी बात भरत है श्लाघ्या[5] अतिशय।
एवं वह है योग्य तुम्हारे ही वास्तव में प्रतिक्षण निश्चय॥ ५॥
भ्रात-दरश-लालायित हो तुम, निज भ्राता-सौहार्द्र-लग्न अति।
श्रेष्ठ मार्ग-रत, अतः करेगा कौन नहीं अनुमोदन सम्प्रति[6]॥ ६॥
रुचि-अनुरूप, सु-प्रिय सचिवों से भरत इस तरह वचन श्रवण कर।
बोले, मेरा रथ हो जुतकर, शीघ्र सारथे! यात्रा-तत्पर॥ ७॥
माताओं से हो प्रसन्न-मुख, बात, भरत श्रीमान उचित कर।
सह शत्रुघ्न गमन-आज्ञा ले, आ करके बैठे निज रथ पर॥ ८॥

---

१ आवागमन; २ आज्ञा दें; ३ स्थिर होकर; ४ पूजनीय भ्राता;
५ प्रशंसनीय; ६ इस समय।

आरुह्य तु रथं क्षिप्रं शत्रुघ्नभरतावुभौ ।
ययतुः परमप्रीतौ वृतौ मन्त्रिपुरोहितैः ॥ ९ ॥
अग्रतो गुरवः सर्वे वसिष्ठप्रमुखा द्विजाः ।
प्रययुः प्राङ्मुखा सर्वे नन्दिग्रामो यतो भवेत् ॥ १० ॥
बलं च तदनाहूतं गजाश्वरथसंकुलम् ।
प्रययौ भरते याते सर्वे च पुरवासिनः ॥ ११ ॥
रथस्थः स तु धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः ।
नन्दिग्रामं ययौ तूर्णं शिरस्यादाय पादुके ॥ १२ ॥
भरतस्तु ततः क्षिप्रं नन्दिग्रामं प्रविश्य सः ।
अवतीर्य रथात् तूर्णं गुरूनिदमभाषत ॥ १३ ॥
एतद् राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम् ।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते ॥ १४ ॥
भरतः शिरसा कृत्वा संन्यासं पादुके ततः ।
अब्रवीद् दुःखसंतप्तः सर्वं प्रकृतिमण्डलम् ॥ १५ ॥
छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम ॥ १६ ॥
भ्रात्रा तु मयि संन्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम् ।
तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति ॥ १७ ॥
क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम् ।
चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ ॥ १८ ॥
ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः ।
निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवर्तिताम् ॥ १९ ॥
राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके ।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम् ॥ २० ॥
अभिषिक्ते तु काकुत्स्थे प्रहृष्टमुदिते जने ।
प्रीतिर्मम यशश्चैव भवेद् राज्याच्चतुर्गुणम् ॥ २१ ॥
एवं तु विलपन् दीनो भरतः स महायशाः ।
नन्दिग्रामेऽकरोद् राज्यं दुःखितो मन्त्रिभिः सह ॥ २२ ॥
स वल्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः ।
नन्दिग्रामेऽवसद् धीरः ससैन्यो भरतस्तदा ॥ २३ ॥
रामागमनमाकाङ्क्षन् भरतो भ्रातृवत्सलः ।

रथारूढ़ शत्रुघ्न-भरत वे, दोनों भाई होकर प्रमुदित।
हुए वहाँ से शीघ्र पुरोहित, सचिवों से घिर करके प्रस्थित॥ ९॥
थे वसिष्ठ गुरुजन, द्विज चलते, आगे, पूर्व ओर[1] निज मुख कर।
नन्दिग्राम को जानेवाले पथ की ओर हुए सब तत्पर॥ १०॥
भरत चले, तो अश्व, रथ, गजों-युक्त सैन्य भी बिना बुलाये।
पीछे चली, और पुर-वासी भी चलने को तब सब धाये॥ ११॥
भरत भ्रातृ-वत्सल धर्मात्मा राम-पादुकाएँ निज शिर पर।
रखकर, नन्दिग्राम चले, अति शीघ्र तभी निज रथ पर चढ़कर॥ १२॥
नन्दि ग्राम में शीघ्र पहुँचकर, भरत वहाँ तब रथप्रवर[2] से।
उतर पड़े, फिर ऐसे बोले अपने मानित गुरु जन-गण से॥ १३॥
मेरे भाई नै उत्तम यह दिया धरोहर-राज्य मुझे तब।
उनकी स्वर्ण पादुकाएँ ये, योगक्षेम निबाहेंगी[3] अब॥ १४॥
नतमस्तक, उस चरण-पादुका-द्वय को, राज्य-धरोहर देकर।
बोले भरत प्रकृति मण्डल से, अति संतप्त दुःख से होकर॥ १५॥
इन्हें राम के चरण मानता, रक्खें! छत्र पादुका-द्वय पर।
मेरे गुरु-पादुका[4] युगल से, होगी राज्य-धर्म-स्थिति सुखकर॥ १६॥
मेरे भाई ने सुप्रेम से की जो मुझे धरोहर अर्पित।
अतः लौटने तक उनके मैं, इसको रक्खूँगा अति रक्षित॥ १७॥
फिर मैं स्वयं पादुकाओं को, राम-पदों से करके संयुत।
उनके शोभित श्रीचरणों का दर्शन-सुख पाऊँगा अद्भुत॥ १८॥
तथा राम गुरु के आने पर, उन्हें राज्य यह करके अर्पित।
भार-हीन मैं उनकी आज्ञा के अधीन होऊँगा सुस्थित॥ १९॥
न्यास-रूपि[5] इन राज्य अयोध्या तथा पादुकाओं को अर्पित।
राघव को कर, मैं होऊँगा, पाप-ताप से मुक्त सुनिश्चित॥ २०॥
जब काकुत्स्थ-राज्य-अभिषिञ्चन होगा, होंगे तव जन हर्षित।
राज्य-अपेक्षा मुझे चौगुना होगा मोद[6] तथा यश अतुलित॥ २१॥
दीन महायश भरत इस तरह करते हुए दुःख, से विलपन।
नन्दि ग्राम में सचिवों-सँग रह, करने लगे राज्य का शासन॥ २२॥
धीर, प्रभावि, ससैन्य भरत वे, जटा और वल्कल धारण कर।
नन्दि ग्राम में रहे, मुनिवरों का सुवेष अति उत्तम रखकर॥ २३॥
भ्रातृ-प्रतिज्ञा-पालन में रत, उनको आज्ञा-पालन-तत्पर
भरत भ्रातृवत्सल आकांक्षा, राम-आगमन की अति रखकर।

---

१ पूर्व दिशा की ओर; २ श्रेष्ठ रथ से; ३ निर्वाह करेंगी; ४ गुरु-सदृश ज्येष्ठ बन्धु राम की खड़ाऊँ; ५ धरोहर रूपी; ६ हर्ष।

भ्रातुर्वचनकारी च प्रतिज्ञापारगस्तदा।
पादुके त्वभिषिच्याथ नन्दिग्रामेऽवसत् तदा॥ २४॥
सवालव्यजनं छत्रं धारयामास स स्वयम्।
भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां निवेदयन्॥ २५॥
ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके।
तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा॥ २६॥

तदा हि यत् कार्यमुपैति किंचि-
दुपायनं चोपहृतं महार्हम्।
स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य
चकार पश्चाद् भरतो यथावत्॥ २७॥

॥ इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः॥ ११५॥

षोडशाधिकशततमः सर्गः

वृद्ध कुलपति-सहित बहुत-से ऋषियों का चित्रकूट छोड़कर दूसरे आश्रम में जाना

प्रतियाते तु भरते वसन् रामस्तदा वने।
लक्षयामास सोद्वेगमथौत्सुक्यं तपस्विनाम्॥ १॥
ये तत्र चित्रकूटस्य पुरस्तात् तापसाश्रमे।
राममाश्रित्य निरतास्तानलक्षयदुत्सुकान्॥ २॥
नयनैर्भ्रूकुटीभिश्च रामं निर्दिश्य शङ्किताः।
अन्योन्यमुपजल्पन्तः शनैश्चक्रुर्मिथः कथाः॥ ३॥
तेषामौत्सुक्यमालक्ष्य रामस्त्वात्मनि शङ्कितः।
कृताञ्जलिरुवाचेदमृषिं कुलपतिं ततः॥ ४॥
न कच्चिद् भगवन् किंचित् पूर्ववृत्तमिदं मयि।
दृश्यते विकृतं येन विक्रियन्ते तपस्विनः॥ ५॥
प्रमादाच्चरितं किंचित् कच्चिन्नावरजस्य मे।
लक्ष्मणस्यर्षिभिर्दृष्टं नानुरूपं महात्मनः॥ ६॥
कच्चिच्छुश्रूषमाणा वः शुश्रूषणपरा मयि।
प्रमदाभ्युचितां वृत्तिं सीता युक्तां न वर्तते॥ ७॥
अथर्षिर्जरया वृद्धस्तपसा च जरां गतः।
वेपमान इवोवाच रामं भूतदयापरम्॥ ८॥

किया राज्य पर उन्हीं सुनहरी सुखद पादुकाओं का सिञ्चन
(और उन दिनों नन्दि ग्राम में रहने लगे परम उत्सुक मन) ॥ २४ ॥
उन्हीं पादुकाओं से करके भरत निवेदन, उत्तम शासन।
करते थे, स्वयमेव छत्र रख, उन पर शुभ्र चँवर का चालन ॥ २५ ॥
कर श्रीमान भरत भ्राता की उन्हीं पादुकाओं का सिञ्चन।
उनके ही अधीन हो करते थे सचिवों के द्वारा शासन ॥ २६ ॥
जो कोई भी कार्य उस समय होता था समुपस्थित
एवं जो बहुमूल्य भेंट तब की जाती थी अर्पित।
उन सबको वे उन्हीं पादुका - द्वय को पूर्व निवेदित
कर, करते थे भरत राज्य को भलीभाँति प्रतिबन्धित[1] ॥ २७ ॥

॥ श्री वाल्मीकि-निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्य के अयोध्याकाण्ड में
एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११५ ॥

एक सौ सोलहवाँ सर्ग

वृद्ध कुलपति-सहित बहुत से ऋषियों का चित्रकूट छोड़कर दूसरे आश्रम में जाना

भरत गये जब, तभी राम ने देखा, वन-निवास अवसर पर।
अन्यस्थल जाने को उत्सुक हैं उद्विग्न सभी तापसवर ॥ १ ॥
पहले चित्रकूट - आश्रम में, जो थे रामाश्रित हो प्रमुदित।
उन्हीं तापसों को तब देखा, रामचन्द्र ने गमनोत्कण्ठित[2] ॥ २ ॥
राम - ओर संकेत नेत्र से कर, आपस में, वे हो शंकित।
भौंहें टेढ़ी कर, धीरे से कुछ कहते थे बात राम-हित ॥ ३ ॥
शंका हुई राम को, मन में उन्हें देख करके उत्कण्ठित।
अतः वहाँ के कुलपति से वे बोले, हाथ जोड़, हो विनमित ॥ ४ ॥
भगवन् ! मुझमें पूर्व नृप-चरित दिखता क्या न ? दिख रहा कुत्सित[3]।
जिससे वन के तपस्वियों का होता है मन आज अति विकृत[4] ॥ ५ ॥
मेरे अनुज महात्मा लक्ष्मण का प्रमाद-वश, विमुख आचरण।
आप सभी ने कुछ देखा क्या ? उनके योग्य नहीं जो लक्षण ॥ ६ ॥
याकि आप सबकी सुसेविका, सीता मेरी भी सेवा कर।
नारी-व्रत-वश-गता कर रही, कुछ प्रमाद सेवा अवसर पर ॥ ७ ॥
तभी अवस्था तथा तपस्या-वृद्ध एक ऋषि हो कुछ कम्पित।
बोले शीघ्र राम से, करते थे जो दया प्राणियों पर नित ॥ ८ ॥

---

१ प्रबन्ध करते थे; २ जाने को इच्छुक; ३ घृणित; ४ विकारयुक्त।

कुतः कल्याणसत्त्वायाः कल्याणाभिरतेः सदा ।
चलनं तात वैदेह्यास्तपस्विषु विशेषतः ॥ ९ ॥
त्वन्निमित्तमिदं तावत् तापसान् प्रति वर्तते ।
रक्षोभ्यस्तेन संविग्नाः कथयन्ति मिथः कथाः ॥ १० ॥
रावणावरजः कश्चित् खरो नामेह राक्षसः ।
उत्पाट्य तापसान् सर्वाञ्जनस्थाननिवासिनः ॥ ११ ॥
धृष्टश्च जितकाशी च नृशंसः पुरुषादकः ।
अवलिप्तश्च पापश्च त्वां च तात न मृष्यते ॥ १२ ॥
त्वं यदाप्रभृति ह्यस्मिन्नाश्रमे तात वर्तसे ।
तदाप्रभृति रक्षांसि विप्रकुर्वन्ति तापसान् ॥ १३ ॥
दर्शयन्ति हि बीभत्सैः क्रूरैर्भीषणकैरपि ।
नानारूपैर्विरूपैश्च रूपैरसुखदर्शनैः ॥ १४ ॥
अप्रशस्तैरशुचिभिः सम्प्रयुज्य च तापसान् ।
प्रतिघ्नन्त्यपरान् क्षिप्रमनार्याः पुरतः स्थितान् ॥ १५ ॥
तेषु तेष्वाश्रमस्थानेष्वबुद्धमवलीय च ।
रमन्ते तापसांस्तत्र नाशयन्तोऽल्पचेतसः ॥ १६ ॥
अवक्षिपन्ति स्रुग्भाण्डानग्नीन् सिञ्चन्ति वारिणा ।
कलशांश्च प्रमर्दन्ति हवने समुपस्थिते ॥ १७ ॥
तैर्दुरात्मभिराविष्टानाश्रमान् प्रजिहासवः ।
गमनायान्यदेशस्य चोदयन्त्यृषयोऽद्य माम् ॥ १८ ॥
तत् पुरा राम शारीरीमुपहिंसां तपस्विषु ।
दर्शयन्ति हि दुष्टास्ते त्यक्ष्याम इममाश्रमम् ॥ १९ ॥
बहुमूलफलं चित्रमविदूरादितो वनम् ।
अश्वस्याश्रममेवाहं श्रयिष्ये सगणः पुनः ॥ २० ॥
खरस्त्वय्यपि चायुक्तं पुरा राम प्रवर्तते ।
सहास्माभिरितो गच्छ यदि बुद्धिः प्रवर्तते ॥ २१ ॥
सकलत्रस्य संदेहो नित्यं युक्तस्य राघव ।
समर्थस्यापि हि सतो वासो दुःखमिहाद्य ते ॥ २२ ॥
इत्युक्तवन्तं रामस्तं राजपुत्रस्तपस्विनम् ।
न शशाकोत्तरैर्वाक्यैरवबद्धुं समुत्सुकम् ॥ २३ ॥
अभिनन्द्य समापृच्छ्य समाधाय च राघवम् ।
स जगामाश्रमं त्यक्त्वा कुलैः कुलपतिः सह ॥ २४ ॥

तात ! स्वयं जो कल्याणी है, वैदेही कल्याण-निरत नित ।
विशेषतः हम तपस्वियों प्रति, होगा कैसे उससे अनुचित ? ॥ ९ ॥
किन्तु आपके ही कारण, भय, निशाचरों से तपस्वियों पर ।
आने को है, इससे करते, हो उद्विग्न बात सब मिलकर ॥ १० ॥
तात ! रावणानुज खर नामक राक्षस इस वन में निवास कर ।
जोकि जनस्थल-वासि तापसों[1] को उखाड़ने में है तत्पर ॥ ११ ॥
वह नर-भक्षी, ढीठ, क्रूर है, विजयोन्मत्त, घमण्डी अतिशय ।
वह न आपको भी कर पाता है अब सहन, यहाँ पर निश्चय ॥ १२ ॥
तात ! आप इस आश्रम में अब आ करके रहते हैं जब से ।
सता रहे हम तपस्वियों को विशेषतः राक्षस वे तब से ॥ १३ ॥
वे अनार्य, वीभत्स, क्रूर अति भीषण अपने रूप बनाते ।
और परम दुःखप्रद रूपों को रख, सदा सामने आते ॥ १४ ॥
पाप-जनक अपवित्र पदार्थों से ऋषियों का स्पर्श कराकर ।
अन्य पास के तपस्वियों को भी पीड़ा देते हैं आकर ॥ १५ ॥
वे उन-उन मुनि-शुभाश्रमों में छिपते हैं अज्ञात रूपधर ।
विचरण करते हैं सतर्कता-रहित तापसों[1] का विनाश कर ॥ १६ ॥
तथा हवन में सभी स्रुक्, श्रुवा, यज्ञ-वस्तुओं को बिखेरकर ।
ज्वलित अग्नि में जल उडेलते, कलश फोड़ने में हो तत्पर ॥ १७ ॥
उन दुरात्म निशिचरप्रभावित[2] ये, आश्रम-त्यागेच्छा[3] रखकर ।
मुझे यहाँ से अन्य जगह पर चलने को कहते तापसवर ॥ १८ ॥
दुष्ट निशाचर, तापस-तन की हिंसा का अब करें प्रदर्शन ।
इसके पहले, त्यागें आश्रम, राम ! सभी का है ऐसा मन ॥ १९ ॥
थोड़ी दूर अश्व मुनि-आश्रम है, विचित्र वन-फल-मूलान्वित ।
होऊँगा ऋषियों को लेकर अतः पुनः मैं उसके आश्रित ॥ २० ॥
हो खर से व्यवहार आप-प्रति, कोई राम ! यहाँ कुछ अनुचित ।
उसके पहले, यदि विचार हो, तो हों साथ आप भी प्रस्थित ॥ २१ ॥
राघव ! आप सतर्क और हैं अति समर्थ निशिचर-दमनप्रति[4] ।
तदपि यहाँ सज्जन का रहना है सन्देहज[5] दुःखप्रद अति ॥ २२ ॥
अन्यस्थल गमनोत्सुक जो थे वे तापसवर ऐसा कहकर ।
चले, न रोक सके नृप-सुत फिर उन्हें सान्त्वना अतिशय देकर ॥ २३ ॥
पूछ, राम से, एवं उनको वे कुलपति करके अभिनन्दित ।
तथा सान्त्वना दे. आश्रम तज हुए तापसों के सँग प्रस्थित[6] ॥ २४ ॥

---

१ तपस्वियों; २ निशाचरों के भय से; ३ त्याग करने की इच्छा; ४ दमन करने में; ५ शंकात्मक; ६ रवाना हो गये ।